डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
१४०

महर्षि-पतञ्जलिमुनिप्रणीतं

पातञ्जलयोगदर्शनम्

व्यासभाष्य-संवलितम्

तच्च

योगसिद्धि-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः
डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य शास्त्री
एम्० ए०, डी० फिल्०
प्रोफेसर : संस्कृत-विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमंदिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५५३५७

द्वितीय संस्करण १९८८

मूल्य ७५-००

अन्य प्राप्ति-स्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

140

PĀTAÑJALAYOGADARŚANA

OF

MAHARSI PATAÑJALI

Along with

VYĀSABHĀṢYA

Edited with

'Yogasiddhi' Hindi Commentary

By

Dr. Suresh Chandra Shrivastava

M. A., D. Phil.

Professor : Sanskrit Deptt.

Allahabad University, Allahabad

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

समर्पण

अगाधवात्सल्यमूर्ति, सौम्यशान्ततेजोमयी माँ की
स्निग्धशीतलकरतलच्छत्रच्छाया
को
सर्वात्मना समर्पित

शुभाशंसन

भारतीय वाङ्मय में दर्शन-ग्रन्थों का बाहुल्य 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' इस भगवदुक्ति (गीता, अध्याय १०) में स्पष्ट प्रतिफलित प्राचीन भारतीय दृष्टि का परिचायक है। दर्शनों में भी योगदर्शन का महत्त्व सर्वविदित है। पतञ्जलि-प्रोक्त अष्टाङ्ग-योग अशेष दर्शन-सम्प्रदायों के तत्तत् लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये उपदिष्ट साधना का जैसे अनिवार्य पूरक या ठोस आधार हो। इस महत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक पातञ्जलयोगदर्शन की सारवत्तमा एवं मनोहारिणी व्याख्या व्यासदेव-कृत योगसूत्रभाष्य है। गहन योगदर्शन-पारावार के पार जाने के अभिलाषुक पुरुषों के लिये इन दोनों ही कृतियों का अध्ययन अनिवार्य है। इसी को सुकर बनाने के प्रयास प्राचीन-काल से ही होते रहे हैं। महामहिम वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्ववैशारदी' द्वारा यही कार्य ईस्वी नवम शताब्दी में किया था। यही कार्य विज्ञानभिक्षु ने अपने 'योग-वार्त्तिक' द्वारा ईस्वी सोलहवीं शताब्दी में किया और यही कार्य बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रसिद्ध योगी श्रीहरिहरानन्द आरण्य ने अपनी 'भास्वती' द्वारा सम्पन्न किया।

आधुनिक काल में राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से भी एतदर्थ कुछ प्रयत्न हुए हैं। परन्तु वे अनेक कारणों से सफल नहीं कहे जा सकते। हमारे पूर्व शिष्य एवं अद्यतन सहयोगी डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव ने दशाधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययनाध्यापन के अनन्तर योगसूत्र एवं व्यासदेव-कृत उनके भाष्य को सहज सरल रीति से समझाने वाली 'योगसिद्धि' नामक व्याख्या प्रस्तुत की है। साथ ही इनका हिन्दीभाषान्तर भी प्रस्तुत किया है, जिससे व्याख्या के मूलानुसारिणी होने की बात सहज ही समझी जा सकती है। डा० श्रीवास्तव्य इस क्षेत्र में नये नहीं हैं। एतत्पूर्व उनका शोध-प्रबन्ध 'आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' छपकर विद्वानों के समक्ष आ चुका है। उनकी यह अभिनव कृति उसी दिशा में एक नयी उपलब्धि है। हमें विश्वास है कि दर्शनशास्त्रों के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिये यह कृति दिशा-निर्देश करेगी। इसे प्रस्तुत कर डा० श्रीवास्तव्य ने योग-प्रविविक्षुओं के अपने कार्य में बड़ा योग दिया है। एतदर्थ वे हमारी बधाई के पात्र हैं। भगवान् उन्हें ऐसी अनेक सुन्दर कृतियों के रचयिता बनने का श्रेय प्रदान करें। आशा है कि इस कृति का समुचित सम्मान होगा।

श्रावणी, २०२८ विक्रमाब्द।

डा० आद्याप्रसाद मिश्र
संस्कृतविभागाध्यक्ष,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी।

निवेदन

व्यासभाष्यसहित पातञ्जलयोगसूत्रों की एक विशद हिन्दी-व्याख्या करने की बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी। अतः इस कार्य में मैं पाँच-छह वर्षों से लगा रहा। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा तथा श्रद्धेय गुरुजनों के आशीर्वाद से यह कार्य अब पूरा हो पाया है। इस ग्रन्थ में सूत्र और भाष्य की हिन्दी-व्याख्या 'योगसिद्धि' के अतिरिक्त मूल का अविकल हिन्दी-रूपान्तर भी दिया गया है। हिन्दी-रूपान्तर में मूल को अन्यून एवम् अनतिरिक्त रूप में उतारने की भरसक चेष्टा की गयी है। कहीं-कहीं हिन्दी-प्रयोगों के अनुरोध से संस्कृत-व्याकरण के नियमों की भी अवहेलना करनी पड़ी है। हर भाषा की अपनी निजी प्रकृति होती है। वैसे, मूल के प्रत्येक पद एवं उसकी विभक्ति का निर्देश हिन्दी-रूपान्तर में सतर्कतापूर्वक निभाया गया है। सूत्र और भाष्य के पाठान्तरों का भी पादटिप्पणियों में उल्लेख कर दिया गया है। शास्त्रीय-सिद्धान्तों की संगति वाले पाठ ही मूलग्रन्थ में अपनाये गये हैं। योगसिद्धि में सूत्र-भाष्यगत प्रत्येक पद को ठीक से समझाने की चेष्टा की गयी है। मूल पदों की व्याख्या करते समय उनके संस्कृतपर्याय तथा हिन्दीपर्याय दोनों ही दिये गये हैं। जहाँ उन समानार्थक पदों की अर्थबोधकता में सन्देह हुआ, वहाँ उनका भी लक्षणोदाहरणपूर्वक निरूपण किया गया है। सामासिक पदों का विग्रह मैंने संस्कृत में ही दिया है, जिससे कि जिज्ञासुओं को मूलप्रयोगों की यथार्थता और समीचीनता की जानकारी से वञ्चित न होना पड़े। अनावश्यक विस्तार से ग्रन्थ को सर्वथा बचाते हुए भी गम्भीर विषयों का विस्तृत विवेचन अवश्य किया गया है। परीक्षाओं में उपयोगिता के उद्देश्य से और शास्त्रीयज्ञानवैविध्य प्रदान करने की दृष्टि से स्थल-स्थल पर योगशास्त्र के प्रमुख आचार्यों के मतमतान्तर संक्षिप्त-समीक्षा सहित उद्धृत किये गये हैं। इस बात से सुधीजनों को शास्त्रसंगति का निर्णय करने में अतीव सुविधा होगी—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

ग्रन्थ की तैयारी में जिन पुरातन मनीषियों एवम् अर्वाचीन विद्वानों की कृतियों से मैंने सहायता ली है, उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करना मेरा पावन कर्त्तव्य है। पूज्यपाद गुरुवर्य श्री डा० बाबूरामजी सक्सेना एवं श्री पं० रघुवर मिट्ठूलालजी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना मेरा परमधर्म है, क्योंकि उनकी सत्प्रेरणाएँ एवं शुभाशीर्वाद मेरे दुःखी क्षणों में निरन्तर धीरज

बँधाते रहे हैं। पूज्य गुरुवर्य विद्वद्वरेण्य श्री डा० आद्याप्रसादजी मिश्र ने इस ग्रन्थ की सर्जना में जो प्रेरणाएँ प्रदान की हैं और आशीर्वाद लिखकर मुझे जिस प्रकार प्रोत्साहित किया है, उसके लिये मैं उनका जीवन-पर्यन्त ऋणी रहूँगा। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुविध साहाय्य प्रदान करने वाले अपने अभिन्नहृदय सुहृद्वर्य श्री पं० राजकुमारजी शुक्ल के प्रति असीम आभार प्रकट करना भी सर्वथा सुखद अनुभव होगा। अपनी बड़ी बहन श्रीमती विमलादेवी और अपनी पत्नी श्रीमती दयावती को भी इस ग्रन्थ की पूर्ति के लिये अनेकशः धन्यवाद न देना ठीक नहीं है, क्योंकि उन्होंने घर-गृहस्थी के विशाल, अनराल-जाल से मुझे सर्वथा निश्चिन्त रखा और ग्रन्थ-प्रणयन के लिये सर्वविध सौविध्य दिया है। ग्रन्थ की स्पष्ट प्रतिलिपि तैयार करने में सोत्साह सहायता देने वाले अपने सुयोग्य शिष्यों—श्रीकमलाशंकर पाण्डेय, श्री नरेन्द्रबहादुर सिंह, कु० मञ्जु विश्वकर्मा, कु० प्रतिभा सक्सेना और कु० सविता भार्गव को मैं बहुत-बहुत साधुवाद देता हूँ। ग्रन्थ के लेखन एवं प्रकाशन में अपेक्षित छिटपुट श्रम का भार वहन करने वाले अपने प्रिय भागिनेय श्री अविनाशचन्द्र श्रीवास्तव्य और प्रिय पुत्री कु० प्रभाती श्रीवास्तव्य को भी मैं सस्नेह साधुवाद देता हूँ।

न ख्यातिलाभपूजार्थं ग्रन्थोऽस्माभिरुदीर्य्यते।
स्वबोधपरिशुद्धयर्थं ब्रह्मविन्निकषाश्मसु ॥—नैष्कर्म्यसिद्धिः।

५३७ बी मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद
१५ मार्च १९७३ ई०

सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य

विषयानुक्रमणी

प्रथम समाधिपाद
(कुल ५१ सूत्र)

द्वितीय साधनपाद
(कुल ५५ सूत्र)

तृतीय विभूतिपाद
(कुल ५५ सूत्र)

चतुर्थ कैवल्यपाद
(कुल ३४ सूत्र)

संकेत-विवरण

संकेत	विवरण
अ०	अध्याय
अ० को०	अमरकोश
आदि०	आदिपर्व
उ०	उणादि सूत्र
उत्त०	उत्तरार्चिक
काठको०	काठकोपनिषद्
केनो०	केनोपनिषद्
टि०	दामोदरगोस्वामीकृत टिप्पणी
त० वै०	तत्त्ववैशारदी (चौ० सं० सी०)
न्या० को०	न्यायकोश
न्या० सू० नि०	न्यायसूत्रनिबन्ध
प० ल० म०	परमलघुमञ्जूषा
पा० महा०	पातञ्जलमहाभाष्य
पा० र०	पातञ्जलरहस्य
पा० रह०	पातञ्जलरहस्य
पा० सू०	पाणिनि-सूत्र
पा० सू० वृ०	पातञ्जलसूत्रवृत्ति
पूर्वा०	पूर्वार्चिक
पृ०	पृष्ठ
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्र० सू० शां० भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्
भा०	भास्वती
भा० सि०	भाष्यसिद्धि
महा०	महाभारत
मा० का०	माण्डूक्यकारिका
मै०	मैत्रायणीउपनिषद्
यो० द०	योगदर्शन (नारायण-तीर्थकृत)
यो० भा०	योगभाष्य
यो० सि०	योगसिद्धि
यो० सि० च०	योगसिद्धान्त-चन्द्रिका (नारायणतीर्थ)
यो० सू०	योगसूत्र
यो० वा०	योगवार्तिक (चौ० सं० सी०)
रा० मा० वृ०	राजमार्तण्डवृत्ति
ल० म०	लघुमञ्जूषा
व्या० म० भा०	व्याकरणमहाभाष्य
श्री० गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमद्भा०	श्रीमद्भागवतपुराण
श्वेता० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शिशु०	शिशुपालवध
शि० व०	शिशुपालवध
शान्ति०	शान्तिपर्व
सं०	संहिता
सं० भा०	सम्बन्धभाष्य
सं० भा० सि०	सम्बन्धभाष्यसिद्धि
सां० का०	सांख्यकारिका
सां० त० कौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सा० द०	साहित्यदर्पण
सां० सूत्र	सांख्यसूत्र
सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
सू० सि०	सूत्रसिद्धि
हि० रू०	हिन्दीरूपान्तर

भूमिका

योग का माहात्म्य

विविध भारतीय दर्शनों के बीच योगदर्शन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में श्रीशुकदेवजी ने ठीक ही कहा है कि 'न तु योगमृते प्राप्तुं शक्या सा परमा गतिः।' यह एक सुविदित तथ्य है कि भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य प्राणियों को त्रिविध दुःखों से सदा के लिये छुटकारा दिलाना ही है। दुःखों की यह शाश्वतिक निवृत्ति मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, अपवर्ग, निःश्रेयस्, निर्वाण और परमपद इत्यादि पदों से अभिहित की गयी है। इसकी सिद्धि के लिये प्रायः सभी भारतीय दर्शन (चार्वाकदर्शन और मीमांसा के अतिरिक्त) पदार्थों के शुद्ध ज्ञान को किसी न किसी प्रकार से अपरिहार्य उपाय मानते हैं। श्रुतियों ने भी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' का तथ्य स्वीकृत किया है। पदार्थों के इस शुद्धज्ञान को विभिन्न दर्शनों में तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान, तत्त्वसाक्षात्कार, परमज्ञान, विज्ञान, परप्रसंख्यान और विवेकख्याति इत्यादि नाम दिये गये हैं। इस शुद्ध ज्ञान का एक रूप तो वह है, जो बुद्धि की शुद्ध सात्त्विक-वृत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है और दूसरा तथा उत्तम रूप वह है, जो वृत्तिहीन स्थिति में आत्मा का अपरोक्ष अनुभव होता है।

इनमें से प्रथम प्रकार का तत्त्वज्ञान 'सांख्ययोग' में 'विवेक-ख्याति' के नाम से प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार का तत्त्वदर्शन योगशास्त्र में 'असम्प्रज्ञात योग' के नाम से विख्यात है। ईश्वरकृष्ण का सांख्यशास्त्र इस अपरोक्ष पुरुषानुभूति के विषय में सर्वथा मौन है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन भी वृत्तिज्ञान से परे किसी अपरोक्ष उत्तम ज्ञान की कल्पना नहीं कर पाये। अद्वैतवेदान्तदर्शन अलबत्ता इसी अपरोक्षानुभूतिरूप ज्ञान को ही मोक्ष का वास्तविक हेतु स्वीकार करता है। गौडपाद ने इस अपरोक्षानुभव को ही 'अस्पर्शयोग' की संज्ञा प्रदान की है।[1] 'विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति' (बृहदा० उप० २।४।१४) और 'यन्मनसा न मनुते' (केनोप० १।५) इत्यादि श्रुतियाँ यही बात सिद्धान्तित करती हैं। दोनों प्रकार के शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया बड़ी ही जटिल एवं दुरूह है। इस उभयस्तरीय प्रक्रिया का रचनात्मक स्वरूप ही योग-

---

१. मनसो ह्यमनीभावे, द्वैतं नैवोपलभ्यते।—मा० का० ३।३१।
अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥—मा० का० ३।३३।
अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥—मा० का० ३।३९।

साधना है । वृत्तिलभ्य शुद्ध ज्ञान का पर्यवसान 'विवेकख्याति' है । इस ज्ञान से भी मोक्ष की सिद्धि होती है । समस्त भारतीय दर्शन अपने-अपने ढंग से इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली योगसाधना को अपनाते हुए मोक्षप्रद तत्त्वज्ञान की उपलब्धि की व्यवस्था करते हैं । योगदर्शन में इस ज्ञानानुकूल योगसाधना को 'सम्प्रज्ञात' योग की संज्ञा दी गयी है । इस योग के समस्त अङ्गों, भूमिकाओं, साधनाओं एवं सिद्धियों तथा उनके शास्त्रीय सन्दर्भों का निरूपण होने के कारण योगदर्शन की सर्वग्राह्यता, उपयोगिता, लोकप्रियता एवं सार्वजनीनता सभी दर्शनों में समान रूप से स्वीकृत हुई है । सभी दार्शनिकप्रस्थान ज्ञानजनक योगसम्बन्धी प्रक्रियाओं के प्रसंग में योगदर्शन की मान्यताओं को यथासम्भव स्वीकार करते हैं । अपने इस अप्रतिम वैशिष्टच के कारण योगदर्शन भारतीय मनीषा को पुरातन युग से लेकर आज तक समान रूप से अनुप्राणित एवं उद्बोधित करता रहा है ।

वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शन ज्ञानजनक योग से परे 'असम्प्रज्ञात' योग की उच्चभूमि तक नहीं पहुँच पाते, जिससे कि पुरुषतत्त्व का साक्षात् दर्शन होता है । यह योग वृत्तिज्ञान का अतिक्रमण कराता है, सद्यः मुक्तिप्रद होता है, प्रारब्धकर्मों के संस्कारों का भी तत्काल नाश करता है और इस प्रकार बौद्धिक ज्ञान का साधन नहीं, प्रत्युत बौद्धिक ज्ञान का साध्य बनता है । इस अद्भुत एवं सर्वातिशायी योग का पूर्ण निरूपण और सविस्तर विवेचन योगदर्शन की अपनी एकान्तिक उपलब्धि है । यह असम्प्रज्ञात-योग ही वस्तुतः 'राजयोग' कहा गया है । इसमें बुद्धि से प्राप्य शुद्ध से शुद्ध ज्ञान का भी अतिक्रमण कर दिया जाता है । ईश्वरकृष्णीय सांख्य की चरमसाधना 'विवेकख्याति' है, किन्तु उसमें सारी करामात सात्त्विक बुद्धिवृत्ति की होती है ।[१] यह ज्ञान सर्वोच्च होने पर भी साक्षात् अनुभूति नहीं है, बुद्धिवृत्ति के माध्यम से तत्त्वज्ञान है, किन्तु असम्प्रज्ञात योग तो साक्षात् मोक्ष की अवस्था होती है । पुरुष अपने परम निर्लिप्त असंग रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । इस योग का संकेत श्रीकृष्ण ने गीता में[२] किया है । योगदर्शन की इस असामान्य उपलब्धि और असाधारण मोक्षपरायणता के महत्त्व का आकलन करने के लिये गीता की ये पंक्तियाँ पर्याप्त हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥[३]

---

१. 'सात्त्विकया तु बुद्धया तदाथस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव ।'
—सां० त० कौ० पृ० ३२६ ।

२. 'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥'—श्रीमद्भ० ६।२० ।

३. द्रष्टव्य; श्रीमद्भगवद्गीता ६।४६ ।

योग के आदि प्रवर्तक

सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात—दोनों प्रकार के योगों का प्रतिपादन करने वाले योगदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा यद्यपि पतञ्जलि-विरचित योगसूत्रों में ही हुई है, फिर भी पतञ्जलि को योगदर्शन का आदि प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। योगियाज्ञवल्क्य में हिरण्यगर्भ को योगदर्शन का प्रथम वक्ता या उपदेष्टा स्वीकार किया गया है। पतञ्जलि ने स्वयं इस तथ्य को प्रथम योगसूत्र 'अथ योगानुशासनम्' में आये हुये 'अनुशासन' शब्द से सूचित किया है। योगभाष्य के टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुये कहा है—'ननु हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन' इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृतेः कथं पतञ्जलेर्योगशास्त्रवक्तृत्वमित्याशङ्क्य सूत्रकारेणोक्तम्—'अनुशासनम्' इति शिष्टस्य शासनमनुशासनमित्यर्थः।'—त० वै० पृ० ६।

पतञ्जलि ने इन सूत्रों में अपने से कोई संज्ञा नहीं बनायी है, वरन् योग के विषय में प्रचलित पदों, विधियों एवं रीतियों से ही योग का वर्गीकरण मात्र किया है। योगसूत्रों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय तक योग के अनेक सिद्धान्त विद्वज्जनों के बीच प्रचलित एवं विदित थे। योगसम्बन्धी पूर्ववर्ती ग्रन्थों का यद्यपि पतञ्जलि ने न तो कहीं उल्लेख किया है और न किसी पुरातन योगाचार्य का नाम ही कहीं लिया है, फिर भी अधिकांश प्रतिपाद्य विषयों को तर्कों और प्रमाणों से सिद्ध करने की चेष्टा न करना इस बात को सिद्ध करता है कि इन विषयों एवं संज्ञाओं का सामान्य बोध विद्वानों को पहले से रहा होगा। इन बातों से योगशास्त्र के आदि उपदेष्टा—पतञ्जलि से बहुत प्राचीन—हिरण्यगर्भ नामक कोई ऋषि ही ठहरते हैं। महाभारत (११।३४९–६५), अहिर्बुध्न्यसंहिता (प्राकृतमण्डल १२।३९), मनुस्मृति (१।८८–८९) और भामती (२।१।३) इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं।

हिरण्यगर्भ और कपिल का अभिन्नत्व—

प्रश्न यह है कि ये हिरण्यगर्भ कौन थे? कहाँ और कब थे? ये प्रजापति ब्रह्मा ही थे अथवा कोई और ऋषि या मुनि? इस विषय में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों और महाभारत[१] आदि पुरातन ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर यही धारणा बनती है कि योग के आदिम[२] उपदेष्टा के रूप में

---

१. विद्यासहायवन्तमादित्यस्थं समाहितम्।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चिताः॥
हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि सुस्तुतः।
सोऽहं योगरतिर्ब्रह्मन्! योगशास्त्रेषु शब्दितः॥—महा० ३३९।६८-६९।

२. 'कपिलोऽग्रज इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते।'
—श्वे० उप० शाङ्करभाष्य।

विख्यात हिरण्यगर्भ आदि विद्वान् परमर्षि कपिल ही थे। शंकराचार्य और वाचस्पति[1] मिश्र भी इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं हिरण्यगर्भापरनामा कपिल ने सर्वप्रथम सांख्य-योग का उपदेश किया। सांख्य तथा योग एक ही दर्शन के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पहलू थे। दोनों भिन्न दर्शन नहीं थे। श्रीमद्भागवत में कपिलोक्त मत को 'आत्मयोगगुह्य' कहा गया है—

य इदमनुश्रृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम्।
भगवति कृतधीः सुवर्णकेतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम्॥ (३।३३।३७)

इन दोनों दर्शनों की इस मौलिक अभिन्नता का प्रमाण न केवल इनमें प्रतिपादित दार्शनिक आधार की एकता है, अपितु योगसूत्रों के भाष्यकार व्यास के द्वारा अपने भाष्य को 'सांख्यप्रवचनभाष्य' नाम देना भी एक जबर्दस्त प्रमाण है। श्रीमद्भगवद्गीता अपने को 'योगशास्त्र' की संज्ञा देती है और सांख्य तथा योग दोनों का आधार लेती हुई जन-जीवन के अभ्युदय का पथ प्रशस्त करती है।[2] यद्यपि गीता में प्रयुक्त 'सांख्य' और 'योग' शब्द परवर्ती ईश्वर-कृष्णीय सांख्यदर्शन और पातञ्जलयोगदर्शन के ठीक-ठीक पर्याय नहीं माने जा सकते, किन्तु आन्तरिक स्वभाव सांख्य और योग का गीता में भी वही है, जो आगे चलकर इन दर्शनों के परिवर्द्धित रूप में अक्षुण्ण परिलक्षित होता है। कदाचिद् सांख्य और योग दोनों उस पुरातन काल में एक ही दर्शन के सम्मिलित नाम थे। एक तत्त्व-सिद्धान्त था और दूसरा उस सिद्धान्त को साक्षात्कार करने का साधन-पथ था। इसीलिये श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार की उक्ति आयी है—

'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।'

—श्वे० ६।१३।

सांख्य और योग के ऐक्य का उद्घोष करने में गीता बहुत ही स्पष्ट है—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ —(श्रीम० गी० ५।४।)
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥'—(श्रीम० गी० ५।५।)

इस प्रकार यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि अपने मूल रूप में (कपिलोक्त रूप में) सांख्य और योग, एक ही दर्शन के क्रमशः सैद्धान्तिक और साधनात्मक

---

१. 'कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः॥'—त० वै० १।२५।

२. 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥'—श्री० गी० ३।३।

भाग या पहलू थे। इसीलिये महाभारत में ऐसे सांख्यशास्त्र की ओर स्पष्ट संकेत है, जिसमें साधनात्मक भाग का भी निरूपण है और सैद्धान्तिक भाग का भी। उस साधनात्मक भाग में शम, योगजन्य परमैश्वर्य, तपस्या और समाधि-कालिक सात्त्विक आनन्द का स्फुट निर्देश इन शब्दों में हुआ है—

'शमश्च दृष्टः परमं बलं च ज्ञानं च सांख्यं च यथावदुक्तम्।
तपांसि सूक्ष्माणि सुखानि चैव सांख्ये यथावद्विहितानि राजन्॥'

इसी तथ्य का समर्थक तर्क यह भी है कि कपिल को जहाँ एक ओर 'आदि-विद्वान्' और 'परमर्षि' कहा जाता है, वहीं दूसरी ओर 'सिद्धेश' और 'निर्माण-चित्त' का 'अधिष्ठाता' भी कहा जाता है।[1] इन विशेषणों से भी लगता है कि जिस ऋषि का नाम कपिल या हिरण्यगर्भ था, वह आदिविद्वान् अर्थात् सांख्योपदेष्टा तथा सिद्धेश अर्थात् योगिश्रेष्ठ, अतः योग का प्रथमप्रवर्तक भी था। महाभारत में तो स्पष्ट कहा गया है—

'कपिलं परमर्षि च यं प्राहुर्यतयः सदा।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः॥' (११।३।६५।)

अश्वघोष के 'बुद्धचरित' १२।२० में भी इसी तथ्य का समर्थन हुआ है। जैन धर्मग्रन्थ 'औपपतिक सूत्र' की उक्ति 'कापिलं सांख्ययोगी' भी कपिल या हिरण्यगर्भ को सांख्य और योग का मूलप्रवर्तक सिद्ध करती है।

कपिल या हिरण्यगर्भ का समय—

कपिल वैदिक काल के मुनि थे—इसमें तो कोई संशय ही नहीं है, क्योंकि कपिल का उल्लेख श्रुतियों में हुआ है। 'आदिविद्वान्' की संज्ञा भी कपिल को वैदिक ऋषियों मुनियों में अग्रगण्य सिद्ध करती है। गीताकार को भी सिद्धों में अपने को कपिल बताना ही अभीष्ट है। 'सिद्ध' शब्द योग की पराकाष्ठा की प्राप्ति का निर्भ्रान्त अभिधायक है। जिसकी साधना पूर्ण हो चुकी हो, वह हुआ सिद्ध। इसलिये कपिल को सांख्य के साथ ही योग का भी आदिम उपदेष्टा स्वीकार करना सर्वथा आवश्यक तथा अनिवार्य है। ऋग्वेद (१०।१३६।२) में पिशङ्गवस्त्र धारण करने वाले मुनियों और वहीं (१०।१२६।२) उनके योगोचित आचार का वर्णन आया है। पिशङ्गवस्त्र धारण करना कदाचित् कपिल के नामकरण का भी एक कारण रहा हो, क्योंकि 'कपिल' और 'पिशङ्ग'

---

१. 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।'—पञ्चशिखसूत्र।

'पञ्चमो कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिश्चयम्॥'
—श्रीमद्भागवत० १।३।११

'गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।'—श्री० गीता १०।२६।

शब्द पर्यायवाची हैं। 'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ।'[१] अब समस्या यह है कि कपिल ने 'सांख्ययोग' का जो उपदेश दिया था, वह उपदेश किस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में पंचशिख के सूत्र और ईश्वरकृष्ण की कारिका से यही पता चलता है कि उन्होंने आसुरि नामक शिष्य को 'तन्त्र' का उपदेश दिया था।

वेदों में योग

हिरण्यगर्भापरनामा कपिल को योग का आदि उपदेष्टा स्वीकार कर लेने पर यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि कपिल उपनिषदों से भी बहुत पुराने सिद्ध ऋषि या मुनि रहे हैं। यदि ऋग्वेद के १०वें मण्डल में आये हुए मुनियों के वर्णन को कपिल पिशङ्ग वर्ण के तथा कपिलानुयायी मुनियों का वर्णन मान लिया जाय तो कपिल वैदिक काल के ऋषि सिद्ध होते हैं। इस प्रकार योग वैदिक काल में ही भारतीय वेत्ताओं के द्वारा सीखा जा चुका था और ज्ञात हो चुका था। इस तथ्य के अनेक अन्य साक्ष्य भी मिलते हैं। भले ही योग, मोक्ष के साक्षात् साधन के रूप में उस समय न जाना जाता रहा हो, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिये, शान्ति और अक्षुण्ण सुख के लिये तथा देवोपासना के लिये योग का अवश्य ही व्यवहार ऋग्वेद-काल से ज्ञात था। उसके विविध उपादानों के वर्गीकरण, विभाजन और उसके प्रकृष्टतम शुद्ध स्वरूप के निरूपण को परवर्ती विकासक्रम की देन मानने में हमें आपत्ति नहीं, किन्तु वैदिककाल में योग की साधना और प्रक्रिया अपने किसी निश्चित रूप में ज्ञात नहीं थी—यह मानना ऐतिहासिक साक्ष्यों की तीव्रतम अवहेलना होगी। 'योग' का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में अनेकशः हुआ है। इनमें से कुछ स्थलों पर व्यवहृत 'योग' शब्द निश्चित रूप से 'योगसाधना' का ही अर्थ देता है। उदाहरण के लिये ये तीन स्थल दर्शनीय हैं—

(१) 'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपिश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति ॥'

—ऋक्संहिता, मण्डल १/सूक्त १८/मन्त्र ७।

(२) 'स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरंध्याम्।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥'

—ऋक्संहिता, १।५।३, सामवेदसंहिता उत्त० १।२।१०।३, अथर्ववेद २०।६९।१।

(३) 'योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये ॥'

१. द्रष्टव्य; अमरकोश।

ऋक्संहिता—१।३०।७, शु० यजु० १।१४; सामवेद सं० उत्त०—१।२। ११।१; पूर्वा० ३।२।७।९, अथर्व सं० २०।२६।१।

(४) 'युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्यपाय शक्त्या ॥' —यजुर्वेद सं० ११।२।

इन मन्त्रों में आये हुये 'योगम्' 'योगे' और 'योगे-योगे' पद निश्चय ही चित्त की किसी न किसी प्रकार की एकाग्रता का ही बोध कराते हैं। हरप्पा और मोहिनजोडैरो में प्राप्त चिह्नों से भी उस काल में योगसाधना के प्रचलित होने का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। सिन्धुघाटी की सभ्यता को अब अधिकांश विद्वान् वैदिक आर्यों की सभ्यता मानने लगे हैं। ऐसी स्थिति में योग भारतीय वैदिक आर्यों की ही उद्भावित साधना-पद्धति सिद्ध होती है। सिन्धुघाटी की सभ्यता को अवैदिक मानने पर तो योग वेदों से भी पुरातन, अनार्य किन्तु भारतीय प्रक्रिया सिद्ध होती है। उस स्थिति में यह मानना होगा कि कपिल ने वैदिक आर्यों में सर्वप्रथम सांख्ययोग की शिक्षा का प्रसार किया। 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'—पंक्ति में कपिल के पहले के किसी भी अन्य योगशास्त्र-व्याख्याता का स्पष्ट प्रतिषेध किया गया है।

उपनिषदों में योग

उपनिषदों का आविर्भाव ज्ञान की अद्वैतधाराओं की प्रस्तावना करता है। अतः सांख्ययोग मतवाद के प्रति उनकी उपेक्षा-दृष्टि प्रतीत होती है। फिर भी योग की महत्ता और उपयोगिता का आकलन उपनिषदों में हुआ है। काठकोपनिषद् में आत्मज्ञान के एकमात्र साधन के रूप में योग को स्वीकार किया गया है—

१. 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।'[१]

२. 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥'[२]

३. 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराक् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥'[३]

बृहदारण्यक उपनिषद् ने भी आत्मदर्शन के लिये समाधि को अनिवार्य रूप में प्रतिपादित किया है—

'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति।'[४]

---

१. द्रष्टव्य; काठको० १।२।२१।
२. द्रष्टव्य; काठको० २।६।११।
३. द्रष्टव्य; काठको० २।१।१।
४. द्रष्टव्य; बृहदा० ४।४।२३।

मैत्रायणी उपनिषद् में भी समाधि के द्वारा चित्त की शुद्धि करके ही आत्मानुभूति का आनन्द सम्भव बताया गया है—

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो, निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत ।'[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद् तो योग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करती है और योगसम्बन्धी अनेक सूचनाएँ देती है—

१. 'योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।'[2]

२. 'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।'[3]

गर्भोपनिषद् ने तो जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिये योगाभ्यास को अद्वितीय साधन के रूप में प्रतिपादित किया है—

'यदि योऽन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे ।'[4]

उपनिषदों के अनन्तर योग का प्रचलन

उपनिषदों के बाद यद्यपि कपिलोक्त योग का क्रमबद्ध विवरण या विवेचन अनुपलब्ध है, किन्तु पञ्चशिख के सूत्रों में योग के पारिभाषिक शब्दों और योग की कतिपय उपलब्धियों की ओर संकेत अवश्य उपलब्ध होता है। 'निर्माण चित्त का ग्रहण'[5] 'अस्मिता का सम्प्रज्ञान',[6] 'ध्यायियों अर्थात् योगियों के मैत्री इत्यादि बाह्यसाधननिरपेक्ष विहार'[7] और 'प्रकृष्ट (योगज) धर्मों की उत्पत्ति' इत्यादि योग के विषय पञ्चशिख के द्वारा संकेतित हुये हैं। इसके अनन्तर कुछ समय के लिये कापिल योगशास्त्र कालक्रम के एक प्रबल आघात का शिकार हुआ। बौद्ध और जैन मतवादों के प्रबल विरोधी प्रवाह में इस सांख्ययोग का महत्त्व बहुत ही क्षीण हो गया और योग का स्वरूप बहुत कुछ लुप्त हो चला। दार्शनिक क्षेत्र की इस दुर्घटना का संकेत गीता की इस उक्ति में भी मिलता है—

'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥'—(४ । २)

---

१. द्रष्टव्य; मै० श्रु० ।

२. द्रष्टव्य; श्वेता० उप० २।१३ ।

३. द्रष्टव्य; श्वेता० उप० २।१२ ।

४. द्रष्टव्य; गर्भो० ।

५. 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये तन्त्रं प्रोवाच ।'—पञ्च० सू० १ ।

६. 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते ।'—पञ्च० सू० २ ।

७. 'ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति ।'—पञ्च० सू० ३० ।

आगे चलकर इस कपिलोक्त योग का जीर्णोद्धार गीता में हो सका है। गीता के छठे अध्याय में प्रतिपादित योग निश्चय ही कपिलोक्त योग से अभिन्न है। गीता स्वयं अपने को 'योगशास्त्र' की संज्ञा देती है। यद्यपि गीता में 'योग' शब्द अपने सामान्य और व्यापक अर्थ में प्रवृत्त हुआ है, किन्तु छठे अध्याय का ध्यानयोग[१] तो कापिलयोग ही है। गीता में आठों योगाङ्गों और अभ्यास तथा वैराग्य नामक योग के उपायों का भी प्रतिपादन हुआ है।[२]

योग के अभ्यास से योगी को ज्ञान (ऋतम्भरा प्रज्ञा) की प्राप्ति होती है।[३] ब्रह्मप्राप्ति के लिये, योग अवैकल्पिक एवं नित्य-साधन के रूप में भी सिद्धान्तित किया गया है।[४] गीता के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि योग पुरातनकाल से भारत में एक प्रचलित मोक्ष-साधना थी। योगियों का कुल होता था। उनके कुल में जन्म होना दुर्लभ बात मानी जाती थी।[५] पर इतना तो निश्चित है कि योग सर्वसाधारण धर्म नहीं था। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने योग धर्म को 'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्' ही कहा है।[६]

योग की व्यवस्था का सूत्रपात

योगशास्त्र के इतिहास में कपिल के पश्चात् पतञ्जलि का ही आविर्भाव प्रामाणिक रूप से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। क्योंकि इन दोनों महापुरुषों के बीच कतिपय योगियों के नाम के अतिरिक्त कोई कृति या उपदेश उपलब्ध नहीं है। रही बात गीता की, तो उसमें योग की व्याख्या, विवेचना और स्थापना न होकर योग को एक व्यापक एवं बहुमुखी स्तर प्रदान किया गया

---

१. 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥'—गीता ६।२३।
'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥'—गीता २।५३।

२. द्रष्टव्य; श्रीमद्भगवद्गीता ५।२७, ६।१०-१५, ६।३५, १२।१३-१७ और १६।१-३।

३. 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥'—श्रीम० गीता ४।३६।

४. द्रष्टव्य; श्रीम० गीता० १८।५०–५३।

५. 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥'—श्रीम० गीता ६।४२।

६. 'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥'—श्रीम० गीता ४।३।

है। जैगीषव्य[१], नारद, देवल, असित, वार्षगण्य, आवटच आदि योगी नाममात्रगोचर हैं। पतञ्जलि का उद्‌भव भारतीय विद्या के क्षेत्र में एक चमत्कारिक घटना थी। इस चमत्कार ने विद्वानों को आज तक चकाचौंध कर रखा है। लोग निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि पतञ्जलि कब पैदा हुये? कौन थे? और क्या-क्या उनकी उपलब्धियाँ हैं? पतञ्जलि के समय, स्थान, साधना एवं सिद्धियों का निरूपण भारतीय इतिहास की दुर्बोध पहेलियों की एक प्रमुख कड़ी है। अत्यन्त संक्षेप में नीचे पतञ्जलि के सम्बन्ध में प्रस्तावित मत प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) **जे० एच० वूड्स का मत**—योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि वैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति थे, क्योंकि 'द्रव्य' का लक्षण दोनों आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दिया है। इनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में बहुत कुछ निश्चित न होने पर भी, सूत्रों में विज्ञानवाद का खण्डन होने के कारण यह कहा जा सकता है कि ये वसुबन्धु के परवर्ती थे और इसी वैयाकरण पतञ्जलि से इनका बहुत बाद में होना निश्चितप्राय है। इनका जीवनकाल (३०० ई०–४०० ई०) के मध्य में निश्चित किया जा सकता है। इस मत के आधारभूत तथ्य अधोलिखित हैं—

(क) योगसूत्र (३।१४–१५ तथा ४।१४–२१) में बौद्धों के निरालम्ब सम्प्रदाय का खण्डन किया गया है। यह सम्प्रदाय बौद्धों की विज्ञानवादी धारा का है, जो वसुबन्धु के द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था और वसुबन्धु का काल अधिकांश विद्वानों[२] के द्वारा ४थी श० ई० निश्चित किया जाता है।

(ख) वाचस्पति मिश्र भी पतञ्जलिकृत इस खण्डन को विज्ञानवादियों का ही खण्डन मानते हैं—'अथ विज्ञानवादिनं वैनाशिकम् उत्थापयति।'

(ग) नागार्जुन के द्वारा अपने ग्रन्थों में योगसूत्रकार पतञ्जलि का उल्लेख कहीं भी नहीं किया गया। इससे सिद्ध होता है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि नागार्जुन के परवर्ती थे।

(घ) महावंश के ३७वें अध्याय में यह उल्लेख मिलता है[३]—

'विहारमेकमागम्म रत्तिम्म पातञ्जलिमतं परिवेत्तेति।'

—श्लो० स० १६७।

---

१. जैगीषव्य-विरचित 'धारणाशास्त्र' का नाम ही सुनने को मिलता है। यह ग्रन्थ अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ।

२. एन० पेरी और एम० विण्टर्नित्ज।

३. प्रोफेसर गाइगर इस श्लोक को चूलवंश (छठी श० ई० के अन्त का) स्वीकार करते हैं।

(ङ) अपने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (२।५२) में जैन आचार्य उमास्वाती योगसूत्र (३।२२) का उल्लेख करते हैं। उमास्वाती छठीं शताब्दी के पूर्व के हैं, अतः पतञ्जलि ५वीं श० ई० के पूर्व के निश्चित रूप से सिद्ध होते हैं।

(च) श्चेखात्सकी की सूचना के अनुसार दिङ्नाग (५५० ई० के पहले के) पतञ्जलि का कोई उल्लेख नहीं करते, इससे भी योगसूत्रकार पतञ्जलि का वैयाकरण पतञ्जलि से भिन्नत्व सिद्ध होता है।

(छ) माघ (७वीं शताब्दी) ने शिशुपालवध[१] में योगसूत्र १।३३ का उल्लेख किया है।

(ज) ७०० ई० के आस-पास गौडपाद ने योगसूत्र २।३०, ३२ और पतञ्जलि का भी उल्लेख सांख्यकारिका (२३) के भाष्य में किया है।

वुड्स महोदय ने इन सब तथ्यों के आधार पर यह निश्चित किया है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि वैयाकरण पतञ्जलि से सर्वथा भिन्न थे और उन्होंने ४थी या ५वीं शताब्दी में योगसूत्रों की रचना की है।[२]

(२) **प्रो० जैकोबी और प्रो० कीथ का मत**—प्रो० जैकोबी[३] और प्रो० कीथ[४] इत्यादि अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी योगसूत्रकार पतञ्जलि और महाभाष्यकार पतञ्जलि को अभिन्न व्यक्ति नहीं मानते। ये लोग योगसूत्रकार पतञ्जलि का समय भी निश्चित नहीं करते। प्रो० वेबर ने बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित 'काप्यपातञ्जल' को कपिलानुयायी पतञ्जलि समझते हुये इन पतञ्जलि को उपनिषदों से भी पूर्ववर्ती स्वीकार किया है। 'सांख्यदर्शन का इतिहास' लिखते हुए पृ० सं० ५१४–५२३ पर पं० उदयवीर शास्त्री ने भी दोनो पतञ्जलियों की अभिन्नता का खण्डन किया है और पाणिनि तथा कात्यायन के द्वारा उदाहरण रूप में निर्दिष्ट नाम वाले पतञ्जलि को

---

१. 'मैत्र्यादि चित्तपरिकर्मविदो विधाय,
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य,
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥' शिशु० ४।५५।

२. 'The conclusion would be then that Patanjali's Sutras were written at some time in the fourth or fifth century of our era.'—Introduction of Yoga System of Patanjali p. xiv.

३. Jacobi : Uber das ursprungliche Yoga System p. 583.

The Dates of the Philosophical sutras of the Brahmanas p. 26–27.

Uber das Alter der Yogasastra.

४. Keith : Some Problems of Indian Philosophy p. 633.
Samkhya System pp. 65–66.

ही योगसूत्र का रचयिता माना है। प्रो० जैकोबी को निम्नलिखित कारणों से पतञ्जलिद्वय का एक ही व्यक्ति होना अस्वीकृत है—

(क) पतञ्जलि ने यो० सू० ३।१७ में नामतः उल्लेख न करने पर भी स्फोटसिद्धान्त का आश्रय लिया है, जिसका कि निरूपण व्यासभाष्य में विस्तार से हुआ है। अवश्य ही यह प्रभाव महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि वैयाकरणों का है। इसलिए योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि वैयाकरण पतञ्जलि से बहुत बाद के सिद्ध होते हैं।

(ख) योगसूत्रकार ने अन्तःकरण का विभुत्व और परमाणुओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। योग पर यह प्रभाव सांख्यमतवाद से बाहर वैशेषिक दर्शन का है। इसलिये वैशेषिकों से परवर्ती होना भी योगसूत्रकार पतञ्जलि के लिये निश्चित ही है।

(ग) काल की सत्ता को काल्पनिक और क्षणों की सत्ता को वास्तविक मानना सौत्रान्तिकों का प्रभाव है। इससे भी योगसूत्रकार पतञ्जलि का महाभाष्यकार से बहुत बाद में होना निश्चित होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि से योगसूत्रकार पतञ्जलि को भिन्न मानने वाले विद्वानों की यही प्रमुख उपपत्तियाँ हैं, जिनके आधार पर योगसूत्रकार पतञ्जलि को तीसरी और चौथी शताब्दी में स्थित बताया गया है।

(३) डा० एस० एन० दासगुप्त आदि विद्वानों का मत—डा० एस० एन० दास गुप्ता, श्रीज्वालाप्रसाद, रिचर्ड गार्बे महोदय, श्री बी० लाइबिश और मरकिया एलियड आदि विद्वान् प्रथम दोनों प्रकार के मतों का खंडन अपने-अपने ढङ्ग से करते हुये एक प्राचीन भारतीय परम्परा के आधार पर योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतञ्जलि को एक ही व्यक्ति स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार योगसूत्र का काल निश्चित रूप से दूसरी श० ई० पू० सिद्धान्तित हो जाता है, क्योंकि महाभाष्य की रचना करने वाले पतञ्जलि शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस मत के समर्थक विद्वानों के कथन का सारांश यह है—

(क) योगसूत्रों में कहीं पर विज्ञानवादी बौद्धों का खंडन नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में डा० दासगुप्ता कहते हैं कि योगसूत्र का चौथा (कैवल्य) पाद मूलग्रन्थ का भाग ही नहीं है, बल्कि परवर्ती प्रक्षेप है,[१]

१. 'Another legitimate hypothesis which may be formed in this connection is that the last chapter is a subsequent addition from a hand other than that of Patanjali......There is also a marked change in the style...... The extent of this chapter is also disproportionately small as it contains only 34 sutras.' —Yoga Philosophy by Dr. S. N. Das Gupta p. 53.

क्योंकि 'विभूति' नामक तृतीय पाद में ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय की परिसमाप्ति हो जाती है। योग का प्रमुख लक्ष्य 'कैवल्य' योग की परम विभूति अर्थात् परा सिद्धि है और इसका निरूपण विभूतिपाद के अन्त में पूर्ण हो जाता है। ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक 'इति' पद भी विभूतिपाद के अन्तिम सूत्र के अन्त में आया हुआ है। जबकि तीनों पादों में आये हुये अन्य किसी भी सूत्र के अन्त में 'इति' शब्द नहीं आया। सूत्र-संख्या की दृष्टि से भी चौथा पाद अवशिष्ट ग्रन्थ से बिल्कुल बेमेल है। प्रथमपाद में ५१ सूत्र, द्वितीयपाद में ५५ और तृतीय पाद में भी ५५ सूत्र हैं, जबकि चौथे पाद में केवल ३४ ही सूत्र हैं। इसलिये चौथे पाद के किसी संकेत के आधार पर योगसूत्रकार का काल निश्चित नहीं किया जा सकता।

(ख) यदि यह पाद मूलग्रन्थ का भाग स्वीकार भी किया जाय तो भी जिस सूत्र में मुख्यरूप से विज्ञानवादियों का खण्डन माना जाता है, वह वस्तुतः योगसूत्र ही नहीं है। श्रीज्वालाप्रसादजी का कहना है कि 'न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्—'यह वाक्य 'सूत्र' नहीं है, प्रत्युत व्यासभाष्य का एक वाक्य है। इसका समर्थन करने में उनका तर्क है कि सूत्रों में प्रश्नोत्तर देने की शैली ही कभी नहीं थी, जबकि इस वाक्य में पूरा सवाल-जवाब है। सूत्रों में क्रियापद भी प्रायः नहीं होते, जबकि इस वाक्य में 'स्यात्' पद क्रियावाचक है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि राजमार्तण्डवृत्तिकार भोजराज के द्वारा व्याख्यात सूत्रों में इस वाक्य का अस्तित्व ही नहीं है। भोजराज के अनुसार चतुर्थपाद में केवल ३३ ही सूत्र हैं। इस सम्बन्ध में भोजराज की प्रामाणिकता वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु से इसलिये बढ़कर है कि इन दोनों की व्याख्याएँ मुख्यतः भाष्य पर हैं, जबकि भोजवृत्ति योगसूत्रों पर ही है। अतः 'सूत्र' कौन-कौन से हैं ? कौन 'सूत्र' नहीं हैं ? इसका पता सूत्रों की व्याख्या से ही ठीक-ठीक चल सकता है।

(ग) इलियड आदि विद्वानों का कहना है कि यदि यह पाद मूलग्रन्थ में हो और यह सूत्र भी उस पाद में हो, साथ ही उसमें इस प्रकार की आदर्शात्मक (Idealistic) विचारधारा का खण्डन भी माना जाय, तथापि यह खण्डन[1]

---

1. 'The text could equally well apply to some earlier idealistic school such as those mentioned in the earlier Upanishads. For example the philosophy, of such an early work as Aitareya Aranyaka is as good as Vijnanavada as any other could be. All things of the world are described as knowledge (प्रज्ञानम्) and having their existence only in and through knowledge.' p. 371

विज्ञानवादी बौद्धों का ही है, यह कैसे कहा जा सकता है ? जबकि ऐतरेय आरण्यक जैसी पुरानी कृतियों में भी इस प्रकार की आदर्शात्मक विचारधारा का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय आरण्यक तो भगवान् बुद्ध से भी पहले की कृति है; विज्ञानवादी बौद्धों का तो कहना ही क्या ? विज्ञानवादियों में से भी यह विचारधारा वसुबन्धु की ही है और उन्हीं का खण्डन इस सूत्र में हुआ है—यह कल्पना तो प्रबल दुराग्रह की प्रतीक है। वाचस्पति मिश्र का 'अथ विज्ञानवादिनं वैनाशिकमुत्थापयति'—यह वाक्य तो भाष्यकार के ही मत की ओर निर्देश करता है, न कि सूत्रकार के मत की ओर। बहुत सम्भव है कि भाष्यकार के समय में इस प्रकार की विचारधारा प्रायः बौद्धों के द्वारा ही अंगीकृत की जाती रही हो और भाष्यकार ने सूत्रकार के सामान्य मत-निर्देश को अपने समय में प्रचलित विज्ञानवादियों के मत के रूप में ही ग्रहण किया हो।

(घ) नागार्जुन ने यद्यपि पतञ्जलि का नामतः उल्लेख नहीं किया, किन्तु उन्होंने 'योग' को दार्शनिक मतवाद के रूप में अलग से तो उल्लिखित[1] किया ही है। पतञ्जलि के पहले योगशास्त्र के विचार अवश्य मौजूद थे, किन्तु ग्रन्थ रूप में व्यवस्थित योगदर्शन के समस्त विचारों का प्रस्तुतीकरण सबसे पहले पतञ्जलि का ही उपलब्ध होता है। इसलिये नागार्जुनकृत उल्लेख बहुत सम्भव है पातञ्जलयोग का ही हो।

(ङ) दिङ्नाग के द्वारा पतञ्जलि का उल्लेख न होना पतञ्जलि के परवर्तित्व को इसलिये सिद्ध नहीं करता कि पतञ्जलि कोई तार्किक आचार्य तो थे नहीं, प्रत्युत साधना के मार्ग को व्यवस्थित करने वाले उपदेष्टा थे। इसलिये न तो आदर्श के रूप में और न प्रबल विपक्षी के रूप में ही, दिङ्नाग के द्वारा उनका निर्देश किया जाना स्वाभाविक था। इस बात के आधार पर पतञ्जलि को दिङ्नाग से परवर्ती नहीं कहा जा सकता।

(च) स्फोटवाद का सिद्धान्त योगसूत्रों में नामतः तो प्रतिपादित ही नहीं हुआ कि उसके आधार पर पतञ्जलि के समय-निर्धारण में कुछ सहायता मिल सके। और यदि सूत्रों में इस सिद्धान्त को संकेतित मान भी लिया जाय तो इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि ये वैयाकरण पतञ्जलि से परवर्ती थे ? क्योंकि महाभाष्य में (पा० सू० १।१।७० पर) स्फोट का सिद्धान्त स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है—

'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः।......स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः। ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते। अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥'—महाभाष्य पृ० १७८।

---

१. उपायकौशल्यहृदयशास्त्र (नंजियो नं० १२५७)।

स्फोटसिद्धान्त के स्वीकार से तो वस्तुत: योगसूत्रकार का महाभाष्यकार से अभिन्नत्व ही सिद्ध होता है ।[१] सांख्य में अनुपलब्ध स्फोटसिद्धान्त का स्वीकार कोई साधारण बात नहीं है । इस तथ्य से तो योगसूत्रकार और महाभाष्यकार के अभेद की परिपुष्टि ही होती है ।[२] परवर्ती वैयाकरणों ने यद्यपि आठ प्रकार के स्फोटों में से 'वाक्यस्फोट' को ही प्रधानता दी है, किन्तु योगसूत्रकार और महाभाष्यकार की दृष्टि में 'शब्दस्फोट' ही प्रधान तत्त्व है । परवर्ती वैयाकरणों के लिये स्फोट 'ब्रह्म' बन जाता है, किन्तु योगसूत्रकार और महाभाष्यकार के यहाँ वह अर्थप्रत्यायक शब्दमात्र है । स्फोटसम्बन्धी अभिन्नसिद्धान्त का होना भी दोनों रचनाओं के अभिन्नकर्तृत्व की कल्पना को परिपुष्ट ही करता है; खण्डित नहीं ।

(छ) अन्त:करण के विभुत्व के प्रश्न पर ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' के मत को ही कपिलोक्त सांख्य का सिद्धान्त मानना इसलिये बहुत ठीक नहीं है कि अनेक ऐसे विवादास्पद प्रसंगों में ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्ती सांख्याचार्यों में परस्पर काफी मतभेद रहता चला आया है, जैसा कि 'युक्तिदीपिका' में स्थल-स्थल पर निर्दिष्ट हुआ है ।[३] जैकोबी साहब ने पता नहीं, क्यों इस मतभेद को वैशेषिक प्रभाव माना है, जबकि वास्तविकता यह है कि वैशेषिक सूत्र ३।२।१, प्रशस्तपादभाष्य और न्यायकन्दली पृ० ८९ तथा किरणावली पृ० १५२ पर साफ-साफ मन को 'अणु' परिमाण वाला सिद्ध किया गया है । वैशेषिक दर्शन में सर्वत्र अन्त:करण के विभुत्व का खण्डन किया गया है । न्यायशास्त्र

---

१. 'We may add to it that the Mahabhasya agrees with the Vyasa Bhasya as regards Sphotavada.'

—S. N. Das Gupta's Yoga Philosophy p. 58.

२. On the contrary he finds numerous resemblances between the Yoga sutras and the Mahabhasya : for example, the sphota doctrine, although it is a doctrine far from prevalent one, appears in both the books.'

—M. Eliade's Yoga : Immortality and Freedom p. 371.

३. 'पतञ्जलि पञ्चाधिकरणवार्षगणानां तु प्रधानान्महानुत्पद्यत इति······ अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणीति सर्वे, महत: षडविशेषा: सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् । तथाहङ्कारादिन्द्रियाणीति भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम् । एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये । एकोत्तराणीति वार्षगण्य: ।'

—युक्तिदीपिका पृ० ।

में भी यही स्थिति है।[1] परमाणुओं की मान्यता भी वैशेषिक प्रभाव को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि जैन और बौद्ध दर्शन की पुरानी चिन्तनधाराओं में भी परमाणु स्वीकृत हैं।[2] महाभाष्यकार के आविर्भाव से पूर्व इन दर्शनों का पर्याप्त विकास हो चुका था—इस बात में भी किसी को सन्देह करने का अवसर नहीं है। और फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि पतञ्जलि ने परमाणु का स्वयं तो कहीं नाम ही नहीं लिया। भाष्यकार व्यास ने परमाणुओं का प्रवेश योगशास्त्र में कराया है। समाधिपाद के सूत्र 'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः' में आया हुआ 'परमाणु' पद 'परमाणु' नामक द्रव्य का वाचक न होकर 'परम अणु परिमाण वाले' तन्मात्रादि पदार्थों का वाचक है। इसलिये पतञ्जलि पर वैशेषिकप्रभाव स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है।

सौत्रान्तिकों से प्रभावित कालसम्बन्धी विचारधारा के कारण भी योगसूत्रकार पतञ्जलि को महाभाष्यकार से भिन्न या परवर्ती मानना उचित नहीं है, क्योंकि सौत्रान्तिक विचारधारा का मूल दूसरी श० ई० पू० से भी पहले विद्यमान था। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सौत्रान्तिक धारा की ही नहीं, अपितु समस्त हीनयानी बौद्धों की दृष्टि में जब प्रत्येक वस्तु क्षणिक है तो फिर 'काल' की ही सत्ता भला कैसे नित्य हो सकती है? इसलिये 'काल' को काल्पनिक और 'क्षण' को वास्तविक मानना बौद्धदर्शनमात्र का प्रभाव कहा जा सकता है। इसे किसी परवर्ती बौद्ध मतवाद का ही प्रभाव कैसे स्वीकार किया जा सकता है।

समस्या का समाधान—

इन बाधक तर्कों का खंडन हो जाने पर महाभाष्य और योगसूत्र के रचयिताओं के अभिन्नत्व को सिद्ध करने वाले साधक-प्रमाणों का प्रस्तुत किया जाना समीचीन एवं लब्धावकाश है?

(१) इन दोनों पतञ्जलियों की एकता को प्रतिपादित करने वाली एक प्रबल पुरातन परम्परा है। छठी श० ई० के वैयाकरण भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ के ब्रह्मकाण्ड में त्रिकरणशुद्धि के प्रसंग में यह श्लोक आया है—

> कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समुपस्थिताः।
> चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः॥ १। १४७।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—शारीर, वाचिक और मानस। इन तीनों प्रकार के कर्मों को सम्पन्न करने के जो उपादान हैं, उनको निर्मल करने वाले तीन शास्त्र इस श्लोक में बताये गये हैं—वैद्यक, व्याकरण और योग। वाक्य-

---

१. द्रष्टव्य; न्यायसूत्र १।१।१६ और उस पर वात्स्यायन-भाष्य।

२. द्रष्टव्य; योगसूत्रभाष्यसिद्धि पृ० १२९।

पदीय के टीकाकार पुण्यराज ने इसका आशय यह निकाला कि इसमें पतञ्जलि की प्रशंसा की गयी है, जिन्होंने कि इन तीनों मलों का शोधन करने के लिये क्रमशः 'चरकसंहिता', 'महाभाष्य' और 'योगसूत्र' की रचना की है। पुण्यराज की इस मान्यता का आधार भर्तृहरि के उक्त श्लोक पर भर्तृहरि की ही स्वोपज्ञ व्याख्या है—

'यथैव हि शरीरे दोषशक्तिं रत्नौषधादिषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं दृष्ट्वा चिकित्साशास्त्रम् आरब्धम्, रागादींश्च बुद्धेरुपप्लवानवगम्य तदुपघातहेतुज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि, तथेदमपि साधूनां वचः संस्काराणां ज्ञापनार्थमपभ्रंशानां चोपघातानां त्यागार्थं लक्षणमारब्धम्।'

इस व्याख्या में प्रत्येक शास्त्र के कर्ता के अलग-अलग उल्लेख न होने से यही धारणा होती है कि भर्तृहरि को इन तीनों शास्त्रों का एककर्तृत्व ही अभिप्रेत है। पं० उदयवीर शास्त्री इस सम्बन्ध में कहते हैं कि—'इससे भर्तृहरि का यह भाव कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह पतञ्जलि को इन तीनों प्रकार के शास्त्रों का प्रवक्ता मानता है।' किन्तु शास्त्रीजी का यह कथन निष्प्रमाण, अस्वाभाविक और पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। यद्यपि भर्तृहरि के द्वारा इस व्याख्या में तत्तत् शास्त्रों की रचना का प्रयोजन ही प्रकट रूप से बताया गया है, किन्तु भिन्न कर्ताओं का उल्लेख न होने से, 'यथा' और 'तथा' का प्रयोग होने से और 'दृष्ट्वा' तथा 'अवगम्य' पदों का प्रयोग किये जाने से इन तीनों शास्त्रों का एक ही कर्ता मानना भर्तृहरि का अभिप्राय प्रतीत होता है।

(२) योगसूत्रों पर 'राजमार्तण्डवृत्ति' की रचना करने वाले भोजराज (११वीं शताब्दी ई०) तो असंदिग्ध रूप में महाभाष्यकार पतञ्जलि को ही वैद्यकशास्त्र (चरकसंहिता) और योगसूत्रों का भी रचयिता मानते हैं। उन्होंने इस वृत्ति के मंगलाचरण में ही इस तथ्य को निर्भ्रान्त रूप से प्रकाशित करने वाला यह श्लोक दिया है—

'शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता
वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
स्तस्य श्री रणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः' ॥ ५ ॥

इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार नागराज शेषावतार (पतञ्जलि) ने शब्दानुशासनशास्त्र (महाभाष्य), योगसूत्र और वैद्यकशास्त्र (चरकसंहिता) की रचना करते हुये वाणी, मन और शरीर के मलों को निवृत्त किया था, वैसे ही जिस (रणरंगमल्ल नृपति भोज) ने व्याकरणशास्त्र (सरस्वतीकण्ठाभरण), पातञ्जल-योगशास्त्र की राजमार्तण्डवृत्ति और वैद्यकशास्त्र में राजमृगाङ्कवृत्ति की रचना करते हुये त्रिविध दोषों का निर्मूलन कर दिया है, उसके तेजोमय वचन सदा विजयी हों। इस श्लोक से यह बिल्कुल स्पष्ट

है कि भोजराज असन्दिग्ध रूप से योगसूत्रकार पतञ्जलि को महाभाष्य और चरकसंहिता का रचयिता स्वीकार करते हैं। उनके समय के विद्वानों में इस प्रसङ्ग में कोई विप्रतिपत्ति भी नहीं रही होगी, इसीलिये यह बात उस समय डंके की चोट पर कही जा सकती थी।

(३) 'चरकसंहिता' के टीकाकार चक्रपाणिदत्त (११ श० ई०) तो पतञ्जलि को इन तीनों ग्रन्थों के रचयिता के रूप में नमस्कार भी करते हैं—

'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः ॥'

(४) प्रकाण्ड वैयाकरण नागेश (१६वीं श० ई०) अपनी 'वैयाकरण-लघुमञ्जूषा' में पतञ्जलि को ही उक्त तीनों ग्रन्थों का रचयिता स्वीकार किये हुए प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं—

(क) 'तदुक्तं चरके पतञ्जलिना। सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रिय-मचेतनम्।'

(ख) 'आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्, रागादि-वशादपि नान्यथावादी यः स' इति चरके पतञ्जलिः।'

—वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा पृ० १२।

(ग) 'योगसूत्रे पतञ्जल्युक्तेः'—महा० पस्पशा० उद्योत पृ० ५८।

(५) रामभद्र दीक्षित (१८वीं शताब्दी) कृत पतञ्जलिचरित में भी पतञ्जलि की वन्दना इस रूप में की गयी है—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥'

(६) इस संदर्भ में एक अन्य तथ्य का उल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। प्राचीन शैली से पठन-पाठन की जो परम्परा है, उसमें महाभाष्य का पाठ प्रारम्भ करने के पहले अधोलिखित मंगलपाठ किया जाता है और उसी दिन तीनों मुनियों के लिये सरसों और दही की बलि दी जाती है। वह मंगलपाठ यह है—

'वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम्।
पाणिनिं सूत्रकारं च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम् ॥
योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥'

ठोस बाधक प्रमाणों के अभाव में इस परम्परा की प्रामाणिकता स्वीकार करना अनुचित नहीं है, क्योंकि 'न ह्यमूला जनश्रुतिः।'

(७) योगसूत्रों की भाषा और महाभाष्य की भाषा में कोई ऐसी विसंगति नहीं है, जिससे कि दोनों की भिन्नकर्तृकता सिद्ध या संकेतित हो सके। डा०

एस० एन० दासगुप्ता का कहना है कि उन्हें दोनों ग्रन्थों का गहन अध्ययन करने के पश्चात् भी कोई ऐसा तथ्य, संकेत, सन्दर्भ, शब्द या भाव नहीं उपलब्ध हुआ, जिससे कि दोनों ग्रन्थों की अभिन्नकर्तृकता के स्वीकार में किञ्चिन्मात्र भी विरुद्ध प्रभाव पड़ता हो।[1]

(८) महाभाष्य सांख्ययोग के तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण है। इसके लिये महाभाष्य का गुणसिद्धान्त (४।१।३), सत्कार्यवाद (१।२।६४), कालविषयक सिद्धान्त (२।२।५,३।२।१०-११) और बुद्धिपरिणाम के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले अंश दर्शनीय हैं।

(९) दोनों ग्रन्थों को आरम्भ करने की शैली में अद्भुत समानता है। महाभाष्य का प्रारम्भ 'अथ शब्दानुशासनम्' वाक्य १।१।१ और योगसूत्र का प्रारम्भ 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र १।१ से होता है। इस साम्य में 'अथ' शब्द उतना ध्यान देने योग्य नहीं है, जितना 'अनुशासन' शब्द, क्योंकि ग्रन्थों का आरम्भ प्रायः 'अथ' शब्द से किया ही जाता है। 'अनुशासनम्' शब्द की समता अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(१०) भाष्यकार व्यास भी कदाचित् इस सम्बन्ध में असन्दिग्ध विश्वास रखते थे कि दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, क्योंकि 'अथ शब्दानुशासनम्' और 'अथ योगानुशासनम्' वाली समानता को आगे बढ़ाते हुए महाभाष्य की इसके बाद वाली पंक्ति 'अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।' के ही वजन पर वे योगभाष्य प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं—

'अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।'

—यो० भा० पृ० ६।

(११) विज्ञानभिक्षु के द्वारा व्याख्यात 'यस्त्यक्त्वेत्यादि' मङ्गलश्लोक यदि व्यास का माना जाय, तब तो व्यास की दृष्टि में योगसूत्रकार पतञ्जलि का शेषावतार माना जाना निश्चित है। यदि उसे प्रक्षेप माना जाय, तो प्रक्षेप मानने का आधार केवल इतना ही है कि वाचस्पति मिश्र ने उसकी व्याख्या नहीं की। इसके अतिरिक्त इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानने का कोई अन्य प्रमाण नहीं है। योगसूत्रकार पतञ्जलि को प्रायः सभी आचार्यों ने स्थल-स्थल पर शेषावतार, फणिपति, अनन्त, इत्यादि कहा है। मल्लिनाथ (१३वीं शती) भी अपने प्रसिद्ध श्लोक 'वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम्।

---

1. 'I have assured myself by an examination of the Mahabhasya that there is nothing in it which can warrant us in saying that the two Patanjalis can not be identified.'

—S. N. Das Gupta's Yoga Philosophy p. 57.

अन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।'—में योगशास्त्र को 'पन्नगगवी-गुम्फ' की संज्ञा दी है । पतञ्जलि नाम के व्यक्ति तो अनेक हो सकते हैं, किन्तु शेषावतार रूप में सदा से प्रसिद्ध पतञ्जलि का अनेक माना जाना कम सम्भव है । इस तथ्य से भी योगसूत्रकार और महाभाष्यकार की अभिन्नता की मान्यता पर अनुकूल ही प्रकाश पड़ता है ।

निष्कर्ष—इन सब प्रमाणों के आधार पर, सशक्त बाधक प्रमाणों के अभाव में महाभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रों के रचयिता सिद्ध होते हैं । इस स्थिति में शुङ्गवंशीय नृपति पुष्यमित्र की समकालीनता के आधार पर इनका जीवन-काल द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व ही निर्णीत किया जाना चाहिये । क्योंकि महाभाष्य में पतञ्जलि ने ये प्रयोग किये हैं—

१. 'पुष्यमित्रं यजामहे ।'
२. 'पुष्यमित्रं याजयामः ।'
३. 'चन्द्रगुप्तसभा ।'
४. पुष्यमित्रसभा ।'
५. 'अरुणद्यवनः साकेतम् ।'
६. 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् ।'—इत्यादि ।

ये मूलतः काश्मीर के निवासी थे । क्योंकि काश्मीर के प्रति महाभाष्य में इनका विशेष अनुरोध झलकता है —

१. 'काश्मीरान् गमिष्यामो देवदत्त ! तत्र सक्तून् पास्यामः ।'
२. 'अभिजानासि देवदत्त ! यत् काश्मीरेषु वत्स्यामः ।'
३. 'समेताः पुण्यकर्मणि पार्श्वे हिमवतः शुभे ।'
४. 'वने चैत्ररथे रम्ये ।'

कुछ विद्वानों ने पतञ्जलि को गोनर्दीय मानकर उन्हें गोण्डा का निवासी सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु भाष्य का सम्यग् अनुशीलन करने पर पता चलता है कि पतञ्जलि ने कई स्थानों पर गोनर्दीय आचार्य का खण्डन भी किया है । ये मत कात्यायन के ही प्रतीत होते हैं । पाणिनीयसूत्र १।१।५ पर वार्तिक है 'सति त्वन्यस्मिन् ।' इसका खण्डन करते हुए पतञ्जलि कहते हैं—'गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् 'सति तु अन्यस्मिन् इति ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि कात्यायन ही गोनर्दीय थे, न कि पतञ्जलि । यही बात हरिदीक्षित भी मानते थे । अर्वाचीन विद्वान् सुब्रह्मण्य शास्त्री और पं० दामोदर प्रसाद शर्मा शास्त्री वैद्य ने भी यही बात सिद्धान्तित की है । पतञ्जलि, शेषावतार' या 'नागराज' नाम से कदाचित् इसीलिये प्रसिद्ध रहे होंगे कि ये कश्मीर में रहने वाले 'नागू' जाति के ब्राह्मणों के बीच पैदा हुये थे और उनके मुखिया थे ।

अद्भुत शास्त्रज्ञान और विविध भाषाओं के प्रकाण्ड पाण्डित्य आदि के कारण भी इनके सहस्रजिह्वत्व की कल्पना ने इनको 'शेषावतार' के रूप में

प्रसिद्ध किया होगा। शेषनाग के समान श्वेतत्व, जो काश्मीरियों में प्रायः देखा जाता है, इनमें भी अति-मात्र रहा ही होगा। नाग-जाति में नागराज शेष की पूजा उपासना आदि का भी अवश्य ही विशेष प्रचलन रहा होगा। समूचे योगशास्त्र में ईश्वर-प्रणिधान के अतिरिक्त जिस एक मात्र देवता की समापत्ति का विधान किया गया है, वह हैं अनन्त या शेषनाग 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्यां वा' यो० सू० २।४७। सांख्यशास्त्र में जो असाधारण महत्त्व कारिकाकार ईश्वरकृष्ण का है, वही स्थान योगशास्त्र के इतिहास में पतञ्जलि का है। हिरण्यगर्भापरनामा कपिल के लुप्तप्राय सांख्ययोग में से एक शाखा की प्राणप्रतिष्ठा ईश्वरकृष्ण ने की है और दूसरी की पतञ्जलि ने।

योगभाष्यकार व्यास

योगशास्त्र के इतिहास में पतञ्जलि के पश्चात् जिस कृती का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है, वे हैं व्यास। अध्येताओं की दृष्टि में योगसूत्रों की ही भाँति योगभाष्य भी अतीव महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक कृति है। योगदर्शन का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक—उभयविध स्वरूप-निरूपण योगभाष्य के आधार पर ही किया जाता है। इस भाष्य की प्रसिद्धि 'योगभाष्य', 'व्यासभाष्य', 'पातञ्जलभाष्य' और 'सांख्यप्रवचनभाष्य' आदि नामों से है। इन सब नामों में से 'सांख्यप्रवचनभाष्य'—नाम व्याख्यान की अपेक्षा रखता है। इस नाम से प्रसिद्ध होने का कारण यह है कि तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में योगशास्त्र के सिद्धान्त मौलिक सांख्यशास्त्र से अभिन्न ही हैं; रचनात्मक बातें या प्रक्रियाविषयक सिद्धान्त योग में सांख्य से अधिक हैं। इसलिये तत्त्व-विचार की दृष्टि से तो सांख्यशास्त्र का ही इस ग्रन्थ में भी प्रकृष्ट रूप से निर्वचन किया गया है। व्यासभाष्य की चारों पादों की पुष्पिकाओं में 'साख्यप्रवचनभाष्ये' पाठ पुरानी सभी प्रतिलिपियों में उपलब्ध होता है। जैसे प्रथमपाद की पुष्पिका है— 'इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः प्रथमः' इस तथ्य का सोपपत्ति स्पष्टीकरण विज्ञानभिक्षु के द्वारा योगवार्तिक में किया गया है।[१] इस नामकरण की एक संगति यह भी हो सकती है कि 'सांख्य' शब्द का एक अर्थ है 'तत्त्वज्ञान' और इस योगशास्त्र में तत्त्वज्ञान की ही अधोलिखित सम्पूर्ण अवस्थाओं का निरूपण हुआ है—

१. (वृत्तीय) तत्त्वज्ञान के साधन (आठों योगाङ्गों का अभ्यास)।[२]

---

१. 'सांख्यस्यैव प्रकर्षेण वचनं सांख्यप्रवचनं सांख्ये ह्यभ्युपगमनादेवेश्वरं प्रतिषिध्यासम्प्रज्ञातयोगनैरपेक्ष्येण च जीवतत्त्वज्ञानादेव मोक्ष उक्तोऽस्मिंस्तु शास्त्रे निरुपद्रवासन्दिग्धैच्छिकमुक्ति-नियमाय परमेश्वरविद्या आशुमोक्षहेतुरसम्प्रज्ञातयोगश्च प्रदर्शित इति भावः।'—यो० वा० पृ० १३६।

२. 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।'
—यो० सू० २।२८।

२. (वृत्तीय) तत्त्वज्ञान की प्राप्ति (सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि)।

३. (वृत्तीय) तत्त्वज्ञान का अतिक्रमण (असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि)।

तत्त्वज्ञान की इन तीनों अवस्थाओं का प्रकृष्ट निर्वचन तथा विवेचन करने वाला भाष्य 'सांख्यप्रवचनभाष्य' कहा गया है।

(प्रोच्यतेऽनेनेति प्रवचनम्, सांख्यस्य प्रवचनमिति सांख्यप्रवचनम्, सांख्यप्रवचनञ्च तद् भाष्यञ्चेति सांख्यप्रवचनभाष्यम्।)

यह भाष्य विषय का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करता है, सूत्र का मन्तव्य सुस्पष्ट करता है और योगियों में प्रसिद्ध प्रमाणों से सूत्रार्थ को परिपुष्ट करता है। साथ ही सूत्रविरोधी मतवादों का जमकर खण्डन करने की भी भरसक चेष्टा करता है। भाष्य की शैली सुदृढ़, सक्षम, सोपपत्ति एवं सारग्राहिणी है। फिर भी व्याकरण महाभाष्य, शाबरभाष्य या शाङ्करभाष्य जैसी सर्वाङ्गीण सुन्दरता, भाषा की प्राञ्जलता एवं सुश्लिष्ट क्रमबद्धता का अभाव इसमें अवश्य ही खटकता है। कुछ आधुनिक समीक्षकों ने इस कमी के कारण इस भाष्य की तथा इसके रचयिता की बड़ी निन्दा की है।[1] किन्तु महाभाष्य, शाबरभाष्य एवं शाङ्करभाष्य के समान प्राञ्जल एवं प्रसन्न गम्भीर न होने के कारण ही यह भाष्य सदोष एवं तृतीय श्रेणी का माना जाय, यह बात उचित नहीं है। इस भाष्य की भाषा अटपटी होने पर भी सशक्त और मनोरम न होने पर भी प्रभावपूर्ण है। इसकी शैली भी ओजस्विता से परिपूर्ण है। वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु और भास्वतीकार आदि समस्त योगपरम्परा के आचार्य इस भाष्य के रचयिता के प्रति अगाध श्रद्धा एवं प्रशंसा से ओतप्रोत हैं। विज्ञानभिक्षु कहते हैं—

'सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषितः।
योगभाष्यमिषेणातो मुमुक्षूणामिदं गतिः॥'—(यो० वा० ३)

'गङ्गाद्याः सरितो यद्वदब्धेरंशेषु संस्थिताः।
सांख्यादिदर्शनान्येवमस्यैवांशेषु कृत्स्नशः॥'

यद्यपि भाष्य की पुष्पिकाओं में कहीं पर भी व्यास का नामोल्लेख नहीं है, फिर भी तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति मिश्र अपनी टीका के आरम्भ में इस भाष्य को वेदव्यास-भाषित कहते हैं। विज्ञानभिक्षु भी इस भाष्य को 'सर्व-

---

1. Dr. R. L. Mitra's edition of the Yoga Aphorisms—'Compared with the works of leading scholiasts the Bhasya appears to be the production of a third class writer...... Fairly good though it be there is a looseness, an indecision a want of logical precision in the Bhasya......Bhojadeo treats it with withering sarcasm.' —p. ixxix.

वेदार्थसारभूत' तथा 'वेदव्यासेन भाषित' कहते हैं। भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य भी ग्रन्थारम्भ में 'तं भाष्यकृद् व्यासमुनिं नमामि' और 'रत्नाकरः प्रवादानां भाष्यं व्यासविनिर्मितम्' कहते हैं। इससे यह तो निश्चित है कि 'सांख्यप्रवचनभाष्य' के रचयिता 'व्यास' हैं। पुरातन या अधुनातन किसी भी आचार्य को इस सम्बन्ध में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। किन्तु यह 'व्यास' कौन हैं—महाभारतकार पराशरपुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास? अथवा वेदान्तसूत्रकार बादरायण व्यास? या फिर ये कोई अन्य व्यास हैं? इसका निर्णय कठिन है।

यद्यपि एक श्रद्धालु भारतीय-परम्परा ब्रह्मसूत्रकार बादरायण व्यास और महाभारतकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास दोनों को अभिन्न व्यक्ति मानती है। किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करने पर ही ऐसा माना जा सकता है। इन विरोधी ऐतिहासिक तथ्यों को संक्षेप में हम इन शब्दों में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) वेदव्यास को ब्रह्मसूत्रकार मानने पर पुरातन परम्परा में ही अन्तर्विरोध आता है। परम्परा के अनुसार याज्ञवल्क्य, वेदव्यास की शिष्य-परम्परा में तीसरी या चौथी पीढ़ी में आते हैं,[१] जबकि इन्हीं याज्ञवल्क्य के बृहदारण्यकोपनिषद् में संकलित विचारों की मीमांसा ब्रह्मसूत्रों में बादरायण व्यास के द्वारा की गयी है।

(२) प्राचीन परम्परा वेदव्यास कृष्णद्वैपायन को ब्रह्मसूत्र का कर्ता नहीं प्रतिपादित करती, क्योंकि महाभारत तथा विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों में वेदव्यास की उपलब्धियों—वेदों का वर्गीकरण, महाभारतादि का प्रणयन और शिष्यों को तत्तद् ग्रन्थों का उपदेश—के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्रों की रचना का कोई निर्देश नहीं है। कमाल यह है कि महाभारतकार को ब्रह्मसूत्र का कोई पता ही नहीं है।[२]

(३) भगवान् भाष्यकार शङ्कर स्वयं दोनों व्यासों को भिन्न समझते हैं।[३] वेदान्त सूत्र ४।४।२२ के भाष्य में वे 'बादरायण' को ब्रह्मसूत्रकार मानते हैं[४] और यह प्रतिपादित करते हैं कि 'स्मरन्ति च'[५] (२।३।४७) आदि सूत्रों

---

१. द्रष्टव्य; विष्णुपुराण, तृतीय अंश, तृतीय अध्याय।

२. द्रष्टव्य; महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३, श्लोक ८८–९०।

३. डा० बेलवेलकर, डा० दत्त और डा० विण्डिशमन की मान्यता।

४. 'ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान् बादरायण आचार्यः पठति—'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।'

—ब्र० सू० शा० भा० पृ० ८८२।

५. 'स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति।' —ब्र० सू० शा० भा० पृ० ५२९।

में बादरायण ने महाभारतकार 'वेदव्यास' को एक पुराने प्रामाणिक व्यक्ति के रूप में निर्दिष्ट किया है ।

(४) शंकराचार्य ने गीता में आये हुए 'ब्रह्मसूत्र' पद से वेदान्तसूत्रों का अर्थ नहीं ग्रहण किया ।[१] इससे पता चलता है कि वे महाभारतकाल में वेदान्त-सूत्रों की सत्ता नहीं स्वीकार करते और दोनों ग्रन्थों की रचना एक व्यक्ति के द्वारा नहीं मानते ।

(५) महाभारत में वेदव्यास की उत्पत्ति के वर्णन के समय उनके नामों और कार्यों की गणना के प्रसङ्ग में 'बादरायण' और 'ब्रह्मसूत्रों' का कोई उल्लेख न होना भी इसी तथ्य का पोषक है ।[२]

(६) पराशरपुत्र वेदव्यास के लिये 'बादरायण' नाम किसी भी तरह से उपपन्न नहीं होता । पराशरपुत्र वेदव्यास तो 'द्वैपायन' थे । इन पदों में आया हुआ 'अयन' शब्द या तो स्थानवाची हो सकता है या गोत्रापत्यवाची । स्थाना-र्थक 'अयन' शब्द के कारण तो वे द्वैपायन कहे ही गये हैं । रही बात गोत्रा-पत्यवाचक 'फक्' प्रत्यय के आदेशरूप 'अयन' शब्द की । यह सम्भावना भी उसी पुरातन परम्परा के अनुसार समाप्त हो चुकी है, क्योंकि वेदव्यास के कोई पूर्वज 'बदर' नाम वाले थे ही नहीं । उनके पूर्वज तो ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति और पराशर ही थे । उनके अन्य कोई पूर्वज कहीं उल्लिखित ही नहीं हुए ।

(७) बादरायणकृत वेदान्तसूत्रों के 'तर्कपाद' में आये हुए मतों का निराकरण देखकर तो ब्रह्मसूत्रों का वेदव्यासप्रणीतत्व सर्वथा निरस्त ही हो जाता है । बौद्धों की जगत्सत्यत्ववादिनी धारा का खण्डन, 'संघातवाद', 'प्रतीत्यसमुत्पाद', 'उत्तरोत्पाद में पूर्वनिरोध', 'क्षणिकवाद', 'असंस्कृतत्रयवाद' आदि का खण्डन और बौद्धदर्शन में ही प्रयुक्त इतरेतर-प्रत्ययत्व (२।२।१८), पूर्वनिरोध (२।२।१९) तथा 'प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोध (२।२।२१) आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बादरायण को बौद्धों के अनेक दार्शनिक सम्प्र-दायों के उद्भवकाल से परवर्ती सिद्ध करता है ।

(८) 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (पा० सू० ४।३।११०) में आये हुये पाराशर्यकृत 'भिक्षुसूत्र' को इन प्रबल बाधक तर्कों के रहते हुये

---

१. द्रष्टव्य; श्रीमद्भगवद्गीता (१३।४) पर शंकराचार्य का भाष्य ।

२. 'एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात् ।
न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः ॥'
—महा० आदि० ६३।८६ ।

'ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया ।
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ॥'
—महा० आदि० ६३।८८ ।

वेदव्यासकृत 'ब्रह्मसूत्र' मानना सर्वथा असंगत एवं दुराग्रहपूर्ण है। यह भिक्षु-सूत्र वर्तमान ब्रह्मसूत्र हरगिज नहीं हो सकता। शायद पराशरगोत्रोत्पन्न किसी (अन्य वेदव्यासभिन्न) व्यक्ति ने ये भिक्षुसूत्र लिखे हों, जो अब लुप्त हो चुके हैं। भिक्षुसूत्र नाम से उस ग्रन्थ का स्वरूप नियमोपदेशात्मक होना चाहिये, ब्रह्मसूत्रों की भाँति निराकरणात्मक दार्शनिक विवादग्रन्थ नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि 'ब्रह्मसूत्रों' को 'वेदान्तसूत्र' तो कहा भी गया है, किन्तु उनके लिये पुराणादिकों में भी 'भिक्षुसूत्र' शब्द एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुआ।[१]

इन बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मसूत्रों के रचयिता 'बादरायणव्यास', महाभारतकार 'कृष्णद्वैपायनव्यास' से सर्वथा भिन्न हैं और गौतमबुद्ध के बहुत बाद हुए हैं। जब योगभाष्य की रचना महाभारतकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास द्वारा नहीं मानी जा सकती तो स्वाभाविक सम्भावना यही होती है कि कदाचित् ब्रह्मसूत्रकार बादरायणव्यास ने ही योगभाष्य की रचना की होगी। बादरायण व्यास का समय भी ई० पू० २ श० ई० के लगभग होने के कारण यह बहुत असंगत नहीं लगता। विज्ञानभिक्षु भी इस भाष्य का कर्ता बादरायण व्यास को ही बताते हैं।[२]

किन्तु ब्रह्मसूत्रों में आये हुये 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' सूत्र के द्वारा योगमत का खण्डन देखकर यह विश्वास नहीं होता कि योगशास्त्र को भ्रान्त समझने तथा प्रतिपादित करने वाले बादरायण व्यास ने योगभाष्य लिखा होगा। साथ ही सूत्रानुरोध के बिना ही उसमें 'विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते न लोकमध्ये न्यस्ता इति।' (यो० सू० ३।२६ पर भाष्य), 'योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति।' (यो० सू० ३।४९ पर भाष्य), 'कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशो योगप्रदीपः।' (यो० सू० ३।५१ पर भाष्य), 'तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादानाद्।' (यो० सू० ४।७ पर भाष्य), 'सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः।' (यो० सू० ४।२१ पर भाष्य), 'घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः।' (यो० सू० २।३३ पर भाष्य) इत्यादि आदरातिशयपूर्ण उद्गार योग के प्रति प्रकट किये होंगे।

सच तो यह है कि जब एक दार्शनिक सिद्धान्त पर सूत्र लिखकर उसे प्रवर्तित और प्रसारित कर दिया गया, तब उससे भिन्न किसी दूसरे दार्शनिक सिद्धान्त पर सूत्र या भाष्य लिखने का कोई प्रयोजन ही नहीं हो सकता। दो

---

१. द्रष्टव्य; रामकृष्ण आचार्यकृत 'ब्रह्मसूत्रों के वैष्णवभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' पृ० १३–१७।

२. 'अथ योगानुशासनम्—तदिदं सूत्रमारभ्य समग्रं शास्त्रं सर्वलोकहिताय भगवान् बादरायणो व्याचष्टे।' —यो० वा० पृ० ५।

परस्परभिन्न दार्शनिक शास्त्रों में से एक पर सूत्र और दूसरे पर सूत्र या भाष्य लिखना सर्वथा असम्भव है। ब्रह्मसूत्रों के बिना वेदान्तदर्शन का वर्तमान रूप में प्रचलन असम्भव ही था और कहने को तो योगभाष्य 'सूत्रों' का भाष्य है, किन्तु वर्तमान योगदर्शन का सारा स्वरूप योगभाष्य से ही स्पष्ट होता है। एक ही व्यक्ति के द्वारा दो विरोधी दर्शनों की प्रतिष्ठापना सर्वथा असम्भव है। 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (ब्र० सू० २) में जिस योग का खण्डन हुआ है वह निश्चय ही सांख्यानुकूल पातञ्जलयोग ही है, क्योंकि स्वतन्त्रप्रकृतिकारणतावादी अन्य कोई पुराना योग ज्ञात ही नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि बादरायण के द्वारा योगभाष्य की रचना नहीं हुई होगी। बहुत सम्भावना यही है कि कृष्ण-द्वैपायन तथा बादरायण दोनों से भिन्न किसी अन्य व्यास ने ही योगभाष्य की रचना की है। उनको 'वेदव्यास' कहना ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करना है।

योगभाष्य का रचनाकाल—

१. वाचस्पति मिश्र सदृश ९वीं शताब्दी तक के प्राचीन विद्वानों को भी होने वाली इस भ्रान्ति से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि योगभाष्य की रचना अवश्य ही उनसे कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी और उस समय तक योगभाष्य-कार अपने ग्रन्थ की प्रौढ़ि और अपने निष्णात वैदुष्य के कारण 'वेदव्यास' कहे जाने की निर्बाध भ्रान्ति उत्पन्न कर सकते थे।

२. जे० एच० वूड्स के द्वारा माना गया है कि वार्षगण्य के मतों का नामतः उल्लेख करने के कारण व्यासभाष्य का समय ४थी शताब्दी के पश्चात् होना चाहिये, क्योंकि उनके मतानुसार वार्षगण्य तीसरी-चौथी शताब्दी के आचार्य वसुबन्धु के समकालिक थे। वूड्स महोदय की यह मान्यता भी सरा-सर भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि वार्षगण्य पाणिनि (७वीं ई० पू०) से भी पर्याप्त प्राचीन आचार्य थे। पाणिनि ने 'वार्षगण्य' पद की व्युत्पत्ति 'गर्गादिभ्यो यञ्' सूत्र के उदाहरण में दी है। यदि इस नाम का कोई प्रसिद्ध व्यक्ति पाणिनि से पूर्व न रहा होता तो इस प्रकार के असाधारण पद की व्युत्पत्ति देने की आवश्यकता ही क्या थी?

३. माघ के एक श्लोक[1] में व्यासभाष्य की पंक्तियों का निर्भ्रान्त उपयोग किये जाने से भी भाष्यकार व्यास का समय माघ से पर्याप्त पहले का सिद्ध

---

१. 'विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम्।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि॥'

—शि० व० २।५९।

'ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते।'

—यो० भा० १।२४।

होता है । व्यास एक 'वंशपरम्परा' कृत नाम है । बहुत सम्भव है कि योग-भाष्यकार भी वंशपरम्पराक्रम के कारण ही 'व्यास' नाम से प्रसिद्ध हुए हों, जिसके कारण कालक्रम में उनके मुख्य नाम का ही लोप हो गया हो ।

४. इस भाष्य में विज्ञानवाद का उल्लेख तथा खण्डन होने से ईसा की द्वितीय शताब्दी से पहले का यह ग्रन्थ नहीं प्रतीत होता ।

'नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरोऽस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पित-मित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते, ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्न-विषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति य आहुः ।' (यो० भा० ४।१४)

इस कथन में 'विज्ञान' शब्द और 'परिकल्पना' शब्द स्पष्टतः विज्ञानवादी धारा के सुविकसित स्वरूप की ओर इङ्गित करते हैं ।

५. संख्याओं के गिनने में शून्य के उपयोग का पूर्णतः व्यवस्थित रूप इस भाष्य में प्रसंगतः वर्णित हुआ है—

'यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने ।'—यो० भा० ३।१३।

गणितज्ञ विज्ञानों का यह प्रायः सर्वमान्य मत है कि शून्य के उपयोग के द्वारा संख्या के गिनने की और संख्याओं के स्थानीयमान की व्यवस्था सबसे पहले भारतवर्ष में आविष्कृत हुई और प्रथम शताब्दी ई० के आस-पास तक प्रसार-प्रचार प्राप्त कर गयी थी ।[1]

---

1. 'Sanskrit inscriptions, dating as far back as the 7th C. A. D., found in India as far East as Indo-China, prove that the place-value system of notation was in common use in greater India in the 6th C. A. D.......The evidences from Sanskrit Literature point out that the Zero symbol and the modern system of numeration were in common use in India in the 5th C. A. D., so that its invention must be placed somewhere about the beginning of the Christian Era.......At that early period, however, the system could have been known only to a very few and was not generally adopted .....The earliest work on Arithmetic available to us is the Bakshali Manuscript which belongs to the 4th C. A. D. Is uses the modern system of numeration.'—Scientific Thought in Ancient India by Dr. A. N. Singh, D. sc. (A Chapter in History of Indian Philosophy : Eastern and Western p. 432-433).

इस मान्यता के कारण जे० एच० वूड्स का व्यास के काल-निर्णय का रहा सहा आधार भी धराशायी हो जाता है। वूड्स महोदय का मत यह था कि 'व्यास के द्वारा दशमलव पद्धति का प्रयोग हुआ है, इस कारण वे छठीं शताब्दी ई० के पहले के हो ही नहीं सकते, क्योंकि इस पद्धति का प्रथम प्रयोग छठीं शताब्दी ई० के आचार्य वराहमिहिर ने ही किया है।' पूर्वोक्त मान्यता से इस मत की निराधारता स्पष्ट हो जाती है। शून्य के उपयोग के साथ १०, १०० और १००० इत्यादि संख्याओं के गिनने की पद्धति का प्रचार भारत में पहली शती में ही हो चुका था। इसका प्रथम उल्लेख ४थी शताब्दी ईसवीय के ग्रन्थ 'बक्षाली' की पाण्डुलिपि में ही मिल जाता है। इससे पहले ही इसका प्रयोग में आ जाना पर्याप्त सिद्ध है। भाष्य की भाषा के प्रसन्न-गम्भीर न होने, केवल विषय-प्रतिपादन परायण होने, परवर्ती भाष्यकारों की प्रबल तर्कपद्धति के प्रयोग से प्रभावित न होने, किसी नये आचार्य का उद्धरणादि न होने तथा सांख्यकारिका के वाक्यांशों का कहीं पर भी प्रयोग न होने से व्यासभाष्य का समय यदि दूसरी शताब्दी ई० रक्खा जाय तो हम सत्य से बहुत दूर न होंगे।

पातञ्जलयोगशास्त्र की परवर्ती रचनाएँ

तत्त्ववैशारदी टीका—व्यासभाष्य पर सबसे पहली विश्वसनीय टीका वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' उपलब्ध होती है। वाचस्पति मिश्र मिथिला के रहने वाले थे और जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं—'तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः।' वे 'नृग' नामक किसी यशस्वी राजा के आश्रित विद्वद्रत्न थे। उन्होंने एक श्लोक में अपना समय भी बताया है—

'न्यायसूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥'—न्या० सू० निबन्ध।

इसके अनुसार उनका समय ८९८ वत्सर निश्चित होता है। इस 'वत्सर' को विक्रम संवत् मानने पर उनका समय ८४१ ई० निश्चित होता है। कुछ विद्वान् 'वत्सर' शब्द से शकसंवत्सर ग्रहण करते हैं। किन्तु वैसा मानने में उनका समय ९७६ ई० अर्थात् १०वीं शताब्दी का उतरार्द्ध सिद्ध होता है और तब उनकी 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' पर उदयन के द्वारा लिखी गयी 'परिशुद्धि' का कालक्रम-विषयक औचित्य नहीं बनता। वाचस्पति मिश्र को सभी प्रसिद्ध दर्शनों पर प्रौढ़ टीकाएँ लिखने के कारण 'द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन' और 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' की उपाधि दी जाती है। सभी दर्शनों में उनकी अप्रतिहत गति सर्वविदित है। उनकी 'तत्त्ववैशारदी' व्यासभाष्य के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिये अद्वितीय व्याख्या है। भाषा तथा भाव और सहज-संगत-उत्था-

निका—सभी दृष्टियों से 'तत्त्ववैशारदी' का महत्त्व सर्वातिशायी है। उनकी भाषा भगवान् भाष्यकार शङ्कर की भाषा की छवि से मण्डित प्रतीत होती है—

'न खलु न्यग्रोधधाना अह्लायैव न्यग्रोधशाखिनं सान्द्रं शाद्वलदलजटिलं शाखाकाण्डनिपीतमार्तण्डचण्डातपमण्डलमारभन्ते, किन्तु क्षितिसलिलतेजः-सम्पर्कात् परम्परोपजायमानाङ्कुरपत्रकाण्डतालादिक्रमेण, एवमिहापि युक्त्या-गमसिद्धः क्रमश्चास्थेय इति।'—त० वै० पृ० २११।

राजमार्तण्डवृत्ति—वाचस्पति मिश्र के अनन्तर योगसूत्रों पर 'राज-मार्तण्ड' नामक वृत्ति लिखने वाले भोजराज (११वीं श० ई०) का नाम योगशास्त्र के इतिहास में बड़ा गौरवपूर्ण है। भोज ने बड़ी स्पष्टता और गहरी सूझ-बूझ से भरी हुई वृत्ति लिखी है। इसमें न तो अनावश्यक विस्तार है और न जटिल विषयों को छोड़ जाने की कु-प्रवृत्ति। अनेक स्थलों पर वाचस्पति-मिश्र और व्यास के भी मतों से इनका वैषम्य है। विद्वानों के बीच इस 'वृत्ति' का बड़ा सम्मान है।

योगवार्तिक—योगभाष्य पर वार्तिक लिखने का महनीय यश, १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थित आचार्य विज्ञानभिक्षु को प्राप्त हुआ। योगवार्तिक एक विशाल तथा विस्तृत व्याख्या है। योग के मौलिक स्वरूप एवं उसकी विविध प्रक्रियाओं के निरूपण में विज्ञानभिक्षु का वाचस्पतिमिश्र से पर्याप्त मत-भेद है। विज्ञानभिक्षु सांख्ययोग के प्रति अधिक अन्तरङ्गता से झुके हुये व्याख्याता सिद्ध होते हैं, जबकि वाचस्पति मिश्र का स्वारस्य—सर्वथा निष्पक्ष एवं सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहे जाने पर भी—वेदान्त की ओर प्रतीत होता है। वैसे दोनों आचार्य 'सांख्य-योग' के ज्योतिःस्तम्भ सिद्ध हुये हैं। योगसूत्रभाष्य के रहस्यों को पूरे परिप्रेक्ष्य में समझने और योग के सर्वाभिवन्द्य माहात्म्य का याथातथ्य आकलन करने के लिये 'योगवार्तिक' का अध्ययन अपरिहार्य है।[1]

अन्य कृतियाँ—योगसूत्रों पर विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश (१७वीं शताब्दी) की वृत्ति तथा प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट (१७वीं शताब्दी) की 'छाया' नाम की व्याख्या भी संक्षिप्त, सारग्राहिणी एवं अर्थबोध में सहायक कृतियाँ हैं। रामानन्द यति (१८वीं शताब्दी) की 'मणिप्रभा' और नारायण-तीर्थ (१८वीं शताब्दी) की 'सूत्रार्थबोधिनी' तथा 'योगदर्शन' नाम की व्या-ख्याएँ भी प्रसिद्ध एवं जिज्ञासुओं के लिए बड़ी उपयोगी हैं। अर्वाचीन संस्कृत-टीकाओं में हरिहरानन्द आरण्य की 'भास्वती' टीका भी विस्तृत; विश्वसनीय एवं अत्यन्त उपादेय है। आचार्य शङ्कर के नाम से लिखी गयी किसी अज्ञात-

---

१. विज्ञानभिक्षु के सम्बन्ध में विस्तृत एवं अधिक जानकारी के लिये लेखक का अन्य ग्रन्थ 'आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' द्रष्टव्य है।

कालिक परवर्ती विद्वान् की 'विवरण' नाम की व्याख्या भी योगसूत्रों एवं भाष्य का अच्छा विवेचन प्रस्तुत करती है।[१]

योग के प्रमुख सिद्धान्त

'योग' शब्द √युज् धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार √युज् धातु ३ गणों में पाया जाता है—

(१) √'युज्—समाधौ' धातु दिवादिगणीय (आत्मनेपदी)।

(२) √'युजिर्—योगे' धातु रुधादिगणीय (उभयपदी)।

(३) √'युज्—संयमने' धातु चुरादिगणीय (परस्मैपदी)।

इन तीनों धातुओं से अलग-अलग बने हुए 'योग' शब्दों का अर्थ क्रमशः १. समाधि, २. जोड़ और ३. संयमन होता है। संस्कृत-वाङ्मय में इन तीनों अर्थों वाले 'योग' शब्दों का प्रयोग होता रहा है। सांख्ययोगशास्त्र में 'योग' शब्द का अभीष्ट अर्थ समाधि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध ही स्वीकार किया गया है—

(क) 'योगः समाधिः स च सार्वभौमः चित्तस्य धर्मः।'—यो० सू० १।१ पर भाष्य।

(ख) 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'—यो० सू० १।२।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सांख्ययोगदर्शन में प्रयुक्त 'योग' शब्द (१) √'युज्—समाधौ' धातु से ही 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना हुआ है। √'युजिर्—योगे' धातु से बने हुए योग शब्द का अर्थ योगफल या जोड़ होता है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में जिस 'योग' शब्द का व्यवहार किया गया है और जिस योग की साधना से उनके 'योगज प्रत्यक्ष' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की सिद्धि होती है, वह योग आत्मा और मन के अत्यन्ताधिक संयोग का ही अभिप्राय रखता है। अतः उसे √'युजिर्—योगे' धातु से ही निष्पन्न मानना चाहिये। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि न्यायवैशेषिक योगी दो प्रकार के माने गये हैं—१. युक्त और २. युञ्जान। 'युञ्जान' पद समाध्यर्थक √युज् धातु से बन ही नहीं सकता। उस धातु से तो प्रकृत अर्थ में 'युज्यमान' पद ही बनेगा। 'युञ्जान' पद तो रुधादिगणीय धातु से ही बन सकता है।

जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न मानने वाले भक्त वेदान्तियों और अन्य उपासक योगियों की दृष्टि से भी योग में जीव और परमात्मा का मिलन

---

१. योगसूत्रों पर जे० एच० वूडस्, डा० राजेन्द्रलाल मिश्र, और डा० गङ्गानाथ झा की अंग्रेजी व्याख्याएँ और श्रीब्रह्मलीन मुनि की हिन्दी टीका भी उपयोगी हैं।

कराया जाता है। इन लोगों के शास्त्र की साधना के लिये प्रयुक्त 'योग' शब्द √'युजिर् योगे' धातु से ही निष्पन्न मानना चाहिये। जैसा कि योगियाज्ञवल्क्य में योग का लक्षण दिया गया है—'संयोगो योग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनोः।'

'चित्तवृत्तिनिरोध' रूपी समाधि के अर्थ में ही पातञ्जल 'योग' का ग्रहण करना चाहिये और उस शब्द को दिवादिगणीय √'युज् समाधौ' धातु में ही घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ मानना चाहिये। यह 'योग' शब्द अन्य अर्थों में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि पातञ्जल 'योग' संयोगरूप न होकर वियोगफलक ही है अर्थात् कैवल्य देने वाला होता है। वह दुःख की निवृत्ति कराने वाला है, जैसा कि गीता में कहा गया है—'दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'—६।२३। पतञ्जलि के द्वारा अनुशासित योग के इसी स्वरूप का सादर निर्वचन करते हुए भोजराज ने कहा है—

'पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया॥'

—रा० मा० वृ० पृ० १।

योग का स्वरूप

यह तो निश्चित हो गया कि पातञ्जलयोग व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'समाधि' (समाधान) या 'चित्तवृत्तिनिरोध' हुआ, किन्तु चित्तवृत्ति का निरोध तो कुछ न कुछ सब को और सदा होता रहता है। तो क्या हर एक प्राणी प्रतिक्षण किसी न किसी अंश में योग सिद्ध किये रहता है? नहीं, ऐसी बात नहीं है। योग का अर्थ समाधि या चित्तवृत्ति का निरोध अवश्य है, किन्तु प्रत्येक समाधि या प्रत्येक प्रकार के चित्तवृत्तिनिरोध को योग नहीं कहा जा सकता। फिर 'योग' किस समाधि को कहेंगे? इस बात का प्रकाशन सूत्रकार पतञ्जलि ने बड़ी चतुराई से किया है। उनके इन सूत्रों को क्रम से पढ़ने पर प्रश्न का उत्तर स्वतः मिल जाता है—

१. अथ योगानुशासनम्। यो० सू० १।१।
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो० सू० १।२।
३. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। यो० सू० १।३।

तीसरे सूत्र में आया हुआ 'तदा' शब्द समस्या का समाधान स्वयं कर देता है। चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणक योग के सिद्ध होने पर द्रष्टा की अपने वास्तविक (चिन्मात्र) रूप में स्थिति या प्रतिष्ठा हो जाती है अर्थात् योगी को मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्षप्रद चित्तवृत्तिनिरोध को ही 'योग' कहते हैं। जिस-जिस चित्तवृत्तिनिरोध या समाधि से कैवल्य न प्राप्त हो सके अर्थात् जीवात्मा की अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठा न हो पाये, वह-वह चित्तवृत्तिनिरोध समाधिमात्र है,

योग नहीं। इस तथ्य को हम इस रूप में प्रकट कर सकते हैं कि यद्यपि प्रत्येक योग समाधि है पर प्रत्येक समाधि योग नहीं है। कुछ विशिष्ट समाधियाँ ही योग कही जा सकती हैं। ऐसी समाधियाँ (चित्तवृत्तिनिरोध), जो योग कहे जाने की योग्यता रखती हैं, सूत्रकार एवं भाष्यकार के अनुसार केवल दो होती हैं—

१. सम्प्रज्ञातसमाधि।

२. असम्प्रज्ञातसमाधि।

इन समाधियों को 'योग' संज्ञा से विभूषित किया जाता है। इनकी स्थिति के सम्बन्ध में यत्किञ्चित् जानकारी प्राप्त करने के लिये कुछ बातें और जाननी होंगी। पहली ज्ञातव्य बात तो यह है कि ये समाधियाँ चित्त की अनेक वृत्तियों का निरोध करने वाली होती हैं। तात्पर्य यह है कि योग मुख्यतः चित्त का एक विशिष्ट प्रकार का प्रशिक्षण या निग्रह है। शरीर तथा इन्द्रियों का निग्रह उसके अङ्गरूप से भले ही आवश्यक हो, किन्तु वह योग नहीं है। योग की साधना का वास्तविक उपादान चित्त (अन्तःकरण) ही है। सांख्ययोगशास्त्र में चित्त भी सभी अचेतन पदार्थों की भाँति त्रिगुणात्मक माना गया है। इसलिये चित्त की वृत्तियाँ भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार की होती हैं। चित्त की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये ५ भूमियाँ होती हैं। चित्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियों में हुआ वृत्तिनिरोध स्वल्पकालिक होता है और स्वतः उपस्थित तथा खण्डित होता रहता है। इससे मोक्ष प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं होती। इसलिये इन भूमियों की समाधि, साधना की दृष्टि से सर्वथा निष्फल एवं अनुपयोगी होती है।

सम्प्रज्ञातयोग—

चित्त की एकाग्रभूमि का वृत्तिनिरोध (समाधि) राजस और तामस वृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है। इसमें केवल सात्त्विक वृत्ति पूर्णरूप से उदित रहती है। फलतः साधक को समग्र वस्तुओं का वास्तविक, निर्भ्रान्त एवं युगपद् ज्ञान होता है। इसीलिये इस समाधि को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' कहते हैं। 'सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः समाधिः।' इसी समाधि के सिद्ध होने से प्रकृति और पुरुष—इन दो अन्तिम तत्त्वों का विविक्तज्ञान भी हो जाता है। यही 'विवेकख्याति' है। तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान होने के कारण इसे तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान भी कहते हैं। यह विवेकख्याति निश्चय ही मोक्षप्रद होती है। इसलिये विवेकख्याति का लाभ कराने वाली इस समाधि को मोक्षप्रदता के कारण 'सम्प्रज्ञातयोग' कहा जाता है। यह प्रथम प्रकार का योग है। सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि चार सोपानों के क्रम से होती है—१. वितर्कानुगत, २. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत और ४. अस्मितानुगत। इस चौथे क्रमिक सोपान में ही पूर्णता आने पर

'विवेकख्याति' का उदय होता है। जब क्लेश-कर्मसंस्कारों के क्षीण होने के फलस्वरूप विवेकख्याति सुदृढ़ हो जाती है, किसी प्रकार के भी मिथ्याज्ञान से बाधित नहीं होती और निरन्तर सर्वथा विवेकख्याति होती रहती है, तब उसे 'धर्ममेघसमाधि' की भी संज्ञा दी जाती है। उस स्थिति में योगी जीवित रहते हुए मुक्त रहता है। यही 'जीवन्मुक्ति' है।[1] सारे क्लेश तथा संचित एवं क्रियमाण कर्मसंस्कार और वासनासंस्कार दग्धबीज हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध-कर्मसंस्कार ही अवशिष्ट रह जाते हैं और उन्हीं के फलभोग-पर्यन्त योगी को शरीर धारण किये रहना पड़ता है। उनके पूरा होते ही शरीरपात हो जाता है और 'विदेहमुक्ति' का लाभ हो जाता है। द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान हो जाता है।

असम्प्रज्ञातयोग—

अभी तक 'सम्प्रज्ञातयोग' की साधना और उसकी आनुषङ्गिक तथा पार्यन्तिक सिद्धि (कैवल्य) का वर्णन हुआ। एक और योग है, जो 'सम्प्रज्ञात-योग' से भी अधिक उत्कृष्ट है—अब उसका निरूपण किया जा रहा है। 'असम्प्रज्ञातयोग' किसे कहते हैं? 'उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि' को 'असम्प्रज्ञातयोग' कहते हैं। असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की होती है—

१. भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि।

२. उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि।

असम्प्रज्ञातसमाधि का लक्षण क्या है? 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार-शेषोऽन्यः।'—यो० सू० १।१८ के उत्तरार्द्ध के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि का लक्षण बताया गया है। ऐसी समाधि जिसमें चित्त की 'सात्त्विकवृत्ति' का भी पूर्ण निरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि राजस, तामस और सात्त्विक तीनों प्रकार की वृत्तियाँ इस समाधि में पूर्णतः निरुद्ध हो जाती हैं। केवल निरोधसंस्कार ही चित्त में अवशिष्ट रहते हैं। ये संस्कार चित्त के प्रविलय में बाधक नहीं होते और न तो व्युत्थान को ही प्रश्रय देते हैं। ये कैवल्यभागीय होते हैं। इन निरोधात्मक संस्कारों को ही अवशिष्ट रखने वाले पूर्ण वृत्ति-निरोध को 'असम्प्रज्ञातसमाधि' कहते हैं। इस समाधि में किसी भी प्रकार का बुद्धिकृत ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, न तो इस ज्ञान के संस्कार ही अवशिष्ट बचते हैं। इसीलिये 'असम्प्रज्ञात' नाम की अर्थवत्ता भी है।

विदेहों और प्रकृतिलीनों को तत्तद्रूप में पहुँचते ही अर्थात् वैसा देवत्व प्राप्त होते ही सकलज्ञानहीन संस्कारमात्रावशिष्ट स्थिति स्वतः प्राप्त हो जाती है। वे जब तक पूर्वकर्मानुसार उन-उन योनियों में बने रहते हैं, तब तक निरन्तर उनके चित्त की वैसी ही संस्कारशेषावस्था बनी रहती है। 'असम्प्रज्ञातसमाधि'

---

१. 'जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति।'—यो० भा० ४।३० सूत्र पर।

का लक्षण घटित होने के कारण उनकी यह स्थिति 'असम्प्रज्ञातसमाधि' कही जाती है। उनकी इस समाध्यवस्था को 'भवप्रत्यय' इसलिये कहते हैं कि 'भवः जन्म तत्तद्देवत्वप्राप्तिः, एव प्रत्ययः कारणं यस्य तादृशः समाधिः भवप्रत्ययः असम्प्रज्ञातसमाधिः।'

किन्तु यहीं पर समझ लेना चाहिये कि यह समाधि विवेकख्यातिपूर्विका समाधि नहीं है। इसलिये इस प्रकार की समाधि की पूर्वावस्था में पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार न होने के कारण ज्ञान का अभाव ही था। अतः 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार 'व्यक्ताव्यक्तविज्ञान' के अभाव में इस समाधि से कैवल्य की सिद्धि असम्भव होती है। योगभाष्यकार ने कहा भी है—'तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्तते संस्कारवशाच्चित्तमिति।'—यो० सू० १।१९ का भाष्य। कैवल्यप्रदता से रहित होने के कारण यह असम्प्रज्ञातसमाधि 'योग' नहीं कही जा सकती।[1]

मोक्षप्रद असम्प्रज्ञातसमाधि दूसरी वाली है, जिसे 'उपाय-प्रत्यय असम्प्रज्ञात-समाधि' कहते हैं। इसे 'असम्प्रज्ञातयोग' कहा जाता है। यह योग किनको प्राप्त होता है? किन उपायों से प्राप्त होता है? कब प्राप्त होता है? इसकी उपयोगिता क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में क्रमशः यह है कि यह योग सम्प्रज्ञात-योग को पूर्णतया सिद्ध करने के फलस्वरूप निर्विप्लव विवेकख्याति का लाभ कर चुकने वाले और उसके आगे भी योगसाधना में रत रहने वाले योगियों को प्राप्त होता है। शङ्का होती है कि कैवल्यप्रद निर्विप्लव विवेकख्याति की प्राप्ति के बाद कौन-सी साधना शेष बचती है, जिसको असम्प्रज्ञातयोग के साधक लोग करते हैं? इसका समाधान यह है कि विवेकख्याति के समय साधक, पुरुष और बुद्धि दोनों की वास्तविकता जान लेता है। फलतः पुरुष के स्वरूप की अलौकिक शुद्धि, निश्चलता एवं चिन्मात्रता का दर्शन कर चुकने

---

१. 'पातञ्जलयोगशास्त्र में असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की बतलायी गयी है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्तवृत्ति का सम्यग् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है।···इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षी के रूप में अवस्थित होता है अथवा गम्भीर अज्ञान से आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानशून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्स्वरूप की उपलब्धि से भी वञ्चित रहता है। शास्त्रानुसार यही 'प्रकृतिलय' अथवा 'जडसमाधि' की अवस्था है। यह योगियों के लिये कदापि काम्य नहीं है। वृत्तिहीन होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत ही है, तथापि ज्ञान का उन्मेष न होने के कारण यह योगावस्था नहीं है। पतञ्जलि इसी को 'भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि' कहते हैं।'—महा० पं० गोपीनाथ कविराज का लेख—'योग का विषय-परिचय'—योगाङ्क पृ० ५५।

वाला साधक विवेकख्यातिकालिक अत्यन्त सात्त्विक बुद्धि को भी परिणाम-शीलता, चञ्चलता और उधार ली गयी चेतनता—इत्यादि त्रुटियों से युक्त जानकर उसके प्रति विरक्त होता है। यह वैराग्य ऐहिक और आमुष्मिक विषयों के प्रति होने वाले वैराग्य से बहुत ही उत्कृष्ट होता है। क्योंकि यह शुद्धतम बुद्धि के प्रति होता है, इसीलिये इसको 'परवैराग्य' कहते हैं। इस परवैराग्य के अभ्यास से असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होती है। इस समाधि में न कोई ध्येय आलम्बन होता है और न किसी प्रकार का बौद्धिक ज्ञान।[१]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि 'सम्प्रज्ञातयोग' सिद्ध होने पर ही 'असम्प्रज्ञातयोग' सिद्ध हो सकता है। असम्प्रज्ञात की सिद्धि विवेकख्याति के प्रति होने वाले परवैराग्य के अभ्यास से ही होती है।[२] इसीलिये पतञ्जलि असम्प्रज्ञात की सिद्धि तक पहुँचने के लिये उपयोगी सारी अवस्थाओं को एक ही सूत्र में इस प्रकार सङ्कलित करते हैं—'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' (यो० सू० १।२०)। श्रद्धा के अन्तर्गत वैराग्य और योग के पाँचों अङ्गों का अभ्यास संगृहीत हो जाता है। वीर्य और स्मृति के अन्तर्गत क्रमशः धारणा और ध्यान का ग्रहण हो जाता है। समाधि के अन्तर्गत आठवाँ अङ्ग 'समाधि' और 'सम्प्रज्ञातसमाधि' आ जाते हैं। प्रज्ञा, विवेकख्याति और विवेकख्याति के उत्तरवर्ती परवैराग्य—दोनों का बोध कराती है, क्योंकि परवैराग्य तो ज्ञान का आनन्त्य या स्वाभाविक प्रतिफल अर्थात् प्रसादमात्र बताया गया है—

'तद् द्वयं वैराग्यं, तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्।'—यो० सू० १।१६ का भाष्य।

अब इस योग के सम्बन्ध में एक ही शङ्का शेष रह गयी। वह यह कि जब 'निर्विप्लवा विवेकख्याति' को ही मोक्षप्रद माना गया है तो वह तो सम्प्रज्ञात-योग से ही सिद्ध हो जाती है। फिर 'असम्प्रज्ञातयोग' की क्या आवश्यकता और क्या उपयोगिता है? इस शङ्का का समाधान यह है कि विवेकख्याति के सुदृढ़ अर्थात् निर्विप्लव हो जाने पर यद्यपि जीवन्मुक्ति का लाभ हो जाता है। फिर भी प्रारब्ध कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है। असम्प्रज्ञात योग की विशेषता यह है कि प्रारब्धकर्मों का भी क्षय असम्प्रज्ञात के द्वारा हो जाता है, क्योंकि असम्प्रज्ञात योग अखिल (कर्म) संस्कारों का दाहक होता है। यही

---

१. 'चितिशक्तिरपरिणामिनी शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि, तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति, स निर्बीजः समाधिः, न तत्र किञ्चित् सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः।'—यो० सू० १।२ का भाष्य।

२. 'तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिः।'—यो० सू० १।१८ का भाष्य।

वैशिष्टय असम्प्रज्ञातयोग का सर्वातिशायी बल है। कदाचिद् इसीलिये 'मोक्ष-धर्म' में कहा गया है—'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।'[1] विज्ञानभिक्षु का इस सम्बन्ध में कथन है कि—

'तथा च कर्मक्षयद्वारा ज्ञानस्येवासम्प्रज्ञातयोगस्यापि मोक्षहेतुत्वं सिद्धं तत्र चासम्प्रज्ञातयोगेनाखिलसंस्कारदाहकेन प्रारब्धकर्माप्यतिक्रम्यत इति ज्ञानाद्विशेषः। ज्ञानस्य हि प्रारब्धनाशकत्वे बाधिकाऽस्ति 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादि श्रुतिर्जीवन्मुक्तिश्रुतिस्मृतयश्च। योगस्य प्रारब्धनाशकत्वे बोधकं नास्ति प्रत्युत 'दग्धकर्मचयोऽचिराद्' इत्येव स्मर्यते। अतः प्रारब्धादिकर्म कर्मविपाकोक्तप्रायश्चित्तादिवदेवातिक्रम्य झटितिमोचनमेव योगस्य (असम्प्रज्ञातस्य) फलम्।'—यो० वा० पृ० १७।

असम्प्रज्ञात योग में वृत्तिज्ञान तो बिल्कुल रहता ही नहीं, इसीलिये उसका नाम 'असम्प्रज्ञात' पड़ा है। किन्तु इसमें पुरुषतत्त्व की साक्षात् उपलब्धि होती है। बुद्धि का माध्यमत्व समाप्त हो जाता है। आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है। बौद्धिक ज्ञान की पराकाष्ठा तो सम्प्रज्ञात योग के अन्तर्गत विवेकख्याति में ही हो जाती है। उस सर्वोत्कृष्ट बौद्धिक ज्ञान की भी अशुद्धता और परोक्षता का निश्चय होने पर परवैराग्य के द्वारा अतिक्रमण कर दिया जाता है। इसमें ज्ञान की साधनभूत दर्शन-शक्ति अर्थात् बुद्धि का आश्रय त्याग कर साक्षात् अपरोक्ष चिद्घन 'ज्ञ' रूप पुरुषतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व में साधक प्रतिष्ठित होता है।[2] यही 'असम्प्रज्ञातयोग' है। इसी के सुदृढ़ और व्युत्थानरहित हो जाने पर सारे संस्कार जल जाते हैं; निरोधसंस्कारों के साथ चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुषमात्र अवशिष्ट रहता है। यही उसका कैवल्य है। भाष्यकार इस विषय में लिखते हैं—

'यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्त्तते; तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठोऽतः शुद्धमुक्त इत्युच्यते।'—यो० सू० १।५१ का भाष्य।

योगसाधना के उपाय—

योगसाधना के प्रधान उपाय 'वैराग्य' और 'अभ्यास' हैं। वैराग्य दो प्रकार का बताया गया है—अपरवैराग्य और परवैराग्य। ऐहिक और आमुष्मिक सभी विषयों के प्रति वितृष्ण एवं निःस्पृह होना 'अपरवैराग्य' है और बौद्धिक ज्ञान के प्रति विरक्त होना 'परवैराग्य'। अपरवैराग्य का उपयोग

---

१. बलं प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण स्वेच्छया शीघ्रमोक्षहेतुः।'
—यो० वा० पृ० ११।

२. 'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।'
—यो० सू० १।३ का भाष्य।

सम्प्रज्ञात की सिद्धि के लिये और परवैराग्य का उपयोग असम्प्रज्ञात की सिद्धि के लिये होता है। चित्त को स्थिर और अचञ्चल करने के लिये योगसाधनों का अनुष्ठानरूप प्रयत्न करना 'अभ्यास' है। भाष्यकार व्यास कहते हैं— 'तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः।'—यो० सू० १।१३।

योगसाधना के अङ्ग—

योगसाधना के कौन-कौन से अङ्ग हैं? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।'
—यो० सू० २।२९।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि— ये आठ योग के अङ्ग हैं। वितर्कजन्य बाधाओं से रहित इनका निरन्तर अनुष्ठान करने से क्रमशः भूमिकाओं का जय करते-करते 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' योगों की सिद्धि तथा 'कैवल्य' की प्राप्ति होती है।

योगदर्शन के तत्त्वमीमांसा-सिद्धान्त

पातञ्जलयोग का दार्शनिक आधार कापिल सांख्य ही है। इसीलिये यह योग 'सांख्ययोग' कहा गया है। वर्तमानकाल में प्रचलित सांख्यदर्शन से जो मतभेद पतञ्जलि के मतवाद में दृष्टिगोचर होते हैं, वे ईश्वरकृष्ण और पतंजलि के द्वारा किये गये कापिलसांख्ययोग के व्याख्यान (Interpretations) के अन्तर हैं, क्योंकि दोनों का मूलाधार कपिलप्रवर्तित 'सांख्ययोग' शास्त्र ही है। कपिल के दर्शन में तत्त्वों की जानकारी वाला अंश 'सांख्य' है और इस जानकारी की साक्षाद् उपलब्धि का उपायभूत (सम्प्रज्ञात) तथा उसका उपेयभूत (असम्प्रज्ञात) 'योग' है। इसीलिये योगशास्त्र का तत्त्वमीमांसात्मक ज्ञान सांख्यशास्त्र-सम्मत ही है। इसी कारण से योगभाष्य को 'सांख्यप्रवचन-भाष्य' कहा गया है। आगे चलकर पतंजलि और ईश्वरकृष्ण की सांख्य-विचारधाराएँ क्रमशः 'योगशास्त्र' और 'सांख्यशास्त्र' नाम से विख्यात हुईं। पातंजल सांख्यदर्शन ही आजकल 'योगदर्शन' नाम से प्रथित है। इसके अनुसार भी समस्त जगत् 'पुरुष'-संज्ञक चेतन और 'प्रकृति'-संज्ञक अचेतन तत्त्वों के रूप में विभक्त है। पुरुष-तत्त्व चेतन, त्रिगुणातीत, निर्गुण, निर्विकार, असङ्ग, निर्लेप एवं कूटस्थनित्य है, जबकि प्रकृति जड़, त्रिगुणात्मक, विकारों के रूप में परिणत होने वाली तथा परिणामिनित्य है। यह प्रकृति समस्त विकारों की 'मूलप्रकृति' है और मूलावस्था में सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनों गुण-संज्ञक द्रव्यों की साम्यावस्था वाली तथा अव्यक्त रहती है। प्रकृति एक और पुरुष अनेक हैं।

परिणामसिद्धान्त—अनादि अविद्या के कारण जब पुरुष का प्रकृति से संयोग होता है, तब संयोग के कारण अभिव्यक्त हुई उसकी बुद्धि क्रमशः अहङ्कार, एकादश इन्द्रियों, पाँच तन्मात्राओं एवं पाँचों महाभूतों और फिर संसार के विभिन्न पदार्थों के रूप में परिणत होती है। पञ्चमहाभूतों पर्यन्त प्रकृति का परिणाम 'तत्त्वान्तरपरिणाम' कहा जाता है।[1] पञ्चमहाभूतों की स्थिति में आने के बाद प्रकृति का जो और परिणाम होता रहता है, उस परिणाम से नये तत्त्व अभिव्यक्त नहीं होते, प्रत्युत स्थित धर्मी के धर्मों में ही परिवर्तन आता है। यह धर्मी का 'धर्मपरिणाम' कहा जाता है, जैसे—मिट्टी के चूरे का मृत्पिण्डरूप में परिणत होना, उस मृत्पिण्ड का कपालों के रूप में परिणत होना और उन कपालों का घट आदि के रूप में अभिव्यक्त होना। इन धर्मों का 'लक्षणपरिणाम' होता है। किसी धर्मी का कोई धर्म पहले अनागतलक्षण (भविष्यत्काल) में रहता है। बाद में 'लक्षणपरिणाम' के द्वारा उस लक्षण (काल) को त्याग कर वह धर्म 'वर्तमानलक्षण' (वर्तमानकाल) में आता है और उसके पश्चात् 'लक्षण-परिणाम' के ही फलस्वरूप वह धर्म 'अतीतलक्षण' (भूतकाल) को प्राप्त करता है। यह धर्मों का 'लक्षणपरिणाम' हुआ। यहाँ पर 'लक्षण' शब्द का अर्थ है 'काल' (Time), 'लक्ष्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति लक्षणं कालः।' किसी एक ही लक्षण में स्थित किसी धर्मी का कोई धर्म निरन्तर परिणत तो होता ही रहता है, जैसे—वर्तमानावस्था का घट न तो भविष्यत्कालिक है और न भूतकालिक। मान लीजिये कि उसकी वर्तमानकालिकता दो वर्ष तक रहती है, अर्थात् दो वर्ष तक घट नहीं फूटता। इस बीच में बिना परिणाम किये यह त्रिगुणात्मक घट रह नहीं सकता, क्योंकि पुरुष के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ नित्यपरिणामी गुणों से बना होने के कारण निरन्तर परिणमनशील ही रहेगा। 'एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते, चलञ्च गुणवृत्तम्'।[2] यह परिणाम ही उस पदार्थ को बिल्कुल नया, नया, कम नया, नाममात्र का नया, कुछ पुराना, काफी पुराना, बहुत पुराना, बिल्कुल पुराना, जीर्ण, जर्जर इत्यादि रूपों में परिवर्तित करता कहता है। इस एक ही लक्षण के अन्तर्गत होने वाले परिणामों को 'अवस्थापरिणाम' कहा जाता है।[3] बुद्ध्यहङ्कारादि से संयुक्त एक पुरुषतत्त्व एक 'जीव' कहा जाता है। योगमतानुसार समस्त जगत् की तत्त्व-तालिका यह है—

१. 'न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति, इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायन्ते।'
—यो० सू० २।१९ पर भाष्य।

२. द्रष्टव्य; यो० सू० ३।१३ का व्यासभाष्य।

३. 'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।'
—यो० सू० ३।१३।
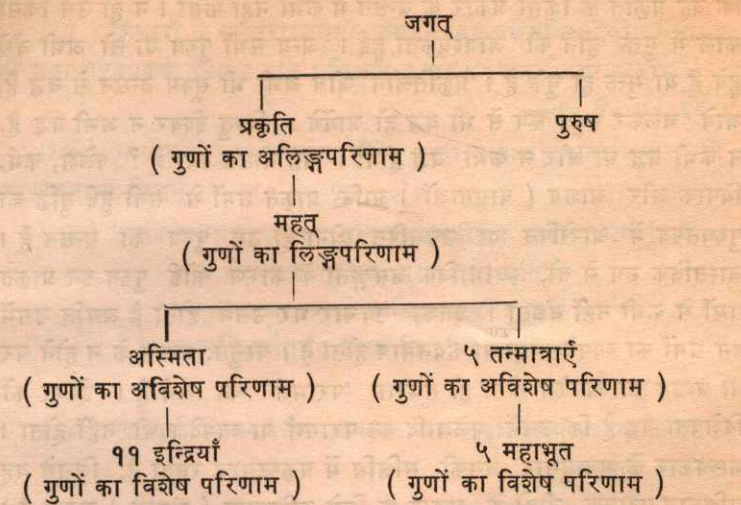
अव्यक्त प्रकृति गुणत्रय का अलिङ्गपरिणाम है और महत्तत्व लिङ्गपरिणाम। गुणों के ६ अविशेषपरिणाम हैं[1]—अस्मिता और पाँचों तन्मात्राएँ। ११ इन्द्रियाँ और ५ महाभूत गुणों के, ये १६ विशेषपरिणाम हैं। पुरुषतत्त्व अपरिणामी, निर्गुण एवं चिन्मात्र है।

ईश्वर

ऊपर दी गयी तत्त्वतालिका को देखने से पता चलता है कि इस योगशास्त्र अर्थात् पातञ्जलसांख्य में 'ईश्वर' नामक तत्त्व भी स्वीकृत है, जबकि ईश्वरकृष्ण के सांख्य में 'ईश्वर' नामक तत्त्व के लिये कोई अवकाश नहीं है। इसलिये विद्वानों ने योग को 'सेश्वरसांख्य' भी कहा है। पतञ्जलि ने 'ईश्वर' का वर्णन इन सूत्रों में किया है—

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।—१।२४।
२. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।—१।२५।
३. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।—१।२६।
४. तस्य वाचकः प्रणवः।—१।२७।
५. तज्जपस्तदर्थभावनम्।—१।२८।
६. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।—१।२९।

'ईश्वर' एक ऐसा पुरुष है, जो अपनी चिन्मात्रता, निष्कलता और निरञ्जनता में अन्य पुरुषों से भिन्न नहीं है। उसका भेद अन्य पुरुषों से यही है

---

१. 'एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः।'
—यो० भा० २।१९ सू० पर।

कि वह प्रकृति के किसी प्रकार के बन्धन में कभी नहीं फँसा। न ही उसे किसी काल में मुक्त होने की आवश्यकता हुई। अन्य सभी पुरुष या तो अभी बँधे हुये हैं या मुक्त हो चुके हैं। 'प्रकृतिलीन' जीव अभी भी सूक्ष्म बन्धन से बद्ध हैं, आगे चलकर स्थूल रूप से भी बद्ध हो जायेंगे। किन्तु ईश्वर न अभी बद्ध है, न कभी बद्ध था और न कभी बद्ध होगा। यह बन्धन क्या है? क्लेश, कर्म, विपाक और आशय (वासनाओं) आदि प्राकृत धर्मों से सनी हुई बुद्धि का पुरुषतत्त्व में आरोपित या उपचरित होना ही उस पुरुष का बन्धन है। वास्तविक रूप से तो, स्वाभाविक असङ्गता के कारण कोई पुरुष इन प्राकृत धर्मों से कभी नहीं बँधता। इनका उपचार भर उसमें होता है अर्थात् उसमें इन धर्मों का व्यपदेशमात्र या कथनमात्र होता है। वस्तुतः बन्धन के न होने पर भी बन्धन का व्यपदेश होना ही सूत्रोक्त 'परामर्श' का अर्थ है। ईश्वर की विशेषता यह है कि उसमें क्लेशादि का परामर्श या व्यपदेश भी नहीं होता। भाष्यकार के मतानुसार उसकी सन्निधि में प्रकृष्टसत्त्व रहता है, जिससे वह प्रणिधान-परायण जीवों के उद्धार के लिये अभिध्यान (संकल्प) करता है। 'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।'

—यो० सू० १।२३ का भाष्य।

उसका ऐश्वर्य सर्वातिशायी है। उसी में सर्वज्ञता की पराकाष्ठा होती है। वह कालातीत है। उसका वाचक शब्द 'प्रणव' अर्थात् 'ओङ्कार है। योग-साधना में ईश्वर का महान् उपयोग यह है कि उसकी भावना करने और उसके नाम का जप करने से योगमार्ग के सारे विघ्न दूर हो जाते हैं तथा साधक को अपने स्वरूप का दर्शन होता है। अन्ततः साधक को कैवल्य की सिद्धि होती है। योगसूत्रों में न तो ईश्वर को सृष्टि से सम्बन्धित स्वीकृत किया गया है और न प्रलय से। वह साकार भी नहीं है। सच देखा जाय तो उसकी सत्ता योग की तत्त्व-मीमांसा में नाममात्र की है, क्योंकि तत्त्वतः तो वह पुरुष ही है, तद्भिन्न नहीं। इसीलिये योग को सांख्य से भिन्न, २६ तत्त्व मानने वाला शास्त्र कहना भी ठीक नहीं है। यदि एक पुरुष को गिनने से २६ तत्त्व हो सकते हैं तो पुरुषबहुत्ववादी सांख्ययोग में असंख्य तत्त्व हो जायेंगे।

किन्तु व्यासभाष्य में ईश्वर को अधिक व्यावहारिक धरातल पर उतारने का प्रयास किया गया है। ईश्वर के प्रकृष्टसत्त्व में स्थित वेदादिशास्त्र और शाश्वतिक उत्कर्ष का स्वीकार स्पष्टतः किया गया है—'एतयोः शास्त्रोत्कर्षयो-रीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः।'—यो० भा०। तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति मिश्र ने तो योग में ईश्वर को सृष्टि-प्रक्रिया से भी सम्बद्ध करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही सृष्टि के विकास की प्रक्रिया और प्रलय का कार्य पूरा करती है—

(१) 'अनादौ तु सर्गसंहारप्रबन्धे सर्गान्तरसमुत्पन्नसञ्जिहीर्षाऽवधिसमये पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानं कृत्वा भगवान् जगत्सञ्जहार ।'
—त० वै० पृ० ६९ ।

(२) 'मन्त्रायुर्वेदेषु तावदीश्वरप्रणीतेषु प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थाव्यभिचारविनिश्चयात्प्रामाण्यं सिद्धम् ।'—त० वै० पृ० ७० ।

(३) 'आदिशब्देन षडङ्गतादशाव्ययते संगृहीते । तथोक्तं वायुपुराणे—
'ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ।
अन्यानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ॥'
—त० वै० पृ० ७६ ।

(४) 'चेतनाधिष्ठितमचेतनं प्रवर्तते यथा योगिनामीश्वरवादिनाम् ।'
—भामती २।२।२।

कर्मसिद्धान्त

योगशास्त्र में कर्मसिद्धान्तों पर विधिवत् विचार प्रस्तुत किया गया है । जो कर्म बुद्धिपूर्वक और बुद्धिस्थ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों सहित किये जाते हैं, उन कर्मों को करने से जीवों की बुद्धि में संस्कार पड़ जाते हैं । ये संस्कार कर्मसंस्कार या कर्माशय कहे जाते हैं । ये कर्मसंस्कार क्लेशों के हल्के होने पर हल्के और जोरदार होने पर जोरदार बनते हैं । ये संस्कार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं । इनका पूरा विवेचन इसी ग्रन्थ की तत्सम्बद्ध योगसिद्धि में देखने योग्य है । कर्मों के फल वर्तमान जीवन और भविष्यज्जीवनों में भोगे जाने योग्य होते हैं ।[1] इन कर्मों के फलों का मिलना जीवों में क्लेश की सत्ता रहने पर ही आरम्भ हो सकता है ।[2] क्लेशों के दग्धबीज होने पर फल मिलना आरम्भ नहीं हो सकता । हाँ, यदि फल मिलना प्रारम्भ हो चुका हो और बीच में विवेकख्याति हो जाने के कारण क्लेश दग्धबीज हो जायें, तो उनका फलभोग पूरा हो करके ही रहेगा । ऐसे कर्मसंस्कार, जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो चुका होता है—'प्रारब्धकर्माशय' कहे जाते हैं । उनकी फलप्रदता को विवेकख्याति भी नहीं रोक पाती, इसीलिये प्रारब्धकर्माशय बड़े बलवान कहे जाते हैं । जिन संचित और क्रियमाण कर्मसंस्कारों का फल मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ रहता, विवेकख्याति के उदय से उनका दग्धबीज हो जाना निश्चित है । ज्ञानाग्नि के द्वारा इन्हीं अनारब्धफलक कर्मसंस्कारों की दग्धबीजता होती है ।

---

१. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।'—यो० सू० २।१२ ।
२. 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।'—यो० सू० २।१३ ।

एक जन्म और उसके बाद वाली एक मृत्यु के बीच किये गये कर्मों से बने हुये शुभाशुभ संस्कारों का एक ऐसा गट्ठर-सा बना रहता है, जिसके शुभाशुभत्व का प्रकाशन उस मृत्यु से होता है। वह पुञ्जीभूत कर्मसंस्कारसमूह ही अपने फलों के अनुकूल अगला जन्म देता है। उस अगले जीवन की आयु निर्धारित करता है। और इसी कर्माशय-प्रचय (समूह) से उस जीवन का फलभोग सम्पन्न होता है। जन्म, आयु और भोग—यही तीन मुख्य फल या विपाक हैं, जो कर्मसंस्कारों से प्राप्त होते हैं। ऐसे कर्मसंस्कार, जो तीनों फल देते हैं—'त्रिविपाककर्माशय' कहलाते हैं। वे अदृष्टजन्मवेदनीय भी होते हैं, क्योंकि वे वर्तमान से भिन्न दूसरे जन्मों में भोगे जाते हैं। यही कर्मसंस्कार जन्मरूपी फल दे चुकने के उपरान्त 'प्रारब्ध' कहे जाते हैं। दृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय वर्तमान जीवन में ही फल देने के कारण 'जन्म' नामक फल नहीं देते। वे केवल भोग या आयु देने के कारण 'एकविपाक' और दोनों देने पर 'द्विविपाक' कहे जाते हैं। इस प्रकार त्रिविपाक-अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय नियत समय में फल देने के कारण 'नियतविपाक' और जन्म नामक फल देने के कारण 'एकभविक' भी कहे जाते हैं। इन अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों में से कुछ एकविपाक या द्विविपाक भी होते हैं। वे 'जन्म' नामक फल नहीं देते। वे 'अनियतविपाक' अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय कहे जाते हैं। उनकी गति बड़ी विचित्र होती है। इनकी तीन स्थितियाँ हो सकती हैं—

१. बिना फल दिये ही प्रबल प्रायश्चित्तादि के फलस्वरूप अत्यन्त कमजोर हो जाना या नष्ट हो जाना।

२. प्रबल कर्मसंस्कारों में अन्तर्भावित हो जाना।

३. नियतविपाक प्रधानकर्म के द्वारा अभिभूत होकर बहुत जन्मों तक पड़े रहना अपने अनुकूल परिस्थिति के आने पर फल देना।

इस तीसरे प्रकार की गति वाले अनियतविपाक-कर्माशय के फलोन्मुख होने की परिस्थिति किस समय, किस स्थान पर, कैसे आयेगी ? यह निश्चित नहीं रहता। इसलिये कब इस प्रकार के कर्मसंस्कार फल दे देंगे ? इसकी जानकारी असम्भव होने के कारण कर्मगति दुर्विज्ञान और विचित्र कही जाती है। ये सभी प्रकार के कर्मसंस्कार शुभ होने पर आनन्ददायक फल और अशुभ होने पर दुःखमय फल देते हैं।

कैवल्य

पतञ्जलि ने 'कैवल्य' का विवेचन चारों पादों में एक-एक स्थल पर इस प्रकार से किया है—

१. समाधिपाद में—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'—यो० सू० १।३।

२. साधनपाद में—'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।'
—यो० सू० २।२५।

३. विभूतिपाद में—'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।'

—यो० सू० ३।५५।

४. कैवल्यपाद में—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।'—यो० सू० ४।३४।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ के चारों पादों में कैवल्य का विवेचन किया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि चारों सूत्रों में एक ही बात की पुनरुक्तिमात्र है। वस्तुतः समाधिपाद में कैवल्य और उसकी प्राप्ति के साधनभूत योग का सम्बन्ध बताया गया है और कैवल्य का स्वरूप भी प्रतिपादित किया गया है। साधनपाद वाले सूत्र में बताया गया है कि सम्प्रज्ञातयोगलभ्य विवेकख्याति के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर अनादि अविद्याकृत पुरुषप्रकृतिसंयोग का अभाव होता है। यही दुःखो का एकान्तिक और आत्यन्तिक नाश है। अर्थात् यही पुरुष का कैवल्य, एकाकिता, केवलता या आत्यन्तिक निरुपाधित्व है।

तृतीय सूत्र में कैवल्य के लिये उपयुक्त स्थिति का निरूपण किया गया है। बुद्धिसत्त्व की समानरूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य सिद्ध होता है। उस समय पुरुष स्वरूपमात्रज्योति, निर्गुण और केवली रहता है। कैवल्य का पूरा-पूरा वर्णन कैवल्यपाद के अन्तिम सूत्र में किया गया है। इसके अनुसार कैवल्य की स्थिति को दो दृष्टियों से वर्णित किया जा सकता है—गुणों की दृष्टि से और पुरुष की दृष्टि से पुरुष के प्रयोजन से रहित चरिताधिकार सत्त्वादिगुणों का अव्यक्त प्रकृति में प्रतिप्रसव हो जाना अर्थात् लीन हो जाना गुणों की दृष्टि से 'कैवल्य' का वर्णन है। पुरुष की दृष्टि से 'कैवल्य' का वर्णन यह है कि अपने ही रूप में पुरुष का सदैव प्रतिष्ठित रहना अर्थात् बुद्धि-सत्त्व से अभिसम्बन्ध होने की सम्भावना की भी निवृत्ति हो जाना, पुरुष का सदा एकाकी, केवल, निरुपाधि रूप से रहना ही 'कैवल्य' है। निर्विप्लवा विवेकख्याति के पश्चात् जीवितावस्था में जो कैवल्य होता है, उसको जीवन्मुक्ति कहते हैं। और लब्ध-विवेकख्याति योगी के प्रारब्धभोग के अनन्तर शरीरपात होने पर अथवा असम्प्रज्ञातयोग के सिद्ध होने पर गुणों का प्रतिप्रसव हो जाने से विदेहकैवल्य या विदेहमुक्ति होती है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को वस्तुतः दो प्रकार की मुक्ति नहीं समझना चाहिए। मुक्ति तो एक ही है। जब उसका अनुभव जीवित रहते हुए होता है, तब वह 'जीवन्मुक्ति' कही जाती है और शरीर-रहित होने पर अनुभूत होने पर वही 'विदेहमुक्ति' कही जाती है।

ॐ नमः श्रीकृष्णाय

पातञ्जलयोगदर्शनम्

'व्यासभाष्य'-संवलितं 'योगसिद्धि'-हिन्दीव्याख्याविभूषितम्

तत्र समाधिपादः प्रथमः

अथ योगानुशासनम् ॥१॥

अब योगशास्त्र आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। योगः समाधिः; स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तमेकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो, विचारानुगत, आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः ॥१॥

यह **'अथ'** शब्द अधिकार-वाचक है। (अब) योगानुशासन अर्थात् **'योगशास्त्र'** अधिकृत (आरम्भ हुआ) जानना चाहिए। योग समाधि है और यह (समाधि) (चित्त की) सभी भूमियों में रहने वाला चित्त का धर्म है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—चित्त की ये पाँच भूमियाँ होती है। (चित्त की इन पाँचों भूमियों में रहने वाला धर्म, चित्त का 'सार्वभौम' धर्म कहा गया है।) इन भूमियों में से विक्षिप्त-भूमि वाले चित्त की समाधि, विक्षेप के कारण गौण हो जाने से योग की कोटि में नहीं आती। जो समाधि एकाग्र-भूमि वाले चित्त में (संभव) होती है; तथा (आलम्बन रूप से बुद्धि में) स्थित पदार्थ को पूर्णतया प्रकाशित करती है; (अविद्यादि सभी) क्लेशों को नष्ट करती है; कर्म-संस्कारों को प्रशिथिल (कार्याक्षम) करती है और असम्प्रज्ञातसमाधि को सामने लाती है, वह (समाधि) सम्प्रज्ञातयोग कही जाती है। और वह (सम्प्रज्ञात योग) वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत (इन चार अवस्थाओं वाला) होता है—यह आगे स्पष्ट रूप से बताएँगे। सभी वृत्तियों का निरोध होने पर तो असम्प्रज्ञात-समाधि होती है (वही असम्प्रज्ञात योग है)। १।

योगसिद्धिः

योगिभिर्ध्यायमानाय, स्वयं योगेश्वराय च।
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय, विरामायाशिवस्य च ॥ १ ॥
योगसूत्रदिशा योगं द्विरूपं व्याजहार यः।
प्रणमामि नरश्रेष्ठं मुनीन्द्रं तं पतञ्जलिम् ॥ २ ॥
सूत्रभाष्यं कृतं येन व्यासाख्येन महात्मना।
सिद्धिरूपामहं व्याख्यां रचयामि प्रणम्य तम् ॥ ३ ॥

(सू० सि०)—'अथ' शब्द संस्कृत-वाङ्मय में बहुत शुभ समझा जाता है।

'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥'[1]

यद्यपि **'अथ'** शब्द मङ्गलार्थक होता है, परन्तु यहाँ पर इसका वाच्यार्थ **'मङ्गल'** नहीं है। यहाँ पर 'अथ' शब्द अधिकारवाचक है। अधिकार किसे कहते हैं ? **'अधिकार-शब्दो योगरूढतया आरम्भण एव मुख्य इति'**।[2] आशय यह है कि अब योगानुशासन अर्थात् योगशास्त्र अधिकृत हुआ है या अब यहाँ से योगानुशासन का अधिकार है। तात्पर्य यह है कि अब योगानुशासन नामक शास्त्र का आरम्भ हुआ। अब प्रश्न यह है कि यदि 'अथ' शब्द का प्रयोग यहाँ अधिकार अर्थात् आरम्भ के अर्थ में हुआ है तो इसका वाच्यार्थ मङ्गल नहीं हो सकता, फिर इस स्थल पर इस शब्द से माङ्गलिकता का बोध कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर 'अथ' शब्द का प्रयोग मङ्गलार्थक न होने पर भी केवल श्रूयमाण होने से ही यह 'अथ' शब्द मङ्गलकारी हो गया है। जैसे—अन्य प्रयोजन से ले जाया जाता हुआ जलपूर्णकुम्भ, यात्राप्रसङ्ग में दर्शनमात्र से माङ्गलिक हो जाता है, वैसे ही अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी 'अथ' शब्द श्रूयमाण होने से ही मङ्गलकारी या शुभकारी हो जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'अथ' शब्द इस सूत्र में अभिधावृत्ति से अधिकार या 'आरम्भ' का बोध कराता है और व्यञ्जनावृत्ति से मङ्गलमयता का। सच तो यह है कि 'अथ' शब्द को मङ्गलार्थक मानने पर उसकी उतनी माङ्गलिकता नहीं हो सकती, जितनी कि अन्यार्थक होने पर उसके उच्चारण-मात्र से उसकी माङ्गलिकता होगी। इस धारणा को पुष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि—**'अधिकारार्थस्य चाथशब्दस्यान्यार्थं नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायोपकल्पत इति मन्तव्यम्'**[3]।

---

१. द्रष्टव्य; अ० को० पृ० ६२७।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ६।

योगानुशासनम्—योगस्य अनुशासनम् इति तथोक्तम्, योग का अनुशासन। इस समस्तपद में आये हुए दोनों पदों—'योग' एवं 'अनुशासन'—के अर्थ का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

अनुशासनम्—अनुशिष्यतेऽनेन इति अनु + √शासु + ल्युट् करणे=अनुशासनम् 'शास्त्रम्' जिसके द्वारा अनुशासित किया जाय, सिखाया जाय, वह है अनुशासन अर्थात् शास्त्र। इस प्रकार 'योगानुशासनम्' का अर्थ हुआ योगशास्त्र।

'अनुशासनमिति हि शास्त्रमाहानुशिष्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या।'[1]

'योगानुशासनं नाम शास्त्रं तद्द्वारा योगोऽपीत्यर्थः।'[2] विषय को विवेचित करके ज्ञापित करने का साधन या करण ही अनुशासन या शास्त्र कहा जाता है।

'शास्त्र' की परिभाषा है—

> **'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।**
> **पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥**[3]

पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'अनुशासन' शब्द का 'शास्त्र' ही अर्थ किया है।

'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।'[4] नागोजिभट्ट ने लिखा है—**'अनुशिष्यन्ते (असाधुशब्देभ्यो) विविच्य ज्ञाप्यन्तेऽनेनेति करणल्युडन्ततया शास्त्रपदेन सामानाधिकरण्यमिति भावः। इदमेव ध्वनयितुं भाष्ये नामपदोपादानम्। नामनामिनोरभेदात् 'नाम-शास्त्रम्' इति सामानाधिकरण्यम्'**[5]। अनुशासन पद का अर्थ शास्त्र है—इस बात को टीकाकार वैद्यनाथ भी कहते हैं—**'अनुपूर्वकशासेर्विविच्यज्ञापने दृष्टत्वस्यान्यत्र प्रसिद्धत्वात्'**[6]।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि योगशास्त्र का आरम्भ हुआ या योगशास्त्र अधिकृत हुआ। यहाँ पर यह शङ्का उठायी जा सकती है कि व्युत्पाद्य या विज्ञाप्य विषय 'योग' है न कि 'योगशास्त्र'। इस शङ्का को मिटाने के लिए ही भाष्यकार व्यास—कदाचित् पतञ्जलि के 'महाभाष्य' का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—**'योगानुशासनं शास्त्रम् अधिकृतं वेदितव्यम्।'**—यो० भा० पृ० १।[7]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ६।

३. द्रष्टव्य; छायाव्याख्या पृ० ६।

४. द्रष्टव्य; व्या० म० भा० पृ० ३।

५. द्रष्टव्य; उद्योतटीका पृ० सं० ५।

६. द्रष्टव्य; छायाव्याख्या पृ० ६।

७. द्रष्टव्य; 'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्'—महाभाष्य पृ० ३।

यह 'वेदितव्यम्' पद योगशास्त्र के अधिकृतत्व का निश्चय कराने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। योगशास्त्रव्यापारगोचरतया अर्थात् योगशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय होने के कारण 'योग' भी व्युत्पाद्य रूप में आरम्भ हो गया।[1]

इस प्रकार योगानुशासनम् का अर्थ हुआ योगविषयक या योगप्रतिपादक शास्त्र। 'योग' हुआ प्रतिपाद्य विषय और 'योगानुशासन' हुआ योग का प्रतिपादक शास्त्र।

इस प्रकार इस सूत्र में महर्षि पतञ्जलि के द्वारा जिज्ञासुओं को सरलता से योग का ज्ञान कराने के लिए योगशास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा की जा रही है।

एक बात यहाँ पर और ध्यान देने की है। वह यह कि यद्यपि 'अनुशासन' और 'शास्त्र' शब्द पर्यायवाची हैं, फिर भी बहुप्रचलित 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग न करके सूत्रकार ने 'अनुशासन' शब्द का प्रयोग क्यों किया है? सूत्रकार का प्रयोजन स्पष्ट है कि वे 'अनुशासन' शब्द की इस व्यञ्जना से कि—**'शिष्टस्य शासनम् इत्यनुशासनम्'** अर्थात् पहले से सिखाए गए विषय को सिखाने वाला शास्त्र अनुशासन है—यह प्रकट करना चाहते हैं कि योगशास्त्र के आदिवक्ता वे नहीं हैं;[2] प्रत्युत **'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'**—इस वाक्य में योगियाज्ञवल्क्य द्वारा विदित 'हिरण्यगर्भ' अर्थात् 'कपिल'[3] हैं। पतञ्जलि तो उसका पुनः प्रवचन या प्रकाशन मात्र कर रहे हैं।

योग—यह 'योग' शब्द युज् (समाधौ) धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है। इस योग शब्द की व्युत्पत्ति 'घञ्' प्रत्ययान्त √युजिर् योगे धातु से नहीं हो सकती, क्योंकि उस योग शब्द का अर्थ होगा 'जोड़' या 'योगफल'। यहाँ पर योग पद से 'जोड़ना' अर्थ लेने पर योग के वक्ष्यमाण लक्षण से विरोध होगा। इसलिए इस योग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—(चित्तवृत्तिनिरोधरूप) समाधि। √'युज-समाधौ' धातु से + 'घञ्' प्रत्यय। व्यवहार में 'समाधि' शब्द योग से अधिक व्यापक है। वह सभी भूमियों में कमोबेश रहने वाला धर्म है। इसीलिए

---

१. (क) 'शास्त्रव्यापारगोचरतया योग एवाधिकृत इति भावः।'

—त० वै० पृ० ६।

(ख) 'योगानुशासनं नाम योगशास्त्रं तद्द्वारा योगोऽपीत्यर्थः।'

—भा० पृ० ६।

२. 'ननु हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृतेः कथं पतञ्जलेर्योगशास्त्रवक्तृत्वमित्याशङ्क्य सूत्रकारेणोक्तम्—अनुशासनमिति शिष्टस्य शासनमनुशासनमित्यर्थः "—त० वै० पृ० ६।

३. 'हिरण्यगर्भोऽत्र परमर्षेः कपिलस्य संज्ञाभेदः।'—भा० पृ० १।

उसे चित्त का सार्वभौम धर्म कहते हैं। जब कि 'योग' चित्त का सार्वभौम धर्म नहीं है। वह केवल चित्त की दो भूमियों में रहने वाला धर्म है—'एकाग्र' भूमि में और 'निरुद्ध' भूमि में। इस प्रकार प्रत्येक समाधि योग की श्रेणी में नहीं रखी जा सकती, जबकि प्रत्येक योग समाधि के अन्तर्गत है। यह भेद ऐसे समझना चाहिए, जैसे—सभी मनुष्य जीव हैं, किन्तु सभी जीव मनुष्य नहीं हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भाष्यस्थ 'स च' शब्द का अभिप्रेतार्थ 'समाधि' न लेकर 'योग' लिया है—

'सार्वभौमश्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणो 'योगः' तदङ्गं तु समाधिनवम्भूतः।'[१]

और इस कारण वे बड़े पचड़े में पड़ गए हैं। पहली गड़बड़ी तो यह हुई कि उनका अर्थ भाष्य-विरुद्ध हो गया, और दूसरी यह कि वे अपनी इस व्याख्या को तमाम प्रयत्नों के बावजूद सिद्ध नहीं कर पाये। उन्होंने भाष्यकार को (इस प्रसङ्ग में) अनभीष्ट 'मधुमती' 'मधुप्रतीका' 'विशोका' और 'संस्कारशेषा' नामक भूमियाँ कल्पित की हैं, और समाधि को योग का आठवाँ अङ्ग कहकर व्याख्यात किया है। किन्तु यहाँ पर योगाङ्ग के रूप में समाधि का वर्णन मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जब 'योग' का ही परिचय दिया जा रहा है तो उसका अर्थ बोध कराने के लिए केवल उसके अङ्ग का ही वर्णन करना ठीक नहीं है। यहाँ पर तो समाधिसामान्य के द्वारा ही योग का प्रथम परिचय कराया जा सकता है।

(**भा० सि०**)—इस सूत्र से लेकर चौथे पाद के अन्तिम सूत्र पर्यन्त—इस सम्पूर्ण योगशास्त्र का भाष्य प्रारम्भ करते हुए भाष्यकार व्यास कहते हैं कि **'अथ इति अयम् (शब्दः) अधिकारार्थः'**—इस सूत्र में आया हुआ यह 'अथ' शब्द अधिकारार्थक है अर्थात् आरम्भवाची है, और आरम्भार्थ में उच्चारित होकर मङ्गलव्यञ्जक भी है।

योगस्य अनुशासनम् इति योगानुशासनम्–योगानुशासन नामक। शास्त्रम्—शास्त्र। अधिकृतम्—आरब्धम्, प्रारम्भ हुआ। वेदितव्यम्—जानना चाहिए। 'शिष्यैरिति शेषः'—शिष्यों या जिज्ञासुओं के द्वारा (यह वाक्य-शेष है)। अब योग क्या है? भाष्यकार इसे समझाने के लिए 'योग' पद का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं कि—'योगः समाधिः' योग है समाधि। योग का अर्थ है समाधि। स च—और वह अर्थात् समाधि। चित्तस्य सार्वभौमः धर्मः—चित्त का सार्वभौम धर्म है। सार्वभौम का अर्थ है—सभी भूमियों में रहने वाला—सर्वासु भूमिषु विदितः [२]इति, सर्वभूमि+अण्[३]=

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ७।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ८।

३. द्रष्टव्य; 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ' ५।१।४१ पा० सू० के साथ पठित या इसकी अनुवृत्ति से युक्त पा० सू० 'तत्रविदित इति च'। ५।१।४३ 'सर्वभूमौ विदितो वा सार्वभौमः।' सिद्धान्त-कौमुदी, खण्ड २। पृ० ४३३।

सार्वभौमः धर्मः । ध्रियते इति धर्मः[१], व्यापारः, गुणः । निष्पन्न अर्थ हुआ 'चित्त की सभी भूमियों में रहने वाला धर्म या व्यापार' । भाष्यकार ने भाष्य में प्रयुक्त 'सार्वभौम' पद का व्याख्यान सम्पन्न करने के लिए चित्त की ये पाँच भूमियाँ बताई हैं— क्षिप्तादि···चित्तभूमयः—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । इति—ये पाँच । चित्तभूमयः—चित्त की भूमियाँ या अवस्थाएँ हैं । इन पाँचों भूमियों का लक्षण यह है—

१. क्षिप्तम्—**'रजसा विषयेष्वेव वृत्तिमत्'**[२],—रजोगुण के उद्रेक के कारण विषयों में ही व्यापृत रहने वाली चित्त की अवस्था 'क्षिप्त' भूमि है ।

२. मूढम्—**'तमसा निद्रादिवृत्तिमत्'**[३]—तमोगुण के उद्रेक के कारण मूर्च्छादि-व्यापारवान् चित्त की स्थिति 'मूढ' भूमि कही जाती है ।

३. विक्षिप्तम्—**'क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं, सत्त्वाधिक्येन समादधदपि चित्तं रजोमात्रयाऽन्तराऽन्तरा विषयान्तरवृत्तिमद्'**[४]—क्षिप्तादि भूमि से कुछ बेहतर या अच्छी भूमि । इसमें सत्त्वगुणाधिक्य रहता है । इसमें किञ्चित्कालपर्यन्त समाधि लगने पर भी रजोगुण के जोर मारते रहने के कारण बीच-बीच में अन्य विषयों की ओर चित्त दौड़ जाता है । चित्त की यह अवस्था उसकी 'विक्षिप्त' नामक भूमि कही जाती है ।

४. एकाग्रम्—**'एकस्मिन्नेव विषयेऽग्रं शिखा यस्य चित्तदीपस्येत्येकाग्रं, विशुद्धसत्त्वतयैकस्मिन्नेव विषये वक्ष्यमाणावधीकृतकालपर्यन्तमचञ्चलं निवातस्थदीपवत् । तथा च क्षिप्तादित्रयेऽपि किञ्चिदेकाग्रयसत्त्वेऽपि तत्र नातिप्रसङ्गः ।'**[५]

इस अवस्था में चित्त की सात्त्विकवृत्ति किसी एक विषय की ओर लगी रहती है । रजोगुण और तमोगुण दबे रहते हैं । अतः उस एक विषय की ओर अग्र या उन्मुख वृत्ति वाली अवस्था को 'एकाग्रभूमि' कहते हैं ।

५. निरुद्धम्—**'निरुद्धं च निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषमित्यर्थः ।'**[६]

---

१. द्रष्टव्य; 'ध्रियते जनैरिति धर्म.' √धृञ् (भ्वा० उ० अ०)+मन् ।
('अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्'—उणादि० १३७)

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ८ ।

३. द्रष्टव्य; वही पृ० ८ ।

४. द्रष्टव्य; वही पृ० ८ ।

५. द्रष्टव्य; वही पृ० ८ ।

६. द्रष्टव्य; वही पृ० ८ ।

जिस अवस्था में चित्त की तामस और राजस वृत्तियों के साथ-साथ सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है, केवल संस्कारमात्र चित्त में रहते हैं, उसे निरुद्ध भूमि कहते हैं।

तत्र—उन पाँचों भूमियों में (जिन सबमें यत्किञ्चित् वृत्तिनिरोधरूपी समाधि रह सकती है) से। विक्षिप्ते चेतसि—विक्षिप्तावस्था वाले चित्त में। विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिः—विक्षेपेण रजोगुणकृतानुवेधेन, संक्षोभेण, उपसर्जनीभूतः तिरस्कृतः, न्यग्भावितः, खण्डितः, अभिभूतः 'गौणत्वम्, अनभिव्यक्ति वा' प्रापितः समाधिः। रजोगुण के अनुवेध के कारण गौण हुई या दब जाने वाली समाधि।

न योगपक्षे वर्तते—योग की कोटि में नहीं आती, योग के अन्तर्गत नहीं गिनी जाती।

'विक्षिप्त' भूमिकचित्तगत समाधि को योग की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि उसमें सर्वथा सुलभ विक्षेपों के कारण समाधि बार-बार गौण हो जाती है। यहीं उसका उपसर्जनीभाव या गौणत्व है। इसलिए इस काल की समाधि को योग नहीं कहा जाता। कैमुतिकन्याय से 'क्षिप्त' और 'मूढ' भूमि वाली समाधि का योगकोटि से भिन्नत्व तो सिद्ध ही है।[1] इसीलिए भाष्य में उन भूमियों की समाधि के योगत्व का प्रश्न ही नहीं उठाया गया।[2]

अब योग कही जाने वाली समाधियों का परिचय कराया जा रहा है। यः—जो समाधि। तु—तो। एकाग्रे चेतसि—एकाग्रभूमि वाले चित्त में, अर्थात् चित्त की एकाग्र भूमि में। 'वर्तमानः सन्' इति शेषः अर्थात् स्थित हो कर रहती हुई। सद्भूत-मर्थम्[3]—अकल्पितम् अर्थात् वस्तुसत् ध्येय पदार्थ को। प्रद्योतयति[4]—पूर्ण रूप से प्रकाशित करती है। अर्थात् उसी ध्येय वस्तु का पूर्णतः साक्षात्कार कराती है। **'प्र शब्दो हि प्रकर्षं द्योतयन् साक्षात्कारं सूचयति।'**[5] क्षिणोति च क्लेशान्—क्लेशों को क्षीण करती है। दग्धबीज कर देती है। चूँकि क्लेश अविद्यामूलक होते हैं और

१. एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः।—रा० मा० वृ० पृ० ३।

२. तत्र क्षिप्तमूढयोः सत्यपि परस्परापेक्षया वृत्तिनिरोधे पारम्पर्येणापि निःश्रेयसहेतुभावाभावात्तदुपघातकत्वाच्च योगपक्षाद्दूरोत्सारितत्वमिति न तयोर्योगत्वं निषिद्धम्।—त० वै० पृ० ८।

३. ध्येयं वस्तु सद्भूतं परमार्थभूतम्।—यो० वा० पृ० ९।
पारमार्थिकं तत्त्वम्।—भा० पृ० ९।

४. प्रकर्षेण द्योतयति, साक्षात्कारयति।—यो० वा० पृ० ९।

५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९।

'सम्प्रज्ञात', विद्या अर्थात् ज्ञान का शुद्धरूप है, इसलिए विद्या से अविद्या का क्षीण होना, दग्धबीज होना, जल जाना सर्वथा स्वाभाविक है। **'अविद्यामूलत्वादस्मितादीनां क्लेशानां विद्यायाश्च अविद्योच्छेदरूपत्वाद्विद्योदये चाविद्यादिक्लेशसमुच्छेदो विरोधित्वात् कारणविनाशाच्चेति[1]।'**

कर्मबन्धनानि—कर्माशयों अर्थात् कर्मसंस्कारों के बन्धनों को शिथिल कर देता है। इस जीवन में किए गए सभी कर्मों के संस्कार अदृष्ट फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध-कर्मों के संस्कारों का ही भोग होता रहता है। इस प्रकार कर्म-संस्कारों के भयङ्कर जाल का कसाव बिल्कुल ढीला हो जाता है। श्लथयति—'स्वकार्यादवसादयति', 'अदृष्टोत्पादनाक्षमाणि करोति', शिथिल कर देता है, फल देने की शक्ति को नष्ट कर देता है। निरोधम्—निरोधनामानं समाधिम्, असम्प्रज्ञात समाधि को, अभिमुखं करोति—अभिमुख करता है। निरोध समाधि को लाता है। **'अभिमुखं प्रत्यासन्नं करोति परवैराग्यजननेनेति शेषः[2]।'**

स (समाधिः) सम्प्रज्ञातो योगः—वह समाधि 'सम्प्रज्ञातयोग' कहलाती है। **'सम्यक् प्रज्ञायते ध्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योग इति सम्प्रज्ञातो योगः[3]।'** इस समाधि को योग की कोटि में गिना जाता है। यही प्रकट करने के लिए—'यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्,. कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, 'स सम्प्रज्ञातो योग' इत्याख्यायते'—भाष्य में स्पष्ट किया गया है। इस योग के चार भेद होते हैं—

१. वितर्कानुगत—जिसमें ध्येय विषय के स्थूल रूप का सम्प्रज्ञान होता है।

२. विचारानुगत—जिसमें ध्येय विषय के सूक्ष्म रूप का सम्प्रज्ञान होता है।

३. आनन्दानुगत—जिसमें ध्यानकारिणी बुद्धि से स्वतःस्फूर्त आनन्द का सम्प्रज्ञान होता है।

४. अस्मितानुगत—जिसमें बुद्धि और पुरुष की प्रतीयमान एकाकारता से प्रकट होने वाले उभय-स्वरूपविवेक का सम्प्रज्ञान होता है।

उपरिष्टात्—बाद में, आगे चलकर। प्रवेदयिष्यामः—बोधयिष्यामः, समझाएँगे, स्पष्ट रूप से बताएँगे।

चित्त की निरुद्धभूमि में सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। एकाग्र भूमि में केवल राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है और सात्त्विक वृत्ति

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।—श्रीमद्भगवद्गीता ४-३६।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९।

का पूर्ण उदय हुआ रहता है। अब इस निरुद्धभूमि में सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इस भूमि का नाम इसीलिए 'निरुद्धभूमि' पड़ा है। इस भूमि में होने वाली सर्ववृत्तिनिरोधात्मकसमाधि 'असम्प्रज्ञात' कही जाती है। यह समाधि तो योग है ही, सम्प्रज्ञात के साध्य और परवर्ती होने के कारण। इसलिए इसे अलग से योग कहने का श्रम भाष्यकार ने नहीं उठाया। योगशास्त्र प्रतिपादक है, योग प्रतिपाद्य या व्युत्पाद्य विषय है। दोनों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक अर्थात् अभिधेयाभिधायकभाव सम्बन्ध है। अभिधेयभूत योग का फल कैवल्य है; इसलिए दोनों में साध्यसाधनभाव सम्बन्ध हुआ।

'रजस्तमोमयी किल प्रमाणादिवृत्तिः, सात्त्विकीं वृत्तिमुपादाय सम्प्रज्ञाते निरुद्धा। असम्प्रज्ञाते तु सर्वासामेव निरोध इत्यर्थः'[1]।

तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

उस (द्विविधयोग) का लक्षण कहने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

योग चित्तवृत्तियों का निरोध है ॥ २ ॥

सर्वशब्दाग्रहणात्सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च। सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति। स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किञ्चित्सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥ २ ॥

(योग की इस परिभाषा में) 'सर्व' शब्द का प्रयोग न किये जाने के कारण सम्प्रज्ञात समाधि भी 'योग' कही जाती है। चित्त प्रकाशशील, चेष्टाशील एवं स्थैर्यशील होने से त्रिगुणात्मक है। प्रकाशशील चित्तसत्त्व रजोगुण और तमोगुण से लब्धसंसर्ग होकर (शब्दादि) विषयों और ऐश्वर्य का प्रेमी (इच्छुक) हो जाता है। वही (चित्तसत्त्व) तमोगुण से काफी बिंध जाता है तो अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य और

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०।

अवैराग्य में मग्न हो जाता है। वही इस (तमोगुणजन्य) मोह के आवरण से रहित होकर, सब ओर से प्रकाशमान होता हुआ जब कभी रजोगुण की मात्रा से स्पृष्ट हो जाता है, तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। वही (चित्तसत्त्व) जब उस रजोगुण की मात्रा रूपी मल के सम्पर्क से रहित होता है, तब अपने शुद्ध (सात्त्विक) रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, और बुद्धि तथा पुरुष के अलगाव या विवेक के ज्ञान रूप का रहता है, और धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँचने वाला होता है। योगी लोग उसे 'पर-प्रसंख्यान' कहते हैं। पुरुष-तत्त्व अपरिणामी, निष्क्रिय, द्रष्टा, शुद्ध एवं अनन्त है। यह विवेकख्याति इससे सर्वथा भिन्न तथा सत्त्वगुणात्मक है। इसलिए इसके प्रति भी विरक्त (हुआ) चित्त (परवैराग्य के द्वारा) इस विवेकख्याति को भी निरुद्ध करता है। इस (पूर्ण निरोध की) भूमि में स्थित चित्त (निरोध-) संस्कारमात्रावशिष्ट रह जाता है। यह निर्बीज समाधि (कही जाती) है। इस स्थिति में (चित्त को) किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिए इसे असम्प्रज्ञात (योग) कहते हैं। अतः चित्तवृत्तिनिरोध-लक्षण वाला यह योग (सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात) दो प्रकार का (होता) है ॥ २ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तस्य=द्विविधयोगस्य अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात नामक दोनों योगों का। लक्षणाभिधित्सया–लक्षण बताने या कहने की इच्छा से। अभिधित्सया—अभिधातुं कथयितुम् इच्छेति, अभि + √धा + सन् + अ + टाप् = अभिधित्सा, तया। कहने की इच्छा से या बताने की इच्छा से। प्रववृते = प्र + √वृत् + लिट्लकारः प्र० ए०, प्रवृत्त हुआ है।

(सू० सि०)—चित्तवृत्तिनिरोधः—चित्तस्य वृत्तयः इति चित्तवृत्तयः, तासां निरोधः इति तथोक्तः। चित्त की वृत्तियों का निरोध।

चितम्—अन्तःकरणसामान्य को ही चित्त कहा गया है। वेदान्तशास्त्र में अन्तःकरण चार बताए गए हैं—१. मन, २. बुद्धि, ३. चित्त और ४. अहङ्कार।[१] सांख्यशास्त्र में भी मन, बुद्धि और अहङ्कार के भेद से अन्तःकरण तीन बताए गये हैं।[२] योग-शास्त्र में अन्तःकरण के इन तीनों भेदों को स्वीकार किया गया है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इन तीनों के वाचक एक साधारण नाम की अपेक्षा से 'चित्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत से अन्तःकरण के ये चारों भेद—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—यद्यपि योग में स्वीकृत हैं तथापि वृत्तिरूप

---

१. द्रष्टव्य; वेदान्तपरिभाषा पृ० ९०।

२. 'अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्'।—सां० का० ३३।

से एक ही अन्तःकरण के ये चारों भेद हैं। इसलिए इस शास्त्र में अन्तःकरणसामान्य ही 'चित्त' पद से बोधित होता है।[1]

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी चित्त शब्द को बुद्धि या अन्तःकरण (के उपलक्षण) के रूप में ग्रहण किया है—**'चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति[2]।'**

वृत्तिः—चित्त जिस-जिस स्थिति या रूप में रहता है अर्थात् परिणत होता रहता है, वे स्थितियाँ चित्त की वृत्तियाँ हैं। क्योंकि जिस रीति या विधा से रहा जाय, रहने की वह रीति ही वृत्ति कहलाती है, वर्ततेऽनयेति वृत्तिः √वृत् + क्तिन् करणे। चित्त अनेक रूपों में परिणत होता रहता है, इसलिए चित्त की असंख्य वृत्तियाँ होती हैं। लेकिन सत्त्वादिगुणों के प्राधान्य के अनुसार उनका विभाजन तीन मुख्य श्रेणियों में किया जा सकता है—

१. सात्त्विक वृत्तियाँ।
२. राजस वृत्तियाँ।
३. तामस वृत्तियाँ।

आगे चलकर इन वृत्तियों का विभाजन ज्ञान के रूपभेद के आधार पर पाँच प्रकारों में किया जायेगा। किन्तु दोनों विभाजनों में कोई विसङ्गति नहीं पड़ती, क्योंकि यहाँ पर विभाजन का आधार उपादानभूत 'गुण' और अन्यत्र विभाजन का आधार वृत्तियों का वक्ष्यमाण 'स्वरूप' है।

निरोधः—नि + √रुध + घञ् = निरोधः, रोकना या निग्रह करना[3]।

अभी बता चुके हैं कि त्रिगुणात्मक चित्त की सात्त्विक, राजस और तामस (व्यापारमयी) स्थितियाँ ही उसकी वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों, अर्थात् चित्त व्यापारों वाली इन विभिन्न स्थितियों, अर्थात् इन चैत्त व्यापारों को रोकना या निगृहीत करना ही इनका निरोध करना है। इन निरोध के प्रसङ्ग में एक बात ठीक से समझ लेने की है कि इन वृत्तियों के निरोध का अर्थ इनका सर्वथा अभाव होना नहीं है; प्रत्युत इन वृत्तियों का चित्त में लय होना ही 'निरोध' का अर्थ है। यदि ऐसा न माना जाय तो निरोधोपरान्तकाल में इन वृत्तियों और इनके संस्कारों का फिर से उदय नहीं हो सकता, इसलिए वृत्तिनिरोध का अर्थ 'वृत्त्यभाव' न करके वृत्तियों का 'चित्त में लय' करना ही समीचीन है।

---

१. 'चित्तमन्तःकरणसामान्यम्'—यो० वा० पृ० १२।

२. द्रष्टव्य; त० वै०, पृ० ७।

३. 'तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते'—रा० मा० बृ० पृ० ३।

'वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था'—यो० वा० पृ० १०।

इस सूत्र का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए यह ज्ञातव्य है कि—

१. केवल राजस या केवल तामस या केवल सात्त्विक वृत्ति का निरोध योग नहीं है। चूँकि इस स्थिति में राजस और तामस स्थिति अवश्य बनी रहती है, अतः इस प्रकार के निरोध से कैवल्य नहीं हो सकता।

२. सात्त्विक और राजस—इन दो वृत्तियों या सात्त्विक और तामस—इन दो वृत्तियों का निरोध भी योग नहीं है, क्योंकि राजस या तामस वृत्ति में से किसी एक के बने रहने से दुःख या अज्ञान बना ही रहेगा और कैवल्य नहीं हो सकेगा।

३. राजस और तामस—इन दोनों वृत्तियों का निरोध अवश्य ही योग है, क्योंकि सात्त्विक वृत्ति के निर्बाधरूप से उदित रहने से ही विवेकख्याति संभव है और कैवल्य अवश्य प्राप्त होता है।

४. सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों वृत्तियों का निरोध तो स्पष्ट ही योग है, क्योंकि उस दशा में भी कैवल्य निश्चित ही है।

इस प्रकार वही चित्तवृत्तिनिरोध 'योग' हो सकता है, जिससे द्रष्टा अर्थात् पुरुष की स्वरूप में अवस्थिति या प्रतिष्ठा हो सके अर्थात् कैवल्य निश्चित हो सके। क्योंकि इस सूत्र के अव्यवहितपश्चात् आने वाले सूत्र के प्रारम्भ में ही प्रयुक्त 'तदा' शब्द इस बात को द्योतित करता है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'**[1]

(**भा० सि०**)—सर्व···आख्यायते—इस 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र में 'सर्व' शब्द का प्रयोग न होने से किसी या किन्हीं वृत्तियों का निरोध 'योग' हो सकता है। हम यह देख चुके हैं कि अन्य किसी भी १ या २ वृत्तियों—'राजस+सात्त्विक' या 'तामस+सात्त्विक' या किसी भी 'राजस' या 'तामस' या 'सात्त्विक' वृत्ति का निरोध होने पर द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान सम्भव नहीं है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि सात्त्विक वृत्ति के रहने पर अर्थात् राजस और तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी एक प्रकार का योग होता है, जिसे 'सम्प्रज्ञातयोग' कहते हैं। और सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी कैवल्यप्राप्ति निश्चित होने के कारण दूसरे प्रकार का योग होता है, जिसे 'असम्प्रज्ञातयोग' कहते हैं। इन दो के अतिरिक्त किसी इकहरे या दुहरे वृत्तिनिरोध को 'योग' संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस सम्बन्ध में विज्ञान-भिक्षु ने बहुत ही ठीक कहा है कि—

'नन्वेवं पूर्वोक्तातिव्याप्तिः क्षिप्तादिष्वपि यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधादिति चेद् ? न, तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानमिति वक्ष्यमाणसूत्रसाहित्येनैवास्य लक्षणत्वात्, तथा च द्रष्टृ-स्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधः क्षिप्ताद्यवस्थासु नास्तीति नातिव्याप्तिः सम्प्रज्ञातस्य च स्वरूपावस्थितिहेतुत्वमसम्प्रज्ञातद्वाराऽस्त्येवेति[2] **।'**

---

१. द्रष्टव्य; यो० सू० १।२ और १।३।

२. द्रष्टव्य; यो० वा०, पृ० १२।

चित्तं···त्रिगुणम्—अब चित्त की त्रिगुणात्मकता का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यद्यपि सांख्यमतानुसार सभी जडपदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं, इसलिए चित्त भी त्रिगुणात्मक है, तथापि चित्त में सत्त्वगुण की बहुलता होती है। इसीलिए प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति—इन तीनों प्रकार के धर्मों से युक्त (अर्थात् त्रिगुण) होने पर भी चित्त वस्तुतः 'प्रख्या' अर्थात् ज्ञान-बहुल या प्रकाश-बहुल होता है। प्रख्या या प्रकाश या ज्ञान–सत्त्वगुण का लक्षण है। अतः चित्त को प्रख्यारूप अर्थात् प्रकाश-रूप कहा गया है। इस सत्त्वबहुलता को प्रकट करने के लिए ही चित्त को 'चित्तसत्त्व' नाम दिया जाता है।

चित्तसत्त्वम्—सत्त्वबहुलचित्तम्, सत्त्वप्रधानं चित्तम्। **'चित्तरूपेण परिणतं सत्त्वं चित्तसत्त्वम्, तदेवं प्रख्यारूपतया सत्त्वप्राधान्यं चित्तस्य दर्शितम्[1]।'**

प्रख्या—ज्ञान, प्रकाश। **'तत्त्वज्ञानम्, अनेन सर्वे सात्त्विका गुणा उपलक्षिताः[2]।'**

प्रवृत्तिः—कर्म क्रिया। **'कर्म अनेन सर्वे राजसा गुणा ग्राह्याः[3]।'**

स्थितिः—क्रियाराहित्य एवं प्रकाशराहित्य **'वृत्त्याख्यगतिशून्यता, निद्रेति यावत्, अनेन सर्वे तामसा गुणा ग्राह्याः[4]।'**

ये तीनों गुण द्रव्यरूप हैं। प्रख्यादि तीनों धर्म क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् नामक द्रव्यरूप गुणों के धर्म हैं।

'हि'—यह पद अवधारणार्थक है। इसका अर्थ हुआ 'ही'।

चित्त की जो 'क्षिप्तादि' पाँच भूमियाँ पहले सूत्र के भाष्य में बतायी गयी हैं, उनमें चित्त की अवस्थाओं का चित्रण किया जा रहा है—

१. प्रख्यारूपं······प्रियं भवति—जब चित्तसत्त्व उपसर्जनीभूत या गौणरूप से विद्यमान रजोगुण और तमोगुण से संसृष्ट होता है, अर्थात् संसर्ग करता है, तब चित्त सांसारिक ऐश्वर्य तथा शब्दादि विषयों का प्रेमी रहता है। इस अवस्था में रजस् और तमस्, सत्त्व की अपेक्षा तो गौण रहते हैं, किन्तु परस्पर बराबर मात्रा में अभिव्यक्त रहते हैं। **'तत्र चित्ते सत्त्वात्किञ्चिदूने रजस्तमसी यदा मिथः समे च भवतस्तदैश्वर्यञ्च विषयाश्च शब्दादयस्तान्येव तस्य तत्तयोक्तम्'[5]**। विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में चित्त की यह अवस्था 'क्षिप्त' भूमि की है और वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'विक्षिप्त' भूमि की। किन्तु भाष्य के मन्तव्यानुकूल और क्रमानुसार इस प्रसङ्ग में 'क्षिप्त' भूमि का निर्देश मानना चाहिए।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १३।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२।

५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १३।

२. तदेव……भवति—वही चित्त तमोगुण से अनुविद्ध होकर अर्थात् रजोगुण की मात्रा दब जाने पर और तमस् के उद्रेक हो जाने पर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर जाने वाला हो जाता है। यह दशा वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'क्षिप्त' और 'मूढ' दोनों भूमियों की समवेत रूप से बतायी गयी है **'क्षिप्तं चित्तं दर्शयन् मूढमपि सूचयति।'**[१]

किन्तु विज्ञानभिक्षु के अनुसार यह मूढावस्था का अङ्कन है—

'क्षिप्तावस्थायामतिव्याप्तिं परिहृत्य मूढावस्थायामपि तां परिहरति—तदेव तमसेति।'[२]

विज्ञानभिक्षु इस प्रसङ्ग में भी भाष्यानुकूल है। क्योंकि भाष्यकार का दो भूमियों के एक साथ चित्रण करने का कोई प्रयोजन नहीं है। और तमस् के अनुवेध में 'मूढ' भूमि ही संगत है, 'क्षिप्त' भूमि नहीं।

उपगम्—उपगच्छति इति उपगम् (चित्तम्)। निकट जाने वाला, पसंद करने वाला। **'उन्मुखम्'**।[३]

अधर्मः—धर्मविरोधी कृत्य। अज्ञानम्—विपर्ययज्ञान और ज्ञानशून्यता। अवैराग्यम्—वस्तुओं में रागयुक्तता और आसक्ति जो कि अज्ञान का फल है।

अनैश्वर्यम्—शक्ति एवं प्रभुत्व से रहित होना। **'सर्वत्रेच्छाप्रतीघातः'**।[४]

३. तदेवप्रक्षीण··ऐश्वर्योपगमं भवति—वही चित्त जब इस मूढावस्था के कारण फैले हुए मोहावरण से रहित हो जाता है तो सत्त्वगुणकृतप्रकाशयुक्त होता है। किन्तु बीच-बीच में रजोगुण की मात्रा की अभिव्यक्तियों से धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर भी उन्मुख होता रहता है। यह विज्ञानभिक्षु के अनुसार 'विक्षिप्त' भूमि का चित्रण है और वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'एकाग्र' भूमि की प्रारम्भिक अवस्था का चित्रण है। रजोमात्रया—रजोगुण की मात्रा से अर्थात् लेश से अर्थात् कादाचित्क स्फुरण से अनुविद्ध या आक्रान्त होकर धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर उन्मुख हो जाता है।

४. तदेव रजोलेश···ध्यानोपगमं भवति—वही चित्त जब उस रजोगुण के लेश-मात्र से भी रहित हो जाता है तो अपने सत्त्वात्मक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। उस समय चित्तसत्त्व और पुरुष की अन्यता का ही बोध होता है। चित्त केवल विवेक-ख्यातिरूप रहता है और 'धर्ममेघ' नामक समाधि की ओर उन्मुख होता है। उस धर्ममेघ को योगिजन 'परप्रसंख्यान' कहते हैं।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १३।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १३।

'तद्धर्ममेघाख्यं ध्यानं परमं प्रसंख्यानं तत्त्वज्ञानं विवेकख्यातेरेव पराकाष्ठेति योगिनो वदन्तीत्यर्थः' ।[1]

'क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षति इति धर्ममेघः' ।[2]

यहाँ पर चित्त को ही सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र कहा गया है। वस्तुतः धर्मधर्मी के अभेद की विवक्षा से ऐसा कहा गया है। इनमें अर्थतः कोई अन्तर नहीं है।

'चित्तसामानाधिकरण्यं च धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षया द्रष्टव्यम्' ।[3]

यह वर्णन विज्ञानभिक्षु के मतानुसार पूर्ण 'एकाग्र' भूमि का और वाचस्पति मिश्र के अनुसार एकाग्र-भूमि की अन्तिम अवस्था का है। स्वरूपप्रतिष्ठम्—चित्तस्य यच्छुद्धं रूपं सत्त्वात्मकं तस्मिन् प्रतिष्ठा यस्य चित्तस्येति तथोक्तम्। अपने स्वरूप में स्थित।

'सत्त्वमात्रप्रतिष्ठम्' ।[4]

५. चितिशक्ति········असम्प्रज्ञातः—यह दोनों आचार्यों के मतानुसार चित्त की 'निरुद्धभूमि' का चित्रण है। चूँकि विवेकख्याति 'सत्त्व' नामक गुण का ही आकलन है, इसलिए योगी का चित्त उससे भी अन्ततः विरक्त होता है, पुरुष के निस्त्रैगुण्यरूप होने की प्रेरणा से। इसलिए विवेकख्याति के प्रति भी वह विरक्त हो जाता है और उस विवेकज्ञान का भी निरोध करता है। यह असम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है।

चितिशक्तिः अपरिणामिनी—पुरुष कूटस्थ नित्य है, क्योंकि उसमें परिणाम या परिवर्तन नहीं होता। इसीलिए उसे अपरिणामी कहा गया है, जबकि प्रकृति परिणामशील रूप से नित्य है। इसलिए प्रकृति परिणामिनित्य कही जाती है। परिणाम क्या है? **'पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः'** ।[5] किसी धर्मी के पहले वाले धर्मों के अतीतावस्थ हो जाने पर उसमें अन्य धर्मों का प्रकट होना ही परिणाम है।

अप्रतिसंक्रमा—**'प्रतिसङ्क्रमः-सञ्चार, स चितेनास्तीत्यर्थः'** ।[6] सकलप्रतिसंचरणरहिता, अर्थात् निष्क्रिया (Devoid of movement), जिस प्रकार बुद्धि विषयों के पास तक संचरण करती है वैसी क्रिया जिसमें नहीं है, वह चिति-शक्ति या पुरुष। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी अप्रतिसंक्रमा का यही अर्थ किया है। साथ ही एक अन्य अर्थ भी सुझाया है—'चितिशक्ति निर्लेप है'।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १४-१५।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४४६।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५।
४. द्रष्टव्य; भास्वती पृ० १४।
५. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १६।
६. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५।

'अथ वा नास्ति प्रतिसङ्क्रमः सङ्गो विषयेषु यस्या इत्यप्रतिसङ्क्रमा निर्लेपा इति यावद् ।'[1]

दर्शितविषया—दर्शिता विषया (बुद्धिस्थाः) यस्यै सा दर्शितविषया—वह तत्त्व जिसे (बुद्धिस्थ) सकल विषय (बुद्धि के द्वारा) दर्शित किये जाते हैं। **'दर्शितो विषयो शब्दादिर्यस्यै सा तथोक्ता, भवेदेतदेवं यदि बुद्धिवच्चितिशक्तिर्विषयाकारतामापद्येत, किन्तु बुद्धिरेव विषयाकारेण परिणता सती, अतदाकारायै चितिशक्त्यै विषयमादर्शयति; ततः पुरुषश्चेतयते इत्युच्यते'** ।[2]

शुद्धा—चिति शुद्ध 'ज्ञ' है। त्रिगुणात्मकता ही अशुद्धि मानी गई है। चूँकि प्रकृति सुखदुःखमोहात्मक इन्हीं त्रिगुणों से बनी हुई है, इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति को अशुद्धिमय माना जाता है। इन त्रिगुणों से रहित होने के कारण पुरुष या चिति को शुद्ध कहा गया है। 'सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिः······सेयमशुद्धिरन्तश्च चितिशक्तौ पुरुषे न स्त इत्यत उक्तं **'शुद्धा चानन्ता चेति ।'**—त० वै० पृ० १५।

अनन्ता—अन्तरहित या निस्सीम है। विज्ञानभिक्षु ने इसका अर्थ किया है 'पूर्ण'। इयञ्च सत्त्वगुणात्मिका विवेकख्यातिः अतो विपरीता इति—यह विवेकख्याति भले ही सर्वोच्च तत्त्वज्ञान हो किन्तु है चित्त-सत्त्व का ही परिणाम। इसलिए सत्त्वगुणरूप ही है। इसी कारण यह त्रिगुणात्मक अशुद्धि से युक्त, परिणामरूप और सान्त है। अतः इसे पुरुष से विपरीतस्वभावा या भिन्नरूपा कहा गया है। अतः—अस्याः चितेः, इस चिति के स्वरूप से। विपरीता—विपरीत या भिन्न स्वरूपवाली (यह विवेकख्याति) होती है।

अतः—इसलिए। तस्यां विरक्तम्—विवेकख्यात्यां विरक्तम्, विवेकख्याति के प्रति विरक्त (योगी का) चित्त। तामपि ख्यातिं निरुणद्धि—इस विवेकख्याति (रूप तत्त्वज्ञान) का भी निरोध करता है। तदवस्थं चित्तम्—सा अवस्था यस्य तत् तदवस्थं चित्तम्, उस पूर्णनिरोधावस्था वाला चित्त। संस्कारोपगं भवति—निरोधसंस्कारान् उपगच्छतीति तथोक्तं भवति, सम्पद्यते, निरोधसंस्कारमात्रावशिष्ट हो जाता है। स निर्बीजः समाधिः कथ्यत इति शेषः। वह निर्बीज समाधि कही जाती है (यही असम्प्रज्ञातनामक योग है)।

निर्बीजः—निर्गतं बीजं यस्मात् स तथोक्तः, बीजरहित। ये बीज कौन से हैं? जो इस असम्प्रज्ञातसमाधि के पहले की समाधियों में विद्यमान रहते हैं और इस समाधि में निःशेष हो जाते हैं। इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद है—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५।

(१) वाचस्पति मिश्र—**'क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगबीजं तस्मान्निर्गत इति निर्बीजः'** ।[1]

इस व्याख्या के अनुसार पाँचों क्लेशों सहित कर्माशय अर्थात् कर्म-संस्कार ही जन्म, आयु और भोग रूपी संसार के बीज या कारण हैं। इन संस्कारों से रहित समाधि (असम्प्रज्ञातसमाधि) ही निर्बीज कही जाती है।

(२) भोजराज—**'सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद्या या संस्कारमात्राद् वृत्तिरुदेति तस्यास्तस्या नेति नेतीति केवलं पर्युदसनान्निर्बीजः समाधिः'** ।[2]

इसके अनुसार चित्त की सभी वृत्तियों के प्रकृति में विलीन हो जाने के कारण संस्कारमात्र से जो-जो वृत्ति उत्पन्न होने को आती है, उसका-उसका 'नहीं', 'नहीं' इस प्रकार से केवल निषेध होता चलता है। केवल निषेधरूपता के कारण इस समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं।

(३) विज्ञानभिक्षु—**'असम्प्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञानजन्यपर्यन्तस्याशेषतो दाहान्निर्बीजसंज्ञा तस्येति भावः'** ।[3]

इस वार्तिक के अनुसार असम्प्रज्ञातयोग में चित्त के बीजभूत तत्त्वज्ञानजन्य संस्कारपर्यन्त सकल संस्कारों का पूर्णतया दाह हो जाने से इस समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं।

(४) हरिहरानन्दारण्य—**'ध्येयविषयरूपस्य बीजस्याभावात् निरोधः समाधिर्निर्बीज इत्युच्यते'** ।[4]

इस टीका के अनुसार ध्येयविषय ही बीज है। निरोधसमाधि में कोई भी ध्येय-या आलम्बन नहीं रहता। इसलिए इसे निर्बीजसमाधि कहते हैं।

निर्णय—तत्त्ववैशारदी के अनुसार क्लेशसहित कर्माशय या कर्मसंस्कार यहाँ पर 'बीज' शब्द से अभिप्रेत है। इनका निर्गमन इस समाधि में हो जाता है। इसलिए इस समाधि को निर्बीज कहते हैं। यह मत इसलिए उचित है कि क्लेशसहित कर्माशय-संस्कार संप्रज्ञातसमाधि में केवल दग्धबीजभावता को प्राप्त होते हैं; सर्वथा निकल नहीं जाते और इस असम्प्रज्ञात समाधि में इनका सर्वथा निर्मूलन हो जाता है। भोजराज का मत वृत्तियों को ही बीज मानता प्रतीत होता है। उनका सर्वथा निषेध होने से इस समाधि को निर्बीजता प्राप्त होती है। वार्तिकमतानुसार सभी संस्कार बीज हैं। सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्य संस्कार तो नष्ट हो जाते हैं या दग्ध हो

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १७।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २७।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७।

४. द्रष्टव्य; भास्वती पृ० १७।

जाते हैं, किन्तु ज्ञानसंस्कार और अधिक सबल हो जाते हैं, इसलिए उसे सबीज कहते हैं। किन्तु असम्प्रज्ञातसमाधि में चित के बीजभूत इन सभी संस्कारों का विलय हो जाता है, इसलिए इसकी निर्बीज संज्ञा उत्पन्न होती है। भास्वतीटीका ध्येयविषय को ही बीज मानती है। इसके अनुसार ध्यान का आलम्बन ही बीज है। इसका अभाव होने से असम्प्रज्ञात के लिए 'निर्बीज' नाम उपपन्न है।

तात्पर्य यह है कि तत्त्ववैशारदीकार की दृष्टि में निरोधसमाधि में कर्माशय—संस्कार-रूप 'संसार के बीज' का अभाव होता है। रा० मा० वृ० के अनुसार वृत्ति-रूपी 'चित्त के बीज' का अभाव होता है। वार्त्तिक के अनुसार ज्ञानसंस्कारमात्र रूप 'चित्त के बीज' का अभाव होता है। सम्प्रज्ञात-समाधि की 'सबीज' संज्ञा के परिप्रेक्ष्य में भास्वतीकार का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है ॥ २ ॥

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभावः ? इति—

चित्त के इस अवस्था में रहने पर विषयों का अभाव होने के कारण बुद्धि का ही प्रतिसंवेदन करने वाला पुरुष किस स्वरूप का रहता है ? इस विषय में यह सूत्र है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

उस समय द्रष्टा (पुरुष) की अपने स्वरूप में स्थिति होती है ॥ ३ ॥

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये। व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा ॥ ३ ॥

उस (असम्प्रज्ञातयोग की) अवस्था में पुरुष अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, जैसा कि (वह) कैवल्य दशा में (रहता है)। (चित्त के) व्युत्थान-काल में तो अपने रूप में प्रतिष्ठित होने पर भी पुरुष अपने रूप का नहीं प्रतीत होता ॥ ३ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तदवस्थे चेतसि—सा अवस्था (निरोध-संस्कारमात्रावशिष्टा-वस्था) यस्य तत् तस्मिन् तदवस्थे चित्ते। चित्त के उस अवस्था वाले हो जाने पर (भावे सप्तमी)।

विषयाभावाद्—ध्येयविषय के न रहने के कारण। **'न बुद्धिमात्रं पुरुषस्य विषयोऽपितु पुरुषार्थवती बुद्धिः विवेकख्यातिविषयभोगौ च पुरुषार्थौ तौ च निरुद्धा-वस्थायां न स्त इति सिद्धो विषयाभावः'।**[1]

बुद्धिबोधात्मा पुरुषः—बुद्धि के ज्ञान का प्रतिबिम्बग्राही या प्रतिसंवेदनकारी पुरुषतत्त्व।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८।

किंस्वभावः—चूंकि पुरुष बुद्धि के बोध या ज्ञान का ही प्रतिसंवेदन करता है, अन्य वस्तु का नहीं, इसलिए जब बुद्धि सर्ववृत्तिशून्य हो जाती है, कोई संवेदन या ज्ञान नहीं करती अर्थात् किसी का प्रतिबिम्ब नहीं ग्रहण करती, उस दशा में पुरुष का क्या रूप होता है? उस समय पुरुष की सत्ता किस प्रकार की होती है? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र में दिया गया है।

(सू० सि०)—तदा—उस समय। द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्—पुरुष की स्थिति अपने रूप में होती है। वह केवल अपने (चिन्मात्र) रूप में प्रतिष्ठित रहता है। वह किसी भी पदार्थ का प्रतिसंवेदन उस दशा में नहीं करता। **'तदाऽसम्प्रज्ञातकाले द्रष्टुः चितिशक्तेः पुरुषस्य स्वरूपे निर्विषयचैतन्यमात्रेऽवस्थानमित्यर्थः।'**[1]

(भा० सि०)—तदानीम्—असम्प्रज्ञातसिद्धिकाले, **'निरोधावस्थायाम्'**।[2]

चितिशक्तिः—पुरुष-तत्त्व। चितिरेव शक्तिः इति चितिशक्तिः, चितितत्त्व।

स्वरूपप्रतिष्ठा—स्वस्य रूपे निर्विषयचैतन्यमात्रे प्रतिष्ठा स्थितिः यस्याः सा। अपने चैतन्यमात्र रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है, रहती है। **'तदाऽसम्प्रज्ञातयोग-काले द्रष्टुः चितिशक्तेः पुरुषस्य स्वरूपे निर्विषयचैतन्यमात्रेऽवस्थानमित्यर्थः'**।[3]

यथा कैवल्ये—जैसे कैवल्य में। यहाँ पर कैवल्य को दृष्टान्त रूप में रखकर भाष्यकार ने उस काल के पुरुष-स्वरूप का भी वर्णन कर दिया है। जब असम्प्रज्ञात-समाधि सर्वथा सुदृढ हो जाती है अर्थात् व्युत्थान की सारी संभावना निर्मूल हो जाती है, तब उस चरमकोटिक अर्थात् पराकाष्ठाप्राप्त असम्प्रज्ञातकाल में चित्त अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाता है और योगी को तत्काल विदेहकैवल्य हो जाता है।[4]

व्युत्थानचित्ते तु सति—असम्प्रज्ञात के सन्दर्भ में सम्प्रज्ञातसमाधि को भी व्युत्थान ही कहा गया है। इसलिए 'व्युत्थानकाल' से सम्प्रज्ञातसमाधिकाल और उसके पूर्व के समस्त काल का ग्रहण करना चाहिए। **'निरोधसमाधिमपेक्ष्य सम्प्र-ज्ञातोऽपि व्युत्थानमेव'**।[5]

व्युत्थानचित्ते—व्युत्थाने यादृशं चित्तमिति व्युत्थानचित्तं, तस्मिन् अर्थात् चित्ते व्युत्थिते सति। चित्त के व्युत्थानदशापन्न रहने पर। 'तु' शब्द पूर्वप्रसङ्ग की

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८।

४. 'क्रमेण चरमासम्प्रज्ञातेऽशेषसंस्कारक्षयात् चित्तेन सह वृत्तीनामात्यन्तिकनिरोधे सत्यात्यन्तिकं स्वरूपावस्थानं मोक्षाख्यमिति।'—त० वै० पृ० १९।

५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १९।

विपरीतता का बोध कराता है। तात्पर्य यह है कि असम्प्रज्ञातकाल एवं कैवल्यदशा से विपरीत व्युत्थितचित्तता की अवस्था में।

तथापि भवन्ती—तेनैव प्रकारेण, तेनैव रूपेण भवन्ती, वर्तमाना, विद्यमाना। ठीक उसी रूप में रहती हुई भी चितिशक्ति। अपने रूप को (कूटस्थ नित्य होने के कारण) परिवर्तित न करके रहती हुई भी यह चितिशक्ति।

'न जातु कूटस्थनित्या चितिशक्तिः स्वरूपाच्च्यवते, तेन यथा निरोधे तथैव व्युत्थानेऽपि'।[1]

न तथा—'न तेनैव रूपेण प्रकाशत इति शेषः।' (उसी रूप में रहती हुई भी) वैसी प्रकाशित या प्रतीत नहीं होती। बुद्धिसान्निध्य के कारण बुद्धिस्थज्ञान के प्रतिबिम्ब का अभिमान या उपराग उसमें होता है। इसलिए वह बुद्धिवृत्तियों के आकार से भासित होती है। यही बात अगले सूत्र में प्रकट की गई है।

इस सूत्र में आये हुए 'तदा' शब्द का विशिष्ट अभिप्राय—

यद्यपि क्षिप्तादि भूमियों में समाधि होती है, तथापि उन्हें योग नहीं माना जाता। ऐसा क्यों? जबकि योग और समाधि दोनों का लक्षण 'चित्तवृत्तिनिरोध' है। इस शङ्का का समाधान करने के लिए सूत्रकार के द्वारा तृतीयसूत्र के आदि में पठित 'तदा' शब्द बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। द्वितीय और तृतीय सूत्र को साथ पढ़ने पर स्पष्ट पता चल जाता है कि 'योग' ऐसा चित्तवृत्ति-निरोध है कि उसके होने पर द्रष्टा अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह अर्थ 'तदा' के द्वारा ही ज्ञापित होता है। यह कहा जा चुका है कि 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' समाधियों में ही ऐसा चित्तवृत्तिनिरोध होता है, जिससे कि द्रष्टा की स्वरूपमात्र में प्रतिष्ठा होती है। 'असम्प्रज्ञात' में हम यह बात बता ही चुके हैं। 'सम्प्रज्ञात' समाधि की द्रष्टृस्वरूपावस्थितिकारकता इस प्रकार है कि सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाने पर जीवन्मुक्ति हो जाती है, केवल देहपात का विलम्ब रहता है। किन्तु उस स्थिति के हो जाने पर लौकिक क्लेशयुक्तता की ओर योगी का पतन नहीं होता और स्वतः क्रमिकभोग से प्रारब्धसंस्कारक्षय होते ही द्रष्टा की स्वरूपप्रतिष्ठा हो जाती है। क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियों की समाधियों से द्रष्टा की स्वरूपप्रतिष्ठा निश्चित नहीं होती, इसलिए वे समाधियाँ योग नहीं कही जातीं। इस तथ्य को प्रस्तुत करते हुए विज्ञानभिक्षु ने कहा है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति वक्ष्यमाणसूत्रसाहित्येनैवास्य लक्षणत्वात्, तथा च द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधः क्षिप्ताद्यवस्थासु नास्तीति नातिव्याप्तिः सम्प्रज्ञातस्य च स्वरूपावस्थितिहेतुत्वमसम्प्रज्ञातद्वाराऽस्त्येवेति'।[1]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १९।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि चितिशक्ति, अपरिणामिनी होने के कारण रूपपरिवर्तन नहीं करती। असम्प्रज्ञातकाल तथा कैवल्यदशा में वह जैसी रहती है, व्युत्थानकाल में वैसी ही रहती हुई भी वैसी प्रतीत नहीं होती। तो फिर व्युत्थानकाल में (यह चितिशक्ति) किस रूप की प्रतीत होती है? इसका उत्तर अगले सूत्र 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' में दिया गया है ॥ ३ ॥

कथं तर्हि? दर्शितविषयत्वाद्—

तो फिर किस रूप की (प्रकाशित) होती है? (इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हेतु दिया जा रहा है कि) बुद्धि के द्वारा दिखाए गए विषयों का प्रतिसंवेदी होने के कारण—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

अन्य दशाओं (व्युत्थानकाल) में चित्तवृत्तियों के समान रूपवाली प्रतीत होती है ॥ ४ ॥ ॥

व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। तथा च सूत्रम्—'एकमेव दर्शनं, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति। चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः। तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः ॥ ॥ ४ ॥

व्युत्थानकाल में जिस प्रकार की चित्तवृत्तियाँ बनती हैं, पुरुष भी (उस समय) उसी प्रकार से स्थित (प्रतीत) होता है। और इस आशय का एक (पञ्चशिखाचार्य का) सूत्र भी है—

(पुरुष और बुद्धि दोनों का) दर्शन एक ही रूप का होता है और यह दर्शन बुद्धिवृत्तियों के रूप का ही (होता) है।

चित्त (अर्थात् बुद्धि) चुम्बक के समान सन्निहित मात्र होकर उपकार करता है (अर्थात् पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर) पुरुषरूपी स्वामी का दृश्य होता हुआ उसका स्व अर्थात् धन बनता है। इसलिए पुरुष को जो चित्तवृत्तिज्ञान (या बुद्धिप्रतिसंवेदन) होता है, उसमें पुरुष (और बुद्धि) का अनादि सम्बन्ध ही कारण है ॥ ४ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—दर्शितविषयत्वात्—दर्शिताः (बुद्ध्या) विषयाः यस्यै सा दर्शितविषया (चितिः), तस्याः भावः दर्शितविषयत्वम्, तस्मात् तथोक्तात्, बुद्धि के द्वारा दिखाये गये विषयों (का प्रतिसंवेदन करने) वाली होने के कारण इस चिति (अर्थात् पुरुष) की—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२।

(सू० सि०)—वृत्तिसारूप्यम् (भवतीति शेषः)—(बुद्धेः) वृत्तिभिः (सह) सारूप्यम् (समानरूपत्वम्) इति वृत्तिसारूप्यम्, चित्तवृत्तियों के साथ समानरूपता होती है अर्थात् (विषयों के अनुसार) वृत्तियाँ जिस-जिस रूप की बनती जाती हैं, उसी रूप के समान रूप वाली यह चितिशक्ति भी प्रतीत होती रहती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि चितिशक्ति की प्रतीति ही तत्तद्रूप से होती है, वस्तुतः चितिशक्ति का रूप-परिवर्तन बिल्कुल नहीं होता। बुद्धिवृत्तियाँ विषयाकाराकारित होती हैं, अतः विषय-भेद से विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति का रूप भी बदलता रहता है। अब बुद्धिवृत्ति का जो रूप होता जाता है, उस-उस वृत्तिरूप की अभिमानिनी या प्रतिसंवेदिनी कूटस्थ-नित्य चितिशक्ति भी उस-उस परिवर्तित रूप में प्रकाशित होती रहती है। जैसे—घट का ज्ञान करती हुई बुद्धिवृति घटाकाराकारित होती है और पट का ज्ञान करती हुई पटाकाराकारित। अब घटरूपा वृत्ति के अभिमान (या उपराग) वाली यह चितिशक्ति भी 'घटज्ञानवती (अहम्'), 'पटज्ञानवती (अहम्')—इस प्रकार से बदलते हुए रूपों वाली प्रतीत होती है। इस प्रकार के वृत्त्यभिमान, या वृत्त्युपराग को ही चितिशक्ति में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्बन कहते हैं। यही चितिशक्ति का प्रति-संवेदन कहलाता है। इतरत्र—अन्यत्र, व्युत्थानकाल में।

'बुद्ध्या निवेदितविषयत्वादित्यर्थः, निवेदनञ्च स्वारूढविषयस्य प्रतिबिम्बरूपेण चित्याधानम्'।[1]

(भा० सि०)—तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः—यहाँ 'तत्' शब्द से बुद्धिवृत्ति का परामर्श जानना चाहिए। अतः (बुद्धिवृत्तिभिः) ताभिः अविशिष्टा (अभिन्ना, समाना वा) वृत्तिर्यस्य तादृशः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः अर्थात् पुरुष बुद्धिवृत्ति के समान वृत्ति (प्रतीयमान स्थिति) वाला प्रतीत होता है।

'ताभिरविशिष्टा अविलक्षणवृत्तयो यस्य पुरुषस्य स तथा'।[2]

तथा च सूत्रम्—और इसी अर्थ को प्रकट करनेवाला 'पञ्चशिखाचार्य' का यह सूत्र भी है—

'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।'—(व्युत्थानकाल में) पुरुष और बुद्धि का एक जैसा ही दर्शन या प्रकाशन होता है, अर्थात् दोनों की प्रतीति एक ही रूप से होती है। और यह प्रकाशन बुद्धिवृत्ति के रूप का ही होता है। इस प्रकार दोनों एक ही रूप के दिखायी पड़ते हैं। यह दिखायी पड़नेवाला रूप बुद्धिवृत्तियों का रूप होता है? अथवा पुरुष का? अथवा अन्य किसी का? इसका उत्तर इस सूत्र के

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २०।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २०।

उत्तरार्द्ध में है कि यह रूप ख्यातिवाला ही रूप है, अर्थात् यह बुद्धिवृत्तियों का ही रूप है।

अयमभिप्रायः—व्युत्थानकाले पुरुषबुद्धिवृत्त्योः प्रकाशनं समानाकारमेकाकारमेव भवति। भवत्यत्र विचिकित्सा—कथं पुरुषाकारेण बुद्धिप्रकाशनं भवति? किं वा बुद्धिवृत्त्याकारेण पुरुषस्य प्रकाशनमाहोस्विदुभयोरपि प्रकाशनमन्यस्य कस्यचिद्वस्तुनः रूपेण भवतीत्यत्र सूत्रस्योत्तरार्द्धः। यथा—तच्च प्रकाशनं बुद्धिवृत्तिरूपेण ख्यात्याख्येनैव भवति।

अभिप्राय यह है कि—व्युत्थानकाल में पुरुष और बुद्धिवृत्ति का प्रकाशन समान आकारवाला अर्थात् एक ही आकारवाला होता है। यहाँ सन्देह होता है कि क्या पुरुष के आकार से बुद्धि का प्रकाशन होता है? या बुद्धिवृत्ति के आकार से पुरुष का प्रकाशन होता है, या दोनों का ही प्रकाशन किसी अन्य वस्तु के रूप (आकार) से होता है? इस विषय में सूत्र का उत्तरार्द्ध है कि यह प्रकाशन बुद्धिवृत्ति के रूप से अर्थात् ख्याति के रूप से ही होता है।

ख्यातिः— बुद्धिवृत्तिः। बुद्धिवृत्ति को 'ख्याति' कहा जाता है। इस सूत्र का अनुवाद 'जे० एच० वुड्स' ने इस प्रकार किया है— (There is only one appearance and that appearance is knowledge.)

अर्थात् दोनों का केवल एक (प्रकार का) प्रकाशन (अभिव्यक्ति) होता है और वह प्रकाशन है (वृत्ति या) ज्ञान (के रूप का)।

अब पुरुष के (व्युत्थानकालिक) इस वृत्तिसारूप्य का कारण बताते हुए भाष्यकार कहते हैं—

चित्तमयस्कान्तमणिकल्पम्—चित्त चुम्बक के समान होता है। चुम्बक को संस्कृतभाषा में 'अयस्कान्तमणि' कहते हैं। 'अयस्' लोहे को कहते हैं और 'कान्त' का अर्थ होता है—अत्यन्तप्रिय। हम जानते हैं कि चुम्बक लोहे को अत्यन्त प्रिय होता है। तभी तो चुम्बक की सन्निधि में आते ही लोहा उसकी ओर खिंचता है। निकटस्थ होते ही लोहे पर प्रभाव डालने के कारण अयस्कान्तमणि यहाँ पर चित्त के उपमान के रूप में स्वीकार किया गया है। चित्त भी सन्निहितमात्र होने पर पुरुष में (वस्तुतः कोई प्रभाव न डालने पर भी) 'अन्यरूप से प्रतीत होने' का प्रभाव डालता है।

अयस्कान्तमणिकल्पम्—'कल्पप्' प्रत्यय 'ईषदूनत्व' अर्थात् 'सादृश्य' के अर्थ में होता है। सन्निधिमात्रोपकारि—चित्त सन्निधिमात्र होने पर ही पुरुष का प्रतिसंवेदन या वृत्त्यभिमानरूप उपकार करने वाला होता है।

यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि यह कोई वास्तविक सन्निधि नहीं है। यह किसी देश या काल में होती हुई नहीं समझी जानी चाहिए। दोनों की सन्निधि की योग्यता की दृष्टि से यह एक अनुमेय स्थितिमात्र है। वाचस्पतिमिश्र ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'न पुरुषसंयुक्तं चित्तमपितु तत्सन्निहितं, सन्निधिश्च पुरुषस्य न देशतः कालतो वा तदसंयोगात्, किन्तु योग्यतालक्षणः, अस्ति च पुरुषस्य भोक्तृशक्तिश्चित्तस्य च भोग्यशक्तिस्तदुक्तं दृश्यत्वेनेति'।[1]

'सान्निध्यमत्रैकप्रत्ययगतत्वं, न च दैशिकं सान्निध्यं देशकालातीतत्वात् पुरुषस्य प्रधानस्य च'।[2]

दृश्यत्वेन—पुरुष का दृश्य बनने के कारण यह चित्त पुरुषरूपी स्वामी का स्व अर्थात् धन कहा जाता है और इसी दृश्य अर्थात् चित्तरूपी धन का अधिपति होने के कारण पुरुष को यहाँ स्वामी कहा गया है। पुरुष, चैतन्य, चिति, चितिशक्ति—ये पर्यायवाची शब्द हैं और शुद्ध 'आत्मतत्त्व' के बोधक हैं।

तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिसम्बन्धो हेतुः—इसलिए चित्त का जो बोध पुरुष को होता है, उसमें पुरुष का बुद्धि के साथ अनादिकालिक 'सन्निधि'-रूप सम्बन्ध ही कारण है। यदि आदिकाल से पुरुष का बुद्धि के साथ यह 'सन्निधि'-रूप सम्बन्ध न होता तो पुरुष को चित्तवृत्ति का प्रतिसंवेदनरूप बोध हरगिज न होता ॥४॥

ताः पुर्नानिरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य—

निरोध करने योग्य वे (चित्तवृत्तियाँ) बहुत होने पर भी—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

(चित्त की) पाँच प्रकार की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं ॥ ५ ॥

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचय[3] क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः, क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते, संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते। तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति। ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः॥५॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २१।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० २३।

३. 'कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः' इति पाठान्तरम्।

(अविद्यादि पाँचो) क्लेशों से उत्पन्न होनेवाली तथा कर्मसंस्कारसमूह को उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ क्लिष्ट और विवेकख्यातिविषयक गुणों के कार्य की विरोधिनी वृत्तियाँ अक्लिष्ट (कहलाती) हैं, (ये वृत्तियाँ) क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह में पड़ी हुई (होने पर भी) अक्लिष्ट ही रहती हैं। (अर्थात्) क्लिष्टवृत्तियों के विरोधी अवसरों (अर्थात् अभ्यासवैराग्य की दशा) में स्थित होने पर अक्लिष्ट ही रहती हैं (क्लिष्ट नहीं हो जातीं)। (इसी प्रकार) अक्लिष्टवृत्तियों के (प्रवाह में) विरोधी अवसरों (अर्थात् विक्षेपादि की दशा) में स्थित क्लिष्टवृत्तियाँ भी क्लिष्ट ही होती हैं (अक्लिष्ट नहीं हो जातीं)। (तात्पर्य यह कि ये अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होतीं, चाहे जितना अपनी विरोधी वृत्तियों से घिरी हों)। इस प्रकार के (क्लिष्टाक्लिष्ट) संस्कार वृत्तियों से उत्पन्न किये जाते हैं और (उन) संस्कारों से (फिर वैसी ही) वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से वृत्ति और संस्कार का चक्र (चित्त में) सदैव चलता रहता है। इसलिए यह चित्त (जब) कृतकृत्य हो जाता है, तब (त्रैगुण्यशून्यताजन्य निर्दुःखता के कारण) चितिशक्ति के समान (गुणातीत जैसा) रह जाता है या फिर (अव्यक्त में) लीन हो जाता है। ये क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं ॥ ५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०) मनुष्य का चित्त जिन-जिन स्थितियों में रहता है, उन्हीं को चित्त की वृत्तियाँ कहना चाहिए। वर्ततेऽनया (रीत्या) इति करणे 'क्तिन्'। √वृत् धातोः क्तिन् प्रत्ययः। इसलिए चित्त की अनेक, असंख्य वृत्तियाँ होती हैं। किन्तु प्रकार की दृष्टि से इनका यहाँ विभाजन किया गया है कि वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। वृत्तयः पञ्चतय्यः—पञ्च+तयप् ('संख्याया अवयवे तयप्'[1]) + ङीप्। वृत्तियाँ पाँच अवयवों वाली होती हैं। अवयव का अर्थ है—विभाग या लक्षण या प्रकार। क्लिष्टाः अक्लिष्टाः— क्लेश वाली और क्लेशरहित होती हैं। इनका अर्थ भाष्यकार ने आगे स्पष्ट किया है—

(भा० सि०) क्लेशहेतुकाः…क्लिष्टाः—क्लेशः हेतुर्यासां ताः क्लेशहेतुकाः, क्लेशमूलाः अर्थात् क्लेशसंस्काराज्जायमानाः। क्लेश-संस्कारों से बननेवाली वृत्तियाँ कर्माशय नामक संस्कारों के प्रचय अर्थात् समूह के लिए क्षेत्र बननेवाली अर्थात् उनको उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट कही जाती हैं। क्लिष्टं क्लेशः अस्ति आसामिति क्लिष्टाः, क्लिष्ट + मत्वर्थीयोऽच् + टाप्, बहुवचनान्तरूपम् 'क्लिष्टा' इति।

'क्लेशाः अस्मितादयो हेतवः प्रवृत्तिकारणं यासां वृत्तीनां तास्तथोक्ताः'।[2]

---

१. द्रष्टव्य; पा० सू० ५।२।४२।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २५।

'क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराक्रान्ताः क्लिष्टाः; तद्विपरीता अक्लिष्टाः' ।[१]

इस प्रकार से क्लेशकारणक अतएव क्लेशयुक्त वृत्तियाँ 'क्लिष्टाः' कही गयी हैं। इनसे कर्माशय संस्कारों के समूह उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन्हें 'कर्माशय-प्रचयक्षेत्री-भूताः' कहा गया है। आ समन्तात् शेरत इति आशयाः संस्काराः। कर्म के संस्कारों के। प्रचयः–समूहः, राशिः, (कर्मसंस्कार-) समूह। क्षेत्रीभूताः—खेत या उत्पत्ति-स्थली बनने वाली अर्थात् कर्मसंस्कार-समूहों को उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ क्लिष्ट-वृत्तियाँ कही जाती हैं।

ख्यातिविषया···अक्लिष्टाः—अब अक्लिष्टवृत्तियों का वर्णन करते हैं कि विवेक-ख्याति को विषय बनाने वाली अर्थात् विवेकख्यातिविषयिणी (वृत्तियाँ) तथा गुणा-धिकार की विरोधिनी अर्थात् गुणों के कार्य को रोकने वाली वृत्तियाँ अक्लिष्ट कही जाती हैं। गुणों का अधिकार है, गुणों की कार्य-कारिता।

'कार्यारम्भणं हि गुणानामधिकारो विवेकख्यातिपर्यवसानं च तदिति चरिता-धिकाराणां गुणानामधिकारं निरुन्धन्तीत्यतस्ता अक्लिष्टाः प्रमाणप्रभृतयो वृत्तयः ।'[२]

क्लिष्टप्रवाह···अक्लिष्टाः—क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह में पड़ने पर भी ये अक्लिष्ट-वृत्तियाँ अक्लिष्ट ही रहती हैं, क्लिष्ट नहीं हो जाती। इसका आशय यह है कि विपरीत धारा में पड़ने पर भी अक्लिष्टवृत्तियाँ विरुद्ध-संसर्ग से प्रभावित नहीं होतीं और अपनी अक्लिष्टरूपता को अक्षुण्ण बनाए रखती हैं। इसी पङ्क्ति को अधिक स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार कहते हैं कि—

क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति—यदि क्लिष्टवृत्तियों के बीच में अक्लिष्ट-वृत्तियों की स्थिति संभव न हो तो फिर कभी अक्लिष्टवृत्तियों का उदय ही नहीं हो सकता, क्योंकि अनादिकाल से प्रत्येक प्राणी क्लेशयुक्त वृत्तियों वाला ही रहता है। उसका चित्त क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह के रूप में ही रहता है। इस क्लिष्टवृत्तिप्रवाह में यदि अक्लिष्टवृत्ति का उदय और उसकी अलग सत्ता न स्वीकार की जाय तो फिर अक्लिष्टवृत्तियों के अभाव में अभ्यास, वैराग्य और विवेकख्याति सब असम्भव होंगे; और किसी को कभी भी मोक्ष की सम्भावना नहीं हो सकती। इसलिए भाष्यकार ने इस स्थिति को सुलझाते हुए कहा है कि—'क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह में भी अक्लिष्टवृत्तियों की स्थिति होती है और अक्लिष्टवृत्तियों के स्वरूप में क्लिष्टरूपता का सम्पर्क नहीं होता।'

अब प्रश्न यह उठता है कि क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह में अक्लिष्टवृत्तियों की सत्ता के लिए अवकाश या अवसर कब मिलता है? इसका उत्तर देते हैं कि—

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २५।

क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाहकाल में जो क्लिष्टच्छिद्र होते हैं, अर्थात् क्लिष्टवृत्तियों के विरोधी-स्थल (अर्थात् 'अभ्यास और वैराग्य) होते हैं, उनके अन्तर्गत अक्लिष्ट-वृत्तियों का उदय होता है, उनकी स्थिति रहती है। साथ ही वे अपने अक्लिष्टरूप में अक्षुण्ण बनी रहती हैं।

क्लिष्टच्छिद्रेषु—क्लिष्टायाः वृत्तेः छिद्राणि विरोधीनि स्थलानि अभ्यासवैराग्य-रूपाणि, क्लिष्टवृत्तियों के सर्वथा विरोधी अवसर ही क्लिष्टच्छिद्र हैं। अभ्यास और वैराग्य ही क्लिष्टच्छिद्र कहे गये हैं।

'आगमानुमानाचार्योपदेशपरिशीलनलब्धजन्मनी अभ्यासवैराग्ये क्लिष्टच्छिद्र-मन्तरं, तत्र पतिता स्वयमक्लिष्टा एव यद्यपि क्लिष्टप्रवाहपतिताः, न खलु शालग्रामे किरातशतसङ्कीर्णे प्रतिवसन्नपि ब्राह्मणः किरातो भवति'।[1]

अक्लिष्ट···क्लिष्टा इति—इसी प्रकार अक्लिष्टवृत्तियों के छिद्ररूप विरोधी अवसर होते हैं विक्षेप। उनमें उदित और स्थित होने वाली क्लिष्टवृत्तियाँ भी अपने क्लिष्ट स्वरूप को सँजोए हुए स्थित रहती हैं। यदि ऐसा न हो तो समाधियों से किसी का व्युत्थान हो ही नहीं सकता।

'एवमक्लिष्टच्छिद्रेष्वपि क्लिष्टाः क्लिष्टशब्देन गृहीता इत्यर्थः'।[2]

तथाजातीयकाः—तत्प्रकारकाः संस्काराः। **'क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीयाः वा संस्काराः'।**[3]

क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों से क्रमशः क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकार के संस्कार उत्पन्न किये जाते हैं और फिर उन संस्कारों से तत्तज्जातीय वृत्तियाँ बनती हैं। संस्कारों से उसी प्रकार की वृत्तियाँ बनती हैं, जिस प्रकार की वृत्तियों से वे संस्कार बने थे। इस विषय में भाष्य में आगे भी कहा गया है—

'स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव स्मृतिं जनयति।'[4]

इत्येवमादि—इत्यनेन प्रकारेण, इस प्रकार से। वृत्तिसंस्कारचक्रम्—वृत्ति और संस्कारों का (चक्र) चक्कर। अनिशम्—निरन्तरम् (अविद्यमाना निशा विरामः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा)। आवर्तते—आवृत्त होता रहता है, चलता रहता है।

तदेवम्भूतं चित्तम्—इसलिए इस प्रकार का (जिसमें संस्कार और वृत्ति का चक्र निरन्तर चलता रहता है) यह चित्त। अवसिताधिकारं (सत्)—अवसितः

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २६।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० २६।

४. द्रष्टव्य; यो० भा० पृ० ४२।

(समाप्तः) अधिकारः (कार्यवृत्तिरूपः) यस्य तत् तथोक्तम्, कृतकार्य अर्थात् समाप्ताधिकार होकर अर्थात् जिसके कार्य पूरे हो चुके हैं, ऐसा होकर । आत्मकल्पेन व्यवतिष्ठते—निर्दुःखत्वादिना आत्मनः पुरुषस्य तुल्यतया वर्तते **'कल्पबादीनां फलतस्तुल्यत्वे पर्यवसानात्'** ।[१] दुःखमोहादिशून्य होने के कारण गुणातीतपुरुष जैसा रह जाता है । (यह जीवन्मुक्तावस्था के चित्त का वर्णन है) ।

प्रलयं वा गच्छतीति—या फिर (अव्यक्त प्रकृति में अर्थात् अपने मूलकारण में) उसका लय हो जाता है । (इसी दशा का नाम कैवल्य है) । **'विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ।'**[२] ताः क्लिष्टाश्चेत्यादि—वे क्लिट और अक्लिष्टवृत्तियाँ कुल पाँच प्रकार की होती हैं । वृत्ति के ये पाँचों भेद अगले सूत्र में बताए जाएँगे ॥ ५ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (इन पाँच प्रकारों की वृत्तियाँ होती हैं ॥ ६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—प्रमाणं, विपर्ययः, विकल्पः, निद्रा, स्मृतिश्चेति तथोक्ताः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । इन पाँच प्रकारों की वृत्तियाँ होती हैं । इनसे भिन्न प्रकार की और कोई वृत्ति नहीं होती । **'एतावत्य एव वृत्तयो नापराः सन्तीति दर्शितं भवति'**[3] ॥ ६ ॥

तत्र—

इन पाँच प्रकार की वृत्तियों में (से)—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (ये तीन) प्रमाण (वृत्तियाँ) हैं ॥ ७ ॥

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः । बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः । अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्, यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिम-

---

१. द्रष्टव्य; दामोदरगोस्वामीकृतटिप्पणी पृ० २६ ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७ ।

च्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः। आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते। शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥ ७ ॥

इन्द्रिय (रूपी) नलिका के द्वारा चित्त के बाह्यवस्तु से सम्पर्क होने के कारण तद्विषयिणी, सामान्यविशेषात्मकपदार्थ के विशेष (अंश) का प्रधानतया अवधारण करने वाली चित्तवृत्ति प्रत्यक्षप्रमाण (कही जाती) हैं। उस (प्रमाण) के समान रूप वाला पौरुषेय (चित्तवृत्ति का) बोध ही (इस प्रमाण का) फल है (अर्थात् यही प्रमा है)। पुरुष, बुद्धि (कृत संवेदन) का प्रतिसंवेदन करनेवाला होता है—इसे आगे सिद्ध करेंगे।

अनुमेय (अर्थात् साध्यविशिष्ट पक्ष) के सजातीयों (अर्थात् सपक्षों) में रहनेवाला और (उसके) विजातीयों (अर्थात् विपक्षों) में न रहनेवाला जो सम्बन्धी (अर्थात् लिङ्ग) है, तन्मूलक (अर्थात् उसके ज्ञान से उत्पन्न होने वाली) और (पदार्थ के) सामान्य (अंश) का मुख्य रूप से ग्रहण करने वाली चित्तवृत्ति अनुमान (कहलाती) है। जैसे—

चन्द्रमा और तारे गतिमान् हैं, भिन्न-भिन्न देशों में पहुँचने के कारण। जो-जो भिन्न देशों में पहुँचता रहता है, वह-वह गतिमान् होता है; जैसे—चैत्र। जो-जो गतिमान् नहीं होता, वह-वह भिन्न देशों में नहीं पहुँचता; जैसे—विन्ध्य-पर्वत।

आप्तपुरुष के द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित अर्थ का—जब दूसरे व्यक्तियों में अपना ज्ञान संक्रमित करने के लिए—शब्दों से उपदेश किया जाता है, तो वहाँ शब्दों के सुनने से उस (अभिधीयमान) पदार्थ के विषय में सुननेवाले की जो चित्तवृत्ति बनती है—वह आगम (कहलाती) है। जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेय बात कहने वाला तथा (अभिधीयमान) पदार्थ का प्रत्यक्ष या अनुमान न कर सकने वाला हो, वह आगम भ्रष्ट (अप्रामाणिक) होता है। मूलवक्ता के दृष्टानुमितार्थ होने पर आगम निर्भ्रान्त होता है ॥ ७ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तत्र—इन पाँचों प्रकार की वृत्तियों में (से)—

(सू० सि०) प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि—प्रमाण नाम की वृत्ति के तीन भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

(भा० सि०)—यहाँ पर सूत्र और भाष्य दोनों में 'प्रमाण' का लक्षण कदाचित्

सर्वविदित समझकर नहीं किया गया। किन्तु टीकाकारों ने शास्त्राभिमत प्रमाणलक्षण यह दिया है—**'अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, तत्करणं प्रमाणम्।'**[१]

'अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणं सुगमत्वादकृत्वैव विभागः कृतः।'[२]

इन परिभाषाओं का आशय यह है कि अज्ञाततत्त्व का पौरुषेय (अर्थात् पुरुष को होने वाला) बोध ही 'प्रमा' है और उस प्रमा का करण 'प्रमाण' नामक वृत्ति कही जाती है।

सर्वप्रथम 'प्रत्यक्षप्रमाण' का स्वरूप निरूपित किया जा रहा है—

(१) प्रत्यक्षनिरूपण—इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति—ज्ञानेन्द्रियरूपिणी प्रणाली, नाली या नली अर्थात् माध्यम से, बाह्यवस्तु से सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क से उस पदार्थ-विषयक बुद्धिवृत्ति बनती है। अर्थात् बुद्धि तदाकाराकारित होती है। यह बुद्धि जिस पदार्थ के आकार की बनती है, वह पदार्थ चूँकि अपने सामान्य और विशेष धर्मों से युक्त होता है, इसलिए बुद्धि उस अर्थ के उभयाकार से आकारित होती है। किन्तु प्रधानता उसमें 'विशेष' वाले आकार की ही होती है। पदार्थ के विशेषधर्म का प्रधान रूप से निश्चय करने वाली जो यह बुद्धिवृत्ति बनती है; इसको 'प्रत्यक्षप्रमाण' नामक वृत्ति कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में कुछ तज्जातीय धर्म होते हैं और कुछ उसके वैयक्तिक धर्म। इसलिए प्रत्येक पदार्थ 'सामान्यविशेषात्मा' होता है, यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाण से पदार्थ के सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के धर्मों का बोध होता है, तथापि विशेष धर्मों का अवधारण कराने में ही प्रत्यक्ष-प्रमाण प्रधान रूप से कृतसंरम्भ होता है। **'यद्यपि सामान्यमपि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तथापि विशेषं प्रत्युपसर्जनीभूतमित्यर्थः, एतच्च साक्षात्कारोपलक्षणपरम्, तथा च विवेकख्यातिरपि लक्षित भवति।'**[३] यहाँ पर यह भी ध्यान रखने योग्य है कि सांख्ययोगशास्त्र में न्यायशास्त्र के समान इन्द्रियों को प्रत्यक्षप्रमाण नहीं माना जाता। इस शास्त्र में इन्द्रियाँ केवल नाली, नली या प्रणाली या माध्यम हैं, जिनमें से होकर बुद्धि बाह्यवस्तु से उपराग या तदाकाराकारितत्वरूप सम्पर्क करने जाती है।

'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि'॥[४]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २८।
४. द्रष्टव्य; सां० का० ३५।

फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः—इन प्रमाणों का फल (बुद्धिवृत्ति से) अविशिष्ट (अर्थात् बुद्धिवृत्ति के ही समान) होता है। यही प्रमा है। यह। पौरुषेयः—पुरुषगत, (पुरुष में प्रतिबिम्बित) या पुरुष के प्रतिबिम्ब में अधिष्ठित होता है। तात्पर्य यह है कि पुरुष जैसा अभिमान करता है वैसा चित्तवृत्तिकर्मक, पुरुषकर्तृक-बोध (या ज्ञान) ही प्रमा (अर्थात् प्रमाणों का फल) है।

इस पङ्क्ति से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिनिष्ठज्ञान अर्थात् बुद्धिवृत्ति ही 'प्रमाण' है। जब पुरुष उस ज्ञान को अपनाता है, अर्थात् उस ज्ञान का ज्ञाता बनता है, तब वह ज्ञान पुरुषगत या पौरुषेय कहा जाता है। यह पौरुषेय ज्ञान ही 'प्रमा' है; प्रमाण रूपी करण का फल है। आशय यह है कि बुद्धिनिष्ठ ज्ञान 'प्रमाण' बनता है और पुरुषोपरक्त ज्ञान 'प्रमा'। अब यहाँ स्वाभाविक शङ्का उठती है कि पुरुष तो असङ्ग होता है, उसमें यह प्रमा कैसे रह सकती है ? इसका उत्तर सांख्ययोगदर्शन में इस प्रकार दिया गया है कि पुरुष उस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान का अभिमानमात्र करता है, अर्थात् इस प्रमाणज्ञान का उस पुरुष में अभिमानमात्र होता है। वस्तुतः वह पुरुष तो अविकृत और असङ्ग ही रहता है। पुरुष के इस अभिमत ज्ञान को ही पौरुषेयबोध कहते हैं। यही प्रमा कही जाती है। बुद्धिस्थज्ञान अर्थात् बुद्धिवृत्ति का अभिमानमात्र करने के कारण वस्तुतः 'असङ्ग' और 'निर्लेप' रहता हुआ भी पुरुष 'साक्षी' और 'द्रष्टा' या 'भोक्ता' कहा जाता है। इस वृत्त्यभिमान की प्रक्रिया के विषय में सांख्य-योग के दो प्रमुख आचार्यों—'वाचस्पतिमिश्र' और 'विज्ञानभिक्षु' में तीव्र एवं सुस्पष्ट मतभेद है। उनके एतद्विषयक मत क्रमशः ये हैं—

आचार्य वाचस्पतिमिश्र का मत : (Single reflection theory)–जड़ होने के कारण बुद्धि स्वतः किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकती अर्थात् वस्त्वाकाराकारित नहीं हो सकती। इसलिए सर्वप्रथम यह चितिच्छायापत्ति के कारण स्वयं चेतनवत् बनती है अर्थात् सन्निहित पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे वह चेतनवत् हो जाती है। इसके फलस्वरूप वह पदार्थाकाराकारित होकर पदार्थ-ज्ञान से युक्त होती है। बुद्धि की इस रूप की स्थिति 'प्रमाणादि' वृत्ति कही जाती है। अब जो 'चितिच्छाया' या 'पुरुष-प्रतिबिम्ब' उसमें है, वही (पुरुष-प्रतिबिम्ब) उस चित्तवृत्ति का साक्षी, द्रष्टा या बोद्धा बनता है, अर्थात् उस वृत्ति का अभिमान करता है। प्रतिबिम्बरूप पुरुष के द्वारा अभिमत यही बोध **'पौरुषेयबोध'** या **'प्रमा'** कहलाता है[1]। प्रकृति, पुरुष को इसी रूप का भोग अर्पित करती है। चूँकि इस प्रक्रिया में प्रथमचितिच्छायापत्तिरूप केवल एक ही प्रतिबिम्ब स्वीकार किया गया है,

---

१. 'न हि पुरुषगतो बोधो जन्यतेऽपि तु चैतन्यमेव बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितं बुद्धिवृत्त्या अर्थाकारया तदाकारतामापद्यमानं फलम्।'—त० वै० पृ० २९।

इसलिए इस सिद्धान्त को **'एकप्रतिबिम्बवाद'** (Single reflection theory) कहते हैं।[1]

आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत : (Double reflection theory)—

इस मत के अनुसार भी बुद्धिवृत्ति बनने तक पूर्वोक्त प्रक्रिया ही स्वीकृत की गई है। इसके पश्चात् चितिच्छाया या पुरुषप्रतिबिम्ब उस बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान को ग्रहण नहीं करता। बल्कि सन्निहित पुरुषतत्त्व में इस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्बन होता है। तब वह पुरुष इस ज्ञान का अभिमन्ता, या बोद्धा, या द्रष्टा, या साक्षी, या भोक्ता कहा जाता है। इस प्रकार शुद्ध पुरुष में पड़ा हुआ बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब ही 'पौरुषेयबोध' या 'प्रमा' है। इस मत में पहले पुरुष का प्रतिबिम्ब जड़-बुद्धि में पड़ता है, जिससे बुद्धि चेतनवत् होती है और बाद में विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है—ऐसा माना जाता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में पुरुषप्रतिबिम्ब और बुद्धिप्रतिबिम्ब—ये दो प्रतिबिम्ब स्वीकार किये जाने के कारण इस सिद्धान्त को **'द्विप्रतिबिम्बवाद'** (Double reflection theory) कहते हैं।[2]

पुरुष में बुद्धिवृत्ति के बोधरूप प्रमा की स्थिति प्रत्यक्ष की ही भाँति अन्य प्रमाणों के सन्दर्भ में भी जाननी चाहिए। विज्ञानभिक्षु ने कहा भी है—**'पुरुषे वृत्ति-बोधरूपं च फलमनुमानादिसकलवृत्तिष्वपि बोध्यम्।'**[3] इस विवेचन से यह निश्चित हुआ कि प्रमा और प्रमाण के प्रसङ्ग में नैयायिक लोग जिस इन्द्रिय को प्रमाण कहते हैं, वह

---

१. 'बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायाऽऽपन्नया बुद्ध्या संसृष्टा शब्दादयो विषया भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।'

—त० वै० पृ० २१४।

२. (क) चेतने तावद् बुद्धिप्रतिबिम्बमवश्यं स्वीकार्यम्, अन्यथा कूटस्थनित्य-विभुचैतन्यस्य सर्वसम्बन्धात्सदैव सर्वं वस्तु सर्वैर्ज्ञायेत······यथा च चिति बुद्धेः प्रति-बिम्बमेवं बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्बं स्वीकार्यमन्यथा चैतन्यस्य भानानुपपत्तेः।'

—यो० वा० पृ० २२।

(ख) न केवलं तर्कादेव चिति बुद्धेः प्रतिबिम्बं कल्प्यते; किन्तु—

'तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥
यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको जनैः।
रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परम-पूरुषः॥'—इत्यादिस्मृतिशतैरेवेति।

—यो० वा० पृ० २२।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३०।

यहाँ केवल द्वार या प्रणालीमात्र है, प्रमाण नहीं। यहाँ वे बुद्धिवृत्तियाँ ही प्रमाण हैं —जिन्हें नैयायिक लोग प्रमा (व्यवसायात्मक ज्ञान) कहते हैं ('अयं घटः' इस रूप का अनुभव)। और जिसे नैयायिक लोग 'अनुव्यवसाय' कहते हैं ('घटमहं जानामि' इस रूप से) उसे यहाँ 'पौरुषेयबोध' या 'प्रमा' संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार 'सांख्य-योग' में ज्ञान दो अवस्थाओं वाला है। पहली स्थिति में वह बुद्धिनिष्ठ होता है अर्थात् बुद्धिवृत्तिरूप होता है। इसे प्रमाण कहा जाता है। दूसरी स्थिति में वह पुरुषनिष्ठ होता है। उसे प्रमा कहते हैं। दोनों एक ही रूप के होते हैं, क्योंकि जैसा बिम्ब वैसा प्रतिबिम्ब। इसीलिए भाष्य में कहा गया है—**'फलम-विशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः।'** इन दोनों की एकरूपता का समर्थन **'वृत्तिसा-रूप्यमितरत्र'**—यह पातञ्जलसूत्र, और **'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'**—यह पाञ्चशिखसूत्र भी सुस्पष्ट रूप से करते हैं। इसी बात को भाष्यकार इस प्रकार से पुष्ट करते हैं —**'बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इति'**।

बुद्धि चितिच्छायापत्तिबलाद् वस्तुसंवेदिनी हुई और इस बुद्धिकृत संवेदन का प्रतिसंवेदन करने (अर्थात् प्रतिबिम्ब से उसी रूप को अपनाने) के कारण पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी कहा गया है।[1] इस बात को। उपरिष्टाद्—आगे। उपपा-दयिष्यामः—उपपादित (विस्तार से सिद्ध) करेंगे।

(२) अब अनुमान के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है—

अनुमाननिरूपण—अनुमेयस्य = पक्ष में साध्य का अस्तित्व ही अनुमेय होता है, जैसे—पर्वत में वह्नि का अस्तित्व अनुमेय है। इस अनुमेय का, अर्थात् 'साध्य-विशिष्ट पक्ष' का **'साध्यविशिष्टपक्षोऽनुमेयस्तस्य'**।[2]

'जिज्ञासितधर्मविशिष्टो धर्मी अनुमेयस्तस्य'।[3]

'तुल्यजातीयेषु—'तुल्य' शब्द में 'जातीयर्' प्रत्यय लगा हुआ है, जिसका अर्थ होता है **'प्रकार'**[4]। तात्पर्य यह हुआ कि अनुमेय के समान प्रकारवाले पदार्थों में अर्थात् सपक्षों में। साध्यरूपी धर्म से युक्त होने के कारण जो तत्समान पदार्थ होते

---

१. 'संवेदिन्या बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः संवेदनमर्थाकारावृत्तिः तस्याः प्रतिसंवेदनं प्रतिध्वनिवत्प्रतिबिम्बं यत्र स पुरुष इत्यर्थः, बुद्धेः साक्षीति तु पर्यवसितोऽर्थः; एनेन प्रतिबिम्बरूपयाऽऽरोपितक्रियया कल्पितं दर्शनकर्तृत्वं द्रष्टृत्वमित्यपि सूचितम्।'
—यो० वा० पृ० २१४।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३०।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३१।

४. 'प्रकारवचने जातीयर्'—पा० सू० ५।३।६९।

हैं, उन्हें 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे—साध्य अग्नि से युक्त पदार्थ 'महानस' इत्यादि, उनमें **'साध्यधर्मसामान्येन समानार्थाः सपक्षास्तेषु'**[१]।

अनुवृत्तः—साथ-साथ रहने वाला। अनु—पश्चात्। वृत्तः—वर्तमानः। पीछे-पीछे रहता हुआ अर्थात् साथ रहने वाला। भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः—साध्यविशिष्ट-पक्ष से भिन्न प्रकार के पदार्थों में रहने वाला अर्थात् जलाशयादि विपक्षों से अलग रहने वाला। सम्बन्धो यः=यः सम्बन्धः—जो सम्बन्ध अर्थात् (साध्य का) सम्बन्धी होता है। जिसे हेतु या 'लिङ्ग' भी कहते हैं। **'सम्बध्यते (साध्येन सह) इति सम्बन्धो लिङ्गम्'**।[२] तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्—उस लिङ्ग-विषयक अर्थात् उस लिङ्ग-मूलक। तथा पदार्थों के सामान्य धर्म का ही प्रधानतया निश्चय कराने वाली बुद्धिवृत्ति ही अनुमान (कही जाती) है।

यहाँ पर लिङ्ग के सपक्ष में रहने की बात—'अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तः सम्बन्धः'—कहकर 'असिद्ध', 'सत्प्रतिपक्ष' तथा 'असाधारणानैकान्तिक' हेत्वाभासों का और 'भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः'—कहकर 'साधारणानैकान्तिक' हेत्वाभास का और 'दोनों' के कथन से 'विरुद्ध' हेत्वाभास का निरसन कर दिया गया है। 'सामान्या-वधारणप्रधाना' कहने से 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास का भी निरसन हो जाता है। इस तरह पाँचों प्रकार के हेत्वाभासों से विमुक्त तथा शुद्ध अनुमान का लक्षण यहाँ पर संगत होता है। अब अनुमान-प्रमाण का उदाहरण दिया जा रहा है—

प्रतिज्ञा—चन्द्रमा और तारे गतिशील हैं।

हेतु—(अनेक स्थानों पर) पहुँचने के कारण।

उदाहरण—१. (अन्वयव्याप्ति) जहाँ-जहाँ पर देशान्तर में पहुँचना देखा जाता है, वहाँ-वहाँ गतिमत्ता होती है। जैसे—चैत्र (नामक मनुष्य)।

२. (व्यतिरेकव्याप्ति)—जहाँ गतिशीलता नहीं होती, वहाँ दूसरे स्थानों पर पहुँचना भी नहीं होता। जैसे—विन्ध्य (नामक पर्वत)।

उपनय—(१) चन्द्रमा और तारे दूसरे स्थानों पर पहुँचते हैं। (२) चन्द्रमा और तारे दूसरे स्थान पर न पहुँचें—ऐसी बात नहीं है। निगमन—(१) चन्द्रमा और तारे गतिशील हैं। (२) चन्द्रमा और तारे गतिहीन हों—ऐसी भी बात नहीं है अर्थात् गतिशील हैं।

(३) आगम-प्रमाण का निरूपण—आप्तेन—तत्त्वज्ञान, करुणा और ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता वाला प्राणी 'आप्त' कहा जाता है, उस आप्तव्यक्ति के द्वारा।

दृष्टोऽनुमितोः वाऽर्थः—प्रत्यक्ष किया गया अथवा अनुमित किया गया पदार्थ।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३१।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३१।

परत्र स्वबोधसंक्रान्तये—अन्य लोगों में अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिए। परत्र—अन्यत्र अर्थात् अन्यजनेषु, श्रोतृषु। स्वबोधस्य—निजज्ञानस्य संक्रान्तये संक्रमणार्थम् (For communicating his knowledge to other persons)।

शब्देनोपदिश्यते—शब्दमय वाक्यों से प्रतिपादित किया जाता है। तो उस शब्द (अर्थात् वाक्य) से उस अर्थविषयक (सुनने वाले की) जो वृत्ति बनती है, (श्रोता की) वह वृत्ति आगमप्रमाण है।

यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः, स आगमः प्लवते—यस्य आगमस्य वक्ता अश्रद्धेयार्थः (दृष्टानुमितार्थरहितत्वात्) स आगमः, जिस आगम का वक्ता पदार्थ के प्रत्यक्ष या अनुमित ज्ञान से शून्य और इसीलिए अश्रद्धेयार्थ होता है, वह आगम नाम की वृत्ति प्लुत होती है, सदोष होती है। उसे प्रमाण की कोटि में अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता—**'प्रमाणवृत्तिजननासमर्थ इत्यर्थः'**[1]।

मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्—आगम-वृत्ति, सुनने वाले की बुद्धि में बनती है; किन्तु बनती है कहनेवाले के कथन से। श्रोता उस वृत्ति का निमित्त नहीं होता, इसलिए इस वृत्ति का मूल कारण अन्य वृत्तियों से। असमान अर्थात् प्रमाता से भिन्नस्थानीय होता है। इसलिए इसमें आये हुए 'मूल' शब्द को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। इसीलिए 'वक्तरि' के पहले भाष्यकार ने 'मूल' शब्द लगा दिया है। अन्य प्रमाणों में ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में प्रमाता उत्तरदायी होता है; जबकि 'आगम-प्रमाण' में प्रमाता के स्थान पर 'मूलवक्ता' उत्तरदायी होता है। इसीलिए कहा गया है कि जब 'मूलवक्ता' ठीक से अर्थ को प्रत्यक्षीकृत या अनुमित किये होता है, तभी वह आगम निर्दोष एवं शुद्ध होता है। **'मूलवक्ता हि तत्रेश्वरो दृष्टानुमितार्थः'**।[2] वाचस्पतिमिश्र ने यहाँ पर 'मूलवक्ता' शब्द से ईश्वर का अर्थ ग्रहण किया है। किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि—

१. सामान्य की प्रतीति में विशेष का बोध अकारण ही करना उचित नहीं है।

२. इस स्थिति में तो फिर ईश्वरवचन के अतिरिक्त शुद्ध आगम की सत्ता ही नहीं मानी जा सकेगी।

३. प्लुतिवाले अर्थात् अप्रामाणिक आगमों के परिप्रेक्ष्य में यहाँ पर निर्विप्लव या प्रामाणिक सामान्य आगमवचनों का ही कथन प्रकरणानुसारी माना जाना चाहिए।

४. सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि ईश्वर अनुमितार्थ क्योंकर होगा ? उसे तो समस्त विषय प्रत्यक्ष ही रहेंगे। उसे अनुमान करने की इच्छा ही कैसे होगी ? सिषाधयिषा की स्थिति भला उसमें कैसे मानी जा सकती है ? अनुमानेच्छा या सिषाधयिषा के विना अनुमान कैसे ? ७॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३२।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३२।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

(ज्ञेय वस्तु से) भिन्न रूप में प्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान विपर्यय (कहा जाता) है ॥८॥

स कस्मान्न प्रमाणम् । यतः प्रमाणेन बाध्यते, भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य । तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम् । तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति । सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति । एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति । एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

वह (मिथ्याज्ञान) प्रमाण क्यों नहीं है ? क्योंकि (वह ज्ञान) प्रमाण से बाधित हो जाता है, प्रमाण के वस्तु-विषयक होने के कारण । अप्रमाणज्ञान का प्रमाणज्ञान के द्वारा बाधित होना (सदा) देखा गया है । जैसे—'दो चन्द्रमा दिखाई पड़ना', सद्वस्तु-विषयक (प्रत्यक्षप्रमाणरूप) एकचन्द्रदर्शन से सदा निराकृत हो जाता है । वह यह अविद्या (अर्थात् विपर्यय) पाँच खण्डों वाली होती है; अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरणत्रास) नाम के पाँच क्लेश (ही अविद्या के पाँच खण्ड) हैं । यही क्लेश (अविद्या के पाँचों पर्व) नामतः—तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र—(कहे जाते) हैं । ये (सब) चित्त के मलों के प्रसङ्ग में कहे जायेंगे ॥ ८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्—इस सूत्र में 'विपर्ययः' पद लक्ष्य है और शेष दो पद लक्षण हैं । कैसा मिथ्याज्ञान विपर्यय है ? 'अतद्रूपप्रतिष्ठमिथ्याज्ञान' ही विपर्यय नाम की वृत्ति है । मिथ्याज्ञानम्—भ्रान्तज्ञानम् । इस मिथ्याज्ञान का जो विशेषण दिया गया है 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्'—उसकी व्याख्या करने से इस मिथ्याज्ञान का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट होता है—

अतद्रूपप्रतिष्ठम्—तस्य (ज्ञेयार्थस्य) रूपमिति तद्रूपम् (पदार्थस्य घटपटमठादेर्वास्तविकं रूपम्)—षष्ठीतत्पुरुषः समासः । न तद्रूपमिति अतद्रूपम् (पदार्थस्य घटादेर्भिन्नं रूपम्) भिन्नार्थे नञ्तत्पुरुषः समासः । इसका अर्थ हुआ—ज्ञेय घटादि से भिन्नरूप । जैसे—घटज्ञानकाल में घटभिन्नरूप, पटज्ञानकाल में पटभिन्नरूप, एकत्वज्ञानकाल में एकत्वभिन्न द्वित्वादि रूप । अतद्रूपे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य ज्ञानस्य तज्ज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम् । अर्थात् घटादि-विषयक जो ज्ञान (घटादि के रूप में प्रतिष्ठित न हो बल्कि) घटादि से भिन्न प्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हो, वह मिथ्याज्ञान विपर्यय कहा जाता है । यदि यह मिथ्याज्ञान घटादि किसी भी रूप में प्रतिष्ठित न हो, तब भी उसे 'घटादि रूप में प्रतिष्ठित नहीं है'—ऐसा कहा जा सकता है; किन्तु 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' का ऐसा अर्थ योगशास्त्र को अभीष्ट नहीं है; क्योंकि वैसा अर्थ तो भ्रम को अख्यातिपरक

मानने वाले शास्त्र को ही गृहीत हो सकता है। योगशास्त्र इस विषय में 'अन्यथा-ख्यातिवाद' को ही स्वीकार करता है। इसलिए इसके अनुसार भ्रम के स्थल में किसी पदार्थ की ज्ञानशून्यता या ज्ञाननिषेध नहीं होता; प्रत्युत उस पदार्थ से भिन्न प्रकार का या अन्य प्रकार का एक ज्ञान ही होता है। इस अन्यथाज्ञान की मान्यता के कारण योगशास्त्र को भ्रान्तिसिद्धान्त के प्रसङ्ग में 'अन्यथाख्यातिवादी' कहा गया है। इसलिए जब 'शुक्त्यादि' विषय में (शुक्तिभिन्न) रजतादि के रूप में प्रतिष्ठित रहने वाला ज्ञान होता है, उस 'अतद्रूपप्रतिष्ठ' मिथ्याज्ञान को ही 'विपर्यय' कहा गया है। विपर्यय के अन्तर्गत 'संशय' का भी ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि संशयज्ञान भी 'स्थाणु' के ज्ञानकाल में स्थाणु से भिन्न 'स्थाणु-पुरुष'—इस उभयाकार में प्रतिष्ठित रहता है अर्थात् संशयज्ञान की वृत्ति 'स्थाण्वाकार' होने के स्थान पर 'स्थाणुपुरुषा-कार' होती है। इस प्रकार विपर्ययवृत्ति, भ्रान्ति और संशय दोनों को अन्तर्भावित करती है। **'अतः संशयोऽपि संगृहीतः'**।[1]

'संशयस्याप्यत्रैवान्तर्भावः, अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिः सिद्धान्तो न तु सांख्यवद-विवेकमात्रम्, अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येत्यागामिसूत्रात्; वैशेषिकाच्चात्रायं विशेषो यद्बाह्यरजतादेर्नारोपः किं त्वान्तरस्यैवेति'।[2]

इस प्रकार 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' पद में प्रयुक्त 'नञ्' पर्युदासपरक ही लेना चाहिए—

'द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥'

इसलिए 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' का अर्थ हुआ **'तद्भिन्नरूपप्रतिष्ठम्'** ॥ ८ ॥

(भा० सि०)—स कस्मान्न प्रमाणम्···बाध्यत इति—इस वृत्ति को प्रमाण क्यों नहीं माना जा सकता? इसलिए कि प्रमाण तो यथार्थरूप अर्थात् यथार्थविषयक ज्ञान होता है और विपर्यय तदर्थभिन्नरूपप्रतिष्ठ होता है। फलतः प्रमाण से इस वृत्ति का बाध होता है। जैसे—'एक चन्द्रमा को द्विचन्द्ररूप से देखना एकचन्द्ररूपदर्शन से बाधित हो जाता है। इसीलिए विपर्यय को प्रमाणवृत्ति से भिन्न माना जाता है।'

सेयम्···अभिधास्यन्ते—इस वृत्ति को अविद्या भी कहते हैं। इसके पाँच अङ्ग बताये गये हैं। अर्थात् अविद्या पाँच पर्वों—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभि-निवेश—की होती है। अविद्या के इन पाँच पर्वों को पाँच क्लेश भी कहते हैं। ये क्लेश चित्त के मल हैं। आगे चित्तमलों के वर्णनप्रसङ्ग में इनका अभिधान किया जायेगा। स्मृतियों में इनके ये नाम भी दिये गये हैं—तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र ॥ ८ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३३।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३३।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

विकल्प (अवस्तुवाचक) शब्दज्ञान से उत्पन्न तथा निर्वस्तुक होता है । ॥९॥

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च । वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञान-माहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमि'ति । यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते ? भवति च व्यपदेशे वृत्तिः, यथा 'चैत्रस्य गौरि'ति । तथा 'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः' । 'तिष्ठति बाणः', 'स्थास्यति', 'स्थित'—इति गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते । 'तथाऽनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति' उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः । तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥९॥

यह (विकल्प) न प्रमाण के अन्तर्गत आता है और न विपर्यय के अन्तर्गत । वास्तविक अर्थ से रहित होने पर भी शब्दज्ञान की महिमा के कारण (इसका) व्यवहार देखा जाता है । जैसे—(१) चैतन्य पुरुष का स्वरूप है । जब चैतन्य (या चिति) ही पुरुष है तो कौन (-सी वस्तु) किस (वस्तु) के द्वारा विशेषित किया जा रहा है ? और इस प्रकार व्यपदेश करने (अर्थात् विशेषणविशेष्यभाव का कथन करने) पर एक प्रकार की वृत्ति बनती ही है (अर्थात् ज्ञान होता ही है) । जैसे—'चैत्र की गाय' कहने पर (वृत्ति बनती है कि 'गाय' विशेष्य है और 'चैत्र' उसका विशेषण है) । (२) इसी प्रकार (अर्थात् 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है'—इस वृत्ति की भाँति) वस्तुधर्म से हीन पुरुष निष्क्रिय है । (३) क—बाण स्थित है । ख—स्थित होगा । ग—स्थित था । यहाँ गतिनिवृत्तिपरक धात्वर्थ का ही बोध होता है । (इसमें गतिनिवृत्त्यनुकूलक्रिया न होने पर भी विकल्पित होती है । वह वस्तुरूप तथा भावात्मकरूप से विकल्पित होती है । और इसमें अन्य क्रियाओं की भाँति पूर्वा-परीभाव भी विकल्पित होता है । इस प्रकार यहाँ तेहरा विकल्प है ।) (४) वैसे ही 'उत्पत्तिधर्मरहित पुरुष है' । यहाँ उत्पत्तिधर्म का अभाव ही बोधित होता है । यह (अभाव) पुरुष में रहने वाला कोई धर्म तो है नहीं । इसलिए (पुरुष में) इस अभावरूपी धर्म की वृत्ति कल्पित ही है और इस कल्पित धर्म से व्यवहार भी होता है ॥ ९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब सौत्रक्रमानुसार 'विकल्प' का लक्षण दिया जा रहा है । विकल्प भी एक प्रकार की वृत्ति है । यह विकल्प नामक वृत्ति (अर्थात् ज्ञान) शब्द-ज्ञानानुपाती होती है । शब्दस्य ज्ञानं शब्दज्ञानम् (शाब्दबोधः), तदनुपतितुम् अनुसर्तुं शीलमस्येति 'शब्दज्ञानानुपाती'—शाब्दबोधानुकारी, शाब्दबोध के अनन्तर उत्पन्न होने वाला तथा 'वस्तुशून्यः'—निर्वस्तुकः, जिस शब्द के संकेतित अर्थ का अस्तित्व

ही न हो उस शब्द के ज्ञान का अनुवर्ती होने के कारण वह ज्ञान भी वस्तु या पदार्थ से सर्वथा रहित ही होगा। इस प्रकार का थोथा अर्थात् निर्वस्तुक ज्ञान 'विकल्प' कहा जाता है। **'अवस्तुवाचकशब्दज्ञानस्यानुजातस्तज्ज्ञाननिबन्धनो वस्तुशून्यो वास्तवार्थ-शून्यो विकल्पः स इति।'**[1]

यह विकल्पनामक वृत्ति शब्दजन्य 'शाब्दबोध' की अनुपातिनी है अथवा 'शब्द-प्रत्यक्ष' या शब्दश्रवण की अनुगामिनी है? इस प्रश्न पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यह वृत्ति शब्दश्रवणरूपी शब्दप्रत्यक्ष की तो अनुगामिनी है ही, साथ ही शब्दों से जो शाब्दबोध होता है, उसके अनुसार भी यह वृत्ति बनती है। इसलिए यह विकल्प नाम की वृत्ति शब्दप्रत्यक्ष तथा शाब्दबोध दोनों की अनुवर्तिनी है। इसी कारण से शब्दश्रवण तथा शाब्दबोध दोनों की अनुपातिनी वृत्ति 'विकल्प' कही जाती है। इसे विज्ञानभिक्षु इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—**'शब्दश्च शाब्दज्ञानं च तेऽनुपातिनी (समु-पस्थापके) यस्य स तथा।'**[2]

अब चूँकि 'शाब्दबोध', सदैव शब्दश्रवण या शब्दप्रत्यक्ष के अनन्तर ही होता है, इसलिए यदि उसे अलग से न कहा जाय तो भी अनिवार्यतः पूर्वभावित्वेन शाब्द-बोधमात्र कहने से उसका स्वतः ग्रहण हो जाता है। इसलिए यदि केवल यह कहा जाय कि यह 'विकल्प' नामक वृत्ति शाब्दबोध का अनुपतन करने वाली वृत्ति है—तो भी लक्षण में कोई असंगति नहीं आती। इसलिए यह विग्रह भी सर्वथा शुद्ध है—शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं (शाब्दबोधः), तदनुपतितुं शीलमस्येति तथोक्तः। शब्द-ज्ञान + अनु + √पत् + णिनिः। शब्दज्ञानानुपाती (प्रत्ययः इति तु अध्याहार्य एव)। **'शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं, तदनुपतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती।'**[3]

(**भा० सि०**)—अब शङ्का यह उठती है कि यदि यह विकल्प नाम का ज्ञान (या वृत्ति) शाब्दबोध का अनुगामी है तो यह आगम-प्रमाण के अन्तर्गत गिना जाना चाहिए और यदि यह वस्तुशून्य कहा जाता है तो इसे विपर्यय के अन्तर्गत गिना जाना चाहिए। ऐसा क्यों नहीं किया गया? इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही—उपारोही अर्थात् अन्तर्भावी; अन्तर्गत। **'उपारोहोऽन्तर्भावः'**[4] यह प्रमाण में अन्तर्भावित नहीं हो सकता, वस्तुशून्य होने के कारण। और विपर्यय में अन्तर्भावित नहीं हो सकता (शब्दज्ञान से उत्पन्न होने

---

१. द्रष्टव्य; भास्वती पृ० ३६।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३६।

३. द्रष्टव्य; रा० मा० पृ० ६।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३६।

से), व्यवहार में अबाधित होने के कारण। **'वस्तुशून्यत्वेऽपीति प्रमाणान्तर्गतिं निषेधति, शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन इति विपर्ययान्तर्गतिम्'**।[1]

वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते—निर्वस्तुक होने पर भी शाब्दबोध की प्रतिष्ठा या महिमा के कारण लोक में विपर्यय से भिन्न रूप में इसका व्यवहार देखा जाता है। तद्यथा—वह (व्यवहार इस रूप में देखा जाता है) जैसे—

(१) चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति—चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। विकल्प के इस दृष्टान्त में 'अभेद में भेद का विकल्प' दिखाया जा रहा है। 'चैतन्य' और 'पुरुष एक ही पदार्थ हैं। पुरुष चैतन्य ही है। न तो पुरुष नामक पदार्थ का चैतन्य नामक कोई गुण या रूपादि है; और न दोनों किसी भी प्रकार से अंशांशी आदि हैं। उसी पदार्थ को व्यवहारसौकर्य के लिए पुरुष, चेतनतत्त्व, चैतन्य और चिति आदि नाम दिये जाते हैं। अतः जब चैतन्य और पुरुष सर्वथा अभिन्न या एक ही पदार्थ हैं, तब पुरुष में लगी हुई षष्ठीविभक्ति के प्रभाव से जो 'विशेषणविशेष्यरूप सम्बन्ध' प्रकट हो रहा है, वह सरासर अवास्तविक है। क्योंकि विशेषणविशेष्यरूप सम्बन्ध दो पदार्थों के बीच होता है, जिनमें से एक विशेषण होना चाहिए और दूसरा विशेष्य।

भवति च व्यपदेशे वृत्तिः—यहाँ पर इस व्यपदेश अर्थात् सम्बन्धकथन वाले वाक्य से ऐसी वृत्ति बनती है या ऐसा ज्ञान होता है कि 'पुरुष' विशेषण है तथा 'चैतन्य' विशेष्य है। और इन दो पदार्थों के बीच में उक्त सम्बन्ध है। जैसे—'चैत्रस्य गौः' कहने पर यह भान होता है कि 'चैत्र' और 'गौ' नामक दो अलग-अलग पदार्थ हैं, जिनमें से 'चैत्र' विशेषण है और 'गौ' विशेष्य। किन्तु यहाँ पर स्पष्ट है कि 'पुरुष' और 'चैतन्य' दोनों एक ही पदार्थ हैं, दो नहीं। इसलिए यहाँ पर कोई भी सम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न एवम् अवास्तविक है। फिर भी शब्दज्ञान के माहात्म्य से उक्त प्रकार का ज्ञान होता है (अर्थात् वृत्ति बनती है) और व्यवहार में इस वाक्य का प्रयोग होता है। इस प्रकार अभेद (अर्थात् एक ही पदार्थ) में भेद (भिन्न प्रकार के दो पदार्थों) का विकल्प (ज्ञान) यहाँ निदर्शित हुआ। 'राहोः शिरः' भी इसी कोटि के विकल्प का एक दृष्टान्त है। भवति च व्यपदेशे वृत्तिरिति—(एवंरूपे) व्यपदेशे (कृते) वृत्तिः (भेदरूपं ज्ञानं) भवति (एव)।

(२) 'तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः'—इस वाक्य में उसी निर्विशिष्ट तत्त्व पुरुष के दो विशेषण दिये गये हैं। एक है 'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मः' और

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३६।

दूसरा 'निष्क्रियः' । ये दोनों पद अलग-अलग एक-एक विकल्पवृत्ति उत्पन्न करते हैं । वह ऐसे—

(क) प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा पुरुषः—प्रतिषिद्धाः (शास्त्रैः प्रत्याख्याताः) वस्तुनः (घटपटादेः) धर्माः यस्मिन् स पुरुषः । शास्त्रों से निषिद्ध हैं (सामान्यवस्तुओं के) धर्म जिसमें ऐसा पदार्थ पुरुष है, अर्थात् शास्त्रनिषिद्धवस्तुधर्म वाला पुरुष पदार्थ ।

इस वाक्य को भी सुनने से शब्दज्ञानमाहात्म्य के कारण यह वृत्ति बनती है कि पुरुष वस्तुधर्मों के अभाववाला या वस्तुधर्मों के अभाव से विशेषित पदार्थ है । अर्थात् 'वस्तुधर्मों का अभाव' विशेषण है 'पुरुष' नामक पदार्थ का । यह वृत्ति भी 'प्रमाण' न होकर 'विकल्प' इसलिए है कि 'वस्तुधर्माभाव' पुरुष के विशेषण के रूप में सर्वथा अवास्तविक या वस्तुशून्य है । सांख्ययोगसिद्धान्त में स्पष्टतः प्रतिज्ञात है कि अभाव नाम का कोई धर्म होता ही नहीं, जो किसी पदार्थ का विशेषण बन सके । इसलिए यह 'विकल्प' वृत्ति है । यह 'विपर्यय' इसलिए नहीं है कि लोकव्यवहार में इस वाक्य का खुलकर प्रयोग होता है । **'न खलु सांख्यीये राद्धान्तेऽभावो नाम कश्चिदस्ति वस्तुधर्मो येन पुरुषो विशेष्येतेत्यर्थः'** ।[1]

(ख) निष्क्रियः—निर्गताः क्रियाः यस्मात् तथोक्तः पुरुषः, जिसमें से सभी क्रियाएँ निकल गयी हैं या जिसमें सकल क्रियाओं का अभाव है वैसा पुरुष । इस पद को सुनने से भी 'क्रिया के अभाव' से विशेषित पुरुष-पदार्थ का ज्ञान होता है । यह वृत्ति भी वस्तुशून्य होने के कारण 'प्रमाण' नहीं है और लोकव्यवहार में निर्बाध प्रयोग के कारण 'विपर्यय' नहीं है । अतः 'विकल्पवृत्ति' ही है ।

'निष्क्रियः पुरुषः इत्यन्यदुदाहरणम्' ।[2]

इन तीन शास्त्रीय दृष्टान्तों के देने के बाद भाष्यकार विकल्पवृत्ति के लौकिक उदाहरण दे रहे हैं—

(३) क—तिष्ठति बाणः । ख—स्थास्यति (बाणः) । ग—स्थितः (बाणः) । क—बाण स्थित (हो रहा) है । ख—बाण रुकेगा । ग—बाण रुक गया है । इन दृष्टान्तों में—

गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते—गतिनिवृत्ति-विषयक जो √स्था धातु का अर्थ है, उस धात्वर्थ (गतिनिवृत्तिरूप) का ही यहाँ ज्ञान होता है । धात्वर्थमात्रम्—धात्वर्थः एव, धातोः अर्थः एव, (गतिनिवृत्तिरूप) धात्वर्थ ही । गम्यते–प्रतीयते, ज्ञायते, बुध्यते अर्थात् ज्ञात होता है । (गतिनिवृत्ति रूप) धात्वर्थ की ही वृत्ति बनती है—यह तात्पर्य हुआ । यह विकल्पवृत्ति है । 'तिष्ठति', 'स्थास्यति', और 'स्थितः' ये

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३७ ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ ३७ ।

तीनों पद √'स्था' धातु के क्रमशः लट्, लृट् और निष्ठाप्रत्ययान्त रूप हैं। √'स्था' धातु का अर्थ है=गतिनिवृत्ति (Arrest of motion)। यहाँ इन तीनों वाक्यों के सुनने से √'स्था' धातु के क्रमशः वर्तमानकालिक, भविष्यत्कालिक और भूतकालिक अर्थ—'गतिनिवृत्ति' का ही ज्ञान होता है। बाण में गतिनिषेध की ही प्रतीति होती है। आशय यह है कि श्रोता के चित्त में 'बाणनिष्ठगतिनिवृत्तिरूपक्रिया' की ही वृत्ति बनती है। अब देखना यह है कि क्या बाण में √स्था धातु से प्रतिपादित 'गति-निवृत्ति' वस्तुतः होती है ? उत्तर स्पष्ट है कि हरगिज नहीं। गतिनिवृत्ति का होना स्वयं एक प्रकार की क्रिया है, जो बाण में नहीं हो रही है, फिर भी होती हुई कही जा रही है। इस प्रकार 'निर्वस्तुक' 'गतिनिवृत्ति'-विषयक यह वृत्ति न प्रमाण है और न लोकव्यवहार के कारण विपर्यय है, बल्कि विकल्पवृत्ति ही हैं। इस के साथ ही इस गतिनिवृत्तिरूप अभावात्मक क्रिया के भावरूपत्व, वर्तमानकालिकत्व, भविष्यत्कालिकत्व और भूतकालिकत्व की प्रतीति इसमें दुहरे, तिहरे विकल्प के नमूने भी हैं।

'गतिनिवृत्तौ गतिनिवृत्तिविषयकविकल्पे वर्तमानत्वादिविशिष्टं स्थाधात्वर्थमात्रं पारमार्थिकतया प्रतीयते; कर्तृत्वं, कर्तृत्वस्य वर्तमानत्वादिकं च प्रत्ययत्रयार्थस्तु विकल्पित इत्यर्थः, बाणे गतिनिवृत्त्यनुकूलकृतित्वाभावादिति'।[1]

'गतिनिवृत्तिरेव तावत् कल्पिता, तस्या अपि भावरूपत्वं तत्रापि पूर्वापरीभाव इत्यहो कल्पनापरम्परेत्यर्थः।'[2]

अब फिर एक शास्त्रीय उदाहरण दिया जा रहा है—

(४) अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति—पुरुष उत्पत्तिरूपधर्म के अभाव वाला है। इस दृष्टान्त में भी पुरुष में रहता हुआ 'उत्पत्ति धर्म का अभाव' ज्ञात होता है, अर्थात् पुरुष में रहने वाले उत्पत्तिधर्माभाव की प्रतीति होती है। यह भी निश्चित रूप से अवास्तविक बात है, क्योंकि (अयम् अभावः) न पुरुषान्वयी धर्मः (कश्चित्)—पुरुष से सम्बन्धित अभावरूपी कोई धर्म नहीं होता।

तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति—इसलिए यह 'अभाव' नामक धर्म पुरुष में सर्वथा कल्पित ही है और उससे भी व्यवहार चलता है अर्थात् इस प्रकार का कथन निर्बाध रूप से लोकव्यवहार में किया जाता है। अतः यह भी विकल्पवृत्ति का ही एक अच्छा उदाहरण हुआ ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

(जाग्रत् तथा स्वाप्न वृत्तियों के) अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है ॥ १० ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३७।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३७।

सा च सम्प्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः। कथम्? सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सम्; स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्। गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्; गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तम्; अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे; तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति॥ १०॥

और वह (निद्रा) वृत्ति जागने पर स्मरण होने के कारण एक प्रकार का ज्ञान (ही) है। क्यों? (इसलिए कि) १ मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न है (और) बुद्धि को निर्मल कर रहा है। (या) २. मैं बहुत बेचैनी से सोया, मेरा मन अकर्मण्य हो रहा है (क्योंकि) चञ्चल होकर भ्रमित हो रहा है। (या) ३. मैं खूब गहरी नींद सोया; मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं; मेरा चित्त थका हुआ है; अलसाया हुआ और खोया-खोया-सा है। जागे हुए प्राणी को ऐसा स्मरण, बिना इस प्रकार के अनुभवात्मक ज्ञान के नहीं होना चाहिए। इस (अनुभव) पर आश्रित रहने वाली स्मृतियाँ इस (अनुभव) के विषय में नहीं होनी चाहिए। इसलिए निद्रा एक विशेष प्रकार का ज्ञान (या वृत्ति) ही है। वह (निद्रा) भी समाधि में अन्य वृत्तियों की भाँति निरुद्ध की जानी चाहिए॥ १०॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा—अभावस्य (जाग्रत्स्वप्नकालिकस्य ज्ञानस्य यः अभावः, तस्य) प्रत्ययः (प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययः = कारणम्) तमोगुण इत्याशयः, स आलम्बनम् (विषयः) यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा (बहुव्रीहिः समासः)। जाग्रत् और स्वप्न काल के ज्ञान के अभाव का कारणभूत जो तमोगुण है, वह है आलम्बन (अर्थात् आधार या विषय) जिसका, वह वृत्ति 'निद्रा' कही जाती है। यहाँ पर 'अभाव'-पद का तात्पर्य है जाग्रत् और स्वप्नकाल की वृत्तियों (अर्थात् ज्ञानों) के अभाव से। सत्त्व के अभिभूत रहने के कारण तमोरूपा या तमःप्रधाना वृत्ति ही 'निद्रा' है।

'जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्तस्य प्रत्ययः कारणं बुद्धिसत्त्वाच्छादकं तमस्तदेवालम्बनं विषयो यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा।'[1]

'जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः प्रतिसङ्क्रमस्थानं कारणमिति यावत्, तच्च चित्तसत्त्वाच्छादकं तमोद्रव्यमन्धकारादिवत् तदेवालम्बनं विषयो यस्याः सा तथा तादृशी वृत्तिर्निद्रेत्यर्थः।'[2]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३९।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३८।

'तमोविषया वृत्तिरत्यस्फुटं ज्ञानं निद्रा स्वप्नहीना सुषुप्तिरिति सूत्रार्थः'।[1]

अन्य चार वृत्तियों को तो प्रायः सभी दार्शनिकप्रस्थान वृत्तिरूप में स्वीकार करते हैं किन्तु निद्रा के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। इसीलिए निद्रा के वृत्तित्व को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'वृत्तिः'-पद अलग से इस सूत्र में रख दिया है। यद्यपि 'वृत्ति'-पद अनुवृत्ति से प्राप्त था, फिर भी इसके यहाँ रखने का कारण यही है कि अनुवृत्ति से प्राप्त 'वृत्ति'-पद तो अनुवादकमात्र होता। विधायक रूप से गृहीत होने के लिए 'वृत्ति'-पद का कथन आवश्यक था। वाचस्पतिमिश्र ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'निद्रायास्तु वृत्तित्वे परीक्षकाणामस्ति विप्रतिपत्तिरिति वृत्तित्वं विधेयं न च प्रकृतमनुवादकं विधानाय कल्पत इति पुनर्वृत्तिग्रहणम्।'[2]

विज्ञानभिक्षु की भी यही धारणा है—**'निद्राया वृत्तित्वस्फुटीकरणाय पुनर्वृत्ति-ग्रहणम्।'**[3]

(**भा० सि०**)—भाष्यकार भी निद्रा को वृत्ति माने जाने का ही समर्थन करते हुए इस सूत्र का भाष्य प्रारम्भ करते हैं—

सा च सम्प्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः—सम्प्रबोधे—जागरणे जाते, जागरण होने पर अर्थात् जागने पर। प्रत्यवमर्शात्—स्मृतेः, स्मरणात्, स्मरण होने के कारण। सा—निद्रा। प्रत्ययविशेषः—एक प्रकार का प्रत्यय अर्थात् ज्ञान ही है। इस प्रकार निद्रा की ज्ञानरूपता बताकर उसका वृत्तित्व सिद्ध किया गया है। ज्ञानरूपता ही वृत्तिरूपता है। अब आगे की पङ्क्तियों में इसी प्रत्यवमर्श अर्थात् स्मृति का जागरण-काल में क्या-क्या रूप होता है, यह बता रहे हैं—

कथम्—यह स्मृति, जागने पर किस रूप की होती है ? (१) कभी तो यह स्मृति सत्त्वसंभिन्न होने के कारण सुखरूप होती है। (२) कभी रजस्संभिन्न होने के कारण दुःखरूप होती है। और (३) कभी तमोबाहुल्य के कारण आलस्यरूप होती है। तात्पर्य यह है कि निद्राकाल में यदि सत्त्वगुण के कुछ कम दबे हुए अंशो से युक्त तमोविषया निद्रा हुई तो सुखरूप स्मृति होती है। यदि रजोगुण के कुछ कम अभिभूत हुए अंशों से युक्त तमोविषया निद्रा हुई तो दुःखरूप स्मृति होती है। यदि सत्त्वांश और रजोंऽश निद्राकाल में बहुत अधिक अभिभूत रहें और तमोगुण की ही प्रबलता हो तो स्मृति भी थकान और आलस्य तथा भारीपन से बोझिल होगी। इन तीनों प्रकार की स्मृतियों का विवरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं—

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३८।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३८।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३८।

१. सुखमहमस्वाप्सम्; प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति—सुखरूप स्मृति इस प्रकार की होती है कि मैं सुख से सोया; (क्योंकि) मेरा मन प्रसन्न है और मेरी बुद्धि को निर्मल किये दे रहा है।

२. दुःखमहमस्वाप्सम्, स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्—दुःखरूप स्मृति इस प्रकार की होती है कि मैं बहुत बेचैनी से सोया; (क्योंकि) मेरा मन भ्रमित है, चक्कर काटता है और चञ्चल है।

३. गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्; गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तम्, अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति—मोहरूपा स्मृति इस प्रकार की होती है कि मैं बिल्कुल बेखबर सो गया; (क्योंकि) मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं, मन थका हुआ है, उनींदा और अलसाया तथा ठगा-सा या खोया-खोया है।

स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे—निद्राकाल में बिना इस प्रकार का अनुभव हुए, जागे हुए व्यक्ति को इस प्रकार की स्मृति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि किसी प्रकार का अनुभव हुए बिना उस प्रकार की स्मृति नहीं हो सकती। तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः—'तद्'-पद से प्रत्यय के अनुभव का परामर्श समझना चाहिए—अनुभवों पर ही आश्रित रहने वाली स्मृतियाँ भी उन अनुभवों के विषय में उत्पन्न नहीं हो सकतीं। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा—इसलिए निद्राकाल में भी एक विशेष प्रकार का (तामस और अद्भुतरूप का) अनुभव अवश्य होता है, जिसके कारण जागने पर तत्तत्प्रकार की स्मृति हुआ करती है। इस निद्राकालिक अनुभव या ज्ञान को ही 'निद्रा' नाम की वृत्ति कहते हैं—

'सुखमहमस्वाप्समिति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेश्चानुभवव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम्।'[1]

सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति—और यह निद्रा नाम की वृत्ति भी समाधिकाल में अन्य वृत्तियों की ही भाँति निरोधनीय है, अर्थात् इसे समाधि की अविरोधिनी या कम विरोधिनी नहीं समझना चाहिए। इसका भी निरोध उतनी ही तत्परता से करना चाहिए, जैसे अन्य वृत्तियों का। **'एकाग्रतुल्याऽपि तामसत्वेन निद्रा सबीजनिर्बीजसमाधिप्रतिपक्षेति साऽपि निरोद्धव्येत्यर्थः'**[2] ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभूतविषय की (चित्त में) उपस्थिति (अस्तेय) 'स्मृति' (नामक वृत्ति कहलाती) है ॥ ११ ॥

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ७।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४०

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरत्याहोस्विद्विषयस्येति ? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः । सा च द्वयी—भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वप्ने भावितस्मर्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविद्येति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति ॥ ११ ॥

क्या चित्त ज्ञान का स्मरण करता है ? अथवा (ज्ञान के) विषय का ? ग्राह्यविषय से उपरक्त तथा ग्राह्यविषय एवं ज्ञान दोनों के आकार में भासित होने वाला विषयानुभव उसी प्रकार के संस्कार आरम्भ करता है । अपने अभिव्यञ्जक से उद्बुद्ध हुआ वह संस्कार विषय तथा अनुभव की उभयात्मिका स्मृति को उत्पन्न करता है । उसमें ज्ञानाकारप्रधान अंश तो (ज्ञान का) अनुभव है और अनुभूत विषयाकारप्रधान अंश (शुद्ध) स्मृति है । स्मृति दो प्रकार की होती है—कल्पितस्मृतिविषय वाली और यथार्थस्मृतिविषय वाली । स्वप्न में कल्पितस्मृतिविषय वाली तथा जाग्रत्काल में यथार्थस्मृतिविषय वाली स्मृति होती है । और ये सभी स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अनुभव से होती हैं । और ये सभी वृत्तियाँ सुखदुःखमोहात्मक होती हैं । सुख, दुःख और मोह का व्याख्यान क्लेशों के प्रसङ्ग में (विस्तार से) किया जाना चाहिए । सुख का अनुगामी राग है, दुःखानुवर्ती द्वेष है और मोह तो अविद्या ही है । ये सभी वृत्तियाँ निरुद्ध की जानी चाहिए । इन (सब) का निरोध होने पर सम्प्रज्ञात या असम्प्रज्ञात समाधि (सिद्ध) होती है ॥ ११ ॥

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—अनुभूतः प्रमाणादिभिर्ज्ञातः यो विषयः घटादिः तस्य असम्प्रमोषः (नञ् + सम् + प्र + √मुष् + घञ्) = अनपह्नवः, अविकला उपस्थितिः । अनुभव किये गये विषयों का (चित्त में) उपस्थित बने रहना (लुप्त न होना) 'स्मृति' नाम की वृत्ति है ।

(Memory is when the perceived odjects do not slip away and through impressions come back to consciousness.)

'प्रमाणादिभिरनुभूते विषये योऽसम्प्रमोषः अस्तेयः सा स्मृतिः' ।[1]

अनुभूतविषयों की चोरी न होने अर्थात् बुद्धि से लुप्त न होने को 'स्मृति' कहते हैं। फलतः चित्त में अनुभूतविषयों की उपस्थिति ही 'स्मृति' है ॥ ११ ॥

(**भा० सि०**)—अब समस्या यह है कि अनुभूतविषय की चित्त में जो उपस्थिति है, उसमें 'विषय' की उपस्थिति होती है ? अथवा (विषय के) 'अनुभव' की ? जैसे—(अनुभूत) 'घट' की स्मृति होती है, या घट का जो अनुभव हुआ है—उस 'अनुभव' की स्मृति होती है ? इस शङ्का को समाहित करने के लिये भाष्यकार आरम्भ करते हैं कि—

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरत्याहोस्विद्विषयस्येति—क्या स्मृतिकाल में चित्त बीते हुए ('मुझे घटादि का अनुभव हुआ था'–इस रूप के) अनुभव का स्मरण करता है अथवा (जो अनुभूत हुए थे उन) घटादि का स्मरण करता है ? इस बात को स्पष्ट करने के लिए स्मृति की पूरी प्रक्रिया जान लेनी चाहिए कि स्मृति कैसे और किस कारण से होती है । यह प्रक्रिया भाष्यकार समझा रहे है—

ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते । अनुभवकाल में ग्राह्यविषय (घटादि) से उपरक्त या उपरञ्जित ही ज्ञान होता है; इसलिये वह घटाद्यनुभवरूपज्ञान, ग्राह्यविषय 'घटादि' तथा ग्रहणात्मक 'अनुभव'—इन दोनों के आकार में भासित होता है और अपनी विषयाकारता एवम् अनुभवाकारता (अर्थात् ग्राह्यग्रहण इन दोनों के रूप के होने) के कारण । तथाजातीयकम्—उसी तरह के, तत्सदृश ही संस्कारों को उत्पन्न करता है, क्योंकि 'सांख्ययोग' के अनुसार जो वस्तु स्वयं जैसी होती है, वह वैसा ही कार्य उत्पन्न कर सकती है, 'शक्तस्य शक्यकरणात् ।' 'न्यायवैशेषिक' सिद्धान्त के अनुसार भी 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'—यही बात उत्पन्न होती है। आरभते—जनयति, उत्पन्न करती है ।

स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति—घटादिविषयों के अनुभव से उत्पन्न ये संस्कार ही आगे चलकर स्मृति को उत्पन्न करते हैं । अब चूँकि ये संस्कार भी 'ग्राह्यग्रहणोभयाकार' रूप के निर्मित हुए हैं, इसलिए ये 'विषय' और 'अनुभव' दोनों के आकारवाली (ठीक वैसी ही) स्मृति को उत्पन्न करते हैं । क्यों उत्पन्न करते हैं ? क्योंकि वे 'स्वव्यञ्जकाञ्जन' होते हैं । स्वव्यञ्जकाञ्जनः—अपने व्यञ्जक या उद्बोधक के द्वारा अञ्जन या अभिव्यक्ति होती है जिसकी, वह हुआ स्वव्यञ्जकाञ्जन । अपने उद्बोधक कारण के द्वारा अभि-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४१ ।

व्यक्त होनेवाला । स्वस्य व्यञ्जकः उद्बोधक इति स्वव्यञ्जकस्तेन अञ्जनम्, अभि-व्यक्तिः (उद्बोधः = स्मृत्युपस्थापने सामर्थ्यम्) यस्यासौ तथोक्तः स्वव्यञ्जकाञ्जनः । **'स्वस्य व्यञ्जकेनोद्बोधकेन (कारणेन) अञ्जनं व्यक्तीभवनं यस्य तादृशः'** ।[१]

'व्यञ्जकम् उद्बोधकम् अञ्जनं फलाभिमुखीकरणं यस्येत्यर्थ.' ।[२]

विज्ञानभिक्षु 'स्वव्यञ्जकाञ्जनः'-पद को संस्कारों का सार्वकालिक विशेषण न मानकर स्थितिविशेष में विशेषण मानते हैं और इस प्रकार अर्थ करते हैं— **'स्वाभिव्यञ्जकेन कालादिना अभिव्यक्तो भवति तदा, तदाकारां स्वसमानाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां तदुभयविषयिणीं स्मृतिं जनयतीत्यर्थः'** ।[३] दोनों प्रकार के अर्थ यह बात स्वीकार करते हैं कि उद्बोधक या अभिव्यञ्जक के द्वारा अभिव्यक्त हुए या होनेवाले 'संस्कार' स्मृति को उत्पन्न करते हैं । तदाकारामेव—उसी आकार की । अर्थात् ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिम्—ग्राह्याकार एवं ग्रहणाकार अर्थात् अनुभूत-विषय तथा अनुभव—इन दोनों के आकार की स्मृति को । जनयति—उत्पन्न करता है । इस प्रकार उभयाकारानुभवजन्य, उभयाकार-संस्कारों से उभयाकार ही स्मृति उत्पन्न होती है ।

तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः—इस उभयाकार स्मृति में अनुभवाकारप्रधान अंश तो बुद्धि अर्थात् 'अनुभव' है, स्मृति नहीं; क्योंकि इस अंश में तो पहले हुए अनुभव का अननुभूतपूर्व (अर्थात् पहली बार) अनुभव हो रहा है । यहाँ पर स्मृतिकाल में होनेवाले ज्ञान का विषय 'अनुभव' है, जो इस स्मृतिकाल के पहले तक अनधिगत ही था । इसलिए इस अंश में तो अनधिगतार्थ का ही ज्ञान होता है । इसी कारण यह 'स्मृति' नहीं है । ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः—ग्राह्यस्य अनुभूतविषयस्य आकारः घटादेः रूपं पूर्वं प्रधानं यस्याः सा, जो घटादिविषयों के आकार के प्राधान्यवाला अंश है, वह शुद्ध 'स्मृति' है । **'स्मृतिस्तु ग्राह्याकारविशेष्यिका भवति 'स घट' इत्येव स्मरणात्'** ।[४] घटादिविषय पहले के अनुभवकाल में अनुभूत हो चुके होते हैं । जो इनके विषय की वृत्ति बनी, वह वृत्ति पूर्वाधिगतार्थ की वृति हुई, इसलिये यह 'स्मृति' हुई । इस प्रकार 'वास्तविकस्मृति' अनुभूतविषयों की ही होती है, विषयानुभव की नहीं—यह निश्चित हुआ । सा च द्वयी—और वह स्मृति दो प्रकार की होती है—

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४२ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४२ ।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४२ ।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४२

१. भावितस्मर्तव्या—कल्पितः स्मर्तव्यो यस्याः सा तथोक्ता, कल्पित (स्मरणीय) विषयवाली स्मृति। जिस स्मृति का विषय कल्पित या अयथार्थ होता है, उसे 'भावितस्मर्तव्यास्मृति' कहते हैं।

२. अभावितस्मर्तव्या—अभावितः अकल्पितः पारमार्थिकः यथार्थः स्मर्तव्यः यस्याः सा तथोक्ता, यथार्थ (स्मरणीय) विषयवाली स्मृति। जिस स्मृति का विषय अकल्पित या सद्भूत होता है, उसे 'अभावितस्मर्तव्यास्मृति' कहते हैं।

स्वप्ने भावितस्मर्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति—स्वप्नों में भावितस्मर्तव्यास्मृति होती हैं, क्योंकि स्वप्नकाल में वस्तुओं की यथार्थ स्मृति नहीं होती। घटनाओं और वस्तुओं की अन्विति स्वप्नों में यथाभूत या जैसी की तैसी नहीं होती। उनके अन्वयन में बड़ी विसंगति रहती है। कहींकी जानी गयी वस्तु किसी भिन्न परिप्रेक्ष्य में और भिन्न घटनाक्रम में घुली-मिली स्मृत होती है। इस याथातथ्य के परिवर्तन को मन की उद्भावना ही कहा जा सकता है। इसीलिए स्वप्नकाल की स्मृति को 'भावितस्मर्तव्या' कहते हैं। जागरणकाल की स्मृति में जो वस्तु जैसी अनुभूत हुई रहती है, उसका उसी क्रम और उसी परिप्रेक्ष्य में स्मरण होता है। इसलिए जागरणकाल की स्मृति को 'अभावितस्मर्तव्या' कहा गया है। अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि क्या जागरण-काल में सब स्मृतियाँ यथार्थ रूप की ही होती हैं, जिससे कि उन्हें 'अभावितस्मर्तव्या' कहा जाता है ? तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि यह तो ठीकस्मृति का निरूपण किया जा रहा है। यदि जागरणकाल में ठीकस्मृति नहीं हो रही है, अपूर्ण या अशुद्धिपूर्ण स्मृति हो रही है, तो वह तो स्मृति ही नहीं है। उसका यहाँ लक्षण ही नहीं दिया जा रहा है। यह तो 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः'—इस लक्षणवाली 'स्मृति' का वर्णन किया जा रहा है। जागरणकाल में होनेवाली अयथार्थस्मृति को हम 'विपर्ययवृत्ति' में अन्तर्भावित कर सकते हैं।

स्मृतियाँ सभी प्रकार के अनुभवों से उत्पन्न होती हैं। प्रमाणरूप अनुभव, विपर्ययरूप अनुभव, विकल्परूप अनुभव, निद्रारूप अनुभव और स्मृतिरूप अनुभव—इन सभी अनुभवों की स्मृति होती है। जैसे—हमें अमुक व्यक्ति की याद आयी थी, इस स्मृत्यात्मक अनुभव की स्मृति होती है। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः—ये सभी वृत्तियाँ (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) बुद्धि की त्रिगुणात्मकता के कारण सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक—तीनों प्रकार की हो सकती हैं। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः—इन सुख, दुःख और मोह का व्याख्यान (पाँचों) क्लेशों के प्रसङ्ग में किया जायेगा। सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविद्येति—सुख का अनुगमन करनेवाला 'राग' नाम का क्लेश होता है। अनुशयी—अनुशयितुं शीलमस्येति (अनु + √शीङ् + णिनिः) अर्थात् पीछे होने वाला।

'सुखानुशयी' का अर्थ हुआ सुख के पीछे होने वाला, इसी प्रकार दुःखानुशयी अर्थात् दुःख का अनुगमन करने वाला या दुःख के पीछे होने वाला 'द्वेष' नाम का क्लेश होता है। और 'मोह' तो स्वयं अविद्या नाम का क्लेश है। इस प्रकार सुख, दुःख और मोह—तीनों क्लेशोत्पादक और क्लेशरूप होते हैं। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः—ये सभी अर्थात् पाँचों वृत्तियाँ (पाँचों प्रकार के ज्ञान) निरुद्ध किये जाने चाहिए। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति—इनका निरोध होने पर ही 'सम्प्रज्ञात' और उसके बाद में क्रमसाध्य 'असम्प्रज्ञात' समाधियाँ सिद्ध होती हैं।

शङ्का—असम्प्रज्ञातसमाधि में तो सभी वृत्तियों का निरोध होना बिल्कुल ठीक है और सर्वथा उपपन्न है, किन्तु 'सम्प्रज्ञात' में 'ध्येय' विषय का प्रत्यक्ष होता ही रहता है और प्रत्यक्ष 'प्रमाण' नामक वृत्ति है। फिर सम्प्रज्ञातदशा में सभी वृत्तियों का निरोध कहा जाना कैसे संगत है ? समाधान—इसका समाधान यह है कि 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में भी त्रिगुणात्मक सभी लौकिकप्रत्यक्षादिवृत्तियों का निरोध अनिवार्यतः हो जाता है। 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में ध्येयविषय का जो 'साक्षात्कार' होता है, वह साधारण लौकिकप्रत्यक्षवृत्ति से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि लौकिकप्रत्यक्ष के लिये बुद्धि के वस्तुसम्पर्क करने पर इन्द्रियप्रणालिका को अवश्य ही माध्यम बनना पड़ता है ॥११॥

अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति—

अब इनके निरोध का कौन-सा उपाय है ? इस सम्बन्ध में (कहते हैं)—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यास और वैराग्य से उनका निरोध होता है ॥ १२ ॥

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी। वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥

चित्तरूपिणी नदी दो धाराओं में बहनेवाली होती है। कल्याण के लिए बहती है और पाप के लिए बहती है। जो धारा कैवल्याभिमुखी तथा विवेकविषयमार्गगामिनी होती है, वह कल्याण के लिये बहने वाली धारा है; (और) संसाराभिमुखी तथा अविवेकविषयमार्गगामिनी धारा पाप के लिए बहने वाली होती है। उनमें (से) वैराग्य के द्वारा (अविवेक) विषय—(मार्गगामिनी) धारा क्षीण की (सुखायी) जाती है। विवेकदर्शन के अभ्यास से विवेक—(विषयमार्गगामिनी)

धारा उद्घाटित की जाती है। इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोध, वैराग्य और अभ्यास दोनों के ही अधीन होता है ॥ १२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—चित्तवृत्तियों का स्वरूप, उनके भेदप्रभेद और उनकी क्लेशयुक्तता तथा क्लेशहीनता का विवेचन करके अब वृत्तिनिरोध का स्वरूप और वृत्तिनिरोध का उपाय बताने का उपक्रम किया जा रहा है। सबसे पहले वृत्ति-निरोध का उपाय बता रहे हैं। अभ्यासवैराग्याभ्याम्—अभ्यास और वैराग्य के द्वारा। तन्निरोधः—तासां पूर्वोक्तचित्तवृत्तीनां निरोध इति तन्निरोधः (भवतीत्यर्थः), पहले बतायी गयी चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है। चित्तवृत्तियों के निरोध के दो उपाय हैं—

१. अभ्यास और २. वैराग्य।

'अभ्यासवैराग्ययोर्निरोधे जनयितव्येऽवान्तरव्यापारभेदेन समुच्चयो न तु विकल्प इति।'[1] इन दोनों उपायों की उपयोगिता, चित्तवृत्तिनिरोध के क्रम में, इस प्रकार से है कि 'वैराग्य' के द्वारा चित्तवृत्तियों की ऐहिक और आमुष्मिक विषयों की ओर सहज उन्मुखता रोकी जाती है अर्थात् उनकी ओर से चित्त को विमुख किया जाता है। फिर 'अभ्यास' के द्वारा चित्त को एकाग्र या स्थिर किया जाता है। श्रीमद्भगवद्-गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी मनोनिग्रह के लिए यही दोनों उपाय बताये हैं—

'असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते[2] ॥'

इस प्रकार चित्त के बहिर्मुख प्रवाह को वैराग्य के द्वारा रोककर, अभ्यास के द्वारा अन्तर्मुख करके, वृत्तियों को संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त में शक्तिरूप से सन्निविष्ट किये रखना ही वृत्तियों का निरोध है। **'तासां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानामन्तर्मुखतया स्वकारण एव चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्'**[3] ॥ १२ ॥

(भा० सि०)—इस बात को समझाने के लिए भाष्यकार 'रूपक' का प्रयोग करते हुए कहते हैं—

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी—चित्त एक नदी है, जो कि दो धाराओं में बहती है। उभयतोवाहिनी—दोनों ओर बहने वाली होती है। आशय यह है कि यह चित्त-रूपिणी नदी दो धाराओं में बहने वाली होती है। वहति कल्याणाय—यह नदी अपनी एक धारा से कल्याण[4] के लिए अर्थात् कल्याण या मोक्ष तक बहनेवाली होती है।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४४।
२. द्रष्टव्य; श्रीमद्भगवद्गीता ६।३५।
३. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ०७।
४. 'कल्याणं मोक्षस्तदर्थम्'—यो० वा० पृ० ४४।

वहति पापाय च—और दूसरी धारा से संसार[1] या पाप के लिए अर्थात् संसार या बन्धन तक बहने वाली होती है। या तु कैवल्यप्राग्भारा—इनमें से जो धारा। कैवल्य-प्राग्भारा—मोक्षाभिमुखी होती है। प्राग्भारः[2]—प्रबन्धः, कैवल्यं प्राग्भारः प्रबन्धः यस्याः सा तथोक्ता, कैवल्य की ओर बँधी हुई, जाती हुई। प्राग्भारा[3]—अभिमुखी कैवल्याय प्राग्भारा इति तथोक्ता, कैवल्य की ओर उन्मुख या जाती हुई। विवेक-विषयनिम्ना—विवेकज्ञानरूप निम्नता या गमनमार्गवाली है। सा कल्याणवहा—वह तो कल्याणवाहिनी धारा है। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा—और जो धारा संसाराभिमुखी तथा अज्ञानमार्ग से चलने या गुजरने वाली होती है, वह पापवाहिनी धारा है।

सामान्यजनों में चित्त की दोनों प्रकार की धाराएँ होती हैं, किन्तु कल्याण-वाहिनी धारा बड़ी हल्की और छिन्न-भिन्नरूप की या कटी-फटी होती है। उनकी पाप-वाहिनी धारा सुदृढ और ठीक से प्रवाहित रहती है। इसलिये योगी को चाहिए कि वह पापवाहिनी धारा को क्षीण करे और कल्याणवाहिनी धारा को ठीक से प्रवाहित करे। तभी वह कैवल्यपद की ओर अग्रसर हो सकता है और उस कैवल्यरूप कल्याण का लाभ कर सकता है। अब एक धारा को क्षीण करने या सुखाने तथा दूसरी धारा को ठीक से प्रवाहित करने का क्या उपाय है? इसे अगले भाष्य में समझाया जा रहा है।

तत्र—वे उपाय हैं, वैराग्य और अभ्यास। इन दोनों उपायों में से 'वैराग्येण' जो 'वैराग्य' नाम का उपाय है—उसके द्वारा। विषयस्रोतः—(अविवेकपूर्ण ऐहिक और आमुष्मिक) विषयों वाली पापवाहिनी धारा। खिलीक्रियते—तोड़ी जाती है या सुखायी जाती है।[4] तात्पर्य यह है कि वैराग्य नामक उपाय से चित्त की अविवेकपूर्ण विषयोन्मुखता दूर की जाती है, विषयविमुखता उत्पन्न की जाती है। विवेकदर्शना-भ्यासेन—और तत्त्वज्ञान के अभ्यास अर्थात् एकाग्रता के अभ्यास से। विवेकस्रोतः—विवेकज्ञानवाली कल्याणवाहिनी धारा। उद्‌घाटयते—खोली जाती है[5] अर्थात् ठीक

---

१. 'पापं संसारस्तत्फलत्वात्तत्कारणत्वाद्वा तदर्थम्'—यो० वा० पृ० ४४।

२. 'प्राग्भारः प्रबन्धः'—त० वै० पृ० ४५।

३. 'प्राग्भारा अभिमुखी, विवेकविषयो निम्नो गमनमार्गो यस्या इत्यर्थः।'
—यो० वा० पृ० ४४।

४. 'अल्पीक्रियते'—यो० वा० पृ० ४५।
'अल्पीक्रियते, निरुध्यते'—भा० पृ० ४५।
'अवरुध्यते'—पात० रह० पृ० ४५।

५. 'निरावरणं क्रियते'—पात० रह० पृ० ४५।

से प्रवाहित की जाती है। तात्पर्य यह है कि 'अभ्यास' नामक उपाय से चित्त को विवेकज्ञान की ओर एकाग्र किया जाता है। इति उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः—इस प्रकार चित्तवृत्तियों का निरोध, वैराग्य और अभ्यास—इन दोनों उपायों के अधीन (निहित) है ॥ १२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

उनमें (से) स्थिति के निमित्त प्रयत्न करना अभ्यास है ॥ १३ ॥

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः, तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः। तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

(राजस और तामस) वृत्तियों से रहित चित्त का निस्तरङ्ग प्रवाहित होना (चित्त की) स्थिति है। उसके लिये मानसिक प्रयास या उत्साह ही प्रयत्न है। (तात्पर्यतः) उस (स्थिति) को सम्पादित करने की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना (ही) अभ्यास है ॥ १३ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तत्र—उन दोनों वृत्तिनिरोधोपायों में से। **'तत्राभ्यासवैराग्ययोर्मध्ये।'**[१] अभ्यास का क्या लक्षण है? वह लक्षण दिया जा रहा है—स्थितौ यत्नः—स्थिति के लिये किया गया प्रयत्न। **'स्थित्यर्थं यो यत्नः सोऽभ्यासः'**।[२] स्थितिः—प्रशान्तवाहिता, **'हर्षशोकादितरङ्गरहिता या एकाग्रवृत्तिधारा[३]।'** **'विमला सात्त्विकवृत्तिवाहिता एकाग्रता स्थितिस्तदर्थ इति[४]।'**

चित्त का निर्बाधरूप से निस्तरङ्ग या एकाग्र बना रहना ही चित्त की स्थिति है। इस सूत्र में 'स्थितौ'-पद से अभ्यास का 'प्रयोजन', 'यत्न'-पद से अभ्यास का 'स्वरूप' और पूरे सूत्र से अभ्यास का 'लक्षण' किया गया है। यत्नः—चेष्टा या मन से प्रयास करना। आशय यह है कि योगाङ्गों का अनुष्ठान करना ही 'अभ्यास' है। यहाँ पर 'स्थिति' शब्द में 'सप्तमी' विभक्ति लगी हुई है। यह सप्तमी विभक्ति 'निमित्तात्कर्मयोगे' सूत्र के अनुसार 'स्थिति' को निमित्त बताने के लिये लगी हुई है। 'स्थिति' रूपी निमित्त या फल के लिये किया गया यत्न 'अभ्यास' कहा जाता है। **'स्थितौ इति निमित्तसप्तमी व्याख्याता यथा चर्मणि द्वीपिनं हन्तीति।'**[५] **'तथा च चर्मणि द्वीपिनं हन्तीतिवदियं निमित्तसप्तमीति'**[६] ॥ १३ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४५।
२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४५।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४५।
४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४६।
५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४६।
६. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४५।

(**भा० सि०**)—भाष्यकार पहले 'स्थिति' शब्द का अर्थ स्पष्ट करने का उपक्रम करते हैं—

अवृत्तिकस्य चित्तस्य—अल्पवृत्तिकस्य चित्तस्य, यहाँ पर 'नञ्' का प्रयोग अल्पार्थ में हुआ समझना चाहिए; क्योंकि चित्त की एकाग्रता की दशा में स्थिति होती है और उस एकाग्रता में 'सात्त्विकवृत्ति' अवश्य ही रहती है। केवल राजस और तामस वृत्तियों की शून्यता ही यहाँ अभिप्रेत है। तभी चित्त की स्थिति होती है अर्थात् चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है। इसीलिए वाचस्पतिमिश्र ने 'अवृत्तिकस्य' का अर्थ किया है—**'अवृत्तिकस्य राजसतामसवृत्तिरहितस्य'**[1]। विज्ञानभिक्षु भी कहते हैं—

'अवृत्तिकस्य वृत्त्यन्तरशून्यस्य न तु वृत्तिसामान्याभाववतः'।[2]

'नञ्' का प्रयोग सामान्यरूप से ६ अर्थों में किया जाता है—

'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाष्षट् प्रकीर्तिताः'॥

(१) तत्सादृश्यम्—यथा 'अब्राह्मणः'—ब्राह्मण से अन्य और ब्राह्मणसदृश कोई।
(२) तदभावः—यथा 'अपापम्'—पापशून्य।
(३) तदन्यत्वम्—यथा 'अनश्वः'—अश्व के अतिरिक्त कोई पशु।
(४) तदल्पता—यथा 'अनुदराकन्या'—कृशोदरी कन्या। या इसी प्रकरण में प्रयुक्त 'अवृत्तिकं चित्तम्'—स्वल्पमात्र अर्थात् एक ही वृत्तिवाला चित्त।
(५) अप्राशस्त्यम्—यथा 'अपशवः'—क्षुद्रपशुगण।
(६) विरोधः—यथा 'अधर्मः'—पाप।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'नञ्' का अर्थ 'स्वल्पता' ही है। प्रशान्तवाहिता-चित्त का शान्त रूप में बने रहना, चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति का प्रवाहित होना अर्थात् चित्त की राजसतामससमुद्रेकरहित सात्त्विक एकाग्रता।[3] चित्त की इस प्रशान्तवाहिता का स्पष्टीकरण स्मृतियों में इस प्रकार किया गया है—

'श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति च स शान्त इति कथ्यते'॥[4]

इस प्रकार राजसतामसवृत्तिरहित—केवल सात्त्विक वृत्तिवाले चित्त की शान्त या निस्तरङ्ग स्थिति होती है।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४५।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० ४५।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४५।
४. द्रष्टव्य; विज्ञानभिक्षु के द्वारा उद्धृत तन्त्रोक्ति।

तदर्थः—उस स्थिति के लिये किया गया। प्रयत्नः—यत्नः, प्रयासः, वीर्यम्, उत्साहः। स्थिति के लिये 'वीर्य' या 'उत्साह' ही यत्न हैं। इसी प्रयत्न को और अधिक स्पष्टरूप से व्याख्यात करने के लिए भाष्यकार आगे कहते है—

तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः—सम्पादयितुम् (साधयितुम्) इच्छेति, सम् + √पद् + णिच् + सन् + अ + टाप्=सम्पिपादयिषा, तस्याः (स्थितेः) सम्पिपादयिषा तत्सम्पिपादयिषा, तया (षष्ठीतत्पुरुषसमासः)। स्थिति को साधने या पूरी कर लेने की इच्छा से। तस्याः (स्थितेः) साधनानां (योगाङ्गानाम्) अनुष्ठानम् (आसेवनम्) इति तत्साधनानुष्ठानमेव अभ्यासः। स्थिति के साधनों का अनुष्ठान करना ही अभ्यास है। **'स्थितिसाधनानि अन्तरङ्गबहिरङ्गाणि यमनियमादीनि'**[1] ॥१३॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

वह तो दीर्घकालपर्यन्त, लगातार तथा सत्कारसहित किये जाने पर दृढभूमि होता है ॥ १४ ॥

दीर्घकालासेवितो, निरन्तरासेवितः, सत्कारासेवितः। तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

दीर्घकालपर्यन्त किया गया, लगातार किया गया तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से किया गया (अतः) सत्कारवान् अभ्यास दृढभूमि होता है, (अर्थात्) व्युत्थानसंस्कार के द्वारा तुरन्त ही अभिभूत नहीं होता ॥ १४ ॥

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। स तु—अभ्यासस्तु, यह अभ्यास तो। दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो—दीर्घकालः नैरन्तर्यं सत्कारश्चेति (इतरेतरद्वन्द्वसमासः) दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराः, तैः आसेवितः तथोक्तः। दीर्घकालतक, निरन्तर, सत्कारपूर्वक किया गया अभ्यास। दृढभूमिः (भवतीति शेषः) —दृढा भूमिर्यस्यासौ (बहुव्रीहिसमासः), सुदृढ हो जाता है, परिनिष्ठित हो जाता है ॥ १४ ॥

(**भा० सि०**)—दीर्घकालासेवितः—दीर्घकालेन दीर्घकालपर्यन्तं वा आसेवितः, अनुष्ठितः, सम्पादितः, दीर्घकाल तक किया गया अभ्यास। निरन्तरासेवितः—नैरन्तर्येणासेवितः, निरन्तरता के साथ किया गया अर्थात् नियम से प्रतिदिन किया गया अभ्यास। **'प्रत्यहं प्रतिक्षणमासेवितः।'**[2] **'आसुषुप्तेरिति भाष्यार्थः।'**[3]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४६।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४६।

३. द्रष्टव्य; पात० रह० पृ० ४६।

सत्कारेण च आसेवितः—सत्कारः आदरातिशयः, तेन सह। अर्थात् तपसा—तपस्या या द्वन्द्वादिसहनपूर्वक। ब्रह्मचर्येण—वीर्यरक्षापूर्वक। विद्यया—शास्त्रज्ञानपूर्वक। श्रद्धया च—और योग के प्रति आदरातिशयपूर्वक किया गया अभ्यास। सत्कारवान्–सत्कृत, सुसेवित अभ्यास। भाष्यकार ने 'सत्कारपूर्वक' का व्याख्यान—तपस्या, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक—इन चार पदों से किया है। योगाभ्यास के प्रति 'सत्कार' तपस्यादि चारों के द्वारा माना गया है। ऐसी श्रुति भी है—

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति।'[1]

दृढभूमिर्भवति—सुस्थिर या सुदृढ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि व्युत्थान-संस्कारों से। द्रागित्येव—तुरन्त ही। अनभिभूतविषयः—अभिभूत नहीं हो जाता या खण्डित नहीं होता। इत्यर्थः—यह आशय या तात्पर्य है। अभिप्राय यह है कि यह अभ्यास या चित्तैकाग्रय प्रबलव्युत्थानसंस्कारों से अभिभूत तो हो ही जाता है और तभी समाधिदशा से हटकर साधक लौकिकदशा या व्युत्थान अवस्था में उतरता है। यदि ऐसा न हो तो साधक का खाना, पीना, सोना—आदि सभी लौकिक व्यापार असम्भव हो जायें। अभ्यास के दृढभूमि हो जाने से लाभ यह होता है कि समाधि बहुत शीघ्र भङ्ग नहीं होती। देर तक बनी रहती है। तभी समाधि की अगली भूमिकाओं को जीतने के क्रम में बाधा नहीं होती। बाद में इच्छानुसार या निश्चयानुसार समाधि लगायी और तोड़ी जाती है। उससे लोकव्यवहार की मर्यादा भी चलती जाती है और समाधिसिद्धि भी होती जाती है। इसीलिए भाष्यकार ने 'द्रागित्येव' पद का प्रयोग किया है **'अभ्यासं कृत्वोपरमे च कालक्रमादभिभवो भवत्येवेति प्रतिपादयितुं द्रागित्येवेत्युक्तम्'**[2] ॥१४॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

ऐहिक और पारलौकिक विषयों से निःस्पृह चित्त का 'वशीकारसंज्ञा' (नामक) (अपर) वैराग्य होता है ॥ १५ ॥

स्त्रियोऽन्नं[3] पानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य[4] स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य, दिव्यादिव्यविषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

---

१. द्रष्टव्य; छान्दोग्योपनिषद् १।१।१०।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४६।

३. 'अन्नपानम्' इति पाठान्तरम्।

४. 'विरक्तस्य' इति पाठान्तरम्।

स्त्रियाँ, अन्न, पान और प्रभुता—इन दृष्ट (अर्थात् ऐहिक) विषयों के प्रति निःस्पृह तथा स्वर्ग, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्वलाभरूपी वेदबोधित (अर्थात् पारलौकिक) विषयों के प्रति उदासीन, (अर्थात्) इन ऐहिक एवं आमुष्मिक विषयों का सम्पर्क होने पर भी, विषयों के दोषों का दर्शन करने वाले चित्त की, विवेकज्ञान के बल से भोगाभावरूपिणी (अर्थात्) त्याग या ग्रहण की बुद्धि से शून्य 'वशीकारसंज्ञा' (अर्थात् उपेक्षाबुद्धि) ही (अपर) वैराग्य है ॥ १५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—योग के दो उपाय बताये गये थे—अभ्यास और वैराग्य । इनमें से अभ्यास के लक्षण तथा प्रयोग का निरूपण १३वें और १४वें सूत्रों में कर दिया गया। अब इस सूत्र तथा अगले सूत्र में द्विविध वैराग्य का वर्णन किया जायेगा । वैराग्य दो प्रकार का कहा गया है—(१) अपरवैराग्य और (२) परवैराग्य । योगसाधना के प्रारम्भ से लेकर विवेकख्यातिपर्यन्त जिस वैराग्य की आवश्यकता और सम्भाव्यमानता होती है, उसे 'अपरवैराग्य' कहते हैं । सम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध हो जाने पर प्राप्त होनेवाली विवेकख्याति के उपरान्त विवेकख्यातिविषयक या तत्त्वज्ञानविषयक वैराग्य को 'परवैराग्य' कहते हैं । 'परवैराग्य' के अभ्यस्त होने पर असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होती है । इस १५वें सूत्र में 'अपरवैराग्य' का लक्षण बताया जा रहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्—दृष्टाश्च आनुश्रविकाश्चेति दृष्टानुश्रविकाः, त एव (द्विविधाः) विषयाः इति दृष्टानुश्रविकविषयास्तेषु वितृष्णस्येति दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य (चित्तस्य) । दृष्टविषयाः—इस लोक में सुलभ होने वाले 'शब्दादि' विषय । आनुश्रविकविषयाः—अनुश्रूयत इति अनुश्रवो वेदः । अनुश्रव + ठक् = आनुश्रविकः, वेद में विदित । वेद में बताये गये 'स्वर्गलोकादि' विषय । इन दोनों प्रकार के विषयों में वितृष्ण अर्थात् वीतराग, विरक्त, निःस्पृह या उदासीन चित्त की 'वशीकारसंज्ञा' होती है । इसी 'वशीकारसंज्ञा' को 'अपरवैराग्य' कहते हैं (वशीकार को नहीं) । चित्त की 'वशीकारसंज्ञा' नामक जो स्थिति है, वही 'अपरवैराग्य' है । इसीलिये 'वशीकारः संज्ञा यस्य तद्वैराग्यं वशीकारसंज्ञावैराग्यम्' ऐसा विग्रह करना 'व्याकरण' और 'योग' दोनों की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है; क्योंकि तब बहुव्रीहि समास के अन्यपदार्थपरक होने से वैराग्य का विशेषण होने के कारण 'वशीकारसंज्ञम्'–यही शब्द बनता । यह तो व्याकरणात्मक अनुपपत्ति हुई ।

वस्तुतः यह 'वशीकारसंज्ञा' वितृष्णचित्त की एक स्थिति (उपेक्षाबुद्धिरूपिणी) है । इसका अन्वय 'वितृष्णस्य' पद के साथ है । यह पद 'वैराग्यम्' का विशेषण या अपरपर्याय नहीं है । प्रत्युत यह वितृष्णचित्त की एक विशिष्टस्थिति का वाचकपद है । वितृष्णस्य चित्तस्य या वशीकारसंज्ञा अर्थात् वशीकारप्रकारा संज्ञा, बुद्धिः सा एव

(अपर-)वैराग्यमिति । इसलिये 'वशीकार' को अपरवैराग्य का नाम मानना योग-शास्त्रगत भ्रान्ति होगी ॥ **'तथा च रागद्वेषशून्या विषयसाक्षात्कारस्य योग्यता वशीकारसंज्ञाऽऽख्यं वैराग्यमिति पर्यवसितम्[१] ।'**

(१) भाष्यकार—**'चित्तस्यानाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्[२] ।'**

(२) तत्त्ववैशारदीकार—**'सङ्गदोषरहिता योपेक्षाबुद्धिर्वशीकारसंज्ञा[३] ।'**

(३) भोजदेव—**'या वशीकारसंज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते[४] ।**

(४) वार्तिककार—**रागद्वेषशून्या वशीकारसंज्ञा या वितृष्णा सा वैराग्यमपरमिति शेषः, उत्तरसूत्रे तत्परमिति वचनादस्यापरत्वम्'[५] ॥ १५ ॥**

(भा० सि०)—भाष्य में पहले 'दृष्ट' विषयों को गिनाते हैं । स्त्रियो··· विषये—स्त्रियाँ (पुरुषसाधकों की अपेक्षा से यह कथन है) अन्न, विविधपेयपदार्थ और ऐश्वर्य या स्वामित्व—इन सब 'दृष्ट' या लौकिकविषयों में । वितृष्णस्य—वितृष्ण या निःस्पृह (विगता तृष्णा यस्य, तस्य) । और । स्वर्ग···ऽपि—स्वर्ग, विदेहत्व[६] तथा प्रकृतिलीनत्व[७] (जो कि आनुश्रविक विषय हैं, उन) की प्राप्ति होने पर भी उनमें निःस्पृह चित्त की जो—अनाभोगात्मिका, हेयोपादेयशून्या, वशीकारसंज्ञा होती है, वह (अपर) वैराग्य है । दिव्यादिव्यविषयसम्प्रयोगेऽपि—इन अदिव्य अर्थात् लौकिक या दृष्ट तथा दिव्य अर्थात् स्वर्गादि आनुश्रविक विषयों का सम्पर्क होने पर भी । विषयदोषदर्शिनः चित्तस्य—विषयों का दोष देखने या जानने वाले चित्त की । प्रसंख्यानबलाद्—विषयों के दोषों का प्रकृष्टज्ञान ही उनका प्रसंख्यान है, उसके बल से (अर्थात्) विषयों की पूर्ण जानकारी के कारण । **'तापत्रयपरीतविषयाणां दोषस्तत्परिभावनया तत्साक्षात्कारः प्रसंख्यानं तद्बलादित्यर्थः[८]** । अनाभोगात्मिका—आभोगरहिता, भोगाभावरूपिणी । हेयोपादेयशून्या—रागद्वेषशून्या (हेयशून्यता-द्वेषराहित्य

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४८ ।

२ द्रष्टव्य; योगभाष्यम् ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४८ ।

४. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ८ ।

५. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४८ ।

६. द्रष्टव्य; यो० सि० १।१९ ।

७. द्रष्टव्य; यो० सि० १।१९ ।

८. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४८ ।

और उपादेयशून्यता-रागराहित्य)। वशीकारसंज्ञा—वशीकारबुद्धि, 'वशी' होने की (वश्य न होने की) बुद्धि अर्थात् उपेक्षाबुद्धि है। (सा एव) वैराग्यम्—वही (अपर) वैराग्य है। इस वैराग्य को यद्यपि यहाँ न तो सूत्र में 'अपरवैराग्य' कहा गया है और न भाष्य में; फिर भी अगले सूत्र 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' में बताये गये वैराग्य को 'पर' कहे जाने की अपेक्षा से इस वैराग्य को अपरवैराग्य कहा जाता है। **'उत्तरसूत्रे तत्परमिति वचनादस्यापरत्वम्'**[1] । **'तच्चापरं वैराग्यम्'**[2] ।

इस 'वशीकारसंज्ञा' अर्थात् 'अपरवैराग्य' तक पहुँचने के पहले चित्त की ये क्रमिक स्थितियाँ होती हैं। यथा अपरवैराग्य का क्रम—

१. यतमानसंज्ञा।
२. व्यतिरेकसंज्ञा।
३. एकेन्द्रियसंज्ञा।
४. वशीकारसंज्ञा।

'यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति चतस्रः संज्ञा इत्यागमिनः। रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्त तन्मा प्रावर्तिषतेन्द्रियाणि तत्तद्विषयेष्विति, तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नः सा यतमानसंज्ञा, तदारम्भे सति केचित् कषायाः पक्वाः, पक्ष्यन्ते च केचित्, तत्र पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा, इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थानमेकेन्द्रियसंज्ञा, औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरूपस्थितेष्वपि दिव्यादिव्यविषयेषूपेक्षाबुद्धिः संज्ञात्रयात्परा वशीकारसंज्ञा एतयैव च चरितार्थत्वान्न ताः पृथगुक्ता इति सर्वमवदातम्'[3] ॥१५॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

पुरुष की ख्याति (साक्षात्कार) के कारण गुणों के प्रति जो उपेक्षाबुद्धि होती है, वह परवैराग्य है॥ १६ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्, यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते–प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसङ्क्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४८।
२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४८।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४८।

दृष्ट और वेदबोधित विषयों के दोषों को देखने वाला वितृष्णसाधक (विवेक-ख्यातिकाल में) पुरुष के दर्शन के अभ्यास से उस पुरुषतत्त्व की शुद्धि के ज्ञान से तृप्तचित्त वाला होकर स्थूल और सूक्ष्म स्वरूपवाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है। (इस प्रकार) दो वैराग्य होते हैं (अपर और पर)। इनमें से जो बाद वाला है, वह ज्ञान का चरमकोटिक वैशद्यमात्र है; जिसका उदय होने पर आत्मदर्शी योगी ऐसा मानता है कि प्राप्तव्य प्राप्त हो गया, नष्ट करने योग्य क्लेश नष्ट हो गये और (वह) शृङ्खलाबद्ध संसारचक्र टूट गया, जिसके टूटे बिना जीव जन्म (ले) लेकर मरता तथा (मर) मर कर जन्म लेता रहता है। ज्ञान की पराकाष्ठा ही परवैराग्य है। कैवल्य, इसी का नान्तरीयक है ॥ १६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—'अपरवैराग्य' का लक्षण बताकर सूत्रकार अब 'परवैराग्य' का लक्षण देते हैं। तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्—पुरुषख्यातेर्यद् गुणवैतृष्ण्यं तत् परं वैराग्यं परवैराग्यमित्यर्थः, पुरुषख्याति हो जाने पर, पुरुष का साक्षात्कार हो जाने के कारण साधक के चित्त की जो सत्त्वगुण के प्रति अर्थात् सात्त्विकवृत्ति के प्रति भी वितृष्णा हो जाती है, उसी को 'परवैराग्य' कहते हैं। यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि अपरवैराग्य लौकिक और पारलौकिक विषयों के प्रति वितृष्णा के रूप का होता है। परवैराग्य ज्ञानमात्र के प्रति अर्थात् (सत्त्व) गुण के प्रति भी वितृष्णा के रूप का होता है। **'प्रथमं वैराग्यं विषयविषयं द्वितीयं गुणविषयम्···भवति[1]।'**

अपरवैराग्य से सम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है। इसलिये अपरवैराग्य सम्प्रज्ञात-समाधि का हेतु या उपाय हुआ। किन्तु यह (अपर) वैराग्य असम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात् हेतु या उपाय नहीं बन सकता, क्योंकि यह सम्प्रज्ञातसमाधिफलक अर्थात् ज्ञानफलक है। परवैराग्य, जो कि इस सम्प्रज्ञान या ज्ञान के प्रति वितृष्णा या औदा-सीन्यरूप का होता है, वह असम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात् हेतु या उपाय बनता है। इसलिए इसे 'पर' या 'प्रकृष्ट' कहा गया है। **'तद्वैराग्यं परं प्रकृष्टं······भवति निरोधसमाधेरत्यन्तानुकूलत्वात्'[2]।**

(भा० सि०)—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः—लौकिक और पार-लौकिक विषयों के दोषों का साक्षात्कार करनेवाला वीतरागसाधक पुरुषदर्शनाभ्यास के कारण विवेकख्यातिकाल में पुरुष के शुद्धस्वभाव के साक्षात्कार का अभ्यास (**'पौनःपुन्येन निषेवणं तस्मात्'[3]**) हो जाने के कारण। तच्छुद्धेः—तस्य पुरुषस्य

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ९।
२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ९।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९।

शुद्धेः, उस पुरुष की शुद्धि अर्थात् त्रिगुणातीत निर्मलता के। प्रविवेकेन—गुणपुरुषयोः प्रकर्षेण विवेकः[१] प्रविवेकस्तेन, विविक्तज्ञानेन, तात्त्विकज्ञान से। आप्यायितबुद्धिः (भूत्वा)—**'आप्यायिता, परिपूर्णा, कृतकृत्या'**[२], **'तृप्ता, समाप्तपुरुषार्था'**[३] बुद्धिर्यस्य स तथोक्तो भूत्वा, परिपूर्ण या आप्तबुद्धि वाला होकर। व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो गुणेभ्यः—अभिव्यक्तिरूप धर्म और अनभिव्यक्तिरूप धर्म वाले गुणों (सत्त्वरजस्तमस्) से। सर्वथा। विरक्त इति—विरक्त अर्थात् उदासीन हो जाता है।

इस प्रकार वह 'विवेकख्याति' से भी विरक्त हो जाता है, क्योंकि विवेकख्याति भी तो सत्त्वगुणात्मिका ही होती है। **'स तथाभूतो योगी गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यः सर्वथा विरक्तः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावपि गुणात्मिकायां यावद्विरक्त इति।'**[४] तद् द्वयं वैराग्यम्—इसलिये दो प्रकार का वैराग्य होता है—(१) अपरवैराग्य और (२) परवैराग्य। **'तस्मादुभयं परस्परभिन्नं वैराग्यमित्यर्थः।'**[५] तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्—तत्र—तयोर्द्वयोर्मध्ये, उन दोनों वैराग्यों में से। यदुत्तरम्—जो बादवाला वैराग्य है अर्थात् 'परवैराग्य'। तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्—वह ज्ञान का प्रसाद ही है, चरमकोटिक वैशद्य है और निर्विषय प्रतिफलमात्र है। अर्थात् उसमें ज्ञेय कुछ नहीं रहता। वह ज्ञेयविषयराहित्य 'मात्र' शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है। **'मात्रग्रहणेन निर्विषयतां सूचयति तदेवं हि तादृशं चित्तसत्त्वं रजोलेशमलेनाप्यपरामृष्टमस्याश्रयोऽत एव ज्ञानप्रसाद इत्युच्यते।'**[६]

इस ज्ञानप्रसाद का स्वरूप-वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

यस्योदये—जिस (ज्ञानप्रसाद) के उदित होने पर। प्रत्युदितख्यातिः—आत्मज्ञानयुक्त योगी, **'निष्पन्नात्मज्ञानो योगी'**[७]। एवं मन्यते—ईदृशं जानाति, ऐसा मानता है कि। प्राप्तं प्रापणीयम्—जो प्राप्त करने योग्य था, वह प्राप्त हो गया। क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः—नष्ट करने योग्य पाँचों क्लेश नष्ट हो गये। √क्षि + क्तः = क्षीणाः, नष्टाः (बहु०)। √क्षि + तव्यत् = क्षेतव्याः (बहु०) नष्ट करने के योग्य क्लेश। श्लिष्टपर्वा—सम्मिलित (सँटे हुए) पोरों वाला। श्लिष्टानि संगुम्फितानि पर्वाणि खण्डानि यस्यासौ। भवसंक्रमः—भवः जन्म संसारो वा तस्य संक्रमः चक्रम्, संसार-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४९।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४९।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४९।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४९।

५. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४९।

६. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ५०।

७. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ५०।

चक्र । **'देहाद्देहान्तरसञ्चाराख्यः संसारः'**[1] । छिन्नः—टूट गया या छिन्न-भिन्न हो गया । यस्य—संसारचक्रस्य, जिस संसारचक्र के । अविच्छेदात्—विच्छेद न होने से, न टूटने से । (जन्तुः) जनित्वा—पैदा होकर । म्रियते—मरता (रहता) है । मृत्वा च—और मरकर । जायते—जन्म लेता रहता है । इति—यह शब्द वाक्यसमाप्ति का सूचक है । विषय का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—

ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्—यह (पर) वैराग्य ज्ञान की ही पराकाष्ठा अर्थात् अन्तिम सीमा है । इसके बाद अर्थात् 'असम्प्रज्ञातसमाधि'-काल में ज्ञान नहीं रहता । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यम्—इसी परवैराग्य का ही अविनाभावी नियतपरवर्ती (Necessary corrollary or invariable consequent) विदेहकैवल्य है । **'तस्मादेतस्य हि नान्तरीयकमविनाभावि कैवल्यमिति ।'**[2] अर्थात् इस परवैराग्य के उदित होने पर कैवल्य अवश्यम्भावी हो जाता है, इसलिये कैवल्य परवैराग्य का नान्तरीयक कहा गया है । नान्तरीयकम्—अन्तरा = विना, भवतीति (अन्तरा + छः, गहादित्वात् छप्रत्ययः) अन्तरीयम्; तदेव स्वार्थे कप्रत्ययात् अन्तरीयकम् (उसके बिना होने वाला अर्थात् उससे असम्बन्धित); इसके विपरीत अर्थ में, 'न तथा' इति नान्तरीयकम् (नैकधेत्यादिवत्सुप्सुपासमासः), अविनाभावी, या अवश्यम्भावी, नियत-सम्बन्धी । इसीलिये कहा जाता है कि 'येन विना यन्न भवति तन्नान्तरीयकम् ।' यहाँ पर, येन (कैवल्येन) विना (यत् परवैराग्यं) न भवति तत् (कैवल्यं) नान्तरीयकम् अविनाभावि (नियतम्—यो०वा० पृ० ५१) कैवल्य के बिना परवैराग्य नहीं होता—इस कथन का तात्पर्य यह है कि परवैराग्य के होने पर कैवल्य भी नियतरूप से होगा । ऐसा नहीं हो सकता कि परवैराग्य हो और कैवल्य न हो **'एतस्मिन्नेव सति कैवल्यमावश्यकं नान्यस्मिन् ज्ञाने यमनियमादौ वैराग्ये वा तत्सत्त्वेऽप्यसम्प्रज्ञातानुदयेनाशेषतः प्राचीनकर्मक्षयानियमतः कषायसम्भवतश्च मोक्षे विलम्बसम्भवादिति**[3]**'** ॥ १६ ॥

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति—

अब दो (अभ्यास और वैराग्य) उपायों से निरुद्धचित्तवृत्तिवाले साधक की सम्प्रज्ञातसमाधि किस प्रकार की कही आती है ? यह (बताया जा रहा है)—

वितर्कविचारानन्दाऽस्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः[4] **॥ १७ ॥**

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का अनुगम (अर्थात् साक्षात्कारोदय) होने से सम्प्रज्ञातसमाधि होती है ॥ १७ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ५० ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ५१ ।

३. द्रष्टय; यो० वा० पृ० ५१ ।

४. 'वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्' इति पाठान्तरम् ।

वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः, आनन्दो ह्लादः, एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ॥ १७ ॥

आलम्बन में चित्त की स्थूल (रूप की) परिपूर्णता वितर्क है, सूक्ष्म (रूप की परिपूर्णता) विचार है, आह्लाद (रूप की परिपूर्णता) आनन्द है, (और पुरुष तथा बुद्धि की) एकाकार बुद्धि (रूप की परिपूर्णता) अस्मिता है। उन (चारों) में से प्रथम अर्थात् वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि (इन) चारों से अनुगत होती है। वितर्क से रहित (तथा शेष तीनों से अनुगत) विचारानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि दूसरी है। तीसरी आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि (वितर्क एवं) विचार से रहित (तथा शेष दो से अनुगत) होती है। (और) चौथी (सम्प्रज्ञातसमाधि) इन (तीनों) से रहित केवल अस्मितानुगत होती है। ये सभी समाधियाँ सालम्बन होती हैं ॥ १७ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—अथोपायद्वयेन—अब अभ्यास और (अपर) वैराग्य इन दोनों उपायों के द्वारा। निरुद्धचित्तवृत्तेः—निरुद्धचित्तवृत्तियों वाले साधक को। कथम्—किस रूप की? सम्प्रज्ञातः समाधिरिति—सम्प्रज्ञातसमाधि। (शास्त्रेषु) उच्यते—कही जाती है। इस विषय में यह सूत्र है।

(**सू० सि०**)—समस्त राजस और तामस वृत्तियों का इस समाधि में निरोध हो जाने से केवल सात्त्विकवृत्ति का प्रकाश होता रहता है। इसलिये इस समाधि में सात्त्विकवृत्ति के द्वारा ध्येयविषय का पूर्ण साक्षात्कार उदित होता है। इस साक्षात्कार के कारण ही इस समाधि को 'सम्प्रज्ञात' नाम दिया जाता है (सम् + प्र + √ज्ञा + क्तः कर्मणि = सम्प्रज्ञातः)। सम्यक् (संशयादिरहितत्वेन) प्रकर्षेण (पूर्णतया) ज्ञातः अधिगतः साक्षात्कृतः (ध्येयाभेदोपचारेण) समाधिः सम्प्रज्ञातः। यह सम्प्रज्ञात-समाधि चार प्रकार के ध्येयों का अनुगम (अनुगततत्त्व, उपस्थिति या साक्षात्कार) करने के कारण चार प्रकार की मानी जाती है। वितर्करूप ध्येय का अर्थात् स्थूल पाञ्चभौतिक ध्येय का अनुगम करनेवाली अर्थात् स्थूलध्येय में पूर्णतया तदाकारा-कारित होनेवाली सात्त्विकवृत्ति के उदित होने पर 'वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है। विचार अर्थात् सूक्ष्म पञ्चतन्मात्रादिविषयों का अनुगम होने पर 'विचारानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है। आनन्द अर्थात् आनन्दात्मक इन्द्रियों का अनुगम होने पर 'आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है और अस्मितातत्त्व का अनु-गम होने पर 'अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है। 'अनुगम' शब्द का अर्थ है—'साक्षाद् उपस्थिति'। जब समाधिकालिक चित्त में तत्तद्विषय पूर्णरूप से उपस्थित

रहते हैं अर्थात् उनका पूर्ण साक्षात्कार होता रहता है, उस समय उस-उस विषय का अनुगम कहा जाता है और उस समाधि को तत्तदानुगत कहा जाता है ॥ १७ ॥

(भा० सि०)—भाष्यकार इन वितर्कादि चारों शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं। वितर्कः—वितर्क है। चित्तस्य—चित्त का। आलम्बने—ध्येयविषय में। स्थूल आभोगः—पूर्णतः स्थूलाकाराकारितत्व। आभोगः—'परिपूर्णता'।[१] साक्षात्कारः—पूर्णतः आलम्बनाकाराकारित हो जाना। **'स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः'**[२]। इस प्रकार 'वितर्क' शब्द का अर्थ हुआ चित्त का पूर्णरूप से स्थूलाकाराकारितत्व। सूक्ष्मः (आभोगः) विचारः—आलम्बन में चित्त की पूर्णरूप से सूक्ष्माकाराकारितता 'विचार' है। आनन्दो ह्लादः—आह्लादः, सुखम्। एकादशेन्द्रियाँ ही आनन्द हैं, क्योंकि वे सत्त्वप्रधान अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वप्रधान या सत्त्वरूप होती हैं और सत्त्वगुण सुखात्मक होता है। इसलिये चित्त की पूर्णतः सुखाकाराकारितता 'आनन्द' कही गयी है। एकात्मिका संविदस्मिता—बुद्धिस्थचितिच्छाया अर्थात् बुद्धिस्थ-पुरुषप्रतिबिम्ब ही 'अस्मिता' है। बुद्धि समस्त ज्ञानों को इसी पुरुषप्रतिबिम्ब को अर्पित करती है। इसी अवस्था में स्थित पुरुष सारे अनुभवों को आत्मसात् करता है। अपनी सत्ता का भी अनुभव ('अस्मि'-इस रूप) से वह इसी अवस्था में करता है। इसी को 'अस्मिता' Individuating principle कहते हैं। ग्रहीतापुरुष के साथ बुद्धि की एक-रूपता की-सी स्थिति ही पुरुषतत्त्व को 'अस्मितातत्त्व के रूप' में प्रकट करती है **'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता**[३]**।'** तत्त्ववैशारदीकार ने इस 'अस्मिता' की व्याख्या करते हुए कहा है—**'सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संविद् इति**[४]**।' ऐसी बुद्धि** 'अस्मिता' है, जिसमें एक आत्मा (प्रतिबिम्बरूपेण) उपस्थित है। (एकः आत्मा अस्यामस्ति इति एकात्मिका संविद् बुद्धिः सैवास्मिता।)

यह 'अस्मिता' तत्त्व अन्तःकरण कहे जाने वाले 'अहङ्कार' से भिन्न है—ऐसा भोजदेव मानते हैं। **'न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः, यतो यत्रान्तःकरण-महमिति उल्लेखेन विषयवान् वेदयते सोऽहङ्कारः। यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता**[५]**।'**

वस्तुतः इन दोनों के बीच अन्तर करना उचित नहीं है, क्योंकि यदि 'अस्मिता' और 'अहङ्कार' नाम के दो तत्त्व होते तो 'सांख्ययोग' में एक और अधिक तत्त्व माना

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ५२।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ५१।
३. द्रष्टव्य; यो० सू० २।६।
४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ५४।
५. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १०।

जाना चाहिऐ था। किन्तु आचार्यों ने २५ तत्त्वों से अधिक नहीं माना है। दरअसल 'अस्मिता' और 'अहङ्कार' दोनों एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। सूत्र और भाष्य में इसके सैकड़ों प्रमाण हैं। चित्त में प्रतिबिम्बित होनेवाली पुरुष की सत्ता ही 'अस्मिता' है। इस स्थिति में चित्त और पुरुष दोनों की एकाकारता-सी भासित होती है। यही एकत्वेनावभासमान तत्त्व अर्थात् पुरुषप्रतिबिम्बोपेताबुद्धि ही 'अस्मिता' है और यही 'अहङ्कार' है।

तत्र—इन चारों—१. वितर्कानुगत, २. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत और ४. अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधियों में से। प्रथमश्चतुष्टयानुगतः[1] समाधिः सवितर्कः—पहली अर्थात् 'वितर्कानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि वितर्कादि चारों आभोगों से अनुगत या युक्त रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस समाधि में यद्यपि स्थूल आभोग का प्राधान्य रहता है, फिर भी विचार, आनन्द तथा अस्मिता के आभोग भी गौणरूप से बने रहते हैं। क्योंकि 'स्थूलध्येयविषय' कार्य है और अगली तीन समाधियों के ध्येयविषय, इसके (उपादान) कारण हैं। कार्य (उपादान) कारण से सदा अनुप्रविष्ट रहता है, जबकि (उपादान) कारण कार्य से कभी अनुप्रविष्ट नहीं होता। 'कार्यं कारणानुप्रविष्टं न कारणं कार्येण।'

द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः—(वैसे ही) दूसरी अर्थात् 'विचारानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि वितर्क के आभोग से रहित और शेष तीन आभोगों से युक्त होती है। इसमें 'विचार का आभोग' प्रधानरूप से रहता है। और आनन्द का आभोग तथा अस्मिता का आभोग गौणरूप से वर्तमान रहते हैं। तृतीयो विचारविकलः[2] सानन्दः—तीसरी 'आनन्दानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि विचार के आभोग से भी रहित होती है। इसका वितर्काभोग से रहित होना तो स्पष्ट ही है। इसमें 'आनन्द का आभोग' प्रधान रहता है और अस्मिताभोग गौणरूप से रहता है। चतुर्थस्तद्विकलो[3]ऽस्मितामात्रः—चौथी अर्थात् 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि इस आनन्दाभोग से भी रहित होती है। इसमें केवल 'अस्मिताभोग' रहता है। शेष तीन आभोग गौणरूप से भी नहीं रहते। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः—ये सभी आलम्बनयुक्त सम्प्रज्ञातसमाधियाँ—(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत, (३) आनन्दानुगत और (४) अस्मितानुगत। आलम्बनेन सह वर्तमाना—ध्येयविषय से युक्त ही होती है॥ १७॥

---

१. 'तदयं स्थूल आभोगः स्थूलसूक्ष्मेन्द्रियास्मिता (रूप) कारणचतुष्टयानुगतो भवत्युत्तरे तु त्रिद्वयेककारणकास्त्रिद्वयेकरूपा भवन्ति।' —त० वै० पृ० ५४।

२. 'विचारविषयेणापि विकलः'—यो० वा पृ० ५४।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ५४।

अथासम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति[1] ?

अब असम्प्रज्ञातसमाधि किन उपायों वाली तथा किस स्वभाव की होती है ?

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

परवैराग्य के अभ्यासपूर्वक तथा (निरोध) संस्कारमात्रावशिष्ट (चित्तवाली) समाधि सम्प्रज्ञातसमाधि से भिन्न (असम्प्रज्ञात कही जाती) है ॥ १८ ॥

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो ह्यभ्यास[2]-स्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। स चार्थशून्यः। तदभ्यासपूर्वं[3] चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधि-रसम्प्रज्ञातः ॥ १८ ॥

सभी वृत्तियों के अस्त हो जाने पर चित्त का (निरोध) संस्कार (मात्र)-शेष निरोध, असम्प्रज्ञातसमाधि है। उसका उपाय परवैराग्य है। सालम्बन अभ्यास इसे सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता, इसलिए सकलविषयहीन परवैराग्य ही (इसमें) आधार बनाया जाता है और वह (परवैराग्य) पदार्थहीन या सकलविषयशून्य होता है। उसके अभ्यासपूर्वक चित्त निरालम्बन और स्वभावशून्य जैसा हो जाता है। यह निर्बीज समाधि असम्प्रज्ञात (कही जाती) है ॥ १८ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—अथ—अब। असम्प्रज्ञातः समाधिः—असम्प्रज्ञातसमाधि। किमुपायः—कः उपायो यस्य सः किमुपायः, किन उपायोंवाली। किंस्वभावो वा—कः स्वभावो यस्य सः तथोक्तः, किस स्वभाव या किस स्वरूप की होती है ? इति—इस विषय में यह सूत्र है—

(**सू० सि०**)—विरामः—सकलवृत्तीनामुपरमः, सभी वृत्तियों का अस्त हो जाना; उनका निरोध होना। तस्य प्रत्ययः—कारणम्, विराम-प्रत्ययः उसका, कारण अर्थात् 'परवैराग्य'। तस्य (परवैराग्यस्य) अभ्यासः—पौनःपुन्येन अनुष्ठानं पूर्वं यस्य सः विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः, उस विरामप्रत्यय अर्थात् परवैराग्य का अभ्यास पूर्व में (कारणरूप से पहले) है जिसके वह समाधि, अर्थात् परवैराग्य के अभ्यास-पूर्वक होनेवाली समाधि। संस्कारशेषः—(निरोध) संस्काराः एव शेषाः यस्मिन्नसौ संस्कारशेषः, केवल निरोधसंस्कार ही (चित्त में) शेष रहते हैं जिस में, वह समाधि। अन्यः—सम्प्रज्ञातादन्यः अर्थात् 'असम्प्रज्ञातः समाधिः,' सम्प्रज्ञात से भिन्न

---

१ 'किंस्वभाव इति'—इति पाठान्तरम्।

२. 'सालम्बनोऽभ्यासः'—इति पाठान्तरम्।

३. 'पूर्वकं हि'—इति पाठान्तरम्।

'असम्प्रज्ञात' नामक समाधि है। **'विरामः वृत्तीनामभावस्तस्य प्रत्ययः कारणं तस्याभ्यासः तदनुष्ठानं पौनःपुन्येन, तदेव पूर्वं यस्य स तथा'।**[1]

सूत्र में 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः'-पद के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि का 'उपाय' बताया गया है। 'संस्कारशेषः-पद के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि का 'स्वरूप' या लक्षण बताया गया है और 'अन्यः'-पद के द्वारा लक्ष्यभूत 'असम्प्रज्ञातसमाधि' का 'निर्देश' किया गया है। **'तथा चाद्यविशेषणेनोपायकथनं मध्येन लक्षणकथनमन्त्येन लक्ष्यकथनमन्योऽसम्प्रज्ञात इत्यर्थः**[2] **।'** ॥ १८ ॥

(**भा० सि०**)—सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये—सर्वासां वृत्तीनां प्रत्यस्तमयः अस्तंगमनम्, तस्मिन् सति इति (भावे सप्तमी)। सभी वृत्तियों के प्रत्यस्तमित या अस्तङ्गत हो जाने पर। सर्ववृत्तिनिरोध हो जाने पर। चित्तस्य संस्कारशेषो निरोधः—चित्त का संस्कारमात्रावशिष्ट रूप वाला सर्ववृत्तिनिरोध अर्थात् ऐसा सर्वाङ्गीण निरोध जिससे कि चित्त में केवल निरोधसंस्कार ही अवशिष्ट रहें। न कोई वृत्ति अवशिष्ट रहे और न वृत्तियों के संस्कार ही अवशिष्ट रहें। वैसा चित्त का निरोध। असम्प्रज्ञातः समाधिः—असम्प्रज्ञात नामक समाधि है। **'न तत्र किञ्चिद् वेद्यं सम्प्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः**[3] **।'**

तस्य—उस असम्प्रज्ञातसमाधि का। उपायः—उपाय, साक्षात्साधन। परं वैराग्यम्—परवैराग्य है। सालम्बनो हि अभ्यासः—(ध्येयविषय अर्थात्) आलम्बन के सहित होनेवाला अभ्यास अर्थात् चित्त की एकाग्रता का अभ्यास। **'पुरुषपर्यन्तं कस्मिन्नप्यालम्बने चित्तस्यैकाग्रतारूपोऽभ्यासः नासम्प्रज्ञातस्य साक्षात्साधको भवति**[4] **।'**

तत्साधनाय न कल्पत इति—तदुपायाय न प्रभवति, उसका साक्षात्साधन बनने में समर्थ नहीं होता। इति—हेतोः, इसलिये। निर्वस्तुकः विरामप्रत्ययः—वस्तुशून्यम्, ज्ञेयरहितम्, परवैराग्यम्, ज्ञेयरहित या ध्येयविषयरहित परवैराग्य। आलम्बनीक्रियते—उपादीयते, स्वीक्रियते, गृह्यते, ग्रहण किया जाता है। **'विरामप्रत्ययः परवैराग्यारम्भः एवासम्प्रज्ञातेन साधनतयाऽऽलम्बनीक्रियत आश्रीयते'।**[5]

स चार्थशून्यः—चूंकि वह असम्प्रज्ञातसमाधि भी ध्येयविषयशून्य ही होती है, इसलिये निरालम्बनसमाधि के उपायरूप में निर्वस्तुक 'परवैराग्य' के अभ्यास का

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ५५।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ५५।

३. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ११।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ५५।

५. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ५६।

ही स्वीकार किया जाना समीचीन है। तदभ्यासपूर्वं चित्तम्—तस्य (निर्वस्तुकपर-वैराग्यस्य) अभ्यासः पूर्वः यस्य तत्, तदभ्यासपूर्वं चित्तम्, उस ध्येयार्थशून्य परवैराग्य का अभ्यास कर चुकने वाला चित्त। निरालम्बनम् (अर्थात्) अभावप्राप्तमिव—आलम्बनहीन अर्थात् स्वभावशून्य जैसा। भवति—हो जाता है। इति—एवंरीत्या, इस प्रकार से। एषः–यह। निर्बीजः—निरालम्बनः, आलम्बनहीन। समाधिः असम्प्रज्ञातः–यह निरालम्बनसमाधि 'असम्प्रज्ञात' है। यद्यपि 'निर्बीज' शब्द के तीनों अर्थ संगत हैं—(१) निरालम्बन,[1] (२) क्लेशकर्माशयरूपी बीजों से शून्य[2] और (३) ज्ञानाज्ञानसंस्काररहित[3]। फिर भी 'निरालम्बन' वाला अर्थ अधिक भाष्यानुकूल प्रतीत होता है ॥१८॥

स खल्वयं द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति।

वह असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की होती है—(१) उपायप्रत्यय और (२) भवप्रत्यय। उनमें से 'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि, योगियों को होती है। (और)—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि, विदेहों तथा प्रकृतिलीनों को होती है ॥ १९ ॥

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपगेन[4] चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १९ ॥

विदेह नामक देवताओं को 'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि होती है। वे अपने संस्कारमात्रावशिष्ट चित्त से कैवल्यपद का-सा अनुभव करते हुए अपने (पूर्व-) संस्कारों के अनुरूप फलों को भोगते हुए समाप्त करते हैं। वैसे ही ('भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधिवाले) प्रकृतिलीन (देवगण भी) अकृतकृत्य चित्त के प्रकृति में लीन हो जाने पर कैवल्यपद का-सा अनुभव करते रहते हैं, जबतक कि (उनका) चित्त अकृतकार्यता के कारण फिरसे (लौकिक दशा में) नहीं उतर आता ॥ १९ ॥

---

१. 'ध्येयविषयरूपस्याभावाद् निरोधः समाधिर्निर्बीज इत्युच्यते।'—भा० पृ० १७।

२. 'निर्बीजः निरालम्बनः अथवा बीजं क्लेशकर्माशयास्ते निष्क्रान्ता यस्मात् स तथा।' —त० वै० पृ० १९।

३. 'संसारबीजरूपज्ञानाज्ञानसंस्काराख्यसंसारबीजोन्मूलक इति वाऽर्थः।' —यो० वा० पृ० १९।

४. 'मात्रोपयोगेन'—इति पाठान्तरम्।

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—स खलु अयं द्विविधः—वह यह असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की होती है—(१) उपायप्रत्ययः—उपायः प्रत्ययः कारणं यस्य सः, उपायों से सिद्ध होने वाली अर्थात् उपायकारणक और (२) भवप्रत्ययः—भवः तत्तद्योनिषु जन्म एव प्रत्ययः कारणं यस्य सः, जन्म से ही सिद्ध होने वाली या जन्मकारणक। या। भवत्यनेनेति भवः अविद्या, सा एव प्रत्ययः कारणं यस्य सः, तथोक्तः, अविद्या-जन्य असम्प्रज्ञातसमाधि। तत्र—उन दोनों में से। उपायप्रत्ययो योगिनां भवति—उपायप्रत्यय या उपायकारणक असम्प्रज्ञातसमाधि योगियों की होती है। और—

(**सू० सि०**)—भवप्रत्ययः–'भवप्रत्यय' नामक (जन्मकारणक) असम्प्रज्ञात-समाधि। विदेहप्रकृतिलयानाम्—विदेहों और प्रकृतिलीनों की होती है। यहाँ पर 'सूचीकटाहन्याय' से पहले 'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि का विवरण दिया जा रहा है। **'देवलोके भवप्रत्ययो जन्ममात्रकारणक इति'**।[1] यह समाधि मोक्षदायक नहीं होती। इसीलिये यह 'योग' नहीं है। यह तो 'योगाभास' मात्र है। **'तेषां पतनत्वा-दर्शनाद्योगाभासोऽयम्'**।[2]

विदेह और प्रकृतिलीन—श्रुतियों और स्मृतियों में अनेक प्रकार के आमुष्मिक भोग बताये गये हैं। वे भोग इन श्रेणियों में संकलित किये जा सकते हैं—

१. **स्वर्गप्राप्ति**—'ज्योतिष्टोम' आदि याग करने से स्वर्गप्राप्ति होती है।

२. **स्वर्ग का राज्य**—स्वाराज्य की प्राप्ति 'वाजपेय'-याग करने से होती है।

३. **देवत्वप्राप्ति**—विदेह हो जाना देवत्व की प्राप्ति है।

४. **प्रकृतिलीनता**—प्रकृतिलीन नामक देवत्व की प्राप्ति।

इन आमुष्मिक गतियों में से (१) और (२) गतियाँ तो वेदों में अतिप्रथित होने के कारण स्पष्टतः सर्वविदित है, किन्तु विदेहत्व और प्रकृतिलीनत्व का स्वरूप स्पष्टतः विदित नहीं है। सांख्यकारिका[3], सांख्यसूत्र[4], योगसूत्र[5] और योगभाष्य[6] तथा इन ग्रन्थों की व्याख्याओं में वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व का यत्किञ्चित् निर्देश तो

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ५७।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १२।

३. 'वैराग्यात्प्रकृतिलयः'—सां० का० ४५।

४. 'न कारणलयात्कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्'—सां० सू० ३।५४।

५. 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'—यो० सू० १।१९।

६. (१) 'स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये'—यो० भा० पृ० ५९।

(क) 'विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः–ते हि स्वसंस्कारमात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य-पदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति; तथा प्रकृतिलयाः

हुआ है, किन्तु इनके स्वरूप पर अपेक्षित प्रकाश नहीं डाला गया है। इन द्विविध देवताओं के सम्बन्ध में 'वायुपुराण' यह वर्णन करता है—

'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः।
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते'॥

इन सभी आधारों का निर्गलितार्थ यह हुआ कि पाँचों महाभूत, इन्द्रिय, अहङ्कार और बुद्धि का पूर्ण साक्षात्कार करने वाले किन्तु पुरुषख्याति से रहित योगी इन्हीं तत्त्वों को 'आत्मा' या 'पुरुष' समझते हुए इन तत्त्वों की उपासना करने से इनके सम्बन्ध की वासना से वासितान्तःकरण होकर स्थूलशरीर का पात हो जाने पर इन्हीं तत्त्वों में यथायोग्य लीन होकर रक्तशोणितनिर्मितषाट्कौशिकशरीर से रहित होकर वायुपुराणोक्तकालपर्यन्त 'विदेह' देवताओं की स्थिति में रहते हैं। 'अव्यक्त' प्रकृति को 'सर्वस्व' मानकर 'अव्यक्त' की उपासना के द्वारा तद्वासनावासितान्तःकरण होकर, शरीरपात के अनन्तर अव्यक्त 'प्रकृति' में लीन हो जाते हैं तथा शतसहस्र-मन्वन्तरपर्यन्त 'प्रकृतिलीन' देवताओं की स्थिति में रहते हैं। विदेहगण स्थूलदेह-रहित किन्तु 'व्यक्त' लिङ्गशरीरधारी होते हैं। प्रकृतिलीन 'अव्यक्त' कारणशरीरधारी होते हैं। 'विदेहगण' सावरणब्रह्माण्ड के अन्तर्गत होते हैं, किन्तु 'प्रकृतिलीन' सावरणब्रह्माण्ड से बहिर्भूत होते हैं। विदेहों का ऐश्वर्य प्रकृतिलीनों की अपेक्षा स्थान, काल और भोग की दृष्टि से बहुत कम होता है।

'विदेहास्तु सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता इति भेदस्ते च मलिनाल्पैश्वर्यभोगाः। प्रकृतिलयास्तु तेषामपीशाः स्वसंकल्पमात्रनिर्मितसत्त्वप्रधाननिर्मलविषयभोगास्त ईश्वर-कोटय उच्यन्ते'।[1]

'प्रकृतिलयानाञ्च विदेहेभ्योऽयं भेदः—विदेहाः सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता एवाल्प-मैश्वर्यं मलिनञ्च विषयं भुञ्जते, प्रकृतिलयास्तु बहिर्गमनेन विदेहान् प्रत्यपीशते,

---

साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति; यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार-वशाच्चित्तमिति।'—यो० भा० पृ० ७२।

(ख) 'यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तराबन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य'—यो० भा० १।२४ सू०।

(ग) 'विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते न लोकमध्ये न्यस्ता इति।'—यो० भा० ३।२६ सू०।

१. द्रष्टव्य; पा० सू० वृ० पृ० २०।

स्वसंकल्पमात्रेण तत्रैव निर्मलं कारणसत्त्वनिर्मितं विषयञ्च भुञ्जते त ईश्वरकोटय उच्यन्त इति'।[1]

सांख्यकारिका सं० ४४ की टीका करते हुए तत्त्वकौमुदीकार 'वाचस्पतिमिश्र' ने लिखा है कि बन्धन तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्राकृतिक, (२) वैकारिक और (३) दक्षिणाबन्ध।[2] इन तीनों में से प्राकृतिकबन्ध उनको होता है, जो (अव्यक्त) प्रकृति में आत्मा का बोध करते हुए प्रकृति की उपासना करते हैं। यह बन्धन पुराणोक्त प्रकृतिलयों के विषय का है। वैकारिकबन्ध उनको होता है, जो विकारों अर्थात् महाभूत, इन्द्रिय, अहङ्कार एवं बुद्धि को ही पुरुष समझकर उपासना करते हैं। **'ते खल्वमी विदेहाः येषां वैकृतिको बन्धः इत्यर्थः।'** जिन्हें यह वैकृतिक बन्ध होता है, वे 'विदेह' कहे जाते हैं। दक्षिणाबन्ध इष्टापूर्तादि करनेवाले पुरुषज्ञानरहित, कामनाओं से परिपूर्ण मनवाले साधारणजनों का होता है।

किन्तु आश्चर्य है कि वही 'वाचस्पतिमिश्र' जब योगभाष्य की तत्त्ववैशारदी टीका लिखते हैं तो केवल 'भूतेन्द्रियों' के उपासकों को विदेहगति प्राप्त करनेवाले मानते हैं तथा बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राओं के उपासकों को उन-उन तत्त्वों में लीन होने पर उन्हें 'प्रकृतिलीन' बताते हैं, उन्हें 'विदेह' नहीं मानते। इतने प्रकाण्ड दार्शनिक की बातों में शास्त्रीयसिद्धान्त के सम्बन्ध में इतना जोरदार स्ववचोव्याघात कैसे आया? समझ में नहीं आता। वस्तुतः जो बात 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में उन्होंने कही है—वही शास्त्रीय है, अविरुद्ध है और युक्तिसंगत है। 'तत्त्ववैशारदी' में उनके इस कथन—**'तथा प्रकृतिलयाश्च अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमस्मिल्लीनाः।'**—का क्या कारण हो सकता है? वही जानें। अत एव केवल 'अव्यक्तप्रधान' में लय ही सूत्र तथा भाष्य के अनुसार 'प्रकृतिलय' है—यह समझना चाहिए। जब तत्त्वज्ञानहीनशून्यवत् समाधि अधिगत होती है, परन्तु पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार न होने के कारण इसे ही चरमगति मानकर और अन्तर्मुख होकर (वशीकारवैराग्य के द्वारा विषयविमुखता के कारण) अन्तःकरण 'प्रकृति' में लीन हो जाय, तब 'प्रकृतिलीनता' की सिद्धि होती है[3] ॥ १९ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४७।

२. 'प्रकृतेर्बंत बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते'॥

३. 'तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रत्युच्यते—'पूर्णं शतसहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः' इति। वैकारिको बन्धस्तेषां ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषधियोपासते तान् प्रती-

(भा० सि०)—विदेहानां देवानाम्—विदेह नामक देवताओं की। भवप्रत्ययः[१]—अविद्याकारणक या जन्मकारणक[२] 'भवप्रत्यय' नामवाली असम्प्रज्ञातसमाधि होती है। अविद्या से होनेवाली (परवैराग्य से अनुत्पन्न) या विदेहादिरूप में जन्म हो जाने मात्र से सिद्ध हो जानेवाली असम्प्रज्ञातसमाधि होती है। ते हि—वे विदेहदेवता। स्वसंस्कारमात्रोपगेन चित्तेन—स्वस्मिन् (चित्ते) संस्कारा इति स्वसंस्काराः, त एव इति संस्कारमात्राः, तानुपगच्छतीति स्वसंस्कारमात्रोपगं, तेन तथोक्तेन, स्वसंस्कार-मात्ररूपता तक पहुँचे हुए अर्थात् सर्ववृत्तिशून्य एवं स्वसंस्कारमात्रावशिष्टरूप वाले चित्त के द्वारा। कैवल्यपदमिवानुभवन्तः—कैवल्यपद का-सा अनुभव करते हुए। विदेहों और प्रकृतिलीनों की इस अवस्था का कैवल्य (या असम्प्रज्ञात) से यह साम्य है कि इसमें भी चित्त सर्वथा 'वृत्तिहीन' रहता है और वैषम्य यह है कि इनमें चित्त में रहनेवाले संस्कार साधिकार होते हैं, जबकि कैवल्य (असम्प्रज्ञातयोग) में चित्त साधिकारसंस्कार से सर्वथा शून्य होता है[३]।

स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति—उस-उस प्रकार के अपने (कर्मा-शय) संस्कारों के फल को। अतिवाहयन्ति—अभिनिर्हरन्ति, अतिक्रामन्ति, भुञ्जते, भोगते हैं, पूरा करते हैं। और संस्कारविपाक पूरा करके 'पुनरपि संसारे विशन्ति'।[४] तथा—तेनैव प्रकारेण, उसी प्रकार से। प्रकृतिलयाः—'प्रकृतिलीन' नामक देवता भी। साधिकारे चेतसि—चित्त के निवृत्ताधिकार न होने पर (भावे सप्तमी) ही। प्रकृति-लीने—प्रकृति में लीन हो जाने पर (भावे सप्तमी)। कैवल्यपदमिवानुभवन्ति—कैवल्यपद का-सा अनुभव (चित्त की संस्कारमात्रावशेषता के कारण) करते रहते हैं। यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति—जबतक कि उनका चित्त 'भोगापवर्ग-रूपी' कार्य न पूरा होने के कारण अर्थात् चरितार्थ न होने के कारण फिर से नहीं आ जाता, (संसार में) उतर नहीं आता, प्रादुर्भूत नहीं हो जाता ॥ १९ ॥

दमुच्यते—'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः। बौद्धाः दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।' ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः इति।'—सां० त० कौ० पृ० १७८-१७९।

१. 'भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति भवोऽविद्या स खल्वयं भवः प्रत्ययः कारणं यस्य निरोधसमाधेः स भवप्रत्ययः।' —त० वै० पृ० ५७।

२. 'भवो जन्म कारणं यस्येति विग्रहः।' —यो० वा० पृ० ५८।

३. 'अवृत्तिकत्वश्च कैवल्येन सारूप्यं साधिकारसंस्कारशेषता च वैरूप्यम्।'
—त० वै० पृ० ५८।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ५८।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

दूसरों (अर्थात् योगियों) की असम्प्रज्ञातसमाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक होती है ॥ २० ॥

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येन यथावद्[1] वस्तु जानाति। तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥ २० ॥

'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि योगियों को होती है। 'श्रद्धा' चित्त की अभिरुचि है, माता की भाँति कल्याणकारिणी यह योगी की रक्षा करती है। श्रद्धालु विवेकाभिलाषी योगी को (धारणारूपी) प्रयत्नात्मक 'उत्साह' उत्पन्न होता है। इस प्रकार के उत्साहसम्पन्न योगी को 'ध्यान' सधता है। ध्यान के उदित होने पर चित्त विक्षेपहीन होकर 'समाहित' होता है। समाहित चित्त को 'विवेकज्ञान' उत्पन्न होता है, जिससे योगी (समस्त) वस्तुओं को ठीक-ठीक जान लेता है। इस विवेकज्ञान के अभ्यास तथा एतद्विषयक परवैराग्य से 'असम्प्रज्ञात-समाधि' सिद्ध होती है ॥ २० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इतरेषाम्—अन्येषाम् अर्थात् योगिनाम्, अन्य लोगों को अर्थात् योगियों को। (असम्प्रज्ञातः समाधिः)। श्रद्धा, वीर्यम्, स्मृतिः, समाधिः, प्रज्ञा इति तथोक्ताः ताः पूर्वाः यस्यासौ तथोक्तः, इन पाँचों उपायों के (पूर्व में) होने पर होती है। 'एते पञ्च पूर्वे उपायाः यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः'[2] ॥ २० ॥

(भा० सि०)—उपायप्रत्ययः—उपायकारणक या उपायों से सिद्ध होनेवाली असम्प्रज्ञातसमाधि। योगिनां भवति—योगियों की होती है। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः—'श्रद्धा' चित्त की सम्यक् प्रसन्नता या निर्मलता अर्थात् योगविषयिणी अभिरुचि है। जननीव कल्याणी सा हि—माता के समान कल्याणकारिणी वह श्रद्धा। योगिनं पाति—योगी की (√पा रक्षणे धातु+लट्लकारः प्र० ए०) रक्षा करती है (योगमार्ग के सभी विघ्नों से)। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनः—श्रद्धाङ्कुर्वतस्तस्य योगिनः विवेककाङ्क्षिणः, श्रद्धा करनेवाले उस विवेकख्याति के इच्छुक योगी को। वीर्यम्—प्रयत्नः, धारणारूपः उत्साहः, धारणारूपी प्रयत्न या उत्साह को ही यहाँ 'वीर्य' कहा गया है। उपजायते—भवति, उत्पद्यते, उत्पन्न होता है। समुपजातवीर्यस्य—समुपजातं प्रादुर्भूतं वीर्यं धारणारूपं (प्रयत्नः) यस्यासौ तथोक्तः, तस्य साधकस्य, धारणारूपी प्रयत्न (वीर्य) प्रादुर्भूत हो गया है जिसका, उस साधक को।

---

१. 'यथार्थमि'ति पाठान्तरम्।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १२।

स्मृतिः—ध्यानम् **'वीर्यतश्च उपस्मृतिर्ध्यानम्'[१]** ।' उपतिष्ठते—उपस्थिता भवति अर्थात् उसको ध्यान लगने लगता है। स्मृत्युपस्थाने च—और। स्मृतेः ध्यानस्य उपस्थानम् उपस्थितिः तस्मिन् सति, ध्यान लग जाने या सिद्ध हो जाने पर। चित्तमनाकुलं (सत्)—अव्याकुल अर्थात् अचञ्चलचित्त **'अनाकुलमविक्षिप्तम्'[२]** । समाधीयते—स्थितिपदं लभते, समाहित हो जाता है।

इस प्रकार 'धारणा, ध्यान' और 'समाधि' नामक (सम्प्रज्ञातयोग के) तीनों अन्तरङ्ग उपायों से सम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध हो जाती है। **'तदेवमखिलयोगाङ्गसम्पन्नस्य सम्प्रज्ञातो जायते[३]'** । समाहितचित्तस्य—समाहितमेकाग्रं चित्तं यस्य, तस्य योगिनः, समाधिलाभ करनेवाले (चित्तवाले) योगी को। प्रज्ञाविवेकः[४]—प्रज्ञायाः बुद्धेः विवेकः वैशिष्ट-यम्, उत्कर्षः, बुद्धि का परमोत्कर्ष (विवेकज्ञानरूप का)। उपावर्तते—सञ्जायते, (उप + आङ् + √वृत् + लट् प्र० पु० ए० व०) उत्पन्न हो जाता है। येन—(प्रज्ञाविवेकेन) जिस बुद्धिवैशद्य या प्रज्ञाविवेक से। स योगी। वस्तु—पदार्थों को (जातावेकवचनम्[५])। यथावद् जानाति—ठीक-ठीक, सम्यग्रूप से जान लेता है। इस प्रज्ञाविवेक अर्थात् बुद्धिवैशद्य की ही शास्त्रीयसञ्ज्ञा 'विवेकख्याति' है। तदभ्या-सात्तद्विषयाच्च वैराग्यात्—तस्य प्रज्ञाविवेकस्य अभ्यासात्, उस 'विवेकख्याति' के अभ्यास और तदनन्तर उस विवेकख्याति के विषय में भी वैराग्य (परवैराग्य) उत्पन्न होने से। असम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति—असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है।

यह स्मरणीय है कि विवेकख्याति उत्पन्न होने पर भी उसको दृढ़ या निर्विप्लव बनाने के लिए अभ्यास करना अनिवार्य होता है। **'सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेक-ख्यातिः सात्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते, तदाविधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त-मानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति, सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः[६]'** । विवेकख्याति खूब अभ्यस्त हो जाने पर 'सर्वथा विवेकख्याति' कही जाती है। उस दशा में प्रारब्ध के अतिरिक्त सकल कर्मसंस्कार सर्वथा दग्ध हो जाते हैं। विवेक-ख्याति में इस अज्ञानलेशराहित्य के हो जाने पर उसे ही 'धर्ममेघसमाधि' कहते हैं। **'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः[७]'** । इस विवेकख्याति के प्रति होनेवाला वैराग्य 'परवैराग्य' कहा जाता है। विवेकख्याति भी तो सत्त्वगुण का

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६०।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ६०।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ६०।

४. 'प्रज्ञाया विवेकः प्रकर्ष उपजायते'—त० वै० पृ० ६०।

५. 'यदा सामान्याभिधानं तदैकवचनं भविष्यति।'—पा० महा० पृ० ६७।

६. द्रष्टव्य; यो० सू० २।२६ पर भाष्य।

७. द्रष्टव्य; यो० सू० ४।२९।

ही कार्य है[1]। इसलिये उसके प्रति भी वैराग्य होना चाहिये। यह 'परवैराग्य' असम्प्रज्ञात की सिद्धि के लिये अनिवार्य है। इस सूत्र में 'परवैराग्य' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ, इसलिये यहाँ पर भाष्यकार ने इसे 'प्रज्ञा की पराकाष्ठा' मानकर वर्णित किया है ॥ २० ॥

ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति; तद्यथा—मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति। तत्र मृदूपायस्त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति; तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति। तत्राधिमात्रोपायानाम् —

मृदु, मध्य और अधिमात्र उपायों के भेद से वे योगी नव प्रकार के होते हैं। वह (इस प्रकार से) जैसे—मृदूपाय, मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय योगी। उनमें से मृदूपाय भी तीन प्रकार के होते हैं—मृदुवैराग्य वाले, मध्यवैराग्य वाले और तीव्रवैराग्य वाले। वैसे ही मध्योपाय और अधिमात्रोपाय भी (तीन-तीन प्रकार के होते) हैं। उनमें से 'अधिमात्रोपाय' के अन्तर्गत—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्रस्फूर्तिवाले योगियों को (इस समाधि की सिद्धि और उसके फलों की प्राप्ति) बहुत शीघ्र होती है ॥ २१ ॥

समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २१ ॥

(अधिमात्रोपायतीव्रसंवेगसम्पन्न योगियों को) समाधिसिद्धि और समाधिसिद्धि का फल (बहुत शीघ्र) होता है ॥ २१ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—यदि असम्प्रज्ञातसमाधि के ये 'श्रद्धादि' ही उपाय हैं, तो फिर इन उपायों का आश्रय लेनेवाले योगियों में से किसी योगी को शीघ्रता से और किसी को देर में सिद्धि क्यों होती है ? इसका स्पष्टीकरण करने के लिये अगला सूत्र प्रवृत्त है। मृदुमध्याधिमात्रोपायाः ते योगिनः—मृदु उपायवाले, मध्यउपाय वाले और अधिमात्र उपायवाले, वे योगी लोग। खलु नव भवन्ति–निश्चय ही 'नव' प्रकार के होते हैं। तद्यथा—वह (इस प्रकार से) जैसे—ये मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय। भवन्ति–होते हैं। १. तत्र मृदूपायोऽपि—उनमें मृदु उपायवाले योगी भी। त्रिविधः—तीन प्रकार के होते हैं—(१) मृदुसंवेगः—मृदुः संवेगः गतिसंस्कारः स्फूर्तिः यस्य सः, मन्दगति या मन्दस्फूर्तिवाले। (२) मध्यसंवेगः—मध्यमस्फूर्तिवाले। (३) तीव्रसंवेगः—तीव्रस्फूर्तिवाले। २. तथा मध्योपायः—इसी प्रकार मध्यम उपाय वाले भी मृदुस्फूर्ति, मध्यस्फूर्ति और तीव्रस्फूर्ति के भेद से ३ प्रकार के होते हैं। ३. तथाधिमात्रोपायः—इसी प्रकार अधिमात्रोपाय वाले योगी भी मृदुस्फूर्ति, मध्यस्फूर्ति और तीव्रस्फूर्ति के भेद से ३ प्रकार के होते हैं।

---

१. 'सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति, अतस्तस्या विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि।'—यो० भा० पृ० १०।

'संवेग' शब्द का अर्थ, वाचस्पतिमिश्र के अनुसार 'वैराग्य'[1], विज्ञानभिक्षु के अनुसार 'शीघ्रता'[2] और भोजराज के अनुसार 'क्रिया का हेतुभूत संस्कार'[3] है। स्वामीविवेकानन्द इसका अर्थ (Energy) करते हैं। वस्तुतः इस 'संवेग' शब्द का प्रयोग बौद्धग्रन्थों[4] में भी स्फूर्ति या शक्ति के अर्थ में प्रचलित था। तत्र—उनमें से। अधिमात्रोपायानाम्—अधिमात्रः 'उत्तमः'[5] (अत्यन्तप्रबलः) उपायः येषां ते उत्तमोपायाः तेषाम्, उत्तमोपायवाले।

(**सू० सि०**) तीव्रसंवेगानाम्—तीव्रस्फूर्ति वाले योगियों का समाधिलाभ और समाधिलभ्यफल (अर्थात् कैवल्य)। आसन्नः—बिल्कुल निकट होता है। योगियों का 'उपायकृत' यह विभाजन इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—
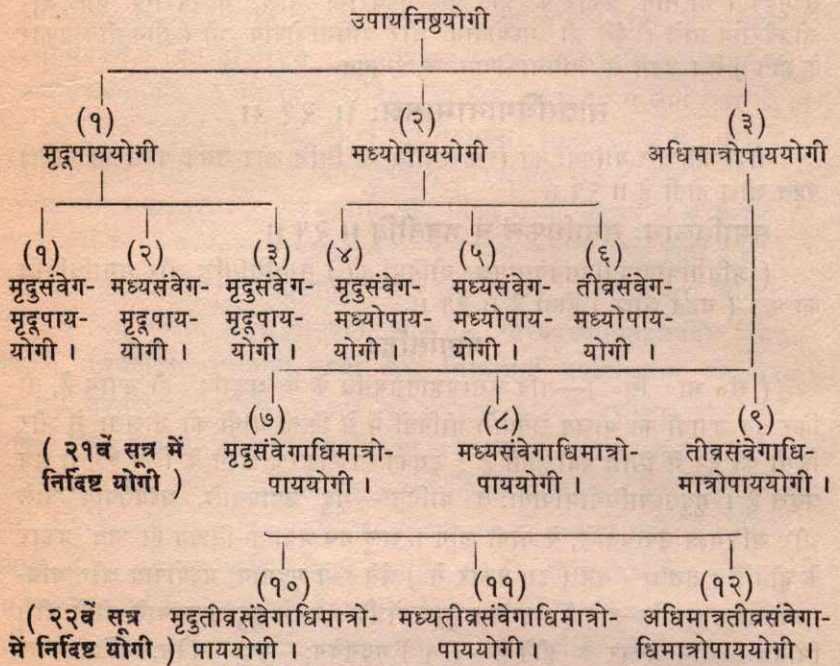
(**भा० सि०**)—यहाँ पर सूत्र से मिलाकर भाष्य के पदों का अर्थ लगाना

१. 'संवेगः—वैराग्यम्'।—त० वै० पृ० ६१।

२. 'संवेगश्चोपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्'।—यो० वा० पृ० ६१।

३. 'संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः'।—रा० मा० वृ० पृ० ३५।

४. द्रष्टव्य; धम्मपद १०।१५।

५. द्रष्टव्य; पात० रह० पृ० ६२।

पड़ेगा। जैसे—अधिमात्रोपायतीव्रसंवेगसम्पन्न योगियों को। समाधिलाभः—समाधि-सिद्धि। समाधिफलं च[1]—और समाधिसिद्धि का फल अर्थात् कैवल्य। आसन्नः—निकटस्थः, निकट होता है। विष्णुपुराण में भी कहा गया है—

'विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्ति तत्रैव जन्मनि'—इत्यादि ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

उन (अधिमात्रोपायतीव्रसंवेगवाले योगियों में भी) मृदु, मध्य और अधिमात्र के भेद से वैशिष्टच होता है ॥ २२ ॥

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति, ततोऽपि विशेषः, तद्विशेषान्मृदु-तीव्रसंवेगस्यासन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः तस्मादधिमात्रतीव्रसंवे-गस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलञ्चेति ॥२२॥

उन (अधिमात्रोपायतीव्रसंवेग योगियों) में भी मृदुतीव्रसंवेग-अधिमात्रोपाय, मध्यतीव्रसंवेग-अधिमात्रोपाय और अधिमात्रतीव्रसंवेग-अधिमात्रोपाय का भेद होता है। इस (भेद) के फलस्वरूप असम्प्रज्ञातसमाधि और (इस) समाधि का फल, अधिमात्रोपायमृदुतीव्रसंवेग योगी को शीघ्र सम्पाद्य, अधिमात्रोपायमध्यतीव्रसंवेग योगी को शीघ्रतर सम्पाद्य और अधिमात्रोपाय-अधिमात्रतीव्रसंवेग योगी को शीघ्रतम सम्पाद्य होते हैं ॥ २२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—पहले वाले सूत्र में—'अधिमात्रोपायतीव्रसंवेग' वाले योगियों को असम्प्रज्ञातसमाधि तथा उसके फल अर्थात् कैवल्य का लाभ आसन्न होता है—यह कहा गया है। अब इस सूत्र में तीव्रसंवेग के भी ३ भेद—मृदुतीव्रसंवेग, मध्यतीव्र-संवेग और अधिमात्रतीव्रसंवेग—करके, तज्जन्य सिद्धि का वैशिष्टच प्रतिपादित करते हैं। तीव्रसंवेग के भी मृदु, मध्य और अधिमात्र होने के कारण पहले बताये गये फल में भी वैशिष्टच हो जाता है ॥ २२ ॥

(भा० सि०)—इस वैशिष्टच को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'अधिमात्रोपायतीव्रसंवेग' भी तीन प्रकार का होता है। मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमा-त्रतीव्र इति—१. मृदुतीव्रसंवेग, २. मध्यतीव्रसंवेग और ३. अधिमात्रतीव्रसंवेग। इति—इति क्रमेण, इस क्रम से। ततः अपि—तस्मात् पूर्वोक्तात् फलादपि, पहले बताये गये फल अर्थात् समाधिलाभ और कैवल्यलाभ की आसन्नता से भी। विशेषः

---

१. 'नवयोगिमध्ये चरमाणामेवासन्नोऽसम्प्रज्ञातो भवतीत्यर्थः। समाधिलाभः तन्निष्पत्तिः, न केवलं समाधिरासन्नोऽपि तु मोक्षोऽपीत्याह समाधिफलञ्च।'

—यो० वा० पृ० ६२।

(भवति)—अन्तर या भेद हो जाता है। **'विशेषस्तरतमरूपो भवति'**।[1] (अर्थात् इस आसन्नता की अपेक्षा आसन्नतरता और आसन्नतमता अर्थात् निकटतरता और निकटतमता का वैशिष्टच आ जाता है।) तद्विशेषान्मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः—उस वैशिष्टच या भेद से मृदुतीव्रसंवेग (अधिमात्रोपाय) योगी का (असम्प्रज्ञातसमाधि और कैवल्यलाभ) 'निकटस्थ' होता है। मध्यतीव्रसंवेगस्य ततः आसन्नतरः—(अधिमात्रोपाय) मध्यतीव्रसंवेग वाले योगी को (असम्प्रज्ञातसमाधि और कैवल्य) 'निकटतर' होता है। अधिमात्रतीव्रसंवेगस्य अधिमात्रोपायस्य—अधिमात्रोपाय अधिमात्रतीव्रसंवेगवाले योगी को। तस्मादपि आसन्नतमः—उस मध्यतीव्रसंवेग वाले से भी अधिक 'निकटतम' (सबसे पहले)। समाधिलाभः समाधिफलञ्चेति—असम्प्रज्ञातसमाधि का लाभ और कैवल्यरूपी असम्प्रज्ञातसमाधि का फल प्राप्त होता है। इति—वाक्यसमाप्तिसूचक है।

'तस्माद्विशेषादपि नवमस्य त्रिविधस्यान्तिमानामासन्नतम इत्यर्थः'[2] ॥ २२ ॥

किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो ? न वेति ?

क्या इसीसे (असम्प्रज्ञात) समाधि शीघ्रतम सम्पाद्य होती है ? या इसकी सिद्धि के लिये कोई अन्य उपाय भी है ? अथवा नहीं है ?

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

ईश्वरप्रणिधान से भी (असम्प्रज्ञातसमाधिलाभ शीघ्रतम सम्पाद्य होता है) ॥२३॥

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः[3] समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २३ ॥

प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष से (अभिमुखीकृत या) प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को संकल्पमात्र से अनुगृहीत करता है। उस (ईश्वर) के संकल्पमात्र से योगी को (असम्प्रज्ञात) समाधिलाभ और (असम्प्रज्ञात) समाधिफल शीघ्रतम सम्पाद्य हो जाते हैं ॥ २३ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—किमेतस्मादेव—क्या इसी अधिमात्रोपाय-अधिमात्रतीव्रसंवेग होने से ही। समाधिः आसन्नतमः—असम्प्रज्ञातसमाधि निकटतम होती है ?

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६२।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६२।

३. 'आसन्नतरः' इति पाठान्तरम्।

अथ—अथवा, आहोस्विद् । अस्य लाभेऽन्योऽपि कश्चिदुपायः भवति—इसके लाभ में या इसके लाभ के लिए कोई दूसरा भी उपाय या साधन है ? न वा–या कोई अन्य उपाय नहीं है ? इति–इत्यस्मिन् विषये । इस विषय में यह सूत्र है ।

(**सू० सि०**)—ईश्वरप्रणिधानाद्वा––या फिर ईश्वर के प्रणिधान से (असम्प्रज्ञातसमाधि का लाभ निकटतम हो जाता है) । प्रणिधानम्—प्रकर्षेण निधीयते (मनः) अनेनेति (प्र+नि+√धा+ल्युट् करणे) प्रणिधानम्, भक्तिविशेष या विशिष्ट उपासना । तस्माद्—ईश्वर की भक्तिविशेष से । असम्प्रज्ञातसमाधि और कैवल्य की सिद्धि निकटतम हो जाती है ।। २३ ।।

(**भा० सि०**)—प्रणिधानात्—भक्तिविशेषात्, विशिष्ट भक्ति से । उत्कटभक्ति को 'प्रणिधान' कहते हैं । 'प्रणिधान' पद का ठीक अर्थ समझने के लिये आचार्यों का मत उद्धृत किया जा रहा है—

१. वाचस्पतिमिश्र—**'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषान्मानसाद्वाचिकात्कायिकाद् वा'[1] ।'**

२. भोजराज—**'प्रणिधानं भक्तिविशेषो, विशिष्टमुपासनं, सर्वक्रियाणां तत्रार्पणं, विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन्परमगुरावर्पयति तत्प्रणिधानम् ।'**[2]

३. विज्ञानभिक्षु—**'प्रणिधानमत्र न द्वितीयपादवक्ष्यमाणं किन्त्वसम्प्रज्ञातकारणीभूतसमाधिर्भावनाविशेष एव, तज्जपस्तदर्थभावनमित्यागामिसूत्रेणैवात्मप्रणिधानस्यात्र लक्षणीयत्वात् ।'**[3]

आवर्जितः ईश्वरः—प्रसादितः अभिमुखीकृतः (Propitiated) अनुकूल किया गया, अर्थात् प्रसन्न किया गया ईश्वर । तम्—उस योगी को । अभिध्यानमात्रेण—अभि + √ध्यै + ल्युट् (करणे), अभिध्यानं संकल्पः इच्छा एवेति तथोक्तं तेन । 'इस योगी को असम्प्रज्ञात और कैवल्य की सिद्धि आसन्नतम हो जाय'—इस प्रकार के संकल्पमात्र से ही । **'न व्यापारान्तरेण ।'**[4] अनुगृह्णाति—आनुकूल्यं भजते, उसके उपर अनुग्रह करता है, उस पर कृपा करता है । तदभिध्यानादपि—तस्मात् तादृशात् अभिध्यानाद् ईश्वरसंकल्पादपि, उस ईश्वरीयसंकल्प से भी । योगिनः—योगी की । समाधिलाभ. फलञ्च आसन्नतमः भवतीति—असम्प्रज्ञातसिद्धि और उसके फलभूत, कैवल्य की सिद्धि निकटतम हो जाती है । इति—वाक्यान्तसूचक । **'अतस्तस्मादभि-**

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ६३ ।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १३ ।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६३ ।

४. द्रष्टव्य; वा० मि० पृ० ६३ ।

ध्यानादपि प्रणिधाननिष्पत्त्याविद्वारा योगिनामासन्नतमौ समाधिमोक्षौ भवत इत्यर्थः'[१] ॥ २३ ॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?

अब प्रधान और पुरुष (इन दो तत्त्वों) से अलग, यह 'ईश्वर' कौन है ?

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

'ईश्वर'—क्लेश, कर्म, विपाक और आशय (वासनाओं) के परामर्श से रहित—एक विशेष प्रकार का पुरुष है ॥ २४ ॥

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयः[२] । ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते । यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित इति । तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते । यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात् । तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति । कस्मात् ? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य[३] सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम् । द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात् । तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः[४] । स च पुरुषविशेष इति ॥ २४ ॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश 'क्लेश' हैं । धर्म और अधर्म 'कर्म' हैं । कर्म का फल 'विपाक' है । उस विपाक (फलभोग) से बनने वाले

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६४ ।

२. 'आशयाः'—इति पाठान्तरम् ।

३. 'प्रसिद्धा-वि'ति पाठान्तरम् ।

४. 'स ईश्वरः' इति पाठान्तरम् ।

संस्कार 'वासना' कहलाते हैं, वही 'आशय' हैं। ये चारों बुद्धि में रहते हुए पुरुष में वर्तमान कहे जाते हैं और पुरुष बुद्धिगत (सुखदुःखरूप) फल का 'भोक्ता' कहा जाता है। जैसे—जय और पराजय (वस्तुतः) राजा के सैनिकों को होती हुई 'राजा' की कही जाती है। जो पुरुषविशेष इस (तथाकथित) भोग से भी अपरा-मृष्ट (अर्थात् सम्पर्करहित) है, वही 'ईश्वर' है। (यद्यपि) कैवल्य प्राप्त कर चुकने वाले बहुत से केवली होते हैं। उन्होंने (प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणा इन—) तीन बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त किया है। ईश्वर का इन बन्धनों से न कभी सम्बन्ध हुआ और न कभी होगा। जैसे––मुक्तपुरुष की पूर्वकाल में बन्धन की स्थिति प्रकट होती है, वैसी ईश्वर की नहीं। ईश्वर तो सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर रहता है। शुद्धसत्त्वात्मक उपाधि धारण करने से ईश्वर का यह जो सार्वकालिक उत्कर्ष है, क्या वह सप्रमाण है या प्रमाणरहित ? (वह सप्रमाण है।) शास्त्र उसका प्रमाण है। (उस) शास्त्र (की प्रामाणिकता) में क्या प्रमाण है ? शुद्धसत्त्वरूप ईश्वरो-पाधि (शास्त्र में) प्रमाण है। ईश्वरोपाधिरूप शुद्धसत्त्व में वर्तमान इन—शास्त्र और ईश्वरोत्कर्ष––का अनादिसम्बन्ध है। (ईश्वरसत्त्व में विद्यमान तथा तदुत्कर्ष-बोधक) इस शास्त्र से निश्चित होता है कि वह सदैव ईश्वर है। ईश्वर का यह ऐश्वर्य 'बराबरी' और 'अतिशय' से रहित है। किसी भी अन्य ऐश्वर्य से यह ऐश्वर्य कम नहीं है, (क्योंकि) जो ऐश्वर्य सर्वातिशायी हो सकता है, वही ईश्वर का ऐश्वर्य है, इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा होती है, वही 'ईश्वर' है। उसकी 'बराबरी' का भी कोई ऐश्वर्य नहीं है, क्योंकि समानकोटि के दो ऐश्वर्य होने पर दोनों (ऐश्वर्यशालियों) को अभीष्ट (किसी) एक पदार्थ के विषय में—एक ही काल में 'यह नया हो' और 'यह पुराना हो'—इस प्रकार के विरुद्ध संकल्प होने पर एक की संकल्पसिद्धि होने में दूसरे के अभीष्ट का खण्डन हो जाने से दूसरे ऐश्वर्य में न्यूनता आ जायेगी। उस पदार्थ में एक ही समय में दोनों का अभीष्ट संकल्प एक साथ सिद्ध हो नहीं सकता, क्योंकि 'न्यूनता' और 'पुराणता' दोनों एक-दूसरे से सर्वथा विरुद्ध होने के कारण एक ही पदार्थ में, एक ही काल में हो नहीं सकते। इसलिए जिसका ऐश्वर्य 'बराबरी' और 'अतिशय' से रहित है, वह 'ईश्वर' है। वह एक विशेष प्रकार का पुरुष (ही) है ॥ २४ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—'प्रकृति' और 'पुरुष' ही सांख्ययोग में समस्त जगत् हैं, क्योंकि समस्त अचेतन-संसार प्रकृति का ही व्यक्तरूप है और सभी जीव पुरुष ही हैं। अतः शङ्का होती है कि इस चेतनाचेतन तत्त्वद्वय के अतिरिक्त यह 'ईश्वर' नाम का कौन-सा तत्त्व है ? यह शङ्का उठायी गयी है। इसका उत्तर इस सूत्र में है—'क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' ईश्वर इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त

कोई नया तत्त्व नहीं है । वह एक प्रकार का पुरुष ही है । 'पुरुषविशेष' का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर पुरुष नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है कि ईश्वर एक प्रकार का पुरुष ही है । जैसे—किसी अज्ञातवृक्ष का परिचय या बोध कराने के लिये कहा जाता है—'वृक्षविशेषः', या अज्ञातपशु का बोध कराने के लिए कहा जाता है—'पशुविशेषः'—वैसे ही सांख्य-शास्त्र में अज्ञात 'ईश्वर' का परिचय कराने के लिये कहा गया है—'पुरुषविशेषः ईश्वरः ।' इस प्रकार ईश्वर का अन्तर्भाव 'पुरुषतत्त्व' के अन्तर्गत हो जाता है । **'तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावस्तदुपाधेः प्रधान इति भावः ।'**[1]

इसलिये योग को 'षड्विंशतत्त्ववादी' कहना एक सीमित अर्थ में ही ठीक है, शतप्रतिशत ठीक नहीं है । ईश्वर कोई नया तत्त्व नहीं है, वह तो 'पुरुष' ही है । इसलिए सांख्ययोग के 'पञ्चविंशतितत्त्ववादित्व' में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं आता । इसी बात को स्पष्ट किया जा रहा है । अथ–अब । प्रश्न यह उठता है कि सांख्ययोग में तो दो ही अन्तिमतत्त्व 'पुरुष' और 'प्रकृति' माने गये हैं । प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नाम—इन 'प्रकृति' और 'पुरुष' से भिन्न (अतिरिक्त) यह 'ईश्वर' नामक कौन-सा पदार्थ या तत्त्व है ? इति—जिज्ञासायाम्, आकाङ्क्षायाम् । इस आकाङ्क्षा के विषय में यह सूत्र है ।

(सू० सि०)—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । क्लेशः—अविद्यादि पाँचों क्लेश । कर्म—कर्मसंस्कार (धर्माधर्मरूप) । विपाकः—कर्मफलानि, कर्म से मिलने वाले फल (जाति, आयु और भोगरूप) । आशयश्च—चित्ते आ समन्तात् शेते इति वासनासंस्कारः आशयः, चित्त में सब ओर से ग्रथित रहने के कारण इन (वासना) संस्कारों को 'आशय' कहते हैं । **'क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततम्**[2] **।'** **'आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्काराः**[3]**।'** (इतरेतरद्वन्द्वसमासः) तैः क्लेशकर्मविपाकाशयैः । अपरामृष्टः—असंस्पृष्टः, नाममात्र के भी सम्बन्ध अर्थात् सम्पर्क से रहित । पुरुषविशेषः—पुरुषजातीयः एव, एक प्रकार का पुरुष ही । ईश्वरः—ईश्वर है ।

इस प्रकार 'ईश्वर' एक पुरुष ही है, भले ही क्लेशादि चारों से अपरामर्शरूप वैलक्षण्य उसमें हो । अतः यह निश्चित है कि ईश्वरतत्त्व की मान्यता के द्वारा योगशास्त्र ने सांख्यसिद्धान्त का खण्डन नहीं किया, बल्कि 'ईश्वर' को एक प्रकार का पुरुष ही माना है । सब पुरुषों में परस्पर कुछ न कुछ विलक्षणता होने पर भी जैसे

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६५ ।

२. द्रष्टव्य; यो० सू० भा० २।१३ ।

३. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १४ ।

वे सब पुरुष ही कहे जाते हैं। वैसे ही इस क्लेशादिपरामर्शराहित्यरूप वैलक्षण्य होने पर भी ईश्वर पुरुष ही है, तद्व्यतिरिक्त कोई नया तत्त्व नहीं है। इस प्रकार 'सांख्य' को २५ तत्त्व मानने वाला शास्त्र और 'योग' को २६वाँ तत्त्व माननेवाला शास्त्र कहना भ्रामक है। स्मृतियों में जहाँ कहीं इस प्रकार का भेद किया गया है, वह केवल ईश्वर नामक पुरुष की मान्यतारूपी 'योगशास्त्रगतवैशिष्टच' का प्रदर्शन करने के लिये ही है। उसे अभिनवतथ्यप्रतिपादन नहीं समझ लेना चाहिए। इस तथ्य को विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है—**'पुरुषविशेष एवेश्वरः, तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावस्तदुपाधेः प्रधान इति भावः'।**[1]

इस सूत्र में 'ईश्वर' पद लक्ष्य है और 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः' तथा 'पुरुषविशेषः' ये दोनों पद लक्षण हैं॥ २४॥

(**भा० सि०**)—'क्लेशादि' जो लक्षणघटक पद है, उनका अर्थ क्रमशः स्फुट करते हुए भाष्यकार कहते हैं। अविद्यादयः क्लेशाः—अविद्या,[2] अस्मिता,[3] राग,[4] द्वेष[5] और अभिनिवेश[6]—ये पाँच क्लेश हैं। कुशलाकुशलानि कर्माणि—धर्माधर्मरूप कर्मजन्यसंस्कार ही अभेदोपचार से कर्म कहे गये हैं। तत्फलं विपाकः–तस्य कर्मजन्यसंस्कारस्य फलमेव विपाकः, विपच्यते इति वि + √पच् + घञ् = विपाकः। धर्माधर्मरूप कर्मजन्यसंस्कारों का फल ही विपाक है। यह विपाक—जाति (जन्म), आयु और भोग—इन्हीं तीन रूपों का होता है। तदनुगुणाः वासनाः आशयः—अनुकूलो गुणो यासां ताः अनुगुणाः, तस्य विपाकस्य अनुगुणाः इति तदनुगुणाः (तस्माद् विपाकाद् जातत्वाद्) वासना एव आशयाः। उन विपाकों से उत्पन्न होने वाली और इसीलिये तदनुरूप वासनाएँ ही आशय हैं। वस्तुतः ये क्लेशादि चारों पदार्थ साधारण पुरुषों में भी नहीं रहते, क्योंकि सभी पुरुष 'असङ्ग' और 'निर्लेप' ही तो होते हैं। फिर 'साधारणपुरुषों' और 'ईश्वर' नामक पुरुष में अन्तर ही क्या हुआ ? इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। ते च—ये क्लेशादि चारों पदार्थ। मनसि—चित्ते, मन में। वर्तमानाः—विद्यमान रहते हुए (भी)। पुरुषे—पुरुष में। व्यपदिश्यन्ते—उपचर्यन्ते, उपचारतः कथ्यन्ते, उपचार से कहे जाते हैं। स हि—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६५।

२. 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।'—यो० सू० २।५

३. 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।' —यो० सू० २।६

४. 'सुखानुशयी रागः'।—यो० सू० २।७।

५. 'दुःखानुशयी द्वेषः'।—यो० सू० २।८।

६. 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः'।—यो० सू० २।९।

क्योंकि वह पुरुष । तत्फलस्य भोक्तेति (कथ्यते)—मन में स्थित क्लेशादि के उन फलों का भोक्ता कहा जाता है । **'हि यस्मात् स पुरुषस्तस्य क्लेशादेः फलस्य सुख-दुःखयोः स्वस्मिन्प्रतिबिम्बितयोर्भोक्ता भवतीत्यर्थः'** ।[1] यथा जयः पराजयो वा—जैसे, जीत या हार । योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि—योद्धाओं अर्थात् सैनिकों में रहते हुए उन सैनिकों के स्वामी अर्थात् राजा में । व्यपदिश्यते—उपचर्यते, उपचारतः कथ्यते, उपचरित की जाती है । 'उपचारपूर्वक' राजा की जीत और राजा की हा कही जाती है । वैसे ही बुद्धिगत क्लेश, कर्म, विपाक और वासनाओं का ज्ञान रहता तो बुद्धि में है, किन्तु बुद्धिरूप उपाधि से उपहित (या बुद्धि में प्रतिबिम्बित) पुरुष में उपचरित होता है, जिससे वह पुरुष अपने आपको उन फलों का—'अहं दुःखी, अहं सुखी' इत्यादि रूप से—भोक्ता समझता है । इसलिये सभी जीव वास्तविक भोक्ता न होने पर भी उपचरित भोक्तृत्वसम्पन्न होते हैं । अतः पुरुष में भोग का व्यपदेश ही जीवात्मा पुरुष में क्लेशादि का परामर्श होना है । इस प्रकार जीवात्मा-पुरुषों में भोगव्यपदेशरूप का क्लेशादिपरामर्श 'शास्त्र' में स्वीकार किया जाता है । किन्तु । यो हि—जो पुरुष । अनेन भोगेन—एतादृशेनापि भोगेन, अर्थात् व्यपदिष्टेनापि भोगेन, उपचरितभोगेनापि, इस उपचरित भोग से भी अर्थात् भोगोपचार से भी । अपरामृष्टः—परामर्शरहितः, बरी है, असम्पृक्त है । स पुरुषविशेषः ईश्वरः—वह विशिष्टपुरुष, विशेष प्रकार का पुरुष, विलक्षणपुरुष 'ईश्वर' है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि साधारणपुरुष और ईश्वर—दोनों में अन्तर यह है कि साधारण पुरुषों में क्लेशादि का भोगव्यपदेश या भोगोपचार होता है, किन्तु 'ईश्वर' में यह भोगोपचार भी नहीं होता । जैसे—दो व्यक्ति हों और दोनों ने हत्या का अपराध न किया हो, फिर भी उनमें से एक पर पुलिस ने हत्या का अभियोग चला दिया हो । आगे चलकर अभियोग झूठा सिद्ध होने पर दूसरा व्यक्ति भी बाइज्जत बरी हो जाता है । ठीक वैसे ही, जीवात्मापुरुष और ईश्वर के प्रसङ्ग में समझना चाहिये । वस्तुतः दोनों भोगशून्य ही हैं, किन्तु जीवात्मापुरुषों में भोगोपचार होता है, जबकि ईश्वर में वह उपचार भी नहीं होता । आगे चलकर उन जीवों के मुक्त हो जाने पर उनमें भी भोगोपचार नहीं होता । इसलिये अन्यपुरुषों तथा ईश्वर में भेदक तत्त्व 'भोग' की सत्ता नहीं, प्रत्युत 'भोगव्यपदेश' की सत्ता है । यहाँ तक तो लौकिकपुरुषों और ईश्वर का भेद भाष्यकार ने स्पष्ट किया । अब ईश्वर और मुक्तपुरुषों तथा ईश्वर और प्रकृतिलीनों का अन्तर स्पष्ट किया जा रहा है ।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः—मोक्ष प्राप्त किये हुए बहुत से केवली अर्थात् मुक्तपुरुष होते हैं । ते हि—वे मुक्तपुरुष तो । त्रीणि बन्धनानि—तीन

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६५ ।

प्रकार के बन्धनों को। बद्धपुरुष के बन्धन तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) प्राकृत-बन्धन, (२) वैकारिकबन्धन और (३) दक्षिणाबन्धन।

'प्रकृतेर्बत बन्धेन तथा वैकारिकेण च।

दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते॥'—इति स्मृतिः॥

'प्रकृतिलयानां प्राकृतो बन्धः, वैकारिको विदेहानाम्, दक्षिणाबन्धो दिव्यादिव्य-(स्थूलसूक्ष्म) विषयभाजां तान्यमूनि त्रीणि बन्धनानि[१]।'

छित्वा—काटकर (ही), तोड़कर (ही)। कैवल्यं प्राप्ताः—मोक्षं गताः, मोक्ष-दशा को प्राप्त हुए हैं। ईश्वरस्य च—किन्तु ईश्वर का। तत्सम्बन्धः—तेन त्रिविध-बन्धनेन सह सम्बन्धः सम्पर्कः, उन तीनों प्रकार के बन्धनों से सम्बन्ध। न भूतो न भावी—न कदापि पूर्वस्मिन् काले जातो न वा भविष्यति काले कदापि भवितुं शक्नोति, न पहले कभी हुआ और न आगे कभी होनेवाला है। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः—जैसे मुक्त प्राणी की पूर्ववर्तिनी बन्धनदशा। प्रज्ञायते—प्रकटिता भवति, ज्ञात होती है। 'बिना पहले बँधे अब मुक्तता कैसी ?'—इस तर्क से मुक्तपुरुषों की पूर्वकालिक बन्धकोटि ज्ञात होती है। नैवमीश्वरस्य। एवम्—वैसी (पूर्वा बन्ध-कोटिः, पूर्वकालिक बन्धनदशा) ईश्वरस्य न (प्रज्ञायते)—ईश्वर की नहीं जानी जाती। वह कभी मुक्त थोड़े ही हुआ है, जिससे कि उसकी पहले की बन्धनदशा अनुमित हो सके—

'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।

कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते॥'—इति स्मृतिः।

इन तीनों बन्धनों का स्वरूप क्रमशः यह है—

१. प्राकृतिकबन्ध—अव्यक्त से लेकर तन्मात्रपर्यन्त आठों प्रकृतियों में अभिमान होना 'प्राकृतिकबन्ध' कहा जाता है—**'तत्राद्योऽष्टप्रकृतिष्वभिमानरूपः'**।[२]

२. वैकारिकबन्धः—शब्दादि विषयों में राग होना 'वैकारिकबन्ध' है। **'द्वितीयः शब्दादिविषयरागः'**।[३]

३. दक्षिणाबन्धः—गृहस्थों का कर्म, दक्षिणा, दान, अध्ययन, इष्टापूर्तादि में अनुराग—यह 'दक्षिणाबन्ध' है। **'तृतीयो गृहस्थानां कर्मदक्षिणादानाध्ययनादिष्व-नुरागः'**।[४]

यथा वा—या जैसे। प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते—प्रकृतिलीन प्राणियों की भविष्यत्कालिकी अर्थात् परवर्तिनी बन्धनदशा सम्भव रहती है। वायु-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ६७।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६७।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६७।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ६७।

पुराणोक्तकालपर्यन्त प्रकृतिलीनावस्था में रहने के पश्चात् अधिकारवशात् वे पुनः संसार में अवतीर्ण होते हैं। **'न कारणलयात्कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्'।**[1] सा तु नैवमीश्वरस्य—ईश्वर की उस प्रकार की (उत्तरकालिक बन्धनदशा की सम्भावना) नहीं रहती। स तु सदैव मुक्तः—वह ईश्वर तो सदा ही मुक्त रहा है और रहेगा। सदैव ईश्वरः—और सदैव ईश्वर रहा है, (उसके ऐश्वर्य में कभी कमी नहीं रही है) और सदैव ईश्वर रहेगा (उसके ऐश्वर्य में कभी कमी नहीं होगी)।

प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्—प्रकृष्टं विशुद्धम् अपहतरजस्तमोमलं सत्त्वम्, तस्योपादानं स्वीकरणं ग्रहणम्, तस्मात् प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्, रजस्तमस्सम्पर्कशून्य शुद्धसत्त्वगुणरूपी उपाधि का ग्रहण करने से। ईश्वरस्य योऽसौ—ईश्वर का जो वह। शाश्वतिकः उत्कर्षः—सार्वकालिक, सदा रहनेवाला, नित्यमुक्तत्व और नित्यैश्वर्यरूप का उत्कर्ष है। स किं सनिमित्तः—वह क्या सप्रमाण है ? 'निमित्त' शब्द का अर्थ यहाँ पर 'प्रमाण' है।[2] आहोस्विन्निर्निमित्त इति—अथवा निष्प्रमाण है ? अर्थात् ईश्वर के इस नित्यैश्वर्य में कोई प्रमाण है अथवा कोई प्रमाण नहीं है ? **'सत्त्वप्रकर्षमुपादत्ते भगवान् अपरामृष्टोऽप्यविद्यया विद्याभिमानीव'।**[3]

तस्य—ईश्वरोत्कर्षस्य, उस ईश्वरीय उत्कर्ष का। निमित्तं शास्त्रम्—प्रमाणं शास्त्रम्, प्रमाण शास्त्र है[4]। **'श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानि शास्त्रम्'।**[5]—शास्त्रं पुनः—और फिर ये शास्त्र। किं निमित्तम्—किं प्रमाणं यस्य तत् किंनिमित्तम्—किम्प्रमाणकम्, किस प्रमाण वाले हैं ? अर्थात् इन शास्त्रों का प्रमाण क्या है ? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं। प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्—प्रकृष्टसत्त्वं निमित्तं प्रमाणं यस्य तत् तादृशमिदम् (शास्त्रम्)। इस प्रकार परम्परा यह हुई कि 'प्रकृष्टसत्त्व' प्रमाण है शास्त्र का और 'शास्त्र' प्रमाण है ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का।

ईश्वरसत्त्वे वर्तमानयोः—ईश्वर के विशुद्धसत्त्व में रहने वाले। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोः—इन 'शास्त्र' तथा 'उत्कर्ष' (ऐश्वर्य) का परस्पर। अनादिः सम्बन्धः—सनातन सम्बन्ध है, क्योंकि 'शास्त्र' और 'उत्कर्ष'—इन दोनों की सत्ता ईश्वर के विशुद्धसत्त्व में है। चूँकि ये कादाचित्क नहीं हैं, विशुद्धसत्त्व के नित्य होने के कारण, इसलिये इनका परस्पर सम्बन्ध भी सनातन या शाश्वत है। यह सम्बन्ध

१. द्रष्टव्य; सां० सू० ३।५४।
२. 'सनिमित्तः सप्रमाणकः।'—त० वै० पृ० ६९।
'निमित्तं प्रमाणम्।'—भा० पृ० ६९।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ६९।
४. 'शास्त्रं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानि'—यो० वा० पृ० ७०।
५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ७०।

'वाच्यवाचक' रूप का है अर्थात् शास्त्र 'वाचक' है और ईश्वर का ऐश्वर्य 'वाच्य' है। शास्त्र की वाचकताशक्ति भी ईश्वरसत्त्वनिष्ठ है और वाच्यभूत ऐश्वर्य भी ईश्वरसत्त्वनिष्ठ है। इन दोनों का नित्यसम्बन्ध है। **'न कार्यत्वेन बोधयत्यपितु अनादिवाच्यवाचकभावसम्बन्धेन बोधयतीत्यर्थः। ईश्वरस्य हि बुद्धिसत्त्वे प्रकर्षो वर्तते, शास्त्रमपि तद्वाचकत्वेन तत्र वर्तत इति'।**[१]

इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि–एतस्मादेतद्भवति[२]—इस शास्त्र से यह सिद्ध होता है (कि)। सदैवेश्वरः सदैव मुक्तः—ईश्वर सदैव ऐश्वर्यवान् और सदैव मुक्त है। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्—और उनका यह ऐश्वर्य समानता तथा अतिशय (या अधिकता) से रहित है। **'नास्ति साम्यमतिशयश्च यस्मात्तादृशमित्यर्थः[३]।'** अर्थात् न तो किसी भी अन्य पुरुष का ऐश्वर्य ईश्वरीय ऐश्वर्य की बराबरी कर सकता है और न उससे बढ़कर हो सकता है। इसी को सिद्ध किया जा रहा है। न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते—ईश्वर का ऐश्वर्य निश्चय ही अन्य किसी (लौकिकप्राणी, मुक्तपुरुष या प्रकृतिलीन प्राणी के) ऐश्वर्य के द्वारा उल्लङ्घित या न्यूनत्वेनाधरीकृत नहीं किया जाता। (क्योंकि) यदेव (ऐश्वर्यम्)—जो ही ऐश्वर्य। अतिशयि—अतिशयोऽस्ति अस्येति अतिशयि, सर्वातिशायी सबसे बढ़कर। स्यात्—होता है। तदेव तत्स्यात्—वह ऐश्वर्य ईश्वर-सम्बन्धी या ईश्वरीय ऐश्वर्य है या माना जाना चाहिए। ऐसा—'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।' इस आगामी योगसूत्र के अनुसार कहा गया है। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य ईश्वरः। तस्माद्—हेतोः, इसलिये। यत्र—जहाँ पर। ऐश्वर्यस्य—ऐश्वर्य की। काष्ठाप्राप्तिः—काष्ठायाः सीम्नः प्राप्तिः, मर्यादाप्तिः, पराकाष्ठा है। स ईश्वरः—वही ईश्वर है। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति—और न तो उस ऐश्वर्य के बराबर ही कोई (अर्थात् किसी का) ऐश्वर्य है। कस्मात्—क्यों ? इसलिये कि। द्वयोस्तुल्ययोः—दो बराबरी के ऐश्वर्यों के या ऐश्वर्यवालों के। युगपत्कामिते एकस्मिन् अर्थे—एक साथ चाहे गये एक ही पदार्थ के विषय में। नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्तु—यह पदार्थ नया रहे और यह पदार्थ पुराना हो जाय। इति—इस स्थिति में। एकस्य सिद्धौ—एक की ही बात सिद्ध होने पर। (दोनों की बात, एक ही समय में, एक ही पदार्थ के विषय में पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी पदार्थ एक ही समय में पूरीतौर पर नया और पुराना दोनों नहीं हो सकता)। इतरस्य—दूसरे के। प्राकाम्यस्य—

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ७१।

२. 'एतस्मादीश्वरबुद्धिसत्त्वप्रकर्षवाचकाच्छास्त्राद् एतद्भवति ज्ञायते।'
—त० वै० पृ० ७१।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ७१।

अविहतेच्छतायाः, पूर्णकामता के। विघातात्—व्याघातात्, खण्डितत्वात्। ऊनत्वम्—न्यूनत्वम्। प्राकाम्य, या संकल्प का व्याघात होने के कारण कमी, हल्कापन, अल्पैश्वर्यत्व। प्रसक्तम्—प्रसक्त हो जाता है, आ जाता है, प्रकट हो जाता है।

द्वयोश्च तुल्ययोः—दोनों बराबरी के ऐश्वर्य वालों के। युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति—एक साथ चाहे गये (नवत्व और पुराणत्व रूप) अर्थ की सिद्धि नहीं होती। अर्थस्य विरुद्धत्वात्—(नवत्व और पुराणत्वरूप) अर्थ के परस्पर विरोधी होने के कारण (किसी पदार्थ में नवत्व और पुराणत्वरूप दोनों बातें एक साथ हो ही नहीं सकतीं)।

'And two equals can not obtain the same desired object simultaneously, since that would be a contradiction of terms.'[1]

तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यम्—इसलिये जिसका ऐश्वर्य बराबरी और बढ़ोत्तरी (की आशङ्का या स्थिति) से रहित है। स ईश्वरः—वह ईश्वर है। स च पुरुषविशेषः—और वह (ईश्वर) एक विशेष प्रकार का पुरुष ही है।

'क्लेशकर्मविपाकाद्यैर्वासनाभिस्तथैव च।[2]
अपरामृष्टमेवाह पुरुषं हीश्वरं श्रुतिः' ॥ २४ ॥

किञ्च—

और भी—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[3] ॥ २५ ॥

उस (ईश्वर) में सर्वज्ञता का बीज अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होता है ॥२५॥

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् 'ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामी'ति। तथा चोक्तम्—'आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचे'ति ॥ २५ ॥

---

१. द्रष्टव्य; जे० यच० वुड्सकृत 'योगसिस्टेम ऑफ पतञ्जलि'—पृ० ५०।

२. द्रष्टव्य; योगियाज्ञवल्क्यम्।

३. 'सार्वज्ञ्यबीजम्'—इति पाठान्तरम्।

भूत, भविष्यत् और वर्तमान में से किसी एक का या सभी का अतीन्द्रियज्ञान, जो (किसी में) कम और (किसी में) अधिक होता है, वही सर्वज्ञता का बीज है। वही बढ़ता-बढ़ता जिसमें पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है, वह सर्वज्ञ (कहा जाता) है। सर्वज्ञता का बीज पराकाष्ठा को प्राप्त होता है, (उसमें) न्यूनाधिक्य सम्भव होने के कारण। (जिसमें न्यूनाधिक्य की स्थिति सम्भव होती है, उसकी पराकाष्ठा भी होती है) जैसे—परिमाण। (यह सार्वज्ञ्यबीजभूत) अतीन्द्रियज्ञान जिसमें अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होता है, वह 'सर्वज्ञ' है। और वह पुरुषविशेष (ईश्वर) ही है। अनुमानप्रमाण (किसी पदार्थ के) सामान्यमात्र का बोध कराने में ही उपक्षीण हो जाता है, (उस पदार्थ के) विशेषों का बोध कराने में समर्थ नहीं होता। (इसलिये) ईश्वर के नाम इत्यादि विशेषों का ज्ञान आगमप्रमाण से करना चाहिए। उस (ईश्वर) का अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी प्राणियों पर—'ज्ञान तथा धर्म के उपदेश से कल्पप्रलयों और महाप्रलयों में (फँसे हुए) सांसारिक पुरुषों का उद्धार करूँगा'—इस प्रकार की कृपा ही उसका प्रयोजन है। वैसे ही कहा (भी) गया है कि—'आदिविद्वान् भगवान् परमर्षि (कपिल) ने जिज्ञासु आसुरि को करुणा के कारण योगनिर्मित शरीर धारण करके सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया था' ॥२५॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—किञ्च—और भी (ईश्वर के विषय में)—

(सू० सि०)—तत्र—तस्मिन् ईश्वरे, उस (ईश्वर) में। सर्वज्ञस्य—सर्वज्ञत्वस्य (सर्वज्ञतायाः) बीजम् (अतीन्द्रियज्ञानरूपम्) इति सर्वज्ञबीजम् (सार्वज्ञ्यबीजम्), सर्वज्ञता का बीजभूत अतीन्द्रियज्ञान। निरतिशयम्—निर्गतः अतिशयः यस्मात्तत्तथोक्तम्, जिससे बढ़ कर कहीं नहीं है, जो कि पराकाष्ठा है। **'तस्मिन्भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजमतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्त्वञ्च मूलत्वाद् बीजमिव बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्'**[1] ॥ २५ ॥

(भा० सि०)—यदिदम्—जो यह। अतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणम्—अतीतं (भूतकालिकम्) चानागतम् (भविष्यत्कालिकम्) च प्रत्युत्पन्नञ्च (वर्तमानकालिकञ्च) इति अतीतानागतप्रत्युत्पन्नानि (इतरेतरद्वन्द्वसमासः), तेषां प्रत्येकम् (एकैकशः) समुच्चयेन वा विद्यमानानाम् अतीन्द्रियाणां पदार्थानां ग्रहणं ज्ञानं तथोक्तम्, भूतभविष्यद्वर्तमान—इन तीनों में से किसी एक प्रकार के अथवा तीनों प्रकार के इन्द्रियातीत विषयों का ज्ञान। अल्पं बहु—कम या अधिक रूप में होता है। इति सर्वज्ञबीजम्—यही सर्वज्ञता का बीज है। तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे प्राणी में यह ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे सर्वज्ञता की ओर उसकी वृद्धि होती जाती है।

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १५।

एतद्धि वर्धमानम्—यही बीज बढ़ता-बढ़ता, वृद्धि लभमानम् । यत्र निरतिशयम्—जिस पुरुष में पराकाष्ठा को पहुँच जाता है अर्थात् जिससे आगे यह नहीं बढ़ सकता । स सर्वज्ञः—वह पुरुष, जानातीति ज्ञः (√ज्ञा+कः=ज्ञः) सर्वस्य ज्ञः इति सर्वज्ञः (भवति) होता है ।

शङ्का यह होती है कि क्या ऐसा सम्भव है कि यह अतीन्द्रियज्ञानरूप सार्वज्ञ्य-बीज अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर ही ले ? इस शङ्का को समाहित करने के लिये इस 'अनुमान' का प्रयोग किया गया है—

अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य । (साध्यनिर्देशः)
सातिशयत्वाद् । (हेतुः)
(यद्यत् सातिशयं तत्तद् सर्वं काष्ठाप्राप्तम्)
परिमाणवद् इति । (दृष्टान्तः)

सर्वज्ञता का बीज (अतीन्द्रियज्ञान) पराकाष्ठा को प्राप्त करता है ।
सातिशय (न्यूनाधिक) होने के कारण ।
(जिसमें-जिसमें न्यूनाधिक्य होता है, वह-वह अवश्य पराकाष्ठा को प्राप्त होता है)
जैसे—(महत् इत्यादि) परिमाण ।

आँवला और बेल के फलों में क्रमशः बढ़ने वाला 'महत्' परिमाण आत्मा आदि पदार्थों में पराकाष्ठा को अवश्य प्राप्त करता है । **'यद्यत् सातिशयं तत्तत्सर्वं निरतिशयं यथा कुवलयामलकबिल्वेषु सातिशयं महत्त्वमात्मनि निरतिशयमिति व्याप्ति दर्शयति परिमाणवदिति'** ।[1] यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य—जिसमें ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति, अर्थात् अन्तिम सीमा की प्राप्ति होती है । स सर्वज्ञः—वह सर्वज्ञ होता है । स च पुरुषविशेषः —और वह सर्वज्ञ पुरुषविशेष 'ईश्वर' ही है । प्रश्न यह है कि अनुमानप्रमाण से किसी पदार्थ के (विषय में उस पदार्थ के) सामान्य का ही ज्ञान होता है, उस पदार्थ के विशेषों की जानकारी (जैसे उसके नामरूपादि के सम्बन्ध में जानकारी) अनुमानप्रमाण से नहीं हो सकती । **'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्'** ।[2] सामान्यमात्रोपसंहारे च—और (पदार्थस्य) सामान्यमेव सामान्यमात्रं, तस्य एव उपसंहारः बोधनम् अर्थप्रकटीकरणं तस्मिन्, पदार्थ के सामान्यमात्र का अर्थात् उसकी सामान्यसत्ता का बोध कराने में ही । कृतोपक्षयमनुमानम्—कृतः जातः उपक्षयः पर्यवसानं यस्य तत् तथोक्तम्, उपक्षीणम्, पर्यवसितम्, अनुमानं नाम प्रमाणम् (अस्ति काष्ठाप्राप्तिरित्यादिरूपम्), अनुमानप्रमाण उपक्षीण या पर्यवसित हो जाता है । विशेषप्रतिपत्तौ—विशेषस्य नामादेः प्रतिपत्तौ बोधने, (उस ईश्वर के) विशेषभूत

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ७५ ।

२. द्रष्टव्य; भाष्यवचनम् पृ० ३० ।

नामादि का बोध कराने में। न समर्थम्—न क्षमम्, समर्थ नहीं है। इति—इति हेतोः, इसलिये। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिः—तस्य ईश्वरस्य सञ्ज्ञा नाम आदिर्येषां ते सञ्ज्ञादयः, त एव विशेषाः, तेषां प्रतिपत्तिः ज्ञानम् इति तथोक्ता, उस ईश्वर के नाम इत्यादि विशेषों की जानकारी। यहाँ आये हुए 'आदि' शब्द से उसके ६ अङ्ग तथा उसकी दस अव्ययताओं का ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि वायुपुराण में कहा गया है—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य'॥

तथा च—

'ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे'॥

आगमतः पर्यन्वेष्या—आगमप्रमाण से, (परि+अनु+√इष्+यत्+टाप्) प्राप्त करनी चाहिए। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि—उस ईश्वर का अपना कोई उपकार या स्वार्थ न होने पर भी। भूतानुग्रहः प्रयोजनम्—भूतेषु अनुग्रहः इति तथोक्तः, प्राणियों पर कृपा करना ही एकमात्र प्रयोजन या कार्य है। ज्ञानधर्मोपदेशेन—ज्ञानञ्च धर्मश्च, तयोः ज्ञानधर्मयोः उपदेशेन, ज्ञान और धर्म के उपदेश के द्वारा। कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु—खण्डप्रलय और महाप्रलय के बीच में पड़े हुए। संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामि—सांसारिक पुरुषों का उद्धार करूँगा; अर्थात् मोक्ष की ओर उन्हे अग्रसर करूँगा। तथा चोक्तम्—और 'पञ्चशिखाचार्य' के द्वारा कहा भी गया है कि। आदिविद्वान् भगवान् परमर्षिः—सर्वप्रथम केवली भगवान् परमर्षि कपिल ने। कारुण्यात्—भूतानुग्रह से अर्थात् प्राणियों के प्रति कृपा की भावना से। निर्माणचित्तमधिष्ठाय—योगनिर्मितं शरीरम् अधिष्ठाय, योगनिर्मित शरीर को धारण करके। जिज्ञासमानाय आसुरये—जानने की इच्छा करनेवाले अर्थात् पूछने वाले आसुरि से। तन्त्रं प्रोवाच—सांख्यतन्त्रम्, सांख्यशास्त्र (को) कहा था। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि 'कपिल' का दृष्टान्त, कपिल को ईश्वर सिद्ध करने की दृष्टि से नही दिया गया। वस्तुतः यह दृष्टान्त, स्वात्मानुग्रह न होने पर भी भूतानुग्रह से भूतों का उद्धार करने के विषय में है। 'कपिल' केवलीमात्र थे 'ईश्वर' नहीं[1]। क्योंकि योगशास्त्र का 'ईश्वर' अवतार इत्यादि नहीं ग्रहण करता, प्रत्युत अभिध्यान या संकल्पमात्र से ही जीवों का उद्धार करता है।

---

१. 'पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥'—श्रीमद्भागवतपुराणम्।

'इति पञ्चशिखाचार्यवचनमादिमुक्तस्वसन्तानादिगुरुविषयं, न त्वनादिमुक्तपरमगुरु-विषयम्, आदिमुक्तेषु कदाचिन्मुक्तेषु विद्वत्सु कपिलोऽस्माकमादिविद्वान्मुक्तः स एव च गुरुरिति । कपिलस्यापि जायमानस्य महेश्वरानुग्रहादेव ज्ञानप्राप्तिः श्रूयते इति'[1] ॥२५॥

स एषः—

वह यह ईश्वर—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

काल से अवच्छिन्न न होने के कारण (वह) पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है ॥२६॥

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्त-सर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

पूर्ववर्ती गुरु लोग समय से अवच्छिन्न थे । सीमा के अन्तर्गत बाँधने के लिये जिसमें समय (भी) नहीं उपस्थित होता, वह (कालातीत) ईश्वर पूर्वकालिक गुरुओं का भी गुरु है । (वह) जिस प्रकार इस सृष्टि के पहले उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ विद्यमान था, वैसे ही विगत (सभी) सृष्टियों के पहले भी विद्यमान समझा जाना चाहिए ॥ २६ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—स एषः—वह यह ईश्वर ।

(सू० सि०)—पूर्वेषाम्—पूर्वपूर्वसर्गोत्पन्नानां ब्रह्माविष्णुमहेश्वरादीनां कपि-लादीनाञ्च, पहलेवाले सभी गुरुजनों का अर्थात् पुराने से भी पुराने ब्रह्मा, विष्णु, महे-श्वर और कपिल इत्यादि उपदेष्टाओं का । अपि—भी । गुरुः—उपदेष्टा, ज्ञानप्रदः (अस्तीति शेषः), उपदेष्टा है । (किस कारण से) ? कालेन—समयेन । अनवच्छेदात् अनवच्छिन्नत्वात्, समय से परिसीमित न होने के कारण । क्योंकि ईश्वर अनादि है । समय की पृष्ठभूमि में उसकी सत्ता नहीं नापी जा सकती ॥ २६ ॥

(भा० सि०) पूर्वे हि गुरवः—पहले वाले गुरुजन ऋषिगण इत्यादि तो । कालेन अवच्छिद्यन्ते—समयेन सीमिताः भवन्ति, समय से अवच्छिन्न होते हैं । यत्र कालः—जिस पुरुष में समय । अवच्छेदार्थेन नोपावर्तते—अवच्छेदस्य प्रयोजनेन न वर्तते, अव-च्छेद के लिये अर्थात् सीमित करने के प्रयोजन से नहीं उपस्थित होता । स एष पूर्वेषामपि गुरुः—स प्रक्रान्त ईश्वरः आद्यानां गुरूणाम् अपि गुरुः उपदेष्टा अस्ति, वह यह ईश्वर पहलेवाले गुरुओं का भी गुरु है । (स) यथा—(वह ईश्वर) जिस प्रकार से । अस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः (आसीत्)—इस सृष्टि के आरम्भ में प्रकृष्टगति से, सर्वो-त्कृष्ट रूप से प्रतिष्ठित या विद्यमान था । तथा—उसी प्रकार से । अतिक्रान्तसर्गा-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ७८ ।

दिष्वपि—अतिक्रान्ताः व्यतीताश्च ते सर्गाश्च सृष्टयश्चेति अतिक्रान्तसर्गास्तेषाम् आदिषु प्रारम्भेषु अपि, बीती हुई सभी सृष्टियों के प्रारम्भ में भी। प्रत्येतव्यः—प्रति+√इण्+तव्यत्, बोद्धव्यः, ज्ञातव्यः, विद्यमान माना जाना चाहिए ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उसका अभिधायक शब्द ओङ्कार है ॥ २७ ॥

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य सङ्केतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। सङ्केतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः सङ्केतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव सङ्केतः क्रियते। सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥

(पुरुषविशेष) ईश्वर ओङ्कार का अभिधेय अर्थ है। क्या ओङ्कार का वाच्य-वाचकत्व संकेतजन्य है? अथवा दीप से प्रकाशित (पदार्थ) के समान (पहले से ही) स्थित (और संकेतद्योत्य) है? इस वाच्य का वाचक के साथ सम्बन्ध स्थित (नित्य और संकेतद्योत्य) ही (होता) है (संकेतजन्य नहीं)। ईश्वर का संकेत (पहले से) स्थित (वाच्यवाचकसम्बन्धरूप) अर्थ को प्रकाशित (भर) करता है। जैसे—पिता और पुत्र का सम्बन्ध पहले से स्थित रहता है और संकेत के द्वारा प्रकाशित होता है कि 'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है।' अन्य सर्गों में भी वाच्यवाचकशक्तिसहाय संकेत उसी प्रकार से (ईश्वर के द्वारा) किया जाता है। सदृशव्यवहारपरम्परा के नित्य होने से शब्दार्थसम्बन्ध भी नित्य होता है—ऐसा आगमशास्त्रकारलोग मानते हैं ॥ २७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—२४वें, २५वें और २३वें सूत्रों में 'ईश्वर' पदार्थ का यथा-सम्भव निरूपण किया गया है। अब इस सूत्र में 'उस ईश्वर का वाचक शब्द क्या है? —यह बताया जा रहा है, ताकि ईश्वरप्रणिधान किया जा सके। तस्य—ईश्वरस्य (अभिधेयार्थभूतस्य) वाचकः—अभिधायकशब्दः, वाचक शब्द। प्रणवः—'ओम्' है। प्र+√नू+अप्, प्रकर्षेण नूयते स्तूयत इति प्रणवः, उत्कृष्ट रूप से स्तुति की जाती है जिस शब्द के द्वारा, वह शब्द 'प्रणव' कहा जाता है। उस 'प्रणव' का स्वरूप है 'ओम्'। यह 'ओम्' शब्द 'ओम्'-ध्वनिरूप है। इसलिये इसे 'ओङ्कार' नाम से प्रकट किया जाता है। इस 'ओम्' की यह व्युत्पत्ति की जाती है—अवतीति ओम् ॥ २७ ॥

(भा० सि०)—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य—ईश्वरः, प्रणवस्य 'ओम्' इति पदस्य, वाच्यः–अभिधेयार्थः, ईश्वर 'ओङ्कार' का अभिधेय अर्थ है। इस प्रकार 'ओम्' वाचक शब्द है और 'ईश्वर' वाच्यार्थ है। इस 'ओङ्कार' और 'ईश्वर' का वाच्य-वाचकसम्बन्ध है। किम् अस्य—किम् ओङ्कारस्य ईश्वरस्य च ओङ्कारेश्वरयोः। वाच्य-वाचकत्वम्—वाच्यवाचकभावसम्बन्धः। संकेतकृतम्–संकेतजन्यम्, क्या इस 'ओङ्कार' और 'ईश्वर' का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध संकेत[1] से उत्पन्न है। अथ–या फिर। प्रदीप-प्रकाशवद्—प्रदीपेन प्रकाशः प्रकटीभवनं यस्य (कलशादेः) तत् प्रदीपप्रकाशम्, तद्व-दिति प्रदीपप्रकाशवद्, दीपक से प्रकाशित होनेवाले (घटादि) पदार्थ के समान। अवस्थितम्—पहले से उपस्थित रहता है और बाद में संकेत के द्वारा प्रकाशित (भर) हो जाता है। यहाँ पर भाष्यकार ने दो विकल्प उठाये हैं—

(१) क्या वाचकपद 'ओम्' और वाच्यार्थ 'ईश्वर' के बीच का वाचकवाच्य-सम्बन्ध संकेतजन्य है ?

(२) अथवा, क्या यह सम्बन्ध दीपक के द्वारा प्रकाश्य पदार्थों की भाँति पहले से स्थित रहता है और बाद में 'संकेत' से प्रकाशित भर होता है और इस प्रकार वाच्यवाचकभावसम्बन्ध संकेतद्योत्य है ?

इन विकल्पों का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। अस्य—इस। वाच्यस्य—'ईश्वर' अर्थ का। वाच-केन—'ओम्' इस वाचक पद के। सह—साथ। सम्बन्धः—सम्बन्ध। स्थितः—अव-स्थित अर्थात् स्वाभाविक एवं नित्य है। ईश्वरस्य—ईश्वर का (ईश्वरविषयक)। संकेतस्तु—संकेत तो। स्थितम् एव—अवस्थित ही। अर्थम्—सम्बन्धम् (प्रणवेश्वर-योर्वाच्यवाचकभावलक्षणम्), प्रणव तथा ईश्वर के वाचकवाच्यभावरूप के सम्बन्ध को। अभिप्राय यह है कि संकेत से वाच्यवाचकभाव रूपी सम्बन्ध ही द्योतित होता है, वाच्यार्थ नहीं द्योतित होता; क्योंकि वाच्यार्थ तो वाचकशब्द से द्योतित होता है। इसलिये 'अर्थ' पद का अर्थ यहाँ 'ईश्वरार्थ' न लेकर 'वाच्यवाचकभावसम्बन्ध' ही लेना चाहिए। अभिनयति—प्रकाशयति, द्योतयति, प्रकाशित करता है। यथाऽव-स्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः। यथा—जिस प्रकार से। पितापुत्रयोः—पिता और पुत्र का। अवस्थितः—(पुत्र के जन्मकाल से ही) स्थित। सम्बन्धः—जनकजन्य-सम्बन्ध। संकेतेनावद्योत्यते—संकेत के द्वारा प्रकाशित होता है। यह 'संकेत' शब्द साधारण अर्थ में प्रयुक्त है, उक्त संकेत के अर्थ में नहीं। क्योंकि उक्त संकेत तो वाच्य-

---

१. पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः (स्मृत्यात्मकः सङ्केतः। यथा योऽयं शब्दः सोऽयमर्थः योऽर्थः स शब्दः इति सङ्केतः। सङ्केतग्रहस्तु, व्याकरणकोशवृद्धव्यवहारा-दितो भवति। सङ्केतस्तु वाच्यवाचकसम्बन्धद्योतकः ग्राहक इत्यर्थः।–न्या० को०

वाचकसम्बन्ध का प्रकाशक होता है, अन्य सम्बन्धों का नहीं ।[1] यह सम्बन्ध-प्रकाशन इस रूप में होता है—

अयमस्य पिता—यह (पिता) इसका (पुत्र का) पिता या जनक है । और । अयमस्य पुत्रः—यह (पुत्र) इसका (पिता का) पुत्र या जन्य है । इति—इस प्रकार से प्रकाशन होता है । बीच में होनेवाली 'कल्पप्रलय' या 'महाप्रलय' आदि से भी शब्दार्थसम्बन्ध का अवस्थित होना बाधित नहीं होता, क्योंकि वाचक शब्द भी (अपनी) प्रकृति में लीन या अव्यक्त रहता है । नष्ट तो होता नहीं । उसका अभिव्यक्तीकरण ईश्वर के 'संकेत' से फिर हो जाता है । यह 'संकेत' अनादि और ईश्वरेच्छारूप माना गया है । इसलिये भाष्यकार ने कहा है—

सर्गान्तरेष्वपि—अन्य सृष्टियों में भी । तथैव—तेनैव प्रकारेण, उसी प्रकार से, पहले सर्गों की ही भाँति । वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षः संकेतः क्रियते—वाच्यवाचकशक्तिसापेक्ष अर्थात् तत्सम्बन्ध के अनुकूल वाच्यवाचकभावप्रकाशक 'संकेत' किया जाता है । ईश्वरेणेति शेषः[2]—ईश्वर के द्वारा । **'यद्यपि सहशक्त्या प्रधानसाम्यमुपगतः शब्दस्तथापि पुनराविर्भावस्तच्छक्तियुक्त एवाविर्भवति, वर्षातिपातसमधिगतमृद्भाव इवोद्भिज्जो मेघविसृष्टवारिधारासारावसेकात्, तेन पूर्वसम्बन्धानुसारेण सङ्केतः क्रियते भगवतेति ।'**[3]

सम्प्रतिपत्तिनित्यतया—सम्प्रतिपत्तिः—सदृशव्यवहारपरम्परा । सम् + प्रति + √ पद् + क्तिन्, सम्यक् प्रतिपद्यते बुध्यतेऽनया इति करणे (भावे वा) क्तिन् । समानरूप से व्यवहृत परम्परा ही सम्प्रतिपत्ति है । चूँकि सम्प्रतिपत्ति एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि में चलती रहती है, इसलिये सम्प्रतिपत्ति या सदृशव्यवहारपरम्परा के कारण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य बना रहता है और ईश्वरकृत 'संकेत' के द्वारा प्रतिसर्ग में प्रकाशित हो जाता है । अस्याः सम्प्रतिपत्तेः नित्यतया—इस सदृशव्यव-

---

१. सङ्केतो द्विविधः—आधुनिकसङ्केतः ईश्वरसङ्केतश्च । तत्राद्यः परिभाषेत्युच्यते, द्वितीयः शक्तिः इत्युच्यते । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'आजानिकश्चाधुनिकः सङ्केतो द्विविधो मतः ।
नित्य आजानिकस्तत्र या शक्तिरिति गीयते ।
कादाचित्कस्त्वाधुनिकः शास्त्रकारादिभिः कृतः' ॥

(न्या० को० पृ० ९०३ पर उद्धृत)

२. 'सङ्केतस्य च लोके दर्शनेन तादृशेश्वरसङ्केतस्याप्यनुमानम् । अत एव न्यायवाचस्पत्य उक्तम्, सर्गादिभुवां महर्षिदेवतानामीश्वरेण साक्षादेव कृतस्सङ्केतस्तद्व्यवहाराच्चास्मदादीनामपि सुग्रहस्तत्सङ्केत इति ।' —(ल० म०)

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ८२ ।

हारपरम्परा के नित्य होने के कारण। अर्थात् जो पहले सर्ग में 'घट' पद और 'घट' अर्थ था, वही तो प्रकृति में लीन हुआ था। इसलिये बाद वाले सर्ग में वही अभिव्यक्त होकर 'घट' शब्द और 'घट' अर्थरूप से व्यवहृत होगा; क्योंकि इसमें अन्तर आने का कोई कारण हो ही नहीं सकता। जो वस्तु जिस रूप में अव्यक्त हुई थी, व्यक्त होने पर वह वस्तु उसी रूप की तो होगी? इसलिये 'घटपद' सदृश 'घटपद' ही तो सभी सर्गों में रहेगा और 'घटअर्थ' सदृश ही तो 'घटअर्थ' सभी सर्गों में रहेगा। इस प्रकार सदृश व्यवहार ही सभी सर्गों में चलता रहेगा। यही 'सदृशव्यवहारपरम्परा' है। इसके नित्य होने के कारण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य ही हुआ। इसलिये इस सदृशव्यवहारपरम्परा के नित्य होने से। नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः—शब्दार्थयोः सम्बन्धः शब्दार्थसम्बन्धः 'वाच्य-वाचकभावलक्षणः' सम्बन्धः (अपि), शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध अर्थात् 'वाच्यवाचकभाव' सम्बन्ध भी। नित्यः (एव)—नित्य ही सिद्ध हुआ, संकेतजन्य नहीं। संकेत के द्वारा तो वह केवल द्योतित होता है।

इत्यागमिनः प्रतिजानते। इति—इस प्रकार से। आगमिनः—आगम वाले लोग अर्थात् आगम बनाने वाले, या आगमप्रमाण में विश्वास करने वाले आचार्य। प्रतिजानते—प्रतिज्ञा करते हैं, दृढ़तापूर्वक कहते हैं। **'तयोश्च वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धो नित्यः सङ्केतेन प्रकाश्यते न तु केनचित्क्रियते, यथा पितापुत्रयोर्विद्यमान एव सम्बन्धोऽस्यायं पितास्यायं पुत्र इति केनचित्प्रकाश्यते'**[1] ॥ २७ ॥

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः —

वाच्यवाचकसम्बन्ध को जानने वाले योगी को—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उस (ओम्) का जप और उसके अर्थ (ईश्वर) की भावना करनी चाहिए।

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्[2]।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति ॥२८॥

'ओङ्कार' का जप और ओङ्कार के वाच्यार्थ 'ईश्वर' की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार 'ओङ्कार' को जपते हुए तथा ओङ्कार के अर्थ 'ईश्वर' की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। ऐसा (विष्णुपुराण में) कहा भी गया है—

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १६।
२. 'स्वाध्यायमासते' इति पाठान्तरम्।

ओङ्कार के जप के पश्चात् योगसाधन करना चाहिए और योग (साधन) के पश्चात् जप करना चाहिए। जप और योग की सिद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार होता है॥ २८॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य—शब्द और अर्थ के अभिधेयाभिधायक सम्बन्ध को जाननेवाले। योगिनः—योगी को (षष्ठीविभक्तिः, ए० व०)।

(सू० सि०)—तज्जपः—तस्य वाचकभूत-(ओम्) शब्दस्य जपः उच्चारणम्, **'जपो यथावदुच्चारणम्'**[1]। पौनःपुन्येन उस वाचक 'ओम्' शब्द का जप। और। तदर्थभावनम्—तस्यार्थस्य 'ईश्वरस्य' भावनं ध्यानम्, चेतसि पुनः पुनः निवेशनम्, उस 'ओङ्कार' के अर्थभूत 'ईश्वर' की भावना (ध्यान) करनी चाहिए॥ २८॥

(भा० सि०)—प्रणवस्य जपः—ओङ्कारस्य उच्चारणम्, 'ओम्' का जप या उच्चारण। प्रणवाभिधेयस्य च—और 'ओङ्कार' के अभिधेय अर्थ ईश्वरस्य—ईश्वर की। भावनम्—ध्यानं कर्तव्यम्, भावना (ध्यान) करनी चाहिए। तद्—तदा, तब। अस्य योगिनः—इस योगी का। (किस योगी का ?) प्रणवं जपतः—ओङ्कारस्योच्चारणं कुर्वतः, ओङ्कार का उच्चारण या जप करने वाले का। प्रणवार्थं च भावयतः—और ईश्वर की भावना करने वाले योगी का। चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते—चित्तम् एकाग्रं भवति, चित्त एकाग्र हो जाता है। तथा च उक्तम्—और वैसे ही कहा भी गया है—

स्वाध्यायात्—निरन्तर 'ओङ्कार' के जप से, **'निरन्तरप्रणवजपात्'**[2]। योगम्—ध्यानम्, ईश्वरार्थभावनम्। आसीत—उपासीत, सेवेत, कुर्यादित्यर्थः, सम्पादयेत्—सम्पादित करना चाहिए। जप से ईश्वर की भावना में सहायता प्राप्त होती है, इसलिये जप करके ईश्वरार्थ भावना को सम्पन्न करना चाहिए। और। योगाद्–योग से अर्थात् ईश्वर की भावना से। स्वाध्यायम्—जपम्, जप को। आमनेत्—अभ्यसेत्, अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् जपपूर्वक ईश्वरार्थभावना और भावनापूर्वक ओङ्कार का जप करना चाहिए। जप से ईश्वरध्यान को संपुटित या संवलित करना और सम्पूर्ण करना चाहिए तथा ईश्वरध्यान से जप को संपुटित या संवलित करना चाहिए। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या—स्वाध्यायस्य योगस्य च सम्पत्तिः यथावत् सम्पूर्तिः, तया स्वाध्याययोगसम्पत्त्या, ओङ्कार के जप और ईश्वर की भावना से। परमात्मा प्रकाशते—परमेश्वरः प्रसीदति, परमेश्वर प्रकाशित होता है अर्थात् प्रसन्न होता है।

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १६।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ८४।

प्रसन्न या आवर्जित होने पर ही अभिध्यान या संकल्पमात्र से योगी को अनुगृहीत करता है। 'ततः ईश्वरः समाधितत्फललाभेन तमनुगृह्णाति'[1] ॥ २८ ॥

किञ्चास्य भवति ?

इससे (योगी को) और क्या (प्राप्त) होता है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

इससे जीवात्मा के स्वरूप का दर्शन और विघ्नों का अभाव होता है ॥ २९ ॥

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ २९ ॥

व्याधि इत्यादि जो (योग के) विघ्न हैं, वे ईश्वरप्रणिधान से नहीं होते और इसको अपने स्वरूप का दर्शन भी होता है। जैसे—ईश्वर शुद्ध, दुःखादिरहित, केवल और कर्मफलासम्बद्ध पुरुष है, वैसे ही बुद्धि का साक्षी यह पुरुष भी है—इस प्रकार जान लेता है ॥ २९ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—किञ्च—और क्या। अस्य—इस योगी को। भवति—(प्राप्त) होता है ?

(सू० सि०)—ततः—उस जप एवं ध्यान से। प्रत्यक्चेतनाधिगमः[2]—प्रत्यक्-चेतन अर्थात् अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति या उपलब्धि होती है। अपि—भी। इस 'अपि' शब्द से यह भाव प्रकट होता है कि 'ओम्' के जप एवं ईश्वरार्थ की भावना से न केवल ईश्वर की उपलब्धि और ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है, अपितु आत्मा का भी साक्षात्कार हो जाता है। सूत्रकार ने 'अपि' शब्द का प्रयोग, परमात्मा के साथ-साथ स्वात्मा (जीवात्मा) का साक्षात्कार भी हो जाता है—यह बताने के लिये किया है। प्रत्यक्–प्रतीपम् (विपरीतां दिशम्) अञ्चति—गच्छति इति (प्रति + √अञ्चु + क्विन्) इस प्रकार उल्टा जानेवाला हुआ 'प्रत्यक्', प्रत्यक् चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनः। वाचस्पतिमिश्र ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी है—**'प्रतीपं विपरीतम्, अञ्चति विजानाति इति प्रत्यङ्, स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनोऽविद्यावान् पुरुषः (विज्ञानात्मेत्यर्थः)**[3]।' अन्तरायाणाम्—योगमार्गसम्भवविघ्नानाम्।

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ८६।

२. 'विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तस्याः अधिगमो ज्ञानं भवति।'—रा० मा० वृ० पृ० १७।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ८६।

अभावः—शक्तिप्रतिबन्धः इति अन्तरायाभावः, योगमार्ग के आगे बताये जाने वाले विघ्नों का अभाव भी हो जाता है ॥ २९ ॥

(भा० सि०)—ये तावद्—ये जो। अन्तरायाः—विघ्नाः, बाधाएँ। व्याधि-प्रभृतयः—व्याधि इत्यादि हैं। ते तावत्—वे तो। ईश्वरप्रणिधानात्—ईश्वर के प्रणिधान से। न भवन्ति—नहीं होते हैं, नहीं उत्पन्न होते हैं, योगसाधना के मार्ग में नहीं आते हैं। स्वरूपदर्शनम्-(और) अपने जीवात्मा के रूप का दर्शन या साक्षात्कार। अपि—भी। अस्य-इस योगी को। भवति—हो जाता है। क्योंकि। यथैवेश्वरः पुरुषः—जैसे 'ईश्वर' नामक पुरुषविशेष। शुद्धः—शुद्ध, त्रिगुणातीत। प्रसन्नः-क्लेश-रहितः क्लेशवर्जितः, निर्दुःख। केवलः—धर्माधर्मसम्पर्कहीन। अनुपसर्गः—उपसर्ग अर्थात् 'जात्यायुर्भोग' रूप उपसर्गों से रहित है। तथायमपि—तद्वत्, उसी तरह यह (जीवात्मा) भी। (कौन जीवात्मा ?) (यः) पुरुषः—(जो) पुरुष। बुद्धेः—इस अपनी बुद्धि का। प्रतिसंवेदी—साक्षी है (वह)। इत्येवम्—इस प्रकार से। अधिगच्छति—सम्यग् जानाति, ठीक से जान लेता है। नारदीयपुराण में कहा भी गया है—

'मायाप्रवर्तके विष्णौ दृढा भक्तिः कृपा नृणाम्।
सुखेन प्रकृतेर्भिन्नं स्वं दर्शयति दीपवद्' ॥ इति ॥ २९ ॥

अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति ?

अब कौन (से) विघ्न हैं, जो चित्त में विक्षेप उत्पन्न करनेवाले होते हैं ? वे आखिर कौन हैं ? और कितने हैं ?

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमि-कत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, दर्शन, अलब्धभूमि-कत्व और अनवस्थितत्व—चित्त के विक्षेप हैं। वे ही विघ्न हैं ॥ ३० ॥

नवाऽन्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषा-मभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्ति-दर्शनं विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ ३० ॥

ये नव विघ्न ही चित्त के विक्षेप हैं। ये (विघ्न) चित्तवृत्तियों के साथ ही होते हैं। इनके न होने पर पहले कही गयी (प्रमाणादि, योगनिरुद्ध) चित्तवृत्तियाँ नहीं होतीं। धातु (वात, पित्त और कफ), रस (भोजन-पानादि से बने हुए शारीर के रस) और इन्द्रियों में न्यूनाधिक्य का होना 'व्याधि' है। 'स्त्यान' (अयोग्यता के कारण) चित्त की अकर्मण्यता है। उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान—'यह ऐसा होना चाहिए और यह ऐसा नहीं होना चाहिए'—'संशय' है। समाधि के साधनों को न करना 'प्रमाद' है। शरीर और चित्त के भारी होने के कारण (योगसाधना में) प्रवृत्ति न होना 'आलस्य' है। चित्त की विषयसम्पर्करूपिणी लालसा 'अविरति' है। मिथ्याज्ञान 'भ्रान्तिदर्शन' है। समाधिसाधना में भूमिकाओं का लाभ न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है और प्राप्त हुई भूमिका में चित्त का प्रतिष्ठित न होना 'अनवस्थितत्व' है। समाधि की भूमिका का लाभ होने पर (चित्त को) उसमें स्थित होना चाहिए। ये नव चित्तविक्षेप योग के 'मल', योग के 'शत्रु' और योग के 'विघ्न' कहे जाते हैं ॥ ३० ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—अथ केऽन्तरायाः—अब अन्तराय या विघ्न कौन हैं? ये चित्तस्य विक्षेपाः—जो चित्त के विक्षेपक अर्थात् चित्त को विक्षिप्त करनेवाले होते हैं। के पुनस्ते कियन्तो वेति—फिर वे कौन-कौन से हैं? अर्थात् किस-किस नाम वाले हैं? और वे (संख्या में) कितने हैं? इति—इस विषय में यह सूत्र है।

(**सू० सि०**)—व्याधिः—शारीरिकपीडा। स्त्यानम्—अकर्मण्यता (√स्त्यै+ ल्युट् भावे)। संशयः—सन्देह या उभयकोटिकज्ञान। प्रमादः—असावधानी, उपेक्षा। आलस्यम्—शरीर या मन के भारी होने के कारण योगसाधन की ओर प्रवृत्ति न होना। **'आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्त्यभावहेतुः[१]।'** अविरतिः—लोलुपता, वैराग्याभाव। भ्रान्तिदर्शनम्—विपर्ययज्ञान। अलब्धभूमिकत्व—समाधि की भूमियों की अप्राप्ति। अनवस्थितत्वम्—समाधि की तत्तद् भूमियों का लाभ होने पर भी चित्त का उस भूमिका में प्रतिष्ठित न होना। यहाँ पर 'इतरेतरद्वन्द्वसमास' है। ये नवों। चित्तविक्षेपाः—चित्त के विक्षेप हैं अर्थात् चित्त को विक्षिप्त करनेवाले होते हैं। ते—ये चित्तविक्षेप। अन्तरायाः—योग के विघ्न (कहे जाते) हैं ॥ ३० ॥

(**भा० सि०**)—नव अन्तरायाः चित्तस्य विक्षेपाः—(ये) नव (योग के) विघ्न चित्त को विक्षिप्त करनेवाले 'चित्तविक्षेप' हैं। **'चित्तं खल्वमी व्याध्यादयो योगाद् विक्षिपन्ति अपनयन्तीति विक्षेपाः[२]।'** एते—ये विक्षेप। चित्तवृत्तिभिः सह—प्रमाणादि

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १७।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ८८।

पाँचों चित्तवृत्तियों के साथ ही । भवन्ति—होते हैं । उनसे अलग नहीं । इसलिये । एतेषामभावे—विक्षेपाणाम् अनुत्पादे, विक्षेपों के न उत्पन्न होने पर । पूर्वोक्ताः—पहले बतायी गयी । चित्तवृत्तयः—'प्रमाणादि' वृत्तियाँ । न भवन्ति—नहीं उत्पन्न होतीं । वास्तविकता यह है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—सूत्र के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध ही 'योग' है और इन वृत्तियों का उदित होना ही 'योगभ्रंश' है । इस प्रकार से वृत्तियों का उदित होना ही, योग का विघ्न है । अब देखना यह है कि जो ये योग के नव विघ्न बताये गये हैं, क्या वे वृत्तिरूप होते हैं, जिससे कि योग को बाधित करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि 'संशय' और 'भ्रान्तिदर्शन' तो साक्षात् 'विपर्ययवृत्ति' ही हैं, इसलिये इन दोनों का उदय तो 'विपर्ययवृत्ति' का ही उदय है । फलतः ये दोनों विक्षेप तो योग के अन्तराय स्पष्टतः सिद्ध ही हैं । शेष 'व्याधि' इत्यादि यद्यपि वृत्ति नहीं हैं, परन्तु उनके उदित होने पर 'प्रमाणादि' वृत्तियाँ अवश्य उदित हो जाती हैं । इसी बात को सिद्ध करने के लिये 'भाष्यकार' ने कहा है—'सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति'—इत्यादि । व्याधिप्रभृति विघ्न, वृत्तियों के सहित ही रहते हैं, बिना वृत्तियों के इनकी उपस्थिति नहीं होती । इस प्रकार ये सातों विक्षेप, वृत्तियों के साथ ही प्रकट होने के कारण वृत्तियों का उदय अनिवार्यतः करा देते हैं । अतः वृत्त्युदयकारी होने के कारण ये भी योग के विघ्न सिद्ध होते हैं । **'संशयभ्रान्तिदर्शनं तावद् वृत्तितया वृत्तिनिरोधप्रतिपक्षौ, येऽपि न वृत्तयो व्याध्यादिप्रभृतयस्तेऽपि वृत्तिसाहचर्यात् तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः'**[१] ।

तत्र—इन (योग के नवान्तरायों) में । धातुरसकरणवैषम्यम्—वात, पित्त और कफ ये तीन धातुएँ, खाने-पीने से बने हुए रस (**'अशितपीताहारपरिणामविशेषो रसः**[२] **।'**) और ग्यारहों इन्द्रियाँ । इन सब में विषमता अर्थात् न्यूनाधिक्य हो जाना । व्याधिः—'व्याधि' या रोग है । स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य—चित्त का अकर्मण्य होना 'स्त्यान' है । उभयकोटिस्पृक्—उभयकोटिं स्पृशतीति उभयकोटिस्पृक् (√स्पृश + क्विन्) दोनों कोटियों का स्पर्श करनेवाला । विज्ञानम्—ज्ञान । संशयः—'संशय' कहा जाता है । इसका स्वरूप यह होता है कि—'स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति'—'यह ऐसा होगा अथवा ऐसा नहीं होगा ।' समाधिसाधनानाम्—समाधि के साधनों का । अभावनम्—अनुष्ठान न करना, उपेक्षा करना । प्रमादः—'प्रमाद' है । कायस्य—शरीर की । चित्तस्य च—और चित्त की । गुरुत्वाद्—भारीपन के कारण । अप्रवृत्तिः—प्रवृत्ति न होना । आलस्यम्—'आलस्य' है । चित्तस्य—चित्त की । विषयसम्प्रयोगात्मा—विषयेण (सह) सम्प्रयोग एव आत्मा रूपं यस्य तादृशः; विषयों के

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ८९ ।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ८९ ।
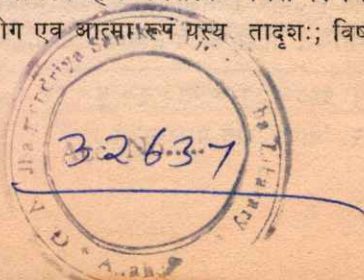
साथ सम्पर्करूपी । गर्धः—लोलुपता या लालच । अविरतिः—'अविरति' है । भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्—'भ्रान्तिदर्शन' का अर्थ है विपरीतज्ञान या मिथ्याज्ञान । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः—न लब्धा भूमिका येन तच्चित्तमलब्धभूमिकं, तस्य भावः अलब्धभूमिकत्वम्, चित्त को समाधि की भूमियों की प्राप्ति न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है ।

लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा—समाधि की भूमियों का क्रमशः लाभ हो जाने पर भी उसमें चित्त की स्थिति न होना । अनवस्थितत्वम्—'अनवस्थितत्व' नाम का विघ्न है । समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्याद्—समाधि की जो भूमिका सिद्ध हो जाय, उसमें चित्त को अवस्थित या प्रतिष्ठित हो जाना चाहिए । तात्पर्य यह है कि स्वेच्छानुसार उस स्थिति में चित्त को पहुँचाया जा सके । किन्तु जब एक बार उस भूमिका का लाभ हो जाने के बाद भी स्वेच्छा से चित्त उस स्थिति को प्राप्त न कर सके तो इस (दोष) को 'अनवस्थितत्व' नामक विक्षेप कहा जाता है । इति एते—ये इतने । चित्तविक्षेपा नव—चित्त के नव विक्षेप । योगमला, योगप्रतिपक्षा, योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते—योग के दोष, योग के विरोधी, योग के विघ्न कहे जाते हैं । इनकी योग-विरोधिता के विषय में भोजराज कहते हैं—**'त एते समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते'**[1] ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गकम्पन, श्वास और प्रश्वास—ये विक्षेपों के साथी होते हैं ॥ ३१ ॥

दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो[2] यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कोष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः । एते विक्षेपसहभुवः । विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥३१॥

'दुःख' आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक होता है । जिससे पीडित होकर प्राणी उसे नष्ट करने के लिये प्रयत्न करते हैं, वह 'दुःख' है । इच्छा के अपूर्ण होने से चित्त का चञ्चल होना 'दौर्मनस्य' है । जो अङ्गों को कँपाता है, वह 'अङ्गकम्प है । प्राण (स्वतः) जो बाह्यवायु को खींचता है, वह 'श्वास' है । जो भीतर की वायु को (बाहर) निकालता है, वह 'प्रश्वास' है । ये विक्षेपों के साथी हैं, अर्थात् विक्षिप्तचित्त प्राणी को ये होते हैं । समाहितचित्त (साधक) को ये नहीं होते ॥३१॥

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १८ ।

२. 'प्राणी' इति पाठान्तरम् ।

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—दुःखम्—त्रिविधतापः, आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के दुःख। दौर्मनस्यम्—मनसः क्षोभः मनसो दौःस्थ्यम्, मन का क्षुब्ध होना। अङ्गमेजयत्वम्—अङ्गकम्पनम्, **'सर्वाङ्गीणो वेपथुः'**[1] अङ्गों में कँपकँपी। श्वासः—निःश्वासः, तेजी से साँस का अन्दर आना (Uncontrolled Inhalation)। प्रश्वासः—उच्छ्वासः, तेजी से साँस का बाहर निकलना (Uncontrolled Exhalation)। इति दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वास-प्रश्वासाः (इतरेतरद्वन्द्वसमासः)। विक्षेपसहभुवः—सह भवन्ति इति सहभुवः (सह + $\sqrt{}$भू + क्विप्) विक्षेपाणां सहभुवः इति विक्षेपसहभुवः, विक्षेपों के साथ उत्पन्न होनेवाले, साथी हैं। ये पाँच व्याध्यादि विक्षेपों के अनिवार्य सहगामी या साथी हैं। पहले गिनाये गये नवों विक्षेपों के साथ उत्पन्न होनेवाले ये पाँच भी योग के अन्तराय ही होते हैं ॥३१॥

(**भा० सि०**) – दुःखम्—दुःख तीन प्रकार के होते हैं। आध्यात्मिकम्—शारीरिक और मानसिक पीडा। **'शारीरं व्याधिवशाद्, मानसं कामादिवशात्[2]।'** आधिभौतिकम्—व्याघ्रादिप्राणिजनितपीडा। आधिदैविकञ्च—और ग्रहादिजनितपीडा। येनाभिहताः प्राणिनः—जिससे पीडित होकर अर्थात् आहत होकर लोग। तदुपघाताय प्रयतन्ते—तस्य उपघातः इति तदुपघातः तस्मै, उसको नष्ट करने के लिये प्रयत्न करते हैं। तद्दुःखम्—वह दुःख है। दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः—दौर्मनस्य या दुर्मनस्कता का अर्थ है इच्छा के अपूर्ण रहने से चित्त का चञ्चल होना। यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्—जो अङ्गों को कम्पित करता है, वह अङ्गकम्प है। प्राणः—(प्राणी की इच्छा के बिना ही) प्राणी के अन्दर रहने वाला 'प्राण' नाम का तत्त्व स्वतः। यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः—जो बाहरी वायु को भीतर पीता है, खींचता है, वह 'श्वास' नामक विक्षेपसहभू है। इससे समाधि के अङ्गभूत 'रेचकप्राणायाम' में बाधा पड़ती है। इस प्रकार इसे विक्षेपसहभू माना गया है। यह दोष साँस लेने की सामान्य-प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि इसमें प्राणी की इच्छा और आवश्यकता के बिना ही साँस तेजी से आने लगती है।

यत् कोष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः—जो कोष्ठगत अर्थात् उदरस्थ वायु को 'प्राण' तेजी से बाहर निकालता है, वह 'प्रश्वास' नाम का विक्षेपसहभू है। यह दोष भी साँस छोड़ने की सामान्य-प्रक्रिया से भिन्नरूप का होता है। इससे समाधि का अङ्गभूत 'पूरकप्राणायाम' बाधित होता है। **'स श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी—सः**

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १८।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९०।

प्रश्वासः समाध्यङ्गपूरकविरोधी[१] **।'** एते विक्षेपसहभुवः—ये विक्षेपों के साथ उत्पन्न होने वाले विघ्न हैं। विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति—विक्षिप्तचित्तवाले योगी को ही ये उत्पन्न होते हैं। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति—एकाग्रचित्तवाले योगी को ये नहीं उत्पन्न होते ॥ ३१ ॥

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

अब समाधि के विरोधी ये (सभी) विक्षेप उन्हीं 'अभ्यास' और 'वैराग्य' (नामक उपायों) से निरुद्ध किये जाने चाहिए। उन में (से) अभ्यास के 'विषय' की प्रस्तावना करते हुए कहते हैं कि—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

उन (विघ्नों) को दूर करने के लिये (किसी) एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए ॥ ३२ ॥

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत्। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्। योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति। यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्। अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्। कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति। किञ्च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति। कथम्? यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत् पश्यामीत्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः। एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानं सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते। प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९०।

विक्षेपों के निवारणार्थ (किसी) एक तत्त्व में अवलम्बित चित्त का अभ्यास करना चाहिए। जिसके मत में चित्त प्रत्येक (ज्ञेय) पदार्थ के लिये नियत, केवल ज्ञानरूप एवं क्षणिक (माना गया) है, उसके मत में सभी (दशा में) चित्त एकाग्र ही है। वह विक्षिप्त हो ही नहीं सकता। और यदि (यह कहा जाय कि जब) सब ओर से चित्त को हटाकर (किसी) एक पदार्थ में समाहित किया जाता है, तब एकाग्र होता है तो फिर वह प्रतिपदार्थ के लिये नियत नहीं (कहा जा सकता) है। जो (बौद्ध) 'सदृशज्ञानप्रवाह' के रूप में चित्त को एकाग्र मानते हैं, उनके मत में यदि एकाग्रता (पूरे) 'चित्तप्रवाह' का धर्म हो (या कहा जाय) तो 'चित्तप्रवाह' एक (पदार्थ के रूप में कभी स्थित ही) नहीं होता, क्षणिक होने के कारण (तो फिर उसकी एकाग्रता कैसी ?) और यदि एकाग्रता 'चित्तप्रवाह' के अंशभूत (क्षणिक) चित्त का धर्म हो तो इस प्रकार से तो सभी चित्त चाहे वे 'सदृशज्ञानप्रवाह' के अंश हों और चाहे 'असदृशज्ञानप्रवाह' के अंश हों, प्रत्येक (ज्ञेय) पदार्थ के लिये नियत होने के कारण एकाग्र ही हुए। इसलिये चित्त 'एक', 'अनेकपदार्थों का ज्ञाता' एवं 'स्थायी' होता है। यदि एक चित्त से असंबद्ध नाना प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते माने जायें तो अन्य चित्त से देखे गये (पदार्थ) का स्मरण करनेवाला अन्य चित्त कैसे हो सकता है ? और अन्य चित्त के द्वारा अर्जित कर्माशय का उपभोग करनेवाला अन्य चित्त कैसे हो सकता है ? किसी प्रकार से यदि इसका समाधान (बौद्धों के द्वारा) किया भी जाय तो वह (समाधान सदोष होने में) 'गोमयपायसीयन्याय' को (भी) मात कर देता है। (इसमें) और भी (दोष हैं)—अन्य-अन्य चित्त मानने पर 'अपनेआप' का (भी) अनुभव नहीं हो सकता। कैसे ? (इस प्रकार से कि) जिस 'मैंने' देखा था, वह 'मैं' छू रहा हूँ। जिस 'मैंने' छुआ था, वह 'मैं' देख रहा हूँ—इन (प्रयोगों) में 'मैं'—रूप का अनुभव, सभी अनुभवों के भिन्न रहने पर भी ज्ञाता (चित्त) में एक रूप से (अभिन्न रूप से) उपस्थित रहता है। एक ही रूप से अनुभूयमान 'मैं'—रूप का अनुभव (अनेक) अलग-अलग चित्तों में स्थित रहता हुआ एक सामान्यज्ञाता का बोध कैसे करा सकता है ? और यह अभिन्नस्वरूप 'मैं'—रूप का ज्ञान (सबके) निजी अनुभव का विषय है। और 'प्रत्यक्षप्रमाण' का महत्त्व अन्य प्रमाणों के द्वारा कम नहीं किया जा सकता (क्योंकि) अन्य (सब) प्रमाण 'प्रत्यक्ष' के बल से ही व्यवहार में आ पाते हैं। इसलिये चित्त 'एक', 'अनेकार्थ' और 'स्थायी' (सिद्ध होता) है ॥ ३२ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—अथ–अब। एते—ये। समाधिप्रतिपक्षाः—समाधि के विरोधी। विक्षेपाः—नवों विक्षेप (और पाँचों विक्षेपसहभू)। ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्याम्—उन्हीं (दोनों) 'अभ्यास' और 'वैराग्य' नामक योगोपायों से ही।

निरोद्धव्याः—निरुद्ध किये जाने चाहिए । तत्र—उन दोनों (अभ्यास और वैराग्य) में से । अभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्—अभ्यास के विषय को उपसंहृत करते हुए, प्रस्तुत करते हुए । सूत्रकार । इदमाह—इस 'सूत्र' को कहते हैं—

(सू० सि०)—तत्प्रतिषेधार्थम्—तेषां प्रतिषेध इति तत्प्रतिषेधः तस्मायिति, तत्प्रतिषेधार्थम्, उन विक्षेपों का प्रतिषेध या निवारण करने के लिये । एकतत्त्वाभ्यासः—एकञ्च तत्तत्त्वञ्चेति एकतत्त्वं, तस्याभ्यास इति एकतत्त्वाभ्यासः, किसी एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए । यहाँ पर 'एकतत्त्व' पद का अर्थ आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने 'ईश्वर' किया है । यह अर्थ बहुत संगत नहीं है, क्योंकि (१) बिना किसी ठोस बाधकहेतु के 'सामान्यार्थक' शब्द का 'विशेषपरक' अर्थ नहीं करना चाहिए । (२) पूर्वसूत्र में 'ईश्वराभ्यास' से अन्तरायाभाव बताया ही जा चुका है । 'ईश्वराभ्यास' से ही फिर यहाँ भी अन्तरायाभाव बतलाना प्रबल पुनरुक्ति है । पहले तो 'पुनरुक्ति' सामान्य स्थलों में ही एक त्याज्य दोष है, फिर सूत्रग्रन्थों में ! वह भी पूरे एक सूत्र की पुनरुक्ति सूत्रकार 'पतञ्जलि' से कैसे हो सकती है ? यह तो सर्वथा असम्भव एवं कल्पनातीत है । इसलिए इस 'एक' शब्द से किसी 'एकतत्त्व' का ही अर्थ लेना समीचीन है । 'भोजराज' और 'विज्ञानभिक्षु' दोनों टीकाकारों ने इस 'एक' शब्द का यही अर्थ किया है । **'एकस्मिन् कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासः'** ।[१] **'एकं स्थूलादि किञ्चित् । यत्तु एकशब्देनात्र परमेश्वर एवोक्त इति तन्न—बाधकं विना सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वानौचित्यात्, पूर्वसूत्रप्राप्तत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेश्च**[२] ।' यदि यह कहा जाय कि यह 'ईश्वर' का प्रकरण चल रहा है, इसलिये 'एक' शब्द के द्वारा 'अभ्यासविषयोपसंहार' में ईश्वर के प्रकरण का ही उपसंहार किया गया है तो यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि 'भाष्यकार' ने स्वयं 'एक' शब्द का अर्थ 'कोई एक' यही किया है ॥ ३२ ॥

(भा० सि०)—विक्षेपप्रतिषेधार्थम्—विक्षेपाणां प्रतिषेधायेति विक्षेपप्रतिषेधार्थम्—विक्षेपों को दूर करने के लिये । एकतत्त्वावलम्बनं चित्तम्—एकतत्त्वमेवालम्बनं ध्येयविषयः यस्य तादृशं चित्तम्, किसी एक तत्त्व का अवलम्बन करने वाले चित्त को । अभ्यसेत्—अभ्यस्त करना चाहिए, किमपि एकं वस्तु ध्यायेद् इत्यर्थः । इसी प्रसङ्ग में 'भाष्यकार' बौद्धों के चित्तसम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन करना चाहते हैं । वे कहते हैं कि—

(१) यस्य तु—जिसके मत में तो । चित्तम्—'चित्त' नामक पदार्थ । प्रत्यर्थनियतं, प्रत्ययमात्रं, क्षणिकं च । प्रत्यर्थनियतम्—अर्थे अर्थे इति प्रत्यर्थं तत्र नियतं

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १९ ।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९१ ।

तथोक्तम्—प्रत्येक पदार्थ के लिये अलग-अलग नियत है। प्रत्ययमात्रम्—प्रत्ययः ज्ञानमेव इति प्रत्ययमात्रम्, केवल 'ज्ञान' रूप है (अर्थात् ज्ञानग्राहकरूप का नहीं है)। क्षणिकञ्च—और केवल एक क्षण तक रहने वाला (कहा गया) है। तस्य—उस (बौद्ध) मतवादी के मत में तो। सर्वमेव चित्तमेकाग्रम्—सभी चित्त एकाग्र ही हैं। नास्त्येव विक्षिप्तम्—कोई चित्त कभी विक्षिप्त हो ही नहीं सकता। अर्थात् उनके मत को मानने पर तो चित्त की विक्षिप्तता ही सर्वथा अनुपपन्न हो जायेगी। इस प्रकार उन्हें समाधि और एकाग्रता की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी, क्योंकि जब चित्त सदा एकाग्र ही है तो उसे किस तरह से और एकाग्र किया जा सकता है? यदि पुनरिदम्—और यदि (बौद्धों की ओर से) कहा जाय कि जब इस चित्त को। सर्वतः प्रत्याहृत्य—सब ओर से वापस करके अलग हटाकर के। एकस्मिन्नर्थे समाधीयते—किसी एक पदार्थ में समाहित किया जाता है। तदा भवत्येकाग्रम्—तब एकाग्र होता है। इति—ऐसा है। तो अब इसका खण्डन करेंगे। अतः—तब तो। न प्रत्यर्थनियतम्—यह चित्त प्रत्येक अर्थ के लिये नियत नहीं हुआ।

(२) योऽपि—जो कोई (विज्ञानवादी बौद्ध)। सदृशप्रत्ययप्रवाहेण—'तुल्यज्ञानप्रवाह' के रूप में। चित्तमेकाग्रं मन्यते—चित्त को एकाग्र मानता है। तस्य—उसके मत में। यदि—अगर। एकाग्रता—ऐकाग्रय। **प्रथम विकल्प**—प्रवाहचित्तस्य धर्मः—पूरे ज्ञानप्रवाहरूप चित्त का धर्म है। (अब इसका खण्डन करेंगे)। तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्—तो प्रवाहचित्त अर्थात् ज्ञानप्रवाह 'एक' रूप में स्थित ही नहीं होता, क्षणिक होने के कारण। क्षणिक होने के कारण उस प्रवाहचित्त का एक अंश ही एक क्षण में स्थित रह सकेगा, अन्य अंश तो उस क्षण में अनुपस्थित ही रहेंगे। इसलिये 'एक' रूप में इस प्रवाहचित्त का अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये 'एकाग्रता' प्रवाहचित्त का धर्म नहीं हो सकता। अथ—और यदि। **द्वितीय विकल्प**—यह 'एकाग्रता'। प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः—ज्ञानप्रवाहरूप चित्त के किसी एक अंश का धर्म है। (अब द्वितीय विकल्प का खण्डन करेंगे)। स सर्वः—(तब तो) वे ज्ञानप्रवाहांशरूपी सभी चित्त। सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा—चाहे समान प्रकार के ज्ञान के रूप में प्रवाहित हो रहे हों और चाहे भिन्न प्रकार के ज्ञान के रूप में प्रवाहित हो रहे हों। प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एव—उनका प्रत्येक अंश एक-एक अर्थ के लिये नियत होने के कारण 'एकाग्र' ही हुआ। इति—इस प्रकार इस विकल्प को स्वीकार करने में तो। विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः—विक्षिप्तचित्तस्य अनुपपत्तिः, विक्षिप्तचित्तता अर्थात् चित्त में विक्षिप्त होने की सम्भावना ही नहीं रह जाती। तस्माद्—इसलिये सिद्ध हुआ कि 'एकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति।' चित्तम्—चित्त। एकम्—एक है। अवस्थितम्—स्थायी है (मोक्ष के अव्यवहितपूर्वपर्यन्त टिकाऊ है)। अनेकार्थम्—और अनेकपदार्थों के (ज्ञान के) लिये होता है।

अब दोनों प्रकार के बौद्धमतों का सामान्यरूप से खण्डन किया जा रहा है। यदि च—और यदि। एकेन चित्तेन—एक ही चित्त से। अनन्विताः—असम्बद्धाः, असम्बन्धित। स्वभावभिन्नाः—सर्वथा अलग-अलग। प्रत्ययाः—ज्ञानानि, ज्ञान। जायेरन्—उत्पन्न होते हों। (१) अथ कथम्—तो फिर भला कैसे? अन्यप्रत्ययदृष्ट-स्यान्यः स्मर्ता भवेत्—अन्यचित्त के द्वारा देखे गये (पदार्थ) का स्मरण करनेवाला अन्य चित्त कैसे हो सकता है? (२) अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्य—अन्य चित्त के द्वारा अर्जित कर्मसंस्कारों का। अन्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्—फलभोग करने वाला अन्य चित्त कैसे होगा? कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद्—यदि इस अनुपपत्ति का बौद्धों के द्वारा कोई समाधान भी किया जाये तो वह भ्रामक समाधान। गोमयपाय-सीयन्यायमाक्षिपति—अधिक्षिपतीत्यर्थः, 'गोमयपायसीय' न्याय को भी मात कर देता है, तिरस्कृत करता है। **'न्यायाभासत्वेन ततोऽप्यधिकत्वाद्'**[1]। 'गोमयपायसीयन्याय' क्या है? यह एक प्रकार का भ्रामक तर्क होता है। इसे पाश्चात्य तर्कपद्धति में 'Fallacy of undistributed middle' कहते हैं। इसका स्वरूप यह होता है—

पायसं गोमयम्,	खीर (भी) गोबर है,
गव्यत्वात्।	गव्य (गोविकार) होने के कारण।
यद्यद् गोमयं तत्तद् गव्यम्।	जो-जो गोबर है, वह-वह गव्य (गोविकार) है।
पायसमपि गव्यम्,	खीर भी गव्य (गोविकार) है,
अतः पायसमपि गोमयम्।	इसलिये खीर (भी) गोबर है।

(३) किञ्च—इसके अतिरिक्त और भी (असंगति बौद्धों की मान्यता में हैं)। स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति। चित्तस्य अन्यत्वे—एक प्राणी के भिन्न-भिन्न और अनेक चित्त माने जाने पर। स्वात्मानुभवस्य—स्वस्य आत्मन अनुभवः तस्य, अपनेआप के अनुभव का अर्थात् 'मैं जाता हूँ' या 'मैं' हूँ।'—इन वाक्यों में। 'अपने आपका' जो अनुभव होता है, उस आत्मानुभव का। अपह्नवः—अपलापः जायते, अहन्तायाः बोधो न भवितुमर्हति, अपने आप का अनुभव नहीं होगा अर्थात् आत्मीयबोध का अपलाप हो जायेगा। कथम्—किस प्रकार से? यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि—जिस 'मैंने' देखा था, वही 'मैं' स्पर्श कर रहा हूँ। यच्चा-स्प्राक्षं तत्पश्याम्यहम्—और जिस 'मैंने' स्पर्श किया था, वही 'मैं' देखता हूँ। इति *प्रत्ययः—इस रूप का अनुभव। सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति—('अहमिति' या) 'मैं' इस रूप का ज्ञान अन्य सभी ज्ञेयविषयक ज्ञानों के भिन्न होने पर भी। प्रत्य-यिनि—ज्ञाता चित्त में या अहङ्कार के आस्पद में। अभेदेन—एकत्वेन, अभिन्नरूपेण, सदा अभिन्नरूप से। उपस्थितः—वर्तमानो भवति, वर्तमान रहता है। यदहमद्राक्षमि-*

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९५।

त्यादि में आया हुआ 'यत्' शब्द 'अहम्' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'यत्' शब्द अव्यय है। इसका अर्थ है 'यः' (जो)। **'यदित्यव्ययमहमो विशेषणम्'[1] ।'**

'यदित्यव्ययं य इत्यर्थः, योऽहमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीत्यनुभवरूपमत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।[2]' एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः—एक ही ज्ञान का विषय बनने वाला, एक ही चित्त में अनुभूयमान होने वाला यह अभेदात्मा, अभिन्नरूप से भासित होने वाला (**अभेदाकारः**—यो० वा० पृ० ९६)। 'अहम्' का अनुभव, आत्मानुभूति, स्वानुभव। कथम्—भला कैसे ? अत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानसामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्—अत्यन्त भिन्न चित्तों में (बौद्धाभिमत क्षणिक चित्तों में) विद्यमान एक सामान्य प्रत्ययी, अहङ्कारास्पद (चित्त) को आश्रय बनायेगा ? **'कथं भवन्मतेऽत्यन्तभिन्नेषु क्षणिकचित्तेषु विषयत्वेन वर्तमानः सामान्यमेकं (चित्तम्) विषयीकुर्यादित्यर्थः, सर्वप्रत्ययानुगतधर्मिणः स्थिरचित्तस्यानभ्युपगमादित्यर्थः[3] ।'**

यदि यह कहा जाय कि यह अभेदात्मा 'अहम्' रूपी अनुभव तो स्वयं अप्रामाणिक है, तो इसका खण्डन करते हैं। स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः—और यह अभेदात्मा 'अहम्' या 'मैं'—रूप का प्रत्यय, अर्थात् अभिन्नस्वरूप 'मैं'—ऐसा अनुभव तो प्राणिमात्र को। स्वानुभवग्राह्यः—स्वस्य अनुभवेन ग्राह्यः, अपनी प्रत्यक्षानुभूति से ही जाना जाता है। प्रत्यक्षस्य—और प्रत्यक्षप्रमाण का। माहात्म्यम्—ज्येष्ठत्व, स्वार्थसाधकत्व, महिमा, श्रेष्ठत्व। प्रमाणान्तरेण—अनुमानादि अन्य प्रमाणों से। न—हरगिज नहीं। अभिभूयते—प्रतिबध्यते, दबाया या अभिभूत किया जा सकता है। क्योंकि। प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव—अन्यत्प्रमाणं च प्रत्यक्षप्रमाणस्य बलेन एव, (प्रत्यक्ष से भिन्न) अन्य प्रमाण तो प्रत्यक्ष प्रमाण के बल से ही। व्यवहारं लभते—प्रमाणरूप व्यवहार को प्राप्त करते हैं, प्रमाण बन पाते हैं। तस्माद्—इससे। सिद्ध हुआ कि 'एकमनेकार्थमवस्थितञ्च चित्तम्।' चित्तम्—चित्त। एकम्—एक है। अनेकार्थम्—अनेक पदार्थों का ज्ञान करने के लिये है। अवस्थितं च—और (कैवल्य तक) स्थित रहने वाला होता है॥ ३२॥

यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ?

जिस चित्त के लिये (योग) शास्त्र के द्वारा इस परिकर्म का निर्देश किया गया है, वह (परिकर्म) किस प्रकार का होता है ?

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९६।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ९६।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९६।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापात्मा (जीवों) के विषय में (क्रमशः) मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रसन्नता) और उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है ॥ ३३ ॥

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् । दुःखितेषु करुणाम् । पुण्यात्मकेषु मुदिताम् । अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥३३॥

उन चार प्रकार की भावनाओं में से सुखभोगयुक्त सभी प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना करनी चाहिए । दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति प्रीति और पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना करनी चाहिए । इस प्रकार से भावना करने वाले को सात्त्विक धर्म उत्पन्न होता है और उस (धर्मोत्पत्ति) से चित्त प्रसन्न होता है । प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थितिपद को प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—यस्य—जिस । अवस्थितस्य—स्थिर रहने वाले, स्थायिनः । चित्तस्य—चित्त का । इदम्—यह । परिकर्म—परितः पूर्वतः कर्मेति परि-कर्म, प्रारम्भिक कर्मशोधन । **'स्थितिदार्ढ्यहेतुः परिष्कारः'** ।[1] **'एतद् बाह्यं कर्म'** ।[2] **'स्थित्यर्थं यदिदं परिकर्म परिष्कृतिः'** ।[3] चित्त को सम्प्रज्ञातादि समाधियों के योग्य बनाने के लिये पहले जो तैयारी की जाती है, वह प्रारम्भिक चित्तशोधन क्रिया ही 'परिकर्म' कही जाती है । इसके द्वारा चित्त में प्रसन्नता आती है । तब चित्त समाधि की ऊँची भूमिकाओं का लाभ करने योग्य हो जाता है । इसलिये परिकर्मों को हम 'Preparatory practices' 'प्रारम्भिक अभ्यास' की संज्ञा दे सकते हैं । शास्त्रेण—योगशास्त्र के द्वारा । निर्दिश्यते—सूच्यते, निर्दिष्ट किया जा रहा है । तत्कथम्—वह परिकर्म किस प्रकार का होता है ?

(सू० सि०)—सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्—सुखं दुखं, पुण्यम् अपुण्यञ्च सुखदुःखपुण्यापुण्यानि, ते विषयाः लक्ष्याणि यासां, तासां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् (मैत्र्यादेः विशेषणम्) । मैत्री च करुणा च मुदिता च उपेक्षा चेति (इतरेतरद्वन्द्व-समासः) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः, तासां तथोक्तानाम् । सुखादि में से एक-एक

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९७ ।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १९ ।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० ९७ ।

विशेषण, मैत्र्यादि में से एक-एक विशेष्य के साथ अलग-अलग लगता है। इस प्रकार अर्थ यह हुआ कि 'सुखविषया मैत्री', 'दुःखविषया करुणा', 'पुण्यविषया मुदिता' और 'अपुण्यविषया उपेक्षा'। एतासां भावनातः—इनकी भावना करने से। चित्तस्य प्रसादनम्—चित्त की प्रसन्नता होती है। '**एता यथाक्रमं सुखितेषु, दुःखितेषु, पुण्यवत्सु, अपुण्यवत्सु च विभावयेत्**'[1] ॥ ३३ ॥

(भा० सि०)—तत्र—उन (सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और अपुण्यात्मा लोगों) में से। सुखसम्भोगापन्नेषु—सुखभोगपरिपूर्णेषु, सुखी रहने वाले। सर्वप्राणिषु—सभी प्राणियों के विषय में अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति। मैत्रीम्—मित्रत्वम्, मित्रता की। भावयेत्—भावना (Feeling) करनी चाहिए। दुःखितेषु करुणाम्—(सभी) दुःखी प्राणियों के विषय में करुणा या दया की भावना (करनी चाहिये)। पुण्यात्मकेषु मुदिताम्—पुण्य करने वाले (सभी) प्राणियों के प्रति मुदिता या हर्ष की (भावना करनी चाहिये)। अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्—अपुण्य अर्थात् पाप करने वालों के प्रति उपेक्षा अर्थात् औदासीन्य या तटस्थता की भावना (करनी चाहिये)। सुखी जनों के प्रति 'ईर्ष्यादि' की भावना नहीं करनी चाहिये। दुःखी प्राणियों के प्रति 'उदासीनता' इत्यादि की भावना नहीं करनी चाहिये। पुण्यात्माओं के प्रति 'द्वेष' इत्यादि की भावना नहीं करनी चाहिये और पापियों के प्रति 'मैत्री' इत्यादि अथवा 'द्वेष' इत्यादि की भावना नहीं करनी चाहिये। एवम्—इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति से। भावयतः—भावनां कुर्वतः, भावना करने वाले। अस्य—इस योगी को। शुक्लः—सात्त्विकः, राजसतामस धर्म के दूर हो जाने से 'शुद्धसात्त्विक'। धर्मः—संस्काररूप धर्म। उपजायते—उत्पद्यते, उत्पन्न होता है। ततश्च चित्तं प्रसीदति—और इस (सात्त्विक धर्मोत्पत्ति) से चित्त प्रसन्न होता है। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते—(और) प्रसन्न हुआ (चित्त) योग के विहित उपायों के द्वारा सरलता से एकाग्रस्थिरता की स्थिति प्राप्त करता है। '**प्रसन्नञ्च वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्य एकाग्रं स्थितिपदं लभते, असत्यां पुनर्मैत्र्यादिभावनायां न त उपायाः स्थित्यै कल्पन्त इति भावः**[2]।' 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी कहा गया है—

'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २ । ६४ ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' ॥ २ । ६५ ॥

इस स्थल में 'वाचस्पतिमिश्र' का मत अन्य टीकाकारों के मत से भिन्न है। वे इस 'मैत्र्यादि' सूत्र (१।३३) को परिकर्मबोधक और अन्य सूत्रों (१।३४-३९)

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १९।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९८।

को मनःस्थित्युपायबोधक मानते हैं। इनके अनुसार मैत्र्यादिभावनरूप केवल एक ही 'परिकर्म' होता है। किन्तु अन्य सभी टीकाकार मानते हैं कि कुल सात परिकर्म हैं। प्रत्येक परिकर्म चित्त की प्रसन्नता के द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त कराता है। ये परिकर्म-विधियाँ वैकल्पिक हैं। **'प्रसादापेक्षया स्थितिनिबन्धनं परिकर्मान्तरमाह[1]'** ।३३।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य[2] ॥ ३४ ॥

प्राणों का 'रेचक', 'पूरक' तथा 'कुम्भक' करने से भी (चित्त प्रसन्न होता है) ॥ ३४ ॥

कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥ ३४ ॥

उदरस्थ वायु को नाक के नथुनों (Nostrils) से विशिष्ट प्रयत्न के द्वारा (वमन करना या) निकालना 'प्रच्छर्दन' है। 'विधारण' प्राणायाम (पूरक और कुम्भक) है। ('विधारण' पद से 'पूरक' और 'कुम्भक' दोनों गृहीत हो जाते हैं) इनसे भी मन की स्थिरता लानी चाहिए ॥ ३४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—चित्त का यह दूसरा 'परिकर्म' है। इस सूत्र में पूर्वसूत्रस्थ 'चित्तप्रसादनम्' पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। प्राणस्य—प्राणवायु का। प्रच्छ-र्दनम्—बाहर निकालना, योगोक्तरीत्या बहिः निस्सारणम्। अर्थात् 'रेचक' विधारणञ्च —और अन्दर लाकर रखना, योगोक्तरीत्या अन्तःपानम् अर्थात् 'पूरक' और तदनु अन्तःस्थापनम् अर्थात् 'कुम्भक'। ते प्रच्छर्दनविधारणे (इतरेतरद्वन्द्वसमासः), ताभ्यामिति तथोक्ताभ्याम्। वा—या, विकल्प (चाहे मैत्र्यादिभावना से और चाहे प्राणों के प्रच्छर्दन एवं विधारण से)। चित्तप्रसादनं भवति—चित्त की प्रसन्नता होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रच्छर्दन' शब्द से 'रेचक' प्राणायाम तथा 'विधारण' शब्द से 'पूरक' और 'कुम्भक' प्राणायामों का यहाँ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार 'रेचक', 'पूरक' और 'कुम्भक' तीनों ही प्राणायामों के द्वारा चित्त की

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९९।

२. 'प्रसादस्य साधनान्तरमाह—'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'—वा शब्दोऽप्यर्थे, आभ्यामपि चित्तस्य प्रसादनं कुर्यादित्यर्थः।' —यो० वा० पृ० ९८।

'उपायान्तरमाह—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'।

—रा० मा० वृ० पृ० २०।

'आभिर्भावनादिभिश्चित्तप्रसादस्तत ऐकाग्र्यभूमिरूपा स्थितिरि'ति।

—भा० पृ० ९८।

प्रसन्नता और तत्साध्य एकाग्र स्थिति का निर्देश किया गया है। 'वा' शब्द से बोधित विकल्प इन त्रिविध प्राणायामों के बीच नहीं है। प्रत्युत इन प्राणायामों और मैत्र्यादि भावना के बीच ही विकल्प समझना चाहिए। इस प्रसङ्ग में 'भोज' का कथन स्मरणीय है—

'त्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतया निबध्नाति, सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात्। मनःप्राणयोश्च स्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वात्क्षीयमाणः प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति। समस्तदोषक्षयकारित्वञ्चाऽस्याऽऽगमे श्रूयते[1]।'

(भा० सि०)—कोष्ठ्यस्य वायोः—कोष्ठे भव इव कोष्ठ्यः (कोष्ठ + यत्[2]) तस्य वायोः अर्थात् उदरस्थ वायु को। नासिकापुटाभ्याम्—नासिकापुटों से। प्रयत्नविशेषात्—योगोक्तरीत्या विशिष्टचेष्टया, **'मात्राप्रमाणेन'** (रा० मा० वृ०), **'सूक्ष्मरूपेण'** (यो० वा०), **'योगशास्त्रोक्तात्'** (त० वै०), योगशास्त्र में बताये गये विशिष्ट प्रकार के प्रयत्न से। वमनम्—(उदरस्थस्य प्राणवायोः) 'उद्गिरणम्' बाहर निकालना। प्रच्छर्दनम्—प्रच्छर्दन है। विधारणम्—विशिष्टधारणम्, बाह्यवायु को भीतर ले जाना और उसे वहीं रखना 'प्राणायाम' है। इसलिये 'विधारण' शब्द से यहाँ 'पूरक' एवं 'कुम्भक' दोनों का ग्रहण करना चाहिए। ताभ्यां वा—अथवा इन 'प्रच्छर्दन' और 'विधारण' के द्वारा। मनसः स्थितिं सम्पादयेत्—चित्त की एकाग्रता प्राप्त करनी चाहिए[3]। **'रेचनोत्तरं पूरणं विना विधारणासम्भवात् प्राणायाम इत्युक्तेः[4]'**॥ ३४॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

(गन्धादि पाँचों) विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियाँ भी उत्पन्न होने पर मन की स्थिरता की हेतु बनती हैं ॥ ३५ ॥

नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंविदित्येताः वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्ति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २०।

२. 'शरीरावयवाच्च।'—पा० सू० ४।३।५५।

३. 'स्थितिं भावयेत्प्रसादद्वारेति शेषः।'—यो० वा० पृ० ९९।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ९९।

प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या । यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्वलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं [1]सूक्ष्मविषयमप्यापवर्गाच्छ्रद्धीयते । एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते । अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसञ्ज्ञायामुपजातायां चित्तं समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

नासिका के अग्रभाग में धारण करने वाले इस साधक को जो दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है, वह 'गन्धप्रवृत्ति' है । जिह्वा के अग्रभाग में (धारणा करने से) दिव्यरस का साक्षात्कार होता है (वह 'रसप्रवृत्ति' है) । तालु में (धारणा करने से) दिव्यरूप का साक्षात्कार होता है (वह 'रूपप्रवृत्ति' है) । जिह्वा के मध्य भाग में (धारणा करने से) दिव्यस्पर्श का साक्षात्कार होता है (वह 'स्पर्शप्रवृत्ति' है) । जिह्वा की जड़ में (धारणा करने से) दिव्यशब्द का साक्षात्कार होता है (वह 'शब्दप्रवृत्ति' है) । ये इतनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती हैं, संशय को दूर करती हैं और समाधिप्रज्ञा (विवेकख्याति) में माध्यम बनती हैं । इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप और रत्न इत्यादि में (धारणा करने से) उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियाँ भी विषयवती ही मानी जानी चाहिये । यद्यपि उन-उन शास्त्रों, अनुमानप्रमाण तथा आचार्य के उपदेशों से जानी गयी बातें यथार्थ ही होती हैं—क्योंकि इनमें यथार्थ बातें बतलाने की क्षमता होती है—फिर भी जब तक इनमें से कोई एक अंश अपनी ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक आँखों से ओझल ही रहने वाला सारा विषय अपवर्ग पर्यन्त सूक्ष्मतत्त्वों के प्रति विश्वास नहीं उत्पन्न करता । इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्योपदेश की परिपुष्टि के लिये अवश्य ही किसी एक विशिष्ट अंश का प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये । उन उपदिष्ट (की गयी) सभी वस्तुओं में से एक अंश का प्रत्यक्ष होने पर अपवर्गपर्यन्त समस्त सूक्ष्मविषयों में श्रद्धा हो जाती है । इसीलिये इस चित्तपरिष्कार का निर्देश किया जाता है । (गन्धादिप्रवृत्ति उत्पन्न होने पर) उनके विषय में 'वशीकारसञ्ज्ञा' वैराग्य उत्पन्न होने पर चित्त (उत्तरोत्तरभूमि वाले) उन-उन

---

१. 'सुसूक्ष्मविषयम्' इति पाठान्तरम् ।

तत्त्वों का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है और वैसा होने पर इस (योगी) को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि निर्बाधरूप से सिद्ध हो जायेंगी ॥ ३५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—उत्पन्ना—उत्पन्न हुई। विषयवती प्रवृत्तिः—शब्दादिविषयक-साक्षात्काररूपिणी संवित्। मनसः—चित्तस्य, चित्त की। स्थितिनिबन्धिनी वा—मनसः स्थितेः एकाग्रतायाः निबन्धिनी, कारणरूपा (भवति इति शेषः) मन की एकाग्रता या स्थिति की कारण बनती है। **'विषयाः गन्धरसस्पर्शशब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिः मनसः स्थैर्यं करोति[1]।'** प्रकृष्टा वृत्तिः (ज्ञानम्) इति प्रवृत्तिः—उत्कृष्टज्ञानम्, साक्षात्कारः। विषयाः गन्धादयः पञ्च (विषयत्वेन—फलत्वेन) सन्ति अस्या इति विषयवती—विषय + मतुप् + ङीप्। सापि स्थितिप्रयोजिका भवतीत्यर्थः। इन प्रवृत्तियों का नाम योगीजनों की पदावली में 'विषयवती प्रवृत्ति' है। **'योगिजनप्रसिद्धेयं विषयवती प्रवृत्तिः[2]'** ॥ ३५ ॥

(भा० सि०)—नासिकाग्रे धारयतोऽस्य—नाक के अगले भाग पर धारणा (**'देशबन्धः चित्तस्य धारणा'[3]।**) करने वाले इस योगी को। या—जो। दिव्यगन्ध-संवित्—दिव्यगन्धस्य संवित्, प्रज्ञा, साक्षात्कारः भवति, दिव्य अर्थात् अलोकसामान्य, असाधारण (सुखद) सुगन्ध का साक्षात्कार होता है। **'दिव्यसंविद् दिव्यविषयो ह्लादयुक्तोऽन्तर्बोधः[4]।'** सा—वह दिव्यगन्धानुभूति। गन्धप्रवृत्तिः—'गन्धप्रवृत्ति' कही जाती है। यहाँ पर 'धारणा' शब्द का अर्थ 'चित्त को एकाग्र करना' (Fixing) ही है, न कि धारणा के साथ-साथ 'ध्यान और समाधि' भी। वाचस्पतिमिश्र ने 'धारणा' के साथ-साथ यहाँ 'ध्यान' और 'समाधि' का भी ग्रहण किया है। **'नासि-काग्रे 'धारयत' इति 'धारणाध्यानसमाधीन्कुर्वतस्तज्जयात्[5]।'** किन्तु विज्ञानभिक्षु और भाष्यकार 'धारणा' का अर्थ केवल धारणा लेते हैं, जो कि नितान्त संगत है, क्योंकि यह सिद्धि अत्यन्त प्रारम्भिक है। इसी प्रकार। जिह्वाग्रे रससंवित्—जिह्वा के अगले भाग पर धारणा करने से दिव्यरस की अनुभूति होती है। वैसे ही। तालुनि रूपसंवित्—तालु में धारणा करने से दिव्यरूप का साक्षात्कार होता है। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्—जिह्वा के मध्यभाग में धारणा करने से दिव्यस्पर्श का अनुभव होता है। और। जिह्वामूले शब्दसंवित्—जिह्वा की जड़ में धारणा करने से दिव्यशब्द

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २१।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ९९।

३. द्रष्टव्य; यो० सू० ३।१।

४. द्रष्टव्य; भा० पृ० ९९।

५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ९९।

श्रवण होता है। इत्येताः—ये इतनी (अर्थात् पाँच प्रकार की)। वृत्तय उत्पन्नाः—दिव्यविषयानुभूतिरूपाः प्रवृत्तयः उत्पन्नाः सत्यः, दिव्यविषयानुभूतिरूपिणी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर। (१) चित्तम्—मनः, मन को। स्थितौ निबध्नन्ति—स्थिति की दशा में पहुँचाती हैं। चित्त को अन्य सूक्ष्मविषयों में भी एकाग्र होने में सक्षम बनाती है। **'अर्थान्तरेषु अतिसूक्ष्मेषु दृढस्थितियोग्यं कुर्वन्ति संस्कारद्वारेत्यर्थः[१]।'** (२) संशयं विधमन्ति—शास्त्रीय विषयों के प्रति होने वाले सन्देह को दूर करती हैं (वि + √ ध्मा, लट् प्र० पु० ब० व०) **'निराकुर्वन्ति'[२]। 'अपसारयन्ति'[३]।** (३) समाधिप्रज्ञायाश्च द्वारीभवन्ति—और समाधिजन्य 'ऋतम्भराप्रज्ञा' तक पहुँचने में द्वार या कारण बनती हैं। **'समाधौ जायते या प्रज्ञा सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारस्तत्र वक्ष्यमाणवैराग्यद्वारोपकुर्वन्ति चेत्यर्थः[४]।'**

इन पाँचों प्रकार के दिव्यसाक्षात्कारों के विषयों का अतिदेश (Extension) भी होता है। तात्पर्य यह है कि अन्य अनेक प्रकार के दिव्यसाक्षात्कार भी इन्हीं पाँचों विषयवती प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आते हैं। एतेन—इस कारण से। चन्द्रादित्यग्रह-मणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या—चन्द्रमा, सूर्य, भौमादि अन्य ग्रह, मणि, दीपक और रत्न इत्यादि में धारणा करने से उत्पन्न 'दिव्यसाक्षात्कार-रूपिणी प्रवृत्ति' को भी इन्हीं 'विषयवती प्रवृत्तियों' के अन्तर्गत समझना चाहिए। अब जो यह कहा गया था कि 'संशयं विधमन्ति'—उसको सिद्ध करते हैं। यद्यपि हि—यद्यपि। तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैः—प्रसिद्ध योगशास्त्रों, तदाधारित अनुमानों तथा आचार्यों के उपदेशों से। अवगतम्—ज्ञातम्, जाना गया। अर्थतत्त्वम्—पदार्थ। सद्भूतम्—परमार्थभूतम्, वास्तविक, ठीक। एव—ही, भवति—होता है। एतेषाम्—इन शास्त्रों, अनुमानों और आचार्योपदेशों में। यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्—यथाभूतस्य अर्थस्य प्रतिपादने सामर्थ्यं तस्मात्, वस्तुभूत अर्थों को प्रतिपादित करने की क्षमता होने के कारण। तथापि—फिर भी। यावदेकदेशोऽपि कश्चिद्—जब तक शास्त्रादि के द्वारा प्रतिपादित इन पदार्थों में से कोई भी एक अंश। स्वकरणसंवेद्यो न भवति—साधकस्य स्वकीयकरणैः इन्द्रियैः संवेद्यः न भवति, साधक को अपनी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। तावत्सर्वं परोक्षमिव—तब तक शास्त्रादिप्रतिपादित सम्पूर्ण पदार्थ अप्रत्यक्ष सदृश या अविश्वसनीय-सा बना रहता है। और, आपवर्गादिषु—आ अपवर्गादिभ्यस्तेषु तथोक्तेषु, अपवर्गपर्यन्तेषु, 'अपवर्ग'

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०० ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०० ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०० ।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०० ।

नामक अन्तिम पदार्थ पर्यन्त सभी। सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति—सूक्ष्म या गूढ पदार्थों के विषय में सुदृढ बुद्धि या निश्चय को नहीं उत्पन्न करता। तस्मात्—इसलिये। शास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्वलनार्थमेवावश्यम्—शास्त्रानुमानाचार्योपदेशानाम् उपोद्वलनार्थं पुष्टचर्थमेव अवश्यम्, शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेशों (से ज्ञात पदार्थों) के समर्थन या पुष्टि के लिये ही अवश्य। कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः—किसी एक अंश का स्वयं साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

तत्र—इन सूक्ष्मविषयों में से। तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति—तदुपदिष्टस्य अर्थस्य एकदेशस्य एकांशस्य प्रत्यक्षानुभवे सति, इन शास्त्रादिप्रतिपादित पदार्थों में से किसी एक अंश का प्रत्यक्षानुभव हो जाने पर, अपनी इन्द्रियों से साक्षात्कार हो जाने पर। आपवर्गात् अपि—अपवर्गपर्यन्त। सर्वं सूक्ष्मविषयम्—सभी सूक्ष्मविषय। श्रद्धीयते—श्रद्धास्पद, विश्वसनीय हो जाते हैं। और यह लगने लगता है कि योगशास्त्र में बतायी गयी सभी आश्चर्यजनक बातें सत्य ही हैं। **'अस्ति योगस्य फलमिति समाश्वासोत्पादनात्[1]।' 'उपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षीकरणे च श्रद्धातिशयो जायते तन्मूलाश्च ध्यानादयोऽस्य प्रत्यहं भवन्तीत्यर्थः[2]।'** एतदर्थमेवेदम्—इसी के लिये यह। चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते—चित्त का परिकर्म निर्दिष्ट किया जा रहा है (सूत्रकारेणेत्यर्थः)। अब जो यह कहा गया है कि समाधिप्रज्ञा की प्राप्ति में ये प्रवृत्तियाँ द्वार बनती हैं, इस बात को सिद्ध कर रहे हैं। अनियतासु वृत्तिषु—इन वृत्तियों अर्थात् प्रवृत्तियों (पाँचों विषयवती प्रवृत्तियों) की सत्ता स्थायी नहीं होती। थोड़े दिन बाद ही ये अदृश्य या लुप्त हो जाती हैं, इसलिये इनके उत्पन्न होने के पश्चात् इनकी अनियतता और चञ्चलता को देखकर इनके प्रति वितृष्णा या वैराग्य की भावना होती है। ये प्रवृत्तियाँ स्वयं 'समाधिप्रज्ञा' नहीं हैं। इनको (सम्प्रज्ञातकालिक) समाधिप्रज्ञा नहीं समझ लेना चाहिए। ये तो ज्ञान की शुरूआती फुलझड़ी जैसी होती हैं। इनके उत्पन्न होने से चित्त को एकाग्र होने की प्रेरणा प्राप्त होती है, क्योंकि योग के आश्चर्यजनक चमत्कारों के सम्बन्ध में सारे सन्देहों का निराकरण हो जाता है और आगे बतायी जानेवाली रीति से 'समाधिप्रज्ञा' (अर्थात् विवेकख्याति) की प्राप्ति होती है। इस समाधिप्रज्ञालाभ में इन प्रवृत्तियों का योगदान इस प्रकार से हैं—जब ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, तब। वृत्तिषु–प्रवृत्तिषु, प्रवृत्तियों के। अनियतासु—अनियतरूप में अनुभूत होने पर। अर्थात् प्रवृत्तियाँ अस्थायी और चञ्चल हैं—इस प्रकार का निश्चय कर लेने पर।

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २१।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०१।

तद्विषयायां वशीकारसञ्ज्ञायामुपजातायाम्—इन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में 'वशीकारसञ्ज्ञा' नामक अपरवैराग्य के उत्पन्न हो जाने पर। चित्त। तस्य तस्य अर्थस्य—उत्तरोत्तर भूमिकाओं वाले उन-उन ध्येयपदार्थों का। प्रत्यक्षीकरणाय—पूर्ण बोध करने के लिये (**सम्प्रज्ञानाय**—भा० पृ० १००)। समर्थं स्यात्—योग्यं भवति, योग्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जब इन प्रवृत्तियों की अनियतता की जानकारी हो जाने पर इनके प्रति स्वाभाविक रूप से 'वशीकारसञ्ज्ञा' नामक वैराग्य की सिद्धि होती है, तब वैराग्य के कारण क्रमशः 'सम्प्रज्ञातयोग' का अभ्यास होता है। फलतः 'विवेकख्याति' या 'समाधिप्रज्ञा' की सिद्धि होती है। तथा च सति—और 'वशीकारसंज्ञा' वैराग्य के सिद्ध होने पर **'तथा च सतीति - वशीकारसञ्ज्ञावैराग्ये च सतीत्यर्थः**[1]**'**। श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्य—असम्प्रज्ञात के साधनभूत श्रद्धा, वीर्य, स्मृति (ध्यान) और समाधि (सम्प्रज्ञातसमाधि) इत्यादि योगाङ्ग इस योगी को। अप्रतिबन्धेन भविष्यन्ति—निर्विघ्नं सेत्स्यन्ति, निर्विघ्नरूप से सिद्ध हो जायेंगे। तब कैवल्यप्राप्ति होगी। यही इन प्रवृत्तियों की उपयोगिता है ॥ ३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

या ज्योतिष्मती विशोका (नाम की) प्रवृत्ति (उत्पन्न होने पर मन को स्थिर करने वाली होती है) ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्—बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्—'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते'—इति। एषा द्वयी विशोका, विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते, यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३६ ॥

'(यह) प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मन को स्थिर करनेवाली होती है।'—इतने (अंश) की अनुवृत्ति इस सूत्र में है। हृत्कमल में धारणा करनेवाले को जो बुद्धि-साक्षात्कार होता है—बुद्धिसत्त्व चमकीला और आकाश के समान (व्यापक) होता है—उसमें एकाग्रताजन्यनिर्मलता के कारण (साक्षात्काररूपिणी वह) प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और मणि की कान्ति के रूप की उत्पन्न होती है। वैसे ही अस्मिता में (धारणा करने के कारण) समापन्न चित्त निस्तरङ्ग, महान् समुद्र के सदृश शान्त, अनन्त और अस्मितारूप का ही हो जाता है। जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है—'उस अणुमात्र (अहङ्काररूप) आत्मा को जानकर 'मैं हूँ'—इस प्रकार का

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०१।

सम्यग्ज्ञान करता है।' ये दोनों—१. विशोका विषयवती और २. (विशोका) अस्मितामात्रा—प्रवृत्तियाँ 'ज्योतिष्मती' कही जाती हैं, जिनसे योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० वि०)—विषयवतीप्रवृत्ति नामक 'चित्तपरिकर्म' का कथन कर चुकने के पश्चात् 'चित्तसंवित्' और 'अस्मितासंवित्' रूपी दो प्रवृत्तियों का वर्णन किया जा रहा है। यह चित्त का चौथा 'परिकर्म' है। विशोका—विगतः शोकः यस्यां सा तथोक्ता, जिस प्रवृत्ति में दुःख दूर हो जाता है, सर्वथा दुःखरहिता। ज्योतिष्मती—ज्योतिरस्त्यस्या इति (ज्योतिस् + मतुप् + ङीप्), ज्योतिर्युक्ता, प्रकाशमयी। **'ज्योतिश्शब्देन सात्त्विकप्रकाश उच्यते[1]।'** यह ज्योतिर्मयी विशोका नामवाली दोनों प्रवृत्तियाँ भी मन को एकाग्र करनेवाली होती हैं ॥ ३६ ॥

(भा० सि०)—प्रवृत्तिः···अनुवर्तते—(इस) सूत्र में इस इतने वाक्यांश की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि इतना अंश पहले सूत्र से लेकर इस सूत्र के साथ जोड़कर ही इसका अर्थ करना चाहिए। 'विशोका ज्योतिष्मती' नाम की यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—१. बुद्धिसंविद्रूपिणी और २. अस्मिता-संविद्रूपिणी। इनमें से पहले 'बुद्धिसंविद्रूपिणी' विशोकाज्योतिष्मती प्रवृत्ति का व्याख्यान किया जा रहा है। हृदयपुण्डरीके—पेट और छाती के बीच में 'हृदय' रहता है। इस हृदय में एक 'अष्टदलकमल' की कल्पना की जाती है। इस अष्टदल-कमल में ही 'बुद्धि' की सत्ता मानी गयी है। इसलिये इस हृत्कमल में। धारयतः—धारणां कुर्वतः योगिनः, धारणा करनेवाले योगी को। या बुद्धिसंविद् (भवति)—जो 'बुद्धिसाक्षात्काररूपिणी' प्रवृत्ति होती है, वही पहले प्रकार की 'विशोकाज्योतिष्मती' प्रवृत्ति हैं। **'सुषुम्ना नाम नाडी—सा हि चित्तस्थानं तस्यां धारयतो योगिनश्चित्तसंवि-दुपजायते, उपपत्तिपूर्वकम् (अग्रे) बुद्धिसंविद आकारमादर्शयति बुद्धिसत्त्वं हि इति[2]।'** यह बुद्धिसंविद्रूपिणी प्रवृत्ति ज्योतिष्मती क्यों होती है ? इसका कारण बताते हैं। हि—क्योंकि। बुद्धिसत्त्वम्—चित्त। भास्वरम् √(भास् + वरच्) प्रकाशवान् होता है। और आकाशकल्पम्–आकाश के समान व्यापक होता है। **'बुद्धिरूपं सत्त्वं भास्वरं स्वपरप्रकाशकं तेजोवद् आकाशवद् विभु च भवति[3]।'** तत्र—उस बुद्धि में। स्थिति-वैशारद्यात्—स्थितेर्हेतोः वैशारद्यं तस्मात्, स्थित होने के कारण निर्मल हो जाने से। चमकीले पदार्थ में एकाग्र या स्थित होने के कारण साधक का चित्त विशारद अर्थात्

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २१।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०२।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०२।

निर्मल हो जाता है। चित्त की इस निर्मलता के कारण। प्रवृत्तिः—बुद्धिसाक्षात्कार-रूपिणी प्रकृष्ट वृत्ति बनती है। यह बुद्धिसाक्षात्काररूपिणी प्रवृत्ति। सूर्येन्दुग्रहमणि-प्रभारूपाकारेण—सूर्य, चन्द्र, ग्रह और मणियों की चमक या कान्ति के रूप में। विकल्पते[1]—विकल्पित होती रहती है, परिणत होती रहती है। 'बुद्धितत्त्व' से यहाँ पर 'मन' का ही ग्रहण करना चाहिये 'महत्तत्त्व' का नहीं। **'मनश्चात्र बुद्धिरभिमतं न तु महत्तत्त्वम्[2]।'**

तथा—उसी प्रकार। अस्मितायां समापन्नं चित्तम्—अस्मितातत्त्व में स्थित चित्त। निस्तरङ्गमहोदधिकल्पम्—तरङ्गशून्यमहासागर के समान। शान्तम्—राजस और तामस तरङ्गों से रहित **'अपगतरजस्तमस्तरङ्गम्'**—(त० वै०)। अनन्तम्—निःस्सीम **'सर्वतोऽनावृत्तम्'**—(यो० वा०), **'व्यापि'**—(त० वै०)। अस्मिता-मात्रम्—केवल अस्मितारूप **'न पुनर्नानाप्रभारूपम्'**—(त० वै०)। भवति—हो जाता है। यत्र—जिसके विषय में। इदमुक्तम्—यह कहा गया है (पञ्चशिखाचार्य के द्वारा)। तत्र—उस अणुमात्रम्—अणुमात्र अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्मतत्त्व। आत्मानम्—**'अहङ्कारा-स्पदम्'**—(त० वै०) अहन्ता के आधारभूत 'अस्मितातत्त्व' को। अनुविद्य—अनु-चिन्त्य, जानकर। अस्मि—मैं हूँ। इत्येवम्—इस प्रकार से। तावत्—तदा, उस समय। सम्प्रजानीते—सम्यग्रूपेण बुध्यते, सम्यग् ज्ञान करता है, साक्षात्कार करता है। **'अन्यविकारहीनम् अस्मितामात्रं तावत् सम्प्रजानीत इति'[3]**। एषा द्वयी विशोका—ये दोनों 'विशोका' नाम की—१. विषयवती—बुद्धिसंविद्रूपा। २. अस्मितामात्रा च—और अस्मितामात्रा अर्थात् 'अस्मिताकारा'। प्रवृत्तिः—प्रवृत्तियाँ। ज्योतिष्मती इति—(प्रकाशयुक्त होती हैं) इसलिये 'ज्योतिष्मती'। उच्यते—कही जाती हैं। यया—जिस (विशोकाज्योतिष्मती) प्रवृत्ति के द्वारा। योगिनः—साधक योगी का। चित्तम्—चित्त। स्थितिपदम्—एकाग्रता का पद अर्थात् स्थिरता। लभते—प्राप्त करता है। इति—समाधिसूचकपद है ॥ ३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अथवा वीतरागचित्त को (धारणा का) विषय बनानेवाला चित्त (स्थिर होता है) ॥ ३७ ॥

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३७ ॥

---

१. 'विकल्पते नानारूपा भवति।'—त० वै० पृ० १०२।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०२।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० १०३।

वीतराग (व्यक्तियों के) चित्तरूपी आलम्बन में तदाकाराकारित (साधक का) चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में चित्त का पाँचवाँ 'परिकर्म' बताया जा रहा है। वीतरागविषयम्—वीतः अपगतः रागो यस्माच्चित्तात्तद् वीतरागं चित्तम्, वीतरागं (सनकादीनां चित्तम्) विषयः यस्य तादृशम् (अस्य साधकस्य चित्तम्) वीतराग-विषयं चित्तम्, वीतराग अर्थात् रागहीन चित्त को आलम्बन या ध्येयविषय बनाने वाला चित्त। वा—विकल्पसूचक पद, स्थिरता या एकाग्रता को प्राप्त करता है। **'वीतरागाः कृष्णद्वैपायनादयस्तेषां चित्तं तदेवालम्बनं तेनोपरक्तम् इति'**[1] ॥ ३७ ॥

(भा० सि०)—वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तम्—वीतरागं च तच्चित्तं चेति वीतरागचित्तम्, तदेव आलम्बनं, तेनोपरक्तं, तत्र समापन्नम्, वीतरागचित्तरूपी ध्येय-विषय अर्थात् आलम्बन से उपरक्त अर्थात् तदाकाराकारित या उसमें समापन्न। वा—भी। योगिनश्चित्तम्—योगि का चित्त। स्थितिपदं लभते—स्थितिपदे, अर्थात् एका-ग्रता की स्थिति को प्राप्त करता है। इति—वाक्यसमाप्ति का सूचक पद है॥ ३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अथवा स्वप्न और सुषुप्ति के ज्ञान को (धारणा का) आलम्बन बनाने वाला चित्त (एकाग्र हो जाता है) ॥ ३८ ॥

स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

स्वप्न (-गत पदार्थों) के ज्ञान को (धारणा का) आलम्बन बनाने वाला या सुषुप्ति (-गत सुखादि) के अनुभव को (धारणा का) आलम्बन बनाने वाला, तदा-काराकारित योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में चित्त का छठवाँ 'परिकर्म' बताया गया है। स्व-प्नश्च निद्रा चेति स्वप्ननिद्रे, तयोर्ज्ञानं निद्राज्ञानम्, स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम्—तदेव आलम्बनं यस्य तादृशं चित्तं तथोक्तम्, स्वप्नकालिक ज्ञान और निद्राकालिक अनुभूति को ध्येयविषय बनानेवाला (साधक का) चित्त भी एकाग्रता को प्राप्त करता है। वा—यह पद इस परिकर्म के अन्य परिकर्मों के साथ विकल्प को सूचित करता है ॥ ३८ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०४।

(भा० सि०)—स्वप्नज्ञानालम्बनम्—स्वप्नबोध को अर्थात् स्वप्न में होने वाले ज्ञान को आलम्बन बनानेवाला चित्त और। निद्राज्ञानालम्बनम्—सुषुप्तिकालिक बोध को अर्थात् सुषुप्तिकालिक सुखादि के अनुभव को आलम्बन बनानेवाला चित्त। वा—अपि, भी। तदाकारम्—उन द्विविध आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन के आकार से आकारित। योगिनः—योगी अर्थात् साधक का। चित्तम्—चित्त। स्थितिपदं लभते—स्थितिपद अर्थात् एकाग्रता को प्राप्त करता है। इति—वाक्यसमाप्ति का सूचक पद है ॥३८॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

अथवा (जो भी) अभीष्ट (हो उस) के ध्यान से (चित्त स्थिर होता है) ॥३९॥

यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥३९॥

जो भी अभीष्ट हो, उसी का ध्यान करना चाहिये। उस (अभीष्ट पदार्थ) में स्थिर हुआ चित्त अन्य विषयों में भी स्थिरता प्राप्त करता है। ॥ ३९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में सातवें प्रकार का 'चित्तपरिकर्म' बताया गया है। यथाभिमतध्यानाद्—अभिमतं प्रियम् इष्टम्, अनतिक्रम्येति यथाभिमतम्, तस्य ध्यानं तथोक्तं तस्माद् (चित्तं स्थितिपदं लभत इति शेषः), जो भी वस्तु अभीष्ट हो उसी का ध्यान करने से चित्त एकाग्र होता है। **'यथाभिमतवस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरीभवति[1]'** ॥३९॥

(भा० सि०)—यदेव—जो भी वस्तु। अभिमतम्—अभीष्ट हो, साधक को पसन्द हो। तदेव—उसी का। ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिये। तत्र—उसमें। लब्धस्थितिकम्—स्थित हुआ चित्त। अन्यत्रापि—अन्य सूक्ष्मतर विषयों में भी। स्थितिपदं लभते—स्थितिपद को प्राप्त करता है; स्थिर होने में समर्थ हो जाता है। इति—वाक्यसमाप्ति का सूचक पद है ॥३९॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

इस (परिकर्मित) चित्त का वशीकार (एकाग्रता की सामर्थ्य) परमाणु पदार्थों से लेकर परममहत् (पदार्थों) पर्यन्त होता है ॥४०॥

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघातः स परो वशीकारः। तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥४०॥

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २२

सूक्ष्म (पदार्थों) में प्रवेश करते हुए इस योगी का चित्त परमाणुपर्यन्त स्थिर हो (सकता) है। और स्थूल (पदार्थों) में प्रवेश करते हुए इस योगी का चित्त परम-महत् (अर्थात् सर्वव्यापक) पदार्थों तक स्थिर हो-(सक) ता है। इस प्रकार (सूक्ष्म और स्थूल) इन दोनों कोटियों में (स्थिर होने के लिये) प्रयत्नशील चित्त की जो अप्रतिहतगति है, वह 'परवशीकार' (कही जाती) है। उस 'परवशीकार' (एकाग्रता की सामर्थ्य) से परिपूर्ण योगी का चित्त फिर किसी अभ्याससाध्य परिकर्म की अपेक्षा नहीं करता ॥ ४० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब तक गिनाये गये सात प्रकार के परिकर्मों (Preparatory mental exercises) में से किसी परिकर्म के द्वारा परिकर्मित चित्त में एकाग्र होने की सामर्थ्य कितनी होती है ? इसको बताने के लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। अस्य—इस परिकर्मित चित्त का। वशीकारः—एकाग्र होने की क्षमता। परमाणुपर-ममहत्त्वान्तः—परमाणुश्च परममहत्त्वञ्चेति परमाणुपरममहत्त्वे, ते अन्तौ कोटी यस्य (वशीकारस्य) सः तथोक्तः, सूक्ष्म परमाणु और व्यापक आकाशादि पदार्थों पर्यन्त इसकी सामर्थ्य होती है। कुछ विद्वानों[1] के अनुसार 'परमाणु' शब्द तन्मात्रवाची है। परम-अणु परिमाणवाली 'तन्मात्राओं' से लेकर परममहत् परिमाणवाले 'अस्मितातत्त्व' पर्यन्त एकाग्र होने की क्षमता आ जाती है। तात्पर्य यह कि योगी का परिकर्मित चित्त सूक्ष्मतम और स्थूलतम दोनों प्रकार के तत्त्वों में स्थिति प्राप्त करने की सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाता है ॥ ४० ॥

(भा० सि०)—सूक्ष्मे···लभत इति—सूक्ष्मविषयों में एकाग्रता प्राप्त करने की चेष्टा वाले इस योगी का चित्त परम-अणु परिमाण वाले पदार्थों अर्थात् परमाणुओं या तन्मात्राओं तक में। स्थितिपदम्—स्थितिपद को प्राप्त करता है अर्थात् एकाग्र हो सकता है। स्थूले···चित्तस्य—स्थूल अर्थात् विशाल पदार्थों में एकाग्रता-प्राप्ति की चेष्टावाले इस योगी के चित्त की क्षमता परममहत् परिमाणवाले आकाश या अस्मितातत्त्व तक होती है। एवम्—इस प्रकार। तामुभयीं कोटिम्—उन दोनों अर्थात् सूक्ष्मता तथा स्थूलता की कोटियों (Extremes) तक। अनुधावतोऽस्य—जानेवाले (इस योगी के) चित्त का। यः—जो। अप्रतिघातः—रुकावट का न होना है (Absence of impediment) सः—वह। परः—उत्कृष्ट। वशीकारः—वशित्व, काबू, सामर्थ्य या क्षमता है। तद्वशीकारात्परिपूर्णः—इस उत्कृष्टसामर्थ्य से युक्त। योगिनश्चित्तम्—योगी का चित्त। पुनः—फिर से। अभ्यासकृतम्—अभ्याससाध्य, अभ्यास से सिद्ध होने वाले। परिकर्म—चित्त के परिष्कार की। अपेक्षते—अपेक्षा नहीं करता। आशय

---

१. 'परमाणुस्तन्मात्रम्'—भा० पृ० १०६।

यह है कि उसे फिर से 'परिकर्म' करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उक्त कार्य में सक्षम हो चुकता है ॥ ४० ॥

अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति ? तदुच्यते—

(परिकर्मों के द्वारा) स्थिरता प्राप्त किये हुए चित्त की (ध्येयविषय में) समापत्ति (तदाकाराकारितता) किस रूप की और किस विषय की होती है ? वह बताया जा रहा है—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

श्रेष्ठ मणि के समान क्षीणवृत्तियों वाले तथा 'ग्रहीता', 'ग्रहण' और 'ग्राह्य' (विषयों) में स्थित (होनेवाले) चित्त का, उनके आकार को ग्रहण कर लेना 'समापत्ति' है ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः। अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम्। यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति। तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति। तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति। तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्। ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासत इति। तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते।४१।

क्षीणवृत्ति वाले का अर्थ है (अभ्यासवैराग्य के द्वारा) शान्त हुए (राजसतामस-) ज्ञानों वाले (चित्त) का। 'अभिजात-मणि के समान'—यह दृष्टान्त दिया गया है। जैसे (शुद्ध) स्फटिकमणि भिन्न-भिन्न (निकटस्थ पदार्थों या) उपाधियों के कारण उनके आकारों से उपरक्त होकर (उन निकटस्थ पदार्थों या) उन उपाधियों के आकार की प्रतीत होती है, वैसे ही 'ग्राह्य' आलम्बन से उपरक्त चित्त ग्राह्याकार होकर ग्राह्य स्वरूप के आकार का प्रतीत होता है। वैसे ही भूतसूक्ष्मों (तन्मात्राओं) से उपरक्त चित्त भूतसूक्ष्माकार होकर भूतसूक्ष्मरूप का प्रतीत होता है। उसी प्रकार स्थूल आल-

म्बन से उपरक्त चित्त स्थूलालम्बनाकार होकर स्थूलरूप से आभासित होता है। वैसे ही सभी (चेतनाचेतन ग्राह्य-) पदार्थों से उपरक्त चित्त भिन्न-भिन्न (ग्राह्य) पदार्थाकार होकर भिन्न-भिन्न (ग्राह्य) पदार्थों के रूप से भासित होता है। उसी प्रकार ग्रहणों अर्थात् इन्द्रियों में भी देखना चाहिये। इन्द्रियरूपी आलम्बन से उपरक्त चित्त इन्द्रियाकार होकर इन्द्रिय के रूप का भासित होता है। उसी भाँति 'ग्रहीता' पुरुष (अर्थात् अस्मिता) रूपी आलम्बन से उपरक्त चित्त ग्रहीतृपुरुषाकार होकर ग्रहीतापुरुष के स्वरूप के आकार का भासित होता है। वैसे ही मुक्तपुरुषरूपी आलम्बन से उपरक्त चित्त मुक्तपुरुषाकार होकर मुक्तपुरुष के स्वरूप के आकार का भासित होता है। तो इस प्रकार से निर्मल मणि के समान चित्त की, 'ग्राह्य' (भूतों) में, 'ग्रहण' (इन्द्रियों) में और 'ग्रहीता' (पुरुष) में जो 'तत्स्थतदञ्जनता' अर्थात् उनमें तदाकाराकारितता है, वही 'समापत्ति' कही जाती है ॥ ४१ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—अथ—अब। लब्धस्थितिकस्य चेतसः—एकाग्रता प्राप्त किये हुए चित्त की। समापत्तिः—(सम् + आङ् + √पद् + क्तिन्) सम्यक् प्रकार से, सब ओर से (ध्येयरूप) हो जाना। किंरूपा—किस रूपवाली। किंविषया—किस विषय अर्थात् किस आलम्बन वाली होती है। वा—'और' के अर्थ में 'वा' का प्रयोग हुआ है। इति—वाक्यान्तद्योतक। तद्—वह बात (समापत्ति की किंरूपता और किंविषयता)। उच्यते—४१वें सूत्र में कही जा रही है।

(सू० सि०) - अभिजातस्य[1] इव मणेः—निर्मलस्य श्रेष्ठस्य मणेः इव, स्वच्छ स्फटिकमणि के समान। क्षीणवृत्तेः (चित्तस्य)—क्षीणाः अपगताः निगृहीताः (राजस-तामस-) वृत्तयः यस्य तस्य तथोक्तस्य, जिस चित्त की राजस-तामस एवं रजस्तम-सानुविद्ध सकलप्रमाणादि वृत्तियाँ क्षीण अर्थात् अभिभूत या निगृहीत हो गयी हैं, उस चित्त की। **'अभ्यासवैराग्याभ्यां क्षीणराजसतामसप्रमाणादिवृत्तेश्चित्तस्य'**[2]। ग्रहीतरि—अस्मितारूपपुरुषे, ग्रहणेषु—ज्ञानेन्द्रियेषु, ग्राह्येषु—सकलबाह्याभ्यन्तरपदार्थेषु विषयेषु आलम्बनभूतेषु—अस्मितारूप पुरुष में, ज्ञानेन्द्रियों में और समस्त बाह्याभ्यन्तर स्थूल-सूक्ष्मभूतों में। तत्स्थतदञ्जनता—तत्र आलम्बनेषु तिष्ठति इति (तत्र + √स्था + कः) तत्स्थं (चित्तम्) तस्य तत्स्थस्य—उन-उन आलम्बनों में स्थित या एकाग्र हुए चित्त की, तदञ्जनता—तद्रूपता **'तन्मयत्वम्'**[3] तद्रूप हो जाना, तदाकारित हो जाना,

---

१. 'अभिजातस्य स्वच्छस्य मणेरिव'—भा० पृ० १०७।
'अभिजातस्य निर्मलस्य मणेरिव'—यो० वा० पृ० १०७।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०७।

३. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २३।

तन्मय हो जाना ही समापत्ति है। सारांश यह है कि चित्त के पूरीतौर से आलम्बनाकार हो जाने को ही 'समापत्ति' कहा जाता है। **'तथाविधा समापत्तिस्तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः'**[1]। **'अत्र सम्प्रज्ञातफलभूतायाः प्रज्ञायाः समापत्तिरिति तान्त्रिकी परिभाषाऽपि प्रसङ्गादुक्ता'**[2]।

'सांख्य-योग' की ज्ञानप्रक्रिया में प्रतिपादित किया गया है कि जब बुद्धि किसी पदार्थ का ज्ञान करती है तो उस समय उस पदार्थ के आकार की हो जाती है। बिना बुद्धि के तदाकाराकारित हुये उस पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार चित्त की पदार्थरूपापत्ति प्रत्येक साधारण लौकिकज्ञान में भी आवश्यक होती है। किन्तु उस तद्रूपापत्ति और 'समापत्ति' नामक तद्रूपापत्ति में कुछ अन्तर है। राजसतामस वृत्तियों के सम्मिश्रण या प्रभाव के कारण लौकिकज्ञान की दशा में आंशिक (Partial) तद्रूपापत्ति या तदाकाराकारितता होती है। इसलिये वह ज्ञान सर्वथा पूर्ण ज्ञान नहीं होता। किन्तु 'समापत्ति' काल में यह तद्रूपापत्ति सम्पूर्ण (Total) होती है (राजस और तामस वृत्तियों के सर्वथा निगृहीत रहने के कारण)। इसलिये लौकिकज्ञानकाल की पदार्थाकाराकारितता और 'संप्रज्ञातसमाधिकाल' में होनेवाली चित्त की तत्स्थतदञ्जनता या तद्रूपापत्ति के बीच 'आंशिकता' और 'सम्पूर्णता' का ही अन्तर समझना चाहिए, मौलिक प्रकारभेद नहीं। (There is the difference only of degree and not of type) ॥ ४१ ॥

(भा० सि०)—भाष्यकार ने 'क्षीणवृत्तेः' पद का अर्थ किया है प्रत्यस्तमित हुए (अस्तंगत हुए) प्रत्ययों (वृत्तियों) वाले चित्त की। सूत्र के अन्तर्गत आये हुए 'अभिजातस्येव मणेः' पदों में 'दृष्टान्त' का उपादान किया गया है। उपादानम्—ग्रहणम्, तात्पर्य यह है कि इस पद के द्वारा दृष्टान्त दिया गया है। यथा—जिस प्रकार। स्फटिकः—स्वच्छ स्फटिक मणि। उपाश्रयभेदात्—निकटस्थ पदार्थ के भिन्न-भिन्न होने से। उपाश्रयः—उपाधिः, निकटस्थः (नीलपीतादिः) पदार्थः, तस्य भेदः—भिन्नत्वम्, तस्मात्। तत्तद्रूपोपरक्तः—उस-उस निकटस्थ पदार्थ के रूप से उपरञ्जित होकर अर्थात् पूर्णतः तदाकाराकारित होकर। उपरक्तः—**'तच्छायापन्नः'**—(त० वै०), **'तत्प्रतिबिम्बोदग्राही सन्'**—(यो० वा०)। उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते—उस उपाधिभूत या निकटस्थ पदार्थ के नीलपीतादि आकार से भासित या प्रकाशित होता है। तथा—उसी प्रकार। ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तम्—ग्राह्यविषय रूपी आलम्बन के रूप से उपरञ्जित हुआ चित्त। ग्राह्यसमापन्नं (सत्)—ग्राह्याकाराकारित होकर। ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते—ग्राह्य के स्वरूप के आकार

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २३।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०७।

का प्रकाशित या प्रतीत होता है। ग्राह्य पदार्थों के स्थूल और सूक्ष्म भेद करके दोनों स्थितियों की समापत्तियों में चित्त का निर्भासन-प्रकार वर्णित करते हैं। तथा······ भवति—वैसे ही भूतसूक्ष्म अर्थात् तन्मात्राओं से उपरञ्जित चित्त, तन्मात्राओं के आकार वाला होकर तन्मात्राओं के आकार से भासित होता है। **'ग्राह्यालम्बनं द्विधा भूतसूक्ष्मं तन्मात्राणि तथा स्थूलं पञ्चमहाभूतानि, स्थूलतत्त्वान्तर्गतो विश्वभेदो घटपटादिभौतिकवस्तूनीत्यर्थः'**[१]। तथा···भवति—उसी प्रकार पाँचों (स्थूल) महाभूतों रूपी आलम्बन में उपरञ्जित चित्त स्थूल महाभूतों के आकार वाला होकर स्थूलभूतों के आकार से भासित होता है। तथा विश्वभेदोपरक्तं······भवति—उसी प्रकार समस्त स्थावरजङ्गमादि 'ग्राह्य' आलम्बनों से तदाकाराकारित होकर, उन-उन आलम्बनों के आकार से भासित होता है। यहाँ तक 'ग्राह्यविषयक' समापत्तियों का वर्णन हुआ। इस स्थूलग्राह्यविषयक समापत्ति वाली 'सम्प्रज्ञातसमाधि' का नाम 'वितर्कानुगत' और सूक्ष्मग्राह्यविषयक समापत्ति वाली 'सम्प्रज्ञातसमाधि' का नाम विचारानुगत होता है[२]।

अब 'ग्रहणविषयक' समापत्ति का वर्णन करते हैं। तथा ग्रहणेष्वपि[३]—उसी प्रकार ग्रहणपदार्थ अर्थात् इन्द्रियों में भी। द्रष्टव्यम्—समझना चाहिए। ग्रहणालम्बनोपरक्तम्···निर्भासते—इन्द्रियों से उपरञ्जित चित्त, इन्द्रियालम्बनाकाराकारित होकर इन्द्रियरूप के आकार से निर्भासित होता है। यहाँ पर इन्द्रिय या ग्रहण से चक्षुर्गोलक, कर्णशष्कुली आदि अर्थ नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वे तो ग्राह्य विषय ही हैं। 'ग्रहण' का तात्पर्य अतीन्द्रियशक्तिरूपिणी इन्द्रियों से ही है। **'न त्विन्द्रियाणां गोलका ग्रहणविषयास्ते हि स्थूलभूतान्तर्गता एव, इन्द्रियशक्तय एव ग्रहणम्'**[४]। 'ग्रहणविषयक' समापत्ति वाली संप्रज्ञातसमाधि को 'आनन्दानुगत' कहते हैं। तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तम्···निर्भासते—ग्रहीतृ पुरुष है अस्मितास्पद पुरुष। 'अस्मिता' की स्थिति 'सांख्ययोग' में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसे ठीक से जान लेना चाहिए। बुद्धि के द्वारा समर्पित ज्ञान (अर्थात् भोग) का ग्रहीता 'अस्मितास्पद' पुरुष ही होता है। बुद्धिसमर्पित भोग को आत्मसात् करना 'अस्मिता'[५] का ही कार्य है। (वाचस्पति मिश्र के अनुसार) भोगों का यह ग्रहण अर्थात् आत्मसात्करण बुद्धिवर्ती चित्प्रतिबिम्ब में

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १०८।

२. 'तदनेन वितर्कविचारानुगतौ समाधी दर्शितौ।'—त० वै० पृ० १०८।

३. 'गृह्यन्त एभिरर्था इति ग्रहणानीन्द्रियाणि।'—त० वै० पृ० १०८।

४. द्रष्टव्य; भा० पृ० १०८।

५. 'सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिकासंविदिति, तस्याञ्च ग्रहीतुरन्तर्भावाद्भवति ग्रहीतृविषयः सम्प्रज्ञात इति।'—त० वै० पृ० ५४।

ही होता है। (विज्ञानभिक्षु के मतानुसार) यह (बुद्धिसमर्पित) भोग (ज्ञान) 'शुद्ध पुरुषतत्त्व' में ही प्रतिबिम्बित होता है। उस प्रतिबिम्बित भोग का अभिमानी पुरुष ही अस्मितास्पद ग्रहीता है। **'अत्र ग्रहणफलोपहितत्वं ग्रहीतृत्वम्[1]'। 'अस्मितास्पदं हि ग्रहीता पुरुष इति भावः'[2]**। इस ग्रहीता पुरुष रूपी आलम्बन से उपरञ्जित हुआ चित्त उस ग्रहीता पुरुषरूपी आलम्बन के आकार वाला होकर, ग्रहीता पुरुष के स्वरूप के आकार से ही निर्भासित होता है। अब इसी ग्रहीतृविषयक समापत्ति का अतिदेश करते हुए मुक्तपुरुषों (की अस्मिता) को भी इसी समापत्ति में संगृहीत कर लेते हैं। **'पुरुषत्वाविशेषादनेनैव मुक्तोऽपि पुरुषः शुकब्रह्लादादिः समाधिविषयतया संग्रहीतव्य इति[3]।'** तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तम्...निर्भासते—इसी प्रकार जब मुक्तपुरुष समाधि के आलम्बन बनते हैं, तो उनके ग्रहीतृ रूप (अस्मिता स्वरूप) से उपरञ्जित योगी का चित्त, मुक्तपुरुष के ग्रहीत्राकार से आकारित होकर उसी आकार से पूर्णतः भासित होता है।

तदेवम्—तो इस प्रकार से। अभिजातमणिकल्पस्य चित्तस्य—स्वच्छ स्फटिकादि मणि के समान चित्त का। ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु—'ग्रहीता' अर्थात् अस्मितास्पद पुरुष में तथा 'ग्रहण' अर्थात् इन्द्रियों में और 'ग्राह्य' अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म भूतों में। या—जो। तत्स्थतदञ्जनता—तेषु (विविधेषु आलम्बनेषु) स्थितस्य (एकाग्रस्य चित्तस्य) तदाकारापत्तिः (तदाकाराकारितता)—'तेषु' से 'आपत्तिः' तक का ग्रन्थ 'तत्स्थतदञ्जनता' का ही व्याख्यान है। तेषु ध्येयविषयेषु तिष्ठतीति तत् + √स्था + कः—तत्स्थम् (चित्तम्), तस्य तदञ्जनता—तस्य ध्येयविषयस्य अञ्जनम् (रञ्जकं रूपम्) इव अञ्जनं यस्य तत् तदञ्जनं, तस्य भावः तदञ्जनता (तद्रूपता)। अर्थात्। तदाकारापत्तिः—तस्य आकारस्य (आ + √पद् + क्तिन्) आपत्तिः, आपतनं, भवनम्, तदाकाराकारित्वम्। आशय यह हुआ कि ध्येय पदार्थ में स्थित होने पर चित्त का ध्येयपदार्थाकाराकारित हो जाना ही 'तत्स्थतदञ्जनता' है। इसी का शास्त्रीय नाम 'समापत्ति'[4] है। सम्यग्रूपेण ध्येयपदार्थाकाराकारितता एव समापत्तिः। सम्यग्रूपता इसलिये सम्भव हो पाती है कि राजस और तामस वृत्तियों का प्रभाव चित्त में बिल्कुल नहीं रह जाता है। इसलिये चित्त की पूर्णरूप से ध्येय-

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०८।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १०८।

३. द्रष्टव्य; त० वै०।

४. 'तेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु स्थितस्य धारितस्य ध्यानपरिपाकवशादपहतरजस्तमोमलस्य चित्तसत्त्वस्य या तदञ्जनता तदाकारता सा समापत्तिः।'

—त० वै० पृ० १०८।

विषयाकाराकारितता हो जाती है। **'तत्स्थततया तदञ्जनता सम्यक्तदाकारता जायते, सा च समापत्तीति शब्दवाच्या भवतीत्यर्थः'**[1] ॥ ४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

उनमें से शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिली-जुली हुई समापत्ति सवितर्का (कही जाती) है ॥ ४२ ॥

तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्। विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा[2] अन्ये ज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः। तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा सङ्कीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥ ४२ ॥

वह इस प्रकार से कि 'गौः' यह पद 'शब्द' है, गाय (नामक जीव) उसका 'अर्थ' है। और गोपदार्थाकार बुद्धिवृत्ति उसका 'ज्ञान' है। इन परस्पर भिन्न 'शब्द', 'अर्थ' और 'ज्ञान' का अभिन्न रूप से ही ग्रहण (हुआ करता है—ऐसा) देखा जाता है। विवेचित किये जाने पर 'शब्द' नामक पदार्थ अन्य हैं, 'अर्थ' नामक पदार्थ अन्य हैं और 'ज्ञान' नामक पदार्थ अन्य हैं। इस प्रकार इनका मार्ग (अस्तित्व) अलग-अलग हैं। उस (विषय) में समापन्न चित्त वाले योगी की समाधि-प्रज्ञा में जो 'गाय' इत्यादि अर्थ है, वह यदि 'शब्द' 'अर्थ' और 'ज्ञान' के विकल्पों (इतरेतराध्यास) से मिला-जुला रहता है, तो वह मिश्रित समापत्ति 'सवितर्का' कही जाती है ॥ ४२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तत्र—समापत्तिषु, उन समापत्तियों में से। (या समापत्तिः—जो समापत्ति) शब्दश्चार्थश्च ज्ञानञ्चेति शब्दार्थज्ञानानि, तेषां विकल्पाः इतरेतराध्यासाः भिन्नेषु अभिन्नत्वबोधरूपाः विकल्पा अभिप्रेताः, तैः शब्दार्थज्ञानविकल्पैः—इन शब्द, अर्थ और ज्ञान को—जो कि वस्तुतः भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले हैं—अभिन्नरूप से जानना ही 'विकल्प' है। इन विकल्पों से। संकीर्णा—सम्मिश्रिता (भवति—होती है)। वह। सवितर्का समापत्तिः—सवितर्का समापत्ति कही जाती है ॥ ४२ ॥

(भा० सि०)—शब्दार्थज्ञानविषयक 'विकल्प' को भाष्यकार समझाते हैं। तद्यथा—वह विकल्प इस प्रकार का होता है, जैसे—गौः इति शब्दः—गकार औकार और विसर्ग से मिलकर बना हुआ 'गौः' यह 'शब्द' है। गौरित्यर्थः—सींग, पूँछ और सास्ना इत्यादि वाला पशुपिण्ड 'गौः' नामक 'अर्थ' है। गौरिति ज्ञानम्—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १०७।

२. 'विज्ञानधर्माः' इति पाठान्तरम्।

गोपदार्थाकाराकारित बुद्धिवृत्ति ही 'गोज्ञान' है। इति विभक्तानाम् अपि—इस प्रकार एक-दूसरे से सर्वथा अलग-अलग स्थित इन तीनों का भी। अविभागेन—अभेदेन, अभिन्नत्वेन, एकत्वेन, एक ही रूप में। ग्रहणम्—लोक में ग्रहण किया जाना, व्यवहार में प्रयुक्त होना। दृष्टम्—दृश्यते, देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि 'गौः' शब्द 'गौः' अर्थ और 'गौः' ज्ञान यद्यपि तीनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी 'गौः' सुनकर लोग कभी 'गौः' शब्द समझते हैं, कभी 'गौ' अर्थ समझते हैं और कभी 'गौः' ज्ञान समझते हैं। इस प्रकार वक्ता को जब 'शब्द' ही अभिप्रेत है फिर भी श्रोता को 'अर्थ' और 'ज्ञान' का भी ज्ञान होता है। इसी तरह 'गौ' अर्थ ही अभिप्रेत होने पर 'शब्द' और 'ज्ञान' का भी बोध होता है। वैसे ही 'गौ' ज्ञान अभिप्रेत होने पर 'शब्द' और 'अर्थ' का अध्यास होता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान का यह परस्पर भ्रम या संकर या इतरेतराध्यास ही इनका 'विकल्प' है। **'गौरिति शब्दः कर्णग्राह्यो वागिन्द्रियस्थितः, गौरित्यर्थः चक्षुस्त्वगिन्द्रियग्राह्यो गोष्ठादौ स्थितः, गौरिति ज्ञानं चेतसि स्थितमिति विभक्तानामपि पृथग्भूतानामपि अविभागेन सङ्कीर्णरूपेण ग्रहणं विकल्पज्ञानात्मकं दृश्यते[1]।' 'सङ्केतश्चायं गौरिति शब्दार्थयोरितरेतराध्यासात्मा[2]।' 'सङ्केतश्चायं गौरिति शब्दार्थयोरितरेतराध्यासात्मकः[3]।'**

विभज्यमानाश्च—परीक्षकैरन्वयव्यतिरेकाभ्यां विविच्यमानाः, विवेचित किये गये। शब्दधर्माः—शब्दस्य धर्मा इति शब्दधर्माः, शब्द के धर्म—जैसे उदात्तध्वनि से उच्चरित होना या मन्दध्वनि से उच्चरित होना इत्यादि। अन्ये—भिन्नाः एव, और ही हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थादि के धर्मों से भिन्न होते हैं। अर्थधर्माः—अर्थ के धर्म मूर्तियुक्तत्व, जडत्व इत्यादि। अन्ये—शब्द और ज्ञान के धर्मों से भिन्न होते हैं। ज्ञानधर्माः—ज्ञान के धर्म प्रकाशरूपत्व, अमूर्तत्वादि। अन्ये—शब्द और अर्थ के धर्मों से भिन्न होते हैं। इति—एवंरीत्या, इस प्रकार से। एतेषाम्—इन 'शब्द', 'अर्थ' और 'ज्ञान' का। पन्थाः—(स्थितिः) रास्ता। विभक्तः—अलग-अलग है। **'अन्योऽन्यं भिन्नः मार्गः इत्यर्थः[4]।'** तत्र—इन 'गो' इत्यादि स्थूल पदार्थों में। समापन्नस्य—समापत्तिलाभ किये हुए। योगिनः—योगी की। समाधिप्रज्ञायाम्—समाधिकालिक बुद्धि में। यो गवाद्यर्थः—जो 'गो' इत्यादि स्थूल (ध्येयभूत) अर्थ। समारूढः—वर्तमानः, वर्तमान या उपस्थित है। स चेत्—वह अर्थ यदि। शब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्धः—शब्द, अर्थ और ज्ञान के इतरेतराध्यास या पारस्परिक भ्रान्ति

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १०९।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १११।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १११।
४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ११०।

से संकुल या युक्त । उपावर्तते—भासते, वर्तते, है । सा—तो वह । संकीर्णा समापत्तिः—विकल्पमिश्रिता, संकरयुक्ता समापत्ति । सवितर्केति उच्यते[१]—'सवितर्का' समापत्ति कही जाती है ॥ ४२ ॥

यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समापत्तिः । तत्परं प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम् । ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः । न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम् । तस्मादसङ्कीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति । निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते—

फिर जब शब्दार्थज्ञान के अन्योऽन्याध्यास की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर, आगमज्ञान और अनुमानज्ञान के (भी) विकल्पों से रहित समाधिप्रज्ञा अपने शुद्ध रूप से ही स्थित अर्थ, उस अपने रूप के ही आकार से अवधारित होता है, (तब) वह 'निर्वितर्का' समापत्ति होती है । वह 'परप्रत्यक्ष' है । वह आगम और अनुमान का बीजभूत कारण है, (क्योंकि) उससे ही (पदार्थों का प्रत्यक्ष करके) आगम और अनुमान उत्पन्न होते हैं । यह 'परप्रत्यक्ष' रूप ज्ञान, आगम और अनुमान के साथ उत्पन्न होने वाला (ज्ञान) भी नहीं है । इसलिये योगी की निर्वितर्क (कालिक) समाधि में उत्पन्न यह (परप्रत्यक्ष) ज्ञान अन्य किसी भी (ज्ञान) से अमिश्रित रहता है । इस निर्वितर्का समापत्ति का लक्षण-सूत्र के द्वारा प्रकट किया जा रहा है ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर, अपने (ज्ञानात्मक) रूप से शून्य जैसी, केवल अर्थ को ही प्रकाशित करने वाली निर्वितर्का समापत्ति होती है ॥ ४३ ॥

या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः । तथा च व्याख्यातम् । तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः । स च संस्थानविशेषो, भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्मः, आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति । धर्मान्तरोदये च तिरोभवति । स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते । योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते । यस्य

१. 'तदनेन योगिनोऽपरं प्रत्यक्षमुक्तम् ।' —त० वै० पृ० ११० ।

पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यं तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति। तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात्? यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघ्रातम्[1]। तस्मादस्त्यवयवी यो [2]महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्का विषयो भवति ॥ ४३ ॥

(जब) शब्दसंकेत, आगम और अनुमानज्ञानों के विकल्प की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर ग्राह्य आलम्बन के स्वरूप से उपरक्त प्रज्ञा, अपने ज्ञानात्मक प्रज्ञारूप को मानों छोड़कर (ग्राह्यालम्बनरूप) अर्थ के स्वरूप वाली अर्थात् ग्राह्यालम्बनरूपाकार को प्राप्त हुई-सी बन जाती है, तब वह निर्वितर्का समापत्ति होती है। (उत्थानिका भाष्य में) इसी प्रकार से बताया गया है। इस (निर्वितर्का समापत्ति) का आलम्बन, एक (गोरूपार्थाकार) बुद्धि को उत्पन्न करने वाला, अर्थरूपी, (सूक्ष्म) अणुओं के (स्थूल) विशिष्ट समुदाय-रूपी 'गो' इत्यादि या 'घट' इत्यादि विषय होता है। और वह अवयवसन्निवेशविशेषरूप आलम्बन, भूतसूक्ष्मों का साधारणधर्म है, तदात्मक है, (द्रव्यात्मक) अभिव्यक्ति रूप कार्य से अनुमित होता है, स्वकारणाकार प्रकट होता है। और कपाल इत्यादि अन्य धर्मों के उदित होने पर तिरोहित हो जाता है। वह यह धर्म 'अवयवी' कहा जाता है। यह जो एक होता है, बड़ा होता है, छोटा होता है, स्पर्शवान् होता है, क्रिया करने योग्य होता है और (रूप की दृष्टि से) अनित्य होता है, उस अवयवी के द्वारा सारे (लौकिक) व्यवहार किये जाते हैं। फिर जिसके मत में वह अवयवसन्निवेशविशेष रूप अवयवी अवास्तविक (माना जाता) है और सूक्ष्मकारण (परमाणु) अदृश्य (साक्षात्कार के अयोग्य) होता है, उसके मत में—चूँकि अवस्तुनिष्ठ ज्ञान मिथ्याज्ञान ही होता है—इसलिये प्रायः सभी ज्ञान अवयवी के अभाव के कारण अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान ही हुआ। तो फिर (ज्ञान के) विषय के अभाव के कारण सम्यग् या ठीक ज्ञान (उसके मत में) कौन-सा होगा? जो-जो पदार्थ उपलब्ध (दृष्ट) होते हैं, उन सब में अवयवीपन की गन्ध है। इसलिये अवयवी (अवश्य) होता है, जो कि बड़े (या छोटे) इत्यादि रूप से व्यवहृत होता है (और जो) निर्वितर्का समापत्ति का विषय बनता है ॥ ४३ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—अब निर्वितर्का समापत्ति का इस सवितर्का समापत्ति से अन्तर और निर्वितर्का समापत्ति का स्वरूप स्पष्ट करने की चेष्टा की जा रही है।

---

१. 'आम्नातम्'—इति पाठान्तरम्।

२. 'महत्तत्त्वादि'—इति पाठान्तरम्।

यदा पुनः—और फिर जब। शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ—शब्द सम्बन्धी संकेत अर्थात् शब्दार्थज्ञान के इतरेतराध्यास की निवृत्ति **'अपनयनम्'** (त० वै०) हो जाने पर। **'संकेतश्चायं गौरिति शब्दार्थज्ञानानामितरेतराध्यासात्मा ततश्चागमानुमानज्ञानविकल्पौ भवतः[1]।' 'संकेतश्चायं गौरिति शब्दार्थयोरितरेतराध्यासात्मकः[2]।'** समाधिप्रज्ञायाम्—समाधिकालिक बुद्धि में। श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायाम्—श्रुतज्ञान, आगमजन्य ज्ञान और अनुमानजन्य ज्ञान के विकल्पों अर्थात् इतरेतराध्यास से रहित हो जाने पर। स्वरूपमात्रेणावस्थितः—केवल अपने रूप में विद्यमान, भासमान या उपारूढ। अर्थः—स्थूल ध्येयपदार्थ। तत्स्वरूपाकारमात्रतयैव—उस पदार्थ के स्वरूप के आकार-मात्र से ही। अवच्छिद्यते—सीमित रहता है अर्थात् अन्यूनाधिक्यवर्त्ती अवधारित होता है, न कम न बेश अर्थात् केवल उतना ही समाधिप्रज्ञा में उपारूढ रहता है अर्थात् योगी का चित्त उतने ही पदार्थाकारमात्र में समापन्न रहता है। सा च—और वह समापत्ति। निर्वितर्कसमापत्तिः—निर्वितर्का समापत्ति है। तत् परं प्रत्यक्षम्—वह प्रज्ञा योगी का 'परप्रत्यक्ष' है। सवितर्का समापत्तिकालिक-ज्ञान योगी का 'अपर-प्रत्यक्ष' ही होता है।

तच्च—निर्वितर्कासमापत्तिकालिक समाधिप्रज्ञा, योगज परप्रत्यक्ष। श्रुतानुमानयोः—आगमज्ञान और अनुमानज्ञान की। मूलम्—जड़ है, उत्पत्तिस्थली है। ततः—उस निर्वितर्का समापत्ति अर्थात् परप्रत्यक्ष से। श्रुतानुमाने—आगम और अनुमान। प्रभवतः—उत्पन्न होते हैं। तद्दर्शनम्—यह परप्रत्यक्षसंज्ञक प्रज्ञा। च न श्रुतानुमानज्ञानसहभूतम्—श्रुत और अनुमान ज्ञान की सहवर्तिनी या साथ रहने वाली नहीं है। तस्माद्—इसलिये। प्रमाणान्तरेण—अन्य प्रमाणों से अर्थात् अन्य किसी ज्ञान से। असङ्कीर्णम्—अमिश्रित, सर्वथा अछूता। योगिनः—योगी का। निर्वितर्कसमाधिजम्—निर्वितर्का समापत्ति से उत्पन्न। दर्शनम्—ज्ञान होता है। अस्याः निर्वितर्कासमापत्तेः—इस निर्वितर्का समापत्ति का। लक्षणम्—लक्षण या परिभाषा। सूत्रेण—इस पातञ्जल सूत्र के द्वारा। द्योत्यते—प्रकट किया जा रहा है।

(सू० सि०)—स्मृतिपरिशुद्धौ—(शब्दार्थज्ञानविकल्पानाम्) स्मृतेः परिशुद्धौ अपगमे निवृत्तौ सत्याम्, शब्दार्थज्ञान के विकल्पों की, तथा तज्जन्य श्रुतानुमानज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर। अर्थमात्रनिर्भासा—(ध्येयः) अर्थः एव इति अर्थमात्रं, तस्य निर्भासः यस्यां सा तथोक्ता, केवल ध्येयार्थमात्र को प्रकाशित करने वाली। स्वरूपशून्येव—अपने ज्ञानात्मक रूप से रहित जैसी। तात्पर्य यह है कि समापत्ति ज्ञानरूप है, किन्तु उसमें अपने ज्ञानात्मक रूप का भान नहीं होना चाहिये। केवल ध्येय अर्थ

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १११।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १११।

के रूप का बोध होता रहना चाहिये। यदि उसमें समापत्ति के स्वरूप का जरा भी बोध हो जाये तो फिर अर्थज्ञान में अन्य ज्ञानों का संकर होगा और यह मिश्रण निर्वितर्का समापत्ति में हरगिज नहीं होना चाहिए। इसलिये स्वयं ज्ञानरूपा होने पर भी इस समापत्ति में अपने ज्ञानात्मक रूप का बोध नहीं होना चाहिये। इसी से उसके स्वरूप की सत्ता अनिवार्यतः होने पर भी उसके स्वरूप का भान न होने की स्थिति को प्रकट करने के लिये 'इव' शब्द का प्रयोग सूत्र में किया गया है। **'न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः'**[१] ॥ ४३ ॥

(भा० सि०)—या—जो समापत्ति। शब्दसंकेतः—शब्दार्थज्ञानानामितरेतराध्यासः, श्रुतज्ञानम्, अनुमानज्ञानमिति च तेषां विकल्पः संकरः, तस्य स्मृतिः, तस्याः परिशुद्धौ निवृत्तौ इति तथोक्तायां सत्याम्, शब्दार्थज्ञान के विकल्प और उससे उत्पादित आगम और अनुमानज्ञान के मिश्रण की स्मृति के निवृत्त हो जाने पर या दूर जाने पर। ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता—[२]ग्राह्यस्य स्वरूपमिति ग्राह्यस्वरूपं ध्येयार्थाकारः तस्मिन् तेन वा उपरक्ता इति तथोक्ता, ध्येयभूत (स्थूल) आलम्बन के आकार से आकारित। प्रज्ञा—बुद्धिः। स्वम्—अपने आपको। अर्थात्। ग्रहणात्मकं प्रज्ञारूपम्—ज्ञानाकार बुद्धि के रूप को। **'स्वमिवेतीवकारो भिन्नक्रमः त्यक्त्वेति – पदान्तरं द्रष्टव्यः'**[३]। त्यक्त्वा इव—मानो छोड़कर अर्थात् विस्मृत करके। पदार्थमात्रस्वरूपा—केवल ध्येयपदार्थ के आकार या स्वरूप वाली बनकर। अर्थात्। ग्राह्यस्वरूपापन्ना इव—ध्येयपदार्थ के रूपवाली जैसी। भवति—हो जाती है। सा—वह समापत्ति। तदा—तब निर्वितर्का समापत्ति कही जाती है या होती है। तथा च व्याख्यातम्—तेनैव प्रकारेण कृतव्याख्यानमस्माभिः[४] भाष्यकारैः उत्थानिकाभाष्ये, उत्थानिकाभाष्य में मेरे द्वारा इस विषय का वैसा ही पूरा व्याख्यान कर दिया गया है।

अब इस निर्वितर्का समापत्ति का ध्येयभूत जो स्थूल 'अवयवी' पदार्थ होता है, उसके स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है। तस्याः—उस निर्वितर्का समापत्ति का। लोकः—लोक्यते दृश्यते इति लोकः विषयः आलम्बनम्, ध्येयविषय **'तच्चैतदुभयमपि लोक्यते इति लोकः**[५]**।'** एकबुद्ध्युपक्रमः—एकां बुद्धिम् उपक्रमते जनयति इति तथोक्तः **'एकबुद्ध्यारम्भकः'** (भा० पृ० ११४) एक पदार्थ के रूप में अनुभूय-

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २४।

२. 'ग्राह्यमत्र ध्येयविषयो न तु भूतानि। स्थूलग्रहणस्यापि वितर्कानुगतत्वात्।' —भा० पृ० ११३।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ११३।

४. 'सूत्रपातनिकायामस्माभिरित्यर्थः।' —भा० पृ० ११३।

५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ११४।

मान होने वाला, एकबुद्धि उत्पन्न करने वाला (Giving the sense of one entity)। **'तदनेन परमाणवो नानात्मानो न निर्वितर्कविषया इति उक्तं भवति[१]।'** हि—ही। अर्थात्मा—पदार्थभूतः, पदार्थरूप। अणुप्रचयविशेषात्मा—अणूनां प्रचयः इति अणुप्रचयः स्थूलरूपः परिणामः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तादृशः, परमाणुओं के स्थूल परिणामरूपी। गवादिः घटादिर्वा—'गो' इत्यादि या 'घट' इत्यादि पदार्थ। लोकः—**'चेतनाचेतनलौकिकविषय इत्यर्थः[२]।'** स च संस्थानविशेषः—परमाणुओं के समूहरूप गवादि या घटादि विषय एक विशेष प्रकार का समूह या परमाणुपुञ्ज है। यह समूह। भूतसूक्ष्माणाम्—'तन्मात्राणाम्', तन्मात्राओं का (या परमाणुओं का)[४]। साधारणः धर्मः—प्रत्येक तन्मात्रा का (समान रूप से) धर्म है अर्थात् उन सभी तन्मात्राओं का धर्म है। उनमें से किन्हीं दो, चार, दस का ही नहीं। अभिप्राय यह है कि उस समूह में उपस्थित सभी तन्मात्राओं में से प्रत्येक का वह एकीभूत या सम्मिलित धर्म है। ऐसा कहने से यह लगता है कि वह तन्मात्रसमूह अर्थात् स्थूल अवयवी, केवल भूतसूक्ष्म या तन्मात्रमात्र नहीं है, प्रत्युत उनसे भिन्न उनका एक धर्म है। इस भेदप्रतीति को प्रकट कर चुकने पर भाष्यकार उनकी अभेदप्रतीति को प्रकट करते हैं। आत्मभूतः—भूतसूक्ष्माणामात्मा एवेति आत्मभूतः, यह अवयवी तन्मात्राओं के अतिरिक्त कोई भिन्न पदार्थ भी नहीं है।

प्रश्न यह है कि ये 'घट' इत्यादि विषय, जो कि भूतसूक्ष्मों अर्थात् तन्मात्राओं के संस्थान-विशेष हैं, ये इन भूतसूक्ष्मों से भिन्न हैं कि साक्षाद् वही हैं? यदि ये केवल भूतसूक्ष्म ही हैं, तो इन्हें भी सूक्ष्म और छोटा होना चाहिए। और यदि ये भूत-सूक्ष्मों से भिन्न हैं, तो 'घटादि' भूतसूक्ष्मों के आश्रय कैसे हैं? और उसी प्रकार के क्यों हैं? 'घट' जो कि 'पट' से भिन्न होता है, वह न 'पट' का आश्रय है और न 'पट' के प्रकार का है। इसी बात को स्पष्ट करते हुये यह कहा जा रहा है कि भूत-सूक्ष्मों के समूहरूप ये 'घटादि' पदार्थ न तो सर्वथा भूतसूक्ष्मों से भिन्न ही हैं और न भूतसूक्ष्ममात्र हैं। इसलिये इनका सम्बन्ध भेदाभेद रूप का समझना चाहिए। **'तस्मात् कथञ्चिद्भिन्नः कथञ्चिदभिन्नश्चास्थेयस्तथा च सर्वमुपपद्यते, 'भूतसूक्ष्माणाम्' इति षष्ठ्या कथञ्चिद्भेदं सूचयति, 'आत्मभूतः' इति चाभेदम्[५]।'** व्यक्तेन—प्रकट होने वाले। फलेन—घटादिदर्शनरूप फल से। अनुमितः—(विप्रतिपन्नं प्रति)

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ११३।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ११४।

३. 'बाह्यवस्तुरूपः न तु विज्ञानमात्रः।' —भा० पृ० ११४।

४. 'भूतसूक्ष्माणां तन्मात्राणाम्।' —भा० पृ० ११४।

५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ११५।

अनुमितसत्ताकः (बाह्यानुमेयवादियों आदि के लिये) जिसकी सत्ता अनुमित होती है। ऐसा वह। स्वव्यञ्जकाञ्जनः—स्वव्यञ्जकेन अञ्जनं व्यक्तीभवनं यस्य तादृशः,[1] अपने कारणभूत अवयवों अर्थात् भूतसूक्ष्मों (तन्मात्राओं) के रूप से अञ्जित या प्रकट होने वाला। प्रादुर्भवति—उत्पन्न होता है या अभिव्यक्त होता है। **'कारणाभेदेन च कारणाकारतोपपन्नेत्याह स्वव्यञ्जकाञ्जन इति[2]।'** धर्मान्तराणाम्—कपालादि अन्य धर्मों के। उदये—अभिव्यक्त होने पर। तिरोभवति—अव्यक्त हो जाता है। स एष धर्मः—वह यह तन्मात्राओं का धर्म अर्थात् घटादि पदार्थ। अवयवी इति उच्यते—अवयवी कहा जाता है। योऽसौ—वह जो कि। एकश्च—एकत्वबुद्धिनिष्ठ। महांश्च—और बड़ा। अणीयांश्च—और कभी (बड़े से) छोटा (अणु + इयसुन्)। स्पर्शवांश्च—इन्द्रियग्राह्य, स्पर्श किया जा सकने वाला। क्रियाधर्मकश्च—जलादिधारणरूप क्रिया का निर्वर्तक। अनित्यश्च—धर्मान्तर का उदय होने पर अव्यक्त हो जाने वाला **'आगमापायी च'** (भा० पृ० ११६) होता है, तेन अवयविना—उस 'अवयवी' कहे जाने वाले घटादि पदार्थ के द्वारा। व्यवहाराः क्रियन्ते—व्यवहार किये जाते हैं। सभी लौकिक-व्यापार सम्पन्न होते हैं।

अब बौद्धों के इस सिद्धान्त—अवयवों से भिन्न अवयवी नाम का कोई पदार्थ नहीं होता है—का खण्डन कर रहे हैं। यस्य पुनः—और जिसके (मत में)। सः—वह। प्रचयविशेषः—विशिष्ट तन्मात्रपुञ्ज। अवस्तुकः—तुच्छः सत्ताहीनः भवति। तस्य (मते)—उसके मत में। सूक्ष्मं च कारणम्—कारणभूत अत्यन्त छोटा तन्मात्र या परमाणु तो। अनुपलभ्यम्—उपलब्धि के अयोग्य अर्थात् अप्रत्यक्ष होती है। **'न प्रत्यक्षगोचरम्[3]।'** अतः। अवयव्यभावात्—अवयवी की सत्ता न स्वीकार करने के कारण (इस मत में) किसी भी पदार्थ का सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। अवयवी है ही नहीं और अवयव सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्षीकृत नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान मिथ्या ही होगा। पदार्थ का साक्षात्कार न होने से। अतद्रूपप्रतिष्ठम्—अर्थात् पदार्थ के रूप में अप्रतिष्ठित ही ज्ञान होगा। इति—इस कारण से। प्रायेण—प्रायः, बाहुल्येन। सर्वमेव—सारा ज्ञान ही। मिथ्याज्ञानमिति—मिथ्याज्ञान ही। प्राप्तम्—हुआ। तदा च—तब फिर। सम्यग्ज्ञानमपि—सम्यग्ज्ञान या यथार्थ ज्ञान भी। किं स्यात्—क्या होगा ? विषयाभावाद् ज्ञानविषयस्य अनुपलभ्यमानत्वात् ज्ञान का विषय कुछ न होने के कारण। वस्तुतः। यद्-यद्—जो-जो। उपलभ्यते–उपलब्ध होता है, प्रत्यक्ष होता है। तत्तद्—

---

१. 'स्वव्यञ्जककारणकलापेन व्यक्तः'—टि० पृ० १२५।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ११५।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ११७।

वह-वह अवयवित्वेन—अवयवी भाव से। आघ्रातम्—सूँघा हुआ, 'अवयवित्व' के स्पर्श से स्पृष्ट ही होता है अर्थात् उसमें अवयवीपना अवश्य होता है। (क्योंकि दिखाई वही चीज पड़ सकती है, जो महत्परिमाण वाली हो। अणुपरिमाण की चीज तो अनुपलब्ध ही रहेगी)। तस्माद्—इसलिये। अस्ति—अवश्य होता है। अवयवी—अवयवी (अवयवों से अतिरिक्त 'अवयवी' नामक पदार्थ)। यः—जो। महत्त्वादि-व्यवहारापन्नः—'बड़ा और छोटा' इस प्रकार के व्यवहार का विषय होता है। और जो। निर्वितर्कासमापत्तेः—निर्वितर्का 'समापत्ति' का। विषयो भवति—ध्येयविषय, या आलम्बन बनता है ॥ ४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

इसी के द्वारा सूक्ष्मविषय वाली सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ भी व्याख्यात हो गयीं ॥ ४४ ॥

तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते। या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवंस्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्ममेतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति। प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते। तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च। एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति ॥ ४४ ॥

उनमें से अभिव्यक्त हुए धर्मों वाले तथा देश, काल और निमित्त के ज्ञान से विशिष्ट भूतसूक्ष्मों में जो समापत्ति होती है, वह 'सविचारा' कही जाती है। वहाँ पर भी (सवितर्का समापत्ति की भाँति) एक-बुद्धि से ही गृहीत होनेवाले, वर्तमान-काल के धर्मों से युक्त, तथा आलम्बनीभूत भूतों के सूक्ष्मतत्त्व (अर्थात् परमाणु, तन्मात्र, इन्द्रियाँ और अस्मिता) समाधि में उपारूढ होते हैं। और जो समापत्ति, सब प्रकार से तथा सब ओर से भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालिक धर्मों से रहित, किन्तु सभी धर्मों का आश्रय बनने (की योग्यता) वाले अर्थात् सभी धर्मों के आधारभूत भूतसूक्ष्मों में होती है, वह 'निर्विचारा' कही जाती है। इस प्रकार का (देश-कालनिमित्तानुभव से रहित) वह भूतसूक्ष्म इसी रूप से (समाधि का) आलम्बन बनकर ही समाधि-प्रज्ञा के स्वरूप को उपरक्त करता है। और (यह) प्रज्ञा जब स्वरूप रहित-सी होकर केवल आलम्बनविषयाकार रहती है, तब 'निर्विचारा समा-

पत्ति' कही जाती है। उनमें से स्थूलविषयक समापत्तियाँ 'सवितर्का' और 'निर्वितर्का' तथा सूक्ष्मवस्तुविषयक समापत्तियाँ 'सविचारा' और 'निर्विचारा' होती हैं। इस प्रकार से निर्वितर्का और निर्विचारा—इन दोनों में विकल्पराहित्य इस निर्वितर्का-समापत्ति के द्वारा प्रतिपादित किया गया है ॥ ४४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस प्रकार से स्थूल विषयवाली सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति का वर्णन करके सूक्ष्म विषयवाली सविचारा और निर्विचारा—इन दो समापत्तियों का व्याख्यान सूत्रकार करते हैं। एतयैव—सवितर्का एवं निर्वितर्का नामक दो भेदों वाली इसी स्थूलविषयक समापत्ति के द्वारा[1]। सविचारा निर्विचारा च—'सविचारा' और निर्विचारा' नामक दो भेदों वाली। सूक्ष्मविषया—सूक्ष्म आलम्बन वाली समापत्ति। च—अपि, भी। व्याख्याता—व्याख्यात या विवेचित हो गयी। स्थूल ध्येय-विषय में शब्दसंकेतादि का मिश्रण तथा अमिश्रण जैसे सवितर्का और निर्वितर्का का भेदक होता है, वैसे ही सूक्ष्म ध्येयविषय में देशादि के अनुभव का मिश्रण या अमिश्रण सविचारा और निर्विचारा का भेदक होता है ॥ ४४ ॥

(भा० सि०)—तत्र भूतसूक्ष्मेषु अभिव्यक्तधर्मकेषु—अभिव्यक्त हुए घटादि धर्मवाले अर्थात् साक्षात् योगजप्रत्यक्ष का विषय बनने वाले। **'साक्षाद् गृह्यमाणेषु न चागमानुमानविषयेषु'**[2]। **'अभिव्यक्तो घटादिधर्मो यैस्ते तथोक्ताः घटादिधर्मोपगृहीता इति यावत्'**[3]। भूतसूक्ष्मों अर्थात् तन्मात्रादिकों (प्रकृतिपर्यन्त) में। देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु—उपर्यधः पार्श्वादिदेशवर्तमानकालपुरुषार्थविशेषरूपनिमित्तानाम्[4] अनुभवो बोधः तेन अवच्छिन्नेषु युक्तेषु, परिगृहीतेषु (तन्मात्रादिषु)। या समापत्तिः सा सविचारा इति उच्यते—देश, काल और निमित्त के अनुभवों से परिच्छिन्न, इन तन्मात्रादि भूतसूक्ष्मों में जो समापत्ति होती है, वह सविचारा कही जाती है। सविचारा और निर्विचारा के अन्दर 'विचार' शब्द का अर्थ 'सूक्ष्मविषयक आभोग' ही है। **'वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः सूक्ष्मो विचारः'**[5]। तत्रापि—इस सविचारा समापत्ति में भी (सवितर्का की भाँति ही)। 'अपि' शब्द के द्वारा सवितर्का समापत्ति की समानता का बोध कराया गया है। एकबुद्धिनिर्ग्राह्यम्—यह एक ही पदार्थ

---

१. 'एतया सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयकसमापत्त्या'—यो० वा० पृ० ११९।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ११९।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ११९।

४. 'निमित्तं परिणामप्रयोजकः पुरुषार्थविशेष इति।'—यो० वा० पृ० ११९।

५. द्रष्टव्य; भा० पृ० ५२।

है, अनेक नहीं--इस प्रकार की एकत्व की बुद्धि से गृहीत होनेवाला। **'एकमिदमनुभूयमानं रूपतन्मात्रम् इत्यादिरूपम्'**[1]।

अभिप्राय यह है कि तन्मात्राएँ भी अनेक लक्षण वाली होती हैं, जैसे—शब्द-तन्मात्रा में एक लक्षण होता है 'शब्दमात्र'। स्पर्शतन्मात्रा में दो लक्षण होते हैं 'शब्द' और 'स्पर्श'। वैसे ही रूपतन्मात्रा में तीन लक्षण होते हैं 'शब्द', 'स्पर्श' और 'रूप'। वैसे ही अगली तन्मात्राएँ भी क्रमशः चार और पाँच लक्षणों वाली होती हैं। फिर भी अनेक लक्षण वाली होने पर भी उनका बोध समापत्तिकाल में 'एक' ही पदार्थ के रूप में किया जाता है। यहाँ पर भी अवयवों पर दृष्टि न ले जाकर अवयवीरूप से ही पदार्थों का ग्रहण होता है। **'पूर्णवदेवात्राप्यवयवातिरिक्तस्तन्मात्रादिरूपोऽवयवी समापत्तेर्विषय इति**[2]। उदितधर्मविशिष्टम्–अपने वर्तमान काल में अभिव्यक्तधर्म तन्मात्रत्वादि से विशिष्ट। आलम्बनीभूतम्–समापत्ति का आलम्बन बना हुआ। भूतसूक्ष्मम्–तन्मात्रादि (भूतों का कारणरूप) विषय। समाधिप्रज्ञायाम्—समाधिकालिकी बुद्धि में। उपतिष्ठते—आरूढ़ होता है। **'आरूढो भवति'** (यो० वा०)। या पुनः—और फिर जो। सर्वथा—सब प्रकार से। सर्वतः—सब ओर से। शान्तोदिताव्यपदेश्य-धर्माः—भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालिक देश एवं निमित्तादिप्रकारक सकलधर्मों से अनवच्छिन्न, अमिश्रित, अपरिगृहीत या अस्पृष्ट। एवम्। सर्वधर्मानुपातिषु—सभी कार्यरूप धर्मों में अनुगत होनेवाले। अर्थात्। सर्वधर्मात्मकेषु—सभी धर्मों के कारण-रूप 'तन्मात्रादि' भूतसूक्ष्मों में। समापत्तिः—समापत्ति होती है। सा—वह। निर्विचारेत्युच्यते—निर्विचारा कही जाती है। एवंस्वरूपं हि तत् भूतसूक्ष्मम्—इस रूप वाला वह तन्मात्रादि भूतसूक्ष्म। गतेनैव स्वरूपेण--केवल इसी स्वरूप से। आलम्बनीभूतमेव—आलम्बन बना हुआ ही। समाधिप्रज्ञास्वरूपम्—समाधिकाल की प्रज्ञा के रूप को। उपरञ्जयति—उपरञ्जित करता है, उपरक्त करता है, एतदाकाराकारित करता है। जिससे यह। प्रज्ञा—समाधिप्रज्ञा। स्वरूपशून्या इव—अपने रूप का भान न करती हुई-सी। अर्थमात्रा—उस ध्येयार्थ के रूप की ही। यदा भवति—जब हो जाती है। तदा—उस समय। निर्विचारा इत्युच्यते--निर्विचारासमापत्ति कही जाती है। तत्र—इन चार प्रकार की समापत्तियों में से। सवितर्का निर्वितका च—सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियाँ। महावस्तुविषया—स्थूलविषयिणी। सविचारा निर्विचारा च—सविचारा-निर्विचारा समापत्तियाँ। सूक्ष्मविषया—सूक्ष्मविषयिणी होती हैं। इस सूक्ष्मता का क्षेत्र कितना है? किन-किन विषयों वाली समापत्तियाँ सूक्ष्मविषया कही जायेंगी? अर्थात् सविचारा और निर्विचारा का क्षेत्र कितना है?

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १२०।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ११९।

यह अगले सूत्रभाष्य में स्पष्ट होगा। एवम्—इस प्रकार से। एतया एव—इस निर्वितर्का समापत्ति से ही। उभयोः—निर्वितर्का और निर्विचारा समापत्तियों की। विकल्पहानिः—विकल्पशून्यता, नानाविध विकल्पों से रहित होना, अमिश्रितता। व्याख्याता इति—बतायी गयी। **'यथोक्तविकल्पराहित्यमप्युभयोः सविचारनिर्विचारयोरेतयैव पूर्वोक्तयैव निर्वितर्कया यथोक्तविकल्पशून्यया सूत्रकारेण व्याख्यातप्रायेत्यर्थः**[1]**।'** ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चाऽऽलिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

और सूक्ष्मविषयता अव्यक्तपर्यन्त होती है ॥ ४५ ॥

पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। आप्यस्य रसतन्मात्रम्। तैजसस्य रूपतन्मात्रम्। वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्। आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहङ्कारः। अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः। न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति ? सत्यम्। यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य। किन्तु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

पार्थिव परमाणु का सूक्ष्मविषय 'गन्धतन्मात्र' है। जलीय परमाणु का सूक्ष्मविषय 'रसतन्मात्र' है। वायवीय परमाणु का सूक्ष्मविषय 'स्पर्शतन्मात्र' है। आकाश का सूक्ष्मविषय 'शब्दतन्मात्र' है। उन (सब तन्मात्राओं) का सूक्ष्मविषय 'अहङ्कार' है। इस (अहङ्कार) का भी सूक्ष्मविषय 'महत्तत्त्व' है। इस महत्तत्त्व का सूक्ष्मविषय 'अव्यक्त प्रकृति' है। इस अव्यक्त से सूक्ष्म कुछ नहीं है। (इस पर) शङ्का होती है कि अरे 'पुरुषतत्त्व' तो (इससे) सूक्ष्म है ? (यह शङ्का तो) ठीक है। किन्तु जिस प्रकार की सूक्ष्मता महत्तत्त्व से परे अव्यक्ततत्त्व की है, वैसी सूक्ष्मता (व्यक्त या अव्यक्त की तुलना में) 'पुरुष' की नहीं है। क्योंकि 'पुरुष' महत्तत्त्व का उपादानकारण नहीं है, बल्कि निमित्तकारण है। इसलिये 'अव्यक्त' में सूक्ष्मता की पराकाष्ठा प्रतिपादित की गयी है ॥ ४५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ये सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ 'सूक्ष्मविषयक' होती है, ऐसा पहले सूत्र में कहा गया है। अब यह बताया जा रहा है कि इस सूक्ष्मता का परिवेष या क्षेत्र ? कितना है। अर्थात् कौन-कौन से तत्त्व सूक्ष्म माने जाते हैं ? जिनमें होने वाली समापत्ति सविचारा या निर्विचारा कही जायेगी। **'तत्र सूक्ष्मो विषयः**

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२९।

किम्पर्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाह'[1] । इस सूक्ष्मता को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–सूक्ष्म-विषयत्वम्—सूक्ष्मो विषयो ययोर्द्वयोः (सविचारानिर्विचारयो समापत्त्योः) ते सूक्ष्म-विषये, तयोर्भावः 'सूक्ष्मविषयत्वम्'—अर्थात् सविचारनिर्विचारसमापत्तियों की यह (उक्त) सूक्ष्मविषयता। अलिङ्गपर्यवसानम्—अलिङ्गं प्रकृतितत्त्वम् अवसानम् अन्तः पर्यन्तः यस्य तत् (सूक्ष्मविषयत्वम् का विशेषणपद) अलिङ्गपर्यवसानं प्रकृति-पर्यन्तम् अस्तीति शेषः अर्थात् प्रकृतितत्त्व तक व्याप्त है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'तन्मात्राओं' (या परमाणुओं) से लेकर 'प्रकृति' तक होने वाली सारी समापत्तियाँ 'सविचारा' या 'निर्विचारा' ही होंगी, क्योंकि ये समापत्तियाँ सूक्ष्मविषय वाली हैं और सूक्ष्मविषयता प्रकृतितत्त्वपर्यन्त प्रसृत है। **'सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्य-त्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यवसानं न क्वचिल्लीयते न वा किञ्चिल्लिङ्गति गमयती-त्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम्'**[2] ॥ ४५ ॥

(**भा० सि०**)—भाष्यकार इस सूक्ष्मता का क्रमपूर्वक उपन्यास करते हैं—पार्थि-वस्य अणोः—पृथ्वीपरमाणुओं की अपेक्षा। सूक्ष्मो विषयः—सूक्ष्म विषय। गन्ध-तन्मात्रम्—गन्धतन्मात्रा है। आप्यस्य—जलीय परमाणुओंकी अपेक्षा सूक्ष्मविषय। रूप-तन्मात्रम्—रूपतन्मात्रा है। वायवीयस्य—वायु के परमाणुओं की अपेक्षा सूक्ष्मविषय। स्पर्शतन्मात्रम्—स्पर्शतन्मात्रा है। आकाशस्य—आकाश की अपेक्षा सूक्ष्मविषय। शब्दतन्मात्रम्—शब्दतन्मात्रा है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि भाष्यकार ने और चार भौतिक परमाणु तो स्वीकार किये हैं, किन्तु आकाशीय परमाणु की सत्ता नहीं मानी, इसलिये पार्थिवस्य, आप्यस्य, तैजसस्य, वायवीयस्य—के वजन पर 'आकाशीयस्य' न कहकर 'आकाशस्य' ही कहा है। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने फिर भी 'पञ्चविधा अणवः' और 'आकाशाणोः' इत्यादि बातें कैसे कही हैं? वैसे तो परमाणुओं की सत्ता का स्वीकार भी सांख्य-योग को कदाचित् अभीष्ट नहीं है। फिर भी भाष्यकार ने वैशेषिक परम्परा को अन्तर्भावित करने की दृष्टि से अथवा **परमाणु-परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः'**—इस पातञ्जलसूत्र १।४०। की हरी झंडी पाकर पर-माणुओं को योग में प्रवेश दे दिया है। भास्वतीकार ने, यह समस्या स्पष्ट न होने के कारण **'परमाणुस्तन्मात्रम्'** (भा० पृ० ११६) समझने की भी भ्रान्ति की है। जब कि वास्तविकता यह है कि परमाणु की कल्पना न तो सांख्यशास्त्र को और न पतञ्जलि को ही अभीष्ट थी। उस सूत्र में 'परमाणु' शब्द का स्पष्ट एवं एकमात्र अर्थ परम अणु (अर्थात् सूक्ष्मतम) परिमाणवाला पदार्थ है। फिर भी यदि भाष्य-कार के आधार पर योगशास्त्र में परमाणु स्वीकार किये ही जायें तो चतुर्विध पर-

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२१।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २५।

माणु ही स्वीकृत किये जा सकते हैं । आकाश का परमाणु भाष्य में स्वीकृत नहीं हुआ ।

एक बात और ध्यातव्य है । वह यह कि यहाँ पर जो 'गन्धतन्मात्र' इत्यादि शब्द कहे गये हैं, वे प्राधान्य की विवक्षा से ही कथित हैं । वस्तुतः 'गन्धतन्मात्र' पञ्चलक्षण, 'रसतन्मात्र' चतुर्लक्षण, 'रूपतन्मात्र' त्रिलक्षण, 'स्पर्शतन्मात्र' द्विलक्षण और 'शब्दतन्मात्र' एकलक्षण पदार्थ हैं । **'यद्यपि पार्थिवाणुः विशिष्टगन्धतन्मात्रारब्धस्तथापि गन्धतन्मात्रस्य प्राधान्यात् तदेवं पार्थिवाणोः सूक्ष्मत्वमुक्तम्**[1] ।' तेषाम्—तन्मात्राणाम् । अपेक्षया—तन्मात्राओं की अपेक्षा । अहङ्कारः—अस्मिता सूक्ष्मविषय है । अस्यापि—इस अहङ्कार की भी अपेक्षा । लिङ्गमात्रम्—महत्तत्त्व सूक्ष्मविषय है । **'लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तद्धि लयं गच्छति इति'**[2] । लिङ्गमात्रस्यापि–महत्तत्त्व की भी अपेक्षा । सूक्ष्मो विषयः—सूक्ष्म विषय । अलिङ्गम्—प्रधानतत्त्व या प्रकृतितत्त्व है । **'तद्धि न क्वचिल्लयं गच्छतीत्यर्थः'**[3] । तद्धि न किञ्चित् गमयति प्रकटयति अव्यक्तत्वाद् इति व्युत्पत्त्या अलिङ्गम् । अलिङ्गात् परम्—और इस प्रकृतितत्त्व से आगे । सूक्ष्मं न च अस्ति—कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं होता । इस बात पर शङ्का उठायी जाती है । ननु—किम् । अस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति—प्रकृति या बुद्धि से तो पुरुषतत्त्व अधिक सूक्ष्म है ? सत्यम्—ठीक है । पुरुषतत्त्व है तो बहुत सूक्ष्म, किन्तु । यथा—जिस प्रकार से या जिस रूप में । लिङ्गात् परम्—महत्तत्त्व की अपेक्षा में बढ़कर । अलिङ्गस्य—प्रकृतितत्त्व की । सोक्ष्म्यम्—सूक्ष्मता होती है । एवम्—उस प्रकार से । पुरुषस्य च न—पुरुष की सूक्ष्मता (प्रकृति या बुद्धि की अपेक्षा से) नहीं होती । किन्तु—यतो हि, क्योंकि । पुरुषः—पुरुष । लिङ्गस्य—महत्तत्त्व का । अन्वयिकारणम्—समवायि या उपादान कारण । न भवति—नहीं है । हेतुस्तु—निमित्तकारण भले ही । भवति—होता है । इति—इसलिये । निमित्तकारण में कार्य से सूक्ष्मता नहीं मानी जाती । उपादानकारण ही कार्य से सूक्ष्म माना जाता है । अतः—इसलिये । प्रधाने–प्रकृतितत्त्व में । सौक्ष्म्यम्—सूक्ष्मता । निरतिशयम्—पराकाष्ठा को प्राप्त । व्याख्यातम्—बतायी गयी है ॥ ४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

वे ही (चार समापत्तियाँ) सबीज समाधियाँ हैं ॥ ४६ ॥

ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति स चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२२ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १२२ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १२२ ।

वे चारों समापत्तियाँ (ध्येयत्वेन बाह्य प्रतीत होने वाले) बाह्यवस्तुरूपी आलम्बन वाली होती हैं। इसलिये (तात्कालिक 'सम्प्रज्ञात' नामक) समाधि भी सबीज अर्थात् सालम्बन कही जाती है। आलम्बन के 'स्थूल' रहने पर वितर्कसहित और वितर्करहित तथा 'सूक्ष्म' आलम्बन में विचारसहित और विचार-रहित—इन चार भेदों में सम्प्रज्ञात समाधि परिगणित हो गयी ॥ ४६ ॥

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—'ता एव सबीजः समाधिः'। ताः—सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा एवं निर्विचारा—ये चारों समापत्तियाँ। एवं—ही। सबीजः—**'सह बीजेन आलम्बनेन वर्तत इति सबीजः सम्प्रज्ञातः समाधिः'**[1]। समाधिः—सालम्बन समाधियाँ अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधि हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सबीज समाधि या सम्प्रज्ञात-समाधि इन्हीं चार समापत्तियों में ही समाप्तविषय हो जाती है। इन समापत्तियों के अतिरिक्त सबीज समाधि नहीं होती है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि निर्बीज समाधि में कोई समापत्ति नहीं होती है। साथ ही यह भी निश्चित हुआ कि समापत्तियाँ भी केवल ये ही 'चार' होती हैं। कोई 'पाँचवीं' समापत्ति—जैसा कि विज्ञानभिक्षु मानते हैं, या फिर 'आठ' समापत्तियाँ, जैसा कि वाचस्पति मिश्र मानते हैं—नहीं होतीं। इस प्रकार से यह सूत्र समापत्ति की संख्या का भी निर्णायक है ॥ ४६ ॥

(**भा० सि०**)—ताः—वे। चतस्रः समापत्तयः—चारों समापत्तियाँ। बहिर्वस्तुबीजाः—बाह्यवस्तु रूपी आलम्बन वाली होती हैं। इति—इसलिये। समाधिरपि—समापत्तियों के समय में होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि भी। सबीजः—सालम्बन कही जाती है। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि समाधि तो वस्तुतः चित्तवृत्तियों का निरोधमात्र है। उसको सबीज कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान कर रहे हैं कि यद्यपि सम्प्रज्ञातसमाधि में राजस और तामस वृत्तियों का निरोधमात्र होता है। इसमें सात्त्विक वृत्ति का उदित होना या चित्त का एकाग्र होना समाधि का निजी लक्षण नहीं है, बल्कि राजसतामस वृत्तियों के निरोध का फलमात्र है। सम्प्रज्ञात समाधि का 'समाधित्व' राजस और तामसवृत्तियों के निरोध के कारण है, सात्त्विक वृत्ति का उदय होने के कारण नहीं। उस समय सात्त्विक वृत्ति का पूर्णोदय या चित्त की निश्चल एकाग्रता या ध्येयवस्तु का सम्प्रज्ञान होना और राजस-तामस चित्तवृत्तियों के निरोध का फल है। इसलिये ध्येयवस्तु का पूर्ण ज्ञान होना या उसमें चित्त का समापन्न होना, अर्थात् चित्त की समापत्ति और राजसतामसवृत्तिनिरोध 'सम्प्र-

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २५।

ज्ञातसमाधि' का फल है। उसका स्वरूप नहीं। दोनों का स्वरूप भिन्न है। दोनों का प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न है। और दोनों का वैयधिकरण्य भी है। 'समाधि' साधक को लगती है और 'समापत्ति' चित्त को होती है। इसलिये चित्तवृत्ति-निरोध रूप 'समाधि' वस्तुतः सबीज नहीं होती, प्रत्युत समापत्तियाँ सबीज होती हैं। बहिर्वस्तु-विषय होने के कारण फिर **'समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वाद्योगस्य समापत्तित्वमुक्तम्'**[1] कार्यकारणभाव के कारण या साधनसाध्यभाव के कारण समाधि और समापत्तियों में अभेदोपचार किया जाता है। इसीलिये समापत्तियों के सबीज या सालम्बन होने के कारण सम्प्रज्ञात समाधियाँ भी सबीज कही जाती हैं। यही अभेदोपचार इस सूत्र में समापत्तियों और सम्प्रज्ञातसमाधियों के बीच प्रदर्शित किया गया है कि चतुर्विध समापत्तियाँ ही सबीजसमाधि या सम्प्रज्ञातसमाधि हैं। समाधिः—१. वितर्कानुगत, ९. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत और ४. अस्मितानुगत। चतुर्धा–चारों समापत्तियों में ही। उपसंख्यातः—परिगणित (Covered) हो जाती हैं। अर्थात् इन चारों समापत्तियों के द्वारा ही सम्प्रज्ञातसमाधि का क्षेत्र अनुगत कर लिया जाता है। किन चारों समापत्तियों के द्वारा ? इसको बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि स्थलेऽर्थे—स्थूल आलम्बन में। सवितर्कः निर्वितर्कः—सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियों वाली समाधि रहती है और। सूक्ष्मेऽर्थे—सूक्ष्म आलम्बन में। सविचारो निर्विचारः–सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों वाली समाधि रहती हैं। इस प्रकार से पूरी सबीज या सम्प्रज्ञातसमाधि इन चार प्रकार की समापत्तियों से उपसंख्यात या अनुगत हो जाती है। फलितार्थ यह हुआ कि—

१. वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि में—सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति।
(स्थूलालम्बनविषयक)।

२. विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि में—सविचारा और निर्विचारा समापत्ति।
(सूक्ष्मालम्बनविषयक)।

३. आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि में—सविचारा और निर्विचारा समापत्ति।
(सूक्ष्मालम्बनविषयक)।

४. अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि में—सविचारा और निर्विचारा समापत्ति।
(सूक्ष्मालम्बनविषयक)।

समापत्तियों की सविचारा, निर्विचारा, सवितर्का और निर्वितर्का संज्ञाएँ समापत्ति के विषय की सूक्ष्मता और स्थूलता के आधार पर है। और उन विषयों की ग्राह्यरूपता, ग्रहणरूपता और ग्रहीतृरूपता के अनुसार उनका विभाजन—१. ग्राह्य-विषया, २. ग्रहणविषया और ३. ग्रहीतृविषया—नाम से १।४१वें सूत्र में किया गया

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२४।

समापत्ति के है । अब देखना है कि सवितर्कादि भेदचतुष्टय में तीनों प्रकार की समापत्तियाँ किस प्रकार उपसंख्यात होती हैं ?

१. **ग्राह्यविषयासमापत्ति**—स्थूल और सूक्ष्म दोनों होने के कारण इसमें चारों प्रकार की (सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा) समापत्तियाँ होती हैं ।

२. **ग्रहणविषयासमापत्ति**—इसमें सूक्ष्मविषयता के कारण सविचारा और निर्विचारा की ही स्थिति होती है ।

३. **ग्रहीतृविषयासमापत्ति**—इसमें भी सूक्ष्मार्थता के कारण सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ ही होती हैं ।

समापत्तियों और समाधियों के औपचारिक अभेद तथा समापत्तियों के भेदों की संख्या के सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र के मत आश्चर्यजनक रूप से सूत्रभाष्यस्वारस्य-विरोधी हैं[1] । विज्ञानभिक्षु को अभीष्ट समापत्ति की संख्या का पञ्चकत्व भी तर्कहीन होने के कारण खण्डनीय है[2] । वस्तुतः केवल ये ही चार समापत्तियाँ हैं, जो सम्प्रज्ञातसमाधि के पूरे क्षेत्र का उपसंख्यान करती हैं । ये समापत्तियाँ सम्प्रज्ञात समाधि का फल हैं, इसलिए इसके साथ इनका अभेदोपचार होता है—यही इस सूत्र का प्रतिपाद्य है ॥ ४६ ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारा समापत्ति के निर्मल हो जाने पर (योगी को) आध्यात्मिक प्रसाद (प्राप्त) होता है ॥ ४७ ॥

अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४७ ॥

रजस् और तमस् की राशिरूपी अशुद्धि ही आवरणकारक मल है । उससे रहित, प्रकाशस्वभाव वाले बुद्धिसत्त्व की रजस्तमःसम्पर्करहित निर्मल (प्रतिबिम्बग्राहिणी) एकाग्रता धारा ही वैशारद्य है । जब निर्विचारा (समापत्ति वाली) समाधि से यह

---

१. 'तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयो ग्रहीतृग्रहणयोश्च चतस्र इत्यष्टौ ते भवन्तीति निगदव्याख्यातं भाष्यम् ।'—त० वै० पृ० १२४ ।

२. 'तस्मादवान्तरभेदेन पञ्चैव समापत्तयः—ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काद्याश्चतस्रः पञ्चमी च ग्रहीतृष्विति ।'—यो० वा० पृ० १२५ ।

(वैशारद्य) उत्पन्न होता है, तब योगी को (अद्भुत) बौद्धिक उत्कर्ष अर्थात् यथार्थविषयक, युगपत्सर्वार्थग्राही, स्पष्ट प्रज्ञाप्रकाश होता है। वैसे ही कहा भी गया है—प्रज्ञा के प्रकाश पर आरूढ़ होकर शोकहीन विद्वान् (योगी) शोक करते हुए सभी प्राणियों को, भूमि पर रहने वालों को पर्वत पर स्थित प्राणी की भाँति देखता है ॥ ४७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—निर्विचारस्य—निर्विचारा समापत्ति के। वैशारद्ये—नैर्मल्ये, निर्मल हो जाने पर। आत्मनीति अध्यात्मम्, अध्यात्मस्य प्रसादः इति अध्यात्मप्रसादः—चित्त का प्रसाद या चित्त की उत्कृष्टता या स्फुटप्रज्ञा का प्रकाश होता है। **'एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत्स्थितौ दार्ढ्यम्'[1]।' 'अध्यात्मं करणं बुद्धिरित्यर्थः, तस्य प्रसादः परमनैर्मल्यम्'[2]** ॥ ४७ ॥

(भा० सि०)—अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य—रजस्तमस् गुणों की राशि रूपी अशुद्धि। **'रजस्तमसोरुपचयोऽशुद्धिः सैवावरणलक्षणो मलस्तस्मादपेतस्य[3]।'** अशुद्धिरूपी यही आवरण ही दोष या मल है। इससे रहित। प्रकाशात्मनः—प्रकाशः एवात्मा रूपं यस्य तस्य प्रकाशात्मनः प्रकाशस्वरूपस्य बुद्धिसत्त्वस्य, सत्त्वमयी बुद्धि का। रजस्तमोभ्यामनभिभूतः—रजोगुण एवं तमोगुण से अप्रभावित या न दबने वाला। स्वच्छः—निर्मल। स्थितिप्रवाहः—लगातार स्थित रहना, एकाग्रता की धारा, एकाग्र बने रहना ही। वैशारद्यम्—विशारदता या नैर्मल्य है। यदा—जब। निर्विचारसमाधेः—निर्विचारा समापत्तिवाली सम्प्रज्ञातसमाधि का। निर्विचारसमाधि नाम की कोई समाधि योगसूत्र में नहीं बतायी गयी है। वस्तुतः 'निर्विचार' पद समापत्ति का विशेषण है, समाधि का नहीं। इसलिये भाष्यकार के इस प्रयोग की संगति इस प्रकार लगायी जानी चाहिये कि निर्विचारासमापत्ति वाली सम्प्रज्ञातसमाधि का। इदं वैशारद्यम्—इस रूप का नैर्मल्य अर्थात् इस प्रकार की एकाग्रता धारा। जायते–होती है। यह स्थिति उत्कृष्टतम निर्विचारा समापत्ति का ही परिणाम है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में होने वाली निर्विचारा समापत्ति का वैशारद्य ही यहाँ अभिप्रेत है। उससे पहले की निर्विचारा समापत्तियों में यह स्थिति नहीं आ पाती। तदा—तब। योगिनः—योगी को। अध्यात्मप्रसादः—चित्तप्रसाद या चित्तनैर्मल्य अर्थात् प्रज्ञा (अद्भुत) प्रकाश। वह कैसा होता है? भूतार्थविषयः—यथार्थविषयक, (कल्पित विषय वाला नहीं)। क्रमाननुरोधी—क्रम का अनुसरण न करने वाला। **'युगपदि-**

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २६।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० १२६।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १२५।

त्यर्थः'[1] । **'युगपत्सर्वार्थग्राही'**[2] । स्फुटप्रज्ञायाः—स्पष्टं प्रकटीभूतायाः प्रज्ञाया न अनभिव्यक्तायाः प्रज्ञायाः, पूर्ण रूप से अभिव्यक्त बुद्धि का । आलोकः—प्रकाश । अध्यात्मप्रसाद—पद की व्याख्या भाष्यकार ने 'भूतार्थादि' और 'आलोकान्त' पदों से की है । **'आत्मनि बुद्धौ वर्तते इति अध्यात्मं तादृशः प्रसादः अध्यात्म-प्रसादः'**[3] । तथा चोक्तम्—और वैसे ही कहा भी गया है । प्रज्ञाप्रसादम्—प्रज्ञायाः प्रसादः इति प्रज्ञाप्रसादः, तम् अध्यात्मप्रसादम्, इस चित्तनैर्मल्य को । आरुह्य—चढ़कर, प्राप्त करके । अशोच्यः—(भूत्वा) स्वयं शोकादि से रहित होकर । शोचतः—शोक करने वाले । जनान्—लोगों को । भूमिष्ठान् सर्वान्—पृथ्वी पर स्थित सभी प्राणियों को । शैलस्थः इव—स्वयं पर्वत पर स्थित की भाँति । अनुपश्यति—देखता है । उसके शोकरहित होने के सम्बन्ध में 'तरति शोकमात्मविद्' आदि श्रुतियाँ हैं ।। ४७ ।।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।। ४८ ।।

उस स्थिति में ऋतम्भरा प्रज्ञा (उत्पन्न) होती है ।। ४८ ।।

तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति । न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोप्यस्तीति । तथा चोक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।। इति ।। ४८ ।।

समाहित चित्त वाले योगी को उस (वैशारद्य) काल में जो (विशिष्ट) प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम 'ऋतम्भरा' है । वह अन्वर्थनामा होती है । वह सत्य को ही धारण करती है । उसमें मिथ्याज्ञान का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं होता । और यह कहा भी गया है—

आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यास का आनन्द—इन तीन रीतियों से प्रज्ञा को साधते हुए उत्तमयोग को (योगी) प्राप्त करता है ।। ४८ ।।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तत्र—तस्मिन् अध्यात्मप्रसादे सति, उस अध्यात्मप्रसाद के उदित होने पर । ऋतम्भरा प्रज्ञा—'ऋतम्भरा' नाम की प्रज्ञा होती है । ऋतं सत्यं बिभर्ति इति, ऋत + √भृञ् + खच् + टाप् = ऋतम्भरा, अर्थात् सत्यज्ञान को धारण करने वाली प्रज्ञा होती है । इस प्रकार की प्रज्ञा का नाम ऋतम्भरा है ।। ४८ ।।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १२५ ।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२५ ।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२५ ।

(भा० सि०) —तस्मिन्—उस निर्विचारासमापत्ति की उत्कृष्ट निर्मलता की स्थिति में समाहितचित्तस्य—एकाग्र चित्त वाले योगी को। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि में निर्विचारासमापत्ति का पूर्ण लाभ कर लेने वाले योगी को। या प्रज्ञा—जो बुद्धि। जायते—उत्पन्न होती है। तस्याः—उसका। ऋतम्भरा इति संज्ञा भवति—'ऋतम्भरा' नाम होता है। सा च (संज्ञा)—और यह नाम। अन्वर्था—बहुत सार्थक है। क्योंकि वह सत्यमेव—सत्य अर्थात् ऋत को ही। बिभर्ति—धारण करती है। तत्र—इस प्रज्ञा में। विपर्यासस्य गन्ध इति विपर्यासगन्धः—मिथ्या ज्ञान या विपरीत ज्ञान की गन्ध या लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं रहता। 'समाधि से बुद्धि-प्रकर्ष की प्राप्ति होती है'—इस विषय में कहा भी गया है। आगमेन—श्रवण के द्वारा। अनुमानेन—अनुमान या मनन के द्वारा। ध्यानाभ्यासरसेन च—और ध्यानाभ्यास अर्थात् निदिध्यासन की रीति से या अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि के द्वारा इन। त्रिधा—तीनों प्रकारों या रीतियों से। प्रज्ञाम्—बुद्धि को। प्रकल्पयन्—प्रकल्पित या प्रकृष्ट करते हुए, शोधित करते हुए या शोधित करके, (**साधयन्**–भा० पृ० १२७)। उत्तमं योगम्—(क्रमशः परवैराग्य द्वारा) सर्वोत्कृष्ट योग अर्थात् 'असम्प्रज्ञात' योग को। लभते—प्राप्त करता है, सिद्ध कर लेता है। **'तथा च श्रवणमनननिदिध्यासनैस्त्रिभिर्हेतुभिः सबीजयोगकाले प्रज्ञां प्रकल्पयन् प्रकर्षेण विपर्यासराहित्येनोत्पादयन् तत्प्रज्ञातः परवैराग्यद्वारा वक्ष्यमाणमुत्तमयोगं निर्बीजं लभत इति श्लोकार्थः'**[1] ॥४८॥

सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

और वह (प्रज्ञा), (पदार्थों के) विशेषार्थ के विषय की होने के कारण आगम और अनुमान ज्ञान से भिन्न विषय वाली होती है ॥ ४९ ॥

श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम्। न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्। कस्मात्? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति। तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव। यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्र न प्राप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम्। अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः। तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति। न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति। न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति। भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४९ ॥

श्रुत है आगमप्रमाणजन्य ज्ञान, वह (पदार्थों के) सामान्य (स्वरूप) विषयक होता है। क्योंकि आगम के द्वारा (पदार्थों) का विशेष (स्वरूप) नहीं कहा जा

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १२७।

सकता। किस कारण से ? इसलिये कि शब्दों का संकेत (पदार्थों के) विशेष में नहीं होता। वैसे ही अनुमान भी (पदार्थों के) सामान्य (स्वरूप) विषयक ही होता है। (जैसे) जिसमें पहुँचने की सामर्थ्य होती है, उसमें गति होती है (और) जिसमें पहुँचने की सामर्थ्य नहीं होती, उसमें गति नहीं होती—यह कहा गया है। (इस प्रकार) अनुमान के द्वारा सामान्य विषयज्ञान में ही पर्यवसान होता है। इसलिये। कोई भी (पदार्थगत) विशेष, आगम और अनुमान का विषय नहीं बनता। और इस सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरस्थ वस्तु (के विशेषों) का ग्रहण लौकिकप्रत्यक्ष से (भी) नहीं होता। (इन सभी) प्रमाणों से न गृहीत होनेवाले (पदार्थगत) विशेषों का अभाव भी नहीं है। भूतसूक्ष्मगत वा पुरुषगत 'विशेष' समाधिप्रज्ञा से ही गृहीत होते हैं। इसलिये विशेषरूपी विषय वाली होने के कारण यह (ऋतम्भरा नामक) प्रज्ञा आगम और अनुमान की प्रज्ञा से भिन्न विषयवाली होती है ॥ ४९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का अन्य प्रज्ञाओं से वैलक्षण्य बताया जा रहा है। श्रुतम्—आगमप्रमाण। अनुमानम्—अनुमान नामक प्रमाण। इन दोनों प्रकार की प्रज्ञा से। श्रुतं च अनुमानं च तयोः प्रज्ञे, ताभ्यां श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्। विशेषार्थत्वात्—विशिष्ट अर्थ वाली होने के कारण अर्थात् भिन्न विषयवाली होने के कारण। अन्यविषया—अन्यः विषयः यस्याः सा, (ऋतम्भरा प्रज्ञा) अन्य या भिन्न विषय वाली होती हैं। तात्पर्य यह है कि श्रुत और अनुमान ज्ञान सामान्यावधारणप्रधान होने के कारण सामान्यार्थ वाले होते हैं। और 'ऋतम्भराप्रज्ञा' विशेषावधारणकारिणी होती है। यद्यपि अन्य प्रत्यक्षज्ञान भी विशेषावधारणकारी माने जाते हैं, किन्तु उनसे यह 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' इस कारण से भिन्न विषय वाली है कि लौकिकप्रत्यक्षों में राजस और तामस वृत्तियों का आवरण उपस्थित रहने से उनमें विशेष विषय का पूरा प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। वे सब अधूरा और अपूर्ण ज्ञान ही देते हैं इसलिये यह प्रज्ञा उन प्रत्यक्षों से भी विशिष्ट विषयवाली हुई। 'सवितर्का' और 'सविचारा' समापत्तियों की दशा का ज्ञान विकल्पसंकीर्ण होता है। अतः 'ऋतम्भराप्रज्ञा' का विषय उनसे भी भिन्न हुआ। रही बात निर्वितर्का और निर्विचारा की, उनमें यद्यपि विषय शुद्ध 'विशेष' रहता है, फिर भी यह 'ऋतम्भराप्रज्ञा' नाम की सिद्धि उनसे इस रूप में भिन्न विषयवाली होती है कि निर्वितर्का का विषय केवल स्थूल और निर्विचारा का विषय केवल सूक्ष्म है। किन्तु 'ऋतम्भराप्रज्ञा' का विषय सर्वथा शुद्ध एवं स्थूल तथा सूक्ष्म सभी तरह का होता है। इस प्रकार यह विशिष्ट अर्थ वाली होने के कारण श्रुतानुमानप्रज्ञा से (साथ ही अन्य सभी प्रज्ञाओं से) भिन्न विषय वाली होती है।

'तथा लोकप्रत्यक्षेणापि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुनो न ग्रहणं दृश्यते। एवमप्रामाणि-

कस्य श्रुतानुमानलोकप्रत्यक्षाणीति त्रिविधप्रमाणैरग्राह्यस्य विशेषस्य रूपस्य सूक्ष्मविशेषः समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्यः[1] ।'

(भा० सि०)—श्रुतम्—आगमविज्ञानम् अर्थात् आगमप्रमाण । तत्—वह । सामान्यविषयम्—सामान्यविशेषात्मक अर्थ के केवल सामान्य अशं को विषय बनाता है । आगमेन—आगम प्रमाण के द्वारा । विशेषः—विशेष वाला अंश । अभिधातुम्—कथयितुम् । न शक्यते—नहीं कहा जा सकता । कस्मात्—क्यों ? इसलिये कि । शब्दः—शब्द (जिससे आगमप्रमाण प्राप्त होता है) । विशेषेण—विशेष वाले अंश से । न हि कृतसंकेतः—संकेतित नहीं होता है, शब्द का संकेत 'विशेष' में नहीं होता है । तथा—उसी प्रकार । अनुमानम्—अनुमान नामक प्रमाण भी । सामान्यविषयमेव—वस्तु के सामान्य अंशों को ही विषय बनाने वाला होता है । जैसे । यत्र प्राप्तिः—जिसमें पहुँचने का गुण होता है । तत्र गतिः—उसमें चलने का गुण अवश्य होता है अर्थात् जो पहुँच जाता है, वह अवश्य ही गतिशील है । यत्र अप्राप्तिः—जो नहीं पहुँचता । तत्र न गतिः—वह गतिशील नहीं है । इति उक्तम्—यह कहा गया है । अनुमानेन च—और अनुमान के द्वारा भी । सामान्येन—सामान्य अंश से ही । उपसंहारः—ज्ञान की समाप्ति हो जाती है अर्थात् इससे भी विशेष वाले अंश का ज्ञान नहीं होता । तस्मात्—इसलिये । कश्चिद् विशेषः—किसी भी वस्तु का विशेष वाला अंश । श्रुतानुमानयोर्विषयः इति श्रुतानुमानविषयः न (भवति) इति—आगम और अनुमान प्रमाण का विषय नहीं बनता । न च अस्य—और न ही इस । सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनः—सूक्ष्म, व्यवधानवाली तथा दूरस्थ वस्तु का । लोकप्रत्यक्षेण—लौकिक प्रत्यक्ष नामक प्रमाण से ही । ग्रहणम् (भवति)—ज्ञान होता है । न च अस्य विशेषस्य—और न ही इस विशेष अंश का । अप्रमाणकस्य—तीनों प्रसिद्ध लौकिक प्रमाणों से अगृहीत । अभावोऽस्ति—अभाव ही है । इति—इस कारण । भूतसूक्ष्मगतः वा पुरुषगतः वा स विशेषः—भूतों के सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वसम्बन्धी या पुरुषसम्बन्धी वह विशेष अंश । समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव—समाधिप्रज्ञा अर्थात् 'ऋतम्भराप्रज्ञा' से गृहीत होता है । तस्मात्—इसलिये । विशेषार्थत्वात्—वस्तु के विशेष अंश को विषय बनाने के कारण । सा—वह । प्रज्ञा—ऋतम्भरा प्रज्ञा । श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया इति—आगम और अनुमान ज्ञान से भिन्न विषय वाली होती है ॥ ४९ ॥

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते ।

समाधिप्रज्ञा का लाभ होने पर योगी के प्रज्ञाकृत नये-नये संस्कार उत्पन्न होते हैं ।

---

1. द्रष्टव्य; भा० पृ० १२८ ।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

उस (ऋतम्भरा प्रज्ञा) से उत्पन्न संस्कार अन्य संस्कारों का बाधक होता है ॥ ५० ॥

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते । व्युत्थान-संस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते । ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्काराः इति नवो नवः संस्काराशयो जायते । ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति । कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति ? न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति । ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थान-संस्कारों के समुदायों को बाधित करता है । व्युत्थान-संस्कारों के दबने से, उससे उत्पन्न होने वाली (प्रमाणविपर्ययादि) वृत्तियाँ नहीं उत्पन्न होतीं । वृत्ति-निरोध होने पर समाधि उपस्थित रहती है । उस (समाधि) से समाधिज (ऋतम्भरा) प्रज्ञा और उससे (समाधिज) प्रज्ञाजन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार नया-नया संस्कारसमुदाय उत्पन्न होता है । उससे फिर (ऋतम्भरा) प्रज्ञा और उससे (तज्जन्य) संस्कार होते रहते हैं । यह संस्कार-समुदाय चित्त को (वृत्तिरूपीकार्यजननक्षम) वृत्तिमय क्यों नहीं कर देता ? ये प्रज्ञा-जन्य संस्कार क्लेशों को क्षीण करने वाले होने के कारण चित्त को उसके (भोगात्मक वृत्तिरूप) कार्य से हटाते हैं । चित्त की (भोगात्मक वृत्तिरूप) कार्यकारिता विवेकख्याति के उदय-पर्यन्त ही होती है ॥ ५० ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—समाधिप्रज्ञायाः प्रतिलम्भे—समाधिप्रज्ञाप्राप्तौ, समाधि-प्रज्ञा के उदित हो जाने पर । योगिनः—योगी के । प्रज्ञाकृतः संस्कारः—प्रज्ञाकृत संस्कार । नवः नवः—नये-नये । जायते—उत्पन्न होते हैं ।

(**सू० सि०**)—तज्जः—तस्या ऋतम्भराप्रज्ञायाः जायते इति (तत् + √जनी + डः) तज्जः, उस ऋतम्भराप्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार । अन्य संस्कारान् प्रतिबध्नातीति अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी (उपपदतत्पुरुषसमासः)—अन्य सभी संस्कारों को अर्थात् व्युत्थान-प्रकारक संस्कारों को बन्द करने वाले या बाधित करने वाले होते हैं । **'तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान् व्युत्थानजान् समाधिजांश्च संस्कारान् प्रतिबध्नाति स्वकार्यकरणाक्षमान् करोतीत्यर्थः'**[1] ॥ ५० ॥

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २७ ।

(भा० सि०)—समाधिप्रज्ञाप्रभवः—ऋतम्भराप्रज्ञा से उत्पन्न। संस्कारः—होने वाले संस्कार (क्योंकि प्रत्येक बुद्धि-व्यापार के Impressions या संस्कार अवश्य बनते हैं)। व्युत्थानसंस्काराशयान्—व्युत्थान वाले संस्कारों के आशय अर्थात् समुदाय को। बाधते—स्वकार्यकरणाक्षमं कुरुते, बेकार या व्यर्थ कर देते हैं। उसका फल यह होता है कि। व्युत्थानस्य—असमाधिकालिक अर्थात् लौकिक दशा वाले। संस्काराणाम्—संस्कारों के। अभिभवात्—अभिभूत हो जाने से, दब जाने या बाधित हो जाने से। तत्प्रभवाः—तेभ्यः (संस्कारेभ्यः) प्रभवः उत्पत्तिर्येषां ते तत्प्रभवाः प्रत्ययाः ज्ञानानि, उन संस्कारों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान। न भवन्ति—नहीं उत्पन्न होते। इन व्युत्थान-प्रकारक अर्थात् लौकिक प्रकार के। प्रत्ययानाम्—ज्ञानानाम्। निरोधे—अनुद्भवे सति, इन लौकिक ज्ञानों के उदित न होने पर। समाधिः—वह (उत्कृष्ट सम्प्रज्ञात) समाधि। उपतिष्ठते—बनी रहती है, अखण्डः सन् क्रमते, चलती रहती है। ततः—उस (समाधि की उपस्थिति) से। समाधि-प्रज्ञा—समाधिजन्य प्रज्ञा अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा। तथा। नवः—उस समाधिज प्रज्ञा से। प्रज्ञाकृताः—प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले। संस्काराः (जायन्ते इति शेषः)—संस्कार बनते जाते हैं। इति—इस प्रकार से। नवः नवः—नया-नया अर्थात् निरन्तर बढ़ने वाला। संस्काराशयः—संस्काराणां समुदायः, संस्कारों का समूह। जायते—उत्पद्यते। इस नये संस्कारसमूह से। प्रज्ञा—समाधिजप्रज्ञा और अधिक अभिव्यक्त होती रहती है। ततश्च—और उससे फिर। प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति—ये प्रज्ञाजन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार (प्रज्ञा—प्रज्ञाजन्य संस्कार) प्रज्ञा और उसके संस्कारों का यह चक्र एक-दूसरे को बढ़ाता हुआ चलता रहता है।

इस पर भाष्यकार यह शंका करते हैं कि इस प्रज्ञाजन्य संस्कारबाहुल्य से चित्त साधिकार अर्थात् भोगोन्मुख या वृत्तियुक्त क्यों नहीं हो जाता? कथम्—क्यों? असौ—वह। संस्कारातिशयः—संस्कारबाहुल्य। चित्तम्—चित्त को। साधिकारम्—अधिकारसहित। न करिष्यतीति—न कर देगा? भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ को सम्पादित करते रहना ही चित्त का 'अधिकार' कहा जाता है। इसलिये 'साधिकार' शब्द का अर्थ हुआ—पुरुष को भोगापवर्गरूप कार्योन्मुख या पुरुष को भोगापवर्ग प्रदान करने के कार्य में 'रत' न कर देगा? इसका उत्तर देते हुए स्वयं कहते हैं कि। ते—वे। प्रज्ञाकृताः संस्काराः—प्रज्ञाजन्य संस्कार। क्लेशक्षयहेतुत्वात्—क्लेशों के नाशक होने के कारण। चित्तम्—चित्त को। अधिकारविशिष्टम्—साधिकारम् अर्थात् भोगापवर्गरूपी कार्य में रत। न कुर्वन्ति—नहीं करते हैं। ते—वे। हि—तो, प्रत्युत। चित्तम्—चित्त को। स्वकार्यात्—चित्त के अपने भोगापवर्गरूप कार्य से। अवसादयन्ति—हटाते हैं, '**कर्तव्यशून्यं कुर्वन्तीत्यर्थः**[1]।' हि—क्योंकि। चित्तचेष्टि-

---

1. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३१।

तम्—चित्तस्य चेष्टितम्, चेष्टा, क्रिया अर्थात् चित्त की क्रिया। ख्यातिपर्यवसानम्—विवेकख्याति पर्यन्त ही होती है, अर्थात् विवेकख्याति में ही पर्यवसित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि विवेकख्याति के पहले तक चित्त पुरुष का भोगरूप अर्थ सिद्ध करता रहता है। विवेकख्याति के सिद्ध होते ही अपवर्ग रूप पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जाता है। इसलिये अस्मितानुगत संप्रज्ञातसमाधि में विवेकख्याति सिद्ध हो जाने पर चित्त का सारा कार्य या अधिकार समाप्त हो जाता है। इसलिये उस समाधि से उत्पन्न 'ऋतम्भराप्रज्ञा' और उससे उत्पन्न प्रज्ञाजन्य संस्कारों के समूह से भी चित्त साधिकार नहीं होता प्रत्युत कर्त्तव्यशून्य हो जाता है ॥ ५० ॥

किं चास्य भवति ?

और इस (ऋतम्भरा) प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार (समूह) का क्या होता है ?

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

उस (संस्कार) का भी निरोध हो जाने पर (ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा तज्जन्य संस्कार) सब का निरोध हो जाने से निर्बीजसमाधि (सिद्ध) होती है ॥ ५१ ॥

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी। प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति। कस्मात् ? निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान् बाधत इति। निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्। व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते। तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति। यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते। तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति ॥ ५१ ॥

इति श्रीपातञ्जले साङ्ख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये
समाधिपादः प्रथमः ॥ १ ॥

वह (निर्बीजसमाधि) न केवल समाधिप्रज्ञा की विरोधिनी है, बल्कि समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कारों की भी बाधक होती है। क्यों ? इसलिये कि निरोधजन्य संस्कार (सम्प्रज्ञात) समाधि (प्रज्ञा) जन्य संस्कारों को भी बाधित करता है। निरोध की स्थिति के (न्यूनाधिक) काल के क्रम का अनुभव होने से निरोधकालिक चित्तजन्य संस्कारों का अस्तित्व अनुमेय है। (द्विविध) व्युत्थान (अर्थात् लौकिकवृत्ति और उसके निरोधक सम्प्रज्ञातसमाधि) का निरोध करने वाली (निर्बीज अर्थात्) निरोधसमाधि से उत्पन्न कैवल्य के अनुकूल (निरोध)

संस्कारों के साथ चित्त अपनी (अव्यक्त रूप से) अवस्थित प्रकृति में लीन हो जाता है। इसलिये ये (निरोध) संस्कार चित्त के कार्य के विरोधी होते हैं, उसकी स्थिति कराने वाले नहीं, क्योंकि इन कैवल्यानुकूल संस्कारों के साथ कृतकृत्य चित्त (स्वयम्) निवृत्त हो जाता है। उसके निवृत्त हो जाने पर पुरुषतत्त्व अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिये (वह) शुद्ध और मुक्त कहा जाता है ॥ ५१ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—किञ्चास्य भवति—इस प्रज्ञाकृत संस्कार को और क्या होता है? तात्पर्य यह है कि जब यह संस्कार चित्त को साधिकार नहीं करता, तो फिर इसका पर्यवसान किस प्रकार का होता है?

(सू० सि०)—तस्यापि—प्रज्ञाजन्यसंस्कारस्यापि, इस ऋतम्भराप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का भी। असंप्रज्ञातसमाधि के द्वारा। निरोधे—निरोध होने पर। सर्वनिरोधात्—सभी प्रकार के संस्कारों तथा प्रज्ञाओं का निरोध हो जाने के कारण। निर्बीजः समाधिः—निरालम्बन समाधि अर्थात् असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है। **'एवं क्रमेण तु तस्यापि प्रज्ञाकृतसंस्कारस्याप्यसम्प्रज्ञातपरम्परया निरोधेऽत्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासम्प्रज्ञातो निर्बीजयोगस्य पराकाष्ठा भवत्यपुनर्व्युत्थानेत्यर्थः'**[1] ॥ ५१ ॥

(भा० सि०)—सूत्र में स्थित 'तस्यापि' के 'अपि' शब्द के रहस्य को खोलते हुये भाष्यकार कहते हैं। सः—वह। निर्बीजसमाधि। न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी—केवल समाधिजन्यप्रज्ञा की ही विरोधी नहीं है, बल्कि उस प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कारों की भी। प्रतिबन्धी—बाधक है, निरोध करती है। कस्मात्—क्यों? निरोधजः संस्कारः—निरोधजन्य संस्कार। समाधिजान् संस्कारान्—समाधिजन्य संस्कारों को, अर्थात् ऋतम्भराप्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कारों को भी। बाधते इति—बाधित करते हैं, निरुद्ध करते हैं। इस पर शङ्का होती है कि क्या निरोध से भी संस्कार बनते हैं, जिनसे कि समाधिसंस्कार अभिभूत या बाधित होते हैं? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं कि हाँ, निरोध में भी संस्कार बनते हैं। इनकी सत्ता अनुमान प्रमाण से जानी जाती है। निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वम्—निरोधकालिक चित्तजन्य संस्कारों की सत्ता। निरोधस्य स्थितेः कालस्य क्रमस्य अनुभवेन इति निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन—निरोधसमाधि के लगने के समय की कमी-बेशी के अनुभव के द्वारा। अनुमेयम्—अनुमानप्रमाणगम्य होती है। **'कालक्रमो मुहूर्तार्द्धयामयामाहोरात्रादिः**[2]**।'** इन निरोधजन्य संस्कारों के द्वारा प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी निरोध होता है—यह तो ज्ञात हुआ। अब जानना यह है कि इन निरोधसंस्कारों

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३२।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १३४।

का निरोध किससे होता है ? या फिर ये निरोधसंस्कार चित्त में ही बने रह जाते हैं ? इस सन्देह को दूर करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि ये निरोधज संस्कार चित्त के लय-पर्यन्त चित्त के साथ रहते हैं और अन्त में चित्त के साथ-साथ प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इन। व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः—(द्विविधस्य) व्युत्थानस्य सम्प्रज्ञातसमाधिपर्यन्तस्य संस्काराणां निरोधरूपः समाधिः असम्प्रज्ञातनामा समाधिरिति व्युत्थाननिरोधसमाधिः, सः प्रभवः उत्पत्तिस्थानं येषां तैः तथोक्तैः, अर्थात् लौकिकव्यवहाररूपी व्युत्थान तथा सम्प्रज्ञात-रूपी व्युत्थान के संस्कारों का निरोध करने वाली (असम्प्रज्ञात) समाधि में उत्पन्न होने वाले। कैवल्यभागीयैः—कैवल्यप्रापकैः, कैवल्यानुकूलैः, कैवल्य देने वाले। संस्कारैः—चित्त के संस्कारों के साथ। चित्तम्—चित्त। स्वस्यां प्रकृतौ—अपनी प्रकृति में अर्थात् अव्यक्त तत्त्व में। प्रविलीयते—प्रविलीन हो जाता है। यहाँ पर असम्प्रज्ञात की अपेक्षा में सम्प्रज्ञात-समाधि को भी व्युत्थान ही कहा गया है। **'असम्प्रज्ञातापेक्षया समाधिप्रज्ञाऽपि व्युत्थानम्[1]।'** तस्मात्—इसलिए। ते संस्काराः—वे निरोधसंस्कार। चित्तस्य—चित्त के। अधिकारविरोधिनः—कार्य के विरोधी होते हैं। न स्थितिहेतवः—चित्त के बने रहने के कारण नहीं बनते। यस्माद्—चूँकि। अवसिताधिकारम्—यह चित्त कृतकृत्य या समाप्तकार्यों वाला हो जाता है, इसलिये वह। चित्तम्—चित्त। कैवल्यभागीयैः—कैवल्यदायक या कैवल्यप्रापक। संस्कारैः—निरोधसंस्कारों के। सह—साथ। विनिवर्तते—विनिवृत्त हो जाता है अर्थात् अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है। तस्मिन्—उस चित्त के। निवृत्ते—विलीन हो जाने पर। पुरुषः—पुरुषतत्त्व, वह पुरुष। स्वरूपप्रतिष्ठः—स्वरूपे प्रतिष्ठा स्थितिः यस्य सः तथोक्तः, अपने स्वाभाविक रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः—इसलिये (उस समय सर्वथा) शुद्धः मुक्तः—शुद्ध एवं मुक्त, अर्थात् त्रिगुणातीत एवं दुःखव्यपदेशहीन। इत्युच्यते—कहा जाता है। **'शुद्धो गुणातीतो मुक्तो दुःखोपचारहीन इत्युच्यत इति[2]।' 'उपाधिसंयोगाख्यबन्धमुक्तः इत्यर्थः'[3] ॥ ५१ ॥**

॥ इति श्रीपातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां सिद्धचाख्यायां समाप्तः समाधिपादः ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३४।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० १३५।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३५।

अथ साधनपादो द्वितीयः

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते।

एकाग्रचित्त वाले साधक के लिये योग का उपदेश (समाधिपाद में) किया जा चुका। चञ्चलचित्त वाला साधक भी किस प्रकार से योगी बन सके—इसके लिये यह (पाद) आरम्भ किया जा रहा है।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग हैं ॥१॥

नातपस्विनो योगः सिद्धयति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

अतपस्वी को योग नहीं सिद्ध होता। अनादि कर्म और क्लेश की वासनाओं से भरी हुई तथा विषयजाल को उपस्थित करने वाली रजस्तमोमयी अशुद्धि बिना तपस्या के छिन्न-भिन्न नहीं होती, इसलिये तपस्या का ग्रहण (किया गया) है। और यह तपस्या, चित्त की प्रसन्नता को बाधित न करने वाली स्थिति तक इस (साधक) के द्वारा की जानी चाहिए—यह माना जाता है। (शास्त्रों के द्वारा) 'ओङ्कार' इत्यादि पवित्र मन्त्रों का जप या मोक्षपरक शास्त्रों का अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है। सभी क्रियाओं को परमगुरु ईश्वर में अर्पित करना या उन (कर्मों) के फलों का संन्यास —ईश्वरप्रणिधान है ॥ १ ॥

योगसिद्धिः

निर्गुणञ्च गुणाधीशं महामायं महेश्वरम्।
अकृष्णं कृष्णचन्द्रं तं भजेऽहं सिद्धिसागरम् ॥ १ ॥

(सं० भा० सि०)—जब समाधिपाद में ही उपाय, अवान्तरभेद तथा फल (अर्थात् साधन और सिद्धि) सहित योग का विवेचन पूरा हो चुका तो अब इस साधनपाद को लिखने की क्या आवश्यकता या उपादेयता है ? भाष्यकार इस शङ्का का समाधान करते हैं कि। समाहितचित्तस्य—(पूर्वजन्मों के पुण्यों से इस जन्म में केवल अभ्यास और वैराग्य के द्वारा) एकाग्रचित्त वाले साधकों के लिये। योगः—योग।

उद्दिष्टः—उपदिष्ट हुआ । आशय यह है कि जिनको पूर्वपुण्यों के फलस्वरूप 'अपर-वैराग्य' उदित हो गया हो, वे तो उस 'अपरवैराग्य' को सुदृढ़ करते हुए धारणाध्यान-समाधि का अभ्यास करते-करते योग को सिद्ध कर लेंगे—यह तो बताया गया। किन्तु जिनको यह अपरवैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है, उनको किस प्रकार योग की सिद्धि हो ? कथम्—किस प्रकार से । व्युत्थितचित्तः—नितान्त चञ्चल चित्तवाला मनुष्य । अपि—भी । योगयुक्तः—योगसिद्धिसम्पन्न । स्यात्—होवे, हो सके । इति—इसके लिये । एतद्—यह साधनपाद (-गतविषय) । आरभ्यते—आरम्भ किया जा रहा है । तात्पर्य यह है कि इस पाद में और अधिक सरल तथा प्रारम्भिक साधनमार्ग निर्दिष्ट किया गया है । इससे यह स्पष्ट हुआ कि अचञ्चल चित्त वाले उत्तमाधिकारी को तो समाधिपादनिर्दिष्ट योगसाधन अपनाने चाहिए । अब मध्यम अधिकारियों की दृष्टि से ये सरलतर और अधिक प्रारम्भिक साधन बताये जा रहे हैं । **'समाहित-चित्तस्य योगारूढचित्तस्योत्तमाधिकारिणोऽभ्यासवैराग्यमात्रसाधनेनैव क्रियायोगादि-सकलाङ्गानां नैरपेक्ष्येण पूर्वपादे योगः प्रदर्शित...ते चाभ्यासवैराग्येन सर्वेषां द्रागित्येव भवतः अतो व्युत्थितचित्तो बहिर्मुखोऽपि योगमारुरुक्षुः क्रमात् केनोपायेन योगयुक्तः स्यादिति तमुपायं वक्तुमेतत्सूत्रजातमारभत इत्यर्थः[1] ।'**

'अभ्यासवैराग्ये हि योगोपायौ प्रथमे पादे उक्तौ, न च तौ व्युत्थितस्य द्रागित्येव सम्भवत इति द्वितीयपादोपदेश्यानुपायानपेक्षते सत्त्वशुद्ध्यर्थं ततो हि विशुद्धसत्त्वः कृत-रक्षासंविधानोऽभ्यासवैराग्ये प्रत्यहं भावयति[2] ।'

तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमु-पायाभ्यासपूर्वको योगः सात्म्यमुपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह'[3] ।

(सू० सि०)—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि—तपश्च स्वाध्यायश्च ईश्वरप्रणि-धानञ्चेति तथोक्तानि त्रीणि (इतरेतरद्वन्द्वः), तपस्या, स्वाध्याय (ओङ्कार का जप या मोक्षशास्त्र का अध्ययन) और ईश्वरप्रणिधान[4] (सभी क्रियाओं को ईश्वर में अर्पित कर देना या उनके फलों के प्रति निरपेक्ष रहना) ।

क्रियायोगः—'क्रियायोग' है । 'क्रियायोग' एक पारिभाषिक पद है । इन तीनों क्रियाओं को 'योग' इसलिये कहा गया है कि इनके करने से योग सिद्ध होता है । इस प्रकार साधन और साध्य के अभेदोपचार की विवक्षा से ही इन क्रियायों का नाम

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३७ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १३७ ।

३. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २९ ।

४. 'ईश्वरप्रणिधानं—सर्वक्रियाणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम्' ।
—रा० मा० वृ० पृ० २९ ।

'क्रियायोग' पड़ा है। **'क्रिया एव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात्, योगोपायत्वा-द्योगः'**[१]। आगे २।२९ में बताये जाने वाले योग के अन्य ५ अङ्ग भी यद्यपि योग के उपाय हैं, तथापि यदि ठीक से ये तीन नियम ही पालन किये जायें, तब भी योग की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् पहले सत्त्वशुद्धि हो जाती है, फिर 'अभ्यास' और 'वैराग्य' नामक उपायों से अगली सारी योगप्रक्रिया हो सकती है। इसलिये क्रिया-योग की विधि मध्यमाधिकारियों के लिये मानी गयी है। जो साधक इससे भी नहीं सफल हो सकते, उनके लिये योग के आठों अङ्गों का विधान किया जायेगा। वे मन्दाधिकारी आठों अङ्गों का पालन करने पर ही शुद्धसत्त्व वाले होकर 'अभ्यास' और 'वैराग्य' नामक उपायों से योग सिद्ध करने में सफल होते हैं। इसीलिये उनको 'अधमाधिकारी' या 'मन्दाधिकारी' कहा जाता है। इन आठों अङ्गों में से 'धारणा' 'ध्यान' और 'समाधि' का अभ्यास तो सबीजसमाधि के लिये, अन्तरङ्ग होने से सभी को अर्थात् तीनों प्रकार के अधिकारियों को करना होता है। सारांश यह है कि 'वैराग्य' को प्राप्त करने के लिये उत्तमाधिकारी तो जन्मतः सक्षम होते हैं। मध्यमा-धिकारी 'क्रियायोग' नामक तीनों नियमों का पालन करके वैराग्य में सफलता प्राप्त करते हैं और योगसिद्धि का लाभ करते हैं। तथा 'अधमाधिकारी' ५यम, ५नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारों का पालन करके 'वैराग्यप्राप्ति' और 'योगसिद्धि' में सफल होते हैं। **'पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् 'अभ्यासवैराग्ये' एव योगयोः साधन-मुक्तम्, ततश्च मध्यमाधिकारिणां तपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्ये-तस्य पादस्यादावुक्तानि, अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनप्रसङ्गेनेत्यपौनरुक्त्यम्'**[२] ॥ १ ॥

(**भा० सि०**)—अतपस्विनः—तपस्या न करने वाले को। योगः—योग। न—नहीं। सिध्यति—सिद्ध होता। क्योंकि। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा—कर्म और क्लेश की अनादि वासनाओं से युक्त होने के कारण विचित्र, तथा। प्रत्युपस्थित-विषयजाला—विषयसमूहों को उपस्थित करने वाली अर्थात् विषय समुदाय की ओर चित्त को उन्मुख करने वाली। अशुद्धिः—अशुद्धि, रजोगुण और तमोगुण का उद्रेक **'रजस्तमस्समुद्रेकः'**[३]। तपः अन्तरेण—तपस्या के बिना। सम्भेदम्—सम्भिन्नताम्, शिथिलताम्, विरलताम्। न आपद्यते—नहीं प्राप्त होती अर्थात् छिन्न-भिन्न नहीं होती या ढीली नहीं पड़ती, हल्की नहीं होती। इति—इति हेतोः, इसलिये। तपसः—तपस्या का। उपादानम्—(क्रियायोग के अन्तर्गत) ग्रहण किया गया है। तच्च—वह

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३३।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४२।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १३९।

तप। चित्तप्रसादनम्—चित्त की प्रसन्नता को। अबाधमानम्—बाधित न करता हुआ (ही), न बिगाड़ता हुआ ही (तप का विशेषण) अनेन—साधकेन, साधक के द्वारा। आसेव्यम्—सेवित किया जाना चाहिये। इति—ऐसा। मन्यते—ऋषियों के द्वारा माना जाता है। **'तपश्चित्तप्रसादाविरोधि मृद्वेवानेन योगिना कर्तव्यमिति परमर्षिभिर्मन्यत इत्यर्थः**[1] **।'** स्वाध्यायः—स्वाध्याय का अर्थ है। प्रणवादिपवित्राणाम्—ओंकार आदि पवित्र मन्त्रों का। जपः—श्रद्धा से अनेकशः उच्चारण। वा—या। मोक्षशास्त्रस्याध्ययनम्—मोक्षप्रद शास्त्रों का पारायण। ईश्वरप्रणिधानम्—ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है। सर्वक्रियाणाम्—सभी क्रियाओं का। परमगुरौ—ईश्वर में। अर्पणम्—समर्पित कर देना। तत्फलसंन्यासो वा—या फिर उन कर्मों के फलों का त्याग करना **'फलानभिसन्धानेन कार्यकरणम्'**[2]। कूर्मपुराण में—'ईश्वरार्पण' और 'तत्फलसंन्यास' को इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

कर्मार्पणम्— **'नाहं कर्त्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा।**
एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः' ॥

तत्फलसंन्यासः—'यद्वा फलानां संन्यासं प्रकुर्यात्परमेश्वरे।
कर्मणामेतदप्याहुर्ब्रह्मार्पणमनुत्तमम्' ॥ १ ॥

स हि क्रियायोगः—

वह क्रियायोग—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

समाधि को भावित करने के लिये और क्लेशों को हल्का करने के लिये (होता) है ॥ २ ॥

स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति। प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति। तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः[3] **सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥ २ ॥**

सुसम्पादित क्रियायोग समाधि पूरी कराता है और क्लेशों को हल्का करता है। (साधक आगे चलकर) हल्के किये गये क्लेशों को (आसानी से) प्रसंख्यान (विवेकख्याति) की अग्नि से जले हुए बीजों के समान अङ्कुरोत्पादन (संस्काररूप कार्योत्पादन) में असमर्थ कर देगा। उनके हल्के हो जाने से, क्लेशों से पुनः संस्पृष्ट न

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १३९।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १४०।

३. 'सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः' इति पाठान्तरम्।

होने वाली, विवेकख्यातिरूपिणी सूक्ष्मबुद्धि कृतकृत्य होकर (अव्यक्त में) लीन होने में समर्थ हो जायेगी ॥ २ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—स हि क्रियायोगः—और वह क्रियायोग ।

(सू० सि०)—समाधिभावनार्थः— समाधेः भावना उत्पत्तिः, सिद्धिः, अर्थः प्रयोजनं यस्य तादृशः समाधिभावनार्थः, समाधि अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि के लिये । तथा च—और । क्लेशतनूकरणार्थश्च—क्लेशानाम् अविद्यादिपञ्चानाम् (न तनवः इति अतनवः स्थूलाः, अतनवः तनवः क्रियन्त इति तनूकरणम्) तनूकरणम्, प्रशिथिलीकरणम्, स्वल्पीकरणम्, अर्थः प्रयोजनं यस्य तादृशः क्लेशतनूकरणार्थः, अविद्यादि पाँचों क्लेशों को बिल्कुल सूक्ष्म या हल्का करने के लिये होता है । क्लेशों के हल्के हो जाने से सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि हो सकती है । इसलिये क्रियायोग के इन दो फलों का अर्थक्रम, सौत्रक्रम से भिन्न समझना चाहिए । पहले वह क्लेशों को तनु या हल्का करता है फिर सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि कराता है । **'एतदुक्तं भवति—एते तपः प्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन् क्लेशाञ्छिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते'**[1] । यह क्रियायोग मध्यमाधिकारियों को इसलिये निर्दिष्ट किया गया है कि उनके क्लेशों का तनूकरण हो जाय और इस प्रकार से वे सम्प्रज्ञातसमाधि के योग्य बन जायें । उत्तमाधिकारियों के क्लेश तो पूर्वजन्म के संस्कारों से ही तनूकृत रहते हैं और वे समाधिसिद्धि के योग्य रहते हैं । इसलिये उसे क्रियायोग की आवश्यकता नहीं रहती । इसीलिये प्रथमपाद में इसका कथन नहीं किया गया । **'उत्तमाधिकारिणश्च समाधियोग्यता क्लेशतनुता च सिद्धैवेत्यतः पूर्वपादे तदुभयं योगसाधनतया नोक्तम्**[2]**'** ॥ २ ॥

(भा० सि०)—स हि—और वह क्रियायोग । आसेव्यमानः—आ सम्यक् निष्कामादिरूपेण सेव्यमानः अनुष्ठीयमानः सन्, भली-भाँति किया जाता हुआ । समाधिम्—सम्प्रज्ञाताख्यम्, सम्प्रज्ञातसमाधि को । भावयति—साधयति, सिद्ध करता है । क्लेशांश्च—और क्लेशों को । प्रतनूकरोति—बिल्कुल हल्का या सूक्ष्म कर देता है । लेकिन क्रियायोग क्लेशों को सर्वथा कार्याक्षम या बन्ध्य नहीं बना सकता । यह बन्ध्यकरण तो आगे चलकर विवेकख्याति के द्वारा ही हो पाता है । प्रतनूकृतान् क्लेशान्—इन हल्के पड़े हुए क्लेशों को योगी आगे चलकर । 'प्रसंख्यानाग्निना—विवेकख्यातिरूपिणी अग्नि से । दग्धबीजकल्पान्—जले हुए बीजसदृश (अंकुरणाक्षम या बन्ध्य) अर्थात् । अप्रसवधर्मिणः—अङ्कुरोत्पत्ति में असमर्थ या कार्यकरणा-

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ३० ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १४१ ।

क्षम या बन्ध्यभावापन्न। करिष्यति—करेगा। इति—विषय-समाप्ति का सूचक। तो फिर इस प्रतनूकरण से—जो कि संसारोच्छेद नहीं कर सकता—क्या लाभ? इसे बताते हुए भाष्यकार कहते हैं। तेषाम्—क्लेशानाम्, उन क्लेशों के। तनूकरणात् —हल्के हो जाने से। पुनः—ही। क्लेशैः अपरामृष्टा—क्लेशों से अनभिभूत, सम्पर्क-रहित। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः—विवेकख्यातिरूपिणी। सूक्ष्मा प्रज्ञा—सूक्ष्म विषय का साक्षात्कार करने वाली समाधिजप्रज्ञा। उदित होती है और। समाप्ताधिकारा—समाप्तः चित्तस्याधिकारः कार्यसमुदायः यया सा तथोक्ता, चित्त के कर्त्तव्यों को समाप्त करने वाली समाधिजप्रज्ञा। प्रतिप्रसवाय—प्रविलयाय। कल्पिष्यते—समर्था भविष्य-तीति, (असम्प्रज्ञात काल में) अव्यक्त तत्त्व में लीन हो जाने में समर्थ होती है। यदि क्लेशों का प्रतनूकरण न हुआ रहा करे तो विवेकख्यातिरूपिणी ऋतम्भराप्रज्ञा का उदय ही न हो, फिर इसके द्वारा क्लेशों का दग्धबीजभाव तथा क्लेशों के दग्ध-बीज होने से सम्भव, क्लेशों की सम्पर्कशून्यता या क्लेशों का अपरामर्श कैसे हो? और उसके बाद, क्लेशों के सम्पर्क से सर्वथा शून्य विवेकख्याति गुणों के कार्यारम्भक अधिकार को कैसे समाप्त करे? फिर कैसे उसका अव्यक्ततत्त्व में लय संभव हो? इसलिये क्लेशों की तनुता अत्यन्त वाञ्छनीय है, जिससे कि यह सिद्धि परम्परया सम्पन्न हो सके। वाचस्पति मिश्र ने इस क्लेश-तनूकरण की उपयोगिता को बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है—

'क्लेशानामतानवे हि बलवद्विरोधिग्रस्ता सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरुदेतुमेव नोत्सहते प्रागेव तद्वन्ध्यभावं कर्तुम्, प्रविरलीकृतेषु तु क्लेशेषु दुर्बलेषु तद्विरोधिन्यपि वैराग्याभ्यास-मुपजायते, उपजाता चैतैरपरामृष्टा अनभिभूता······प्रविलयाय कल्पिष्यते'[1] ॥ २ ॥

अथ के ते क्लेशाः? कियन्तो वा इति?

अब वे क्लेश कौन हैं? और कितने हैं? (यह बताते हैं)—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (ये) पाँच क्लेश (होते) हैं ॥३॥

क्लेशा इति, पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्यन्दमाना[2] गुणाधिकारं द्रढ-यन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रह-तन्त्रीभूय[3] कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥ ३ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १४२।

२. 'स्पन्दमाना' इति पाठान्तरम्।

३. 'तन्त्रीभूत्वा' इति पाठान्तरम्।

'क्लेश पाँच मिथ्याज्ञान (होते) हैं—यह अर्थ हुआ। लब्धस्वरूप क्लेश गुणों के कार्य को सुदृढ़ करते हैं, (गुणों की) परिणाम (धारा) को निर्वर्तित करते (चलाते) कारण-कार्य के प्रवाह को प्रवर्तित करते हैं और एक-दूसरे की कृपा के अधीन होकर कर्मफल (की परम्परा) का निर्वाह (निष्पादन) करते हैं।। ३ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—अथ—अब। के ते क्लेशाः—वे क्लेश कौन हैं ? कियन्तो वा—और वे संख्या में कितने हैं ? इति—इस विषय में (यह सूत्र है)।

(**सू० सि०**)—अविद्या च अस्मिता च रागश्च द्वेषश्च अभिनिवेशश्च (मरणत्रास-रूपः) इति (इतरेतरद्वन्द्वः) अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये। पञ्च—पञ्चसंख्याकाः, पाँच। क्लेशाः—चूँकि ये पाँचों प्राणी को त्रिविध ताप देते हैं, इसलिये शास्त्रकारों ने इन्हे 'क्लेश' संज्ञा दे रखी है। ये चित्त में संस्काररूप से रहते हैं। **'ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेश-शब्दवाच्या भवन्ति'**[1] ॥ ३ ॥

(**भा० सि०**)—क्लेशाः इति—सूत्र में आये हुए 'क्लेश' शब्द का अर्थ करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पाँच क्लेशों का अर्थ है—'पाँच प्रकार के विपर्यय या मिथ्याज्ञान।' इत्यर्थः—यह क्लेशों का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि अविद्यादि पाँचों प्रकार के विपर्यय मिथ्याज्ञान हैं। **'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्'**[2]। ते—वे पाँचों क्लेश। स्यन्दमानाः—**'समुदाचरन्तः'**—(त० वै०) √स्यदि + शानच् (प्र० ब०), वृत्ति-लाभ करते हुए, **'लब्धवृत्तिका.'** (यो० वा०) अभिव्यक्त होकर। गुणाधि-कारम्—गुणों के कार्य को। द्रढयन्ति—दृढ़ करते हैं अर्थात् त्रिगुणात्मिका बुद्धि को पुरुष के भोगापवर्गरूप कार्य में दृढ़ता से लगाये रहते हैं। (अतएव—इसलिये)। परि-णामम्—गुणों की परिणामधारा को। अवस्थापयन्ति—निर्वर्तयन्ति, चलाते रहते हैं। (ततश्च) कार्यकारणस्रोतः—कार्य और कारण के प्रवाह को अर्थात् अव्यक्तमहद-हङ्कारादिपरम्परा को। उन्नमयन्ति—बढ़ाते हैं, **'उद्भावयन्ति'**—(त० वै०)। **'प्रवर्त-यन्ति'**—(यो० वा०)। परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय—आपस में एक-दूसरे का काम साधने वाले बनते हुए या एक-दूसरे का काम साधने वाले अर्थात् अनुग्रहकारक होकर। कर्म-विपाकम्—प्राणियों के जन्म, आयु और भोग रूप कर्मफल को। अभिनिर्हरन्ति—निष्पादयन्ति, निष्पादित करते हैं।। इति—व्याख्यान-समाप्ति का सूचक है। 'परस्प-रानुग्रहतन्त्रीभूय' को स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—**'अविद्यातो रागो**

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ३०।

२. द्रष्टव्य; यो० सू० १।८।

रागाच्चाविद्येत्येवमादिरूपाऽन्योऽन्यानुग्रहाधीना भूत्वेत्यर्थः, अन्योऽन्यसाहित्येनैव हि क्लेशानां स्थैर्यं भवति, स्थैर्येण विपाकपरम्परा निर्वहतीति भावः'—(यो० वा०) ॥३॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (इन चारों अवस्थाओं में रहने वाले 'अस्मिता' इत्यादि चारों) परवर्ती क्लेशों की प्रसवभूमि अविद्या है ॥ ४ ॥

अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने सम्मुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते।

तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इति। उक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च। तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्त इति। किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति। विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्ततनुरुदारो वा क्लेश इति। उच्यते—सत्यमेवैतत्। किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति।

सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात्? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥ ४ ॥

यहाँ (इन पाँचों क्लेशों में से) अविद्या (क्षेत्र) उत्पत्तिस्थली है। (उत्तरेषाम् अर्थात्) परवर्ती प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—इन चार अवस्थाओं वाले (अस्मिता इत्यादि) क्लेशों की। उन (चार अवस्थाओं) में से 'प्रसुप्ति' क्या है? चित्त में केवल शक्तिरूप से स्थित क्लेशों का बीजभाव को प्राप्त हो जाना (ही प्रसुप्ति है)। (अपने) आलम्बन के प्रति अभिव्यक्त होना ही उनका जागरण है।

विवेकख्यातिसम्पन्न तथा जले हुए क्लेशबीज वाले योगी (के क्लेश) का यह प्रबोध आलम्बन के उपस्थित होने पर भी नहीं होता। जले हुए बीज का अङ्कुरण कहाँ से हो ? इसलिये वह (योगी) क्षीणक्लेश, कुशल तथा अन्तिमदेह वाला कहा जाता है। दग्धबीजरूपता वाली क्लेशों की यह पाँचवीं अवस्था वहीं (विवेकख्यातिसम्पन्न योगी में ही) होती है और कहीं नहीं। (उपस्थित भी) रहनेवाले क्लेशों की बीजरूप शक्ति उस समय जल जाती है, इसलिये आलम्बन के सामने आने पर भी इन क्लेशों का जागरण नहीं होता। इस प्रकार 'प्रसुप्ति' कही गयी और जले हुए बीजों (वाले क्लेशों) का अङ्कुरित न होना भी (कह दिया गया)। (अब) 'तनुत्व' बताया जा रहा है। विरोधी (क्रियायोग) के अनुष्ठान से उपमर्दित (उपहिंसित) क्लेश हल्के हो जाते हैं। वैसे ही (जब) बीच में टूट-टूट कर फिर से अपने उसी रूप से प्रकट होते हैं, तब 'विच्छिन्न' कहे जाते हैं। किस प्रकार से ? राग (नामक क्लेश) के समय में क्रोध न दिखायी पड़ने के कारण (विच्छिन्नता का ज्ञान होता है) राग के (लब्धप्रसर) काल में क्रोध प्रकट नहीं होता (यह कालिक-विच्छिन्नता है)। और राग भी किसी एक आलम्बन के प्रति दिखायी पड़ने पर दूसरे आलम्बन के प्रति बिल्कुल न हो—ऐसी बात नहीं है। एक स्त्री में चैत्र (नामक पुरुष) रागयुक्त है, इसलिये अन्य स्त्रियों के प्रति बिल्कुल विरक्त है, ऐसा नहीं होता। बल्कि उस (एक स्त्री) में राग लब्धप्रसर है, (जबकि) अन्य स्त्रियों के प्रति अनागत रूप में ही है। (यह दैशिक-विच्छिन्नता है)। (अन्य स्त्रियों के विषय में) यह (राग) उस समय प्रसुप्त या तनु या विच्छिन्न रहता है। विषय के प्रति जो (क्लेश) स्वरूपतः प्रकट रहता है, वह 'उदार' कहा जाता है। ये सभी क्लेश क्लेशपदवाच्यता को नहीं छोड़ते। तो फिर क्लेश क्यों प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (कहे गये) हैं ? (अर्थात् जब हर अवस्था में क्लेशरूपता ही है, तो इनके भेद-कथन का क्या प्रयोजन है ?) बताया जा रहा है–यह बात तो ठीक है, किन्तु अवस्थाविशिष्ट क्लेशों की विच्छिन्नता, प्रसुप्तता, तनुता और उदारता (कही गयी) है। ये जिस प्रकार विरोधी क्रियायोग के अनुष्ठान से दूर होते हैं, उसी प्रकार अपने व्यञ्जक कारण से अभिव्यक्त होते हैं। ये सभी क्लेश अविद्या के (ही) भेद हैं। क्यों ? (इसलिये कि) अविद्या ही इन सभी में व्याप्त है। अविद्या से जो वस्तु विषयरूप से उपस्थित की जाती है, उसी का क्लेश अनुगमन करते हैं। मिथ्याज्ञान काल में ही ये (क्लेश) उपलब्ध होते हैं और अविद्या (अर्थात् मिथ्याज्ञान) के क्षीण होने पर (ही) नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र के द्वारा अस्मितादि चारों क्लेशों को अविद्यामूलक बताया गया है। इस प्रकार अविद्या का क्लेशों में प्राधान्य तथा सभी क्लेशों के अविद्यामूलक

होने के कारण विद्या के द्वारा सभी क्लेशों के दूरीकरण की उपपत्ति होती है। **'क्लेशानां स्थूलसूक्ष्माणां सर्वेषामेव ज्ञाननाश्यत्वं वक्ष्यमाणमुपपादयितुमविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशानामाह'**[1] । अविद्या—आगे बताये जाने वाले लक्षणों वाली अज्ञानरूपा अविद्या। उत्तरेषाम्—अविद्या से परवर्ती अर्थात् पिछले सूत्र में अविद्या के बाद गिनाये गये। तथा। प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्—प्रसुप्त, हल्के, देश या काल की दृष्टि से बीच में टूटे हुये और स्वरूपतः प्रकट हुए इन अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों की। क्षेत्रम्—उद्भवस्थली, जननी या प्रसवभूमि है। तात्पर्य यह है कि अविद्या के रहने पर ही चतुर्विध अवस्था वाले अस्मितादि चारों क्लेशों की सत्ता होती है और अविद्या के न रहने पर इन चारों क्लेशों की किसी भी अवस्था में सत्ता सम्भव नहीं है॥ ४॥

(भा० सि०)—अत्र—**'एतेषु क्लेशेषु मध्ये'**[2] । इन पाँचों क्लेशों में से। अविद्या—अविद्या नामक क्लेश। क्षेत्रम्—खेत है। अर्थात्। प्रसवभूमिः—उत्पत्तिस्थली है। किनकी ? उत्तरेषाम्—अविद्यायाः परतः (पूर्वसूत्रे) पठितानाम्, अविद्या के बाद गिनाये गये। तथा। प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्—प्रसुप्त (सोये हुए), तनु (हल्के पड़े हुए), विच्छिन्न (टूटे हुए) और उदार (उभरे हुए)। इन। चतुर्विधकल्पितानाम्—चार अवस्थाओं के माने गये। अस्मितादीनाम्—अस्मिता आदिर्येषां चतुर्णां तेषाम्, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन चारों क्लेशों की (उत्पत्तिस्थली अविद्या है)। अब भाष्यकार अस्मितादि क्लेशों की 'प्रसुप्त' आदि चारों विधाओं को समझाने का उपक्रम करते हैं। तत्र—इन चारों अवस्थाओं में से। प्रसुप्तिः का—प्रसुप्ति कौन-सी अवस्था है ? इसका उत्तर देते हैं। चेतसि—चित्त में। शक्तिमात्रप्रतिष्ठानाम्—केवल शक्ति रूप से स्थित। अस्मितादि क्लेशों का। बीजभावोपगमः—बीजभावेन शक्तियोग्यतारूपेण उपगमः प्राप्तिः स्थितिः, स्वोचित क्रिया न करते हुए केवल बीजरूप से पड़े रहना। **'प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नारभन्ते ते प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते यथा बालावस्थायां बालस्य हि वासनारूपेण स्थिता अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्याभावे नाभिव्यज्यन्ते'**—(रा०मा० वृ०)। विदेहों और प्रकृतिलीनों के क्लेश प्रसुप्तावस्था में ही रहते हैं। उन सोये हुए क्लेशों की जागति अवश्य होती है। वह कैसे ? तस्य—प्रसुप्तस्य क्लेशस्य, उस सोये हुए क्लेश का। प्रबोधः—जागरणम्, जागना है। आलम्बने सम्मुखीभावः—अपने-अपने विषय को पाकर अभिव्यक्त हो जाना।

यदि विवेकख्यातिप्राप्त साधक के क्लेशों को 'सुप्त' कहें, तो यह बात ठीक नहीं

---

1. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १४३।
2. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १४४।

है, क्योंकि सोने की पहचान तो परवर्ती काल में जागने से ही होती है। यदि क्लेशों का परवर्ती काल में प्रबोध या जागरण नहीं हुआ तो वर्तमान काल में उसकी प्रसुप्तावस्था नहीं है। यह क्लेशों की 'दग्धबीजावस्था' नाम की एक अवस्था है। इसे सूत्रकार ने तो शब्दतः नहीं कहा, पर भाष्यकार इसको कहना चाहते हैं। इसलिये वे कहते हैं कि। प्रसंख्यानवतः—विवेकख्यातिप्राप्त योगी को। दग्धक्लेशबीजस्य—जिसके क्लेशों के बीज जल गये हैं, उसके क्लेशों का। आलम्बने—विषये। सम्मुखीभूतेऽपि—सन्निकृष्टेऽपि, सामने आ जाने पर भी। असौ—प्रबोधः, जागरण। पुनः—फिर से। नास्ति—न भवति, नहीं होता। दग्धबीजस्य—जिसका बीज ही जल गया, उसका। कुतः प्ररोहः—अङ्कुरण कैसे या कहाँ? अतः—इसीलिये। वह विवेकख्याति प्राप्त योगी। क्षीणक्लेशः—नष्ट हुए या दग्धबीज क्लेशों वाला। कुशलः—सिद्धः। और चरमदेहः—अन्तिम देह वाला। जीवन्मुक्त हो जाने के कारण अब उसे फिर से शरीर धारण नहीं करना है, इसलिये यह उसका अन्तिम शरीर हुआ, इसलिये उसे 'चरमदेह'। इति उच्यते—ऐसा कहा जाता है।

सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था—वह जले हुए बीजभाव वाली पाँचवीं (सूत्र की अपेक्षा से) अवस्था। तत्रैव—विवेकख्यातिप्राप्त योगी में ही होती है। न अन्यत्रेति—अन्य प्राणियों में नहीं। तदा—उस समय। सतां क्लेशानाम्—अभाव को न प्राप्त हुए क्लेशों की। बीजसामर्थ्यम्—बीजाङ्कुरण वाली क्षमता, उगने की शक्ति। दग्धम्—जल जाती है। इति—इस कारण से। विषयस्य—आलम्बन के। सम्मुखीभावेऽपि (सति)—सामने आने पर भी। एषाम्—इन क्लेशों का। प्रबोधः—जागरण। न भवति—नहीं होता। इति—इस प्रकार से। प्रसुप्तिः—सूत्र में कही गयी प्रसुप्ति नाम की अवस्था। उक्ता—कह दी गयी। साथ ही। दग्धबीजानाम्—जले हुये बीजों वाले क्लेशों का। अप्ररोहश्च—न उगना, न अंकुरित होना भी। उक्तः—कह दिया गया। तनुत्वम्—क्लेशों का हल्का हो जाना। उच्यते—अब कहा जा रहा है। प्रतिपक्षस्य—क्रियायोगस्य। भावनम्—अनुष्ठानम्, परिपालनम्। तेन उपहताः—प्रताडिताः, लब्धप्रहाराः, जर्जरीकृताः। क्लेशाः—क्रियायोग के सम्यगनुष्ठान के द्वारा जर्जर किये गये क्लेश। तनवो भवन्ति—हल्के या पतले हो जाते हैं। **'विवेकख्यातिप्रतिबन्धाक्षमा भवन्ति'**—(यो० वा०)। यही क्लेशों की 'तनुता' नामक अवस्था है। तथा—उसी प्रकार (जैसे क्लेश की प्रसुप्त या तनु अवस्थाएँ वर्णित हुई हैं, वैसे ही)। जब ये क्लेश। विच्छिद्य-विच्छिद्य—बीच में टूट-टूट कर भी। बाद में फिर। **'क्लेशानामन्यतमेनाभिभवादत्यन्तविषयसेवनाद्वा विच्छिद्य विच्छिद्य[1]।'** तेन तेन आत्मना—अपने उसी-उसी (जोरदार) रूप से

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १४६।

'पूर्ववदतनुभावेनैव'—(यो० वा०) । पुनः—फिर से । समुदाचरन्ति—आविर्भवन्ति, प्रकट होते हैं । इति विच्छिन्नाः—ये 'विच्छिन्न' अवस्था वाले क्लेश होते हैं । कथम्—यह किस प्रकार से होता है । रागकाले—राग नामक क्लेश के आविर्भूत होने पर । क्रोधस्य अदर्शनात्—क्रोध अर्थात् द्वेष नामक क्लेश के न दिखायी पड़ने के कारण । यदि उस समय द्वेष का अभाव माने तो आगे चलकर द्वेष का दर्शन ही न हो और यदि उस द्वेष को उस काल में तनु मानें तो आगे चलकर उसकी उदारावस्था असम्भव हो जायेगी । इसलिए इसे उसकी (कालिक) विच्छिन्नता ही समझनी चाहिए ।[1] इस उदाहरण में राग नामक विजातीय क्लेश से अभिभूत होकर द्वेष की विच्छिन्नता कही गयी है । क्वचित्—कहीं पर अर्थात् किसी एक आलम्बन के प्रति । दृश्यमानः रागः—दिखायी पड़ता हुआ अर्थात् उदारवृत्तिक 'राग' नामक क्लेश । विषयान्तरे—अन्य आलम्बनों के प्रति । नास्ति (इति तु) न—नहीं है, ऐसा नहीं है अर्थात् अन्य विषयों के प्रति राग उस समय अभाव को प्राप्त न होकर केवल विच्छिन्न रहता है । एकस्यां स्त्रियाम्—एक स्त्री में । रक्तः—अनुरक्तः, प्रेम करता हुआ । चैत्रः—चैत्र नामक पुरुष । अन्यासु स्त्रीषु—अन्य स्त्रियों के विषय में । विरक्तः—सर्वथा रागहीन । न इति—नहीं होता । अर्थात् उसमें अन्यस्त्रीविषयक राग का अभाव नहीं समझना चाहिए । किन्तु—बल्कि । तत्र—वहाँ पर अर्थात् उस आलम्बन में । रागः—राग नामक क्लेश । लब्धवृत्तिः—लब्धा वृत्तिर्येनासौ, प्रकटित रूप वाला रहता है । अन्यत्र—अन्य स्थलों पर अर्थात् अन्य स्त्रियों के प्रति । भविष्यन्ती वृत्तिस्स्वरूपाभिव्यक्तिर्यस्य स भविष्यद्वृत्तिः—भविष्यत्काल में स्वरूप प्रकट करने वाला रहता है । इति—इस प्रकार । सः—वह क्लेश । तदा—तो । प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति—प्रसुप्त, तनु और विच्छिन्न—इन तीन प्रकारों का हुआ । अब उदारावस्था का व्याख्यान करते हैं । विषये—आलम्बन के प्रति । यः—जो क्लेश । लब्धवृत्तिः—लब्धा स्वाभाविकी वृत्तिः स्वरूपाभिव्यक्तिर्येनासौ, अपना पूरा स्वरूप प्रकट किये रहे । सः—वह क्लेश । उदारः—'उदार' अवस्था वाला होता है । सर्वे एव एते—इन सभी अवस्थाओं वाले ये क्लेश । क्लेशविषयत्वम्—क्लेशपदवाच्यत्वम्, 'क्लेश' शब्द के द्वारा अभिहित किये जाने को । न अतिक्रामन्ति—न त्यजन्ति, नहीं छोड़ते हैं । आशय यह है कि इन सभी अवस्थाओं में रहने पर ये 'क्लेश' ही कहे जाते हैं । अब यहाँ शङ्का उठायी जाती है कि जब ये हर हालत में क्लेश ही हैं, तो फिर विच्छिन्नादि चार नाम इनको क्यों दिये जाते हैं ? कः तर्हि—कथं तदा, तो कैसे ? क्लेशः—क्लेश । विच्छिन्नः, प्रसुप्तः, तनुः, उदारो वा इति—विच्छिन्न,

---

१. 'कालिकविच्छेदं क्लेशानाम् उदाहृत्य दैशिकविच्छेदमप्युदाहरति रागश्चेति ।'
—यो० वा० पृ० १४६ ।

प्रसुप्त, तनु और उदार—इन चार नामों से कहे जाते हैं ? उच्यते—इसका उत्तर बताया जाता है। सत्यम् एव एतत्—यह तो सत्य है कि क्लेशरूपत्व इन सभी अवस्थाओं में है। किन्तु—फिर भी। विशिष्टानाम् एव—विशेष अवस्थाओं में स्थित ही। एतेषाम्—इन क्लेशों की। विच्छिन्नादित्वम्—विच्छिन्नता, प्रसुप्ति, तनुता और उदारता कही जाती है। **'क्लेशत्वेनैकतां मन्यमानश्चोदयति 'कर्त्तर्हि' इति। क्लेशत्वेन समानत्वेऽपि यथोक्तावस्थाभेदाद्विशेष इति परिहरति, उच्यते सत्यम् इति[1]।'** ये क्लेश। यथैव—जिस प्रकार से। प्रतिपक्षभावनातः—क्रियायोग के अनुष्ठान से। निवृत्तः—निवृत्त होते हैं। तथैव—उसी तरह से। स्वाभिव्यञ्जकाञ्जनेन—स्वस्याभिव्यञ्जकमेव अञ्जनं कारणं तेन तथोक्तेन, अपने अभिव्यञ्जक कारणों से। अभिव्यक्तः—प्रकटित होते हैं। सर्व एव अमी क्लेशाः—ये सभी क्लेश। अविद्यायाः भेदाः—अविद्या के ही भेद हैं। कस्मात्—क्यों ? इसलिये कि। सर्वेषु—इन सभी में। अविद्या एव—अविद्या ही। अभिप्लवते—व्याप्नोति, आधार रूप से स्थित रहती है। अविद्या के अभिप्लव या व्यापित्व का आगे व्याख्यान करते हैं। यद्वस्तु—जो चीज। अविद्यया—अविद्या के द्वारा। आकार्यते—प्रस्तूयते, समारोपित की जाती है। क्लेशाः—अस्मितादि क्लेश। तदेव—उसी समारोपित वस्तु का। अनुशेरते—अनुगमन करते हैं। विपर्यासस्य—मिथ्याज्ञानस्य, प्रत्ययः—ग्रहणम्, तस्य काले इति विपर्यासप्रत्ययकाले—मिथ्याज्ञान काल में ही। उपलभ्यन्ते—दृश्यन्ते इमे क्लेशाः, ये क्लेश अनुभूत होते हैं। क्षीयमाणां च अविद्याम्—अविद्या के क्षीण होते रहने पर। अनुक्षीयन्ते—क्षीण होते जाते हैं। इति—व्याख्यानसमाप्ति का सूचक शब्द है॥ ४॥

तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते—

उन (पाँचों) में से अविद्या का स्वरूप बताया जा रहा है—

अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या ॥५॥

अनित्य, अपवित्र, दुःखमय और अनात्मपदार्थों में (क्रमशः) नित्य, पवित्र, सुखमय और आत्मा का ज्ञान होना अविद्या है॥ ५॥

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा - ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये, उक्तञ्च—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १४७।

इत्यशुचौ शरीरे शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखाकमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्धः? भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति— 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो० सू० २।१५) इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम् 'व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति।'

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्राभावः न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः। तथा[1] चागोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः, किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥५॥

अनित्य पदार्थ में नित्य पदार्थ का ज्ञान (अविद्या है)। वह जैसे—पृथ्वी नित्य या स्थायी है। चन्द्रमा और तारों सहित द्युलोक नित्य हैं। देवगण अमर हैं—इत्यादि। उसी प्रकार अपवित्र पदार्थों—जैसे परमघृणास्पद शरीर में, जिसके लिये कहा भी गया है कि '(गन्दे उदररूप) स्थान के कारण, (रजोवीर्यरूप) उपादान के कारण (रस, रक्त, मांस आदि) आश्रय के कारण, (पसीना, मलमूत्रादि) प्रवाह के कारण, मृत्यु के भी कारण और (निरन्तर) शोधनापेक्षिता के कारण शरीर को विद्वानों ने अपवित्र माना है।'—इस प्रकार के अपवित्र पदार्थ (शरीर) में पवित्र पदार्थ का ज्ञान लोगों में देखा जाता है। (यथा—अभिनव चन्द्रकला के समान मनोरम यह कन्या मानों मकरन्द एवं अमृतरस के अवयवों से बनी हुई है और चन्द्रबिम्ब का भेदन करके निकली हुई-सी प्रतीत होती है। नीलकमल की पंखुड़ियों सरीखे विशाल नेत्रों वाली यह मानों शृङ्गारजविलास से युक्त दृष्टियों से प्राणिजगत् को तृप्त कर रही है। इस प्रकार किस (अपवित्र शरीर) का किस (मधु, अमृत, चन्दनादि) से सम्बन्ध हो रहा है? इस प्रकार से, अपविव पदार्थ में पवित्र पदार्थ की भ्रान्ति होती है। इसी से पापमय कार्य में

१. 'यथा' इति पाठान्तरम्।

पुण्य का ज्ञान और वैसे ही अनर्थपूर्ण कार्य में सार्थक कार्य का ज्ञान भी (द्वितीय अविद्या के रूप में) व्याख्यात हो गया। वैसे ही दुःख में सुख का ज्ञान बतायेंगे। 'परिणाम, ताप और संस्कार (रूप) दुःखों के कारण और (त्रि-) गुणों की वृत्ति के विरोध के कारण विवेकीजनों के लिये सब दुःख ही है।' इन (दुःखों में) सुख का बोध अविद्या है। उसी प्रकार अनात्मपदार्थों में आत्मा का ज्ञान (अविद्या) है। (स्त्री, पुत्र, मित्रादि) चेतन या (शय्यासनादि) अचेतन रूप के बाहरी साधनों में, या भोगों के अधिष्ठानभूत 'शरीर' में, या फिर आत्मा के (साक्षात्) साधन अनात्मभूत 'मन' में आत्मा का ज्ञान होता है। और इस विषय में यह भी कहा गया है कि—'(पुत्रदारपश्वादि) चेतन या (शय्यासनादि) अचेतन वस्तु को अपने रूप में ग्रहण करके उसकी सम्पन्नता पर अपनी सम्पन्नता समझता हुआ प्रसन्न होता है और उसकी विपन्नता पर अपनी विपन्नता मानता हुआ शोक करता है। (ऐसा करने वाले) वे सब अविवेकी ही हैं।'

ऐसी ही चार चरणों वाली अविद्या इस क्लेशप्रवाह तथा (जात्यायुर्भोगरूप) विपाकों सहित कर्मसंस्कारसमुदाय की जड़ है। और इस अविद्या की 'अमित्र' और 'अगोष्पद' के समान भावात्मक सत्ता जाननी चाहिये। जैसे 'अमित्र' मित्र का अभाव नहीं है, न तो मित्रमात्र है, बल्कि मित्र का विरोधी 'शत्रु' है। और उसी तरह 'अगोष्पद' न गोष्पद का अभाव है, न गोष्पद मात्र है, प्रत्युत उन दोनों से भिन्न वस्तु (एक) देश है। इसी प्रकार 'अविद्या' न तो प्रमाण है, न प्रमाण का अभाव है, बल्कि विद्या का विरोधी एक अन्य ज्ञान है ॥ ५ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—यत्र—उन पाँचों क्लेशों में से। अविद्यायाः स्वरूपम्—अविद्या का स्वरूप। उच्यते—बताया जा रहा है।

(**सू० सि०**)—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु—अनित्याः, अशुचयः, दुःखानि, अनात्मानश्चेति तथोक्ताः तेषु, अध्रुव, अपवित्र, दुःखरूप तथा अनात्म पदार्थों में। नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः—सुखानि, आत्मानश्चेति तथोक्ताः तेषां ख्यातिः ज्ञानम्, प्रतीतिः, नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मा का ज्ञान अविद्या है। 'अतस्मिंस्तद्रूपप्रतिष्ठज्ञान' को सामान्य रूप से अविद्या कहा गया है। यहाँ पर भेदसहित अविद्या का प्रतिपादन करने के लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। **'अतस्मिंस्तदिति प्रतिभासोऽविद्येत्यविद्यायाः सामान्यं लक्षणम्। तस्या एव भेदप्रतिपादनम्'।**[1] 'गरुडपुराण' में भी अविद्या के भेद का प्रतिपादन इसी रूप में किया गया है—

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ३३।

'अनात्मन्यात्मविज्ञानमसतः सत्स्वरूपता ।
सुखाभावे तथा सौख्यं माया विद्याविनाशिनी' ॥ ५ ॥

(**भा० सि०**)—अनित्ये—अध्रुव पदार्थ में । अर्थात् । कार्ये—(अध्रुव) कार्यों में । नित्यख्यातिः—नित्यत्व की प्रतीति । तद्यथा—वह जैसे । १. ध्रुवा पृथिवी—पृथिवी नित्य है—यह प्रतीति । २. सचन्द्रतारका द्यौः—चन्द्रमा और तारों वाला द्युलोक अर्थात् देवलोक । ध्रुवा—नित्य है, यह प्रतीति अविद्या है । तथा—तद्वत्, वैसे ही । अशुचौ (अर्थात्) परमबीभत्से—अत्यन्त घृणित या अपवित्र । काये—शरीर के विषय में । उक्तञ्च (यस्य विषये स्मृतिषु)—जिसके विषय में स्मृतियों में कहा गया है । स्थानाद्—माता का उदर शरीर का मौलिक निवासस्थान है । उस गन्दे स्थान के कारण । बीजाद्—मातापिता का रजोवीर्य शरीर का बीज या मूल-कारण है । उस गन्दे बीज या उपादानकारण से उत्पन्न होने के कारण । उपष्ट-म्भात्—शरीर का उपष्टम्भ या आधार, खाये-पिये गये भोजनादि का रस इत्यादि है । उसके कारण । निःस्यन्दात्—शरीर से जो तरल पदार्थ पसीना तथा मलमूत्रादि आदि निकलते रहते हैं, वे ही निःस्यन्द हैं । उनके कारण **'नवद्वाररोमकूपादिभिश्च क्षरणम्'**[1] । निधनाद् अपि—और मरने के कारण, **'निधनञ्च श्रोत्रियशरीरमप्य-पवित्रयति, तत्स्पर्शे स्नानविधानाद्'**[2] । आधेयं शौचं शुद्धिः प्रक्षालनादिः यस्मिंस्तस्य भावः तस्मात् आधेयशौचत्वात्—स्नानादि सफ़ाई की सदैव अपेक्षा रखने के कारण । कायम्—शरीर को । पण्डिताः—विद्वांसः, विद्वानों ने । हि—निश्चय ही । अशुचिम्—अपवित्र । विदुः—जाना है (बताया है) ।

इति—इस प्रकार से । अशुचौ—अपवित्रे पदार्थे, अपवित्र पदार्थ को । शुचि-ख्यातिः—पवित्र पदार्थ के रूप में जानना । दृश्यते—लोगों में देखा जाता है । कैसे ? इस प्रकार कि (किसी स्त्री-शरीर के विषय में लोग इस प्रकार की कल्पना करते हैं कि) नवेव शशाङ्कलेखा इव—चन्द्रमा की अभिनव कला के समान । कमनीया—कान्तिवाली, मनोरम । इयं कन्या—यह कन्या । मध्वमृतावयवनिर्मितेव—मकरन्द या अमृतरस के अवयवों से बनी हुई-सी है । चन्द्रं भित्त्वा—चन्द्रबिम्ब को फोड़ कर । निःसृता इव—निकली हुई-सी । ज्ञायते—जान पड़ती है । तात्पर्य यह है कि उसके शरीर का उपादान कारण मानों चन्द्रमण्डल है । नीलोत्पलपत्रायताक्षी—नीलकमल की पंखुरियों के सदृश विशाल नेत्रों वाली (यह कन्या) । हावगर्भलोचनाभ्याम्—शृङ्गारिकभावः हावः, स गर्भेऽन्तः ययोः ताभ्याम्, हावयुक्तलोचनाभ्याम्, शृङ्गार की भावनाओं से भरे हुए नेत्रों से । जीवलोकम्—प्राणिजगत् को । आश्वासयन्ती इव—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १४९ ।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १४९ ।

तृप्त-सी करती हुई (वर्तमान) है। इति—इस प्रकार। कस्य—किस अपवित्र पदार्थ का। केन—किस 'चन्द्र' 'अमृत' 'कमल' आदि पवित्रपदार्थ से। अभिसम्बन्धः—(ज्ञान में) सम्बन्ध। भवति—हो रहा है या हो जाता है। हावः—शृङ्गारिक भावविशेष को 'हाव' कहते हैं। '**'शृङ्गारजा लीला'**[1]। **'भूनेत्रादिविकारैस्तु सम्भोगेच्छाप्रकाशकः। भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते'**[2]। एवम्—इस प्रकार से। अशुचौ—अपवित्र पदार्थ में। शुचिविपर्यासः—पवित्रपदार्थप्रकारक मिथ्याज्ञान होता है। इति—यह अविद्या का दूसरा भेद हुआ। एतेन—इसी 'अपवित्र में पवित्र की प्रतीति रूपिणी' द्वितीयभेद वाली अविद्या के द्वारा (अतिदेश से)। अपुण्ये—पाप में। पुण्यप्रत्ययः—पुण्य की प्रतीति। तथैव च—और उसी प्रकार से। अनर्थे—अनर्थक या अनर्थकारी पदार्थों में। अर्थप्रत्ययः—सार्थकता की प्रतीति। व्याख्यातः—(द्वितीय अविद्या के रूप में ही) गृहीत या उपसंख्यात हो गयी। **'शुच्यशुचिशब्दयोर्योगोत्कृष्टसाधनासाधनमात्रोपलक्षकत्वादित्यर्थः। भाष्योक्तमप्यविद्याद्वयमन्यासामपि संसारहेतूनामविद्योपलक्षकमतो न न्यूनता।'**[3]

तथा—वैसे ही। दुःखे—दुःख में। सुखस्य ख्यातिम्—सुख की प्रतीति को। **'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन।'**—इस आगामी सूत्र (यो० सू० २।१५) में स्वयं सूत्रकार ही। वक्ष्यति—कहेंगे। तत्र—उसमें अर्थात् आगामी सूत्र के द्वारा सूचित दुःख में। सुखख्यातिः—सुख की प्रतीति या बोध अविद्या है। भाष्य में आये हुए 'तथा' पद का सूत्रोद्धरण के बाद आये हुए 'तत्र सुखख्यातिरविद्या' इस वाक्यांश के साथ अन्वय करना चाहिए[4]।

तथा—उसी प्रकार। अनात्मनि—अनात्मपदार्थों में। जाति के लिये एकवचन का प्रयोग होने की परम्परा के कारण इन सब स्थलों में प्रयुक्त एकवचन का अर्थ बहुवचन में ही किया गया है। आत्मख्यातिः—आत्मनः ख्यातिः, आत्मा का बोध। यह अविद्या चौथे प्रकार की है। इसके उदाहरण बताते हैं। चेतनाचेतनेषु—चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के। भोगाधिष्ठाने—भोग के आश्रयभूत। शरीरे—शरीर में। वा—या फिर। पुरुषोपकरणे—पुरुष के साधनभूत। अनात्मनि मनसि—आत्मभिन्न 'मन' में। आत्मख्यातिः—आत्मा की प्रतीति। इति—ये चौथे प्रकार की अविद्या के उदाहरण हैं।

तथा—उसी प्रकार से। अत्र—इस आगे कहे जाने वाले पञ्चशिख के वाक्य में। एतद्—यह चौथे प्रकार की 'अनात्म' पदार्थ में 'आत्मप्रतीति रूपिणी' अविद्या

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १४९।

२. द्रष्टव्य; सा० द० ३।९४।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १५०।

४. 'तथेत्यस्य तत्र सुखख्यातिरविद्येत्यनेनान्वयः।'—यो० वा० पृ० १५०।

उक्तम्—कही गयी है। व्यक्तम्—(सत्त्वम्) चेतन पदार्थ, जैसे—पुत्र, पत्नी, पशु इत्यादि पदार्थ को। अव्यक्तं वा सत्त्वम्–या अचेतन पदार्थ, जैसे–शय्या, आसन, भोजन, गृह वस्त्रादि को। **'व्यक्तं चेतनं पुत्रदारपश्वादि अव्यक्तम् अचेतनं शय्यासनाशनादि'**[1]। आत्मत्वेन—आत्मीय या आत्मरूप। अभिप्रतीत्यसमझकर 'आत्मतया गृहीत्वा'। तस्य–उस चेतनाचेतन अनात्मभूत पदार्थ की। सम्पदम्—समृद्धि को। आत्मसम्पदम्—अपनी समृद्धि। मन्वानः—मानता हुआ। तनादिगणीय √मन् धातु से शानच् प्रत्यय। अनुनन्दति—प्रसन्न होता है। तस्य—उस अनात्मभूत पदार्थ की। व्यापदम्—विपत्ति को। आत्मव्यापदं मन्वानः—अपनी विपत्ति मानता हुआ। अनुशोचति—शोकग्रस्त होता है। सर्वः सः—सभी ऐसे प्राणी। अप्रतिबुद्धः—मूर्ख या अविद्याग्रस्त हैं। एषा यह। अविद्या—अविद्या नामक क्लेश। चतुष्पदा—चत्वारि पदानि, स्थानानि, प्रकाराः यस्याः सा, चार पैरों वाली अर्थात् चार प्रकार की अविद्या। अस्य क्लेशसमुदायस्य—इस क्लेशसमूह की अर्थात् इन पाँचों क्लेशों की। सविपाकस्य कर्माशयस्य च—और 'जात्यायुर्भोग' रूप त्रिविध कर्म-फलों सहित समस्त कर्म-संस्कारों की। मूलम्—जड़, मूलकारण। भवति—होती है। इति—यह अविद्या के चतुष्प्रकारत्व के व्याख्यान की समाप्ति का सूचक पद है।

अब अविद्या के भावात्मक या अभावात्मक स्वरूप का निर्णय करने की योजना करते हैं। तस्याश्च–और उस। अविद्यायाः–अविद्या की। अमित्रागोष्पदवत्—'अमित्र' एवं 'अगोष्पद' शब्दों के अर्थों की भाँति। वस्तुसतत्त्वम्—वास्तविक (भावात्मक) सत्ता, भावात्मक तत्त्वरूपता (Positive existence)। विज्ञेयम्—जाननी चाहिए। 'तत्त्वम्' एव 'सतत्त्वम्' यथा 'गोत्रम्' एव 'सगोत्रम्' वस्तुनः सतत्त्वम् अर्थात् वस्तुनः तत्त्वम् इति वस्तुसतत्त्वम्—वास्तविक रूप से स्थिति वाली अर्थात् भावात्मक सत्ता। **'वस्तुनः भावो वस्तुसतत्त्वं वस्तुत्वमित्यर्थः तदनेन न प्रसज्यप्रतिषेधो नापि विद्यैवाविद्या नापि तदभावविशिष्टा बुद्धिरपितु विद्याविरुद्धं विपर्ययज्ञानमविद्येत्युक्तम्'**[2]।

'अविद्या' शब्द में 'नञ्' तत्पुरुषसमास करना चाहिए, न विद्येति अविद्या। किन्तु इस 'नञ्' का अर्थ अभाव में पर्यवसित नहीं होता, प्रत्युत विरुद्धार्थक भाव में पर्यवसित होता है। इस प्रकार यहाँ 'नञ्' का 'पर्युदास'-परक अर्थ लेना चाहिए, 'प्रसज्यप्रतिषेध'-परक नहीं। 'पर्युदासात्मक नञ्' भावात्मकता में पर्यवसित होता है, निषेध में नहीं—

> **'प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता।**
> **पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्'॥**

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५०।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५१।

अब यह भावरूप अर्थ किस प्रकार का होना चाहिए—इस सम्बन्ध में आचार्यों के द्वारा माने गए 'नञ्' के (६) अर्थों में[1] से 'विरोध' वाला अर्थ लेने पर अभीष्ट प्रतिपादन सम्भव है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि विद्याविरोधी कोई ज्ञान अर्थात् 'मिथ्याज्ञान' ही अविद्या है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं। यथा—जिस प्रकार से। अमित्रः—अमित्र शब्द का अर्थ। न मित्राभावः—मित्र का अभाव नहीं है। न—और न तो। मित्रमात्रम्—मित्र ही है। किन्तु–प्रत्युत। तद्विरुद्धः–उस मित्र का विरोधी। सपत्नः—शत्रु (भावात्मक सत्तावाला पदार्थ) है। तथा—वैसे ही। अगोष्पदम्—'अगोष्पद' शब्द का अर्थ। न गोष्पदाभावो—गाय के पैर का अभाव नहीं है। न गोष्पदमात्रम्—और न तो गाय का पैर ही है। किन्तु—बल्कि। देश एव—(भावात्मक सत्ता वाला) एक देश-विशेष है। ताभ्याम् अन्यद्—(गाय के पैर तथा उसके अभाव) दोनों से भिन्न। वस्त्वन्तरम्—अन्यद् वस्तु, भिन्न वस्तु। एवम्—इस प्रकार से। अविद्या—'अविद्या' नामक क्लेश। न प्रमाणम्—न तो प्रमाण अर्थात् ज्ञान या विद्या है। न प्रमाणाभावः—न तो विद्या का अभाव मात्र है। किन्तु—बल्कि। विद्यायाः विपरीतम्—विद्या का विरोधी। ज्ञानान्तरम्—अन्य ज्ञान ही। अविद्या—अविद्या नामक क्लेश है। इति—व्याख्यान की समाप्ति का सूचक पद है॥ ५॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृक्शक्ति (पुरुष) और दर्शनशक्ति (बुद्धि) की प्रतीयमान एकात्मता अस्मिता है॥ ६॥

पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्—'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेनेति'॥ ६॥

पुरुष दृक् (देखने वाली) शक्ति है। बुद्धि (देखने की साधनरूपा) दर्शनशक्ति है। इन दोनों तत्त्वों की (परस्पर भिन्न होने पर भी) अभिन्नाकारता की प्रतीति 'अस्मिता' नामक क्लेश है। एक-दूसरे से बिल्कुल अलग अर्थात् अमिश्रित भोक्तृशक्ति पुरुष तथा भोग्यशक्ति बुद्धि की अभिन्नरूपता की प्रतीति होने पर ही भोगों का अनुभव होता है। (दोनों शक्तियों के) स्वकीय रूपों के बोध होने पर तो दोनों की केवलता (अलगाव) ही हो जाती है। भोग कहाँ से हो सकता है ? इसीलिए

---

१. द्रष्टव्य; इसी ग्रन्थ में पृ० ५४।

(पञ्चशिख के द्वारा) कहा गया है—'अलग रूप, (अलग) स्वभाव और (अलग) जानकारी आदि कारणों से पुरुष को बुद्धि से भिन्न न देखते हुए उस बुद्धि को लोग अविद्या के कारण आत्मा समझ लेते हैं ।। ६ ।।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—दृक् च दर्शनञ्चेति दृग्दर्शने, ते एव शक्ती इति दृग्दर्शनशक्ती, तयोरिति दृग्दर्शनशक्त्योः—पुरुष एवं बुद्धि इन दोनों शक्तियों की । एकात्मता इव—एकः आत्मा स्वभावः ययोः तौ एकात्मानौ, तयोर्भावः एकात्मता, एकरूपता या एकार्थता-सी प्रतीत होना । वस्तुतः 'एकरूपता' तो होती नहीं, इसलिये 'एक-रूपता-सी' प्रतीत होना । अस्मिता—'अस्मिता' नामक क्लेश है । दोनों शक्तियाँ एकरूप तो हैं नहीं, फिर भी अविद्या के कारण दोनों की एकरूपता का भान होना, अभिमान होना, प्रतीति होना ही 'अस्मिता' नामक क्लेश है । **'अनयोर्भोग्यभोक्तृत्वेन जडाजडत्वेनात्यन्तभिन्नरूपयोरेकताभिमानोऽस्मितेत्युच्यते'**[1] ।। ६ ।।

(भा० सि०)—पुरुषः—पुरुष । दृक्शक्तिः—देखने वाली, 'ज्ञ' रूपशक्ति, पश्यतीति √दृश् + क्विप् कर्त्तरि = दृक् । बुद्धिः—बुद्धि । दर्शनशक्तिः—दृश्यतेऽनेनेति, दर्शनम् एव शक्तिः इति दर्शनशक्तिः √दृश् + ल्युट् करणे = दर्शनम्, देखने की साधन-रूपा शक्ति है । इति एतयोः—इन दोनों में । एकस्वरूपापत्तिरिव—एकस्वरूपस्या-पत्तिः इव, एकरूपता का हो जाना-सा, अर्थात् वस्तुतः एकरूपता न होने पर भी एकरूपता जैसी प्रतीति[2] । अस्मिताक्लेशः—अस्मितानामक क्लेश । उच्यते—कहा जाता है । पुरुष और बुद्धि इन दोनों सत्ताओं के लिये 'शक्ति' शब्द का प्रयोग इनके भोक्तृत्व (ज्ञातृत्व) और भोग्यत्व (ज्ञेयत्व) की योग्यता को दृष्टि में रखकर किया गया है । **'दृग्दर्शनयोरिति वक्तव्ये तयोर्भोक्तृभोग्ययोग्यतालक्षणं सम्बन्धं दर्शयितुं शक्तिग्रहणम्[3] ।'** अत्यन्तविभक्तयोः—बिल्कुल भिन्न । अत्यन्तासंकीर्णयोः—अर्थात् बिल्कुल अलग-अलग स्थित । भोक्तृभोग्यशक्त्योः—पुरुष नामक भोक्तृशक्ति और बुद्धि नामक भोग्यशक्ति के । अविभागप्राप्तौ इव सत्याम्—मिले हुए-से प्रतीत होने पर या अभिन्न-से हो जाने पर अर्थात् एकाकार-से प्रतीत होने पर ही । भोगः—सुखदुःखादिसाक्षात्कार रूप भोग । कल्पते—भवति, सम्पन्न होता है । स्वरूपप्रतिलम्भे–स्वरूपस्य प्रतिलम्भः उपलब्धिः तस्मिन्, दोनों के स्वरूप की ख्याति अर्थात् बोध हो

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० २८ ।

२. 'एकात्मतेव एकार्थतेव न तु परमार्थत एकात्मता सास्मिता ।'
—त० वै० पृ० १५३ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५३ ।

जाने पर अर्थात् विवेकख्याति हो जाने पर **'विवेकख्यातौ जातायाम् इत्यर्थः[1] ।'** तु—तो, पहले की भोगात्मक स्थिति की निवृत्ति के लिये 'तु' का प्रयोग हुआ है। तयोः—पुरुष और बुद्धि इन दोनों का। कैवल्यम् एव भवति—कैवल्य या अलगाव हो जाता है। इसलिये उस दशा में। कुतो भोगः—भोग कैसे हो सकता है ? इति—समाप्तिसूचक पद है। तथा च उक्तम्—वैसे ही पञ्चशिखाचार्य के द्वारा कहा भी गया है। बुद्धितः परम्—बुद्धि से भिन्न। पुरुषम्—पुरुष को। आकारशीलविद्यादिभिविभक्तम्—'विशुद्ध' स्वरूप 'असङ्ग' स्वभाव और 'शुद्धचैतन्यलक्षण' ज्ञान आदि के कारण (बुद्धि से बिल्कुल) भिन्न। अपश्यन्—न देखता हुआ, सांसारिक जीव। तत्र—उस बुद्धि में। मोहेन—अविद्या के कारण। आत्मबुद्धिं कुर्यात्—आत्मा का बोध करता है, अर्थात् बुद्धि को आत्मा समझता है। इति—उदाहृत वाक्य की समाप्ति का सूचक पद है॥ ६॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुख का अनुवर्ती (क्लेश) राग है॥ ७॥

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

सुख के अनुभविता को सुखानुभव की स्मृतिपूर्वक सुख या सुख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो चाह, लालच या लोलुपता होती है, वह राग है॥ ७॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—सुखानुशयी—सुखानुवर्ती अर्थात् सुखानुभव के बाद (स्वतः) अनुभूत होने वाला क्लेश। रागः—'राग' कहा जाता है। 'सुखानुशयी' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की जा सकती है—अनुशेते इति, अनु+शीङ्+णिनिः[2] = अनुशयी, सुखस्य अनुशयी इति सुखानुशयी (ष० त०), सुखानुभव का अनुवर्ती 'राग' नामक क्लेश होता है॥ ७॥

(भा० सि०)—सुखाभिज्ञस्य—अभिजानातीति अभिज्ञः, सुखस्याभिज्ञः इति सुखाभिज्ञः, तस्य, सुख का अनुभव करने वाले को। सुखानुस्मृतिपूर्वः—अनुगता स्मृतिरिति अनुस्मृतिः, सुख की स्मृतिपूर्वक। सुखे—आनन्दानुभूति में। तत्साधने वा—या सुखप्रद पदार्थों के विषय में। यो गर्धः—जो चाह। अर्थात्। तृष्णा—

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १५४।

२. ('नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः'—पा० सू० ३।१।१३४। 'वृद्धयभावो निपातनात् (यथा) विशयी'—सि० कौ० पृ० ५६४।)

लालच । अर्थात् । लोभः—**'लोलुपता'** (भा० पृ० १५५) लोलुपता होती है । सः राग इति—वह 'राग' नामक क्लेश है । **'तेन सुखसाक्षात्कारतः सुखस्मृतितश्च रागो भवति इति रागस्य कारणमुक्तम्'**[१] ।

इस जन्म की स्मृति तो स्पष्ट हो सकती है, किन्तु जन्मान्तर की स्मृतियाँ स्पष्ट नहीं होतीं, इसलिये 'अनुस्मृति' पद से इस जन्म और जन्मान्तर उभय प्रकार की स्मृतियाँ गृहीत होती हैं । इस जन्म में अननुभूत सुख-साधनों के प्रति राग की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस आशङ्का के समाधान के लिये 'अनुस्मृति' पद अत्यन्त आवश्यक एवं समीचीन है । जन्मान्तरीय अस्पष्ट—स्मृतियों के कारण ही उन पदार्थों के प्रति 'राग' का होना संभव होता है ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःख का अनुवर्ती (क्लेश) द्वेष है ॥ ८ ॥

दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति ॥ ८ ॥

दुःख के अनुभविता को दुःखानुभव की स्मृतिपूर्वक दुःख या दुःख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो प्रतिहिंसा, मन्यु, मारने की इच्छा या क्रोध होता है, वह द्वेष है ॥ ८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—दुःखानुशयी—अनुशेते इति अनुशयी, दुःखस्यानुशयीति तथोक्तः क्लेशः । द्वेषः—'द्वेष' है । दुःखानुभव के बाद दुःख और उसके साधनों के प्रति अनुभूयमान क्लेश 'द्वेष' कहा जाता है ॥ ८ ॥

(भा० सि०)—दुःखाभिज्ञस्य—दुःखानुभव कर चुकने वाले को । दुःखानुस्मृतिपूर्वः—दुःख की व्यक्त अथवा अव्यक्त स्मृतिपूर्वक । दुःखे—दुःखानुभव के विषय में । तत्साधने वा—या फिर दुःख देने वाले पदार्थों के विषय में । यः—जो । प्रतिघः—प्रतिहन्तीति प्रतिघः, प्रतिहिंसा । अर्थात् । मन्युः—गुस्सा । जिघांसा—हन्तुमिच्छा√हन्+सन्+अ+टाप्, मारने की इच्छा । अर्थात् । क्रोधः—क्रोध होता है । सः द्वेष इति—वह 'द्वेष' नामक क्लेश है ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

(मरणत्रासानुभवजन्य) संस्काररूप से स्थिर, विद्वानों में भी उसी प्रकार से वर्तमान क्लेश 'अभिनिवेश' है ॥ ९ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १५५ ।

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, 'मा न भूवं भूयासमि'ति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्टयात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। कस्मात् समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

सभी प्राणियों में अपने विषय में यह सार्वकालिक कामना होती है कि 'मैं न रहूँ—ऐसा न हो, बल्कि सदा रहूँ।' मरणधर्म का अनुभव न किये हुए को ऐसी आत्मविषयिणी कामना नहीं हो-(सक) ती। इस (कामना) से पूर्वजन्मों (के मरण) का अनुभव प्रकट होता है। और यह 'अभिनिवेश' नामक क्लेश स्वभावतः वर्तमान रहने वाला, उत्पन्न मात्र हुए कीट को भी, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों के द्वारा अज्ञेय, आत्मनाश की कल्पनारूप मरण का भय (है यह) पहले जन्मों में अनुभूत किये गये मरणदुःख का अनुमान कराता है। यह (क्लेश) जैसे अत्यन्त ज्ञानहीन प्राणियों में देखा जाता है, वैसे ही (जीवन का) आदि और अन्त जानने वाले विद्वान् को भी बना रहता है। क्यों (इसलिये कि) ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में ही (पूर्वजन्मलब्ध) मरणदुःखानुभव के कारण यह वासना समानरूप से होती है ॥ ९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—स्वस्य रसः इति स्वरसः (स्वभाव या स्वरूप) तं वोढुं शीलमस्येति स्वरसवाही[1] (स्वरस + $\sqrt{}$वह् + णिनिः)—अपने मौलिक रूप को सदा अक्षुण्ण रखने वाला अर्थात् संस्काररूप से सदैव वर्तमान रहने वाला **'स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलः न पुनरागन्तुकः**[2]**।' 'स्वरसवाही स्वरसेन संस्कारमात्रेण वहतीति स्वरसवाही**[3]**।'**

विदुषः—विद्वानों को। अपि—भी। तथारूढः—तथैव (सामान्य जन्तुओं की भाँति) रूढः, उपस्थितत्वेन प्रसिद्धः, विद्वानों में भी उपस्थित रहता है—इस रूप में जो प्रसिद्ध है, वह क्लेश। अभिनिवेशः–**'मरणभयम्'** (त० वै०) मरने का डर है ॥९॥

---

१. 'स्वरसवाही स्वाभाविकः'—यो० वा० पृ० १५७।
'स्वसंस्कारेण वहनशीलः स्वाभाविक इव'—भा० पृ० १५६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५६।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १५५।

(भा० सि०)—सर्वस्य प्राणिनः–सभी प्राणियों की । इयम्–यह । आत्माशीः–अपने विषय में कामना **'आत्माशीः आत्मनि प्रार्थना'** (त० वै०) । नित्या—सदैव रहने वाली । भवति—होती है । इस कामना का रूप यह होता है 'मा न भूवम्' हम न होवें, ऐसा न हो (बल्कि) 'भूयासम्'—सदा बने रहें । प्राणियों की इस शाश्वतिक कामना के द्वारा उसका मरणभय साफ प्रकट होता है । अननुभूतमरणधर्मकस्य—मरणक्रिया को प्राप्त न हुए प्राणी को । एषा आत्माशीः—यह आमविषयिणी कामना । न च भवति—न भवितुं शक्नोति, नहीं हो सकती । जिसने मरने के कष्ट का अनुभव न किया हो, वह मरने से निरन्तर क्यों डरेगा ? एतया च—और इस कामना से । पूर्वजन्मानुभवः—(प्राणी के) प्राक्तनजन्मों के मरणदुःख का अनुभव **'पूर्वजन्मनि मरणानुभवः इत्यर्थः'**[1] । प्रतीयते—ज्ञात होता है । **'एतेन जीवस्यानादित्वमपि प्रसङ्गतः साधितम्**[2] **।'** स चायम्—वही यह । स्वरसवाही—वासनासंस्कारों के रूप में विद्यमान । अभिनिवेशः—मरणभय रूपी क्लेश । कृमेरपि—कीटाणुओं को भी । अर्थात् । जातमात्रस्य—जिस किसी प्राणी ने जन्म लिया है, उसी को । प्रत्यक्षानुमानागमैः असम्भावितः—अननुभवनीयः, अनुत्पाद्यः । इस जन्म में मरने के दुःख का प्रत्यक्ष हुआ नहीं । अनैकान्तिकहेत्वभाव के कारण मरने के दुःख का अनुमान भी नहीं किया जा सकता । शास्त्रोक्त जानकारी के पहले भी मरण के दुःख की जानकारी के होने से सिद्ध होता है कि यह क्लेश प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों से उत्पन्न न हो सकने वाला । उच्छेददृष्टचात्मकः—विनाश-कल्पना रूपी । मरणत्रासः—मरने का भय । पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखम्—पूर्वजन्मों में झेले गये मरणजन्य दुःखों को । अनुमापयति—अनुमित कराता है ।

अभिसन्धि यह है कि पैदा हुआ प्राणी प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों का प्रयोग करने के बिना भी मारकवस्तु को देखकर डरता या काँपता है । ऐसा आखिर क्यों है ? न उसने अपने इस जीवन में मरण का प्रत्यक्ष किया, न अनुमिति की, न शास्त्रादि-श्रवण से ही अभी तक उसे मरण-दुःख का बोध हुआ । फिर ऐसा क्यों हुआ ? इससे सिद्ध होता है कि यह भय उसे पूर्वजन्मों में प्राप्त मरण का भय है । यही उसमें संस्कार रूप में सदा बना रहता है[3] और यही मारक वस्तु को देखकर प्रकट हो रहा है । इससे पूर्वजन्म में अनुभूत मरण के दुःख का अनुभव अनुमित होता है । सूत्र में आये हुए 'तथा' पद का अर्थ स्पष्ट करने की आकांक्षा से भाष्यकार 'यथा' पद की

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १५६ ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १५६ ।

३. 'पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासना बलाद्भयरूपः समुपजायमानः निमित्तमन्तरेण प्रवर्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः ।'—रा० मा० वृ० पृ० ११ ।

योजना करते हैं। सूत्र में 'तथा' शब्द तो आया है, किन्तु 'यथा' शब्द नहीं है। इसलिये 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' की मान्यता के कारण भाष्यकार सूत्र में 'यथा'-पद की कल्पना करते हुए व्याख्या करते हैं। अयञ्च क्लेशः—और यह अभिनिवेश नामक क्लेश। यथा—जिस प्रकार से। अत्यन्तमूढेषु—मन्दतम बुद्धिवाले प्राणियों में। दृश्यते—देखा जाता है। तथा—उसी प्रकार से। विदुषः अपि—विद्वान् को या जानकार को भी। अर्थात्। विज्ञातपूर्वपरान्तस्य—विज्ञातौ (श्रुतानुमानाभ्याम्) पूर्वापरौ अन्तौ कोटी[1] येन तस्य, पुरुष की पूर्ववर्ती और अन्तिम दशा को जानने वाले विवेकी पण्डित को भी[2]। रूढः—सिद्धः, प्रसिद्धः, 'उपस्थित रहता है'—इस रूप में सर्वविदित। आशय यह है कि विद्वानों में भी इस क्लेश की सत्ता होती है, यह सर्वविदित तथ्य है। इसीलिये 'रूढः' शब्द का प्रयोग हुआ है। कस्मात्—क्यों? (इसलिये कि) तयोः—उन दोनों। कुशलाकुशलयोः—विद्वान् और मन्दमति दोनों में। मरणदुःखानुभवाद्—पूर्वजन्म में मरण के दुःख का समान अनुभव होने के कारण। इयं वासना समाना इति—यह मरणभयरूपिणी वासना समान ही होती है॥ ९॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

वे सूक्ष्मक्लेश चित्त के लय के द्वारा निवर्तनीय होते हैं॥ १०॥

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति॥ १०॥

वे पाँचों दग्धबीजक्लेश योगी के कृतकृत्य चित्त के (अव्यक्त में) लीन होने पर उसी के साथ-साथ लीन हो जाते हैं॥ १०॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—सूक्ष्माः ते—दग्धबीजभावास्ते क्लेशाः। जले हुए बीजभाव वाले क्लेशों को, कार्यकरणरूपफलासामर्थ्य के कारण 'सूक्ष्म' कहा गया है। ये सूक्ष्म क्लेश। प्रतिप्रसवहेयाः—चित्त के प्रविलय के द्वारा विलीन किये जाने योग्य होते हैं। **'ते सूक्ष्माः क्लेशाः ये वासनारूपेणैव स्थिता न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते'**[3] ॥ १०॥

(भा० सि०)—ते—वे। अर्थात्। पञ्च क्लेशाः—पाँचों क्लेश। दग्धबीजकल्पाः—यह 'सूक्ष्माः' पद का अर्थ है। **'सूक्ष्माः दग्धबीजभावाः क्लेशाः'**[4]। इस अवस्था में क्लेशों की सत्ता सूक्ष्म रूप से रहती जरूर है, किन्तु जले हुए बीजों के

---

१. 'पुरुषस्य हि पूर्वा कोटिः संसारः उत्तरा च कैवल्यम्'।—त० वै० पृ० १५७।

२. 'न सम्प्रज्ञातवान् विद्वानपितु श्रुतानुमानविवेकीति भावः।'—त० वै० पृ० १५८।

३. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ३३।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १५९।

समान ये क्लेश कार्याङ्कुरणाक्षम रहते हैं। योगिनः—योगी के। चरिताधिकारे चेतसि—भोगादि रूप कार्य को समाप्त कर चुकने वाले चित्त के। प्रलीने—प्रविलीन हो जाने पर अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर, चित्त के अव्यक्त में विलीन हो जाने पर। तेनैव सह—उसी विलीन चित्त के साथ-साथ। अस्तं गच्छन्ति —प्रविलीन हो जाते हैं। चित्त का प्रविलय पहले अपने कारणभूत अस्मिता में होता है, फिर क्रमशः अव्यक्त तत्त्व में हो जाता है। **'कार्यस्य चित्तस्यास्मितालक्षणकारण-भावापत्त्या हातव्येति'**[1] ॥ १० ॥

स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्—

बीजभावापन्न किन्तु नष्ट न हुए—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

उन (क्लेशों) की वृत्तियाँ (क्रियायोग से हल्की तथा) विवेकख्याति के द्वारा नष्ट की जाने योग्य होती हैं ॥ ११ ॥

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति। यथा च वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

क्लेशों की जो स्थूल वृत्तियाँ हैं, वे क्रियायोग से हल्की कर दी जाने पर प्रसंख्यान नामक 'ध्यान' (अर्थात् विवेकख्याति) के द्वारा नष्ट करने योग्य हो जाती है। जिससे कि (उनकी वृत्तियाँ) सूक्ष्म हो जायें अर्थात् दग्धबीजसदृश हो जायें। (दृष्टान्त देते हैं कि) जैसे—वस्त्रों की स्थूल गन्दगी पहले दूर की जाती है (और) बाद में प्रयत्न और उपाय से सूक्ष्म (गन्दगी) हटायी जाती है, वैसे ही क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ स्वल्प प्रतीकार वाली और सूक्ष्म वृत्तियाँ महान् प्रतीकार वाली होती हैं ॥ ११ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—बीजभावोपगतानाम्—बीजभावः तनुत्वं, तदुपगतानाम्, क्रियायोग के द्वारा तनुता को प्राप्त हुए। स्थितानाम्—फिर भी विद्यमान रहने वाले क्लेशों की। क्रियायोग के द्वारा क्लेशों का तनूकरण हो जाता है। तनूकृत क्लेशों को यहाँ भाष्यकार ने बीजभावापन्न कहा है।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १५९।

(सू० सि०)—तद्वृत्तयः—तेषां (बीजभावोपगतानां) क्लेशानां वृत्तयः इति तद्वृत्तयः, उन क्लेशों की वृत्तियाँ, प्रकट स्थितियाँ। ध्यानहेयाः—ध्यानेन, प्रसंख्यान के द्वारा अर्थात् विवेकख्याति के द्वारा। हेयाः—हातुं योग्याः, परिहरणीय होती हैं। सूत्रकार ने क्लेशों की वृत्तियों को ध्यान या प्रसंख्यान के द्वारा परिहरणीय बताया है। भाष्यकार का कहना है कि ध्यान या विवेकख्याति के द्वारा क्लेशों की तनूकृत अर्थात् हल्की पड़ी हुई वृत्तियों का ही हान होता है, क्योंकि क्लेशों की उदारादि स्थूलवृत्तियों का हान बिना हुए तो विवेकख्याति की दशा तक योगी पहुँच ही नहीं सकता। इसलिए यह निश्चित होता है कि विवेकख्याति के द्वारा क्लेशों की केवल तनूकृत वृत्तियाँ ही हेय होती हैं। इसी बात के स्पष्टीकरणार्थ सम्बन्धभाष्य में भाष्यकार ने लिखा है कि बीजभावता को प्राप्त हुए क्लेश अर्थात् क्लेशों की तनूकृत वृत्तियाँ ही 'ध्यान' के द्वारा हेय होती हैं। अब क्लेशों की स्थूलवृत्तियों का तनूकरण या बीजभावत्व कैसे होता है? भाष्यकार ने पहले इसी बात को 'क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः' इस अंश से स्पष्ट करके तब ध्यान के द्वारा हेय वृत्तियों का व्याख्यान किया है ॥ ११ ॥

(भा० सि०)—क्लेशानाम्—इन क्लेशों की। याः वृत्तयः—जो वृत्तियाँ। स्थूलाः—उदाराद्यवस्था वाली अभिव्यक्तियाँ हैं। ताः—वे। पहले। क्रियायोगेन—क्रियायोग के द्वारा। तनूकृताः सत्यः—तनूकृत हो जाने पर अर्थात् हल्की पड़ जाने पर। प्रसंख्यानेन ध्यानेन—प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान के द्वारा, विवेकख्याति के द्वारा। हातव्याः—नष्ट करने योग्य होती हैं। क्लेशों की वृत्ति के प्रसंख्यानकृत नाश का क्या स्वरूप होता है? इसका उत्तर देते हैं कि। यावत्सूक्ष्मीकृताः—क्लेशवृत्तियाँ बिल्कुल सूक्ष्म हो जाती हैं। अर्थात्। यावद्दग्धबीजकल्पा इति—क्लेशवृत्तियाँ जले हुए बीज के समान हो जाती हैं।[1] अभिप्राय यह है कि फिर क्लेश नहीं पनपते हैं। यथा च—और जैसे। वस्त्राणाम्—कपड़ों का। स्थूलो मलः—खूब अभिव्यक्त मैल। पूर्वम्—पहले (धोने में ही)। निर्धूयते—साफ हो जाती है। पश्चाद्—और बाद में। सूक्ष्मः—कम अभिव्यक्त होने वाली मैल। यत्नेन—और अधिक धोने (के प्रयत्न) से। उपायेन वा—या साबुन इत्यादि लगाने के उपाय से। अपनीयते—दूर की जाती है। तथा—उसी प्रकार। क्लेशानां स्थूलाः वृत्तयः—क्लेशों की स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ, दशाएँ। स्वल्पप्रतिपक्षाः—स्वल्पः प्रतिपक्षः दूरीकरणोपायः प्रतीकारः यासां तादृशाः, कम प्रयत्न से ही शान्त होने वाली होती हैं। सूक्ष्मास्तु—किन्तु (क्लेशों की) सूक्ष्म या हल्की, अभिव्यक्तियाँ। महाप्रतिपक्षाः—महान् प्रयत्न से शान्त होने

---

१. 'तथा च योगाग्निना व्युत्थानसंस्कारदाहवत् ज्ञानाग्निनाऽपि क्लेशसंस्कारयोर्दाह एव भवति न तु तन्नाशः।'—यो० वा० पृ० १५९।

योग्य होती हैं। तात्पर्य यह है कि क्लेशों की स्थूलवृत्तियों का उच्छेद तो कम प्रयास वाले उपाय से अर्थात् 'क्रियायोग' से हो जाता है, किन्तु उनकी सूक्ष्म (अर्थात् १. तनूकृत तथा २. दग्धबीजीकृत) वृत्तियों का उच्छेद महत्तर प्रयास वाले उपायों अर्थात् क्रमशः—१. विवेक ख्याति और २. असम्प्रज्ञात के द्वारा ही संभव होता है[१]। इस प्रकार क्लेशों के हान का भाष्याभिमत क्रम यह हुआ—

(१) 'क्रियायोग' के द्वारा क्लेशों का तनूकरण।

(२) 'प्रसंख्यान' के द्वारा तनूकृत क्लेशों का सूक्ष्मीकरण अर्थात् दग्धबीजीकरण।

(३) 'असम्प्रज्ञातसमाधि' के द्वारा उन दग्धबीज क्लेशों का चित्त के साथ-साथ प्रविलीनीकरण ॥ ११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेशमूलक कर्माशय, दृष्टजन्मवेदनीय एवं अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं ॥ १२ ॥

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रसवः[२]। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः, तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति।१२।

धर्म और अधर्म (प्रकार के) कर्माशय काम, लोभ, मोह और क्रोध जन्य होते हैं। कर्माशय वर्तमानजन्मानुभवनीय तथा भविष्यज्जन्मानुभवनीय होते हैं। इनमें तीव्र धर्मभावना के साथ (तथा) मन्त्र, तपस्या और समाधि के द्वारा किया गया या ईश्वर, देवता, महर्षि और महातेजस्वी पुरुषों की आराधना के द्वारा जो (कर्माशय) सम्पन्न किया जाता है, वह पुण्य कर्माशय शीघ्र फल देता है। वैसे ही उत्कट (अविद्यादि) क्लेशों से, डरे हुए, रोगी तथा तरस खाने योग्य प्राणियों के प्रति या विश्वास करने वाले लोगों के प्रति या तेजस्वी अथवा तपस्वी लोगों के प्रति बार-बार जो अपकार किया गया होता है, वह पापकर्माशय भी शीघ्र ही फलप्रद होता है।

---

१. 'स्वल्पः प्रतिपक्ष; उच्छेदहेतुर्यासां तास्तथोक्ताः, महान् प्रतिपक्षः उच्छेदहेतुर्यासां तास्तथोक्ताः।'—त० वै० पृ० १६०।

२. 'प्रभवः' इति पाठान्तरम्।

जैसे—कुमारनन्दीश्वर मानवीय शरीर को छोड़कर देवरूप में परिणत हो गये और देवेन्द्र (पद को प्राप्त) नहुष भी अपने शरीर को छोड़कर तिर्यक् शरीर (सर्परूप) में परिणत हो गये। इस प्रसङ्ग में (ज्ञातव्य है कि) नारकीयों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं बनता। क्षीणक्लेश वालों का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं बनता ॥ १२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—कर्माशयः कर्मणाम् आशयः संस्कारसमूहः धर्माधर्मरूपः। **'जात्यायुर्भोगहेतवः संस्कारा आशयः'**[१]। **'आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः कर्मणामाशयो धर्माधर्मौ'**[२]। **'कर्माशयो धर्माधर्मौ'**[३]। कर्मजन्य संस्कारों का समुदाय 'कर्माशय' कहलाता है। यह संस्कारसमुदाय ही अदृष्ट रूप में वर्तमान रहता हुआ प्राणियों को कर्मफल का भोग कराता है। इसी संस्कारसमूह को 'धर्माधर्म' या 'पुण्यपाप' कहते हैं। ये कर्माशय अविद्यादि क्लेशों सहित किये गये कर्मों से ही उत्पन्न होते हैं। क्लेश-रहित होकर किये गये कर्मों से ये कर्माशय नहीं बनते[४]। जैसे—लब्धविवेकख्याति योगी के द्वारा किये गये कर्मों से कर्माशय नहीं बनते। दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय—भेद से ये कर्माशय 'दो' प्रकार के बताये गये हैं। 'दृष्टजन्म' का अर्थ है वर्तमानजन्म (जीवन) और 'अदृष्टजन्म' का अर्थ है इस जीवन के बाद वाले सभी जन्म (जीवन)। 'वेदन' का अर्थ है अनुभव। अतः 'दृष्टजन्मवेदनीय' का अर्थ हुआ इसी जन्म (अर्थात् इसी जीवन) में अनुभवनीय है फल जिनका, ऐसे कर्माशय अर्थात् एतज्जीवनानुभवनीयफलक कर्माशय। 'अदृष्टजन्मवेदनीय' का अर्थ है भविष्यत्कालिक जन्मों की जीवनावधि में अनुभवनीय है फल जिनका, वैसे कर्माशय अर्थात् भविष्यज्जन्मानुभवनीयफलक कर्माशय। इस प्रकार इस सूत्र में सहेतुक एवं फलकाल सहित कर्माशयों का निरूपण किया गया है ॥१२॥

(भा० सि०)—तत्र—उन कर्माशयों में। पुण्यापुण्यकर्माशयः—पुण्य कर्माशय और अपुण्य कर्माशय अर्थात् धर्मरूपी कर्मसंस्कार और अधर्मरूपी कर्मसंस्कार। कामलोभमोहक्रोधप्रसवः—काम, लोभ, मोह और क्रोध से उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि कामभावना, लोभभावना, मोह और क्रोध से अच्छे या बुरे दोनों प्रकार के कर्म किये जाते हैं। इसलिये इन कर्मों से दोनों प्रकार के कर्म-संस्कार बनते हैं।

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १६१।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १६१।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १६१।

४. 'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' ॥—इति स्मृतिः।

अभिप्राय यह है कि अच्छे कर्मों से पुण्यकर्माशय अर्थात् धर्म-संस्कार और बुरे कर्मों से पापकर्माशय अर्थात् अधर्म-संस्कार बनते हैं। सः—दोनों प्रकार के कर्म-संस्कार। फलभोगकाल की दृष्टि से। दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च—दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय दोनों प्रकार के होते हैं। तत्र—इनमें से। तीव्रसंवेगेन—तीव्र धार्मिक भावना या वेग के साथ तथा। मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तितः—मन्त्र या तपस्या या समाधि की सहायता से पूरा किया गया। या। ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानाम्—ईश्वर या अन्य देवता या महर्षियों अथवा अत्यन्त तेजस्वी पुरुषों की। आराधनाद्वा—आराधना से। यः परिनिष्पन्नः—जो कर्म पूरा होता है और इस प्रकार उस कर्म से जो संस्कार उत्पन्न होता है। सः—वह। पुण्यकर्माशयः—पुण्य-कर्मसंस्कार या धर्म। सद्यः—शीघ्र। परिपच्यते—परिपक्व होता है अर्थात् फल देना प्रारम्भ कर देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्मसंस्कार पक कर फलप्रद हो जाता है।

तथा—उसी प्रकार। तीव्रक्लेशेन—अत्यधिक उदारवृत्ति वाले अस्मितादि क्लेशों के साथ। भीतव्याधितकृपणेषु—डरे हुए जीवों, रोगादि से पीड़ित जीवों और अत्यन्त दयनीय जीवों के प्रति। विश्वासोपगतेषु वा—या (अपकारी के प्रति) विश्वास में पड़े हुये जीवों के प्रति। महानुभावेषु वा तपस्विषु—तपस्या में निरत तेजस्वी पुरुषों के प्रति। पुनः पुनः कृतः अपकारः—बार-बार किया गया अपकार। स च पापकर्माशयः अपि—उस अपकार से उत्पन्न वह पापकर्मसंस्कार भी। सद्य एव परिपच्यते—शीघ्र ही परिपक्व हो जाता है, अर्थात् बहुत जल्दी फल देता है। यथा नन्दीश्वरः कुमारः—जैसे शिलाद के पुत्र कुमार नन्दीश्वर। मनुष्य परिणामं हित्वा—मनुष्यरूपः परिणामः इति मनुष्यपरिणामः मानवशरीरम् इत्यर्थः, तं तथोक्तं परित्यज्य, मानव-शरीर छोड़ कर। देवत्वेन परिणतः—देवरूप में परिणत हो गये। अभिप्राय यह है कि ईश्वराराधनपूर्वक किये गये कर्म से उत्पन्न उनके पुण्य कर्माशय का शीघ्र ही परिपाक हुआ और तदनुसार तत्काल फल-प्राप्ति हुई। तथा देवानामिन्द्रः नहुषोऽपि—देवताओं के राजा बनाये गये नहुष। स्वकं परिणामं हित्वा—स्वकीयं शरीरं परित्यज्य, अपने देवोचित शरीर को छोड़कर। तिर्यक्त्वेन परिणत इति—सर्प का शरीर धारण करके सर्परूप में परिणत हो गये। इस प्रकार तीव्र 'राग' नामक क्लेश के द्वारा तेजस्वी तपस्वी अगस्त्य ऋषि के प्रति किये गये चरण-प्रहार रूपी अपकार से उत्पन्न पापकर्माशय का तत्काल परिपाक हुआ और उसका फल तुरन्त ही नहुष को भोगना पड़ा। तत्र—उन दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्ट-जन्मवेदनीय—इन दो प्रकार के कर्माशयों में से। नारकाणाम्—नरक में कर्मफल भोगते हुए प्राणियों का। दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः नास्ति—वर्तमान जीवन में भोग्य कर्मसंस्कार नहीं बनता। क्षीणक्लेशानाम् अपि—विवेकख्याति के द्वारा दग्ध-

बीज क्लेशों वाले जीवन्मुक्त प्राणियों का भी। अदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः नास्ति इति—भविष्यज्जीवन में भोगने योग्य कर्मसंस्कार नहीं बनता। स्वर्ग में रहने वाले प्राणियों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय अवश्य बनता है। 'स्वर्गिणां भारतवर्षभागस्य लीलामानुषविग्रहेण प्रयागादौ कर्मानुष्ठानस्य तत्फलस्य च श्रवणादिति'[1] ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

(क्लेश रूपी) मूल के रहने पर जन्म, आयु और भोग रूपी कर्माशय के फल (प्राप्त) होते हैं ॥ १३ ॥

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति। तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमथैकं कर्मानेकं जन्माऽऽक्षिपतीति? द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयत्यथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति? न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः साम्प्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः। स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः च चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? तदनेकं जन्म युगपन्न सम्भवतीति क्रमेणैव वाच्यम्। तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः।

तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे[2] कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति। दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। क्लेशकर्मविपाकानुभव-

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १६३।

२. 'प्रयाणान्तरे' इति पाठान्तरम्।

निर्वर्तिताभिस्तु[1] वासनाभिरनादिकालसम्मूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव[2] सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति। यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्राद‍ृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वद‍ृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्? यो ह्यद‍ृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्याविपक्वस्य नाशः[3] प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तम्—

'द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति। तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते।' प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तम्—'स्यात्स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यती'ति। नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। कथमिति? अद‍ृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वद‍ृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्वद‍ृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत, यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य[4] न विपाकाभिमुखं करोतीति तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा[5] दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति॥ १३॥

क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय फल का आरम्भक होता है, नष्ट क्लेशरूपी मूल वाला कर्माशय (फलारम्भक) नहीं होता। जैसे—भूसी के अन्दर स्थित धान के चावल जले हुए न होने पर अङ्कुरित होने में समर्थ होते हैं। भूसी निकले हुए या जले हुए नहीं। वैसे ही क्लेश (रूपी मूल) में सना हुआ कर्माशय ही फलारम्भकारी

---

१. 'निमित्ताभिस्तु'—इति पाठान्तरम्।
२. 'विचित्रीकृतमिव'—इति पाठान्तरम्।
३. 'विनाशः'—इति पाठान्तरम्।
४. 'निमित्तस्य'—इति पाठान्तरम्।
५. 'विचित्रा'—इति पाठान्तरम्।

होता है; क्लेशरहित या विवेकख्याति से दग्ध क्लेशबीज वाला कर्माशय नहीं। और वह फल तीन प्रकार का होता है—जन्म, आयु और भोग। इस विषय में संशय होता है कि क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है? या एक कर्म अनेक जन्म देता है? द्वितीय विकल्प—क्या अनेक कर्म अनेक जन्म देते हैं या अनेक कर्म एक जन्म देते हैं? (१) एक कर्म एक जन्म का कारण तो नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि काल से सञ्चित असंख्य बचे हुए (अभुक्त) कर्मों और इस जन्म के कर्मों के फल के क्रम का नियमन न होने से लोगों में (कर्मफल के विषय में) अनिश्चय (अविश्वास) फैलता है। यह बात अभीष्ट नहीं है। (२) एक कर्म अनेक जन्मों का भी कारण नहीं है, क्योंकि अनेक कर्मों में एक-एक कर्म ही जब अनेक जन्म के कारण होंगे, तो इस प्रकार से (और अधिक) बचे हुए कर्मों के फलकाल का अभाव होगा। वह भी ठीक नहीं है। (३) अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण हों—ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि (अनेक कर्मफल रूप) अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते हैं। 'अतः (एक के बाद दूसरा—इस) क्रम से ही होंगे' यही कहना चाहिए। इस प्रकार भी पहले वाले दोष (लोक में अनाश्वास) की प्रसक्ति होगी।

(४) इसलिये जन्म और मृत्यु के बीच में किये गये पुण्य और पाप रूप कर्म-संस्कार विचित्र, प्रधान और गौण रूप से स्थित तथा मृत्यु के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला, एक गट्ठर के रूप में मिल कर, (कर्त्ता की) मृत्यु करा कर, एकाकार होकर एक ही जन्म (प्रदान) करता है। और वह जन्म उसी कर्म (समूह) से निर्धारित आयु वाला होता है। उस आयु में उसी कर्म (समूह) से भोग सम्पन्न होता है। वह कर्माशय जन्म, आयु और भोग (तीनों) का कारण होने से 'त्रिविपाक' (अर्थात् त्रिविधफल-प्रद) कहा जाता है, अतः (यह) कर्माशय एकभविक (अर्थात् एक जन्म देने वाला) कहा गया है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय केवल भोगहेतु होने के कारण 'एकविपाकारम्भी' (अर्थात् एक ही फल देने वाला) या आयु और भोग दोनों का हेतु होने के कारण 'द्विविपाकारम्भी' (अर्थात् दो फल देने वाला) होता है। नहुष या नन्दीश्वर के समान। क्लेश एवं कर्मफलानुभव से उत्पन्न वासनाओं के द्वारा अनादिकाल से उपचित यह चित्त चित्रित-सा या ग्रन्थियों से ही सब ओर बुने हुए, मछली पकड़ने के जाल की भाँति रहता है। ये वासनाएँ (अनेक जन्मों से संग्रहीत होती हैं) इसीलिये 'अनेकभवपूर्विक' कही जाती हैं। किन्तु यह जो कर्माशय है, यही 'एकभविक' कहा गया है। जो संस्कार, स्मृतियों के कारणरूप होते हैं, वे वासनाएँ हैं और वे अनादिकालिक होती हैं।

यह जो एकभविक कर्माशय है, वह 'नियतविपाक' और 'अनियतविपाक' होता है। उनमें से अदृष्टजन्मवेदनीय-नियतविपाक (कर्माशय) का ही यह (एकभविक होने का) नियम है, अदृष्टजन्मवेदनीय-अनियतविपाक (कर्माशय) का नहीं।

क्यों ? इसलिये कि जो अदृष्टजन्मवेदनीय—अनियतविपाक (कर्माशय) है, उसकी तीन गतियाँ (सम्भव) हैं—(१) बिना फल दिये ही उस किये गये कर्माशय का नाश हो जाना। (२) या प्रधान कर्म में (उसका) अन्तर्भाव हो जाना। (३) या फिर नियतविपाक वाले प्रधान कर्म के द्वारा दब कर दीर्घकाल तक पड़े रहना। उन (तीन गतियों) में से—

१. बिना फल दिये कृत-कर्म का विनाश (होता है)। जैसे—पुण्यकर्मों के उदय से पापकर्मों का यहीं (इसी जीवन में) नाश हो जाता है, जिसके विषय में यह कहा गया है कि—

'दो-दो प्रकार के कर्म (जन्य आशय) जानने चाहिए। पुण्यकर्मा की एक (पुण्यकर्म-) राशि पापकर्म-राशि को नष्ट कर देती है। इसलिये इसी जीवन में सुकृत कर्म करने की इच्छा करो। महर्षियों ने तुम्हारे लिये पुण्यकर्म बताये हैं।

२. प्रधानकर्म में अन्तर्भाव होना। जिसके विषय में यह कहा गया है—'शायद थोड़ा (पापकर्म का) मिश्रण हो भी, तो वह (प्रायश्चित्तादि के द्वारा) परिहरणीय है, सह्य है, पुण्यकर्म का नाश करने में समर्थ नहीं है। क्यों? इसलिये कि मेरे (किये हुए) अन्य बहुत पुण्पकर्म हैं, जिनमें अन्तर्भावित हुआ यह स्वर्गलोक में भी बहुत थोड़ी ही हानि करेगा।'

३. नियतविपाक प्रधानकर्म के द्वारा दबे हुए (कर्माशय) का दीर्घकाल तक पड़ा रहना। वह कैसे ? (क्योंकि) अदृष्टजन्मवेदनीय-नियतविपाक कर्म (आशय) का ही अभिव्यञ्जक (उसके ठीक बाद वाला) एक 'मरण' कहा गया है। अदृष्टजन्मवेदनीय—अनियतविपाक (कर्माशय) का नहीं। जो कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय-अनियतविपाक होता है, उसे नष्ट हो जाना चाहिए या अन्तर्भावित हो जाना चाहिए या फिर दब कर उतने दीर्घकाल तक पड़ा रहना चाहिए, जब तक कि इस कर्म को अभिव्यक्त करने वाला इसका एक (मरणरूप) निमित्त (इसको) फलाभिमुख नहीं कर देता। इसी (तृतीयगतिक अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय) के फल के देश, काल और निमित्त का निश्चय न होने के कारण ही यह कर्मगति विचित्र और दुर्बोध होती है। किन्तु अपवादों के कारण औत्सर्गिक नियमों की निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार 'कर्माशय एकभविक होता है'—ऐसा (औत्सर्गिक नियम) स्वीकार किया जाता है ॥ १३ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—मूले सति—क्लेशरूपी मूल के उपस्थित रहने पर ही। तद्विपाकः—तेषां कर्माशयानां विपाकः परिपाकः फलम्, उन कर्माशयों का फल प्राप्त होता है। वह फल किन रूपों का होता है ? इसका उत्तर है। जात्यायुर्भोगाः—

जातिश्च जन्म, आयुश्च जीवनावधिः, भोगाश्च सुखदुःखात्मकशब्दादिवृत्तयः इति जात्यायुर्भोगाः । जन्म, जीवनकाल और सुख, दुःख तथा मोह वाली चित्तवृत्तियाँ कर्माशयों के विपाकभूत इन्हीं तीन फलों को देती है । विज्ञानभिक्षु के अनुसार 'भोग' शब्द का अर्थ यहाँ पर सुखदुःखमोह का साक्षात्कार नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि अगले सूत्र में इन विपाकों को भी 'ह्लादपरितापफलाः' कह कर यह सिद्ध किया गया है कि ह्लाद और परिताप अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव इन विपाकों के फल हैं । ह्लाद और परिताप स्वयं ही विपाक नहीं हैं । इससे निश्चित होता है कि सुखदुःखादि का अनुभव सूत्रस्थ 'भोग' नामक 'विपाक' नहीं है । प्रत्युत इससे भिन्न इसका फल है । इसलिए यहाँ पर 'भोग' शब्द का अर्थ सुखदुःखात्मकशब्दादिवृत्ति ही है । विज्ञानभिक्षु कहते हैं—**'भोगः सुखदुःखात्मकशब्दादिवृत्तिरित्यर्थः न तु सुखादिसाक्षात्कार एवात्र भोगः, 'ते ह्लादपरितापफलाः' इत्युत्तरसूत्रे तस्य विपाकजन्यतावचनादिति**[1] ।' वाचस्पतिमिश्र के मतानुसार 'भोग' शब्द का अर्थ सुख, दुःख और मोह का साक्षात्कार ही है । **'भोगः सुखदुःखसाक्षात्कारः'**[2] । दोनों में से कोई अर्थ लिया जाये, यहाँ कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता ।

सूत्रकार ने प्रथमतः यह सिद्धान्तित किया कि क्लेशों के उपस्थित रहने पर ही कर्म करने से 'संस्कार' बनते हैं । उन्हें 'कर्माशय' कहते हैं । यही कर्माशय फल देने वाले होते हैं—**'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः**[3] ।' इस सूत्र में उनकी अन्य स्थापना यह है कि क्लेशों के बने रहने पर ही कर्मजन्य फलों की प्राप्ति भी होती है ॥ १३ ॥

(**भा० सि०**)—कर्मफलसम्बन्धी इस योग-सिद्धान्त का वास्तविक अभिप्राय क्या है ? यह प्रकट करने की चेष्टा भाष्यकार ने की है । यदि हम साधारण रूप से सूत्रार्थ को ग्रहण करें कि 'क्लेश' नामक कर्ममूल के रहने पर ही कर्माशय का विपाक होता है और 'क्लेश' के उच्छिन्न हो जाने पर कर्माशय का विपाक नहीं होता, तब एक बहुत बड़ी अनुपपत्ति का सामना हमें करना पड़ेगा । वह अनुपपत्ति यह है कि इस मान्यता के अनुसार विवेकख्याति के द्वारा क्लेशों का उच्छेद हो जाने पर प्रारब्ध कर्माशयों का फल नहीं होना चाहिए । किन्तु उस दशा में भी प्रारब्ध कर्माशयों का विपाक होना स्वीकार किया गया है । इस अनुपपत्ति का निराकरण करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि कर्माशय का फल जब तक मिलता रहे, तब तक क्लेशों की सत्ता स्वीकार करना सूत्रकार का अभिप्राय नहीं है । प्रत्युत कर्माशय का फल मिलने

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १६३ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १६८ ।

३. द्रष्टव्य; यो० सू० २।१२ ।

की शुरूआत होने के समय में क्लेशों की सत्ता का होना अनिवार्य है। फिर उसके बाद जब तक वह फल मिलता रहे, तब तक क्लेश बने रहें या बीच में ही उच्छिन्न हो जायें, इससे कोई अन्तर नहीं आता। सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः—इस पंक्ति का तात्पर्य यह हुआ कि कर्माशयों के विपाकारम्भी होने के समय प्राणी में क्लेशों की सत्ता की अनिवार्यता होती है। किन्तु पूरे विपाककाल तक क्लेशों की सत्ता की अनिवार्यता या शर्त नहीं है। कर्माशय क्लेशों के रहने पर ही विपाकारम्भी होते हैं अर्थात् फल देना प्रारम्भ करते हैं। क्लेशरूपी मूल के उच्छिन्न हो जाने पर कर्माशय फल देना नहीं प्रारम्भ कर सकते[1]। इसीलिये विवेकख्याति के बाद क्लेशों के उच्छिन्न हो जाने पर केवल उन्हीं कर्माशयों का विपाक होता रहता है, जिन्होंने जन्मरूपी फल या विपाक पहले ही प्रदान कर रखा है। तात्पर्य यह है कि जो कर्माशय फल देना प्राणी के जन्मकाल से ही प्रारम्भ कर चुके हैं अर्थात् जो प्रारब्ध कर्माशय हैं, केवल उन्हीं का फल विवेकख्याति के बाद भी मिलता रहता है। प्रारब्धकर्माशयाः—प्रारब्धः जात्यादिः विपाकः येषां ते प्रारब्धकर्माशयाः, इन कर्माशयों के जन्मरूपी फल, उसके पश्चात् आयुरूपी फल और विवेकख्याति के पूर्व तक सुखदुःखादिवृत्ति रूपी फल तो प्रारम्भ हो ही चुकते हैं। इस प्रकार ये प्रारब्ध कर्माशय प्राणी के क्लेशों की सत्ताकाल में ही विपाकारम्भी हो चुकते हैं। इस व्याख्यान के द्वारा योगशास्त्रगत दोनों मान्यताओं में कोई विसङ्गति या परस्परविरुद्धता नहीं रह जाती।

'एतदुक्तं भवति कर्मक्षयस्य विरलत्वात् तदुत्पत्तिबाहुल्याच्चान्योऽन्यसम्पीडिताश्च कर्माशया निरन्तरोत्पत्तयो निरुच्छ्वासाः स्वविपाकं प्रतीति न फलक्रमः शक्योऽवधारयितुं प्रेक्षावतेत्यनाश्वासः पुण्यानुष्ठानं प्रति प्रसक्त इति'[2]।

इस विषय का एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। यथा तुषावनद्धाः········· दग्धबीजभावा वा—जैसे भूसी के अन्दर वर्तमान, न जले हुए बीज के रूप में स्थित चावल के दाने ही उगने में समर्थ होते हैं। भूसीरहित अथवा जले हुए बीज नहीं। तथा क्लेशावनद्धः—उसी तरह क्लेशों की उपस्थिति से युक्त। कर्माशयः······वेति—कर्माशयविपाकरूपी अङ्कुर उत्पन्न करने वाला होता है। क्लेशों की उपस्थिति से हीन अथवा विवेकख्याति के द्वारा जलाये गये क्लेशरूपी बीजों वाला कर्माशय विपाकरूपी अङ्कुर उत्पन्न करने वाला नहीं होता। स च विपाकः···भोग इति—और वह विपाक तीन तरह का होता है—(१) जाति अर्थात् जन्म, (२) आयु

---

१. 'आरम्भशब्दाज्जीवन्मुक्तस्यारब्धविपाकेषु न क्लेशाः कारणमित्युक्तं तस्य ह्यारब्ध एव विपाकः कर्मणा समाप्यत इति।'—यो० वा० पृ० १६५।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १६६।

अर्थात् जीवनकाल और (३) भोग अर्थात् सुख, दुःख और मोह रूपी शब्दादिवृत्तियाँ। तत्रेदं विचार्यते—जन्मरूपी प्रथम विपाक देने की कर्माशय की क्षमता के सम्बन्ध में इन विकल्पों के रूप में विचारणा की जा रही हैं—(१) किमेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणम्—क्या एक कर्म अर्थात् एक कर्माशय एक जन्म का कारण बनता है। (२) अथ···आक्षिपतीति—अथवा एक कर्म अनेक जन्म देता है। **'आक्षिपतीति फलदानार्थमुत्पादयतीत्यर्थः**[१] **।'** द्वितीया विचारणा—दूसरा विकल्प है—(१) किम् अनेकं कर्म—अनेक कर्माशय। अनेकं जन्म निर्वर्तयति—अनेक जन्म देते है। (२) अथ··· निर्वर्तयतीति—अथवा अनेक कर्माशय एक जन्म देते हैं। अब इन चारों विकल्पों की समीक्षा की जा रही है—(१) न तावदेकं···कारणम्—एक कर्माशय एक जन्म का कारण नहीं बन सकता। कस्मात्—क्यों? अनादिकालप्रचितस्य—अनादिकाल से सञ्चित। असंख्येयस्य अवशिष्टकर्मणः—असंख्य अभुक्त कर्माशयों के। साम्प्रतिकस्य च—और इस जन्म में तैयार हुए कर्माशयों के। फलक्रमानियमात्—फलप्राप्ति के क्रम का नियम न हो सकने के कारण। लोकस्य अनाश्वासः प्रसक्तः—लोगों को अच्छे कर्म से अच्छा फल और बुरे कर्म से बुरा फल मिलता है, इस प्रकार का विश्वास नष्ट हो जायेगा। स चानिष्ट इति—यह अविश्वास सत्कर्मों में प्रवृत्ति के विरोधी होने से सर्वथा अनभीष्ट होगा। इसलिये एक कर्म एक जन्म का कारण है, यह मत युक्तिसङ्गत नहीं सिद्ध होता। (२) न चैकं···कारणम्—एक कर्म अनेक जन्म का भी कारण नहीं हो सकता। कस्मात्—क्यों? अनेकेषु कर्मसु··· प्रसक्तः—एक जीवन में अनेक, असंख्य कर्म किये जाते हैं। उनमें से यदि एक-एक कर्म से उत्पन्न संस्कार अनेक जन्मों के कारण होंगे तो शेष बचे हुए असंख्य कर्म-संस्कारों के फलप्रदान-काल का अभाव होगा। **'यदैकजन्मसमुच्छेद्ये कर्मण्येकस्मिन् फलक्रमानियमादनाश्वासस्तदा कैव कथा बहुजन्मसमुच्छेद्ये कर्तव्येकस्मिन् तत्र ह्यवसराभावात् विपाककालाभाव एव साम्प्रतिकस्येति भावः**[२] **।'**

आशय यह है कि हर जन्म में असंख्य कर्म ऐसे इकट्ठे होते जायेंगे जो फल देने का अवसर ही न पा सकेंगे। स चाप्यनिष्ट इति—वह स्थिति भी कर्म-निष्ठा को नष्ट करने वाली होने के कारण सर्वथा अनभिमत होगी। (३) न च···कारणम्—और अनेक कर्म भी अनेक जन्म के कारण नहीं हो सकते। कस्मात्—क्यों? तदनेकं जन्म युगपन्न सम्भवति—अनेक कर्मों से उत्पन्न होने वाले ये अनेक जन्म एक साथ तो प्राणी को हो नहीं सकते हैं। इति क्रमेण वाच्यम्—इसलिये वे क्रम से ही अर्थात् एक-एक करके ही होंगे, ऐसा कहना पड़ेगा। जिसका तात्पर्य यह होगा कि अनेक

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १६६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १६७।

कर्मसंस्कारों में से पहले एक कर्म एक जन्म देगा, फिर उन अनेक कर्मों में से दूसरा कर्म दूसरा जन्म देगा। इस प्रकार अनेक कर्म अनेक जन्म के कारण कहे जा सकेंगे। तथा च—और वैसा कहने पर कि एक कर्म से एक जन्म, दूसरे से दूसरा जन्म और तीसरे कर्म से तीसरा जन्म। पूर्वदोषानुषङ्गः—पहली विचारणा के पहले कल्प में आये हुए दोष की प्रसक्ति होगी अर्थात् पूर्वजन्म के अभुक्त कर्मों व इस जन्म के कर्मसंस्कारों के फलप्रदानक्रम का नियमन न होने से लोगों को कर्मफल-सिद्धान्त में अनाश्वास की प्रसक्ति होगी। तस्मात्—इसलिये अब अभीष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा है। जन्मप्रायणान्तरे कृतः—एक जन्म से लेकर उस जीवनकाल की समाप्ति के बीच में किया गया। 'प्रायेण' शब्द का अर्थ है मरण **'प्रायणं मरणम्'**[१] पुण्यापुण्यअवस्थितः—धर्म और अधर्म रूपी कर्मसंस्कारों का विचित्र समुदाय, जो कि प्रधान और गौण भाव से एक-दूसरे के साथ स्थित रहता है। और। प्रायणाभिव्यक्तः—प्रायणेन मरणेन अभिव्यक्तः शुभत्वेन अशुभत्वेन वा व्यञ्जितः, मृत्यु के प्रकार के द्वारा जिसकी शुभता व अशुभता प्रकट होती है वैसा। एकप्रघट्टकेन मिलित्वा—एक गट्ठर के रूप में मिलकर। **'एकप्रघट्टकेन युगपत्[२]।'** मरणं प्रसाध्य—अपना फल देने के लिये उस जीव की मृत्यु करा कर। सम्मूर्च्छितः—**'प्रवृद्धवेगः'**—(यो० वा०), फलप्रदानार्थ काम पूरा करने के लिये क्रियाशील होकर, **'एकलोली भावमापन्नः'**—(त० वै०)। एकमेव जन्म करोति—एक ही जन्म प्रदान करता है, अनेक नहीं। तस्मिन्नायुषि—और उस जन्म के परवर्ती काल में अर्थात् जीवनकाल में। तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति—उसी जन्म तथा आयु देने वाले कर्म से ही भोग नामक विपाक की भी सिद्धि होती रहती है। असौ कर्माशयः—वह जन्म और मृत्यु के बीच के इन कर्मसंस्कारों का पुञ्जीभूत समूह। जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्—जन्म, आयु और भोग, इन तीनों प्रकार के विपाकों का कारण होने से। त्रिविपाकोऽभिधीयते—तीन विपाकों वाला कहा जाता है। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति—एकश्चासौ भवो जन्म चेति एकभवः, सोऽस्ति विपाकरूपेण अस्य कर्मसंस्कारसमुदायस्य कर्माशयस्य सः, एक + भव + ठन् (मत्वर्थीयः) इत्येकभविकः, एक जन्म देने वाला। इसलिये यह सिद्धान्तित किया गया कि एककर्मसंस्कारसमूह अर्थात् एक जीवन में किये गये कर्मों के संस्कारों का समुदाय एक ही जन्म प्रदान करता है, अनेक जन्म नहीं। इसीलिये कर्माशय 'एकभविक' कहे जाते हैं। **'एको भवः इति एकभवः 'पूर्वकालिक'—इत्यादिना समासः, एकभवोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयष्ठन्[३]।' 'एको भवोऽस्मिन् कार्यतयाऽस्तीत्येकभविक कर्माशयसमूहः पूर्वाचार्यैरुक्त इत्यर्थः[४]।'**

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १६७।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १६८।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १६८।
४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १६८।

दृष्टजन्मवेदनीयस्तु—किन्तु दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय। एकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्—केवल 'भोग' नामक विपाक देने वाला होने के कारण एकविपाकप्रद। द्विविपाकारम्भी वा आयुर्भोगहेतुत्वात्—या फिर 'आयु' और 'भोग' इन दो विपाकों को प्रदान करने के कारण द्विविपाकारम्भी भी होते (सकते) हैं। नन्दीश्वरवद्—द्विविपाकारम्भी दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का दृष्टान्त नन्दीश्वर हैं, क्योंकि उन्हें 'आयु' की अमितवृद्धि और तल्लब्ध 'भोग', इन दोनों विपाकों की प्राप्ति दृष्टजन्मवेदनीय पुण्यकर्माशय से हुई थी। नहुषवद्वा—एकविपाकारम्भी दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का दृष्टान्त नहुष हैं, क्योंकि उन्हें केवल 'भोग' नामक विपाक की प्राप्ति हुई थी। उनकी आयु में कमी, बेशी नहीं हुई थी। अभिप्राय यह है कि दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय 'त्रिविपाक' नहीं हो सकते। क्योंकि वे 'जन्म' नामक विपाक के आरम्भक नहीं होते।

अब प्रसङ्गतः 'वासना' संस्कारों और 'कर्माशय' संस्कारों का अन्तर बताया जा रहा है। इदं चित्तम्—प्राणियों का यह चित्त। क्लेश'''सम्मूर्च्छितम्—क्लेश और कर्मजन्मफलानुभव के कारण उत्पन्न हुए वासनासंस्कारों के द्वारा अनादिकाल से उपचित, संकुल, **'पुष्टमिति यावत्'**—(यो० वा०)। सर्वतः चित्रीकृतमिव—सर्वथा विविधवर्णान्वित, रङ्गबिरङ्गा-सा बना रहता है। ग्रन्थिभिराततम्—गाँठो से बुने गये। मत्स्यजालमिवेति—मछली पकड़ने के जाल की भाँति। एता अनेकभवपूर्विका वासना—चित्त को चित्रीकृत करने वाली ये वासनाएँ अनेक जन्मों में संचित होने के कारण 'अनेकजन्मपूर्विका' होती है। अनेके भवाः जन्मानि पूर्वं कारणं यासां ता 'अनेकभवपूर्विका' इति। यस्त्वसौ कर्माशयः—किन्तु यह जो कर्माशयसंस्कार है। एष एकभविक उक्त इति—यह 'एकजन्मप्रद' कहा गया है। वासनाएँ 'अनेकभवपूर्विक' संस्कार हैं और कर्माशय 'एकभविक' संस्कार। वासनाओं को, कर्माशयों की एकभविक' संज्ञा के वजन पर 'अनेकभविक' भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कर्माशयों में 'एकभव' कार्यरूप से अन्वित है और वासनाओं में 'अनेकभव' का सम्बन्ध कारण रूप से है। वासनाएँ, अनेकभव'पूर्विक' होती हैं, 'अनेकभविक' नहीं। 'पूर्विक' पद का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। इसलिये न तो वासनाएँ 'एकभविक' हैं, न 'एकभवपूर्विका' और न 'अनेकभविक'। वे तो 'अनेकभवपूर्विक' संस्कार हैं, इस अन्तर के स्पष्टीकरण में दो भेदों पर जोर दिया गया है—(१) एक और अनेक का भेद और(२) भविकत्व (भवप्रदत्व) और भवपूर्विकत्व (भवकारणत्व) का भेद। इस दूसरे भेद के अनुसार कर्माशय जन्म का 'जनक' संस्कार है तथा वासनाएँ जन्म से 'जन्य' संस्कार हैं। अब प्रसङ्गतः वासनाओं का स्वभाव भी निरूपित किया जा रहा है। ये संस्काराः—जो संस्कार। स्मृतिहेतवः—स्मृत्युत्पादक, स्मृतियों को उत्पन्न करने

वाले होते हैं। ता वासनाः—वे वासनाएँ हैं। ताश्च—और वे वासनाएँ। अनादिकालीनाः—अनादिकालिक होती हैं। इति—इस अन्तरप्रतिपादन को समाप्ति हुई।

यस्त्वसौ—और जो वह। एकभविकः कर्माशयः—एकभविक कहा जाने वाला अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है। स नियतविपाकश्च—निमित्तान्तरेण अप्रतिहतः, निश्चितकालभोग्य, नियतः विपाकः फलं यस्यासौ तथोक्तः, वह अप्रतिहत रूप से तथा निर्धारित समय में फल देने वाला और। अनियतविपाकश्च—निमित्तान्तर से अंशतः उपहत तथा अनिश्चितकाल में फल देने वाला। इन दो प्रकारों का होता है। तत्र—उन दोनों प्रकार के कर्माशयों में से। अयं नियमः—यह 'एकभविकत्व वाला नियम' (**'अयम् एकभविकत्वनियम इत्यर्थः'** ।—त० वै० पृ० १७०)। अदृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्य एव—अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय के ही विषय में हैं। न तु···विपाकस्य—अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय के विषय में यह नियम हरगिज नहीं है। कस्मात्—क्यों? इसलिये कि। य···अनियतविपाकः—जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय होता है। तस्य त्रयी गतिः—उसकी तीन ही गतियाँ सम्भव हैं—(१) कृतस्य अविपक्वस्य नाशः—किये गये और बिना फल दिये उन कर्मसंस्कारों की परिसमाप्ति अर्थात् अतीतावस्था। (२) प्रधानकर्मणि आवापगमनम्—किसी मुख्य कर्म के विपाक काल में ही अन्तर्भावित हो जाना। **'परोपसर्जनतयाऽनुष्ठितत्वात् न स्वातन्त्र्येण फलदानमिति[१]।'** (३) नियतविपाकप्रधानकर्मणा···अवस्थानम्—नियत फल देने वाले मुख्य कर्म के द्वारा अभिभूत हुए अर्थात् दबे हुए कर्माशय की बहुत जन्मों की अवधि तक चुपचाप पड़े रहना। **'द्वित्रिचतुरादि जन्मसु प्रसुप्ततयावस्थानम् इत्यर्थः[२]।'** इस प्रकार इन तीन गतियों वाले अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों में 'एकभविकत्व' वाला नियम लागू नहीं होता।

तत्र—इन तीनों प्रकार के एकभविकत्व नियमरहित कर्माशयों में से जो पहला है। अर्थात्। कृतस्य अविपक्वस्य नाशः—किये गये किन्तु फल न दे चुके हुए कर्माशय के नाश के सम्बन्ध में दृष्टान्त देते हैं। यथा शुक्लकर्मोदयात्—शुक्ल कर्माशय अर्थात् धर्मसंस्कार के बढ़ जाने या उदित होने से। कृष्णस्य—कृष्ण कर्माशय का अर्थात् अधर्मसंस्कारों का। इहैव नाशः—इसी जीवन में फलदान की सामर्थ्य से रहित हो जाना। यत्र इदमुक्तम्—जिस विषय में श्रुतियों के द्वारा यह कहा गया है—द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये—दो-दो प्रकार के कर्मसंस्कार जानने चाहिये, एक शुक्ल रूप पुण्यसंस्कार, दूसरा कृष्णरूप पापसंस्कार। **'पुण्यपापरूपे द्वे कर्मणी पुरुषैर्वेदितव्येऽ-**

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७१।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७१।

वधारयितव्ये । द्वे द्वे इति वीप्सा पुरुषभेदात् कर्मभेदमभिप्रेत्योक्ता[१]' उनमें से । पुण्यकृतः एकः राशिः—पुण्यकर्मों वाला एक ढेर अर्थात् एकपुण्य कर्माशय । पापकस्य—पापम् एव पापकम्, (स्वार्थे कप्रत्ययः) तस्य, पापरूप कर्मसंस्कार को । अपहन्ति—नाशयति, नष्ट कर देता है । यहाँ पर 'चोरस्य निहन्ति' इत्यादि प्रयोगों के समान कर्मणि षष्ठी समझनी चाहिये । तत्—तस्मात्, इसलिये । सुकृतानि कर्माणि—पुण्यरूप कर्मों को । इह एव—इसी जीवन में । कर्तुमिच्छस्व—करने की इच्छा करो । तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्म करो। इच्छार्थक 'इषु' धातु परस्मैपदी है, किन्तु वैदिक प्रयोग के कारण यहाँ आत्मनेपदरूप दिखाई पड़ता है **'छान्दसमात्मनेपदम्'**[२] । कवयः—महर्षिगण । ते—तुम्हारे लिये । कर्म—पुण्य कर्मों को । वेदयन्ते—बताते हैं ।

(२) प्रधानकर्मणि आवापगमनम्—प्रधाकर्म में आवाप अर्थात् 'अन्तर्भाव' होना यह है । यत्र—जिसके विषय में । इदमुक्तम्—पञ्चशिखाचार्य के द्वारा यह कहा गया है—स्वल्पः सङ्करः स्याद्—हिंसादिजन्य पापसंस्कारों की ज्योतिष्टोमादि याग के पुण्यसंस्कारों में मिलावट कम होती है । **'शक्यो हि कियता प्रायश्चित्तेन परिहर्तुम्'**[३] । यदि प्रमादवश प्रायश्चित्त न भी किया गया तो चूँकि वह अलग से फल देगा नहीं, इसलिये जब प्रधानकर्म का फल मिलेगा, तभी उसमें आवापित इस गौण पाप का भी फल दुःखरूप का मिलेगा । चूँकि उस समय प्रधानपुण्यकर्म के फलभूत दुःख का अनुभव होता रहता है, इसलिये यह हल्का दुःखरूप फल सुविधा से सहा जा सकता है । इसीलिये इस आवापित अर्थात् अन्तर्भावित गौण कर्म को 'सप्रत्यवमर्षः' कहा गया है । सप्रत्यवमर्षः—प्रत्यवमर्षणीयः, सहनयोग्य होता है । **'मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतसुखसुधामहाह्लादावगाहिनकुशलाः, पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्**[४] **।'** (अतः—इसीलिये) कुशलस्य—पुण्यसंस्कारों के । अपकर्षाय—कम करने में या नष्ट करने में **'हेयत्वाय'** ।—(यो० वा०) **'प्रक्षयाय'**—(त० वै०) । न अलम्—समर्थ नहीं होता । कस्मात्—क्यों ? हि—इसलिये । कुशलं में बहु अन्यद् अस्ति—मेरे पुण्यरूपी अन्य संस्कार बहुत अधिक हैं । यत्र—जिनमें । आवापं गतः—आवाप को पहुँचा हुआ, अधीनस्थ हुआ । अयम्—यह थोड़ा पापसंस्कार । स्वर्गेऽपि—पुण्यसंस्कार के फलरूप स्वर्ग में । अल्पम्—बहुत थोड़ी ही । अपकर्षम्—न्यूनता । करिष्यति—करेगा, उपस्थित करेगा, लायेगा । इति—आवापगतत्व के व्याख्यान की समाप्ति का सूचक शब्द है ।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७२ ।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० १७२ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १७२ ।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १७३ ।

(३) नियतविपाकप्रधानकर्मणा––नियतविपाक वाले प्रमुख (अदृष्टजन्म-वेदनीय) कर्माशय के द्वारा। अभिभूतस्य––दबे हुए अनियतगतिक तृतीय प्रकार के गौण कर्माशय का। चिरम्––जन्मजन्मान्तर तक। अवस्थानम्––फल देते हुए पड़े रहना **'उत्कटत्वरूपं बलवत्त्वमेव प्रधानत्वम्'**[1]। कथम्––यह कैसे होता है? इस प्रकार—

मरणम्––मृत्युः। अदृष्टजन्मवेदनीयस्य एव नियतविपाकस्य कर्मणः––अदृष्ट-जन्मवेदनीय नियतविपाकवाले कर्मों का ही। समानम्––इकट्ठे रूप में एक ही साथ। अभिव्यक्तिकारणम्––प्रकाशक या व्यञ्जक कारण। उक्तम्––कहा गया है अर्थात् होता है, ऐसा कहा गया है। न तु अदृष्टजन्मवेदनीयस्य अनियतविपाकस्य––अनियत-विपाक वाले अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों की अभिव्यक्ति उसके मरण से नहीं होती। इसलिये उसका फल भी उस मृत्यु के अनन्तर होने वाले जन्म में मिले ही, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। इन अनियत कर्मों की ऊपर बतायी गयी तीन में से एक गति होती है। इन तीनों गतियों का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि––यत्तु ––और जो यह। अदृष्टजन्मवेदनीयम् अनियतविपाकं कर्म––अनियतफल वाला अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मसंस्कार है। तत्––वह। (या तो) नश्येद्––नष्ट हो जाता है (पूर्वोक्त प्रथम गति)। आवापं वा गच्छेत्—या अन्तर्भाव को प्राप्त हो जाता है (यह पूर्वोक्त द्वितीय गति है)। अभिभूतं वा—या फिर दबा हुआ वह। चिर-मपि—बहुत दिनों तक। उपासीत––पड़ा रहता है (यह पूर्वोक्त तृतीय गति है)। यह कब तक रहती है। (**'उपासनस्य अवधिमाह'**—यो० वा० पृ० १७४) यावत्—जबतक कि। अस्य—इसका। अभिव्यञ्जकम्—प्रकाशकम्। निमित्तम्—निमित्तभूत, प्रकट करने वाला, कारणभूत। समानं कर्म—अविरुद्ध, इसी प्रकार का कर्मसंस्कार। इसको। विपाकाभिमुखं न करोति—फल देने को उन्मुख अर्थाद् फलप्रद नहीं कर देता। तब तक चुपचाप पड़ा रहता है। तद्विपाकस्य—तस्य एतस्यैव कर्मणः फल-स्य, इसी तृतीयगतिक कर्मसंस्कार के फलों के। देशश्च कालश्च निमित्तञ्चेति देश-कालनिमित्तानि, तेषाम् अनवधारणाद् अनिश्चयात्—किस देश में फल मिलेगा, किस काल में मिलेगा, किस समान कर्मसंस्कार के निमित्त से मिलेगा? इसका ठीक-ठीक निश्चय या ज्ञान न हो सकने के ही कारण। इयम्—यह। कर्मगति—तृतीय कर्म की गति, कर्म की फलदानपद्धति। विचित्रा—विचित्र, आश्चर्यजनक। दुर्विज्ञाना च—और अज्ञेय, कठिनाई से समझी जा सकने वाली। इति—होती है या मानी जाती है—'कर्मणो गहना गतिः।'

किन्तु—इस तृतीय कर्मगति के अज्ञेय होने से अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७३।

कर्मों की 'एकभविकता' का नियम गलत नहीं होता। क्योंकि। अपवादाद्—अपवाद होने के कारण। उत्सर्गस्य—सामान्य नियम की। न च निवृत्तिः—निवृत्ति नहीं हो जाती, पूर्णतया खण्डन नहीं हो जाता। इति—इसलिये। कर्माशयः—कर्मसंस्कार। एकभविकः—एक जन्म देने वाले होते हैं। अनुज्ञायते—यह सामान्य नियम तो जाना ही जाता है, सिद्ध ही हो जाता है। इति—समाप्ति-सूचक शब्द है। **'कर्माशयः एकभविक इत्युत्सर्गो य आचार्यैः प्रतिज्ञातो न स उक्तेभ्योऽपवादेभ्यो निवर्तेत यत उत्सर्गाः सापवादा इति'**[1] ॥ १३ ॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

पुण्य और पाप (रूपी कर्माशय) से जन्य होने के कारण वे आनन्द एवं दुःख रूप फल देने वाले होते हैं ॥ १४ ॥

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला, अपुण्यहेतुकाः दुःखफला इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ १४ ॥

वे जन्म, आयु और भोग, पुण्य (शुभकर्माशय) से जन्य होने पर सुखमय और पाप (अशुभकर्माशय) से जन्य होने पर दुःखमय होते हैं। जैसे यह (दुःखमय जन्मायुर्भोग का) दुःख अप्रिय स्वरूप वाला होता है, वैसे ही (सुखमय जन्मायुर्भोग के) विषयसुखभोगकाल में भी योगी को अप्रिय लगने वाला दुःख विद्यमान ही रहता है ॥ १४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ते—वे अर्थात् जाति, आयु और भोग नामक कर्मविपाक। पुण्यापुण्यहेतुत्वाद्—पुण्यहेतुत्वात् अपुण्यहेतुत्वाच्च, अर्थात् पुण्यसंस्कार और अपुण्यसंस्कार से जन्य होने के कारण। ह्लादपरितापफलाः—क्रमशः ह्लादफलक या सुखरूपी फल वाले और परितापफलक अर्थात् दुःखरूपी फल वाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि पुण्यकर्मसंस्कारजन्य 'जात्यायुर्भोग' नामक फल सुखमय होते हैं। और अपुण्यकर्मसंस्कारजन्य 'जात्यायुर्भोग' नामक फल दुःखमय होते हैं। **'एतदुक्तं भवति—पुण्यकर्मारब्धा जात्यायुर्भोगाः ह्लादफला अपुण्यकर्मारब्धास्तु परितापफलाः एतच्च प्राणिमात्रापेक्षया द्वैविध्यम्'**[2] ॥ १४ ॥

(भा० सि०)—ते—वे। जन्मायुर्भोगाः—जन्म, जीवनावधि और सकल भोग्य पदार्थ। पुण्यहेतुकाः—पुण्यसंस्कारकारणकाः अर्थात् पुण्यसंस्कारजन्याः। सुख-

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १७४।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ३६।

फलाः—सुखमयाः, सुखानुभवरूपी फलवाले होते हैं। अपुण्यहेतुकाः—अपुण्य अर्थात् पापसंस्कारजन्याः। दुःखफलाः—दुःखमयाः, दुःखानुभव रूपी फलवाले होते हैं। **'सुखदुःखयोश्च फलत्वं भोग्यतयेति प्रागेव व्याख्यातम्, विपाकान्तरगतभोगश्चशब्दाद्याकारवृत्तिरेवेति तस्यापि सुखदुःखहेतुत्वमुपपन्नम्'**[1]।

यद्यपि सामान्य जनों की दृष्टि में सुखप्रद पदार्थों से सुख मिलता है और दुःखप्रद पदार्थों से दुःख मिलता है और इस प्रकार कुछ पदार्थ सुखमय तथा कुछ दुःखमय होते हैं। किन्तु योगियों की दृष्टि से यह बात अनुपपन्न है। अगले सूत्र में यह स्पष्ट किया जायेगा कि वस्तुतः सब कुछ दुःखरूप ही है। जो प्रतीयमान सुख हैं, वे भी दुःख ही हैं। 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'। इसी बात को भाष्यकार यहीं संकेतित किये दे रहे हैं कि—यथा च—जैसे। इदं दुःखम्—यह दुःख। प्रतिकूलात्मकम्—प्रतिकूलवेदनीयम्, अप्रियं भवति, अरुचिकर या अप्रिय होता है। एवम्—इसी प्रकार, तथैव। विषयसुखकालेऽपि–विषयस्य सुखं (तस्य अनुभवः), तस्य कालः, तस्मिन् अपि, अर्थात् विषयसुख का अनुभव करते समय भी। योगिनः—योगी को, ज्ञाता को। दुःखम्—दुःखानुभवः। अस्ति एव—भवति एव, रहता ही है, होता ही है। भले ही साधारण आदमी उसे न जान पाये, किन्तु दुःख रहता अवश्य है सभी को। **'यद्यपि न पृथग्जनैः प्रतिकूलात्मतया विषयसुखकाले संवेद्यते दुःखं, तथाऽपि योगिभिस्तत्संवेद्यते इति**[2]' ॥ १४॥

कथं तदुपपद्यते ?

(सुखकाल में भी योगी के लिये दुःख विद्यमान ही है) यह कैसे ठीक है ?

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्य[3]विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःखों के कारण एवं गुणों की (शान्तमूढघोर रूप) वृत्तियों के अविरोध के कारण विवेकी के लिये (जन्मायुर्भोग रूप) सभी फल दुःखरूप ही हैं॥ १५॥

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा चोक्तम्। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भव-

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७५।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १७६।

३. 'गुणवृत्तिविरोधाच्च'—इति पाठान्तरम्।

तीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति। विषयसुखञ्चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति। अथ का तापदुःखता? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति। तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते। ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते। का पुनः संस्कारदुःखता? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति? एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति।

एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति। कस्मात्? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति। यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु। एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्। इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते। तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति।

गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते। 'चलञ्च गुणवृत्तमि'ति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुद्धयन्ते। सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते। एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवति। गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति। तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति। तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः

संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्याऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हति। हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः। उभयप्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥ १५ ॥

चेतन एवं अचेतन उपकरणों से प्राप्त होने वाला सभी का सुखानुभव रागात्मक प्रवृत्ति से परिपूर्ण रहता है। इसलिये उस (सुखानुभवकाल) में रागजन्य कर्माशय बनता है। उसी प्रकार दुःख देने वाले उपकरणों के प्रति (उसी सुखानुभवकाल में) द्वेष करता है, (और दुःखद उपकरणों को हटाने में असमर्थ होता हुआ) मोहग्रस्त (पापसंकल्परत) होता है, इसलिये द्वेषजन्य एवं मोहजन्य कर्माशय भी बनते हैं। और कहा भी गया है कि—'बिना प्राणियों की हिंसा किये (सुख का) उपभोग संभव नहीं होता। इसलिये शारीरिक (पापकर्म) से हिंसाजन्य कर्माशय भी बनता है। विषयसुख एक भ्रम है अर्थात् अविद्या है—ऐसा (यो० सू० २।५ में) कहा गया है। (क्योंकि)—भोग (काल) में इन्द्रियों की तृप्ति होने से जो उपशान्ति होती है, वह सुख है। (और इन्द्रियों की) चञ्चलता के कारण जो अनुपशान्ति होती है, वही दुःख है। भोग की बार-बार आवृत्ति होने से इन्द्रियों की वितृष्णता नहीं उत्पन्न या प्राप्त की जा सकती। क्योंकि भोग की आवृत्ति से रागात्मक प्रवृत्ति और इन्द्रियों की तद्विषयक कुशलता बढ़ती है। इसलिये भोग की बार-बार आवृत्ति सुखानुभव का ठीक उपाय नहीं है। जो सुखार्थी विषयों की वासना से ग्रस्त होकर महान् दुःख के कीचड़ में इस प्रकार डूब जाता है, वह निश्चय ही मानों बिच्छू के जहर से डर कर साँप के विष से डँसा गया। यह अप्रिय 'परिणामदुःखता' सुखभोगावस्था में भी योगी को ही कष्ट देती है।

अब 'तापदुःखता' क्या है ? सबको चेतन और अचेतन उपकरणों से प्राप्त होने वाले द्वेषयुक्त ताप का अनुभव होता है। उस (तापानुभवकाल) में द्वेषजन्य कर्माशय बनता है। और सुख के साधनों की कामना करता हुआ प्राणी शरीर, वाणी और मन से चेष्टा करता है और उस (चेष्टा) से दूसरे प्राणी को अनुगृहीत और पीडित करता है। इस प्रकार दूसरे के ऊपर अनुग्रह और पीड़ा के द्वारा पुण्य और पाप का संग्रह करता है। यह कर्माशय लोभ और मोह से होता है। यह 'तापदुःखता' कही जाती है। फिर 'संस्कारदुःखता' क्या है ? सुख का अनुभव करने से सुखसंस्काररूपी वासनाएँ बनती हैं। दुःखानुभव से भी दुःखसंस्काररूपी वासनाएँ बनती हैं। इस प्रकार कर्मजन्य फलों के अनुभूत किये जाने पर, सुख और दुःख होने पर फिर कर्मसंस्कारसमूह बनता है। यह 'संस्कारदुःखता' है। इस प्रकार यह अनादि दुःखधारा फैली हुई है और योगी को ही अप्रियरूप होने के कारण उद्विग्न करती है।

क्योंकि—विद्वान् आँख (या नेत्रगोलक) के समान होता है। जिस प्रकार ऊन का बारीक तागा आँख में पड़ा हुआ स्पर्शमात्र से दुःख देता है, शरीर के अन्य अवयवों में पड़े होने पर नहीं। इसी प्रकार ये दुःख (भी) नेत्रगोलकसदृश (स्थानीय) योगी को ही कष्ट देते हैं, अन्य अनुभविता को नहीं। अपने कर्मों से अर्जित बार-बार उपस्थित होने वाले दुःख का प्रतीकार करते हुए और बार-बार त्यागे गये दुःख को फिर (झेलते हुए) अपनाते हुए, अनादिवासनाओं से भरी हुई तथा सर्वतः अविद्या से बिंधी हुई चित्तवृत्ति के द्वारा त्याज्यविषयों में 'मैं' और 'मेरा' के व्यवहार में पड़ने वाले बार-बार जन्म लेने वाले अन्य अनुभविता प्राणियों को तो बाह्य, आन्तरिक एवं उभयप्रकारक उपकरणजन्य त्रिविध-ताप व्यापते रहते हैं। तो इस प्रकार से अनादि-दुःख की धारा से घिरे हुए प्राणिजगत् को तथा अपने को देखकर योगी सभी दुःखों का नाश करने वाले सच्चे विवेकज्ञान की शरण लेता है। गुणों की वृत्तियों के (पारस्परिक) अविरोध के कारण भी विवेकी के लिये सब दुःखरूप ही है। ज्ञान, क्रिया और मूढ़ता रूपी बुद्धि के (तीनों) गुण परस्पर मिलकर (एक-दूसरे के अधीन होकर) शान्त, घोर और मूढ़ रूप की त्रिगुणात्मक अनुभूति ही उत्पन्न करते हैं (एक ही प्रकार की अनुभूति नहीं उत्पन्न करते)। गुणों का स्वभाव चञ्चल होता है, इसलिये चित्त को शीघ्र-परिणामी कहा गया है। (बुद्धि के) धर्माधर्मादि आठों विशेष रूप और (वैसे ही) सुखदुःखादि तीनों विशेष वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध (या एक-दूसरे से भिन्न) काल में प्रकट होती हैं। इनकी सामान्य सत्ता तो इन विशेषों के साथ (भी) वर्तमान रहती है।

इस प्रकार ये गुण एक-दूसरे के सहारे से सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक अनुभूतिरूपता को प्राप्त होते हैं। इसलिये वस्तुतः सभी गुण सभी रूप के होते हैं। इनकी विशिष्टरूपता इनके गौण और प्रधान होने से उत्पन्न होती है। इसलिये विवेकी के लिए सब दुःख ही है। इस महान् 'दुःखसमूह' का मूलकारण अविद्या है। और इस अविद्या के अभाव का कारण (या उपाय) सम्यक् दर्शन (यथार्थ ज्ञान) है। जैसे—वैद्यकशास्त्र चार विभागों वाला होता है—रोग, रोग का कारण, नीरोगता और (नीरोगता का कारण अर्थात्) औषध, इसी प्रकार यह (योग) शास्त्र भी चार विभागों वाला है, यथा—संसार, संसार का कारण, मोक्ष और मोक्ष का उपाय। इन (चारों विभागों) में से दुःखमय संसार ही हेय, प्रकृति और पुरुष का संयोग ही हेय का कारण, एतादृश संयोग की शाश्वतिक निवृत्ति (अर्थात् मोक्ष) हान और सम्यग्दर्शन हान का उपाय है। इस प्रसङ्ग में(ज्ञातव्य है कि) हान करने वाले का स्वरूप प्राप्य और त्याज्य नहीं हो सकता। स्वरूपहान मानने में उसके आत्मनाश की प्रसक्ति होती है और स्वरूप का उपादान मानने में कारणवाद (और तत्सिद्ध अनि-

त्यत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है)। दोनों (आत्मोच्छेदवाद और आत्मकारणतावाद) का खण्डन करने पर आत्मनित्यत्ववाद (सिद्ध) होता है। इसलिये यह (योग) शास्त्र यथार्थदर्शन (माना गया) है ॥ १५ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—कथम्—कैसे। तद्—'सुखानुभवकाल में भी योगी को प्रतिकूलात्मक दुःख होता है', यह बात। उपपद्यते—ठीक है? युक्तिसंगत है? इसके उपपादनार्थ पतञ्जलि का यह सूत्र है—

(**सू० सि०**)—परिणामतापसंस्कारदुःखैः—परिणामदुःखम्—(सुखानुभव के बाद) परिणामस्वरूप (कर्माशय के रूप में और इन्द्रियलोलुपता की वृद्धि के रूप में) प्राप्य दुःखानुभव, तापदुःखम्—(सुखानुभवकाल में ही रजोगुणजन्य द्वेष, लोभ, मोह की सत्ता के कारण) ताप के अनुभवरूप दुःख। और। संस्कारदुःखम्—उत्पद्यमान अधिक वासनासंस्कारों की उपस्थितिरूप दुःख—इन तीनों प्रकार के दुःखों के कारण। गुणवृत्त्यविरोधाच्च—और सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की परस्पर अविरुद्ध प्रवृत्ति होने के कारण अकेले सुखप्रद सत्त्व की अनुभूति न होने अर्थात् दुःखप्रद राजसादि वृत्ति की भी अनुभूति होने से। विवेकिनः—समझदार मनुष्य के लिये। सर्वम्—सभी कुछ। दुःखमेव—दुःखरूप ही है। अर्थात् सुख भी दुःखरूप ही होता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि विवेकरहित प्राणी के लिये सब कुछ दुःखरूप नहीं होता। वस्तुतः सभी के लिये सब कुछ दुःखरूप ही हैं, किन्तु विवेकी प्राणी उसे जान लेता है और अविवेकी या अयोगी उसे अनुभूत करता हुआ भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाता, अज्ञान या अविद्या के कारण। **'यद्यप्ययोगिनोऽपि दुःखमेव सर्वं तथाऽपि स मूढत्वात्सुखकाले दुःखतया न जानाति योगी तु सुखकालेऽपि तस्य दुःखात्मकत्वं पश्यतीति प्रतिपादयितुं विवेकिन इत्युक्तम्'**[1] ॥ १५ ॥

(**भा० सि०**)–विषयसुख की परिणामदुःखता का निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सर्वस्य—सभी प्राणियों का। चेतनाचेतनसाधनाधीनः—सजीव पुत्रादि और निर्जीव भोजनवस्त्रगृहादि सामग्रियों से प्राप्त होने वाला। अयम्—यह। सुखानुभवः—सुखभोग या सुखानुभूति अर्थात् सुखसाक्षात्कार। रागानुविद्धः (भवतीति शेषः)—राग नामक क्लेश से अनुविद्ध या बिंधा हुआ अर्थात् राग से युक्त होता है। क्योंकि स्वाभाविक रीति से सुखों के प्रति राग की अभिव्यक्ति हो जाती है। इति—इसलिये। तत्र—तस्मिन्, उस सुखानुभव की दशा में। रागजः—राग नामक क्लेश से उत्पन्न। कर्माशयः—कर्म-संस्कार। अस्ति—तैयार होता है। तथा च—और उसी प्रकार से अर्थात् जिस प्रकार से राग नामक क्लेश से सुखानुभव अनुविद्ध रहता है,

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७७।

उसी प्रकार से सुखानुभव काल में। दुःखसाधनानि—सुख के विरोधी उपकरणों के प्रति वह सुखानुभविता। द्वेष्टि—द्वेष भी करता है। मुह्यति च—और अविवेकपूर्ण विचार भी करता रहता है। उन सुख के विरोधी साधनों को न पनपने देने में अपने को असमर्थ पाकर। इति—इसलिये। द्वेषमोहकृतः—द्वेष और मोह से उत्पन्न। कर्माशयः—कर्मसंस्कार। अपि—भी। अस्ति—तैयार हो जाता है।

'तथा च सुखभोगकाले तद्विरोधितया दुःखसाधनानि द्वेष्टि सुखभ्रंशे दुःखं मे माऽभूत् शत्रुश्च मे नश्यतु इत्यादिरूपेण, तथा दुःखसाधनानि परिहर्तुमशक्तो मुह्यति चेत्यतो द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशय इत्यर्थः'[1]। तथा च—वैसे ही। उक्तम्—कहा भी गया है, इसी पाद के चौथे सूत्र और उसके भाष्य में। आगे फिर इसी 'परिणामदुःखता' के सम्बन्ध में ही कहते हैं कि। भूतानि—जीवों को। अनुपहत्य—बिना पीडित किये हुए (बिना उनका हिस्सा छीने हुए)। न उपभोगः सम्भवति—सुख का उपभोग संभव नहीं है। इति—इसलिये। सुखभोग में। हिंसाकृतः—पीड़ा देने से उत्पन्न होने वाला। शारीरः अपि कर्माशयः—शारीरिक कर्मजन्य संस्कार भी। अस्ति—बनता है। मनु ने भी इस बात को पुष्ट किया है। **'पञ्चसूना गृहस्थस्य'**—इत्यादि। इसलिये ऋषियों ने कहा है कि। विषयसुखम्—विषयसुखों से प्राप्त सुखानुभव। अविद्या—अज्ञानात्मक है। इति उक्तम्—ऐसा कहा है। इस सुख की अविद्यात्मकता सिद्ध कर रहे हैं—

(इन कर्माशय-संस्कारों की उत्पत्ति के अतिरिक्त एक और प्रकार से भी सुख-भोग परिणामदुःखता वाला है—इसे सिद्ध करने का उपक्रम किया जा रहा है) भोगेषु—सभी सुखानुभवों में। इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की। तृप्तेः—तृप्ति के कारण, वैरस्य के कारण। उसके प्रति। या उपशान्तिः—जो इन्द्रियों का तूष्णींभाव या अचाञ्चल्य है। तत् सुखम्—वह सुख है। और। लौल्याद्—इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण। या—जो। अनुपशान्तिः—बेचैनी बनी रहती है। तत् दुःखम्—वह दुःख है। इन्द्रियाणाञ्च—और इन्द्रियों का। वैतृष्ण्यम्–विषयों के प्रति तृष्णाराहित्य या अलगाव। भोगाभ्यासेन—बार-बार भोग करने के उपाय से। न कर्तुं शक्यम्—नहीं किया जा सकता[2]। कस्मात्—क्यों ? यतः—क्योंकि, इसलिये कि। भोगाभ्यासम् अनु—भोग की आवृत्ति के पश्चात्। रागाः—भोगों के प्रति लालच। इन्द्रियाणां कौशलानि च—और इन्द्रियों की कुशलता, निपुणता। विवर्द्धन्ते—बढ़ जाती है। तस्माद्—इसलिये। भोगाभ्यासः—बार-बार भोग करना या भोगों की आवृत्ति।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १७८।

२. 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥'—श्रीमद्भगवद्गीता।

सुखस्य—सुखप्राप्ति का। अनभ्युपायः—ठीक उपाय नहीं है। यः—जो। सुखार्थी—सुख चाहने वाला। विषयवासनानुवासितः—विषयों को प्राप्त करने की वासना से युक्त होकर। महति दुःखपङ्के—अनन्त दुःख के कीचड़ में। निमग्नः—डूब जाता है अर्थात् विषयों की बार-बार प्राप्ति करके उसे भोगने का उपक्रम करता हुआ सुख के स्थान में दुःख की प्राप्ति करता रहता है। स खलु अयम्—उस बेचारे ने मानों। वृश्चिकविषभीतः—बिच्छू के जहर के भय से डर कर। आशीविषेण—सर्प से, सर्प को 'आशीविष' भी कहते हैं। दष्टः—अपने को कटवा लिया। खलु—उत्प्रेक्षार्थक है। एषा परिणामदुःखता—सुख की यह परिणामतः दुःखरूपता। नाम—वाक्यालङ्कारे। सुखावस्थायामपि—सुखानुभवकाल में भी। प्रतिकूला (सती)—सुखानुभूति की विरोधिनी होती हुई। योगिनम् एव—विवेकिजनमेव, विवेकी व्यक्ति को ही। क्लिश्नाति—दुःखी करती है। अन्य लोग तो परिणामदुःखरूपता की कल्पना सुखानुभवकाल में कर ही नहीं पाते।

अथ—अब। का तापदुःखता—सुखादि की तापदुःखता क्या होती है? इसका उत्तर देते हैं। सर्वस्य—सबका। (सुखानुभवकालेऽपि)। चेतनाचेतनसाधनाधीनः—चेतन और अचेतन साधनों से प्राप्त होने वाला। तापानुभवः—ताप अर्थात् जलन के दुःख का अनुभव। द्वेषानुविद्धः—द्वेष नामक क्लेश से बिंधा हुआ रहता है। इति—इसलिये। तत्र—उसमें। द्वेषजः—द्वेषजन्य। कर्माशयोऽस्ति—कर्मसंस्कार बनता है। सुखसाधनानि च—और सुख देने वाले उपकरणों को। प्रार्थयमानः—कामयमानः, चाहता हुआ। कायेन—शरीर से। वाचा—वाणी से। मनसा—और मन से। परिस्पन्दते—चेष्टते, कर्म करता है। ततः—तस्याः चेष्टायाः, उस चेष्टा के फलस्वरूप। परम्—अन्य प्राणी को। अनुगृह्णाति—अनुगृहीत करता है, उसका उपकार करता है। उपहन्ति च—और अन्य प्राणियों को पीड़ित करता है, उनका अपकार करता है। इति—इस प्रकार से। धर्माधर्मौ—पुण्य और अपुण्य संस्कारों को। उपचिनोति—इकट्ठा करता है। स कर्माशयः—वह पुण्यापुण्यरूप कर्मजन्य संस्कार। लोभात्—लोभ के कारण। मोहात् च—और मोह के कारण बनता है। इति एषा—यह। तापदुःखता—तापदुःखता। उच्यते—कही जाती है। **'सर्वजनप्रसिद्धत्वेन तत्स्वरूपप्रपञ्चमकृत्वा तापदुःखताऽपि परिणामदुःखता समतया प्रपञ्चितेति[1]।' 'क्रमप्राप्तं तापदुःखं व्याख्यातुं पृच्छति अथ केति? तापो दुःखं किं तापजन्यदुःखसामान्यमित्यर्थः। उत्तरं सर्वस्येति। पूर्ववदेव व्याख्येयं सुखानुभवो रागानुविद्ध उक्त, इदानीं च दुःखानुभवो द्वेषानुविद्ध उच्यत इत्येव विशेष इति[2]।'** का पुनः

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८०।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८०।

संस्कारदुःखता—अब फिर संस्कारदुःखता क्या है ? सुखानुभवात्—सुखानुभूति से । सुखसंस्काराशयः—सुखमय संस्कारों की वासना उत्पन्न होती हैं । दुःखानुभवादपि—दुःखानुभूति से भी । दुःखसंस्काराशयः—दुःखमय वासना-संस्कार उत्पन्न होते हैं । अनुभवों से उत्पन्न होने वाले संस्कारों को 'वासना-संस्कार' कहते हैं । ये वासना-संस्कार अनुभवों को और अधिक दुःखमय बना देते हैं । यह बताते हुए भाष्यकार कहते हैं । एवम्—इस प्रकार से । कर्मभ्यः—कर्मों से अर्थात् कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त । विपाके—जन्म, आयु और भोग रूप फलों के । अनुभूयमाने—(सति) अनुभूत किये जाने पर । सुखे, दुःखे वा—सुखमय या दुःखमय रूप में भोगे जाने पर । पुनः कर्माशयप्रचयः—फिर कर्माशय संस्कारों का समूह बनता है । इसका क्रम यह है—सुखदुःखादि रूप अनुभव से तज्जातीय वासना-संस्कार बनते हैं । इन वासना-संस्कारों से आगे चलकर सुखादि की स्मृति होती है । इस स्मृति से राग उत्पन्न होता है । राग से त्रिविध कर्मों की चेष्टा होती है । इन कर्मों या चेष्टाओं से फिर कर्माशय-संस्कार बनते हैं । इनसे फिर विपाकानुभूति और फिर उससे वासना-संस्कार बनते हैं । यह अनादि-चक्र चलता रहता है । **'सुखानुभवो हि (वासनाख्यं) संस्कारमाधत्ते । स च सुखस्मरणं, तच्च रागं, स च मनःकायवचनचेष्टां, सा च पुण्यापुण्ये (कर्माशयौ), ततो विपाकानुभवस्ततो वासना (पुनः) इत्येवमनादिता इति । अत्र च सुखदुःखसंस्काराशयात्तत्स्मरणं, तस्माच्च रागद्वेषौ, ताभ्यां कर्माणि, कर्मभ्यो विपाक इति योजना[1] ।'**

एवम्—इस प्रकार । इदम्—यह । अनादि—चक्रवत् सदा चलता हुआ, प्रारम्भ-रहित । विप्रसृतम्—सर्वथा लम्बमान फैला हुआ । दुःखस्रोतः—दुःख का निर्झर, प्रवाह । योगिनमेव—योगी को ही । प्रतिकूलात्मकत्वात्—अनुकूल न होने के कारण । उद्वेजयति—उद्विग्न करता है, बेचैन बनाता है । यह संस्कारदुःखता भी यद्यपि परिणामदुःखता की ही भाँति परिणामतः प्राप्य दुःखमयता वाली है, तथापि 'गोबलीवर्दन्याय' से इसका अलग कथन किया गया है । **'नन्वियमपि परिणामदुःखतैवेति चेत् ? सत्यं तथापि संस्कारपरम्पराया अनन्तदुःखप्रतिपादनाय गोबलीवर्दन्यायेनाऽस्य दुःखस्य पृथगुपन्यासो बोध्यः[2] ।'**

यह अनादिदुःखप्रवाह योगी या विवेकी अर्थात् उत्कृष्टधीमान् को ही क्यों पीड़ित करता है ? अन्य लोग इससे पीड़ित क्यों नहीं होते ? कस्मात्—आखिर ऐसा क्यों है ?

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८१ ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८१ ।

हि—यतो हि, क्योंकि। विद्वान्—विवेकी पुरुष। अक्षिपात्रकल्पः इति—चक्षुर्गोलक (Eyeball) की भाँति होता है। यथा—जैसे। ऊर्णातन्तुः—ऊन का तागा या रेशा। अक्षिपात्रे—आँखों या नेत्रपुटों में। न्यस्तः—क्षिप्तः, पतितः, पड़ा हुआ, डाले जाने पर। स्पर्शेन—स्पर्शमात्र से ही, केवल छू जाने से ही। दुःखयति—दुःख देता हैं, पीड़ा उत्पन्न करता है। अन्येषु गात्रावयवेषु—शरीर के अन्य अवयवों में। न—नहीं (स्पर्श से पीड़ा नहीं करता)। एवमेतानि दुःखानि—इसी तरह ये दुःख। योगिनमेव—योगी को ही। क्लिश्नन्ति—क्लेश या कष्ट देते हैं। इतरम्—अन्य। प्रतिपत्तारम्—ज्ञाताओं या अनुभविताओं को। न—नहीं। अर्थात् तथाकथित सुखभोग में संसक्त अन्य प्राणियों को नहीं। इतरं तु—अन्य (तथाकथित सुखभोग में लिप्त) प्राणियों को तो। इसी 'इतर' पद के अनेक विशेषण अनेक उपवाक्यों में दिये जा रहे हैं। (कीदृशम् इतरम्—कैसे इतरजन को ?) उपात्तम् उपात्तम्—बार-बार प्राप्त होने वाले। स्वकर्मोपहृतं दुःखम्—अपने कर्म-संस्कारों के द्वारा फलरूप में प्रस्तुत किये गये दुःख को। त्यजन्तं त्यजन्तम्—झेल-झेल कर हटाते या चुकाते हुए (इतरजन को)। और। त्यक्तं त्यक्तम्—बार-बार त्यागे गये उन्हीं दुःखों को फिर। उपाददानम्—प्राप्त करते हुए (इतरजन को)। अनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या—अनादिकाल से इकट्ठे हुए वासना-संस्कारों से संगुम्फित मनोवृत्ति के द्वारा। समन्ततोऽनुविद्धम् इव—सब ओर से मानो बिंधे हुए (इतरजन को)। हातव्ये एव - **'हातव्ये एव देहादौ धनादौ च यावदहङ्कारममकारौ तयोरनुपातिनम् अनुगतम्**[1] **।'** त्याग देने योग्य पदार्थों में। अविद्यया—अविद्या के कारण। अहङ्कारममकारानुपातिनम्—'मैं' और 'मेरे' की आस्था रखने वाले (इतरजन को)। जातं जातम्—बार-बार जन्म लेने वाले (इतरजन को)। बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्ताः—बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के कारणों से उत्पन्न होने वाले। त्रिपर्वाणः—तीन खण्डों वाले अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इन तीन पर्वों अर्थात् खण्डों वाले। तापाः—दुःखानि। अनुप्लवन्ते—दबा लेते हैं, व्याप्त कर लेते हैं। यह सभी इतरजनों की दशा का वर्णन हुआ। तदेवम्—तो इस प्रकार से। अनादिदुःखस्रोतसा—इस अनादि दुःखप्रवाह से। व्युह्यमानम्—('वि + √वह् + यक् + शानच् द्वि० ए०') घिरे हुए। आत्मानम्—अपनेआप को। भूतग्रामश्च—और समस्त प्राणिवर्ग को। दृष्ट्वा—देखकर। योगी—योगसाधक विवेकी। सर्वदुःखक्षयकारणम्—सभी दुःखों को नष्ट करने वाले। सम्यग्दर्शनम्—तत्त्वज्ञानरूपी। शरणम्—शरण को। प्रपद्यते—प्राप्त करता है अर्थात् तत्त्वज्ञान की शरण में जाता है। इति—इस अंश के व्याख्यान की समाप्ति हुई।

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १८२।

अब इसके आगे सूत्र के 'गुणवृत्त्यविरोधाच्च' अंश की व्याख्या भाष्यकार ने की है। इसमें सभी अनुभूतियों की परिणामदुःखता, तापदुःखता और संस्कारदुःखता के भी स्वाभाविक हेतु का कथन किया गया है। **'तदेवमौपाधिकं विषयसुखस्य परिणामतः संस्कारस्तापसंयोगाच्च दुःखत्वमभिधाय स्वाभाविकमादर्शयति[1]।'** गुणवृत्त्यविरोधाच्च—गुणानां सत्त्वादित्रयाणां, वृत्तयः स्वभावाः, तासाम् अविरोधात् परस्परं मिलित्वा प्रवृत्तेः, परस्पर अविरोधी होने के कारण, एक साथ सामान्य रूप से रहने के कारण। **'मिथुनवृत्तयश्च गुणाः[2]।'** **'एवं सत्त्वरजस्तमांसि मिथो विरुद्धान्यप्यनुवर्त्स्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च[3]।'** और इन तीनों गुणों के परस्पर अविरुद्ध रूप से रहने के कारण (भी)। दुःखं सर्वं विवेकिनः—विवेकी के लिये सब कुछ दुःखमय ही है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार आगे कहते हैं। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपाः—ज्ञान, क्रिया और ठहराव रूपी। बुद्धिगुणाः—बुद्धि के अवयवभूत तीनों सत्त्व, रजस् और तमस् नामक गुण। परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय—परस्पर सहायक होकर। शान्तं घोरं मूढं वा—सुखमय, दुःखमय और मोहात्मक। त्रिगुणमेव—त्रिगुणात्मक ही। प्रत्ययम्—ज्ञान को। आरभन्ते—उत्पन्न करते हैं। गुणों के अन्योऽन्याश्रयवृत्ति वाले होने के कारण केवल सुखमय, केवल दुःखमय या केवल मोहात्मक ज्ञान नहीं उत्पन्न करते हैं। **'अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वत्रगामिनः।'** **'शान्तं सुखात्मकं, घोरं सर्वं दुःखात्मकं मूढं विषादात्मकमेव प्रत्ययं, सुखोपभोगरूपमपि त्रिगुणमारभन्ते न च सोऽपि तादृशप्रत्ययरूपोऽस्य परिणामः स्थिर इति[4]।'** दूसरी बात यह है कि ज्ञान स्थिर भी नहीं रहता। क्योंकि। गुणवृत्तं च—गुणस्य वृत्तं कार्यमाचरितं वा, गुण का कार्य। चलम्—चञ्चल या अस्थिर होता है। इति—इसलिये। चित्तम्—चित्त (या बुद्धि)। क्षिप्रपरिणामि—शीघ्र ही अन्य रूपों में परिणत होने वाला। उक्तम्—कहा गया है। अगर यह कहा जाय कि जब इस मान्यता के अनुसार सारे अनुभव त्रिगुणात्मक ही होंगे अर्थात् अकेला एक प्रकार का अनुभव नहीं होगा तो फिर सुख या दुःख या मोह के अलग-अलग स्वरूप का अनुभव ही भला कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते है कि बुद्धि के। रूपातिशयाः धर्माः—ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये आठों बुद्धि के रूप हैं, इनका उत्कर्ष या आधिक्य। और। वृत्त्यतिशयाश्च—शान्त, घोर और मूढ—ये बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, इनका उत्कर्ष या आधिक्य। परस्परेण—

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८२।

२. द्रष्टव्य; सां० कारिका १२।

३. द्रष्टव्य; सां० त० कौ० पृ० १०१।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८३।

एक-दूसरे से । विरुद्धचते—विरुद्ध या भिन्न होता है, जैसे उत्कृष्ट धर्म और उत्कृष्ट अधर्म, एक-दूसरे के साथ एक समय में ही चित्त में नहीं रह सकते । **'यदा धर्म उत्कृष्यते तदा नाधर्म उत्कृष्यते, एवं यदा ज्ञानादि (उत्कृष्यते) तदा नाज्ञानादि (उत्कृष्यते) तथा शान्ताद्युत्कर्षकाले घोराद्युत्कर्षश्च विरुध्यते ।'**[१]

इन बुद्धिरूपों तथा बुद्धिवृत्तियों की सामान्य अवस्थाएँ न तो परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध होती हैं और न उनमें से किसी अन्य की अतिशय अवस्था की विरोधिनी होती हैं । प्रत्युत । सामान्यानि—इनकी सामान्य दशाएँ । एक-दूसरे के । अतिशयैः सह—उत्कृष्ट अवस्थाओं के साथ-साथ । प्रवर्तन्ते—चलती रहती हैं । **'सामान्यानि त्वसमुदाचरद्रूपाण्यतिशयैः समुदाचरद्भिः सहाविरोधात् प्रवर्तन्त इति ।'**[२] इस प्रकार से । एते गुणाः—ये सत्त्वादि तीनों गुण । इतरेतराश्रयेण—एक-दूसरे के आश्रय से अर्थात् एक-दूसरे के साहित्य से । उपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः—सुख, दुःख और मोह का भी संस्पर्श प्राप्त करने वाले होते हैं । इति—इसलिये । सर्वे—सभी पदार्थ । सर्वरूपाः—सुख, दुःख और मोह, इन तीनों रूपों के होते हैं । **'सर्वे पदार्थाः (विषया ज्ञानानि च) सर्वरूपाः सुखदुःखमोहधर्मका भवन्ति ।'**[३] अब शङ्का यह होती है कि जब सभी पदार्थ सब रूप के होते हैं तो फिर यह सुखात्मक है या दुःखात्मक है या मोहात्मक है—यह कथन कैसे सम्भव होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि । एषां विशेषः—इनकी अलग-अलग रूप में प्रतीति । गुण-प्रधानभावकृतः—उनके बीच में 'गौणत्व' और 'प्रधानत्व' की दृष्टि से होती है । या यह कहना चाहिए कि जिसे हम 'सुख' कहते हैं, उसमें 'सुख' प्रधान रूप से हैं और दुःख तथा मोह गौण रूप से हैं । जिसे हम 'दुःख' की स्थिति कहते हैं, उसमें 'दुःख' प्रधान रूप से और सुख तथा मोह गौण रूप से रहते हैं । वैसे ही जिसे हम 'मोह' कहते हैं, उसमें 'मोह' प्रधान रूप से रहता है और सुख तथा दुःख गौण रूप से रहते हैं । इस प्रकार जो सामान्य रूप से रहे, वह 'गौण' और जो अतिशय रूप से रहे, वह 'प्रधान' कहा जाता है । **'सामान्यात्मना गुणभावोऽतिशयात्मना च प्राधान्यम् ।'**[४] तस्माद्—इसलिये । सर्वम्—सभी पदार्थ । दुःखमेव—कभी 'प्रधान' और कभी 'गौण' रूप से दुःखमय ही हुए । विवेकिनः—विवेकी के लिये । तद्—तो । अस्य—इस । महतः—महान् । दुःखसमुदायस्य—दुःखसमूह का । प्रभवबीजम्—उत्पत्तिकारण । अविद्या—अविद्या है । तस्याश्च—और उस अविद्या को । अभावहेतुः—नष्ट करने का साधन । सम्यग्दर्शनम्—ठीक-ठीक ज्ञान, तत्त्वज्ञान है । 'विवेकख्याति' रूप यथार्थ ज्ञान

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८४ ।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८४ ।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८४ ।
४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८४ ।

ही 'तत्त्वज्ञान' है। यथा—जैसे। चिकित्साशास्त्रम्—'आयुर्वेद' नामक शास्त्र। रोगः—रोग। रोगहेतुः–रोग का कारण। आरोग्यम्–नीरोग रहना और। भैषज्यम्—औषध। इति—इन। चतुर्व्यूहम्—चार भागों वाला होता है। एवम्—वैसे ही। इदमपि शास्त्रम्—यह सम्यग्ज्ञान का शास्त्र अर्थात् योगदर्शन भी। चतुर्व्यूहमेव—चार अङ्गों वाला ही होता है। तद्यथा—वह जैसे। संसारः—संसार। संसारहेतुः—संसार का कारण। मोक्षः—संसार से छुटकारा या मुक्ति। मोक्षोपायः इति—मुक्ति का उपाय। तत्र—इन चारों में से। दुःखबहुलसंसारः—दुःखमय संसार हेय है। प्रधानपुरुषयोः संयोगः—प्रकृति और पुरुष का संयोग। हेयहेतुः—इस हेयसंसार का कारण है। इस दुःखबहुल संसार का कारण 'प्रकृतिपुरुष-संयोग' बताया जा रहा है और पीछे के अनुच्छेद में 'अविद्या' को इसका कारण बताया गया था। इन दो बातों में कोई विसंगति नहीं समझनी चाहिए। अविद्याकृत 'प्रकृतिपुरुष-संयोग' से ही संसार की उत्पत्ति होने के कारण। संयोगस्य—इन प्रधानपुरुष-संयोग का। आत्यन्तिकी निवृत्तिः—सदा के लिये निराकरण ही। हानम्—दुःखनाशः, मोक्षः, मोक्ष है। हानोपायः—इस दुःखनाश या मोक्ष का उपाय। सम्यग्दर्शनम्—यथार्थज्ञान या 'विवेकख्याति' है। **'सम्यग्दर्शनमिति प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारो दुःखहानोपायो मोक्षोपाय इत्यर्थः।'**[१]

इस हान को पुरुष के स्वरूप का हान नहीं समझना चाहिए। क्योंकि। तत्र—हान के प्रकरण में ज्ञातव्य है कि। हातुः—हान करने वाले पुरुष का। स्वरूपम्–आत्मरूप, अपना स्वरूप। उपादेयम्—प्राप्य। हेयं वा—या त्याज्य। न भवितुमर्हति—नहीं हो सकता। हाने—पुरुष के स्वरूप का हान या त्याग अर्थात् नाश मानने में। तस्य—पुरुष या आत्मा के। उच्छेदवादप्रसङ्गः—नाश का प्रसङ्ग आ जाता है। और यह कदापि अभीष्ट या तर्कसंगत नहीं है। उपादाने च—और इसकी प्राप्ति होती है, ऐसा मानने से। हेतुवादः—कारणवाद की प्रसक्ति होती है। कारणवाद यह है कि आत्मा या पुरुष के स्वरूप को प्राप्य मानेंगे तो इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष का स्वरूप किसी कारण से प्राप्त होता है अर्थात् यह कृत्रिम है। जब पुरुष-स्वरूप-प्राप्ति कृत्रिम होगी तो पुरुष विनाशशील होगा। 'यत्कृतकं तदनित्यम्'—इस न्याय से।

उभयप्रत्याख्याने च—और इन दोनों पक्षों (हातुः पुरुषस्य स्वरूपस्य उपादेयत्वम् अथ च हेयत्वम्) का अस्वीकार करने पर। शाश्वतवादः—आत्मा का नित्यत्व स्वीकार स्पष्ट होता है। इति एतत्—यह। सम्यग्दर्शनम्—वास्तविक या तात्त्विक दर्शन है। **'तस्मात् स्वरूपावस्थानमेवात्मनो मोक्ष इत्येतदेव सम्यग्दर्शनम्'**[२]॥ १५॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८७।

तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते—

वह यह (योग) शास्त्र (सूत्रकार के द्वारा) चार विभागों वाला कहा जाता है—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

भविष्यत्कालिक दुःख ही 'हेय' हैं ॥ १६ ॥

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते वर्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापद्यते ॥

बीता हुआ दुःख भोगा जा चुका, इसलिये वह हेय कोटि में नहीं आता । वर्तमान दुःख अपने इस क्षण में भोगा ही जा रहा है, इसलिये वह दूसरे क्षण में हेय नहीं बन सकता । इसीलिये जो दुःख अभी तक नहीं आया है (भविष्यत्कालिक है), वही नेत्रगोलक-सदृश योगी को कष्ट देता है, अन्य अनुभविताओं को नहीं । वही दुःख हेयता को प्राप्त होता है (अर्थात् त्याज्य होता है) ॥ १६ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तद्—इसलिये, तब । एतच्छास्त्रम्—यह योगशास्त्र । चतुर्व्यूहम्—चार भागों वाला है । इति—यह बात । १. हेय, २. हेयहेतु, ३. हान और ४. हानहेतु के क्रम से विस्तृत रूप में । अभिधीयते—वर्णित की जा रही है ।

(सू० सि०)—अनागतम्—अभी तक न आया हुआ (अर्थात् भविष्य में आने वाला) । दुःखम्—दुःख ही । हेयम् —त्याज्यं, हातव्यम्, दूर करने योग्य होता है । 'अनागत' विशेषण के द्वारा सूत्रकार का यह मन्तव्य प्रकट होता है कि यद्यपि 'हेयत्व' कोटि में सभी दुःख आ सकते हैं, किन्तु भूतकाल में भोगा गया दुःख हेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो झेला जा चुका और वर्तमानकालिक दुःख भी हेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो झेला ही जा रहा है । उस झेले जाते हुए वर्तमानकालिक दुःख के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उसका जो अंश अभी भोगे जाने को अवशिष्ट है, वह वर्तमानकालिक दुःख में न गिना जाकर अनागतकोटि में ही गिना जायेगा और इसीलिये 'हेय' ही माना जायेगा । हाँ, जितना दुःखांश झेला जा रहा है, वह 'हेय' इसलिये नहीं कहा जा सकता कि उसे तो झेलना ही पड़ गया है अर्थात् वह तो भोग के द्वारा ही क्षपित हो रहा है । इस बात को भोजराज इस तरह प्रकट करते हैं कि—**'भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यमित्युक्तं भवति'**[1] ॥ १६ ॥

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ३७ ।

(भा० सि०)—अतीतम्—बीता हुआ, झेला जा चुका हुआ। दुःखम्—दुःखानुभव। उपभोगेन—किये गये भोग के द्वारा। अतिवाहितम्—अति + √वह + णिच् + क्तः, बिताया या निःशेषित कर दिया गया, अतिक्रान्त हो चुका। अतः। हेयपक्षे—त्याज्यता की कोटि में। न वर्तते—नहीं आता, नहीं रह जाता। वर्तमानं च—और वर्तमानकालिक अर्थात् झेला जाता हुआ दुःख। स्वक्षणे—अपनी स्थिति के क्षण में। भोगारूढम्—भोग की प्रक्रिया पर चढ़ा हुआ है, भोगा ही जा रहा है। आशय यह है कि भोगे जाने की अवस्था के अतिरिक्त वर्तमानकालिक दुःख की और कोई अलग से स्थिति तो है नहीं कि उसको दूर कर सकना सम्भव हो। इति—इसलिये। तत्—वह वर्तमान दशा में भुज्यमान दुःख। क्षणान्तरे हेयताम्—'हेय' होने के लिये हेय पदार्थ की अन्य क्षण में सत्ता आवश्यक है। किन्तु इस वर्तमान दुःख की सत्ता एतद्भिन्न क्षणों में है ही नहीं, अतः वह हेयत्व की दशा को। न आपद्यते—नहीं प्राप्त करता है। **'वर्तमानमपि स्वसत्ताकाले भुज्यत एवेति न त्वया त्यक्तुं शक्यते।'**[१] अन्य क्षण में जिस दुःख की सत्ता होगी, वह तो सब का सब 'अनागत' ही कहा जायेगा, वर्तमान नहीं। तस्मात्—इसलिये। यद्—जो। एव—ही। यह 'एव'-पद भिन्नक्रम है। इसे 'अनागत' के पश्चात् समझना चाहिए। अनागतम्—अभी तक नहीं झेला गया हुआ। दुःखम्—दुःख है। तद् एव—वही दुःख। अक्षिपात्रकल्पम्—अक्षिगोलक सदृश या नेत्रसदृश। 'कल्पप्' प्रत्यय सादृश्य के अर्थ में होता है। योगिनम्—योगी को। क्लिश्नाति—पीडयति, पीडित या बेचैन करता है। इतरं प्रतिपत्तारम्—अन्य ज्ञाताओं अर्थात् अनुभव करने वाले प्राणियों को। न—नहीं। तदेव—वही (अनागत) दुःख। हेयताम्—त्याज्यता को। आपद्यते—प्राप्त होता है अर्थात् उसे ही 'हेय' कहते हैं॥ १६॥

तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—

इसलिये जिसे 'हेय' कहा जाता है, उसी के हेतु का निर्देश किया जा रहा है—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥ १७॥

द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय का 'हेतु' है॥ १७॥

द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः। अनुभवकर्मविषतामापन्नम् अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकम्। स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम्। तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः। तथा चोक्तम्—

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८७।

तत्संयोगहेतुवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्? दुःख-हेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात्? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्। कस्मात्? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे। दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति॥ १७॥

द्रष्टा अर्थात् बुद्धि का प्रतिसंवदेन करने वाला पुरुष। दृश्य अर्थात् बुद्धि पर आरूढ़ सभी (शब्दादिविषय रूप) धर्म। वह यह दृश्य चुम्बक के समान संनिहित-मात्र होने से उपकार करने वाली (सकलविषयधर्माकाराकारित) बुद्धि, दृश्य बनने के कारण स्वामी पुरुष का स्व या धन है। यह भोगरूप क्रिया के कर्मत्व को प्राप्त होने वाली, अपने से भिन्न तत्त्व (अर्थात् पुरुष) के (चिन्मात्र) रूप से अपने (चेतनवत्) रूप को प्राप्त करने वाली और स्वतन्त्र होने पर भी दूसरे का प्रयोजन (सिद्ध करने) के कारण परतन्त्र होती है। इन द्रष्टृशक्ति और (दृशिक्रिया के साधन रूप) दर्शनशक्ति का अनादि तथा पुरुष के प्रयोजन के लिए हुआ संयोग हेय का हेतु अर्थात् दुःख का कारण है—यह अभिप्राय है। वैसे ही कहा भी गया है—

उस संयोग रूपी कारण के हट जाने से दुःख की शाश्वतिक निवृत्ति हो सकती है। कैसे? (लोक में) दुःख के हेतु के प्रतीकार से त्याज्य दुःख का प्रतीकार देखे जाने से। जैसे—पैर के तलुओं का बिंध जाना (दुःख), काँटों का चुभ जाना (दुःख हेतु), (दुःख हेतु का) प्रतीकार अर्थात् काँटों पर पैर न रखना या जूतों से उपहित पैर काँटों पर रखना। जो इन तीनों को लोक में जानता है, वह इस (विषय) में प्रतीकार आरम्भ करता हुआ पैरों के बिंधने से उत्पन्न दुःख को नहीं पाता। क्यों? (भेद्यत्व, भेतृत्व और प्रतीकार—इन) तीनों की जानकारी करने की सामर्थ्य के कारण। यहाँ पर ताप देने वाले रजोगुण का तप्य सत्त्वगुण ही है। क्यों? तपने की क्रिया के किसी कर्मभूत पदार्थ में होने के कारण। कर्मभूत सत्त्वगुण में तपने की क्रिया होती है। अपरिणामी तथा निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ (पुरुष) में नहीं। (पुरुष के) दर्शितविषय होने के कारण सत्त्वगुण के तपाये जाने पर उसके आकार का अनुगमन (अर्थात् आनुरूप्य का अभिमान) करके पुरुष अनुतप्त होता है—ऐसा दिखायी पड़ता है॥ १७॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—तस्माद्—इसलिये। यदेव—जो। हेयम्—त्याज्य है।

तस्य एव—उसी दुःख का। कारणम्—निदान या हेतु। प्रतिनिर्दिश्यते—उच्यते, संसूच्यते, बताया जा रहा है।

(सू० सि०)—द्रष्टृदृश्ययोः—द्रष्टा (अर्थात् पुरुष) तथा दृश्य (अर्थात् शब्दादि के आकार में परिणत हुई बुद्धि) का। संयोगः—सांनिध्य **'तदेव बुद्धिसत्त्वं शब्दाद्याकारवद् दृश्यम्।'**[1] हेयस्य—त्याज्यभूतस्य दुःखस्य। हेतुः—निदानम्, मूल-कारणम्, दुःख का मूलकारण है। अस्तीति शेषः। **'निदानं निमित्तकारणम्'**[2] ॥१७॥

(भा० सि०)—द्रष्टा—इस पद का अर्थ है देखने वाला, भोक्ता, अनुभविता, साक्षी। बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः—बुद्धि का प्रतिसंवेदन करने वाला 'पुरुष' तत्त्व या आत्मतत्त्व। बुद्धि चितिच्छायापत्ति से चेतनवती-सी होकर जो विषयाकाराकारित हो जाती है, वही बुद्धि की वृत्ति है, उसी को 'संवेदन' कहते हैं। इस संवेदन को अस्मिता रूपी पुरुष (बुद्धिस्थ-चित्प्रतिबिम्ब) जो अपनाता है, उसे 'प्रतिसंवेदन' या 'पौरुषेय बोध' कहते हैं। यही पुरुष का भोग है। यह प्रतिसंवेदन जिसमें कहा जाता है, वह हुआ प्रतिसंवेदी। पुरुष के द्वारा संवेदन का अपनाया जाना केवल कहने भर को होता है, जैसे जपाकुसुम का लालरङ्ग स्फटिक-मणि में प्रतिबिम्बित हो जाता है। स्फटिकमणि में लाल रङ्ग का सम्पर्क केवल कहने भर को होता है। इस प्रकार का प्रतिबिम्बित संवेदन ही 'प्रतिसंवेदन' है। इस प्रतिसंवेदन को अपनाने वाला पुरुष-तत्त्व इसलिये बुद्धि का प्रतिसंवेदी, भोक्ता, प्रमाता, बोद्धा और द्रष्टा या साक्षी कहा जाता है। **'बुद्धेः प्रतिसंवेदनं, संवेदनस्य बुद्धिवृत्तेः प्रतिबिम्बः प्रतिध्वनिवदयं प्रयोगः सोऽस्यास्तीति (बुद्धेः प्रतिसंवेदी) बुद्धिसाक्षीति फलितार्थः।'**[3] **'चितिच्छायापत्तिरेव बुद्धेः बुद्धिप्रतिसंवेदित्वमुदासीनस्यापि पुंसः।'**[4]

भाष्यकार अब 'दृश्य' पद का व्याख्यान कर रहे हैं। बुद्धिसत्त्वोपारूढा सर्वे धर्माः दृश्याः—यद्यपि बुद्धि ही दृश्यशक्ति के रूप में कही जा चुकी है, फिर भी शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नामक धर्मों को भी यहाँ दृश्य कहा जा रहा है। ये सभी धर्म बिना बुद्धिनिष्ठ हुए, निरपेक्षरूप में पुरुष के दृश्य नहीं है। प्रत्युत बुद्धिसत्त्व पर आरूढ हुए ये विषय (अर्थात् पदार्थाकाराकारित बुद्धि) ही 'दृश्य' कहे गये हैं। इसलिये पूर्ववचन से यहाँ किसी प्रकार का व्याघात नहीं है। **'इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ शब्दाद्याकारेण परिणतायां दृश्यायां भवन्ति शब्दादयोऽपि धर्मा दृश्य इत्यर्थः… तदेतद् बुद्धिसत्त्वं शब्दाद्याकारवद् दृश्यम्।'**[5]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८९।
२. द्रष्टव्य; पात० रह० पृ० १८८।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १८८।
४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८८।
५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १८८–१८९।

तद्—वह। एतद्—यह। दृश्यम्—दृश्यपदार्थ, अर्थात् शब्दाद्याकाराकारित बुद्धितत्त्व। अयस्कान्तमणिकल्पम्—लोहे की प्रिय मणि अर्थात् चुम्बक के समान। सन्निधिमात्रोपकारि—केवल निकट स्थित होने से ही उपकार करने वाला है। अर्थात् जैसे निकट स्थित होने मात्र से, बिना और कुछ किए ही चुम्बक, लोहे को 'गतिशील बनाने' रूप का उपकार करता है, उसी प्रकार सन्निधिमात्र से ही अर्थात् संयोगमात्र से ही 'भोग का विषय बनने' रूप का उपकार करने वाला होता है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि यह सन्निधि, किसी स्थान में दोनों की सहस्थिति रूप की नहीं होती,[1] क्योंकि पुरुष तो स्थान की सीमा से अतीत और सर्वथा अमूर्त होता है। स्थान या देश तो स्वयं दृश्य हैं और पुरुष दृश्य न होकर द्रष्टा है। एक-दूसरे की सहस्थिति केवल विचारजगत् में ही हो सकती है। इस प्रकार यह सन्निधि (संयोग) केवल वैचारिक ही होती है। **'न चात्र सान्निध्यं दैशिकं, द्रष्टुर्देशातीतत्वाद्, देशस्तु दृश्योऽतः स द्रष्टुर्विषयिणोऽत्यन्तविभिन्नः, श्रूयते च—'अनणु—अह्रस्वम्—अदीर्घम्—अबाह्यम्—अनन्तरमित्यादि' तादृशेन द्रष्ट्रा सह दैशिकसंयोगो मूढैरेव कल्प्यते नाभियुक्तैः। सान्निध्यं तु एकप्रत्ययगतत्वमेव यदनुभूयते 'ज्ञाताहमिति' प्रत्यये एकक्षण एव ज्ञातुर्ज्ञेयस्य च या सङ्कीर्णोपलब्धिस्तदेव सान्निध्यं स एव संयोगः।'**[2]

दृश्यत्वेन—दृश्य होने के कारण। दृशिरूपस्य—द्रष्टा या भोक्ता रूप इस। स्वामिनः—स्वामिभूतस्य, स्वामीरूप। पुरुषस्य—पुरुष का। स्वम्—धनम्, धन या पूँजी या विषय **'स्वात्मीयम्'**[3]। भवति—बनता है। (यतः—क्योंकि) अनुभवकर्मविषयतामापन्नम्—पुरुष के भोगरूपी कर्म की बोध्यता को प्राप्त होता है, इसलिये उसका 'स्व' अर्थात् 'अपनी वस्तु' कहा जाता है। यद्यपि यह दृश्य अर्थात् बुद्धिरूपी सत्त्वबहुल गुणसमुदाय, स्वयंसिद्ध सत्ता वाला है, फिर भी। अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकम्—अन्यस्य पुरुषस्य स्वरूपेण प्रतिलब्धः प्राप्तः आत्मा चेतनवद् रूपं येन तादृशम्, पुरुष के रूप के प्रतिबिम्ब के कारण चेतनयुक्त जैसा स्वरूप प्राप्त करता हुआ। स्वतन्त्रमपि—जडरूप से नित्य होने पर भी। परार्थत्वात्—पुरुष नामक अन्य तत्त्व

---

1. 'These Gunas serve the Bhoga purpose of Purush by mere Sannidhi or proximity. Ofcourse, this proximity does not mean nearness in space (or time); rather it means that Purushbodha and Gunobodha form indistinguishable parts of the same idea and are cognised as identical by mistake.'

—The Evolution of the Samkhya School of Thought p. 20.

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० १८९।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १९०।

के भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये चितिच्छायायुक्त होकर चेतनवत् होने के कारण। परतन्त्रम्—पुरुषाधीन होता है। तयोः—उन द्रष्टा और दृश्य पदार्थों। अर्थात्। दृग्दर्शनशक्त्योः—दृक् और दर्शन शक्ति का। अनादिः—प्रारम्भ-हीन। अर्थकृतः—पुरुषार्थ के लिये होने वाला। संयोगः—सन्निधिः। हेयहेतुः—दुःख का कारण है। इस पुरुषबुद्धिसंयोग के आदि का ज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसकी निमित्तभूता 'अविद्या' भी अनादि है। **'अनादिनिमित्तप्रभवतया तस्याप्यनादित्वात्···भाविततया संयोगस्याविद्याकारणम्।'**[1] 'हेयहेतु' पद का ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है। दुःखस्य कारणमित्यर्थः—इस हेयहेतु पद का अर्थ है दुःख का कारण। तथा चोक्तम्—उसी प्रकार पञ्चशिख के द्वारा कहा भी गया है—तत्संयोगहेतुविवर्जनात्—तयोः (बुद्धिपुरुषयोः) संयोगः दुःखहेतुः, तस्य विवर्जनात् परित्यागात्, बुद्धि और पुरुष के संयोगरूपी दुःखकारण का प्रतीकार हो जाने से। अयम्—यह। आत्यन्तिकः—सार्वकालिक, सदा के लिये। दुःखप्रतीकारः—दुःख-नाश। स्याद्—हो जाना चाहिए, अर्थात् हो जाता है। कस्मात्—कैसे? दुःख-हेतोः—दुःख के कारण के। ('प्रतीकारात्'—इति अत्राध्याहार्यः) नष्ट हो जाने से। परिहार्य्यस्य—हेयस्य दुःखस्य, हेयदुःख का। प्रतीकारदर्शनात्—परिहार देखे जाने से। तात्पर्य यह है कि लौकिक व्यवहारों में भी देखा जाता है कि किसी भी दुःख का कारण दूर कर देने पर वह दुःख दूर हो जाता है। तद्यथा—वह इस प्रकार से, जैसे—

पादतलस्य भेद्यता—'पैर के तलुए का बिंध जाना' यह तो दुःख हुआ। कण्टकस्य भेत्तृत्वम्—'काँटे का बींधना (चुभना)', यह दुःख का कारण है। परिहारः—पैर के तलुए के बिंधने के दुःख को दूर करने का उपाय है। कण्टकस्य पादानधिष्ठानम्—काँटे पर पैर न रखना। पादत्राणव्यवहितेन वा अधिष्ठानम्—या जूते से पैर को ढँककर काँटे पर पैर रखना है। आशय यह है कि दुःख के कारणभूत 'काँटा चुभने' को ही त्याग देने या बचा लेने से तलुए के बिंधने वाला दुःख दूर हो जाता है। एतत् त्रयम्—इन तीनों बातों को। यः—जो। वेद—जानता है। लोके—इस दुनियाँ में। सः—वह। तत्र—काँटे से मिलने वाले दुःख के प्रसङ्ग में। प्रतीकारम्—दुःख के कारण का त्याग। आरभमाणः—करता हुआ। भेदजं दुःखम्—काँटे के चुभने से उत्पन्न दुःख को। न आप्नोति—नहीं प्राप्त करता। कस्मात्—क्यों? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यात्—तीनों बातों की ठीक-ठीक जानकारी की क्षमता होने के कारण। अत्रापि—यहाँ पर भी अर्थात् इस दुःखभोग के प्रसङ्ग में भी (जानना चाहिए कि वस्तुतः दुःख क्या है? दुःख का कारण कौन है? और दुःख

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १९१।

का अनुभविता कौन है ? क्योंकि इस त्रित्व की उपलब्धि से दुःख का प्रतीकार हो सकता है)। तापकस्य रजसः—दुःख देने वाले रजोगुण का। तप्यम्—दुःखप्राप्ति-कर्ता। सत्त्वमेव—बुद्धिस्थ सत्त्वगुण ही है। 'रजोगुण' कण्टकस्थानीय और 'सत्त्वगुण' पादतलस्थानीय हुआ। कस्मात्—क्यों ? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्—'दुःखपाना' रूप क्रिया के अपने कर्म में स्थित होने के कारण। तपिक्रिया—दुःख-प्राप्ति की क्रिया। सत्त्वे कर्मणि—सत्त्वगुण नामक कर्म में ही होती है। अपरिणामिनि—सर्वथा परिणामशून्य। तथा। निष्क्रिये—क्रियाहीन। क्षेत्रज्ञे—साक्षी पुरुष में। न—हरगिज नहीं होती। फिर पुरुष को दुःखानुभव क्यों होता है ? इसका उत्तर देते हैं। दर्शित-विषयत्वात्—बुद्धिरूपी दृश्य, पुरुष के भोग का विषय बनता है, इसलिये। सत्त्वे तु तप्यमाने—बुद्धिसत्त्व के दुःखी होने पर। तदाकारानुरोधी—उसके आकार को आत्मसात् करने वाला या उसका प्रतिसंवेदी पुरुष भी उस दुःखानुभव से उपरक्त-सा होकर। अनुतप्यते—बुद्धि के पीछे-पीछे अनुतप्त-सा बना रहता है। इति दृश्यते—ऐसा प्रतीत होता है। **'पुरुषो यतो दर्शितविषयो बुद्धिसत्त्वेन निवेदितविषयोऽतः सत्त्वे तप्यमाने प्रतिबिम्बरूपेण बुद्धिसत्त्वसमानाकारो भवेन्न तु तप्यत इति मूढैर्दृश्यतेऽनुतप्यत इवेत्यर्थं, न हि स्वाकारप्रतिबिम्बनातिरिक्तं विषयनिवेदनमपरिणामिनि सम्भवति'**[1] ॥ १७ ॥

दृश्यस्वरूपमुच्यते—

दृश्य का स्वरूप बताया जा रहा है—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा-पवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाश, क्रिया और स्थिति के स्वभाव वाले (आकाशादि) भूतों तथा (श्रोत्रादि) इन्द्रियों के रूपवाले और भोग तथा मोक्ष रूपी प्रयोजन वाले 'गुणत्रय' ही दृश्य हैं॥ १८ ॥

प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः संयोगविभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागाः। तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः। प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः। प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति। एतद् दृश्यमित्यु-

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १९३।

च्यते । तदेतद् दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते । तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः । भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति । तथा चोक्तम् — 'अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छङ्कत इति ।' तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति ? यथा च जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति । एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः । स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

प्रकाशस्वभाव वाला सत्त्वगुण (है), क्रियास्वभाव वाला रजोगुण (है) (और) स्थितिस्वभाव वाला तमोगुण (है) । एक-दूसरे से मिले हुए अंशों वाले, (पुरुष के साथ) संयोग और विभाग नामक धर्मों वाले, एक-दूसरे के सहारे से (पृथिव्यादि) शरीर धारण करने वाले, परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने पर भी अलग-अलग शक्ति रखने वाले, समानजातीय और असमानजातीय शक्ति-(कार्य) भेद के अनुपाती (अर्थात् साझीदार), (अपने-अपने) प्राधान्य-काल में अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करने वाले, गौण होने पर भी सहकारिता रूप कार्यमात्र से अनुमित, प्रधानगुण में अन्तर्भावित सत्ता वाले, पुरुषार्थ रूपी कर्त्तव्य के कारण, प्रयुक्तसामर्थ्य वाले, सान्निध्यमात्र से उपकार करने वाले, चुम्बक के समान, अभिव्यक्ति के अतिरिक्त (काल में) किसी एक की वृत्ति का अनुसरण करने वाले ये (तीनों) गुण प्रधान-पदाभिधेय होते हैं । यह 'दृश्य' कहा जाता है । वह यह दृश्य भूतेन्द्रियरूप का होता है । यह भूतरूप से सूक्ष्म और स्थूल पृथ्वी इत्यादि के आकार में परिणत होता है । और इन्द्रियरूप से श्रोत्रादि इन्द्रियों के आकार में परिणत होता है । यह (परिणाम) प्रयोजन-हीन नहीं होता, बल्कि प्रयोजन को स्वीकार करके ही प्रवृत्त होता है । इसलिये यह दृश्य, पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये है । इन (भोग और अपवर्ग) में से, प्रिय और अप्रिय गुणों के स्वरूप का अविभक्त (प्रतिबिम्ब) रूप से अनुभव 'भोग' है और भोक्ता के स्वरूप का अनुभव 'अपवर्ग' है । इन दोनों से भिन्न कोई अन्य ज्ञान नहीं होता है । और कहा भी गया है 'कर्तृभूत इन तीनों गुणों में तथा समान एवं असमान प्रकार के उन गुणों की क्रिया के साक्षिभूत, (तीन गुणों की

अपेक्षा से) चौथे और अकर्ता पुरुष में (त्रिगुणों के द्वारा) समर्पित किये जाते हुए सभी (सुख-दुःखादि) भावों को ठीक समझता हुआ यह अविवेकी मनुष्य अन्य प्रकार के ज्ञान की शङ्का भी नहीं करता है।' बुद्धि के द्वारा किये गये ये भोग और अपवर्ग, पुरुष में क्यों आरोपित किये जाते हैं ? जैसे—जीत या हार योद्धाओं में वर्तमान होने पर भी राजा में आरोपित की जाती है और वह राजा उस फल का भोक्ता कहा जाता है। उसी प्रकार बन्धन और मोक्ष (भोग और अपवर्ग) बुद्धि में ही रहते हुए भी पुरुष में कहे जाते हैं और वह पुरुष उस फल का 'भोक्ता' कहा जाता है। बुद्धि के पुरुषार्थरूपी प्रयोजन का पूरा न होना 'बन्धन' और पूरा हो जाना 'मोक्ष' है। इससे ग्रहण, धारण, ऊहापोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश भी बुद्धि में रहते हुए पुरुष में आरोपित होते हैं और वह पुरुष उन फलों का भोक्ता (कहा जाता) है ॥ १८ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—दृश्यस्वरूपम्—शब्दादि विषय ही बुद्धिसत्त्व पर उपारूढ होकर पुरुष के दृश्य बनते हैं। उन धर्मों का स्वरूप। उच्यते—कहा जा रहा है। बुद्धिनिष्ठ धर्म पुरुष के दृश्य हैं। उन धर्मों का अपना रूप कैसा है ? यह बताया जा रहा है।

(सू० सि०)—प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्—प्रकाश, क्रिया और स्थिति रूपी स्वभाव वाला। भूतेन्द्रियात्मकम्—स्थूल एवं सूक्ष्म भूतों तथा इन्द्रियों के रूप वाला। एवम्। भोगापवर्गार्थम्—भोगः अपवर्गश्च अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्, पुरुष के भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन वाला त्रिगुण-समुदाय ही। दृश्यम्—दृश्य है। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनों गुणों का वर्णन करने के लिये 'शील' शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि प्रकाश, क्रिया और स्थिति इनका शील अर्थात् स्वभाव है। प्रलयादि में यदि ये प्रकाशादिरूप से गृहीत न हों, तो भी इनमें गुणों का लक्षण घटित हो, इसीलिये इन्हें प्रकाश, क्रिया, स्थिति-स्वरूप न कहकर प्रकाश, क्रिया, स्थिति-शील कहा गया है। नानारूपों को धारण करने वाले अर्थात् नानारूपों में परिणत होने वाले ये तीनों गुण ही दृश्य हैं ॥ १८ ॥

(भा० सि०)—प्रकाशशीलं सत्त्वम्—प्रकाशः आलोकः (**बुद्ध्यादिवृत्तिरूपालोको भौतिकालोकश्च**—यो० वा०) शीलं यस्य तत् (द्रव्यम्) सत्त्वम्, प्रकाश या चमक ही स्वभाव है जिसका, वह पदार्थ सत्त्वगुण है। क्रियाशीलं रजः—क्रिया यत्नः चलनं शीलं यस्य तत्, क्रियाशील या चलनात्मक पदार्थ रजोगुण है। और। स्थितिशीलं तम इति—स्थितिः प्रकाशक्रिययोः स्थगनं शीलं स्वभावः यस्य तत्, प्रकाश और क्रिया का स्थगित हो जाना 'स्थिति' है। इस प्रकार की स्थिति ही स्वभाव है जिसका, वह तमोगुण है। एते—ये। गुणाः—तीनों गुण। **'एते गुणा एव प्रकृति-**

शब्दवाच्याः न तु तदतिरिक्ता प्रकृतिरस्तीत्यवधारयति 'एते गुणा' इति।'[1] इन गुणों को वस्तुतः द्रव्यरूप होने पर भी पुरुष की बन्धनरज्जु रूप होने के कारण 'गुण' कहते हैं। 'प्रकृति' नाम का कोई द्रव्य इनसे अलग नहीं हैं, जिसमें कि ये रहते हों और इसलिये 'गुण' कहे जाते हों। वस्तुतः ये तीनों गुण ही 'प्रकृति' हैं, यह स्मरण रखना चाहिए। **'गुणाः पुरुषस्य बन्धनरज्जव इत्यर्थः सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न तानि द्रव्याश्रयागुणाः तेभ्यो व्यतिरिक्तस्य गुणितोऽभावादिति वेदितव्यम्।'**[2]

एते गुणाः—ये तीनों गुण। परस्परम्—अन्योऽन्यम्। उपरक्ताः—संसृष्टा, उपरञ्जिताः, प्रविभागाः—अंशा: खण्डा येषां तादृशाः, परस्पर मिले हुए या संसृष्ट अंशों वाले। संयोगविभागधर्माणः—पुरुष से संयुक्त और विभक्त होने के लक्षण वाले। **'पुरुषेण सह संयोगविभागधर्माणः।'**[3] इससे 'पुरुष' के बँधने और मुक्त होने के व्यपदेश का व्याख्यान हो जाता है। इतरेतरोपाश्रयेण—एक-दूसरे की सहायता से। उपार्जितमूर्त्तयः—उपार्जिता मूर्तिः यैस्ते, अपना-अपना शरीर धारण या प्रकट कर सकने वाले। परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽपि—ये तीनों परस्पर अङ्गी और अङ्ग बनते हैं, इसलिये अङ्गाङ्गीभाव होने पर भी। प्रसम्भिन्नशक्तिप्रविभागाः—अपनी-अपनी क्षमता को अलग-अलग (अमिश्रित) बनाये रखने वाले। तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः—तुल्यजातीयेषु सजातीयेषु, अतुल्यजातीयेषु विजातीयेषु पदार्थेषु ये शक्तिभेदाः,ताननुपतितुं शीलम् एषामिति, सजातीय और विजातीय कार्यों के प्रति यथास्थिति उपादान और सहकारी कारणता की शक्ति वाले। प्रधानवेलायाम्—अपने-अपने अङ्गित्व-काल में। उपदर्शितसन्निधानाः—उपदर्शितं प्रकटीकृतं सन्निधानं स्वरूपं यैस्ते, अपनी सन्निधि अर्थात् अपना स्वरूप प्रकट करने वाले। अभिप्राय यह है कि इन गुणों की पूर्ण स्वरूपाभिव्यक्ति तभी होती है, जब किसी कार्य में ये अङ्गी होते हैं। और जब इनमें से कोई गुण किसी कार्य में अङ्गी नहीं होता, तब उसका उस कार्य में प्रत्यक्षदर्शन नहीं होता। फिर भी अङ्गी के रूप में ही उसकी सत्ता अन्तर्भावित रहती है और सहकारीरूप में उसके व्यापारमात्र से अनुमित होती है। गुणत्वेऽपि च—इन गुणों के गौण रूप में रहने पर भी। व्यापारमात्रेणापि—सहकारी कारण के कार्यभूत व्यापारमात्र से। प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः—प्रधानान्तर्णीता अनुमिता अस्तिता येषाम् (अङ्गभूतानां गुणानाम्) ते तादृशाः, अङ्गी में अन्तर्भावित होने से (अतः) अनुमीयमान सत्तावाले होते हैं। पुरुषार्थकर्तव्यतया—पुरुष के भोगापवर्गरूप कार्य को करने वाले होने के कारण। प्रयुक्तसामर्थ्याः—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १९४।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० १९५।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १९५।

प्राप्तसामर्थ्याः, अभिव्यक्त होने की क्षमता वाले। सन्निधिमात्रोपकारिणः—संयोग-मात्र से पुरुष का उपकार करने वाले। अयस्कान्तमणिकल्पाः—चुम्बक के समान ये तीनों गुण होते हैं। **'ते च द्रष्ट्रा सहाऽलिप्ता अपि तत्सान्निध्यादेवोपकारिणोऽयस्कान्त-मणिवत्।'**[1]

प्रत्ययमन्तरेण—अपनी अभिव्यक्ति से अतिरिक्त दशा में। एकतमस्य—किसी एक अङ्गी गुण की। वृत्तिम्—व्यापार का। अनुवर्तमानाः—अनुवर्तन करने वाले। प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति—'प्रधान' के नाम से अभिहित होते हैं। इनसे भिन्न 'प्रधान' कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें यह रहते हों। इसलिये ये गुण न तो प्रकृति में रहने वाले धर्म हैं, न वैशेषिक लक्षण वाले गुण और न प्रकृति के कार्य, प्रत्युत साक्षात् ये ही 'प्रधान' नामक पदार्थ हैं। **'साम्यावस्था च न प्रकृतिलक्षणे विशेषणमपितु यदा कदाचित् सम्बन्धेनोपलक्षणं काकवन्तो देवदत्तस्य गृहम् इतिवत्, सा च न्यूनाधिकभावे-नासंहननावस्था अकार्यावस्थेति यावत्, तदुपलक्षितगुणत्वञ्च प्रकृतिलक्षणं महदादिव्या-वृत्तम्। तेन सर्गकालेऽपि गुणानां प्रकृतित्वोपपत्त्या न प्रकृतिनित्यताक्षतिः।'**[2] एतत्—यह गुणत्रय ही। दृश्यमिति उच्यते—'दृश्य' कहा जाता है। अब गुणों का कार्य बताते हैं। तद्—वह। एतद्—यह। दृश्यम्—'दृश्य' कहा जानेवाला गुणत्रय। भूतेन्द्रिया-त्मकम्—भूतों और इन्द्रियों के रूप में परिणत होनेवाला होता है। इसका विवरण देते हैं। **'यद् यदात्मकं तत् तेन रूपेण परिणमत इति भूतेन्द्रियात्मकत्वं दीपयति।'**[3] तथा—वैसे ही। इन्द्रियभावेन—इन्द्रियरूपेण, सूक्ष्मेन्द्रिय और स्थूलेन्द्रिय के रूप से। श्रोत्रादिना—कर्णादि इन्द्रियों के आकार से। परिणमत इति—परिणत होता है। 'महत्' और 'अहङ्कार' ये दोनों सूक्ष्मेन्द्रिय माने गये हैं और मन इत्यादि (अपेक्षा-कृत) स्थूल इन्द्रियाँ कही गयी हैं। **'महदहङ्कारौ सूक्ष्मेन्द्रियमेकादश च स्थूलेन्द्रियाणि।'**[4] तत् तु—वह गुणत्रय तो। न प्रयोजनशून्यम्—प्रयोजन-हीन नहीं होता अर्थात् गुणत्रय का भूतेन्द्रियरूप से परिणत होना निष्प्रयोजन परिणाम नहीं है। अपितु—बल्कि। प्रयोजनम् उररीकृत्य—प्रयोजनं स्वीकृत्यैव, प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही होता है। इति। पुरुषस्य—पुरुष के। भोगापवर्गार्थम्—भोग और अपवर्ग के लिये। तद्—वह। दृश्यम्—दृश्य है। तत्र—उन भोग और अपवर्ग में से। 'भोग' क्या है? इष्टानिष्ट-गुणस्वरूपावधारणम्—सुख-दुःखात्मक गुणों के स्वरूप का अनुभव या ज्ञान अर्थात् सुखदुःखात्मक शब्दादिविषयाकारा बुद्धिवृत्ति। अविभागापन्नं (सत्)—पुरुषेण सह

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० १९७।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १९८।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १९९।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० १९९।

अविविक्तम्, पुरुष में हूबहू प्रतिबिम्बित या अस्मिता द्वारा आत्मसात् किया हुआ। भोगः—'भोग' कहा जाता है। अपवर्ग क्या है? भोक्तुः—भोक्ता पुरुष के। स्वरूपावधारणम्—स्वरूप का बोध 'अपवर्ग' है। इति। द्वयोः—इन भोगापवर्ग से। अतिरिक्तम्—भिन्न। अन्यद् दर्शनम्—अन्य किसी प्रकार की अनुभूति। नास्ति—नहीं होती। तथा चोक्तम् (**इति पञ्चशिखवाक्यात्**–यो० वा०) वैसा ही कहा गया है—

अयन्तु—यह अविवेकी जीव तो। खलु—निश्चय ही। त्रिषु गुणेषु—तीनों गुणों में। कर्तृषु—जो कि क्रियावान् होते हैं। अकर्तरि च पुरुषे—और अकर्ता पुरुष में। सांख्ययोग में पुरुष को 'भोक्ता' तो कहा गया है, किन्तु 'कर्ता' नहीं। शङ्कराचार्य ने भी सांख्ययोगमत में 'आत्मतत्त्व' का स्वरूप 'अकर्ता' ही माना जाने का स्पष्ट संकेत अपने 'शारीरकभाष्य' में किया है।[1] अब पुरुषतत्त्व के विशेषण दिये जा रहे है। तुल्यातुल्यजातीये—स्वच्छत्व और सूक्ष्मत्वादि के कारण 'पुरुष', 'गुणत्रय' से कुछ अंशों में समानजातीय भी है। साथ ही गुणों के जडत्व और परिणामित्व के कारण और पुरुष के अजड और अपरिणामी होने के कारण उससे भिन्नजातीय भी है।[2] इसलिये गुणों से भिन्नाभिन्न रूपवाले। चतुर्थे—गुणों की संख्या तीन होने की अपेक्षा से पुरुष को 'चतुर्थ' या 'तुरीय' कहा गया है। इसलिये यह अर्थ हुआ कि तीन गुणों से अतिरिक्त चौथे तत्त्व 'पुरुष' में। जो कि। तत्क्रियासाक्षिणि—गुणों की सकल क्रियाओं का साक्षी या प्रतिसंवेदी है (उसमें)। उपनीयमानान्—प्रतिबिम्बित हुए। सर्वभावान्—सभी शब्दादि विषयों को। उपपन्नान्—वस्तुतः उपस्थित या अनुभूयमान। अनुपश्यन्—मानता हुआ, देखता हुआ, न दर्शनमन्यत् शङ्कते—बुद्धि के द्वारा समर्पित विषयज्ञान के प्रतिसंवेदनरूप भोग के अतिरिक्त शुद्ध 'ज्ञ' तत्त्व की अनुभूति की आशङ्का भी नहीं करता। कहने का आशय यह है कि 'भोग' के अतिरिक्त 'अपवर्ग'-रूप शुद्ध अनुभूति अर्थात् 'शुद्धतत्त्वदर्शन' की उसे कल्पना भी नहीं होती। वह 'भोग'-प्रकारक ज्ञान को ही एकमात्र ज्ञान माने बैठा रहता है। 'अपवर्ग'-रूप पुरुषतत्त्वानुभूति की सत्ता और उसके सम्बन्ध में साधारण जनों की जानकारी का अभाव प्रकट करने के लिये यह पञ्चशिख-संवाद उद्धृत किया गया है।

तौ एतौ—वे ये। भोगापवर्गौ—भोग और अपवर्गरूप ज्ञान। बुद्धिकृतौ—बुद्धि के द्वारा की गयी क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। और। बुद्धावेव वर्तमानौ—वस्तुतः बुद्धिनिष्ठ ही रहते हैं। जीव अपनी अविद्या के कारण अपने को अस्मितारूप मानता हुआ उस भोगापवर्ग को आत्मनिष्ठ समझता है और 'भोक्ता' तथा 'मोक्ता' बना रहता है। वस्तुतः ये भोगापवर्ग पुरुषनिष्ठ कभी नहीं होते। कथं पुरुषे व्यपदिश्येते—

---

१. 'अकर्ता इत्येके'—ब्र० सू० शां० भा० पृ०।

२. 'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥'—सां० का० ११।

वि + अप् + √दिश् + यक् + लट् प्र० द्वि०) कथ्येते । जब पुरुष न तो भोगापवर्ग का कारण है और न उनका अधिकरण, तो फिर ये पुरुषनिष्ठ कैसे हुए ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं। यथा—जैसे । जयः—जीत । पराजयो वा—या हार । योद्धृषु वर्तमानः—लड़ने वाले सैनिकों में रहती हुई भी । स्वामिनि—राज्ञि, उन सैनिकों के राजा में । व्यपदिश्येते—कही जाती है । स हि—और वह राजा ही । तस्य—उस जीत या हार के । फलस्य—फल का । भोक्ता इति व्यपदिश्यत इति शेषः—भोक्ता कहा जाता है । एवम्—इसी प्रकार से । बन्धमोक्षौ—बन्धन अर्थात् 'भोग' और मोक्ष अर्थात् 'अपवर्ग' । बुद्धौ एव वर्तमानौ—बुद्धि में रहते हुए ही । पुरुषे व्यपदिश्येते—पुरुष में अध्यारोपित किये जाते हैं । **'व्यपदिश्येते अध्यारोपितौ भवतः ।'**[1] वस्तुतः । बुद्धेरेव—बुद्धिरूप में परिणत गुणत्रय का । पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः—भोग और अपवर्ग रूप दोनों प्रयोजनों का पूरा न हो चुकना ही बन्धन है, अर्थात् तभी तक भोग होता है । तदर्थावसायः—उस पुरुषार्थ का पूरा हो जाना ही । मोक्षः—मोक्ष है । एतेन—इससे सिद्ध हुआ कि । ग्रहणादयः—ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश—ये सभी भोगरूप या ज्ञानरूप हैं । इन्हें क्रियारूप नहीं समझना चाहिए । बुद्धौ वर्तमानाः—बुद्धिनिष्ठ रहते हुए भी । पुरुषे—पुरुष में । अध्यारोपितसद्भावाः—अध्यारोपितः सद्भावः सत्ता येषां ते, व्यपदिष्ट होते हैं । स हि—और वह पुरुष । तत्फलस्य—उस ग्रहणादिक फल का । भोक्ता इति (व्यपदिश्यत इति शेषः) भोक्ता कहा जाता है । इन ज्ञानों का अलग-अलग स्वरूप यह है—

'ग्रहणम्'—स्वरूप से बाह्याभ्यन्तर पदार्थों का ज्ञान ग्रहण है । **'स्वरूपमात्रेणार्थज्ञानं ग्रहणम्'** ।[2]

'धारणम्'—स्मृतिः । **'तत्र स्मृतिः धारणम्'** ।[3]

'ऊहः'—उत्प्रेक्षण या कल्पनारूप ज्ञान । **'तद्गतानां विशेषाणामूहनम्'** ।[4]

'अपोहः'—धारितज्ञान में से कुछ को कम करना । **'वितर्कितमध्ये विचारतः कियतः निराकरणम्'** ।[5]

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २९ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०१ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०१ ।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०१ ।

५. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २०१ ।

'तत्त्वज्ञानम्'—ऊहापोहपूर्वक निर्णयात्मक ज्ञान। 'ताभ्यामेवोहापोहाभ्यां तदवधारणं तत्त्वज्ञानम्'।[1]

'अभिनिवेशः'—तत्त्वज्ञानपूर्वक हानोपादानरूप निश्चय। 'तत्त्वावधारणपूर्वं हानोपादानमभिनिवेशः'।[2] ये सभी ज्ञान के भेद ही हैं। 'एते बुद्धिप्रभेदा एव'[3] ॥१८॥

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

दृश्य गुणों के स्वरूपभेद का निश्चय करने के लिये यह सूत्र आरम्भ किया जाता है—

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग (ये चारों)—गुणों की विशेष अवस्थाएँ होती हैं ॥ १९ ॥

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि। एकादशं मनः सर्वार्थम्। इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षडविशेषाः। तद्यथा—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते, सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्तीति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामः। निःसत्ताऽसत्तं चालिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः। नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवति। नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। स चार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते। गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति। कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०२।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०२।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० २०१।

गाव इति। गवामेव मरणात्तस्य दरिद्रता न स्वरूपहानादिति समः समाधिः। लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते। परिणामक्रमनियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्तात्। न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः। तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते॥ १९॥

उन (चारों) में से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये (पाँचों) महाभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—तन्मात्र नामक अविशेषों के विशेष (नामक पर्व) हैं। और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण नामक ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी, हाथ, पैर, गुदा एवं जननेन्द्रिय नामक कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवीं 'मन' नाम की उभयात्मक इन्द्रिय—ये सब अस्मिता नामक अविशेष के विशेष (पर्व) हैं। गुणों के ये सोलह विशेष परिणाम हैं। छः अविशेष (परिणाम) होते हैं। वे ये शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र (क्रमशः) एक, दो, तीन, चार और पाँच लक्षणों (धर्मों) वाले शब्द (तन्मात्र) इत्यादि पाँच अविशेष और छठवाँ अविशेष अस्मितामात्र है। ये (पुरुषार्थक्रियासक्षम) अभिव्यक्तिमात्र स्वरूप वाले महत्तत्त्व के छः अविशेष परिणाम हैं। जो इन अविशेषों से परे यह अभिव्यक्तिमात्र महत्तत्त्व है, उस अभिव्यक्तिमात्र महत्तत्त्व में रह कर ये अविशेषवृद्धि की सीमा को प्राप्त करते हैं और प्रविलीन होने की अवस्था में उसी अभिव्यक्तिमात्र महत्तत्त्व में प्रविष्ट होकर जो वह अभिव्यक्ति और अभाव से रहित, अभिव्यक्ति और अभाव से विलक्षण तथा भावात्मक अव्यक्त अर्थात् अनभिव्यक्त 'प्रकृतितत्त्व' है, उसमें लीन हो जाते हैं। यह (महत्तत्त्व) उन (गुणों) का लिङ्गमात्र परिणाम है। अभिव्यक्ति और अभावरहित प्रकृतितत्त्व (गुणों का) अलिङ्गपरिणाम है। अलिङ्गावस्था में (भोगापवर्गरूप) पुरुषार्थ कारण नहीं होता है। (अर्थात्) अलिङ्गावस्था के प्रारम्भ में पुरुषार्थरूप कारण नहीं रहता है, इसलिये पुरुषार्थता इस अव्यक्तावस्था का कारण नहीं है। (अतः) यह अव्यक्तावस्था वाली 'प्रकृति' पुरुषार्थजन्य नहीं है, इसलिये नित्य कही जाती है। (शेष) तीनों विशिष्ट अवस्थाओं के प्रारम्भ में पुरुषार्थता रूप कारण रहता है अर्थात् वह पुरुषार्थता निमित्त (रूप में) रहती है। और वह पुरुषार्थ हेतु या निमित्तकारण बनता है, इसलिये (ये तीनों अवस्थाएँ) अनित्य कही जाती हैं। (सत्त्वादि तीनों) गुण तो इन सभी धर्मों में अनुगत होते हैं। न नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालिक गुणगत अभिव्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न और नष्ट जैसे भासित होते हैं। जैसे—देवदत्त दरिद्र

हो गया है, क्यों ? क्योंकि इसकी गायें मर गयी हैं। गायों के मर जाने से ही उसकी दरिद्रता है, उसके स्वरूप के नाश होने से नहीं। इस प्रकार से (दोनों में) समान समाधान है। 'लिङ्ग मात्र' अलिङ्ग का निकटतम (कार्य) है। उस (अलिङ्ग) में अविभक्त वह 'लिङ्गमात्र' यथायोग्य क्रम से भिन्न रूप धारण करता है। वैसे ही छहों 'अविशेष' लिङ्गमात्र में अविभक्त रहते हुए परिणामक्रम के नियम से भिन्न रूप धारण करते हैं। वैसे ही उन अविशेषों में भूत और इन्द्रिय (नामक विशेष) अविभक्त रहते हुए भिन्न रूप धारण करते हैं। और पहले वैसा कहा भी गया है। इन विशेषों के बाद अन्य कोई तत्त्व नहीं होता, इसलिये विशेषों का अन्य तत्त्वों के रूप में परिणमन नहीं होता। उन विशेषों के तो धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम (आगे) बताये जायेंगे ॥ १९ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—दृश्यानां गुणानां तु—अब दृश्य कहे जाने वाले तीनों गुणों के। स्वरूपभेदावधारणार्थम्—स्वरूप और अवान्तरभेदों का निश्चय करने के लिये। इदमारभ्यते—यह सूत्र आरम्भ किया जा रहा है।

(**सू० सि०**)—विशेषाश्च अविशेषाश्च लिङ्गमात्रं च अलिङ्गं चेति विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रलिङ्गानि (इतरेतरद्वन्द्वसमासः)—सोलह 'विशेष' (ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँचों महाभूत) तथा छहों 'अविशेष' (अस्मिता और पाँचों तन्मात्राएँ) तथा 'महत्तत्त्व' और 'अव्यक्त'—गुणों के ये चार पर्व अर्थात् अवस्थाभेद हैं। विशेष और अविशेष इन दो अवस्थाओं वाले गुणों में अन्तर यह होता है कि अविशेष अवस्था में गुण, शान्त, घोर और मूढ रूप में अभिव्यक्त नहीं रहते, जबकि विशेषावस्था में इन गुणों में शान्त, घोर और मूढ रूप में अभिव्यक्त रहते हैं। **'न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः'**[1]। सूत्र में गुणों की ये अवस्थाएँ कार्य की अपेक्षा से कही गयी हैं, इसलिये इनका क्रम कार्यत्व के अनुसार है। सबसे पहले 'विशेष' का कथन किया गया है, जो अविशेषों का कार्य है। फिर 'अविशेष' का कथन किया गया है, जो लिङ्गमात्र का कार्य है। तब 'लिङ्गमात्र' का कथन किया गया है, जो अलिङ्ग का कार्य है और इसीलिये 'अलिङ्ग' को सबसे बाद में कहा गया है। 'महत्तत्त्व' को इस सूत्र में 'लिङ्गमात्र' कहा गया है, क्योंकि वह सभी वस्तुओं का व्यञ्जक है। **लिङ्गमखिलवस्तूनां व्यञ्जकं तन्मात्रं महत्तत्त्वम्**[2]'। लीनम् अर्थं गमयति इति लिङ्गम्, इस व्युत्पत्ति से भी महत्तत्व की व्यञ्जकता अर्थात् सर्ववस्तुबोधकता सिद्ध होती है। अव्यक्त प्रकृति को 'अलिङ्ग' कहना भी सार्थक ही है, क्योंकि वह किसी भी तत्त्व की

---

१. द्रष्टव्य; विष्णुपुराण।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २०५।

अभिव्यञ्जक नहीं है। **'स्वयमव्यक्ततया न परस्य व्यञ्जकमित्यलिङ्गमित्याशयः।'**[1] इसको इसलिये भी 'अलिङ्ग' कहा जा सकता है कि वह अन्य किसी पदार्थ में लीन नहीं होती। न लयं गच्छति इति अलिङ्गम्। **'अन्यत्र लयन्न गच्छतीत्यलिङ्गम्'**[2]। गुणों की ये चारों अवस्थाएँ गुणों के 'पर्व'-रूप में कही गयी हैं। 'पर्व' शब्द का अर्थ होता है, दो जोड़ों के बीच का भाग। पूरणार्थक 'पर्व' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय लगकर 'पर्वन्' नपुंसकलिङ्ग शब्द बनता है। जैसे ईख इत्यादि के पोर या भाग उसके पर्व हैं। गुणों के अवस्थानुसारी चारों भागों का वर्णन इस सूत्र में किया गया है॥ १९॥

(भा० सि०)—तत्र—उन चारों गुण-पर्वों में। आकाशवाय्वग्न्युदकभूमयः—आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि। भूतानि—ये पाँचों महाभूत। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणाम्—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र, इन पाँचों अविशेषों के। विशेषाः—क्रमशः 'विशेष' नामक परिणाम हैं।[3] तथा—उसी प्रकार। श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि—कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि—वाणी, हाथ, पैर, गुदा और जननेन्द्रिय, ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ। एकादशं मनः—और ग्यारहवीं 'मन' नाम की। सर्वार्थम्—उभयेन्द्रिय **'मनस्तु उभयात्मकम्' 'उभयप्रधानस्येति मन्तव्यम्'**।[4] इति एतानि—ये इतने अर्थात् ग्यारह। अस्मितालक्षणस्याविशेषस्य—अहंकार नामक अविशेष के। विशेषाः—'विशेष' नामक परिणाम है। गुणानामेष षोडशकः विशेषपरिणामः—तीनों गुणों के ये सोलह (पाँच महाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ) 'विशेष' नामक परिणाम हैं। षडविशेषाः—शान्त, घोर और मूढ इन लक्षणों से रहित छः 'अविशेष' परिणाम ये हैं। तद्यथा—जैसे। शब्दतन्मात्रम्—शब्दतन्मात्रा। स्पर्शतन्मात्रम्—स्पर्शतन्मात्रा। रूपतन्मात्रम्—रूपतन्मात्रा। रसतन्मात्रम्—रसतन्मात्रा। गन्धतन्मात्रञ्च—और गन्धतन्मात्रा। इति एकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः—ये क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच लक्षणों वाले। शब्दादयः—'शब्दतन्मात्रा' आदि पाँचों तन्मात्राएँ। पञ्च अविशेषाः—पाँच 'अविशेष' परिणाम हैं। तात्पर्य यह है कि शब्दतन्मात्रा केवल 'शब्द' लक्षण वाली होने के कारण एक लक्षण वाली कही जाती है। स्पर्शतन्मात्रा 'शब्द' और 'स्पर्श' इन दो

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २०५।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०३।

३. 'शान्तादिविशेषशून्यशब्दादिधर्मकसूक्ष्मद्रव्याणामत एवाविशेषसंज्ञकानां विशेषा अभिव्यक्तिशान्तादिविशेषकाः परिणामाः।'—यो० वा० पृ० २०२।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०३।

लक्षणों वाली होने के कारण दो लक्षणों वाली कही जाती है। रूपतन्मात्रा 'शब्द', 'स्पर्श' और 'रूप' इन तीन लक्षणों से युक्त होने के कारण तीन लक्षणों वाली कही जाती है। रसतन्मात्रा 'शब्द', 'स्पर्श', 'रूप' और 'रस' इन चारों लक्षणों से युक्त होने के कारण चतुर्लक्षणा कही जाती है। गन्धतन्मात्रा 'शब्द', 'स्पर्श', रूप, रस' और 'गन्ध' इन पाँचों लक्षणों से युक्त होने के कारण पञ्चलक्षणा कही जाती है।

'तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥' (वि०पु०)।

षष्ठश्च अविशेषः—छठवाँ अविशेषपरिणाम। अस्मितामात्र इति—अभिमान-वृत्ति वाला 'अहङ्कार' नामक तत्त्व है। इसमें 'मात्र' शब्द लगने से इन्द्रियभावापन्न अहङ्कार की निवृत्ति समझनी चाहिए। एते—ये छः। सत्तामात्रस्यात्मनः—अभि-व्यक्तिमात्र रूप वाले। महतः—'महत्तत्त्व' के। षडविशेषपरिणामाः—छः 'अविशेष' नामक परिणाम हैं। महत्तत्त्व को प्रथमतः अभिव्यक्त या व्यक्त होने के कारण 'सत्तामात्र' कहा गया है। गुणों की प्रथमाभिव्यक्ति ही इसका स्वरूप है। (इसीलिये) 'अव्यक्त' तत्त्व को अभिव्यक्त न होने के कारण नित्य होने पर भी सत्तारहित कहा गया है। **'सत्ता विद्यमानता व्यक्ततेति यावत्, व्यक्ततामात्रं महत्तत्त्वमाद्यकार्यत्वात्'**।[1] इसी अभिव्यक्ति को ही वाचस्पति मिश्र ने 'पुरुषार्थक्रियाक्षमता' नाम दिया है। **'पुरुषार्थक्रियाक्षमं सत् तस्य भावः सत्ता।तन्मात्रं महत्तत्त्वम्'**[2]। यत्—जो। अविशेषेभ्यः परम्—इन 'अविशेष' परिणामों से भी सूक्ष्मतत्त्व हैं। तत्—वह। लिङ्गमात्रम्—'लिङ्गमात्र' कहा जाने वाला। महत्तत्त्वम्—'महत्' नाम का तत्त्व है। तस्मिन् सत्ता-मात्रे महति आत्मनि—उस सत्तामात्र' महत् तत्त्व में। एते—ये छः अविशेष परि-णाम। अवस्थाय—रहकर। विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति—परिणमित होते हैं, विकसित दशा को प्राप्त होते हैं। विवृद्धिकाष्ठा का अर्थ है, परिणाम की सीमा अर्थात् विकास। **'सेयमेषां विवृद्धिकाष्ठा परिणामकाष्ठेति'**।[3] यहाँ पर 'महति' के साथ-साथ 'आत्मनि' शब्द का प्रयोग महत्तत्त्व की वस्तुरूपता का प्रकाशक है। 'आत्मा' शब्द (जो कि स्वरूप का वाचक है) का प्रयोग महत्तत्त्व की तुच्छता का निषेध करता है। **'आत्मन इति स्वरूपोपदर्शनेन तुच्छत्वं निषेधति, प्रकृतेश्चायमाद्यः परिणामो वास्तवो, न तु तद्विवर्त्त इति यावत्'**।[4] प्रतिसंसृज्यमानाश्च—प्रलीयमानाश्च (प्रलय-काल में) कारण में विलीन होते हुए (ये छः अविशेष)। तस्मिन्नेव सत्तामात्रे—उसी लिङ्गमात्र। महति आत्मनि—महत्तत्त्व में। अवस्थाय—अनुगत होकर उसी के

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २०४।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०५।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०५।
४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०५।

साथ। यत् तत्—जो वह। निःसत्तासत्तम्—सत्ता और असत्ता से रहित अर्थात् व्यक्त न होने वाले फिर भी वास्तविक। निःसदसत्[1]—अभिव्यक्ति और अभाव दोनों से रहित। तथापि। निरसत्—अभावात्मकता से तो सर्वथा भिन्न अर्थात् 'भावात्मक'। अव्यक्तम्—अनभिव्यक्त। अलिङ्गम्—प्रधान नामक तत्त्व है। तत् प्रतियन्ति इति—उसमें विलीन होते हैं। तेषाम्—उन गुणों का। एषः—यह। लिङ्गमात्रः परिणामः—लिङ्गमात्र या सत्तामात्र कहा जाने वाला 'महत्तत्त्व' रूपी परिणाम है। 'निःसत्तासत्तम्' पद का विग्रह इस प्रकार होगा—निर्गते सत्तासत्ते यस्मात् तत् इति निःसत्तासत्तम् (बहुव्रीहिः)। इसी प्रकार 'निःसदसत्' का विग्रह यह होगा—निष्क्रान्तं सतः असतश्चेति (प्रादितत्पुरुषः)। यह पद 'निःसत्तासत्तम्' का ही भाष्यकृत व्याख्यान है। निरसत्—निष्क्रान्तम् असतः इति निरसत् (प्रादितत्पुरुषः), भावात्मकपदार्थ। 'निःसत्तासत्तम्' और 'निःसदसद्' पदों में प्रयुक्त 'सत्ता' और 'असत्ता' पदों का अर्थ टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—

सत्ता—(१) **'पुरुषार्थक्रियाक्षमं सत् तस्य भावः सत्ता'**।[२]
(२) **'कूटस्थनित्यत्वादि पारमार्थिकं सत्···तच्च सत्त्वं प्रधाने नास्ति'**।[३]
(३) **'पुरुषार्थक्रियाभिरनुभूतता'**।[४]

असत्ता—(१) **'तुच्छता'** (Non-existence)।[५]
(२) **'पुरुषार्थक्रियाऽयोग्यता'**।[६]

निःसत्तासत्तञ्च—सत्ता और असत्ता से रहित यह अव्यक्त तत्त्व। अलिङ्गपरिणामः—गुणों का 'अलिङ्ग' नामक परिणाम। इति—इसलिये। अलिङ्गावस्थायाम्—इस अलिङ्ग या अव्यक्तावस्था वाले गुणपरिणाम के प्रति। पुरुषार्थः—पुरुषतत्त्व के भोग और अपवर्ग नामक प्रयोजन। हेतुः—कारण। न—नहीं हैं। इस वाक्य को और अधिक स्पष्ट करते हैं कि। अलिङ्गावस्थायाम् आदौ—गुणों की अव्यक्तावस्था के प्रति कोई पूर्ववर्ती। पुरुषार्थता—भोग और अपवर्ग नामक प्रयोजन। कारणं न भवति—कारण नहीं है। इति—इसलिये। नित्या—वह नित्य। आख्यायते–कही जाती है। सांख्ययोगशास्त्र में वह नित्य कही जाती है।

---

१. 'एतदुक्तं भवति—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था न क्वचित्पुरुषार्थःउपयुज्यते इति न सती, नापि गगनकमलिनीवत् तुच्छस्वभावा, तेन नासत्यपि इति।'
—त० वै० पृ० २०६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०४।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २०५।
४. द्रष्टव्य; भा० पृ० २०५।
५. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०६।
६. द्रष्टव्य; भा० पृ० २०५।

त्रयाणां तु अवस्थाविशेषाणाम्—इन तीनों (लिङ्गमात्र, अविशेष और विशेष) अवस्थाओं के। आदौ—प्रारम्भ में (अर्थात् कारणरूप में) पुरुषार्थः—पुरुष का भोगापवर्गरूप प्रयोजन। कारणं भवति—हेतु या प्रेरक होता है। 'तु' शब्द नित्यतत्त्व अव्यक्त से इन लिङ्गादि तीनों अवस्थाओं में भेद प्रदर्शित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। स च अर्थः—और यह पुरुषार्थ। इन तीनों अवस्थाओं की स्थिति में। हेतुः—हेतु अर्थात्। निमित्तं कारणम्—निमित्त, कारण। भवति—बनता है। इति—इसलिये। अर्थात् कारणजन्य या कृत्रिम होने के कारण। अनित्या आख्यायते—अनित्य कही जाती है। किन्तु इन लिङ्गादि अवस्थाओं के अनित्य होने पर भी सत्त्वादि गुण सर्वथा नित्य ही हैं। उन्हें अनित्य नहीं समझना चाहिए। इन गुणों का एक पर्व 'अलिङ्ग' नित्य और 'महदादि' अन्य तीन पर्व अनित्य होते हैं। अब गुणों की नित्यरूपता का कथन किया जा रहा है। गुणास्तु—सत्त्वादिगुण तो। सर्वधर्मानुपातिनः—सभी पदार्थों में अर्थात् समस्त परिणामों में अनुगत रहते हैं। न प्रत्यस्तमयन्ते—न तो विनष्ट होते हैं। नोपजायन्ते—और न तो उत्पन्न होते हैं। बल्कि। गुणान्वयिनीभिः—गुणों में अन्वित या गुणों में परिलक्षित होने वाली। व्यक्तिभिः—अभिव्यक्तियों (Manifestations) के द्वारा। उपजनापायधर्मकाः इव—उत्पत्ति और विनाशशील जैसे। प्रत्यवभासन्ते—प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि ये गुण वस्तुतः उत्पत्ति और विनाश वाले न होने पर भी अभिव्यक्तियों में उत्पत्ति और विनाशशील होने के कारण तद्वत् कहे जाते हैं। यथा—जैसे। देवदत्तो दरिद्राति—देवदत्त दरिद्र हो रहा है या हीन हो रहा है। कस्मात्—कैसे? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति—क्योंकि इसकी गायें मर रही हैं। यहाँ पर। गवामेव मरणात्—गायों के मरने या हीन होने से ही। तस्य दरिद्रता—उस देवदत्त की हीनता है। न स्वरूपहानाद्—देवदत्त के स्वरूप की किसी हीनता के कारण नहीं। इति—इस प्रकार। समः—समान ही। समाधिः—समाधान (गुणों के प्रसङ्ग में भी) है।

अब इन गुणों की अलिङ्गावस्था से आगे होने वाली लिङ्गादि अवस्थाओं की अभिव्यक्ति का क्रम भाष्यकार के द्वारा बताया जा रहा है। लिङ्गमात्रम्—'महत्' नामक गुणपर्व। अलिङ्गस्य—अलिङ्ग नामक गुणपर्व का। प्रत्यासन्नम्—निकटतम कार्य है। **'सव्यवहितकार्यम्'**।[1] तत्र—उस 'अलिङ्ग' नामक गुणावस्था में। तत्संसृष्टम्—तेन प्राप्तसंसर्गं सत्, उससे अविभक्त रहता हुआ। विविच्यते—(लिङ्गरूपेण) विविक्तं पृथग्भवति, लिङ्गरूप से विभक्त होता है। कैसे विभक्त होता है या अलगाव कैसे सम्भव है? इसका उत्तर है। क्रमानतिवृत्तेः—परिणामक्रम की अतिवृत्ति अर्थात् उल्लङ्घन न होने के कारण। **'चलं च गुणवृत्तमिति न्यायात्। वस्तुस्वाभाव्याद्यथा-**

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २१०।

भवितव्यं तदनतिक्रमाद् यथायोग्यक्रमत इत्यर्थः'।[1] तथा—उसी तरह से। षड् अविशेषाः—छहों अविशेष नामक गुणपर्व। लिङ्गमात्रे—महत्तत्त्व में। संसृष्टाः—अविभक्त रहते हुए। पश्चात् विविच्यन्ते—पृथगभिव्यक्ता भवन्ति। परिणामक्रम-नियमात्—परिणामपरम्परा के नियत होने के कारण। तथा—वैसे ही। तेषु अविशेषेषु—उन अविशेष नामक गुणपर्वों अर्थात् अहङ्कार और पाँचों तन्मात्राओं में गुणपरिणाम क्रमिक ही होता है। इसमें क्रमोल्लंघन नहीं होता, यही परिणामक्रम-नियम कहा जाता है।

भूतेन्द्रियाणि—पाँचों महाभूत और ग्यारहों इन्द्रियाँ अर्थात् गुणों के 'विशेष' नामक पर्व। संसृष्टानि—अविभक्तानि, तत्र लब्धसंसर्गाणि एव। विविच्यन्ते—पृथग्भूत होते हैं। तथा च पुरस्तादुक्तम्—इसी सूत्र का व्याख्यान करते हुए पहले ही यह कहा भी गया है। विशेषेभ्यः परम्—इस 'विशेष' नामक पर्व के बाद। तत्त्वान्त-रम्—कोई अन्य तत्त्व[2]। न अस्ति—नहीं होता। तेषाम्—उनके। धर्मलक्षणावस्था-परिणामाः—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम ही होते हैं। अन्य तत्त्व के रूप में परिणाम नहीं होते। ये 'धर्म' 'लक्षण' और 'अवस्था' नामक परिणाम (यो० सू० ३।१३ में)। व्याख्यायन्ते—व्याख्यात हैं, कहे जायेंगे। यहाँ पर भविष्य-त्कालिक 'व्याख्यायिष्यन्ते' के अर्थ में 'व्याख्यायन्ते' का प्रयोग हुआ है। शीघ्र-भविष्यत्ता की दृष्टि से ही लृट् के स्थान पर वि+आङ्+√ख्यै धातु का लट्-लकार में कथन किया गया है ॥ १९ ॥

व्याख्यातं दृश्यम्। अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

दृश्य की व्याख्या हो गयी। अब द्रष्टा के स्वरूप का निश्चय करने के लिये यह सूत्र आरम्भ किया जाता है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा चेतनमात्र तथा शुद्ध होने पर भी (बुद्धि के) ज्ञान का अनुद्रष्टा (प्रति-संवेदी) होता है ॥ २० ॥

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः। तस्याश्च विषयो गवादिर्घटा-

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २११।

२. 'तत्त्वत्वञ्च द्रव्यत्वम्। तत्त्वान्तरत्वञ्च स्वावृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति-मत्त्वम्। पञ्चविंशतितत्त्वेषु पञ्चविंशतिजात्यनङ्गीकारे च तत्त्वान्तरत्वं स्वावृत्तिद्रव्य-विभाजकोपाधिमत्त्वमिति।'—यो० वा० पृ० २११।

दिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मात् ? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्याद् गृहीता चागृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति । तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति । अतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति । नात्यन्तं विरूपः । कस्मात् ? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः । यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथा चोक्तम्—'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति । तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरि'त्याख्यायते ॥ २० ॥

'दृशिमात्र' का अर्थ है विशेषणों से सम्बद्ध 'ज्ञ'-रूपी शक्ति । यह पुरुष, बुद्धि का प्रतिसंवेदनकारी (साक्षी) होता है । वह न तो बुद्धि के समान रूप वाला है और न अत्यन्त असमान रूप वाला । समानरूप वाला नहीं है । क्यों ? कभी ज्ञात और कभी अज्ञात विषयों वाला होने के कारण । बुद्धि परिणामिनी होती है । उसके गवादि या घटादि विषय (कभी) ज्ञात और (कभी) अज्ञात होते हैं । इस प्रकार बुद्धि के परिणामित्व को प्रकट करते हैं । परन्तु पुरुष का सदाज्ञातविषय वाला होना पुरुष की अपरिणामिता को प्रकाशित करता है । क्यों ? पुरुष का विषय अर्थात् बुद्धि उसे कभी ज्ञात हो, कभी अज्ञात हो—ऐसा नहीं होता । इसलिये पुरुष का सदाज्ञातविषयत्व और उससे उसका अपरिणामित्व सिद्ध होता है । और भी मिलकर कार्य करने के कारण (त्रिगुणात्मिका) बुद्धि परार्थ (अर्थात् अन्य के लिये) होती हैं । (जबकि) पुरुष स्वार्थ (अर्थात् अपने लिये) होता है । उसी प्रकार सभी पदार्थों का ज्ञान करने के कारण बुद्धि त्रिगुणात्मिका होती है और त्रिगुणात्मिका होने के कारण अचेतन होती है (जबकि) पुरुष गुणों का केवल उपद्रष्टा (अर्थात् प्रतिबिम्बग्राही) होता है । इसलिये (पुरुष, बुद्धि के) समान रूपवाला नहीं है । तो फिर विपरीत रूपवाला होना चाहिए । परन्तु अत्यन्त विपरीत रूपवाला भी नहीं है । क्यों ? शुद्ध होने पर भी (पुरुष) बुद्धिगतज्ञान का अनुद्रष्टा होता है, क्योंकि बुद्धिगतज्ञान का प्रतिबिम्ब रूप में दर्शन करता है । उस (बुद्धिगतज्ञान) को प्रतिबिम्बरूप से देखता हुआ देखने वाला न होने पर भी वैसा प्रतीत होता है । वैसे ही कहा भी गया है—'अपरिणामी तथा निष्क्रिय भोक्ता, परिणामी तत्त्व अर्थात् बुद्धि में प्रतिसंक्रान्त-सा होकर उसके ज्ञान का प्रतिसंवेदन करता है । और चितिच्छायापत्ति से चेतनता को प्राप्त करने वाली बुद्धिवृत्ति का अनुकरणमात्र करने के कारण बुद्धिवृत्ति के समान ही पौरुषेय-बोधरूपा वृत्ति होती है ।'—यह कहा जाता है ॥ २० ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—व्याख्यातं दृश्यम्—'दृश्य' पदार्थ का पहले व्याख्यान कर दिया गया। अथ—अब। द्रष्टुः—'द्रष्टृ' पदार्थ के। स्वरूपावधारणार्थम्—स्वरूप का निश्चय करने के लिये। इदम्—यह सूत्र। आरभ्यते—आरम्भ किया जा रहा है।

(सू० सि०)—द्रष्टा—साक्षी, पुरुष। दृशिमात्रः—दृशिरेवेति दृशिमात्रः (नित्यसमासः), चिन्मात्र अर्थात् ज्ञानरूप है।[1] शुद्धः—वृत्तिज्ञान के सम्पर्क से सर्वथा रहित होता है। अपि—फिर भी। प्रत्ययानुपश्यः—(बुद्धिस्थ) ज्ञान का अनुद्रष्टा होता है। बुद्धिवृत्ति के उपराग या अभिमान से वह उसका प्रतिसंवेदी बन जाता है। यही पुरुष का 'भोग' कहा जाता है। अनुपश्यतीति (अनु + √दृश् + खश्) अनुपश्यः, प्रत्ययस्य अनुपश्यः इति तथोक्तः, वृत्तिज्ञान का पश्चाद्दर्शी या प्रतिसंवेदी होता है॥ २०॥

(भा० सि०)—दृशिमात्र इति—'दृशिमात्र' पद का प्रयोग करने का। इत्यर्थः—यह आशय है कि। विशेषणापरामृष्टा—विशेषणरूप किसी भी धर्म के सम्बन्ध या सम्पर्क से रहित। दृक्शक्तिरेव—ज्ञानशक्ति ही। पश्यतीति (√दृश् + क्विप्) दृक्। अर्थात् निर्विशिष्ट चेतनतत्त्व अर्थात् सर्वथा असङ्ग पुरुष। स पुरुषः—वह पुरुषतत्त्व। बुद्धेः—बुद्धि का। प्रतिसंवेदी—प्रतिसंवेदनकारी है। निर्विशिष्ट शुद्ध पुरुष के विशेषणरहित होने पर उसे पौरुषेय बोध कैसे होता है? वह कैसे 'भोक्ता' कहा जाता है? इसका उत्तर—स 'पुरुषः बुद्धेः प्रतिसंवेदी'—इस पंक्ति से दिया गया है। सर्वसम्पर्कशून्य होने पर भी स्फटिकगत जपाकुसुमप्रतिबिम्ब के समान बुद्धिस्थज्ञान के प्रतिबिम्ब को पुरुष अपना समझे रहता है। यही उसका प्रतिसंवेदन या भोग या पौरुषेय बोध है।

अब शङ्का यह होती है कि जैसे बुद्धि 'संवेदनकारिणी' है, वैसे ही पुरुष भी 'प्रतिसंवेदी' है, तो फिर दोनों को एक ही तत्त्व क्यों न मान लिया जाये? इसके समाधान के लिये भाष्यकार बुद्धि और पुरुष की मौलिक भिन्नता और आंशिक सदृशता को प्रकट करने की चेष्टा करते हैं। सः—पुरुष। बुद्धेः—बुद्धि के। न सरूपः—न समान रूपवाला है। नात्यन्तं विरूप इति—और न तो अत्यन्त भिन्न रूपवाला ही है। न तावत्सरूपः—पुरुष बुद्धि के समान रूपवाला नहीं है। कस्मात्—क्यों? इसलिये कि। (१) ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः—बुद्धि के विषयभूत घटपटमठादि पदार्थ कभी बुद्धि को ज्ञात रहते हैं और कभी नहीं ज्ञात रहते; जब बुद्धि घटाकारा-

---

१. 'ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥'

कारित होती है, तब उसे 'घट' ज्ञात होता है। अन्य विषय नहीं ज्ञात रहते। इसी प्रकार 'शब्दादि' विषयों के सम्बन्ध में भी बुद्धि का तदाकाराकारित्व होने पर ही बुद्धि को उन विषयों का ज्ञान और अन्य विषयों का अज्ञान समझना चाहिए। इस प्रकार विषयों के कभी ज्ञात होने और कभी अज्ञात होने से बुद्धि की परिणामशीलता सिद्ध होती है। अब ज्ञाताज्ञातविषयत्व से परिणामित्व की सिद्धि का प्रकार दिखाया जा रहा है। तस्याश्च—बुद्धेश्च, उस बुद्धि का। विषयः—विषय। गवादिः घटादिर्वा—'गो' इत्यादि या 'घट' इत्यादि बुद्धिविषय। ज्ञातश्च—कभी (बुद्धि को) ज्ञात और। अज्ञातश्च = कभी अज्ञात रहता है। इति—यह बात। (बुद्धि की) परिणामित्वम्—परिणामशीलता को। दर्शयति—प्रकट करती है। क्योंकि विषय के ज्ञात होने के लिये बुद्धि का तदाकाराकारित्व अनिवार्य शर्त है और तदाकाराकारित्व परिणाम के बिना सम्भव नहीं है। तु—किन्तु इसके विपरीत। सदाज्ञातविषयत्वम्—पुरुष के (बुद्धिरूप) विषय का पुरुष को सदा ज्ञात रहना। पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति—पुरुष के अपरिणामित्व को प्रकाशित करता है। कस्माद्—क्यों ? इसलिये कि। न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च—पुरुष के ज्ञान की विषयभूता बुद्धि। स्याद् गृहीताऽगृहीता चेति—पुरुष को कभी ज्ञात हो, कभी ज्ञात न हो, ऐसी बात नहीं होती। इति······त्वम्—इससे पुरुष की विषयभूता 'बुद्धि' पुरुष को सदा ज्ञात रहती है, यह सिद्ध होता है। ततश्च—और इस बात से। पुरुषस्यापरिणामित्वमिति (च सिद्धमिति शेषः)—पुरुष की अपरिणामिता सिद्ध होती है। 'बुद्धि' पद के बाद आया हुआ 'चकार' बुद्धि को पुरुष के विषय के रूप में समुच्चित करता है। बाद के दोनों 'चकार' बुद्धि और पुरुष के भेद एवं विरोध को द्योतित करते हैं। **'न हि पुरुषविषयो बुद्धिवृत्तिरपि शब्दादिवत्स्याच्च तिष्ठेच्च अथवा अगृहीता गृहीता च कालभेदेन भवतीत्यर्थः, तथा च स्मर्यते—**

'न चिदप्रतिबिम्बाऽस्ति दृश्याभावादृते किल।
क्वचिन्नाप्रतिबिम्बेन किलादर्शोऽवतिष्ठते' ॥[1]

(२) किञ्च—और भी। संहत्यकारित्वात्—क्लेशकर्मवासना तथा विषयवासनादि सहकारियों के साथ मिलकर पुरुषार्थसम्पादन करने वाली होने के कारण। बुद्धिः—बुद्धि नामक तत्त्व। परार्था—परस्मै इति परार्था, अन्य तत्त्व के लिये सिद्धसत्ताक तत्त्व है। **'सर्वपुरुषाय कल्पते, पुरुषस्तु न कस्मैचिद् इत्यर्थः।'**—(त० वै०)

(३) तथा—यथा पूर्वोक्तभेदौ तद्वत् अयमग्रे वक्ष्यमाणोऽपि, उसी तरह से। सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्—सभी शान्त, घोर और मूढ अर्थों के आकारों में परिणत होकर बुद्धि उनका अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान करती है, इस कारण से।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २१६।

सिद्ध होता है कि । बुद्धिः त्रिगुणा—बुद्धि सत्त्वरजस्तमस्—इन तीनों गुणों वाली या त्रिगुणात्मिका है । और । त्रिगुणत्वाद्—त्रिगुणात्मिका होने के कारण । अचेतना—जड है । इति । **'त्रिगुणत्वाच्च पृथिव्यादिवदचेतनेति सिद्धा'**—(यो० वा०) । गुणानान्तूपद्रष्टा पुरुष इति—किन्तु पुरुष गुणों का केवल उपद्रष्टा है अर्थात् पुरुष तदाकाराकारित होकर गुणों का दर्शन नहीं करता, प्रत्युत प्रतिबिम्बमात्ररूप में गुणों का अर्थात् विषयाकाराकारित बुद्धि का बोद्धा होता है । तात्पर्य यह है कि पुरुष गुणों का वास्तविक ग्रहण नहीं करता, प्रत्युत उसे औपचारिक ग्रहण या उपदर्शनमात्र होता है । इसलिये उसे केवल 'उपद्रष्टा' ही कहा गया है । इस प्रकार पुरुष न तो त्रिगुणात्मक है और न अचेतन या जड । **'तत्प्रतिबिम्बितः पश्यति, न तु तदाकारपरिणत इत्यर्थः ।'**—(त० वै०) । समानरूपता के खण्डन को उपसंहृत करते हैं कि । अतो न सरूपः—इसलिये 'पुरुष' बुद्धि के समान रूपवाला नहीं है ।

अस्तु तर्हि विरूप इति—जब समान रूपवाला नहीं है, तो पुरुष बुद्धि के विपरीत रूपवाला ही होगा, यही माना जाय । विपरीतं भिन्नं रूपं यस्य स विरूपः इति (बहुव्रीहिः) । तो इस बात को भी खण्डित करते हैं कि । नात्यन्तं विरूप इति—पुरुष बुद्धि से सर्वथा भिन्न रूपवाला भी नहीं है । कस्मात्—क्यों ? इसलिये कि । शुद्धोऽप्यसौ—वह पुरुष सर्वथा असङ्ग, निर्लेप या निरञ्जन होने पर भी । प्रत्ययानुपश्यः—प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यतीति तथोक्तः, पुरुष बुद्धिवृत्ति का अनुद्रष्टा या उपद्रष्टा तो है ही । इसी पद का स्पष्टीकरण आगे भी कर रहे हैं कि । यतः—चूँकि । बौद्धं प्रत्ययम्—बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान को । अनुपश्यति—प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण करता है । तम्—उस बुद्धिकृत ज्ञान को । अनुपश्यन्—प्रतिबिम्बरूप से ग्रहण करता हुआ पुरुष । अतदात्माऽपि—वैसा न होने पर भी । अर्थात् बुद्धि के रूप का न होने पर भी **'परमार्थतो बुद्ध्यसरूपोऽपि'**—(यो० वा०) । तदात्मा इव—उसके समान रूपवाला जैसा, तस्याः आत्मा इव आत्मा यस्य सः तदात्मा, तत्सरूप इव । प्रत्यवभासते—अवभासित या प्रकट होता है । **'प्रकाशते तदनुकारी भवति, स्फटिक इव जपासरूप इत्यर्थः··· प्रतिबिम्बरूपेण च मिथ्यासारूप्येण न पारमार्थिक, सारूप्यविरोधः'**[1] । बुद्धि और पुरुष के सारूप्य-वैरूप्य के सन्दर्भ में 'पञ्चशिखाचार्य' के वचनों का प्रामाण्य उपस्थित किया जा रहा है । तथा च उक्तम्—और वैसा ही 'पञ्चशिखाचार्य' के द्वारा कहा भी गया है कि । अपरिणामिनी—परिणमनपरम्परा से रहित अर्थात् दृश्याकाराकारित्व से शून्य । अप्रतिसंक्रमा च—और प्रतिसंचरण या संचार न करने वाली । भोक्तृशक्तिः—भोक्त्री 'चिति' शक्ति । परिणामिनि अर्थे—परिणामशील पदार्थ अर्थात् बुद्धि में । प्रतिसङ्क्रान्ता इव—प्रतिबिम्बित या प्रतिसङ्क्रमित-सी होकर । 'इव' शब्द का

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २१८ ।

यहाँ पर प्रयोग पुरुष के वास्तविक प्रतिसंक्रमण का निषेध करने के लिये हुआ है। तद्वृत्तिम्—तस्याः बुद्धेः, उस बुद्धि की वृत्तियों का। अनुपतति—अनुकुरुते, उस बुद्धि-स्थ ज्ञान का ग्रहण अर्थात् उसका उपदर्शन कर लेता है। तस्याश्च—और उस। प्राप्त-चैतन्योपग्रहरूपायाः बुद्धेः—प्राप्तं लब्धं चैतन्यस्य (पुरुषस्य) उपग्रहेण (छाया-पत्त्या प्रतिबिम्बेन वा) रूपं (स्वीकीयं चेतनवद्रूपं) यया तस्याः बुद्धेः, अर्थात् चिति-च्छायापत्तिलाभ से ही अपने चेतनवत् रूप को धारण करने वाली बुद्धि के। अनु-कारमात्रतया—उपदर्शन या अभिमानमात्र से। बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा—बुद्धिवृत्ति के समान ही। ज्ञानवृत्तिः—पुरुष का बोध या पौरुषेय बोध (**चिद्वृत्तिः**—भा०) होता है। इत्याख्यायते—यह कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरुष न तो बुद्धि के अत्यन्त समान रूपवाला है और न प्रकटतः उससे विपरीत रूप का ही होता है ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उसके लिये ही दृश्य का रूप होता है ॥ २१ ॥

दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति ॥ २१ ॥

(यह) दृश्य साक्षिरूप पुरुष का कर्म बनता है, इसलिये दृश्य का स्वरूप पुरुष के लिये ही होता है ॥ २१ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तदर्थ एव—तस्मै इति तदर्थः,[1] उस द्रष्टा पुरुष के लिये ही। 'तत्' शब्द से 'पुरुष' का परामर्श किया गया है, क्योंकि अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र में 'द्रष्टा दृशिमात्रः' इत्यादि से पुरुष का ही वर्णन प्रक्रान्त है। दृश्यस्य—(बुद्धिरूप) गुणत्रयस्य, बुद्धिरूप सत्त्वादि तीनों गुणों का। आत्मा—स्वरूपम्। **'द्रष्ट्रार्थ एव दृश्य-स्यात्मा भवति न तु दृश्यार्थः'**[2]। दृश्य का समग्र स्वरूप पुरुष के लिये अर्थात् पुरुष के भोगापवर्ग नामक प्रयोजन के लिये होता है। इसके अतिरिक्त उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २१ ॥

(भा० सि०)—दृशिरूपस्य पुरुषस्य—भोक्तृरूप पुरुष के। कर्मरूपतामापन्नम्—कर्मरूपता को प्राप्त हुआ। व्यापार के फलाधार को कर्म कहते हैं।[3] यहाँ पर पुरुष 'कर्ता इव कर्ता' है, वास्तविक कर्तृत्व उसमें सर्वथा अनुपपन्न ही है, उसके निष्क्रिय

---

१. 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'—वार्तिकम्।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २२०।

३. 'धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वम्।'—प० ल० म० पृ० १४४।

होने के कारण। उसकी जो 'दृशि' क्रिया है, वह भी व्यपदेशमात्र है। वह 'दृश्य' इस कहने भर की 'दृशि' क्रिया के फल का आधार बनता है। इति—इस कारण से। तदर्थ एव[1]—उस (पुरुष) के लिये ही। दृश्यस्य—बुद्धयपारूढ भूतेन्द्रियात्मक गुणत्रय की। आत्मा—स्वरूपम्, प्रकटितरूप। भवति—होता है। इत्यर्थः—यह आशय है। दृश्य के स्वरूप-लाभ का अन्य कोई प्रयोजन या उपयोग नहीं है॥ २१॥

तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः। न तु विनश्यति। कस्मात् ?

दृश्य का स्वरूप अन्य के रूप से सत्ता प्राप्त करता है। भोग और अपवर्ग नामक पुरुषार्थ पूरा हो जाने पर पुरुष के द्वारा नहीं देखा जाता, इसलिये स्वरूपहानि होने से इसके नाश का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। किन्तु (दृश्य) नष्ट नहीं होता। क्यों ?

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्॥ २२॥

कृतार्थ (मुक्त) पुरुष के प्रति नष्ट होने पर भी अन्य पुरुषों के द्वारा भी समान रूप से धारण किये जाने के कारण, वह (अर्थात् दृश्यतत्त्व) नष्ट नहीं होता है॥ २२॥

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान् प्रति न कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं, लभत एव पररूपेणात्मरूपमिति। अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति। तथा चोक्तम्—'धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग' इति॥ २२॥

एक कृतार्थ (अर्थात् मुक्त) पुरुष के प्रति नष्ट अर्थात् नाश को प्राप्त भी (यह) दृश्य अनष्ट बना रहता है। उसके अतिरिक्त अन्य पुरुषों के प्रति उसके साधारण होने के कारण। जीवन्मुक्त या विदेहमुक्त पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त होकर भी बद्ध पुरुषों के प्रति कृतकृत्य नहीं हो जाता, इसलिये उनके साक्षित्व (प्रतिसंवेदन) के कर्म का विषय बना रहता है और अन्य (पुरुषों) के रूप से अपना रूप प्राप्त करता रहता है। और इसीलिये पुरुष ('ज्ञ' शक्ति) और बुद्धि (दर्शनशक्ति) के नित्य

---

१. 'न हि परप्रयोजनकं वस्तु परप्रयोजनं विना क्षणमपि स्थातुं क्षमते नित्यमनित्यं वा प्रयोजनं विना कस्यापि परार्थस्यावस्थानादर्शनेन पुरुषार्थस्य तत्स्थितिहेतुत्वसिद्धेरिति भावः। अनेन च सूत्रेण चैतन्याधीना सत्ता दृश्यस्य न स्वत इति सिद्धम्।'—यो० वा० पृ० २२१।

होने के कारण (इनका) संयोग अनादि बताया गया है। और कहा भी गया है कि धर्मियों अर्थात् गुणों के (पुरुषों के साथ) अनादि-संयोग के कारण बुद्धि इत्यादि धर्मों का भी (पुरुष के साथ) संयोग अनादि होता है ॥ २२ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तत्स्वरूपं तु—तस्य दृश्यस्य स्वरूपं तु, उस दृश्य का स्वरूप तो। पररूपेण—पुरुष की सत्ता से। **'आत्मरूपेण चैतन्येन'** (त० वै०) प्रतिलब्धात्मकम्—प्राप्तस्वरूपम्, सिद्धसत्ताकम्, अपनी स्थिति प्राप्त करता है। इसलिये। भोगापवर्गार्थतायां सिद्धायाम्—पुरुष के भोगापवर्ग रूप दर्शनकार्य सिद्ध हो जाने पर। पुरुषेण—पुरुष के द्वारा (अनुक्ते कर्तरि तृतीया)। न दृश्यते—नहीं देखा जाता। इति—इसलिये। स्वरूपहानाद्—स्वरूप की स्थिति न होने से (हेत्वभावाद्)। अस्य—इस दृश्य का। नाशः प्राप्तः—नाश हो जाना चाहिए। न तु विनश्यति—किन्तु फिर भी दृश्य पदार्थ विनष्ट नहीं हो जाता। कस्मात्—ऐसा क्यों है? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

(सू० सि०)—कृतार्थं प्रति—कृतः पूर्णः बुद्ध्या सम्पादितः अर्थः प्रयोजनं यस्य तं क्वचिन्मुक्तं पुरुषं प्रति, जिस किसी एक मुक्तपुरुष का भोगापवर्गरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, उसके प्रति या उसके लिए। नष्टमपि—नष्ट हो जाने पर भी, लुप्त हो जाने पर भी। तद्—वह दृश्य नामक गुणत्रय। अनष्टम्—अविनष्ट या अविद्यमान रहता है। अन्यसाधारणत्वात्—अन्य पुरुषों के द्वारा समान रूप से धारण किये जाने के कारण। अर्थात् वह दृश्यपदार्थ अन्य पुरुषों के द्वारा भी समान रूप से 'दृशि' क्रिया का कर्म बनता है।। तात्पर्य यह है कि वह सब पुरुषों की साधारण सम्पत्ति (Common Property) है। सब पुरुषों का भोगापवर्ग वही एक दृश्यपदार्थ ही सिद्ध करता है, इसलिये एक या कई कृतार्थ या मुक्तपुरुषों के प्रति कृतकृत्य हो जाने पर भी उसके बने रहने का हेतुभूत अन्य अकृतार्थ अर्थात् बद्ध पुरुषों का भोगापवर्गसम्पादनरूप प्रयोजन तो अवशिष्ट ही रहता है। इसलिये उसकी सत्ता बनी रहने में कोई अनुपपत्ति नहीं उपस्थित होती। **'एवञ्च पुरुषान्तराणामर्थे प्रकृत्यादिस्थितिः प्रवृत्तिश्चेति भावः। प्रधानस्यैकत्वं पुरुषस्यानेकत्वञ्च 'प्रजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' आदि श्रुतिराह। एकत्वश्रुतयश्च देशकालविभागाभावेन गौणाविभागरूपत्वपरा इति दिक्'**[1] ॥ २२ ॥

(भा० सि०)—कृतार्थम्—समाप्तप्रयोजन वाले। एकं पुरुषं प्रति—किसी एक पुरुष के प्रति। दृश्यम्—दृश्य नामक तत्त्व। नष्टमपि—नाशं प्राप्तमपि, अदर्शन या लोप को प्राप्त हुआ भी अर्थात् लुप्त होने पर भी। तद—वह दृश्य पदार्थ। अनष्टम्—

१. द्रष्टव्य; छा० व्या० पृ० ४९।

नष्ट नहीं होता या लुप्त नहीं होता। इस सार्वत्रिक लोपाभाव का कारण बताते हैं। अन्यपुरुषसाधारणत्वाद्—अन्य सभी अमुक्त पुरुषों के प्रति साधारण होने अर्थात् समान रूप से दृश्य बने रहने के कारण, उस दृश्य तत्त्व का स्थितिहेतु अर्थात् पुरुषों के भोगापवर्ग का सम्पादन अवशिष्ट ही पड़ा रहता है। इसलिये कभी उसका नाश नहीं हो सकता। कुशलं पुरुषं प्रति—मुक्त पुरुषों के प्रति। नाशं प्राप्तमपि—(तद् दृश्यम्) नाश को प्राप्त हुआ भी दृश्यतत्त्व। अकुशलान् पुरुषान् प्रति—मुक्त न हुए बद्ध पुरुषों के प्रति। अभी। अकृतार्थम्—कृतकृत्य नहीं हुआ रहता। इति—हेतोः, इसलिये। तेषाम्—उन बद्ध पुरुषों के। दृशेः—दर्शनक्रिया (प्रतिबिम्बसंक्रमण रूपी क्रिया) की। कर्मविषयतामापन्नम्—कर्मता या कर्मस्थानीयता को प्राप्त होता है अर्थात् कर्म बनता है। एवं सत्—और इस प्रकार कर्म बनता हुआ दृश्य। पररूपेण—पुरुष की (बद्धावस्था में) स्थिति से (अवशिष्टकार्यतया)। आत्मरूपं लभते—अपने व्यक्त रूप को प्राप्त करता है। **'न हि रूपमन्येन न दृश्यत इति चक्षुष्मताऽपि दृश्यमानमभावप्राप्तं भवति। न च प्रधानवदेकः पुरुषः······ प्रकृत्येकत्वपुरुषनानात्वयोश्च श्रुत्यैव साक्षात्प्रतिपादनात्।'**[1] अतश्च—और इसलिये। दृग्दर्शनशक्त्योः—पुरुष और बुद्धि (अर्थात् बुद्ध्युपारूढ दृश्य पदार्थ) के नित्य होने के कारण। दोनों का। संयोगः—संयोग। अनादिः—अविद्यमानः आदिर्यस्य सः अनादिः (Beginningless)। व्याख्यातः इति—कहा गया है। इस प्रकार अनेकव्यक्तिक संयोग का अनादि प्रवाह समझना चाहिए। **'एवं बीजवृक्षवदनेकव्यक्तिकस्य संयोगस्यानादिप्रवाहः।'**[2] इस विषय में पञ्चशिखाचार्य की सम्मति दिखाते हैं। तथा च उक्तम्—वैसे ही 'पञ्चशिख' के द्वारा कहा भी गया है कि। धर्मिणाम्—गुणानाम्, सत्त्वादि तीनों गुणों के। अनादिसंयोगाद्—अनादिसंयोग (अकुशल पुरुषों के साथ) होने के कारण। धर्ममात्राणामपि—बुद्ध्यादि तत्त्वों का संयोग भी। अनादिः—आदिरहितः एव। यदि यह संयोग एक पुरुष के साथ होता तो उसके मुक्त होने पर यह संयोग समाप्त हो जाता। किन्तु असंख्य पुरुषों के साथ संयोग होने के कारण मुक्तों के साथ इस संयोग की समाप्ति होते जाने पर भी अवशिष्ट पुरुषों के साथ यह बुद्ध्यादिसंयोगप्रवाह बना ही रहता है। क्योंकि यह गणित का सार्वभौम सिद्धान्त है कि अनन्त संख्या (Infinity) से किसी संख्या के घटाने पर भी उस अनन्तत्व की समाप्ति नहीं होती, यही बात इस श्रुति से भी सिद्ध है—**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।**' वाचस्पति मिश्र इसी तथ्य को इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं—**'अत एतद् भवति, यद्यप्येकस्य महतः संयोगोऽतीतत्वमापन्नस्तथाऽपि महदन्तरस्य पुरुषाणां संयोगो नातीत इति नित्य उक्तः।'**[3]

1. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २२३।
2. द्रष्टव्य; भा० पृ० २२३।
3. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २२४।

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

संयोग का स्वरूप बताने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त होता है—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्वशक्ति (दृश्य) और स्वामिशक्ति (पुरुष) के स्वरूप की जानकारी के लिये संयोग होता है ॥ २३ ॥

पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्माद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः । या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः । दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्षकारणम् । अदर्शनाभावादेव बन्धाभावः, स मोक्ष इति । दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम् । किञ्चेदमदर्शनं नाम ? किं गुणानामधिकारः ? आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः ? स्वस्मिन् दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः । किमर्थवत्ता गुणानाम् ? अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् ? किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः ? यत्रेदमुक्तं—प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात् । तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात् । उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा । कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः ।

दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके । 'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरि'ति—श्रुतेः । सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक् प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति । सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति । उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेवादर्शनमवभासते । दर्शनज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति । इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥२३॥

स्वामी अर्थात् पुरुष, स्व अर्थात् दृश्य से दर्शन के लिये संयुक्त होता है । इसलिये संयोग से जो दृश्य का ज्ञान होता है, वह भोग है और जो द्रष्टा के स्वरूप का ज्ञान होता है, वह अपवर्ग है । संयोग इस (दोनों के) ज्ञान रूपी कार्य में पर्यवसित होता है, इसलिये (दोनों का) ज्ञान (विवेकख्याति) (पुरुष और दृश्य के) वियोग का कारण कहा गया है । ज्ञान, अज्ञान का विरोधी है, इसलिये अज्ञान (अर्थात् अदर्शन) संयोग का कारण कहा गया है । (इस प्रकार अज्ञान से संयोग,

संयोग से ज्ञान और ज्ञान से वियोग अर्थात् मोक्ष होता है। (किन्तु) इस (सांख्ययोग) शास्त्र में ज्ञान को मोक्ष का कारक नहीं मानते। (प्रत्युत, ज्ञान से होने वाले) अज्ञानाभाव से ही बन्धन या संयोग का नाश होता है और वही मोक्ष ज्ञान होने पर संयोग के कारणभूत अज्ञान का नाश हो जाता है। इसलिये दर्शन अर्थात् ज्ञान मोक्ष का कारण कह दिया गया है।

अब प्रश्न यह है कि यह 'अदर्शन' (अर्थात् अज्ञान) क्या है?—(१) क्या सत्त्वादि गुणों का कार्य ही अदर्शन है? (२) अथवा द्रष्टा स्वामी (पुरुष) को विषय का दर्शन कराने वाले प्रमुख (विवेकख्याति रूप) चित्त का उत्पन्न न हो पाना ही अदर्शन है? (तात्पर्य यह है कि) 'स्व' अर्थात् दृश्य के वर्तमान रहने पर भी (विवेकख्याति रूप) ज्ञान का अभाव ही अदर्शन है? (३) क्या गुणों की (पुरुषार्थरूप) प्रयोजनयुक्तता ही अदर्शन है? (४) या फिर अपने चित्त के साथ-साथ निरुद्ध हुए, अपने चित्त की पुनः अभिव्यक्ति का बीज (रूप अविद्या-संस्कार) ही अदर्शन है? (५) क्या (प्रकृति के) स्थिति-संस्कारों के क्षीण होने पर (प्रकृति के) गतिसंस्कारों का अभिव्यक्त होना अविद्या है? जिस विषय में यह कहा गया है कि प्रकृति सदा स्थितिरूप से ही रहती हुई विकारों की अभिव्यक्ति न करने के कारण अप्रधान अथवा गौण हो जायेगी और सदैव गतिरूप से ही रहती हुई विकारों के नित्य हो जाने के कारण भी अप्रधान (गौण) हो जायेगी। (स्थिति और गति) दोनों रूपों से इसका रहना इसको 'प्रधान' नाम से व्यवहृत कराता है, अन्य किसी प्रकार से (इसका रहना) नहीं। अन्य कारणों के कल्पित किये जाने पर भी वही बात रहेगी। (६) एक सम्प्रदाय ऐसा मानता है कि ज्ञान-शक्ति (अर्थात् बुद्धि) ही अदर्शन है, 'प्रकृति की प्रवृत्ति अपने को प्रकाशित करने के लिये होती है'—इस श्रुति के आधार पर। सर्वविषयज्ञान में समर्थ पुरुष, प्रकृति (अर्थात् बुद्धि) की प्रवृत्ति के पहले (कुछ) नहीं देखता है। सब कार्य करने में समर्थ दृश्य (अर्थात् बुद्धि) उस समय तक (पुरुष के द्वारा) नहीं देखा जाता है। (७) एक सम्प्रदाय ऐसा मानता है कि अदर्शन (द्रष्टा और दृश्य) दोनों का धर्म है। उनमें से दृश्य का अपने में स्थित और चितिच्छायापत्तिसापेक्ष दर्शन ही दृश्य के धर्म के रूप का अदर्शन होता है। (८) (विषयों का) दर्शन अर्थात् ज्ञान ही अदर्शन है—ऐसा कुछ लोग कहते हैं। ये इतने शास्त्रीय विकल्प (अदर्शन के स्वरूप के विषय में) हैं, इनमें से बहुत से विकल्प (चौथे को छोड़कर शेष सात विकल्प) सभी पुरुषों के समान रूप से गुणों के साथ होने वाले संयोग के विषय में हैं ॥ २३ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—इस प्रकार 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के स्वरूप का निर्णय करने के पश्चात् उनके 'संयोग' के स्वरूप तथा प्रयोजन का वर्णन किया जा रहा है।

संयोगस्वरूपाभिधित्सया—(द्रष्टृदृश्ययोः) संयोगस्य स्वरूपं तद् अभिधातुं कथयितुमिच्छा (अभि + √धा + सन् + अ + टाप्) तया। द्रष्टा और दृश्य के संयोग के स्वरूप को कहने की इच्छा से। इदम्—यह। सूत्रम्—सूत्र। प्रववृते—प्रवर्तते, प्रवृत्त होता है।

(सू० सि०)—स्वञ्च स्वामी चेति स्वस्वामिनौ शक्ती इति तयोः स्वस्वामिशक्त्योः—दृश्य और द्रष्टृशक्तियों के। स्वरूपोपलब्धिहेतुः—तयोः स्वरूपयोः उपलब्धिः हेतुः प्रयोजनं यस्य इति तथोक्तः, द्रष्टा और दृश्य के स्वरूपों की उपलब्धिरूप प्रयोजन वाला (अयम्) संयोगः—ऐसा यह संयोग (विशेष) होता है। यहाँ पर पूरी सृष्टि के आदिकालिक संयोग का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि वह संयोग तो किसी एक पुरुष के द्वारा हटाया नहीं जा सकता। यहाँ पर उसी संयोग का निरूपण हुआ है, जो किसी भी एक पुरुष के द्वारा विवेकख्याति के उपाय से हटाया जा सके। ऐसा संयोग व्यष्टिगत (अर्थात् एक-एक व्यक्ति का अपनी-अपनी बुद्धि के साथ) संयोग ही हो सकता है। **'द्रष्टृदृश्यसंयोगसामान्यं न हेयहेतुः प्रलयमोक्षादिसाधारण्यादतः संयोगगतविशेषावधारणायेदं सूत्रं प्रववृत इत्यर्थः'**।[1] **'दर्शनकार्यावसानो बुद्धिविशेषेण सह पुरुषविशेषस्य संयोग इति दर्शनं वियोगकारणमुक्तम्'**।[2] 'दृश्य' शब्द से वृक्षपर्वतगृहादिरूप में अभिव्यक्त गुणत्रय का अर्थ नहीं लेना चाहिए; प्रत्युत 'बुद्धि' पर उपारूढ़ ही ये नाना पदार्थ पुरुष के 'दृश्य' बनते हैं। इसलिये 'बुद्धि' को ही मुख्यतः दृश्य कहा गया है॥ २३॥

(भा० सि०)—पुरुषः स्वामी—बुद्धि का स्वामी पुरुष। दृश्येन स्वेन—स्व अर्थात् अपने दृश्य (बुद्धि) के साथ। संयुक्तः—सन्निहित या संयुक्त होता है। तस्मात् संयोगात्—उस संयोग से। या—जो। दृश्यस्य—बुद्धि के स्वरूप की। उपलब्धिः—अनुभूति होती है। स भोगः—वह भोग है। 'या' की प्रतियोगिता में 'तद्' शब्द का पुंल्लिङ्ग रूप 'सः' 'भोग' नामक विशेष्य की विवक्षा से है। यह संयोग या सन्निधि दैशिक या कालिक नहीं समझनी चाहिए। यह तो केवल 'योग्यता' लक्षण सन्निधि है। यह पहले भी बताया जा चुका है। **'पुरुषः स्वामी योग्यतामात्रेण दृश्येन स्वेन योग्यतयैव दर्शनार्थे संयुक्तः'**।[3] या तु—और जो। द्रष्टुः—द्रष्टा के। स्वरूपोपलब्धिः—स्वरूपस्य उपलब्धिः इति, स्वरूप का बोध है। सः—वह। अपवर्गः—अपवर्ग है। यहाँ पर विवेकख्याति के प्रसङ्ग में होने वाली 'पुरुषख्याति' को ही कार्यकारणाभेद-विवक्षा से अपवर्ग कहा गया है। इस प्रकार 'बुद्धि' और 'पुरुष' दोनों

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २२४।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २२५।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २२५।

के स्वरूपों की उपलब्धि या जानकारी ही संयोग का प्रयोजन है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि। दर्शनकार्यावसानः संयोगः—दर्शनकार्ये अवसानं यस्य तादृशः, यह संयोग, दर्शनरूपी कार्य में पर्यवसित होता है। तात्पर्य यह है कि इस द्विविध दर्शनकार्य के होने तक ही द्रष्टा और दृश्य के संयोग की सत्ता रहती है। इसलिये। दर्शनम्—द्विविध दर्शन का सम्पन्न हो जाना। वियोगस्य—पुरुष और बुद्धि के अलगाव का। कारणम्—हेतु। उक्तम्—कहा गया है। दर्शनम्—यह दर्शन या बोध। अदर्शनस्य—अदर्शन या अविद्या का। प्रतिद्वन्द्वी—प्रतियोगी या विरोधी है। इति—इसलिये। अदर्शनम्—अज्ञान या अविद्या। संयोगस्य निमित्तम्—संयोग का कारण। उक्तम्—कहा गया है। इस प्रकार अविद्या से संयोग, संयोग से दर्शन और दर्शन से मोक्ष या कैवल्य होते हैं।

अब समस्या यह है कि दर्शन से मोक्ष की सिद्धि होने में मोक्ष को कार्य और दर्शन को कारण मानना होगा, जिसका फल यह हुआ कि 'मोक्ष' कारणजन्य होने से अनित्य हो जायेगा और मुक्त पुरुषों के पुनर्बन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। इस सम्भाव्य अनुपपत्ति को दूर करने के लिये वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि 'मोक्ष' किसी कारण का कार्य नहीं है। क्योंकि। अत्र—इस प्रसङ्ग में। दर्शनम्—दर्शन या द्रष्टृदृश्यस्वरूपोपलब्धि। मोक्षकारणम्—मोक्ष का कारण। न—नहीं है। प्रत्युत। अदर्शनाभावाद् एव—अविद्या की निवृत्ति हो जाने से ही। बन्धाभावः—बन्धस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्य अभावः निवृत्तिः, बन्धन या संयोग की निवृत्ति हो जाती है। स मोक्षः—वही मोक्ष है। वस्तुतः मोक्ष नाम की कोई नयी स्थिति नहीं उत्पन्न होती, बल्कि बन्ध या संयोग का न रहना ही मोक्ष कहा जाता है। दर्शनस्य भावे—द्विविध दर्शन के सम्पन्न हो जाने पर (भावे सप्तमी)। बन्धकारणस्य—संयोग के कारणभूत। अदर्शनस्य—अज्ञान या अविद्या का। नाशः—अभावः, निवृत्तिः, निराकरण हो जाता है। इति अतः—इसलिये। दर्शनज्ञानम्—दर्शन रूपी ज्ञान अर्थात् पुरुष और बुद्धि के स्वरूप का ज्ञान। कैवल्यकारणमुक्तमिति—कैवल्य का कारण कहा गया है। तात्पर्य यह है कि स्वरूपज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है और यही मोक्ष की स्थिति कही जाती है। इसलिये पुरुषबुद्धिस्वरूप का ज्ञान मोक्ष का प्रयोजकमात्र है, उसका कारण नहीं है। **'तथा च तत्त्वज्ञानं मोक्षे प्रयोजकमात्रमिति'**।[1] **'बुद्ध्यादिविविक्तस्यात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्ष उक्तो न तस्य साधनं दर्शनमपि त्वदर्शननिवृत्तिरित्यर्थः'**।[2]

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २२६।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २२६।

किञ्चेदमदर्शनं नाम ?—अब आखिर यह अदर्शन कौन-सी चीज है ? 'नाम' पद वाक्यालङ्कार के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस संयोग के हेतुभूत अदर्शन अर्थात् अविद्या का स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से सामान्य अविद्या के सम्भाव्यमान आठ विकल्प भाष्यकार उपस्थित कर रहे हैं। उनमें से—

(१) किम्—क्या ? गुणानाम्—सत्त्वादि तीनों गुणों की। अधिकारः—**कार्यारम्भणसामर्थ्यम्'**।[१] विकारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता ही अधिकार है ? यह विकल्प 'अदर्शन' पद में उपस्थित 'नञ्' का पर्युदासात्मक अर्थ लेकर किया गया है।

(२) आहोस्विद्—अथवा। दृशिरूपस्य स्वामिनः—द्रष्टा रूपी स्वामी को। दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्य—'शब्दादि' वृत्ति तथा 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप' समस्त विषयों को दिखाने वाले। प्रधानचित्तस्य—उत्कृष्टबुद्धेः, विवेकस्येत्याशयः। अनुत्पादः—अनुत्पत्तिः, प्रादुर्भावाभावः **'विवेकस्यानुत्पाद एवादर्शनमित्यर्थः'**।[२] 'प्रधानचित्तस्यानुत्पादः' पद को और स्पष्ट किया जा रहा है। स्वस्मिन्—स्व अर्थात्। दृश्ये—दृश्य के। विद्यमाने—(सति) विद्यमान रहने पर भी। दर्शनस्य—उभयविध विषयों के दर्शन या ज्ञान का सम्पन्न न होना ही 'प्रधान चित्त की अनुत्पत्ति' है। यह विकल्प 'नञ्' का 'प्रसज्यप्रतिषेध' परक अर्थ ग्रहण करके प्रस्तुत किया गया है।

(३) किम्—क्या ? गुणानाम्—सत्त्वादिगुणों की। अर्थवत्ता—अर्थः पुरुषार्थः तद्युक्ताः अर्थवन्तः तेषां भावः स्त्रियाम् (अर्थवत् + तल् + टाप्) पुरुषार्थयुक्तता ही अदर्शन है। जब तक बुद्धिरूपी गुणों का पुरुषार्थ-सम्पादन कार्य अवशिष्ट रहता है, तब तक उनमें पुरुषार्थवत्ता बनी रहती है। यही अदर्शन है। यह विकल्प भी 'पर्युदासात्मक' है। **'सत्कार्यसिद्धेर्भाविभोगापवर्गयोरव्यपदेश्योः स्वकारणेषु गुणेष्ववस्थानमित्यर्थः'**।[३]

(४) अथ—या फिर। स्वचित्तेन सह निरुद्धा—प्रलयकाल में प्रत्येक जीव के (अपने) चित्त के साथ प्रकृति में लीन होने वाली। तथा (सृष्टिकाल में) स्वचित्तस्य—प्रत्येक जीव के अपने चित्त की। उत्पत्तिबीजम्—अभिव्यक्त होने की कारणभूता। अविद्या—(पञ्चपर्वा) अविद्या ही अदर्शन है। **'पर्युदास एव चतुर्थं विकल्पमाह'—(त० वै०)। 'तथा चाविद्यावासनैवादर्शनमिति—अयमेव पक्षः सिद्धान्तो भविष्यति'**।[४]

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० और त० वै० पृ० २२६।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० २२६।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २२७।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २२८।

(५) 'पर्युदास' प्रकारक ही पाँचवें विकल्प को कह रहे हैं—किम्–क्या ? स्थिति-संस्कारक्षये—प्रधानतत्त्व में साम्यावस्था के संस्कारों के क्षीण हो जाने पर। **'साम्य-परिणामपरम्परावाहिनः प्रधानवर्तिनः क्षये'**।[1] गतिसंस्कारस्य—महदादिविकारारम्भी संस्कारों की। अभिव्यक्तिः—कार्योन्मुखता ही अदर्शन है। क्योंकि ऐसा होने पर ही पुरुष का अपने दृश्य से संयोग होता है। इस विषय में मतान्तर को उद्धृत करते हैं कि। यत्र—जिस बिषय में। इदम्—यह। उक्तम्—कहा गया है। स्थित्या एव—स्थिति के रूप में ही अर्थात् साम्यावस्था के रूप में ही। वर्तमानम्—(सत्) रहती हुई प्रकृति। विकारस्याकरणाद्—विकारस्य अकरणात्, विकार उत्पन्न न करती हुई। अप्रधानम्—प्रधीयते प्रकर्षेण धीयते विकारजातं तेन इति (प्र + √धा + ल्युट्) प्रधानं न तथेत्यप्रधानम्, विकारों को प्रकर्ष से धारण करने वाला तत्त्व 'प्रधान' है और प्रकर्ष से न धारण करने वाला तत्त्व प्रधान न होकर 'अप्रधान' हो जायेगा **'तथा च प्रधानं चेत् स्थितिमात्रेण वर्तेत तदा विकाराजनकत्वान्नप्रधानं स्यान्मूलकारणत्वं हि प्रधानत्वमिति'**।[2] तथा गत्यैव वर्तमानम्—और निरन्तर गतिसहित या विषमा-वस्थापन्न रहने पर। विकारनित्यत्वाद्—विकारों के ही नित्य बने रहने से। फिर। अप्रधानं स्याद्—नित्यभूत विकार की तुलना में अप्रधान हो जायेगी। इसलिये। उभ-यथा—स्थिति और गति दोनों प्रकार से अर्थात् कभी साम्यावस्थापन्न और कभी विषमावस्थापन्न होकर। अस्य—इसकी। प्रवृत्तिः—प्रवर्तन। प्रधानव्यवहारम्—प्रधानपदवाच्यता, 'प्रधान' नाम से कहा जाना। लभते—प्राप्त करता है। नान्यथा—अन्य प्रकार से नहीं। एकान्ततः 'स्थिति' या 'गति' को स्वीकार करने पर प्रकृति 'प्रधान' नहीं कही जा सकती। कारणान्तरेषु अपि—विभिन्न शास्त्रों में जगत् के परब्रह्म, ईश्वर की माया या परमाणु आदि कारणों के। कल्पितेषु—कल्पित किये जाने पर भी। एषः—यह। समानः—एक ही। चर्चः—बात होगी। आशय यह है कि यदि वे कारण, कारणरूप में ही स्थित रहें तो विकार नहीं उत्पन्न करेंगे—इसलिए अकारण ही रहेंगे। और यदि सदैव कार्यरूप में बने रहें तो कार्यों के नित्य होने के कारण अकारण ही कहे जायेंगे।

(६)—दर्शनशक्तिः एव—ज्ञान शक्ति ही **'पुरुषायात्मानं दर्शयितुं या क्षमता सा दर्शनशक्तिः'**।[3] अदर्शनम्—अदर्शन है। इति—यह। एके—एक लोग ऐसा मानते हैं। मन्यन्त इति शेषः। इस सम्बन्ध में भाष्यकार एक शाखालुप्त श्रुति[4]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २०८।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २२८।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २२९।

४. 'काललुप्तशाखास्थेयं श्रुतिः'—यो० वा० पृ० २२९।

उद्धृत करते हैं—प्रधानस्य—प्रकृति (बुद्धि) की। प्रवृत्तिः—सारी गतिविधि। आत्मनः ख्यापनार्थम्—अपने आप को प्रकट करने के लिये। अपने आप को पुरुष के प्रति प्रदर्शित करने के लिये प्रकृति की सारी कार्यवाही होती है। सर्वबोध्य-बोध-समर्थः—सभी ज्ञेयों को जानने में समर्थ 'ज्ञ' रूप। पुरुषः—पुरुष। प्रवृत्तेः प्राक्—प्रधान की प्रवृत्ति के पहले। न पश्यति—कुछ नहीं जानता है। सर्वकार्यकरणसमर्थम्—सब कुछ करने में समर्थ भी (प्रकृति)। दृश्यम्—पदार्थाकाराकारित बुद्धि। तदा—बुद्धि की प्रवृत्ति के पूर्व। न दृश्यते—नहीं देखी जाती। इस प्रकार दृश्यों के देखे जाने की स्थिति अर्थात् सृष्टि के पूर्व 'दृश्य' का अदर्शन ही रहता है। यह 'अदर्शन' प्रधानपुरुष के संयोग का पूर्ववर्ती हुआ और संयोग सृष्टि का पूर्ववर्ती हुआ। इस प्रकार यह 'अदर्शन' संयोग का कारणरूप हो सकता है। यह छठवें विकल्प की अभिसन्धि हुई।

(७) अदर्शनम्—यह अदर्शन। उभयस्यापि—प्रधान और पुरुष दोनों का ही। धर्मः—धर्म है, वैशिष्टच है। इति—यह। एके—केचित्, एक लोग मानते हैं। तत्र—उन दोनों में से। दृश्यस्य—दृश्य या बुद्धि का। स्वात्मभूतमपि—निजी रूप होने पर भी। पुरुषप्रत्ययापेक्षम्—चित्तिच्छायापत्तिसापेक्ष होने के कारण। दर्शनम्—पदार्थ-ज्ञान। इदम्—अदर्शन है। और। दृश्यधर्मत्वेन—दृश्यधर्म के रूप से। भवति—रहता है। इसलिये 'दर्शन' ही चितिच्छायापत्ति के बिना सम्भव न होने के कारण 'अदर्शन' के रूप का हुआ। यह दृश्य में रहने वाला एवं दृश्य का निजी धर्म सिद्ध होता है। तथा—वैसे ही। पुरुषस्य अनात्मभूतमपि—पुरुष का अपना निजी धर्म नहीं होने पर भी 'पुरुषस्य ज्ञरूपत्वात्'। केवल। दृश्यप्रत्ययापेक्षम्—दृश्य (बुद्धि) के ज्ञान की अपेक्षा रखने वाला (बौद्धज्ञान के रूप का)। अदर्शनम्—यह दृश्यज्ञान रूपी। अदर्शन ही। पुरुषधर्मत्वेन इव अवभासते—पुरुष के धर्म के रूप में भासित-सा होता है। यहाँ पर 'इव' शब्द यह प्रकट करता है कि वस्तुतः पुरुष तो सर्वधर्मापेत है। उसमें प्रतीत होने वाला यह दर्शनरूप 'अदर्शन' भासित-सा होने के कारण उसका भी धर्म कह दिया गया है। **'एतदुक्तं भवति—चैतन्यबिम्बोद्ग्राहितया बुद्धिचैतन्ययोरभेदाद् बुद्धिधर्माश्चैतन्यधर्मा इव चकासतीति'**।[1]

(८) आठवाँ और अन्तिम विकल्प यह है—दर्शनज्ञानमेव—शब्दादि विषयों का ज्ञान ही। अदर्शनम्—अदर्शन है। इति—ऐसा। केचिद्—कुछ लोग। अभिदधति—कहते हैं। **'केचिद्वदन्ति विवेकव्यतिरिक्तं यद्दर्शनज्ञानं शब्दादिरूपं तदेवादर्शनम्'**।[2] इति—ये। एते—इतने। शास्त्रगताः—सांख्यशास्त्रे प्रसिद्धाः, सांख्यशास्त्र

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३८।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० २३१।

में प्रचलित या प्रसिद्ध । विकल्पाः—विकल्प हैं । एतत्—यह । विकल्पबहुत्वम्—विकल्पानां बहुत्वम्, विकल्पों या पक्षों की अनेकता अर्थात् बहुत से विकल्प (चौथे को छोड़ कर शेष सात विकल्प) । सर्वपुरुषाणाम्—सभी पुरुषों के अर्थात् पुरुषों की समष्टि के । गुणानाम्—गुणत्रय के साथ । संयोगे—संयोग में । साधारणविषयम्—साधारणः विषयः यस्य (विकल्पबहुत्वस्य) तादृशम् अस्तीति शेषः, अर्थात् सभी पुरुषों के गुणत्रयसंयोग की कारणभूत 'समष्टिरूपा अविद्या' का लक्षण प्रस्तुत करते हैं । किसी एक पुरुष का जो उसकी बुद्धि के साथ संयोग होता है, उसकी कारणभूता 'व्यष्टि-रूपा अविद्या' का लक्षण नहीं करते । वह लक्षण तो केवल चौथे विकल्प में ही प्रस्तुत होता है । इसलिये इस प्रकार के अदर्शन के लक्षण के सम्बन्ध में चतुर्थ विकल्प ही सांख्ययोग का सच्चा सिद्धान्त है । **'एवञ्च प्रातिस्विकपुमर्थवैलक्षण्यानुगुण्येन तुर्यस्यैवोपयोगितौचित्यमावहतीति तदन्ये सप्तापि पक्षा नोपादेया इति संक्षेपः'**[1] ॥ २३ ॥

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः—

और जो एक जीव का अपनी बुद्धि के साथ संयोग होता है—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

उसका कारण अविद्या है ॥ २४ ॥

विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति । साधिकारा पुनरावर्त्तते । सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठां प्राप्नोति । चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते । अत्र कश्चित् षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति—

'मुग्धया भार्ययाभिधीयते षण्डकः—आर्यपुत्र ! अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति ?' स तामाह—'मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामी'ति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा ? तत्राचार्यदेशीयो वक्ति—'ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः । अदर्शनकारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः । तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्त्तते । तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः । किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

अर्थात् मिथ्याज्ञान की वासना है । इस मिथ्याज्ञान की वासना से भरी हुई बुद्धि विवेकख्याति रूपी कार्य-समाप्ति को नहीं प्राप्त करती । कार्य करने की सामर्थ्य वाली वह बुद्धि फिर-फिर अभिव्यक्त होती रहती है । किन्तु विवेकख्याति में पर्यवसित हो चुकने वाली वह बुद्धि कार्य-समाप्ति को प्राप्त कर लेती है । पूरे हुए कार्यों वाली तथा अज्ञान को दूर कर चुकने वाली वह, संयोग के कारण नष्ट हो जाने से फिर से अभि-

---

१. द्रष्टव्य; टि० पृ० २३२ ।

व्यक्त नहीं होती। इस प्रसङ्ग में कोई नास्तिक नपुंसक की कथा के माध्यम से आक्षेप करता है कि—

कोई भोली-भाली पत्नी अपने नपुंसक पति से कहती है—'हे आर्यपुत्र ! मेरी बहन पुत्रवती हो चली है, मैं क्यों नहीं हुई ?' वह उससे कहता है—'मैं मरने के बाद तुम्हारे लिये पुत्र उत्पन्न करूँगा।' उसी प्रकार यह विवेकख्यातिरूपी ज्ञान भी विद्यमान रहता हुआ चित्त की निवृत्ति नहीं करता और स्वयं नष्ट हो जाने पर चित्त-निवृत्ति कर ही देगा—इसकी क्या आशा है ? इस सम्बन्ध में सांख्ययोग का छोटा-मोटा आचार्य भी उत्तर दे सकता है कि बुद्धि की निवृत्ति ही तो मोक्ष है। अविद्या रूपी कारण के न रह जाने से बुद्धि की निवृत्ति होती है। बन्धन अर्थात् संयोग की कारणभूता अविद्या विवेकख्याति से ही निवृत्त होती है (अर्थात् विवेकख्याति से अविद्या की निवृत्ति और अविद्या की निवृत्ति से बुद्धि या चित्त की निवृत्ति हो जाती है।) यहाँ पर बुद्धि की निवृत्ति ही तो मोक्ष मानी गयी है। (इस प्रकार विवेकख्याति रूपी ज्ञान अपने आप को (अर्थात् बुद्धि को) नष्ट करके मोक्ष का सम्पादन करता है।) इसलिये बिना अवसर के ही इस नास्तिक को भ्रम होता है ॥ २४ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—प्रत्यक्चेतनस्य तु—जीव का या बद्ध पुरुष का तो। यः—जो। स्वबुद्धिसंयोगः—अपनी बुद्धि के साथ संयोग है। यह 'तु' शब्द सामान्य पुरुषदृश्यसंयोगविषयक सातों विकल्पों का व्यावर्तन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है।

(सू० सि०)—तस्य—उस (व्यष्टिरूप) संयोग का। हेतुः—कारण है। अविद्या—अविद्या (संस्काररूपेण वर्तमान अविद्या) है। यह अविद्या वासनारूप में या संस्काररूप में प्रवहमाण स्वीकार की गयी है और अनादि मानी गयी है। **'सर्गान्तरीयाया अविद्यायाः स्वचित्तेन सह निरुद्धाया अपि प्रधानेऽस्ति वासना, तद्वासनावासितञ्च प्रधानं तत्तत्पुरुषसंयोगिनीं तादृशीमेव बुद्धिं सृजति एवं पूर्वपूर्वसर्गेष्वित्यनादित्वाददोषः'**[1] ॥ २४ ॥

(भा० सि०)—'अविद्या'—का तात्पर्य समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि। विपर्ययज्ञानवासनावासिता बुद्धिः—मिथ्याज्ञान के संस्कारों से युक्त बुद्धि। कार्यनिष्ठाम्—अपने कार्य की परिसमाप्ति को। अर्थात्। पुरुषख्यातिम्—पुरुषसाक्षात्कार को, विवेकख्याति के समय होने वाले पुरुषस्वरूप के साक्षात्कार को। न प्राप्नोति—नहीं प्राप्त करती। क्योंकि बुद्धि में मिथ्याज्ञान के संस्कार जोरदार बने रहते हैं। उन संस्कारों की बदौलत पुरुष का यथार्थज्ञान असम्भव रहता है। अतः। साधिकारा—अवशिष्टकर्तव्या, अकृतकृत्या सती, अधूरे पड़े काम वाली वह बुद्धि। पुनः—बार-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३३।

बार । आवर्तते—संसार में लौटती है । तात्पर्य यह है कि उस पुरुष के साथ संयोग-लाभ करती रहती है । इसलिये अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान की वासना ही संयोग का कारण कही गयी है । सा तु—किन्तु जब वह । पुरुषख्यातिपर्यवसाना—विवेकख्याति अर्थात् पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार कर चुकती है अर्थात् पुरुष के साक्षात्कार में पर्यव-सित हो जाती है । तदा कार्यनिष्ठां प्राप्नोति—काम की परिसमाप्ति कर लेती है । चरिताधिकारा—चरितः आचरितः परिपूरितः अधिकारः यया सा, समाप्त हुए कार्यों वाली तथा । निवृत्तादर्शना—निवृत्तं दूरीभूतम् अदर्शनं यस्याः सा, दूर हुए अदर्शन वाली होकर । बन्धकारणस्य अभावात्—बन्धः द्रष्टृदृश्यसंयोगः तस्य कारणम् अदर्श-नम्, तस्य अभावात् रहितत्वात्, बन्ध के कारणभूत अदर्शन के दूर हो जाने के कारण । न पुनः आवर्तते—(वह बुद्धि) फिर वापस नहीं होती अर्थात् फिर पुरुष के साथ संयोग नहीं प्राप्त करती । यही बन्धन का कटना है । यही मोक्ष या अपवर्ग है । **'यथाग्निः स्वाश्रयं दग्ध्वा स्वयमेव नश्यति तथा दर्शनमदर्शनं विनाश्य स्वयमेव निवर्तते'** ।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धि के दो काम थे—'भोग' और 'मोक्ष' । इन दोनों में से पुरुषख्याति होने के पूर्व तक केवल 'भोग' का सम्पादन होता है । और बुद्धि का काम अधूरा ही रह जाता है । जब पुरुषख्याति हो गयी, तब 'अपवर्ग' नामक दूसरा पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जाने के कारण बुद्धि कृतकृत्य हो जाती है और तब अदर्शननिवृत्ति हो जाने से पुरुष का संयोग भी निवृत्त हो जाता है । यही पुरुष का 'मोक्ष' कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि मोक्ष की सिद्धि बुद्धि और पुरुष के संयोग की निवृत्ति होने पर स्वतः हो जाती है । इस प्रसङ्ग में किसी नास्तिक को यह स्वाभाविक उपहास सूझता है कि मोक्ष नामक प्रयोजन के लिये तो बुद्धि का संयोग पुरुष से हुआ, किन्तु संयोग रहते बुद्धि यह काम पूरा नहीं कर सकी; प्रत्युत संयोग दूर होने पर ही कर पायी । जिस प्रयोजन से संयोग हुआ, वह प्रयोजन संयोग से पूरा नहीं हो पाया तो फिर 'संयोग' व्यर्थ ही हुआ । इस अनुपपत्ति को एक उपाख्यान के द्वारा पूर्वपक्षी उद्घाटित करता है कि—

अत्र—इस विषय में । कश्चित्—कोई पूर्वपक्षी या नास्तिक । षण्डकोपाख्या-नेन—'षण्डक' का अर्थ है नपुंसक । नपुंसक व्यक्ति के कथानक के माध्यम से । उद्घाटयति—आक्षिपति, आक्षेप करता है । मुग्धया भार्यया—नासमझ या भोली-भाली पत्नी के द्वारा । षण्डकः—नपुंसकपुरुष को । अभिधीयते—कहा जा रहा है कि । आर्य-पुत्र—हे स्वामिन् ! मे—मेरी । भगिनी—बहन । अपत्यवती—पुत्रादि से सम्पन्न हो गयी है । किमर्थम्—आखिर क्यों ? नाहम् इति—मैं नहीं (पुत्रवती) हुई । सः—वह नपुंसक । ताम्—उस (अनजान पत्नी) से । आह—कहता है कि । मृतोऽहम्—

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २३४ ।

मर कर मैं। ते—तुम्हारे। अपत्यम्—पुत्रादि सन्तान को। उत्पादयिष्यामि इति—पैदा करूँगा। तथा—उसी (नपुंसकपुरुष की) तरह। इदं विद्यमानं ज्ञानम्—यह वर्तमान बुद्धि **'गुणपुरुषान्यताख्याति[1] ज्ञानम्'**। चित्तनिवृत्तिम्—बुद्धिसंयोग का दूरीकरण। न—नहीं। करोति—करती। विनष्टम्—(सत्) नष्ट होकर। आशय यह है कि परवैराग्य के द्वारा निरुद्ध हुआ यह ज्ञान चित्तनिवृत्ति। करिष्यतीति—करेगा ही इसका। प्रत्याशा—क्या विश्वास ? इस संदेह का निराकरण एक अप्रतिष्ठित आचार्य के मुख से ही करवाकर, संदेह की निर्मूलता सिद्ध करते हैं। तत्र—उस विषय में। आचार्यदेशीयः—ईषद् असमाप्त अर्थात् आचार्य पद को अभी प्राप्त न कर चुका हुआ सामान्य सिद्धान्ती। (आचार्य + देशीयर् प्रत्ययः) ईषदपरिसमाप्तः आचार्यः। **'उपेक्षणीये प्रत्युत्तरदानमात्रेणाचार्यदेशीयत्वम्'**।[2] आचार्य का लक्षण वायुपुराण में दिया गया है—

'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥'[3]

वक्ति—कहता है कि। ननु—अरे। बुद्धिनिवृत्तिरेव—चित्त की निवृत्ति ही तो मोक्ष है। अदर्शनकारणाभावाद्—अदर्शन या अविद्यारूपी बन्धकारण का अभाव हो जाने से ही। बुद्धिनिवृत्तिः—बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। तच्चादर्शनं बन्धकारणम्—और बन्धन का कारणभूत वह अदर्शन। दर्शनात्—दर्शन अर्थात् विवेकख्याति से ही। निवर्तते—निवृत्त या दूर होता है। तत्र—इस शास्त्र के अनुसार। चित्तनिवृत्तिरेव—चित्त या बुद्धि की निवृत्ति ही। मोक्षः—मोक्ष है। इस प्रकार वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है; प्रत्युत ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है और अविद्या की निवृत्ति से चित्त का संयोग निवृत्त हो जाता है। मोक्ष इस चित्तवृत्ति से उत्पन्न नहीं होता; प्रत्युत चित्तसंयोग की निवृत्ति ही स्वयं 'मोक्ष' है। इसलिये बुद्धि नष्ट होकर इसे उत्पन्न कैसे करेगी ? ऐसी कोई समस्या उपस्थित ही नहीं होती है। बुद्धि की निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष है। वह अदर्शनाभाव होते ही हो जाता है। इसलिये यहाँ पर नष्ट होकर कार्य करने की स्थिति ही नहीं है कि उसकी खिल्ली उड़ायी जा सके। अतः सिद्धान्ती इस पूर्वपक्षी को अब आड़े हाथों ले रहा है कि। अस्य—नास्तिकस्य, इस पूर्वपक्षी की। अस्थाने एव—अकाण्डे एव, अनवसर में ही। कथम्—आखिर क्यों ? मतिविभ्रमः—बुद्धि भ्रान्त हो रही है, भ्रम में पड़ रही है। यहाँ तो कोई भ्रम की स्थिति ही नहीं थी। क्योंकि

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३४।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २३४।
३. द्रष्टव्य; वायुपुराण ५९।३०।

संयोगाभाव और मोक्ष में कार्यकारणभाव तो बन ही नहीं पाता। यदि बुद्धि का अलगाव पूर्ववर्ती होता और मोक्ष परवर्ती होता; तब तो दोनों में कार्यकारणभाव होता और तब यह प्रश्न किसी प्रकार सङ्गत हो सकता था कि बुद्धि विनष्ट हो जाने के बाद कैसे पुरुष के मोक्षरूपी कार्य का सम्पादन कर पाती है ? जब बुद्धिनाश का ही दूसरा नाम 'मोक्ष' है, तब फिर बुद्धि द्वारा उसके सम्पादित होने की कौन-सी अनुपपत्ति उपस्थित होती है ? बुद्धि, प्रवर्तन के प्रकार से भोग सिद्ध करती है और निवर्तन के प्रकार से पुरुष का मोक्ष। उसका निवर्तन ही तो 'मोक्ष' है, इसलिये नास्तिक के सन्देह के लिये यहाँ कोई गुञ्जायश ही नहीं है। **'एतदुक्तं भवति—ज्ञानं न साक्षान्मोक्षहेतुरस्माभिरिष्यते किन्त्वविद्याख्यादर्शननिवृत्तितत्कार्यनिरोधयोगद्वारा, तथा च विनष्टमपि ज्ञानं बुद्धि पुरुषवियोगरूपमोक्षव्यापारद्वारा कारणं सम्भवत्येवेति'**[1] ॥ २४ ॥

हेयं दुःखम्। हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम्।

(अनागत) दुःख नामक 'हेय' तथा संयोग नामक 'हेयहेतु' कारणसहित बता दिये गये। इसके बाद हान (हेय का नाश) कहा जाना चाहिए।

तदभावात् संयोगाभावो हानं, तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

उस (अविद्या) के मिट जाने से संयोग का नाश हो जाना 'हान' है और वही पुरुष का 'कैवल्य' है ॥ २५ ॥

तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद्धानम्। तद् दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानम्। तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

उस अविद्या के नाश से बुद्धि और पुरुष के संयोग का नाश होता है अर्थात् (सांसारिक) बन्धन की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। यही 'हान' है। वह दृक्-शक्ति (पुरुष) का 'कैवल्य' है अर्थात् पुरुष का (बुद्धि से बिल्कुल) अलगाव है या गुणों के साथ फिर से संयोग न होना है। दुःख के कारण (अर्थात् संयोग) की निवृत्ति हो जाने पर दुःख की निवृत्ति हो जाना हान (अर्थात् मोक्ष) है। उस समय पुरुष अपने रूप में प्रतिष्ठित होता है—यह कहा गया है ॥ २५ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—हेयं दुःखम्—दुःखरूपी हेय। संयोगाख्यश्च हेयकारणम्—(द्रष्टृदृश्य के) संयोगरूपी हेयहेतु। सनिमित्तम्—निमित्तसहित अर्थात् अपने कारण-

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २३५।

भूत 'अदर्शन' सहित । उक्तम्—सूत्र और भाष्य में कहा जा चुका । अतः परम्—इसके अनन्तर । हानम्—इस हेयभूत दुःख का हान या नाश, √ओहाक्+ल्युट् (भावे) । वक्तव्यम्—कहा जाना चाहिए । **'तदेवं व्यूहद्वयं हेयहेयहेतुरूपं व्याख्याय तृतीयव्यूहस्य सूत्रमवतारयति'** ।[1]

(सू० सि०)—तदभावात्—तस्य अदर्शनस्य अभावः निवृत्तिः तस्मात्, उस अदर्शन के निवृत्त हो जाने से । संयोगाभावः—द्रष्टृदृश्यसंयोगस्य अभावः, निवृत्तिः, बुद्धि और पुरुष के संयोग का न रह जाना ही । हानम्—दुःखनाश (तृतीय व्यूह) है । तद्—वह दुःखनाश ही । दृशेः—पुरुष का । कैवल्यम्—मोक्ष है । **'तदेव च हानं पुरुषस्य कैवल्यमित्यप्युच्यते इत्यर्थः'**[2] ॥ २५ ॥

(भा० सि०)—तस्य अदर्शनस्य—उस अविद्या का । अभावाद्—विनाश हो जाने से, निवृत्ति हो जाने से । बुद्धिपुरुषसंयोगाभावः—बुद्धिश्च (दृश्यम्) पुरुषश्च तयोः संयोगः (सन्निधिः योग्यतालक्षणः) तस्य अभावः राहित्यं, निवृत्तिः, बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव हो जाता है । इसी पद का स्पष्टीकरण भाष्यकार आगे भी कर रहे हैं । आत्यन्तिकः—सर्वदा के लिये । बन्धनोपरमः—बन्धनस्य उपरमः विरामः निराकरणम्, बन्धन की शाश्वतिक निवृत्ति हो जाती है । इस 'आत्यन्तिक' शब्द से भाष्यकार ने इस बात को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है कि प्रलयकालिकसंयोगानभिव्यक्ति को कैवल्य नहीं समझ लेना चाहिए । **'महाप्रलयेऽपि संयोगाभावोऽत उक्तमात्यन्तिक इति'** ।[3] एतत्—यही । हानम्—दुःखनाश, दुःख से छुटकारा है । तद्—वह । दृशेः—पुरुषस्य, पुरुष का । कैवल्यम्—मोक्ष । पुरुषस्य अमिश्रीभावः—बुद्धिगुणैः सह असंयोगः, बुद्धि से सर्वथा अलग रहना, सन्निधिमात्र का भी न होना ही कैवल्य है । उसे और अधिक विवेचित करते हुए भाष्यकार कहते हैं—पुनः—फिर कभी भी । गुणैः—बुद्धिरूप गुणों से । असंयोगः—संयोग का न होना ही 'कैवल्य' है । दुःखकारणनिवृत्तौ—दुःख के कारण (अर्थात् संयोग) की निवृत्ति हो जाने पर । दुःखस्य उपरमः—दुःख-निवृत्ति हो जाना ही । हानम्—हान या मोक्ष है । तदा—तब । स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुषः—स्वरूपे एव प्रतिष्ठा स्थितिः बुद्धिप्रतिबिम्बसम्पर्केणापि शून्या स्थितिः यस्यासौ स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुषः, वह पुरुष केवल अपने रूप में ही प्रतिष्ठित रहता है । इति—यह । उक्तम्—कहा गया है ॥ २५ ॥

अथ हानस्य कः प्राप्त्युपायः ? इति—

अब (इस हेय के) हान की प्राप्ति का क्या उपाय है ? इस विषय में (बताया जा रहा है)—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २३५ ।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २३५ ।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० १२६ ।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

(अबाधित) मिथ्याज्ञानशून्य विवेकख्याति (ही) हान का उपाय है ॥ २६ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते, तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः। ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः। पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

सत्त्वात्मक बुद्धि और पुरुष की भिन्नता का बोध 'विवेकख्याति' है। वह मिथ्याज्ञान से पूर्णतया रहित न होने पर खण्डित हो जाती है। जब मिथ्याज्ञान जले हुए (संस्काररूप) बीजों वाला होकर (व्युत्थानज्ञानरूपी) अङ्कुर उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है, तब क्लेशरूपी रजःकणरहित तथा उत्कृष्ट वैशारद्य और परवशीकारसंज्ञा में स्थित (सत्त्वप्रधाना) बुद्धि के विवेकज्ञान की धारा निर्मल बनी रहती है। वह मिथ्याज्ञानरहित विवेकख्याति (ही) मोक्ष का उपाय होती है। इसलिये मिथ्याज्ञान का दग्धबीजभाव हो जाना अर्थात् फिर से (व्युत्थानज्ञानरूपी) अङ्कुर उत्पन्न न करना ही मोक्ष का मार्ग अर्थात् हान का उपाय है ॥ २६ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—अथ—अब हान (नामक तृतीय व्यूह) का भी निरूपण कर चुकने के अनन्तर। हानस्य—हान की। प्राप्तेरुपायः इति प्राप्त्युपायः—उपलब्धि या सिद्धि का उपाय। कः—कौन-सा है? इति—इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये यह सूत्र है।

(सू० सि०)—अविप्लवा—'विप्लव' का अर्थ है गड़बड़ी। विशेषेण प्लवः विप्लवः, उलट-पुलट। अविद्यमानः विप्लवः यस्यां सा तथोक्ता निर्विप्लवा विवेकख्याति में उलट-पुलट या गड़बड़ी कौन हो सकती है? चूंकि विवेकख्याति पुरुष और प्रकृति का ठीक-ठीक अलग-अलग ज्ञान कराती है, इसलिये मिथ्याज्ञान को ही विवेकख्याति का विप्लव या गड़बड़ी कहा जा सकता है। अतः 'अविप्लवा' शब्द का आशय यह हुआ कि जब विवेकख्याति में मिथ्याज्ञान की लेशमात्र भी सम्भावना न रह जाये, उस प्रकार का। विवेकख्यातिः—प्रकृति और पुरुष का यथार्थ भेदज्ञान ही। हानोपायः—मोक्ष (हान) का उपाय है। 'विवेकख्याति' पद में आये हुए 'ख्याति' पद से ज्ञान या जानकारी का अभिप्राय निकलता है। किन्तु शास्त्रादि के द्वारा जो पुरुष-प्रकृति का भेदज्ञान होता है, वह तो परोक्ष ही होता है। उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान

की सम्भावना से रहित नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यहाँ 'अविप्लवा' पद रखा गया है। इसी प्रकार यदि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात की दशा में विवेकख्याति भासित भी होने लगे तो उसे 'निर्विप्लवाविवेकख्याति' नहीं समझ बैठना चाहिए, वैसी विवेकख्याति हानोपाय भी नहीं है। मिथ्याज्ञानसम्पर्क के कारण उस विवेकख्याति की कैवल्यसाधनता समाप्त हो जाती है। **'विप्लवो मिथ्याज्ञानं तद्रहिता विवेकख्यातिः'।**[1] **'साक्षात्कारनिष्ठारूपत्वलाभायाविप्लवेति विशेषणम्**[2] ॥ २६ ॥

(**भा० सि०**)–सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः विवेकख्यातिः—यद्यपि बुद्धि त्रिगुणात्मक है, तथापि उसमें सत्त्वगुण की अधिकता या प्रधानता की दृष्टि से (जड़ होने पर भी वह ज्ञेयाकाराकारित होने की क्षमता रखती है। इस सत्त्वप्राधान्य के ही कारण) बुद्धि को 'बुद्धिसत्त्वम्' या 'सत्त्वम्' इस शास्त्र में अनेक बार कहा गया। बुद्धि और पुरुष के भिन्नत्व या विविक्तरूपत्व का बोध ही 'विवेकख्याति' है। वि + √विच् + घञ् = विवेकः, तस्य ख्यातिः प्रत्ययः बोधः, साक्षात्कारः, विवेक का साक्षात्कार ही 'विवेकख्याति' है। 'विवेकख्याति' ही सांख्ययोग में सर्वोत्कृष्ट तत्त्वज्ञान है, क्योंकि इसी में बुद्धि के सम्पूर्ण रूपों तथा पुरुष के शुद्ध पारमार्थिक स्वरूप का सम्यग्ज्ञान होता है। हम बुद्धि के सम्पूर्ण रूपों के अन्तर्गत उसकी अनभिव्यक्तावस्था अर्थात् मूलप्रकृति तथा उसकी कार्यावस्थाओं में समस्त विकारभूत तत्त्वों अर्थात् अहङ्कारादि का भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार 'व्यक्ताव्यक्तविज्ञान' रूप यह 'विवेकख्याति' 'सम्प्रज्ञातसमाधि की शिरोमणि है, ज्ञान की पराकाष्ठा है और कैवल्य का एकमात्र अमोघ उपाय है। सा तु—किन्तु वह विवेकख्याति। अनिवृत्तमिथ्याज्ञाना—न निवृत्तं मिथ्याज्ञानम्, भ्रान्तज्ञानम् अविद्यासंस्कारजातं यस्याः सा, मिथ्याज्ञान के संस्कारों से अशून्य विवेकख्याति। प्लवते—प्लुत अर्थात् भ्रष्ट या खण्डित हो जाती है। **'मिथ्याज्ञानसंस्कारवशात् मिथ्याज्ञानेनान्तराऽभिभूयत इत्यर्थः'**[3]।

यदा—और जब। मिथ्याज्ञानम्—व्युत्थानकालिक भ्रान्तज्ञान, विपर्ययज्ञान। दग्धबीजभावम्—दग्धं बीजं यस्येति दग्धबीजम्, तस्य भावः तथोक्तम्, अर्थात् जले हुए बीजों वाले पदार्थ की स्थिति को। वन्ध्यप्रसवम्—वन्ध्यः प्रसवः यस्य तादृशम्, कार्यसामर्थ्यशून्य या पुनरुद्भवसामर्थ्यहीन। सम्पद्यते—हो जाता है। तदा—तब, उस दशा में। विधूतं क्लेशरूपं रजः यस्य तस्य विधूतक्लेशरजसः—अविद्यादिक्लेश-रूपी धूलि से रहित। सत्त्वस्य—बुद्धि के। परे वैशारद्ये—उत्कृष्ट नैर्मल्य में। और पर-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३७।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २३७।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २३७।

स्यां वशीकारसंज्ञायाम्—उत्कृष्ट 'वशीकारसंज्ञा' नामक वैराग्य की अवस्था में। वर्तमानस्य—विद्यमानस्य, प्रतिष्ठित उस चित्त की **'तथा च परवशीकारसंज्ञायां वशीकारवैराग्यस्य परावस्थायामित्यर्थः'**।[1] विवेकप्रत्ययप्रवाहः—विवेकख्याति की धारा। निर्मलो भवति—सर्वथा शुद्ध हो जाती है। सा विवेकख्यातिः—वह विवेकख्याति। अविप्लवा—मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याज्ञान के संस्कारों से सर्वथा रहित होती है। ऐसी निर्दोष और निर्मल विवेकख्याति। हानस्योपायः—कैवल्य का (एकमात्र) साधन है। ततः—तस्याः विवेकख्यातेर्हेतोः, उस विवेकख्याति से। इसलिये। मिथ्याज्ञानस्य—मिथ्याज्ञान का। दग्धबीजभावोपगमः—जले हुए बीजवाला हो जाना। अर्थात्। पुनश्च अप्रसवः—फिर से अङ्कुरित न होना। इति—इस प्रकार से। एषः—यह 'अविप्लवा विवेकख्याति' रूपी। मोक्षस्य मार्गः—कैवल्यपथ है। अर्थात्। हानस्य उपायः—हान का उपाय है। इति—समाप्तिसूचक पद है। **'एतदुक्तं भवति–श्रुतिमयेन ज्ञानेन विवेकं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्य दीर्घकालनैरन्तर्यासेवितायाः भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समाधिजा साक्षात्कारवती विवेकख्यातिर्निर्वर्तितसवासनमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति'**[2] ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस (विवेकख्यातियुक्त योगी) की उत्कृष्ट स्तर वाली प्रज्ञा सात प्रकार की होती है ॥ २७ ॥

तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः। सप्तधेत्यशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति। तद्यथा –(१) परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति। (२) क्षीणाः हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। (३) साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्। (४) भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति। एषा चतुष्टयी कार्यविमुक्तिः प्रज्ञायाः। चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी। (५) चरिताधिकारा बुद्धिः। (६) गुणा गिरिशिखर[3]कूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति। न चैषां [4]प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति। (७) एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुषः कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २३७।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३७।

३. 'तट'—इति पाठान्तरम्।

४. 'विप्रलीनानाम्'—इति पाठान्तरम्।

'तस्य' पद से विवेकख्याति सम्पन्न योगी का ही परामर्श हो रहा है। 'सप्तधा' इत्यादि सूत्रांश से निर्देश किया जा रहा है कि विवेकी की (रजोगुण और तमोगुण रूपी) अशुद्धि के आवरणरूपी दोष के दूर हो जाने से चित्त में फिर किसी अन्य (व्युत्थानात्मक) ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर सात प्रकार की ही बुद्धि रहती है। जैसे—(१) हेय (अर्थात् दुःख) ठीक से जान लिया गया है। इसमें फिर कुछ जानने योग्य नहीं है। (२) हेय के हेतु क्षीण हो गये हैं। अब इनमें क्षीण करने योग्य कुछ नहीं है। (३) निरोधसमाधि के द्वारा हान का साक्षात्कार कर लिया गया है। (४) विवेकख्यातिरूपी हान का उपाय सिद्ध हो गया है। ये चार बुद्धि की कार्यविमुक्ति हैं। चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की होती है। (५) बुद्धि कृतकृत्य हो गयी है। (६) पर्वतशिखर के अग्रभाग से गिरे हुए निराधार पत्थरों की भाँति गुण अपने मूलकारण में लयोन्मुख होकर उस (चित्त) के साथ अस्त हो जाते हैं। (कारणभूत प्रकृति में) प्रविलीन हुए इन गुणों का प्रयोजन (अवशिष्ट) न होने से फिर से आविर्भाव नहीं होता। (७) इस अवस्था में त्रिगुणों के सम्पर्क से परे शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप निर्मल मुक्त पुरुष रह जाता है। इन सात प्रकार की उच्चस्तरीय बुद्धि को देखने वाला पुरुष कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है। और (वह) चित्त के पूर्णतः प्रविलीन हो जाने पर भी गुणों से परे होने के कारण (विदेह) मुक्त या कुशल ही होता है ॥ २७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तस्य—उस लब्धविवेकख्याति योगी की। यहाँ पर 'तस्य' पद से विवेकख्यातियुक्त योगी का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि भाष्य ने इसी अर्थ को स्वीकार किया है। यद्यपि प्रक्रान्त होने से 'तस्य' पद हानोपाय के लिये ही प्रयुक्त प्रतीत होता है। अर्थ दोनों प्रकार से ठीक ही निकलता है। यहाँ पर वाचस्पतिमिश्र और भास्वतीकार ने भाष्यानुसारी अर्थ का ही ग्रहण किया है। विज्ञानभिक्षु ने प्रकरण के आधार पर 'तस्य' पद से हानोपाय का ही परामर्श किया है। इस अर्थ में भी कोई दोष नहीं है। प्रान्तभूमिः—यह पद 'प्रज्ञा' का विशेषण है। प्रकृष्टः उत्कृष्टः अन्तः (कोटिः) यासां भूमीनाम् अवस्थानाम् ताः प्रान्ताः—अन्तिम कोटि वाली, उत्कृष्टतम स्तर वाली। प्रान्ताः भूमयः यस्याः (प्रज्ञायाः) सा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। अभिप्राय यह हुआ कि उत्कृष्टभूमिका या श्रेष्ठस्तर वाली प्रज्ञा। सप्तधा—सप्तप्रकारा, सप्तरूपैव भवति, केवल सात प्रकार की ही होती है (अन्य लौकिक जनों की बुद्धि की भाँति विविधरूपा नहीं होती)। **'निर्विप्लवविवेकख्यातिनिष्ठामापन्नस्य सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति'**[1] ॥ २७ ॥

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३७।

(भा० सि०)—तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः—सूत्रगत 'तस्य' पद से प्रत्युदितख्याति योगी, विवेकख्यातिनिष्ठ योगी का प्रत्याम्नाय अर्थात् परामर्श समझना चाहिए। **'प्रत्युदितख्यातेः वर्तमानविवेकख्यातेः योगिनः प्रत्याम्नायः परामर्शः'**।[1] और। सप्तधेति—'सप्तधा' पद से (बताया जा रहा है कि)। अशुद्ध्यावरण-मलापगमात्—अविद्यारूपिणी अशुद्धि ही 'आवरणमल' या बुद्धि को आवृत करने वाला दोष मानी गयी है। इसका अपगम अर्थात् दूरीकरण हो जाने से। चित्तस्य—चित्त में। प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति—अन्यः प्रत्ययः बोधः इति प्रत्ययान्तरं, तस्य अनुत्पादः अनुत्पत्तिः, अनुदयः तस्मिन् सति, अर्थात् अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का उदय न होने पर। सप्तप्रकारा एव—आगे कही जाने वाली सात प्रकार की ही। प्रज्ञाबुद्धि। विवेकिनो भवति—विवेकख्यातिनिष्ठ व्यक्ति की होती है। तद्यथा—वह जैसे। **'ता एव सप्तप्रकाराः प्रज्ञाभूमीरुदाहरति'**।[2]

(१) हेयम्—दुःखम्, संसारो वा दुःखबहुलः, दुःख या दुःखमय संसार। परि-ज्ञातम्—परितः ज्ञातमिति परिज्ञातम्, ठीक से जान लिया गया। **'यावत्किल प्राधा-निकं तत्सर्वं परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेवेति हेयं तत्परिज्ञातम्'**।[3] अस्य—इस योगी के लिए। फिर से। परिज्ञेयम्—ज्ञातव्यम्, जानने का विषय। न अस्ति—(अवशिष्ट) नहीं रहता। अन्य कुछ भी जानने को शेष नहीं बचता, जिससे कि बुद्धि को कोई कार्य करना पड़े। इसीलिये बुद्धि की 'प्रान्तता' कही गयी है।

(२) हेयहेतवः—हेय का हेतु अविद्या है 'तस्य हेतुरविद्या'। किन्तु बहुवचन के प्रयोग के कारण अविद्या से उद्भूत अन्य अस्मितादिक्लेशों, कर्मसंस्कारों आदि का भी ग्रहण हो जाता है। **'ततश्च हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयो विवेकसाक्षात्कारेण मम क्षीणाः इत्यादिरर्थः'**।[4] क्षीणाः—क्षीण हो चुके हैं। विवेकख्याति के द्वारा सारे अविद्यादिसंस्कार दग्धबीज हो जाते हैं। अतएव। एतेषाम्—इन अविद्यादिक हेयहेतुओं में से किसी का। क्षेतव्यम्—क्षीण किया जाना। पुनर्नास्ति—अब अव-शिष्ट नहीं है। यह स्थिति भी प्रज्ञा की प्रान्तता सिद्ध करती है।

(३) निरोधसमाधिना—असम्प्रज्ञातसमाधि से (तत्काल सिद्ध होने वाला)। हानम्—मोक्ष। साक्षात्कृतम्—इस सम्प्रज्ञात अवस्था में ही जान लिया गया या अनुभूत कर लिया गया है। **'प्रत्यक्षेण निश्चितं मया सम्प्रज्ञातावस्थायामेव निरोध-**

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३७।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३८।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३९।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २३८।

समाधिसाध्यं हानं, न पुनरस्मात्परं निश्चेतव्यमस्तीति शेषः' ।[१] **'अथवा निरोधसमाधिना निष्पाद्यं हानं मोक्षो हानगोचरसम्प्रज्ञातेन साक्षात्कृतमित्यर्थः ।'** (यो० वा०) ।

(४) विवेकख्यातिरूपः हानोपायः—विवेकख्याति रूपी मोक्षोपाय । भावितः—निष्पादितः, सिद्ध कर लिया गया । **'नास्याः परं भावनीयमस्ति इति शेषः'** (त० वै०) । इत्येषा चतुष्टयी कार्यविमुक्तिः—ये चारों प्रकार की प्रज्ञाएँ बुद्धि की कार्य-विषयक निवृत्ति अर्थात् कामों से छुटकारे को प्रकट करती हैं । **'कार्यान्तरेण (कार्य-विषयेण) विमुक्तिः प्रज्ञाया इत्यर्थः'** ।[२]

अब इस कार्यविमुक्ति के वर्णन के बाद भाष्यकार ने तीन चित्तविमुक्तियों का वर्णन किया है । इनमें चित्त की कार्यों से विमुक्ति का प्रकटीकरण न होकर चित्त की स्वरूपतः विमुक्ति की प्रकाशिका प्रज्ञा के प्रकारों का वर्णन है—(१) चरिताधिकारा बुद्धिः—बुद्धि कृतकृत्य हो चुकी है—इस प्रकार की प्रज्ञा चित्तविमुक्तिरूपिणी हुई । **'चित्तात् प्रत्ययसंस्काररूपाद् विमुक्तिः आभिः प्रज्ञाभिश्चित्तस्य प्रतिप्रसव इत्यर्थः, एता अप्रयत्नसाध्याः कार्यविमुक्तिसिद्धौ स्वयमेवोत्पद्यन्ते'** ।[३] (२) गुणाः—सत्त्वादि तीनों गुण । गिरिशिखरकूटच्युता ग्रावाण इव—पर्वतशृङ्गों से गिरे हुए पत्थरों की भाँति । निरवस्थानाः (सन्तः)—निराधारतया स्खलन्तः, निराधार होकर लड़खड़ाते हुए । स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः—अपने मूलकारण 'अव्यक्त' तत्त्व में प्रविलीन होने के लिये अग्रसर होते हुए । तेन—चित्तेन । सह—साथ । अस्तं गच्छन्ति—(अव्यक्त-तत्त्व में) लीन हो जाते हैं । प्रविलीनानां च एषाम्—लीन हुए इन गुणों का । पुनः—फिर से । उत्पादः—आविर्भाव । न—नहीं होता । प्रयोजनाभावाद्—उस पुरुष के पुरुषार्थ या भोगापवर्गरूपी प्रयोजन का अभाव होने के कारण । इति—यह दूसरे प्रकार की चित्तविमुक्ति वाली प्रज्ञा है । (३) एतस्यामवस्थायाम्—इस दशा में । पुरुषः—वह पुरुष । गुणसम्बन्धातीतः—गुणों के सम्बन्ध, अर्थात् संयोग से अलग होकर । स्वरूपमात्रज्योतिः—आत्मस्वरूप से प्रकाशित अर्थात् बुद्धिकृत संवेदन के प्रतिसंवेदन से सर्वथा रहित । अमलः—निर्मल । केवली—गुणसंयोग से रहित । अमूर्त होने के कारण पुरुष की अन्य पुरुषों से संयोग की कोई सम्भावना नहीं रहती, इस-लिये लब्धकैवल्य या एकाकी । भवति—हो जाता है ।

इति—इन । सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञाम्—सातों प्रकार की उत्कृष्ट भूमियों वाली प्रज्ञाओं को । अनुपश्यन्—देखता हुआ । पुरुषः—वह जीव । कुशलः इति आख्यायते—मुक्त (जीवन्मुक्त) कहा जाता है । प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य—चित्त के

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३९ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३९ ।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० २३९ ।

प्रकृति में लीन हो जाने पर भी। मुक्तः—मुक्त। और। कुशलः—कुशल। इत्येव—ही। भवति—होता है। गुणातीतत्वाद् इति—गुणों के सम्पर्क से सर्वथा रहित होने के कारण। अर्थात् जैसी जीवन्मुक्ति होती है, वैसी ही विदेहमुक्ति भी है। दोनों का महत्त्व बराबर समझना चाहिए। इनमें गौणता और मुख्यता का भेद करना ठीक नहीं है ॥ २७ ॥

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति। न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते—

विवेकख्याति रूपी हानोपाय सिद्ध होता है। किन्तु बिना साधन के सिद्धि नहीं होती, इसलिये (विवेकख्यातिरूपी सिद्धि के साधनों को बताने वाला) यह सूत्र आरम्भ किया जा रहा है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

(अगले सूत्र में बताये जाने वाले) योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से, अशुद्धि का क्षय हो जाने पर विवेकख्याति के उदय तक ज्ञान का प्रकाश होता जाता है।२८।

योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते अशुद्धिः तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः, आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः। योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम्। यथा परशुश्छेद्यस्य। विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम्। कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति? नवैवेत्याह। तद्यथा—

> **'उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।**
> **वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्' ॥ इति ॥**

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य। स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति। अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्। विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य। प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणं यथा—सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्। तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणाम्। तानि च परस्परं सर्वेषाम्। तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थ-

त्वादिति। एवं नव कारणानि। तानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति॥ २८॥

आगे कहे जाने वाले आठ 'योगाङ्ग' होते हैं। उनका अनुष्ठान करने से पाँच पर्वों वाली अविद्यारूपिणी अशुद्धि का क्षय अर्थात् नाश होता है। उसका नाश होने से यथार्थज्ञान का आविर्भाव होता है और जैसे-जैसे इन योगाङ्गरूपी साधनों का अनुष्ठान किया जाता है, वैसे-वैसे अविद्या (रूपिणी अशुद्धि) हल्की पड़ती जाती है। फिर जैसे-जैसे अविद्या क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे उसकी क्षीणता के क्रम का अनुसरण करने वाला ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है। (ज्ञान के प्रकाश की) वह बुद्धि विवेकख्याति तक उत्कृष्टतमता का अनुभव करती है। 'विवेकख्यातिपर्यन्त' का अर्थ है, सत्त्वादिगुण और पुरुष दोनों के स्वरूप के सम्यग्ज्ञानपर्यन्त।

योग के अङ्गों का अनुष्ठान (अर्थात् सम्यक् अभ्यास) अशुद्धि का वियोगकारण (अर्थात् दूर करने वाला कारण) है, जैसे—काटी जाने वाली वस्तु का (वियोग-कारण) कुल्हाड़ा होता है। किन्तु (वही योगाङ्गानुष्ठान) विवेकख्याति का प्राप्ति-कारण (अर्थात् प्राप्त कराने वाला कारण) है, जैसे—धर्म सुख का (प्राप्तिकारण) होता है। अन्य किसी प्रकार से यह (विवेकख्याति का) कारण नहीं है। शास्त्र में ये कारण कितने होते हैं ? कहते हैं कि नव प्रकार के ही। जैसे—

१. उत्पत्तिकारण, २. स्थितिकारण, ३. अभिव्यक्तिकारण, ४. विकारकारण, ५. ज्ञानकारण, ६. प्राप्तिकारण, ७. वियोगकारण, ८. अन्यत्वकारण और ९. धृतिकारण। ये नव प्रकार के कारण स्मृतियों में बताये गये हैं। उनमें से १. 'मन' ज्ञान का उत्पत्ति-कारण होता है। २. (भोगापवर्गरूप) 'पुरुषार्थ' मन का स्थितिकारण है। यथा—'भोजन' शरीर का (स्थितिकारण) है। ३. अभिव्यक्तिकारण, जैसे रूप का 'उजाला' और 'रूप का ज्ञान'। ४. मन का विकारकारण (ध्येयविषय से) 'भिन्न-विषय' या जैसे पकाये जाने वाले पदार्थ का विकारकारण 'अग्नि' है। ५. अग्नि के ज्ञान का ज्ञानकारण 'धूमज्ञान' है। ६. विवेकख्याति का प्राप्तिकारण 'योगाङ्गों का अनुष्ठान' है। ७. वही (योगाङ्गों का अनुष्ठान) अशुद्धि (अर्थात् अविद्या) का वियोगकारण है। ८. अन्यत्वकारण, जैसे सोने का 'सुनार'। इसी प्रकार एक स्त्रीज्ञान की मूढ-रूपता में 'अविद्या', दुःखरूपता में 'द्वेष', सुखरूपता में 'राग' और उदासीनरूपता में तत्त्वज्ञान (अन्यत्वकारण होते) हैं। ९. शरीर इन्द्रियों का धृतिकारण है और वे (इन्द्रियाँ) उस (शरीर) के (धृतिकारण) हैं। महाभूत भी शरीरों के (धृतिकारण) हैं। पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता भी एक-दूसरे के लिये (उपकारी) होने के कारण (परस्पर धृतिकारण हैं)। इस प्रकार नव कारण होते हैं। उन्हें यथासम्भव अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी घटित कर लेना चाहिए। योगाङ्गों का

अनुष्ठान तो दो ही प्रकार से (अर्थात् अशुद्धि के वियोगकारण के रूप में और विवेकख्याति के प्राप्तिकारण के रूप में) कारण बनता है ॥ २८ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—उक्त प्रकार के चारों व्यूहों को समझाकर भाष्यकार मोक्षोपाय की सिद्धि का प्रकार बताते हैं। हानोपायः—मोक्ष की उपायभूता (विवेक-ख्याति)। सिद्धा भवति—सिद्ध होती है। न च सिद्धिरन्तरेण साधनम्—साधन-मन्तरेण सिद्धिश्च न भवतीति शेषः—साधन के बिना किसी चीज की सिद्धि तो होती नहीं। इति—इसलिये। एतद्—विवेकख्याति के साधनों को बताने वाला यह सूत्र आरम्भ किया जाता है।

(सू० सि०)—योगाङ्गानाम्—आगे बताये जाने वाले योग के आठों अङ्गों के। अनुष्ठानाद्—करने से, सम्पादन करने से। अशुद्धिक्षये—अशुद्धेः, अविद्यादि पाँचों क्लेशों के क्षीण हो जाने पर। ज्ञानदीप्तिः—यथार्थज्ञान का प्रकाश होता है, सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। जैसे-जैसे योगाङ्गों का अनुष्ठान होता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है और उसी क्रम से सम्यग्ज्ञान की अभिव्यक्ति भी होती जाती है। यह सम्यग्ज्ञानाभिव्यक्ति तब तक बढ़ती जाती है या निखरती जाती है, जब तक कि विवेकख्याति की स्थिति अभिव्यक्त नहीं हो जाती। आविवेकख्यातेः—विवेकख्यातिमभिव्याप्येति आविवेकख्यातेः, अभिविधि के अर्थ में 'अव्ययीभाव' समास हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि विवेकख्याति ज्ञानदीप्ति की पराकाष्ठा है। विवेकख्याति सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से भिन्न कोई स्थिति नहीं है। 'ज्ञानदीप्तिः' पद महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि पदार्थों का ज्ञान श्रुतानुमानागम प्रमाणों से भी होता है, किन्तु उससे विवेकख्याति तक पहुँचना असम्भव है। वह शुद्धिहीन ज्ञान होता है। विवेकख्याति के अनुकूल ज्ञान योगाङ्गों के अनुष्ठान से ही प्राप्त होता है। वह ज्ञान शुद्ध एवं भास्वर और तेजोमय होता है, इसलिये उसे ज्ञान की 'दीप्ति' कहा गया है। 'दीप्' धातु चमकने या प्रकाशित होने के अर्थ में होती है। **'सामान्यतो ज्ञानं श्रवणमननाभ्यामपि भवतीति दीप्तिपदं, दीप्तिश्चात्राश्रुतामतविशेषग्रहणम्'**[1] ॥२८॥

(भा० सि०)—योगाङ्गानि—योग के अङ्ग। इसी पद का व्याख्यान अगले पद में है। अष्टौ—आठ। अभिधायिष्यमाणानि—कथयिष्यमाणानि, कहे जाने वाले। (अभि + √धा + यक् + लृट् के अर्थ में शानच् प्र० ब०) अग्रे वक्ष्यमाणानि। तेषाम्—उन योगाङ्गों के। अनुष्ठानात्—परिपालन या अभ्यास करने से। अशुद्धि-रूपस्य—अशुद्धि रूपी। पञ्चपर्वणो विपर्ययस्य—पाँचों भागों या खण्डों वाले मिथ्या-ज्ञान अर्थात् अविद्या का। क्षयः—नाशः, क्रमशः ह्रास होता जाता है। अविद्या के

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४१।

पाँचों पर्व पहले ही बताये गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। तत्क्षये—तस्याः अशुद्धेः क्षये नाशे जाते सति, उस अशुद्धि के क्षीण होने पर। सम्यग्ज्ञानस्य—यथार्थज्ञान या तत्त्वज्ञान का। अभिव्यक्तिः—प्रकटीकरणम्, प्रकाशन होता है। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते–और जैसे-जैसे साधनों अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान किया जाता है। तथा-तथा—वैसे-वैसे। तनुत्वमापद्यते अशुद्धिः—अशुद्धि या अविद्या क्षीणता को प्राप्त होती जाती है। यथा-यथा च—और जैसे-जैसे। (अशुद्धिः) क्षीयते—अशुद्धि क्षीण होती है। तथा-तथा क्षयक्रमानुरोधिनी—वैसे-वैसे अशुद्धिक्षय के क्रम का अनुसरण करने वाली। ज्ञानस्यापि दीप्तिः—ज्ञान की जागर्ति या ज्ञानोदय। विवर्धते—बढ़ता जाता है। स खलु एषा विवृद्धिः—ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि। प्रकर्षमनुभवति—गाढ़ी हो जाती है, उत्कृष्टतम होती जाती है। आविवेकख्यातेः—विवेकख्याति होने तक, ज्ञान का स्फुरण बढ़ता जाता है। अब इस स्थिति के आगे तो ज्ञान के प्रकाश में निखार असम्भव है, क्योंकि विवेकख्याति शुद्धतम ज्ञान है। उसके आगे ज्ञान का प्रकाश क्या निखरेगा ? इस 'विवेकख्याति' पद का ही व्याख्यान कर रहे हैं कि आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः—त्रिगुणों और त्रिगुणातीत पुरुष के स्वरूपों के सम्यग्ज्ञानपर्यन्त ही ज्ञान की दीप्ति की वृद्धि होती हे। उसके आगे इस दीप्ति में वृद्धि नहीं होती, प्रत्युत यह ज्ञानदीप्ति स्थिर हो जाती है। इत्यर्थः—यह आशय है।

योगाङ्गानुष्ठानम्—योग के यमादि आठों अङ्गों का अभ्यास करना। अशुद्धेः—अशुद्धि या अविद्या का। वियोगकारणम्—दूर या अलग करने वाला कारण है। यथा—जैसे कि। परशुः—कुल्हाड़ा। छेद्यस्य—काटी गयी लकड़ी का अलग करने वाला कारण होता है। विवेकख्यातेस्तु—किन्तु (यही योगाङ्गाभ्यास) विवेकख्याति का। प्राप्तिकारणम्—प्राप्त कराने या मिलाने वाला कारण है। यथा धर्मः सुखस्य—जैसे धर्म सुख का प्राप्तिकारण या मिलाने वाला कारण है। नान्यथा कारणम्—अन्य किसी प्रकार से यह योगाङ्गाभ्यास अशुद्धिक्षय में या विवेकख्यातिलाभ में कारण नहीं है। **'नान्यथेति प्रतिषेधश्रवणात् पृच्छति'।**[1] कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति—शास्त्र में ये कारण कितने होते हैं ? नवैवेत्याह—सिद्धान्ती का उत्तर है कि कारण 'नव' ही प्रकार के होते हैं। तद्यथा—वह इस प्रकार से, जैसे—उत्पत्तिकारण, स्थितिकारण, अभिव्यक्तिकारण, विकारकारण, ज्ञानकारण, प्राप्तिकारण, वियोगकारण, अन्यत्वकारण और धृतिकारण—इस रूप से स्मृतियों में 'नव' प्रकार के ही कारण बताये गये हैं। तत्र—उनमें से।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४३।

(१) उत्पत्तिकारणं मनः विज्ञानस्य—'मनस्' उत्पत्तिकारण है ज्ञान का, अर्थात् मनस् से ज्ञान की उत्पत्ति होती है ।[1]

(२) स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता—भोगापवर्ग नामक पुरुषार्थ मनस् की स्थिति के कारण हैं । शरीरस्य इव आहार इति—जैसे भोजन शरीर की स्थिति का कारण है । **'अस्मिताया उत्पन्नं मनस्तावदवतिष्ठते न यावद् द्विविधं पुरुषार्थमभिनिर्वर्तयति, अथ निर्वर्तितपुरुषार्थद्वयं स्थितेरपैति तस्मात्स्वकारणादुत्पन्नस्य मनसोऽनागतपुरुषार्थता स्थितिकारणम्'** ।[2]

(३) अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्य आलोकस्तथा रूपज्ञानम्—रूप को अभिव्यक्त करने वाला कारण आलोक या प्रकाश और रूपज्ञान है, क्योंकि बिना आलोक और बिना रूप की जानकारी के रूप की अभिव्यक्ति नहीं होती । **'अभिव्यक्तिश्च बुद्धिवर्त्तिः पौरुषेयबोधश्च, तत्र बुद्धिवृत्तावालोकः कारणं पौरुषेयबोधे च रूपज्ञानं बुद्धिवृत्तिरूपमिति विभागः'** ।[3]

(४) विषयान्तरं मनसः विकारकारणम्—ध्येय या ज्ञेय से अतिरिक्त घटपटादि पदार्थ एकाग्र मनस् के विकारकारण होते हैं । यथा—जैसे । अग्निः पाक्यस्य—पच्यमान पदार्थ को विकृत करने वाला कारण अग्नि है । **'तण्डुलादेः कठिनावयवसन्निवेशस्य प्रशिथिलावयवसंयोगलक्षणस्य विकारस्य कारणमिति'** ।[4]

(५) प्रत्ययकारणम्—**'प्रत्ययः सम्प्रत्ययः प्रामाण्यनिश्चय इति यावत्'** ।[5] प्रमा या ज्ञान ही 'प्रत्यय' पद से अभिप्रेत है । धूमज्ञानम्—(पक्षस्थ) धूम की जानकारी (पक्षस्थ) अग्नि के ज्ञान का प्रत्यय या यथार्थज्ञान कराने वाला कारण होता है । योगाङ्गानुष्ठान से विवेकख्याति प्राप्त होती है ।

(६) प्राप्तिकारणम्—प्राप्त कराने वाला कारण । विवेकख्यातेः—विवेकख्याति का (प्राप्तिकारण) । योगाङ्गानुष्ठानम् (अस्ति इति शेषः)—योगाङ्गों का अनुष्ठान है ।

(७) तदेव—वही अर्थात् योगाङ्गानुष्ठान ही । अशुद्धेः—अशुद्धि या अविद्या का वियोगकारण है, अविद्या को दूर करता है ।

(८) अन्यत्वकारणम्—भिन्न रूप देने वाला कारण । यथा—जैसे । सुवर्णस्य—सोने का । अन्य रूप देने वाला कारण अर्थात् अन्यत्वकारण । सुवर्णकारः—सुनार या

---

१. 'उत्पत्तिकारणत्वमुपादानकारणत्वमिति'—यो० वा० पृ० २४३ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४४ ।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४४ ।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४४ ।

५. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४४ ।

सोने का आभूषण बनाने वाला होता है। एवम्—इसी प्रकार। अन्यत्वकारण का एक आध्यात्मिक दृष्टान्त भी देते हैं। एकस्य स्त्रीप्रत्ययस्य—स्त्री-विषयक ज्ञान, जो सर्वत्र एक ही है, उसी के। मूढत्वे—मोहमयज्ञान में। अविद्या—अज्ञान, कारण है। इसलिये 'अविद्या' स्त्री-विषयक प्रत्यय के मूढात्मक होने का अन्यत्वकारण है। द्वेषो दुःखत्वे—उस स्त्रीज्ञान के दुःखात्मक होने में 'द्वेष' अन्यत्वकारण है (सपत्नीजनों की उस दुःखमयता का कारण द्वेष ही रहता है)। सुखत्वे—उस स्त्रीज्ञान के सुखमय होने में। रागः—आसक्ति या लालच, (अन्यत्व) कारण है। और उसी स्त्री के। माध्यस्थ्ये—औदासीन्यरूप होने में, मध्यस्थस्योदासीनस्य भावः ष्यञन्तपदमेतत्तस्मिन्। तत्त्वज्ञानम्—**'त्वङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जसमूहः स्त्रीकायः स्थानबीजादिभिरशुचिरिति।'**[1] इस प्रकार का यथार्थबोध ही कारण है। इस तरह से एक स्त्रीज्ञान के भिन्न-भिन्न रूप धारण करने में अविद्या, द्वेष, राग और तत्त्वज्ञान क्रमशः 'अन्यत्व-कारण' हैं।

(९) धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्—शरीर इन्द्रियों को धारण करने वाला कारण है। तानि च—और वे इन्द्रियाँ शरीर को धारण करने वाली कारण हैं। **'एवं मांसादिकायानामपि परस्परं विधार्यविधारकत्वम्'।**[2] इसी का अन्य उदाहरण दिया जा रहा है। भूतानि—पृथिवी इत्यादि महाभूत। शरीराणाम्—शरीरों के धृतिकारण हैं। और। तानि च परस्परम्—वे महाभूत परस्पर। सर्वेषाम्—सबके अर्थात् एक-दूसरे के, धारण करने वाले कारण हैं। तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वाद्—तिर्यग् योनि वाले पशुपक्षी इत्यादि जीव, मनुष्य और देवगण एक-दूसरे के आश्रय एवम् आश्रित होकर एक-दूसरे को धारण करने वाले कारण हैं। इत्येव नव कारणानि—इस प्रकार से ये 'नव' कारण होते हैं। तानि च—वे नवों कारण (जानकारी के लिये)। यथासम्भवम्—जहाँ जो सम्भव हो। पदार्थान्तरेष्वपि—अन्य पदार्थों में भी। योज्यानि—घटित करने चाहिए, समझ लेने चाहिए। कारणों का पूरा विवरण देकर प्रकृत प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं। योगाङ्गानुष्ठानं तु—योगाङ्गों का अभ्यास तो (इस अशुद्धिक्षय और विवेकख्याति के सम्बन्ध में)। द्विधैव—दो ही प्रकार से। कारणत्वम्—कारणता को एक के प्रति 'वियोगकारणता' दूसरे के प्रति 'प्राप्तिकारणता' को। लभते इति—प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

अब योगाङ्गों का अवधारण किया जा रहा है।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४५।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४५।

यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ (योग के) अङ्ग हैं ॥ २९ ॥

यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ॥ २९ ॥

क्रमानुसार इनका अनुष्ठान और स्वरूप कहेंगे ॥ २९ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तत्र—उस योगाङ्गानुष्ठान में (कहे गये) । योगस्य अङ्गानि इति योगाङ्गानि—योगसाधनानि, योग के साधनभूत अङ्ग । अवधार्यन्ते—संख्या एवं स्वरूप के द्वारा निर्धारित किये जा रहे हैं । **'सम्प्रति न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थं योगाङ्गान्यवधारयति'** ।[1] यह पहले बताया जा चुका है कि (१) अभ्यास और वैराग्य योग के उपाय हैं । (२) तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान नामक क्रियायोग भी समाधि का उपाय है । उन दोनों प्रकार के योग-साधनों का कथन क्रमशः उत्तमाधिकारियों एवं मध्यमाधिकारियों के लिये किया गया था । **'क्रियासाधननिरूपणं तूत्तममध्यमाधिकारिभेदात्'** ।[2] मन्दाधिकारियों के लिये बताये गये प्रस्तुत आठों अङ्गों में सभी साधनों का समावेश है । ताकि मध्यम और उत्तम दशा में आने पर इन अधिकारियों को भी साधनन्यूनता के कारण अवसन्न न होना पड़े । इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि—**'अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतो नान्तरीयकतया चान्तर्भावयितव्या'** ।[3]

(सू० सि०)—यमाः—अहिंसादयः पञ्च, अहिंसा इत्यादि पाँच यम (Abstentions) हैं । यमनिषेधात्मक या निवृत्तिपरक योगाङ्ग हैं । **'उपरम्यन्ते निवर्त्यन्ते विषयेभ्यो मनसेन्द्रियाणीति यमास्ते चाहिंसादयः पञ्चेति** ।[4] नियमाः—विधिरूप शौचादि अङ्ग नियम हैं । नियम्यन्ते क्रियन्ते नितरां यम्यन्ते इति नियमाः (Observations) । आसनानि—आस्यत एभिरित्यासनानि, जिन रीतियों से सुदीर्घकाल तक बिना किसी बेचैनी के बैठा जा सके, उन रीतियों अर्थात् विधाओं को आसन (Posture) कहा जाता है । प्राणायाम—प्राणानामायामः व्यायामः आगतिनिर्गतिस्थितिषु विस्ताराः, प्राणों के भीतर आने, बाहर जाने और रुके रहने की दशाओं में

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४६ ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४७ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४७ ।

४. द्रष्टव्य; पा० रह० पृ० २४७ ।

विस्तार या दीर्घता ही **'प्राणायाम'** (Regulation of breath) है । धारणा—धृतिः, एकत्र स्थापनम्, किसी मनःकल्पित प्रदेश में चित्त को स्थापित करना धारणा (Fixation of attention) है । ध्यानम्—√ध्यै + ल्युट् भावे, ज्ञान की धारा (Meditation) ध्यान है । समाधिः—सम् + आ + √धा + किः, धारणा के आलम्बन में ध्यान को इतना स्थिर करना कि ध्येयार्थमात्र का ही निर्भास होता रहे । यह स्थिति समाधि (Concentration) कही जाती है । इन आठों का इतरेतर-द्वन्द्वसमास हुआ है । अष्टौ—अष्टसंख्याकानि अङ्गानि, ये आठ योग के अङ्ग हैं ॥ २९ ॥

(**भा० सि०**)—एतेषाम्—इन आठों अङ्गों का । यथाक्रमम्—क्रमं सौत्रमनतिक्रम्येति अव्ययीभावः समासः, सूत्र में बताये गये क्रमपूर्वक । अनुष्ठानम्—अनुष्ठीयते अनेन (प्रकारेण) इति करणे ल्युट्, अनुष्ठान करने की विधि । स्वरूपं च वक्ष्यामः—और इनका स्वरूप इसी सूत्रोक्तक्रम में निरूपित करेंगे, बतायेंगे ॥ २९ ॥

तत्र—

उनमें से ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (ये पाँच) यम (कहे जाते) हैं ॥ ३० ॥

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तम्–'स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।' सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्च । परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति । एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम् । तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥

उन पाँचों यमों में से—सब प्रकार से सदैव सब प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना—'अहिंसा' है । बाद वाले (सभी) यम और नियम अहिंसामूलक होते हैं ।

उसके सिद्धिपरक होने के कारण उसकी सिद्धि के लिये किये (साधे) जाते हैं। अर्थात् अहिंसा को अत्यन्त निर्मल करने के लिये ही (योगियों के द्वारा) अपनाये जाते हैं। वैसे ही कहा भी गया है—'वह यह ब्राह्मण (योगी) जैसे-जैसे अनेक व्रतों का पालन (करने की इच्छा) करता जाता है, वैसे-वैसे असावधानी से होने वाली हिंसा के कारणों से दूर होता हुआ उस अहिंसा को ही अत्यन्त निर्मल करता जाता है। जो पदार्थ जैसा हो (उसके सम्बन्ध में) वैसी ही वाणी और वैसा ही मन होना सत्य (कहा जाता) है। जैसा देखा गया या अनुमित किया गया या सुना गया हो (उसके सम्बन्ध में) वैसी ही वाणी और वैसा ही मन (रखना) 'सत्य' है। अन्य लोगों में अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये, बात बोली जाती है, वह बात यदि धोखा देने वाली या मिथ्या या ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ न हो, तो वह सत्य (बात) है। वह वाणी सभी प्राणियों के उपकार के लिये प्रवर्तित होती है, प्राणियों का अपकार करने के लिये नहीं। यदि इस प्रकार से बोली जाने पर प्राणियों की हानि करने वाली ही हो, तो यह सत्य नहीं होगी, बल्कि पापरूप ही होगी। पुण्य का रूप धारण किये हुए इस पुण्याभास से (दुःखात्मक) नरक ही प्राप्त होगा। इसलिये (भली-भाँति) परीक्षा करके सभी प्राणियों के लिए हितकारी सत्य बोलना चाहिए। शास्त्राज्ञा के विपरीत दूसरों से द्रव्य ग्रहण करना 'स्तेय' है। (इस प्रकार की) इच्छा के भी अभाव रूप का स्तेयाभाव 'अस्तेय' है। गुप्तेन्द्रिय अर्थात् जननेन्द्रिय का निग्रह 'ब्रह्मचर्य' है। विषयों की प्राप्ति, रक्षा और (तद्विषयक) आसक्ति तथा हिंसादि दोषों के देखने के कारण (उन विषयों का) स्वीकार न करना 'अपरिग्रह' है। ये इतने 'यम' हैं॥ ३०॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तत्र—उन आठों योगाङ्गों में से प्रथमोद्दिष्ट 'यम' का भेदनिरूपण किया जा रहा है।

(सू० सि०)—इन पाँच यमों में 'अहिंसा' का प्रथम स्थान है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि यम निषेधात्मक धर्म हैं। अभिप्राय यह है कि इनका स्वरूप भावात्मक (Positive) नहीं हैं। यह पद √यम उपरमे धातु में घञ् प्रत्यय लग कर निष्पन्न होता है। इसलिये 'अहिंसा' नाम की कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती; प्रत्युत हिंसा न करना ही 'अहिंसा' नाम का यम कहा जाता है। इसी प्रकार झूठ न बोलना ही 'सत्य' नामक यम का अनुष्ठान है। यमानुष्ठान के लिये अलग से सत्य बोलने का अभ्यास नहीं करना पड़ता; बल्कि झूठ न बोलने का अभ्यास करना ही 'सत्य' नामक यम का अनुष्ठान है। इसी तरह (किसी प्रकार की) चोरी न करना ही 'अस्तेय' है। आठों प्रकार के

मैथुन का अभाव ही 'ब्रह्मचर्य' या वीर्यधारण है। इसी प्रकार धनसंग्रह का अभाव ही 'अपरिग्रह' है ॥ ३० ॥

(**भा० सि०**)—तत्र—उन पाँचों यमों में से अहिंसा का लक्षण भाष्यकार के द्वारा किया जा रहा है। सर्वथा—सब प्रकार से अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक—सभी प्रकार से। सर्वदा—सदैव। सर्वभूतानाम्—सभी प्राणियों का। अनभिद्रोहः—पीड़ा न पहुँचाना, पीड़ा देने की भावना न रखना, अहिंसा है। **'सर्वथा कायेन मनसा वाचा सर्वदा प्राणात्ययादिसङ्कटकालेऽपीत्यर्थः स्थावरजङ्गमादिसर्वप्राणिनामनभिद्रोहः पीडनबुद्धिराहित्यमित्येव योगाङ्गभूताऽहिंसा'**।[1] उत्तरे च यमनियमाः—अहिंसा के बाद में बताये गये सत्य इत्यादि चारों यम और शौचादि पाँचों नियम। तन्मूलाः—अहिंसामूलक अर्थात् अहिंसा पर आधारित होते हैं। तत्सिद्धिपरतया—तस्याः अहिंसायाः सिद्धिः एव परः प्रधानं प्रयोजनं येषां तेषां भावः तया तत्सिद्धिपरतया, अहिंसासिद्धिपरक होने के कारण। तत्प्रतिपादनाय—तस्याः अहिंसायाः प्रतिपादनाय निष्पत्तये, अहिंसा की निष्पत्ति के लिये। प्रतिपाद्यन्ते—गृह्यन्ते, अहिंसा की निष्पत्ति के लिये ये चारों यम और पाँचों नियम ग्रहण किये जाते हैं। **'तत्प्रतिपादनाय अहिंसानिष्पत्तये प्रतिपाद्यन्ते गृह्यन्ते।'**।[2] इस पङ्क्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए आगे कहा जा रहा है। तदवदातरूपकरणाय—उसी अहिंसा को सर्वथा निर्मल या निर्दोष करने के लिये। एव—ही। उपादीयन्ते—अनुष्ठीयन्ते, अभ्यस्यन्ते, इन अवशिष्ट यमों तथा नियमों का अनुष्ठान किया जाता है। तथा च उक्तम्—वही बात कही भी गयी है कि। स खलु अयं ब्राह्मणः—वह यह योगसाधक ब्राह्मण। यथा-यथा—जैसे-जैसे। बहूनि—अनेकों। व्रतानि—व्रतों को। समादित्सते—सम्+आङ्+√दा+सन्+लट् प्र० ए०, समादातुमिच्छति, अनुष्ठातुमिच्छति, धारण करना चाहता है। अभिप्राय यह है कि अनेकों व्रतों का अनुष्ठान करता है। तथा-तथा—वैसे-वैसे अर्थात् उसी क्रम से। प्रमादकृतेभ्यः—अनजाने में किये गये। हिंसानिदानेभ्यः—हिंसात्मक कार्यों से। निवर्तमानः—पराङ्मुख होता हुआ। तामेव अहिंसाम्—उसी अहिंसा को। अवदातरूपां करोति—नितरामवदाताम्, अत्यन्तशुद्धाम्, नितान्तनिर्मलां करोति, यहाँ पर 'अवदात' शब्द में प्रशंसार्थक 'रूपप्' प्रत्यय का प्रयोग समझना चाहिए। अहिंसा का सर्वयमनियमातिशायित्व—स्मृतियों में भी प्रतिपादित हुआ है—

१. 'अहिंसा परमो धर्मः।'—इति स्मृतिः।

२. 'यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २४८।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० २४८।

सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौश्वरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते' ॥— मोक्षधर्मः ॥

अब 'सत्य' का लक्षण किया जा रहा है। यथार्थे—सदृशः अबाधितश्च अर्थः ययोस्ते तथोक्ते, यथाभूत अर्थ वाले। वाङ्मनसे—वाक्च मनश्चेति तथोक्ते, 'अचतुर०' सूत्रोक्त निपातन से समासान्त 'अच्' प्रत्यय लगता है और 'वाङ्मनसे' रूप निष्पन्न होता है, वचन और मन। सत्यम्—'सत्य' है। इसी का स्पष्टीकरण आगे कर रहे हैं। यथा दृष्टम्—जिस प्रकार कोई पदार्थ प्रत्यक्षीकृत हुआ हो। यथा अनुमितम्— जैसे अनुमित हुआ है। और। यथा श्रुतम्—जैसा सुना गया हो। तथा—ठीक वैसी ही। वाक्—वाणी। मनश्च—और मन का होना। इति—यह 'सत्य' है। 'सत्य' की इस परिभाषा के सम्बन्ध में और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों को सत्य की इस परिभाषा में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ के विषय में अनेक भ्रम हो सकते हैं। इन सभी सम्भावित भ्रमों और संशयों का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि। परत्र—अन्य लोगों में। स्वबोधसंक्रान्तये—अपने ज्ञान का संक्रमण या सञ्चार करने के लिये। उक्ता वाक्—कही गयी (या लिखी गयी) वाणी अर्थात् बात। यदि सा—अगर वह वाणी। न वञ्चिता—न वञ्चिका, ठगने वाली नहीं है। द्रोणाचार्य से कही गयी अश्वत्थामा के मरण के विषय की युधिष्ठिर की बात निश्चय ही ठगने वाली थी। इस प्रकार की वाणी। (न) भ्रान्ता वा—या फिर भ्रान्तिपूर्णा या भ्रान्तिजन्या वाणी या भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली नहीं है। ऐसी वाणी, जिसके सुनने से श्रोता भ्रान्ति में पड़ा रहे और सही बात जान न सके, भ्रान्त कही जाती है। **'भ्रान्तिश्च विवक्षासमये वा ज्ञेयार्थावधारणसमये वा'।**[1] प्रतिपत्तिवन्ध्या वा न भवेदिति—सही या गलत कुछ भी बोध जिससे न उत्पन्न हो सके, ऐसी वाणी न हो। इति—तो वह सत्य है अर्थात् ऐसी वाणी को 'सत्य' समझना चाहिए।

किन्तु यदि सत्य बात से अन्य प्राणियों को पीड़ा या बाधा होती है, उनका अपकार होता है, तो वह सत्य न होकर सत्याभास ही है। पुण्य के बजाय वह पाप ही है, क्योंकि अहिंसा को बाधित करने वाला कोई भी यम-नियम पुण्य या धर्म नहीं माना जा सकता। **'उत्तरे च यम-नियमास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते।'** —इति भाष्यवचनात्। एषा—यह सत्यमयी वाणी। सर्वभूतोपकारार्थम्—सभी प्राणियों के उपकार के लिये ही। प्रयुक्ता स्याद्—प्रयुक्त की गयी होनी चाहिए, बोली जानी चाहिए। न भूतोपघाताय—प्राणियों के उपघात अर्थात् पीडन के लिये नहीं प्रवृत्त होनी चाहिये। यदि च—और यदि। एवमपि—इस प्रकार से भी अर्थात् अवञ्चित, अभ्रान्त, प्रतिपत्तिपूर्ण एवं यथार्थ रूप से। अभिधीयमाना—उच्चरित की

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २४९।

जाती हुई वाणी । भूतोपघातपरा एव स्यात्—प्राणियों को कष्ट या पीड़ा पहुँचाने वाली ही हो । तब तो । न सत्यं भवेत्—सत्य नहीं हुई । पापमेव भवेत्—पापरूप ही हुई । **'यथा दस्युभिस्सार्थगमनं पृष्टस्य सार्थगमनाभिधानम् इत्यादिरूपा'** ।[1] तेन पुण्याभासेन—उस पुण्याभास से । अर्थात् । पुण्यप्रतिरूपकेण—पुण्यवत्प्रतीयमानेन न तु वस्तुतः पुण्येन, पुण्य प्रतीत होने वाले अपुण्य से । कष्टतमं प्राप्नुयात्—पाप के फलभूत अतिशय दुःख को ही प्राप्त करेगा । **'कष्टबहुलं निरयं प्राप्नुयात्'** ।[2] **'कष्टं दुःखात्मकं नरकमित्यर्थः'** ।[3] तस्मात्—इसलिये । परीक्ष्य—ठीक से विचार करके । सर्वभूतहितम्—समस्त प्राणियों के लिये हितकर । सत्यं ब्रूयात्—सत्य बोलना चाहिए । स्मृतिवचन भी ऐसा ही है—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः' ॥

अब क्रमप्राप्त 'अस्तेय' का रूप स्पष्ट करने के लिये 'स्तेय' को समझाया जा रहा है । अशास्त्रपूर्वकम्—शास्त्रोक्त विधि के विपरीत ढंग से । द्रव्याणाम्—धनादीनाम् । परतः—अन्य लोगों से । स्वीकरणम्—ग्रहणम् एव । स्तेयम्—चोरी है । तस्य प्रतिषेधः—उसका अभाव । पुनः—तो । अस्पृहारूपम्—परद्रव्यापहरण की अनिच्छा के रूप का । अस्तेयम्—अस्तेय नाम का यम होता है । **'न हि चौर्यविरतिमात्रमस्तेयं किन्तु अग्रहणीयविषयेऽस्पृहारूपं तत्'** ।[4] **'अनादानं परस्वानामापद्यपि विचारतः मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं समासतः ।'** (लिङ्गपुराणम्) ।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य है । गुप्तेन्द्रियस्य—गुप्त इन्द्रिय का । अर्थात् । उपस्थस्य—जननेन्द्रिय का । संयमः—नियमन, निग्रह । 'उपस्थ' का संयम आठ क्रियाओं में अप्रवृत्तिरूप का होता है, जैसा कि 'दक्षसंहिता' में कहा गया है—

'ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधालक्षणं पृथक् ।
स्मरणं कीर्तनं केलि प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ।'

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४९ ।
२. द्रष्टव्य; भा० पृ० २५० ।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४९ ।
४. द्रष्टव्य; भा० पृ० २५० ।

अब 'अपरिग्रह' को समझाया जा रहा है। शास्त्रों में जो द्रव्य ग्राह्यरूप से विहित भी हैं, उन। विषयाणाम्—विषयों अर्थात् भोग्यपदार्थों के। अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनात्—कमाने रूप का दोष, कमाये गये को बचाने रूप का दोष, नष्ट होने का दोष, आसक्तिकारक होने का दोष और परपीडा रूप का दोष दिखायी पड़ने से। अस्वीकरणम्—इन विषयों का ग्रहण ही न करना 'अपरिग्रह' नामक यम है। इति—इस प्रकार। एते—इतने अर्थात् पाँच यम होते हैं। **'शास्त्रीयाणामपि उपार्जितानाञ्च रक्षणादिदोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।'** (त० वै०) ॥ ३० ॥

ते तु—

वे तो—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जाति, देश, काल और आचारपरम्परा से सीमित न होते हुए (ये) सार्वभौम (यम) महाव्रत (कहे जाते) हैं ॥ ३१ ॥

तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां, न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यते ॥ ३१ ॥

उनमें से जाति से सीमित अहिंसा यह है, जैसे—मछुओं का मछलियों को ही मारना, अन्य जीवों को न मारना। देश से सीमित अहिंसा यह है, जैसे—तीर्थ में जीवों को नहीं मारूँगा। काल से सीमित अहिंसा यह है, जैसे—चतुर्दशी के दिन या किसी पवित्र दिन में जीवहत्या नहीं करूँगा। (जाति, देश और काल) इन तीनों से रहित, किन्तु आचारपरम्परा से सीमित अहिंसा वह है, जैसे—देवताओं और ब्राह्मणों के लिए हत्या करूँगा और किसी प्रयोजन से नहीं। या जैसे—क्षत्रियों को युद्ध में ही हिंसा करनी चाहिए, अन्यत्र नहीं। इन जाति, देश, काल और आचार-परम्परा से असीमित अहिंसा इत्यादि (यमों) का सदा पालन करना चाहिए। सर्वभूमिषु का अर्थ है सभी विषयों में, सभी प्रकार से अव्यभिचरित अर्थात् सार्वभौम (ये यम) महाव्रत कहे जाते हैं ॥ ३१ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—ते तु—और वे पाँचों यम (प्रत्येकं पञ्चानाम्)।

(सू० सि०)—जातिः—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कोई जाति। देशः—कोई

स्थान-विशेष । कालः—तिथि, ऋतु, मास इत्यादि कालविशेष । समयः—आचार-परम्परा (Tradition) । इन चारों से बँधे हुए अहिंसादि यमों का पालन तो साधारण लोग भी कर सकते हैं, किन्तु वे यम 'महाव्रत' नहीं कहे जा सकते । जातिदेशकालसमयैः अनवच्छिन्नाः, अबद्धाः, असीमिताः इति जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः—इन चारों सीमाओं में न बँधे हुए अतः । सार्वभौमाः—सर्वासु भूमिषु विषयेषु विदिताः इति (सर्वभूमि + अण् प्र० बहु०) सार्वभौमाः, सभी विषयों के प्रति पालन किये गये । ये पाँचों यम । महाव्रतम्—महच्च तद् व्रतं च, बड़े व्रत या 'महाव्रत' कहे जाते हैं । **'सार्वभौमा यमा महाव्रतम्'** ।[1] **'जात्यादिभिश्चतुर्भिरनवच्छिन्नास्ते यमाः सार्वभौमाः सर्वास्ववस्थासु अनुगता अतो महाव्रतमिति संज्ञिता इत्यर्थः'**[2] ॥ ३१ ॥

(**भा० सि**)—तत्र—उन चार सीमाओं में बँधे हुए इन पाँचों यमों में से । जात्यवच्छिन्ना अहिंसा—जाति की सीमा से बँधी हुई अहिंसा यह होती है । मत्स्यबन्धकस्य—मछली पकड़ने वाले मछुओं की । मत्स्येषु एव—मछलियों में ही । हिंसा—हिंसा करें । नान्यत्र—अन्य किसी जीव को न मारें, न किसी प्रकार की पीड़ा दें । यदि मछुवे यह संकल्प करें कि 'हम अन्य किसी जीव को कष्ट नहीं देंगे, केवल मछली भर मारेंगे' तो यह अहिंसा जाति से बँधी हुई अर्थात् मछली के अतिरिक्त अन्य जातियों के प्रति ही व्यवहृत अहिंसा है । **'जातिर्मत्स्यत्वादिः तया परम्परया अवच्छिन्ना मत्स्याद्यतिरिक्तस्याहिंसेत्यर्थः'** ।[3] सा एव—वही अहिंसा । देशावच्छिन्ना—किसी देशविशेष में बँधी हुई अर्थात् देशविशेष से सीमित हो सकती है । जैसे । न तीर्थे हनिष्यामि—तीर्थ इत्यादि पवित्र स्थानों में हत्या नहीं करूँगा । इस संकल्प में प्रकटित अहिंसा किसी देशविशेष की सीमा में बँधी हुई अहिंसा है । सैव कालावच्छिन्ना—वही अहिंसा कालविशेष से बँधी या सीमित होती है । जैसे । न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामि—चतुर्दशी तिथि को या किसी पवित्र दिन को मैं जीवहत्या नहीं करूँगा । इति—उस संकल्प से प्रकटित होने वाली अहिंसा कालविशेष से बँधी हुई (सीमित) अविद्या है । सैव—वही अहिंसा । त्रिभिरुपरतस्य (अपि) —इन तीनों अवच्छेदकों या सीमाओं से रहित प्राणी की अहिंसा भी । समयेन—आचारेण, शिष्टपरम्परा से सीमित (बँधी हुई) हो सकती है । जैसे । देवब्राह्मणार्थे—देवताओं और ब्राह्मणों के लिये ही जीवहत्या करूँगा । नान्यथा—अन्य किसी भी प्रयोजन से जीवहत्या न करूँगा । देवब्राह्मणपूजार्थ जीववध करना शास्त्रोक्त अथवा शिष्टाचारसम्मत है । इति—ऐसी अहिंसा । इसी समयावच्छिन्ना अहिंसा का दूसरा दृष्टान्त देते हैं । यथा च—और

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २५१ ।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २५१ ।
३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २५१ ।

जैसे। क्षत्रियाणां युद्धे एव हिंसा—क्षत्रियों को युद्ध में ही हिंसा करनी चाहिए। अन्यत्र—अन्य स्थलों में हिंसा नहीं करनी चाहिए। क्षत्रियकृत-अन्यस्थलीय यह अहिंसा आचारपरम्परा से बँधी हुई अहिंसा है। एभिः—इन जाति, देश, काल और समय से। अनवच्छिन्नाः—असीमित न बँधे हुए अहिंसा इत्यादि। यमाः—पाँचों यम। सर्वथैव—सदा, सब प्रकार से। परिपालनीयाः—पालन किये जाने चाहिए। शङ्का होती है कि वैदिकी हिंसादि का विरोध करने वाली 'अहिंसा' का उपदेश करता हुआ यह शास्त्र क्या अवैदिक नहीं हुआ ? कहते हैं कि नहीं योगधर्म का पालन करने वाले आत्मज्ञानी को किसी प्रकार की हिंसा नहीं करनी चाहिए—इसमें वेद-विरोध की आपत्ति नहीं होती।

'सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखेषु तथो द्विजन्ति।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि जातवेदः' ॥ (मोक्षधर्मः)

और—**'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप ॥'** (श्रीमद्भगवद्गीता)

जैसे अहिंसा के विषय में जात्यादि का अवच्छेद भाष्य में प्रदर्शित किया गया है, वैसे ही अन्य यमों के प्रसङ्ग में भी इनका अवच्छेद समझ लेना चाहिए। सर्वभूमिषु—सभी स्थलों अर्थात् सभी प्रसङ्गों में। इसी पद का व्याख्यान आगे किया जा रहा है। सर्वविषयेषु—सभी विषयों में, सभी विषयों के प्रति। सर्वथैव—सब प्रकार से। अविदितव्यभिचाराः—न विदितः ज्ञातः दृष्टः व्यभिचारः स्खलनं येषां ते तथोक्ताः **'किञ्चिन्मात्रमपि व्यभिचारमनापन्ना एव'**—(यो० वा०)। सार्वभौमाः—सार्वभूमिक यम। 'महाव्रतम्' इति—महाव्रत। उच्यते—कहे जाते हैं। सभी यमों को सार्वभौमिक स्थिति में महाव्रत कहा जाता है। इस महाव्रत पद के एकवचनत्व की विवक्षा से ही 'उच्यते' पद में एकवचन का प्रयोग किया गया है ॥ ३१ ॥

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—नियम (कहे जाते) हैं ॥ ३२ ॥

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्, आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्—

'शय्याऽऽसनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ॥'

यत्रेदमुक्तम्—'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च' (यो० सू० १।२९) इति ॥ ३२ ॥

उसमें मिट्टी और जल से होनेवाला तथा पवित्र भोजन आदि बाहरी 'शौच' है। चित्त के दोषों का धोना (दूरीकरण) भीतरी 'शौच' है। विद्यमान साधनों से अधिक साधनों का संग्रह करने की अनिच्छा 'संतोष' है। द्वन्द्वों को सहना 'तप' (या तपस्या) है। और वे द्वन्द्व ये हैं, जैसे—बुभुक्षा और पिपासा, सर्दी और गर्मी, खड़े होना और बैठना, काष्ठवत् (पूर्ण) मौन और वाणी से मौन रहना। और (शरीर की) अनुकूलता के अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा सान्तपन इत्यादि व्रत (द्वन्द्व-सहन हैं)। मोक्षशास्त्रों का अध्ययन अथवा ओङ्कार का जप 'स्वाध्याय' है। परम-गुरु ईश्वर के प्रति सभी कर्मों का अर्पण करना 'ईश्वरप्रणिधान' है। 'शय्या या आसन पर स्थित या फिर मार्ग पर चलते हुए आत्मनिष्ठ संशयादिवितर्कजालरहित तथा संसार के मूलकारण अज्ञान के नाश पर दृष्टि लगाये हुए योगी अक्षय्य आनन्द का अनुभविता एवं नित्यमुक्त हो जाता है।' जिस (ईश्वरप्रणिधान) के प्रसङ्ग में यह कहा गया है—'उस (प्रणवजप तथा ईश्वरप्रणिधान) से जीवात्मा के स्वरूप का बोध तथा विघ्नों का निराकरण होता है ॥' ३२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—शौचः—पवित्रता, सफाई, **'मलनिरसनं भाष्ये वक्ष्यमाण-रूपम्।'** सन्तोषः—निर्लोभता या अयत्नोपनत साधनों से अधिक की चाह न करना। तपः—शरीर को तपाना, कसना अर्थात् तपस्या। स्वाध्यायः—मोक्षशास्त्राध्ययन या ओङ्कार का जप। और। ईश्वरप्रणिधानम्—ईश्वर में सभी कर्मों को अर्पित कर देना। इन सभी पदों का इतरेतरद्वन्द्वसमास किया गया है। इन पाँचों क्रियाओं की समवेत संज्ञा 'नियम' है ॥ ३२ ॥

(भा० सि०)—तत्र—उन पाँचों नियमों में से। शौचम्—शुचेः पवित्रतायाः भावः इति (शुचि + अण्)। शौच या सफाई दो प्रकार की होती है। बाह्यम् आभ्यन्तरञ्च—बाहरी और भीतरी सफाई। बाह्यं शौचम्—बाहरी सफाई है। मृज्जलादिजनितम्—मिट्टी और जल इत्यादि के संयोग से उत्पन्न होने वाली। मेध्याभ्यवहरणादि—मेध्यानां पवित्राणां पदार्थानाम् अभ्यवहरणम्, खादनम्, ग्रहणम्, गोमूत्रादिमेध्ययोः सेवनम्; पवित्र पदार्थों को खाना, तद् आदौ यस्य (कृत्यजातस्य) तद् मेध्याभ्यवहरणादि। 'आदि' पद से अमेध्यपदार्थों का अग्रहण इत्यादि संगृहीत समझना चाहिए। **'आदिशब्देनामेध्यसंसर्गविवर्जनमपि ग्राह्यम्।'**—(भा०)। इन दोनों पदों से क्रमशः नहाने-धोने इत्यादि की सफाई और खाने की सफाई का कथन कर दिया गया है। नहाने-धोने तथा खाने-पीने की पवित्रता 'बाह्य शौच' है।

आभ्यन्तरम्—भीतरी (मानसिक शौच है)। चित्तमलानाम्—अविद्यामय राग-द्वेषादि क्लेशों का। आक्षालनम्—धोना, हल्का करना, सफाई करना। 'मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा'—इत्यादि की भावना करने से चित्त के मलों की सफाई होती है।

'बाह्याभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
मृज्जलाभ्यां भवेद् बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम् ॥' (ईश्वरगीता)

सन्तोषः—तुष्टिः, निर्लोभता। सन्निहितसाधनाद्—निकटस्थ जीवन-निर्वाह के साधनों से। अधिकस्य—अतिरिक्त या अधिक साधनों की। अनुपादित्सा—उपादातुम् इच्छायाः अभावः, अलिप्सा; संगृहीत करने की भावना का न होना, यदृच्छा-लाभ से सन्तुष्ट रहना। कहा गया है कि—

'यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति।
तां निष्ठाम् ऋषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ॥'—(ईश्वरगीता।)

तपः—तपस्या। द्वन्द्वसहनम्—द्वन्द्वों का सहन करना। **'द्वन्द्वजदुःखसहनम्'**—(भा०)। यहाँ पर 'द्वन्द्व' पद से आशय यह है कि शब्दादिक प्रयोगों में विरोधी द्वन्द्व अर्थात् जोड़े। (१) द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे—जग्धुमिच्छा इति जिघत्सा, पातुमिच्छेति पिपासा अर्थात् भूख और प्यास। (२) शीतोष्णे—सर्दी और गर्मी। (३) स्थाना-सने—स्थानञ्चासनञ्चेति, खड़े रहना और बैठे रहना। **'स्थानमूर्ध्वावस्थानम् आसनञ्चोप-वेशनम्'**।[1] (४) काष्ठमौनाकारमौने च—काष्ठमौन और आकारमौन होना। काष्ठमौन किसे कहते है? **'इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायस्याप्रकाशनम्'**—(त० वै०) **'सर्वविज्ञप्तित्यागः'**—(भा०), इशारे से भी अपने मन्तव्य को प्रकट न करना 'काष्ठमौन' है। आकारमौनम्—**'अवचनमात्रम्'**—(त० वै०), मुँह से कुछ न बोलना आकारमौन है। इसमें इशारों से अपने अभिप्राय का प्रकटीकरण वर्जित नहीं है। इसी तरह के अन्य युग्मों का सहन करना भी इसके अन्तर्गत आ सकता है। **'यद्यपि शीतोष्णादिवत्परस्परविरुद्धत्वं बुभुक्षापिपासयोर्नास्ति तथाऽपि मिथुनवदेव पारिभाषिक-द्वन्द्वता।**[2] इन द्वन्द्वसहनों के अतिरिक्त अन्य व्रत भी तपस्या के अन्तर्गत आते हैं। जैसे—**१.** कृच्छ्र व्रत २. चान्द्रायण और ३. सान्तपन इत्यादि व्रत। यथायोगम्—शरीरस्याविकारभावरूपं योगमनतिक्रम्येति यथायोगम्; शरीर जितना सह सके, उतना ही किये हुए ये व्रत भी तप हैं और योगी के द्वारा परिपालनीय हैं। भाष्योक्त इन तीनों का व्रतों का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २५३।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २५३।

१. **कृच्छ्र व्रत**—तीन दिनों तक केवल प्रातःकाल मुर्गी के अण्डे के बराबर छोटे-छोटे छब्बीस कौर भोजन और फिर तीन दिन तक केवल सायंकाल उतने ही बड़े बत्तीस कौर भोजन और फिर तीन दिन तक केवल चौबीस कौर भोजन करना, बाद में तीन दिन का उपवास करना। बारह दिनों में पूरा होने वाला यह 'कृच्छ्र' नाम का व्रत है।

२. **चान्द्रायण व्रत**—शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ करे और चन्द्रकलाओं के अनुपात से एक से पन्द्रह कौर तक भोजन करे। कृष्णपक्ष में उसी क्रम से ग्रास-संख्या घटायी जाये। अमावस्या को उपवास करे। यह 'चान्द्रायण' व्रत है।

३. **सान्तपन व्रत**—पहले दिन आठ माशा गोमूत्र, सोलह माशा गोबर और बारह माशा गोदुग्ध, दस माशा गोघृत तथा तेईस माशा कुशजल—इन सबको मिलाकर पिये। और कुछ भोजन न करे। दूसरे दिन उपवास करे। यह 'सान्तपन' व्रत है। स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा—मोक्षप्रद (दर्शन) शास्त्रों के ग्रन्थों का ठीक से अध्ययन करना, स्वाध्याय है। 'ओङ्कार' का जप करना भी स्वाध्याय है। **ईश्वरप्रणिधानम्**—ईश्वर के प्रति भावनाविशेष का ही व्यावहारिक रूप यहाँ भाष्य में प्रदर्शित किया जा रहा है। इसलिये ईश्वरप्रणिधान के—पहले कहे गये और यहाँ कहे जा रहे—दोनों लक्षणों में कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। यही लक्षण सू० भा० २।१ में भी भाष्यकार ने दिया है। तस्मिन् परमगुरौ—उस परमगुरु ईश्वर में। **सर्वकर्मणाम्**—सकलक्रियाणाम्। **अर्पणम्**—प्रदानम्, संन्यासः, अर्पित कर देना। गीता में इस कर्मार्पणता का यह स्वरूप बताया गया है—

> **'कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।**
> **तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥**
> **नाहं कर्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा।**
> **एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तम् ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥'**—(कूर्मपुराणम्)

अब भाष्यकार यह कहना चाहते हैं कि इस 'ईश्वरप्रणिधान' से प्रत्यक्चेतन तत्त्व की प्राप्ति और विक्षेपों या विघ्नों का नाश होता है और मुक्ति की सिद्धि होती है। इसलिये विष्णुपुराण का यह उद्धरण देते हैं। शय्यासनस्थोऽपि—शय्या या आसन पर स्थित रहता हुआ। पथि व्रजन् वा—या रास्ते पर चलता हुआ। योगी। (ईश्वरप्रणिधान के द्वारा) स्वस्थः—आत्मनिष्ठः। परिक्षीणवितर्कजालः—सकल-वितर्कादि समूहों को नष्ट कर चुकने वाला होकर। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः—संसार के बीजकारणभूत अविद्यादि संस्कारों का नाश करता हुआ। नित्यमुक्तः—सर्वथा मुक्त। अमृतभोगभागी—और अमृतत्व का लाभ करने वाला बनता है। यत्र इदमुक्तम्—जिसके विषय में स्वयं सूत्रकार के द्वारा कहा गया है कि ततः—ईश्वर-

प्रणिधानात् । प्रत्यक्चेतनाधिगमः—आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होती है । अन्तराया-भावश्चेति—और सकल विक्षेपों एवं विघ्नों का अभाव हो जाता है ॥ ३२ ॥

एतेषां यमनियमानाम्—

इन यमों और नियमों के—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कों से बाधित होने पर (वितर्कों के) विरोधी (विचारों) की भावना करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन् हनिष्याम्यहमपकारिण-मनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति । एवमुन्मार्गप्रवणवितर्क-ज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत् । घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः । स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत् । यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति । एवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

जब इस ब्राह्मण (योगी) को हिंसा इत्यादि वितर्क (विघ्न) (मन में इस प्रकार से) उत्पन्न हों कि मैं अपकारी की हत्या करूँगा; झूठ भी बोलूँगा, इसका धन भी हड़प लूँगा और इसकी स्त्री के साथ दुराचार (भी) करूँगा और इसकी सम्पदाओं पर अधिकार कर लूँगा । इस प्रकार के कुमार्गोन्मुख विचारों के प्रबल ज्वर से पीड़ित होने पर इनके विरोधी विचारों की (इस प्रकार) भावना करनी चाहिए कि—इस घोर संसाररूपी अङ्गारों में झुलसते हुए मेरे द्वारा सभी प्राणियों को अभय-दान देकर योगधर्म की शरण ली गयी और अब वही मैं (उसको) त्याग कर फिर उनको ग्रहण करता हुआ कुत्ते के समान व्यवहार करनेवाले के सदृश हो गया हूँ—ऐसी भावना करनी चाहिए । जैसे, कुत्ता उगले हुए पदार्थ को चाटने वाला होता है, वैसे ही त्यागे हुए (वितर्कों) को फिर से ग्रहण करने वाला होता है । इसी प्रकार अन्य सूत्रों में भी (बताये गये योगाङ्गों के वितर्कों और उनके प्रतिपक्ष की) योजना करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—एतेषां यमनियमानाम्—इन यमों और नियमों के ।

(सू० सि०)—वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्—(एतेषां यमनियमानाम्) वितर्कैर्बाधने (सति) प्रतिपक्षस्य (तत्तद्विरोधिविचारस्य) भावनम् (कर्तव्यमिति

शेषः), इन वितर्कों से यम-नियमों के बाधित या विघ्नित किये जाने पर वितर्कों के भी विरोधी विचारों की भावना करनी चाहिए। वितर्काः—यह पारिभाषिक पद के रूप में यहाँ पर प्रयुक्त हुआ है। अगले सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि 'वितर्काः हिंसादयः' (२।३४)। भावागणेश ने अपनी वृत्ति में स्पष्ट करते हुए कहा है कि—**'यमनियमविपरीता हिंसादयो दश वितर्कशब्देन तन्त्रे परिभाषिताः'**[1]। (विपरीताः तर्काः इति वितर्काः) यम-नियमों के विरोधी हिंसादि ही वितर्क कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि हिंसादि की प्रवृत्तिपरक मनोवृत्ति को 'वितर्क' कहा गया है। साधक के चित्त में ऐसी वृत्तियों का उदय होने से यम-नियमों का भ्रंश या खण्डन होता है। यही वितर्ककृत यमादिबाधन है। हिंसानृतादि वितर्कों के रूप की इन मनोवृत्तियों के उठने पर क्या करना चाहिए, जिससे कि यमनियमानुष्ठान निर्बाध रूप से अनुष्ठित हो सकें? इसका उपाय बताया गया है कि इनके प्रतिपक्ष की अर्थात् इन वितर्कों के विरोधी विचारों की भावना करनी चाहिए॥ ३३॥

(भा० सि०)—यदा—जब। अस्य ब्राह्मणस्य—इस ब्राह्मण (ब्रह्मविज्ञानेच्छा से उपलक्षित योगी) को। हिंसादिवितर्काः—हिंसा तथा मिथ्याभाषण इत्यादि की वृत्तियाँ। जायेरन्—उत्पन्न होवें। ये वृत्तियाँ किस रूप में उत्पन्न होती हैं? इसका उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि। हनिष्याम्यहमपकारिणम्—मैं इस अपकारी को मारूँगा। अनृतमपि वक्ष्यामि—इसके विषय में झूठ भी बोलूँगा। अस्य द्रव्यमपि स्वीकरिष्यामि—इस अपकारी का धन भी ले लूँगा। अस्य दारेषु च—और इसकी पत्नी के साथ। व्यवायी भविष्यामि—(वि+अव+√इण् गतौ+णिनिः) दुराचार करने वाला बनूँगा, अर्थात् परस्त्रीगामी बनूँगा। अस्य परिग्रहेषु च—इसकी सम्पत्तियों पर भी। स्वामी भविष्यामि—काबिज हो जाऊँगा, अधिकार कर लूँगा। इति—इस प्रकार से। अतिदीप्तेन—अत्यन्तप्रबल। उन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेण—कुमार्गोन्मुख या कुमार्ग की ओर ले जाने वाले वितर्क रूपी ज्वर से। बाध्यमानः—बाधित होने पर। तत्प्रतिपक्षान्—वितर्कों के विरोधी भावों को। भावयेत्—सोचे। घोरेषु संसाराङ्गारेषु—दारुण संसाररूपी अङ्गारों में। पच्यमानेन मया—पकाये या भूने जाते हुए मेरे द्वारा। सर्वभूताभयप्रदानेन—सभी जीवों को अभयदान देने के द्वारा। योगधर्मः शरणमुपागतः—'योग' नामक धर्म की शरण ली गयी। स खल्वहम्—वही मैं अब। त्यक्त्वा—उस 'योग' के साधनभूत अभयदान का त्याग करके। पुनस्तान् वितर्कान्—फिर उन्हीं हिंसा, झूठ इत्यादि योगविरोधी भावों को। आददानः—ग्रहण करता हुआ। श्ववृत्तेन तुल्यः—(संवृत्तः इति शेषः) शुनः वृत्तं व्यवहार इव वृत्तं यस्य सः श्ववृत्तः, तेन तथोक्तेन तुल्यः सदृशः सञ्जातः; कुत्ते के समान व्यवहार करने

---

१. द्रष्टव्य; यो० सू० वृ० पृ० ५२।

वाले प्राणी के सदृश हो गया हूँ। इति भावयेत्—इस प्रकार की वितर्कविरोधी भावना करनी चाहिए। यथा श्वा वान्तावलेही—वान्तमवलेढीति तथोक्तः, जैसे कुत्ता उगले हुए पदार्थ को चाटने वाला होता है। तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति—उसी तरह त्यागे गये कर्मों को फिर से ग्रहण करने वाला होता है। एवमादि—इसी प्रकार। सूत्रान्तरेष्वपि—आसनप्राणायामादि का प्रतिपादन करने वाले सूत्रों में भी वितर्क-भावना और उन वितर्कों की विरोधी भावनाओं की। योज्यम्—योजना कर लेनी चाहिए ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला—इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

कृत, कारित और अनुमोदित लोभ, क्रोध और मोहपूर्वक तथा मदु, मध्य और अधिमात्र—हिंसादिवितर्क, दुःख और अज्ञान रूपी अनन्त फल देने वाले होते हैं—इस प्रकार के विरोधी विचार की भावना करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

तत्र हिंसा तावत्—कृतकारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा—लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधाः—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसङ्ख्येया प्राणभृद्भेदस्यापरिसङ्ख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्। ते खल्वमी वितर्काः—दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। दुःखमज्ञानञ्चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। ततो जीवितादपि मोचयति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति। जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथञ्चित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवम्। एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत ॥ ३४ ॥

उनमें हिंसा तो—की गयी, करायी गयी और अनुमोदित की गयी—(इस भेद से) तीन प्रकार की होती है। (इनमें से) एक-एक फिर तीन प्रकार की होती है—लोभ से अर्थात् मांस और चमड़े के लिये (हिंसा), क्रोध से अर्थात् इस (अमुक प्राणी) ने मेरा अपकार किया है—इस (भावना) से (हिंसा) और मोह से अर्थात् (इसके करने से) मुझे पुण्य होगा—इस (विचार) से (हिंसा)। (ये) लोभ, क्रोध और मोह भी तीन प्रकार के होते हैं—मृदु, मध्य और अधिमात्र। इस प्रकार हिंसा के सत्ताईस भेद होते हैं। मृदु, मध्य और अधिमात्र भी तीन तरह के होते हैं—मृदु-मृदु, मध्य-मृदु और तीव्र-मृदु। वैसे ही—मृदु-मध्य, मध्म-मध्य और तीव्र-मध्य। वैसे ही—मृदु-तीव्र, मध्य-तीव्र और अधिमात्र-तीव्र। इस प्रकार से हिंसा इक्यासी भेदों वाली हुई। और वह भी नियम, विकल्प तथा समुच्चय के भेद से असंख्य हुई, प्राणियों के भेदों के असंख्य होने के कारण। इसी प्रकार असत्य इत्यादि में भी योजना करनी चाहिए। वे ये वितर्क तो दुःख और अज्ञान रूपी अनन्तफल वाले होते हैं—इस प्रकार की (वितर्क-) विरोधी भावना होती है। और वह हिंसा करने वाला तो पहले हिंसित जीव के बल को अवरुद्ध करता है और तब फिर शस्त्रादि के प्रहार के द्वारा दुःख देता है, तब जीवन से रहित कर देता है। इसलिये बल को रोकने के कारण, इसके चेतन और अचेतन सहकारी निर्बल हो जाते हैं। दुःख देने के कारण नरक, तिर्यग्योनि और प्रेतादि योनियों में दुःख भोगता है। जीवन नष्ट करने के कारण प्रतिक्षण निर्जीवता (की स्थिति) में रहता हुआ मरने की इच्छा करता हुआ भी दुःखरूपी फल के नियतभोग्यफलक होने के कारण किसी तरह से साँस भर लेता रहता है। और यदि हिंसा किसी तरह (किसी) पुण्य में अन्तर्भावित हुई तो उस (पुण्य के फलस्वरूप) सुख की प्राप्ति में अल्पायु होता है। इसी प्रकार असत्य इत्यादि में भी योजना करनी चाहिए। इस प्रकार से वितर्कों में अनुगत रहने वाले इसी अनिष्ट फल को सोचते हुए वितर्कों में मन नहीं लगाना चाहिए॥ ३४॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—वितर्काः हिंसादयः—यमों और नियमों के विरोधी हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और धनसंग्रहादि की शास्त्रीय संज्ञा 'वितर्क' है। विपरीतास्तर्का विचारा येषु कार्येषु इति वितर्काः, यमों और नियमों के विरोधी कार्यों को यहाँ 'वितर्क' कहा गया है। **'वितर्कसंज्ञा हिंसाऽऽदिषु तान्त्रिकी, तर्कश्चात्र विशेषणम्, तथा च वितर्क्यमाणो हिंसादिवितर्कः'**।[1] कृतकारितानुमोदिता—किये गये, कराये गये और समर्थित किये गये—इन तीन प्रकारों के होते हैं। ये तीनों प्रकार के हिंसादि-

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २५५।

कृत्य । लोभक्रोधमोहपूर्वकाः—कभी लोभपूर्वक, कभी क्रोधपूर्वक और कभी मोहपूर्वक होते हैं । तात्पर्य यह है कि लोभजन्य, क्रोधजन्य और मोहजन्य होते हैं । इस प्रकार से वितर्कों के नव भेद हुए । मृदुमध्याधिमात्रः—इन नवों भेदों वाले हिंसादि विकार मृदु अर्थात् हल्के, मध्य अर्थात् मध्यमकोटि के और अधिमात्र अर्थात् अत्यन्त प्रबल होते हैं । इन वितर्कों की मृदुता, मध्यता और अधिमात्रता की निर्णायक इनके कारणभूत लोभ, क्रोध और मोह की मृदुता, मध्यता और अधिमात्रता होती है । इन विशेषणों के कारण सत्ताईस प्रकार के वितर्क हुए । ये सब के सब यथायोग्य । दुःखाज्ञानानन्तफलाः—दुःख और अज्ञान रूपी अनन्तफल देने वाले होते हैं । 'दुःखञ्च अज्ञानञ्चेति दुःखाज्ञाने त एव अनन्तानि फलानि येषां ते तथोक्ताः (वितर्काः)' । इति—इस रूप की । प्रतिपक्षभावनम्—(वितर्काणाम्) प्रतिपक्षाः विरोधिनः तेषां भावनं भावना विचारः (भवतीति शेषः), वितर्कविरोधिनी भावना होती है । अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की वितर्कविरुद्ध भावना करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

(भा० सि०)—यद्यपि हिंसा, असत्य, स्तेय आदि अनेक योगविरोधी वितर्क कहे गये हैं, किन्तु 'अहिंसा' नामक यम की प्रधानता के कारण प्रधान वितर्क 'हिंसा' का आश्रय लेकर वितर्कस्वरूप की पूर्ण विवेचना भाष्यकार ने की है । तत्र तावत् हिंसा—उन सबमें 'हिंसा' नामक वितर्क तो । कृतकारितानुमोदिता इति त्रिधा—स्वयं की गयी हिंसा, दूसरों के द्वारा करायी गयी हिंसा और स्वयं करने-कराने के अभाव में अन्य लोगों द्वारा की या करायी गयी हिंसा का अनुमोदन करना—ये तीनों ही हिंसा के रूप हैं । हिंसा का अनुमोदन करना भी हिंसा का ही एक भेद है, शेष दो तो हैं ही । एकैका पुनस्त्रिधा—इन तीनों हिंसाओं में से प्रत्येक हिंसा लोभ, क्रोध और मोहपूर्वक होने के कारण फिर तीन प्रकार की होती है । लोभेन मांसचर्मार्थेन—लोभ के द्वारा की, करायी गयी या समर्थित हिंसा मांस के लिये या चमड़े के लिये या फिर अन्य किसी लालच की पूर्ति के लिये होती है । क्रोधेनापकृतमनेनेति—क्रोधजन्य हिंसा, हिंसित प्राणी ने (मेरा) अपकार किया था, इस कारण से होती है । मोहेन—मोहजन्य हिंसा वह है, जिसे । धर्मो मे भविष्यतीति—मुझे इस हिंसा के करने से धर्म या पुण्य होगा (जैसे यज्ञादि में की गयी हिंसा)—यह सोचकर की या करायी जाती है या समर्थित की जाती है ।

लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधाः—ये लोभ, क्रोध और मोह भी तीन रूप के हो सकते हैं—मृदु, मध्य और अधिमात्र अर्थात् प्रबल । इसलिये इन कारणों से उत्पन्न हिंसा भी मृदु, मध्य और अधिमात्र प्रकार की हुई । एवम्—इस रीति से । हिंसायाः—हिंसा के । सप्तविंशतिभेदा भवन्ति—सत्ताईस भेद होते हैं । मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा—मृदु, मध्य और अधिमात्र नामक हिंसा के भेद भी तीन तरह के

होते हैं, जैसे—मृदुमृदुः—कुछ हल्के । मध्यमृदुः—उससे अधिक हल्के । तीव्रमृदुः—अत्यन्त हल्के । तथा—वैसे ही । मृदुमध्यः—कुछ मध्यम कोटि के । मध्यमध्यः—उससे अधिक मध्यम कोटि के । तीव्रमध्यः—अत्यन्त मध्यम कोटि के । तथा—वैसे ही । मृदुतीव्रः—हल्के तीखे । मध्यतीव्रः—मध्यम कोटि के तीखे । और अधिमात्र-तीव्रः—अत्यन्त तीखे । इति एवम्—इस प्रकार से । हिंसा—हिंसा नामक वितर्क । एकाशीति भेदा भवति—एकाशीतिः भेदाः यस्याः सा, इक्यासी भेदों वाली होती है । सा पुनः—इक्यासी भेदों वाली यह हिंसा (फिर) । नियमविकल्पसमुच्चयभेदाद्—नियमः—जैसे मछुआ सोचे कि 'किसी एक जीव या एक प्रकार के जीव (मछली) की ही हिंसा करूँगा'—यह हिंसा नियमित या सीमित प्रकार की हुई । विकल्पः—जैसे कुछ लोग कहते हैं कि भेड़ या बकरी में से किसी एक प्रकार के जीव की हिंसा करूँगा, अन्य जीवों की नहीं । दोनों में से किसी एक को चुनने से विकल्पित हिंसा हुई । समुच्चयः—सभी प्रकार के जीवों की हिंसा करना—यह समुच्चय या इकट्ठा करने के कारण समुच्चित हिंसा हुई । इन तीनों भेदों के कारण । हिंसासंख्येया—हिंसा असंख्यरूप की हुई । क्यों ? प्राणभृद्भेदस्य अपरिसंख्येयत्वाद्—नियम, विकल्प और समुच्चय के निश्चायक, हिंसा के विषय बनने वाले प्राणियों के असंख्य या अनन्त भेद होने के कारण (हिंसा असंख्य प्रकार की हुई) ।

एवम्—इसी तरह से । अनृतादिष्वपि—अन्य यमनियमों के वितर्कभूत 'असत्य' इत्यादिकों में भी । योज्यम्—घटित कर लेना चाहिए । अर्थात् जैसे, हिंसा असंख्य प्रकार की होती है, वैसे ही 'असत्य' आदि भी असंख्य प्रकार के होते हैं । ते खल्वमी वितर्काः—वे ये सभी असंख्य प्रकार के वितर्क । दुःखाज्ञानानन्तफलाः—दुःख तथा अज्ञान रूपी अनन्त फलों को देने वाले होते हैं । इति—इस रूप से । प्रतिपक्षस्य भावनम्—वितर्कविरोधिनी भावना करनी चाहिए । इसी 'दुःखाज्ञानानन्तफलम्' पद का और अधिक स्पष्टीकरण भाष्यकार आगे करेंगे । **'दुःखमेषामनन्तं फलम् अज्ञानञ्चैषामनन्तं फलमिति'** ।[1]

तात्पर्य यह है कि ये वितर्क अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान रूपी फल उत्पन्न करने वाले होते हैं । इति—इस प्रकार विचार करना ही । प्रतिपक्षभावनम्—प्रतिपक्ष की भावना करना है । अब इन हिंसादि वितर्कों की दुःखाज्ञानफलकता का निरूपण किया जा रहा है । तथा च—तथाहि, क्योंकि । हिंसकस्तावत्—हिंसा करने वाला तो । प्रथमम्—सबसे पहले (हिंसा करने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम) । वध्यस्य—हिंस्य प्राणी के । वीर्यम्—सामर्थ्य को अर्थात् चलने-फिरने या छुटकारा पाने की सामर्थ्य को । आक्षिपति—रोक देता है, अवरुद्ध कर देता है, नष्ट कर देता

१. द्रष्टव्य; विवरणम् पृ० २९८ ।

है । ततश्च—और इसके पश्चात् । शस्त्रादिनिपातेन—(वध्यप्राणियों के ऊपर) शस्त्र इत्यादि से प्रहार करने के द्वारा । दुःखयति—कष्ट पहुँचाता है, अतिशय पीड़ा पहुँचाता है । ततः—उस शस्त्रप्रहार के द्वारा अन्ततः (उस वध्य प्राणी को) जीवितादपि—जीवन से भी । मोचयति—वियोजयति, अलग कर देता है । हिंसागत इन त्रिविधकर्मों से त्रिविधफल की संगति बतायी जा रही है । ततः—उस । वीर्याक्षेपाद्—वीर्य या सामर्थ्य का नाश करने के फलस्वरूप । अस्य—इस हिंसक की । चेतनाचेतनम्—(उभयविधम्) । उपकरणम्—चेतन सामग्री, जैसे—पुत्र, पत्नी, मित्रादि और अचेतन सामग्री, जैसे—घर-खेत इत्यादि । क्षीणवीर्यम्—सामर्थ्यहीन या निस्तेज हो जाते हैं । दुःखोत्पादात्—वध्य पशु को अतिशय पीड़ा पहुँचाने के फलस्वरूप । नरकतिर्यक्प्रेतादिषु—नरक में जाकर या तिर्यग् योनि में पड़कर या प्रेतयोनि में पड़कर । दुःखमनुभवति—दुःख भोगता है ।

जीवितव्यपरोपणात्—जीवन को नष्ट करने के फलस्वरूप । जीवितात्यये च वर्तमानः—निर्जीव-सा होकर, जीवितविनाशे इव वर्तमानः । मरणम् इच्छन्नपि—मौत चाहता हुआ भी, जीना न चाहते हुए भी । कथञ्चिदेव—किसी तरह से, अर्थात् बड़े कष्ट से । उच्छ्वसिति—साँस भर लेता रहता है, जीता भर रहता है । इसका हेतु देते हुए भाष्यकार कहते हैं । दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्—दुःखरूपी कर्मफलभोग के नियत होने के कारण उसे जीना पड़ता है और जीते-जी उस दुःखरूपी फल का भोग करना ही पड़ता है । उससे वह बच नहीं सकता । यदि च कथञ्चित्—और यदि किसी तरह वह हिंसा । पुण्यावापगता भवेत्—यज्ञादि का अङ्ग होने के कारण पुण्यकर्म में अन्तर्भावित हुई । तत्र सुखप्राप्तौ—तो उस यज्ञादिपुण्य से फलीभूत सुखभोग की स्थिति में । अल्पायुः भवेद् इति—वह प्राणी अल्पायु हो जाता है और हिंसा के फलस्वरूप अकालमृत्यु या शीघ्रमृत्यु को प्राप्त करता है । यह भी प्राणहरण का ही फल है । एवम्—इसी प्रकार से । अनृतादिष्वपि—'असत्य' इत्यादि अन्य वितर्कों में भी । यथासम्भवम्—जिस प्रकार सम्भव हो । योज्यम्—दुःख और अज्ञान रूपी अनन्त फलों की योजना कर लेनी चाहिए । एवम्—इस प्रकार । वितर्काणाम्—हिंसादि सभी वितर्कों में । अनुगतम्—बाद में अवश्य मिलने वाले । अमुमेव—उसी । अनिष्टम्—अनन्तदुःखाज्ञानरूप अप्रिय । विपाकम्—फल को । भावयन्—सोचते हुए । वितर्केषु—वितर्कों में । मनः न प्रणिदधीत—मन नहीं लगाना चाहिए । अर्थात् वितर्कों से मन को अवश्य हटाये रखना चाहिए ।। ३४ ।।

प्रतिपक्षभावनाहेतोर्हेया वितर्का यदाऽस्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति । तद्यथा--

जब ये वितर्क इस योगी को नहीं उत्पन्न होते, तब इस योगी की सिद्धि को प्रकट करने वाले यमनियमजन्य ऐश्वर्य प्रादुर्भूत हो जाते हैं, वह जैसे—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उस योगी के पास (प्राणियों का पारस्परिक) वैरभाव छूट जाता है ॥ ३५ ॥

सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

(वैरभाव की शान्ति) सब प्राणियों की हो जाती है ॥ ३५ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—प्रतिपक्षभावनाहेतोः—इस प्रकार के विरोधी विचारों की भावना (करने) रूपी हेतु से । हेयाः—हातुं शक्याः, नष्ट किये जा सकने योग्य । एवम्भूता वितर्काः—ऐसे ये वितर्क । यदा अस्य अप्रसवधर्माणः स्युः—जब इस साधक के लिये निष्फल या कुछ बिगाड़ न सकने वाले हो जाते हैं । तदा—उस वितर्क-शून्यता की दशा में । तत्कृतमैश्वर्यम्—वितर्कराहित्य से प्राप्त होने वाली सिद्धि या प्रभुता । योगिनः—उस साधनारत योगी की । सिद्धिसूचकम्—यमनियमादि के सिद्ध हो जाने की सूचना देने वाली होती है । अर्थात् उस योगी को यमनियमादि सिद्ध हो गये हैं—इस तथ्य की प्रकाशिका होती है । तद्यथा—वह जैसे ।

(सू० सि०)—साधक योगी में । अहिंसायाः प्रतिष्ठायां सत्याम्—अहिंसा नामक 'यम' की प्रतिष्ठा हो जाने पर, (प्रति + √स्था + अङ् भावे + टाप्) पूर्ण स्थिति हो जाने पर । तात्पर्य यह है कि सर्वथा वितर्कशून्यरूप में अहिंसा के स्थित हो जाने पर । तत्सन्निधौ—उस साधक अर्थात् अहिंसापरायण योगी के निकटस्थ प्रदेश में अर्थात् उसकी उपस्थिति में । (सर्वेषाम् अन्यप्राणिनां) वैरत्यागः—सभी प्राणियों का परस्पर या किसी भी प्राणी के प्रति विरोध का भाव दूर हो जाता है ॥ ३५ ॥

(भा० सि०)—कस्य वैरत्यागः भवति ? इसका उत्तर भाष्यकार ने भाष्य में दिया है कि—सर्वप्राणिनां भवति—यह वैरत्याग सभी प्राणियों को होता है । कुछ जीवों का ही वैरत्याग होता है—ऐसा नहीं समझना चाहिए, प्रत्युत सभी जीवधारियों का वैरत्याग (इस 'अहिंसा' के साधक योगी की उपस्थिति में) हो जाता है । यहाँ तक कि शाश्वतिक विरोध वाली जातियाँ भी ऐसे योगियों की उपस्थिति में अपना वैरत्याग कर देती हैं और परस्पर मिलकर रहती हैं । **'शाश्वतिकविरोधाऽपि अश्वमहिषमूषकमार्जाराहिनकुलादयोऽपि भगवतः प्रतिष्ठिताहिंसस्य सन्निधानात्तच्चित्ता-नुकारिणो वैरं परित्यजन्ति इति'**[1] ॥ ३५ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २६० ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्य के प्रतिष्ठित (वितर्कशून्यतया स्थिर) हो जाने पर (उस साधक में) (शुभाशुभ) क्रियाओं और उनके फलों की आश्रयता आ जाती है ॥ ३६ ॥

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः । स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति । अमोघास्य वाग्भवति ॥ ३६ ॥

(इस सिद्धि के फलस्वरूप उसके) 'धार्मिक हो जाओ'—ऐसा कहने पर लोग धर्म करने वाले बन जाते हैं । 'स्वर्ग प्राप्त करो'—ऐसा कहने पर लोग स्वर्ग प्राप्त करते हैं । (अभिप्राय यह है कि) इसकी वाणी अचूक हो जाती है ॥ ३६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—सत्यस्य प्रतिष्ठायामिति सत्यप्रतिष्ठायाम् (सत्याम्)—सत्य की पूर्ण स्थिति अर्थात् वितर्कहीन स्थिरता आ जाने पर **'सत्यस्थैर्ये'** —(यो० वा०) । योगी के सत्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर इसके कह देने मात्र से सभी प्राणी सब प्रकार की क्रियाओं और सभी फलों के पात्र बन सकते हैं । इसलिये सूत्र में कहा गया है । क्रिया च फलं चेति क्रियाफले, तयोराश्रयः आधारः, तस्य भावः क्रियाफलाश्रयत्वम्—यदि सत्यप्रतिष्ठित योगी किसी को धर्मादिक्रिया करने को कह देता है, तो वह प्राणी उस क्रिया को करने से इन्कार नहीं करता । इस प्रकार उस योगी की कही गयी बात को मानकर तदनुकूल व्यापार करने के लिये लोग तत्पर हो जाते हैं । वह योगी यदि किसी को किसी फलप्राप्ति के लिये कहता है, तो वह फल भी अवश्य उस प्राणी को प्राप्त होता है । उसकी वाणी सारी क्रियाओं और सारे फलों का कारण या मूलाधार बन जाती है । इस प्रकार उसकी वाणी में यह शक्ति आ जाती है कि अपनी वाणी से कहकर प्राणियों से सभी काम करा सकता है और उन प्राणियों को सब फल प्राप्त करा सकता है ॥ ३६ ॥

(भा० सि०)—इसी बात को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि यदि सत्यप्रतिष्ठित योगी किसी प्राणी को कह देता है कि—धार्मिको भूयाः इति—धार्मिक या धर्माचरणकारी हो जाओ, तो वह प्राणी इसे टाल नहीं सकता और धार्मिक हो जाता है अर्थात् धर्मसम्बधी क्रियाएँ करने लगता है । और जब वह किसी प्राणी से यह कह देता है कि—स्वर्गं प्राप्नुहि इति—तुम स्वर्ग (रूपी फल) प्राप्त करो, तो वह प्राणी स्वर्ग को प्राप्त करता है । कहने का तात्पर्य यह हुआ कि सत्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर । अस्य—इस योगी की । वाक्—वाणी । अमोघा—ध्रुवसत्यप्रतिपादनपरा, अचूक । भवति—हो जाती है ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेय के प्रतिष्ठित हो जाने पर सभी रत्नों की उपस्थिति होती है ॥ ३७ ॥

सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

सभी दिशाओं में स्थित रत्न इस योगी के पास उपस्थित हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अस्तेयस्य—अस्पृहारूपास्तेय की । प्रतिष्ठायाम् (सत्याम्)—निर्वितर्के स्थैर्ये जाते, वितर्कादिबाधारहित सुस्थिरता आ जाने पर । सर्वेषां रत्नानाम् उपस्थानम् उपस्थितिः इति सर्वरत्नोपस्थानम्—(तत्साधकान्तिके भवति) सभी रत्नों की उपस्थिति या प्राप्ति उस योगी को होती है ॥ ३७ ॥

(भा० सि०)—भाष्यकार ने 'सर्वरत्नोपस्थानम्' का व्याख्यान इस प्रकार किया है । सर्वदिक्स्थानि—सभी दिशाओं अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों में रहने वाले । रत्नानि—रत्न । 'रत्न' शब्द का सामान्य अर्थ तो 'रमतेऽत्रेति रत्नम्' इस व्युत्पत्ति एवं शिष्ट प्रयोगों के आधार पर मणियों को 'रत्न' कहते हैं ।[1] इस अर्थ में भी यहाँ पर 'रत्न का प्रयोग बहुत से टीकाकारों को अभीष्ट है । किन्तु भास्वतीकार ने 'रत्न' शब्द का एक विशेष अर्थ किया है—'रत्नानि जातौ जातौ उत्कृष्टवस्तूनि'[2] । प्रत्येक पदार्थ की जाति में सर्वोत्कृष्ट वस्तु को रत्न कहते हैं ।[3] यह अर्थ यहाँ पर बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि भाष्यकार ने भी 'सर्वदिक्स्थानि' विशेषण के द्वारा कदाचित् सार्वत्रिक उत्कृष्ट वस्तुओं का ही अर्थ लिया है । योगी की सिद्धि की दृष्टि से भी यही अर्थ विशेष संगत है । अस्य—इस योगी को । उपतिष्ठन्ते—सेवन्ते, तदन्तिकमागत्य प्रतीक्षन्ते, उसकी सेवा में उपस्थित होते हैं ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर सामर्थ्य-लाभ होता है ॥ ३८ ॥

यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

(योगी) जिस (सामर्थ्य) के लाभ होने से (अपने) अप्रतिहत गुणों को बढ़ाता है । स्वयंसिद्ध होता हुआ शिष्यों में ज्ञान का आधान करने में समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

---

१. 'रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च ।'—अमरकोशः ।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० २६० ।

३. 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते ।'—स्मृतिः ।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्—ब्रह्मचर्यस्य वीर्यनिरोधस्य प्रतिष्ठायां सिद्धौ जातायाम्, ब्रह्मचर्य की स्थिति सुदृढ़ हो जाने पर। वीर्यस्य लाभः इति वीर्य-लाभः—(अपूर्व) सामर्थ्य आती है। **'निरतिशयं सामर्थ्यं भवति'**—(मणि-प्रभा) ॥ ३८ ॥

(भा० सि०)—इस वीर्यलाभ की अर्थात् सामर्थ्य-प्राप्ति की इयत्ता का निश्चय करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि, यस्य (वीर्यस्य)—जिस वीर्य या निरतिशय सामर्थ्य **'वीर्य शक्तिविशेषः'** (यो० वा०) का। लाभाद्—लाभ होने से, प्राप्ति होने से। अप्रतिघान्—प्रतीघातवर्जितान्, अनुपहत। गुणान्—शक्तियों को, **'ज्ञान-क्रियाशक्तीः'** (यो० वा०)। इसी का व्याख्यान वाचस्पति मिश्र करते हैं—**'अणि-मादीन्'**। उत्कर्षयति—उपचिनोति, वर्धयति, प्राप्त करता या बढ़ाता है। यदि इन गुणों का अर्थ अणिमादिसिद्धि लिया जाय तो 'उत्कर्षयति' का अर्थ 'बढ़ाता है'—यही करना चाहिए। सिद्धश्च—ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा या पूर्णस्थिति वाला योगी। विनेयेषु—शिष्येषु। ज्ञानम् आधातुम्—शिष्यों को ज्ञानदान करने में, शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण करने में। समर्थो भवति—समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अथर्व-वेद में भी यह उक्ति है—

'ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे, तस्मिन् देवाः सम्मनसो भवन्ति।
सदाधारं पृथिवीं दिवञ्च, स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति॥'

इति—समाप्तिसूचक पद है॥ ३८॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रह के स्थिर होने पर (भूत, वर्तमान और भविष्य के) जन्मों तथा उनके प्रकार का सम्यग्ज्ञान होता है॥ ३९॥

अस्य भवति। कोऽहमासम्? कथमहमासम्? किंस्विदिदम्? कथं-स्विदिदम्? के वा भविष्यामः? कथं वा भविष्यामः? इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते। एता यमस्थैर्ये सिद्धयः॥ ३९॥

(यह यथार्थ ज्ञान) इस योगी को हो जाता है (कि)। मैं कौन था? किस प्रकार से था? यह क्या है? किस प्रकार से है? अथवा हम लोग कौन होंगे? या किस प्रकार के होंगे? इस प्रकार से इस योगी को पूर्वकालिक, परकालिक और बीच की कोटि की अपनी जन्म-विषयक जिज्ञासा (अर्थात् जानकारी) स्वतः हो जाती है। ये सब, (पाँचों) यमों की स्थिरता हो जाने पर प्रादुर्भूत होने वाली सिद्धियाँ हैं॥ ३९॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अपरिग्रहस्थैर्ये—अपरिग्रहस्य स्थैर्ये सुदृढीभूतत्वे, 'अपरिग्रह' नामक यम के सुदृढ हो जाने पर। विज्ञानभिक्षु ने 'जन्मकथन्तासम्बोधः' पद का विग्रह इस रूप में किया है—जन्म च (जन्मनः) कथन्ता चेति जन्मकथन्तै तयोः सम्बोधः यथार्थबोध इति 'जन्मकथन्तासम्बोधः'[1]—कौन-सा जन्म था ? किस प्रकार का था ?—इन सारी बातों की पूरी जानकारी हो जाती है ॥ ३९ ॥

(भा० सि०)—'अपरिग्रह' से प्राप्त सिद्धि का विवरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं। अस्य भवति—इसको जन्मकथन्ता का सम्बोध होता है। यह इतना भाष्यांश सूत्र के साथ अन्वित होता है। **'इदं सूत्रेण सहान्वेति'** (यो० वा०)। कोऽहमासम्—मैं कौन था ? कथमहमासम्—किस प्रकार से था ? इस प्रकार भूतकालिक जन्म और उसके प्रकारों के सम्बन्ध की जिज्ञासा होती है। **'इत्यतीतजन्मनः स्वरूपप्रकारयोर्जिज्ञासा'**।[2]

किंस्विदिदम्—यह जन्म क्या है अर्थात् किन कर्मों का फल है ? कथंस्विदिदम्—यह वर्तमान जन्म कैसा है ? इतना वर्तमानकालिक जन्म के स्वरूप और प्रकार की जिज्ञासा का प्रकटीकरण है। इसी प्रकार। के वा भविष्यामः—हम क्या होंगे ? (अगले जन्मों में)। कथं वा भविष्यामः इति—या हम (अगले जन्मों) में कैसे या किस प्रकार के होंगे ? एवम्—इस प्रकार से। अस्य योगिनः—इस योगी की। पूर्वान्तः परान्तः मध्यश्चेति पूर्वान्तपरान्तमध्याः (कालवाचिन इमे त्रयश्शब्दाः)—भूतभविष्यद्वर्तमानकालाः तेषु अर्थात् बीते हुए काल में, आने वाले काल में और वर्तमान काल में। आत्मभावजिज्ञासा—आत्मनः भावः तस्मिन् जिज्ञासा इति, अपनी स्थिति अर्थात् अपने जन्म को जानने की तीव्र इच्छा या अपने जन्मों का ज्ञान। लक्षणया 'जिज्ञासा' पद से 'ज्ञान' का बोध होता है। वाचस्पति मिश्र ने इसीलिये कहा है—**'आत्मनो भावः शरीरादिसम्बन्धः तस्मिञ्जिज्ञासा ततश्च ज्ञानं यो हि यदिच्छति स तत्करोतीति न्यायात्।'**[3] स्वरूपेण—अपने (वास्तविक ज्ञान के) रूप से। उपावर्तते—हो जाता है। एताः—ये पाँचों प्रकार की। सिद्धयः—सिद्धियाँ। यमस्थैर्ये—यमों के प्रतिष्ठित या सुदृढ़ हो जाने पर योगी को प्राप्त हो जाती हैं ॥

नियमेषु वक्ष्यामः —

अब नियमों में (वितर्कशून्य स्थिरता आ जाने पर प्राप्य सिद्धियाँ) कहेंगे।

---

१. 'जन्म तस्य कथन्ता किम्प्रकारता तयोः सम्बोधः साक्षात् जन्मकथन्तासम्बोधः।' —यो० वा० पृ० २६१।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६१।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २६२।

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

(बाह्य) शौच (के स्थिर होने) से अपने अङ्गों के प्रति घृणा और अन्य (प्राणी के) अङ्गों से संसर्गाभाव होता है ॥ ४० ॥

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति। किञ्च परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥

अपने अङ्गों के प्रति घृणा होने पर शौच का पालन करने वाला (अतः) शरीर के दोषों को देखने वाला योगसाधक शरीरमात्र में आसक्तिहीन हो जाता है। इतना ही नहीं, (उसका) दूसरों से सम्पर्कराहित्य भी होता है। शरीरों के (दोषयुक्त) स्वरूप को जान लेने वाला, (अतः) अपने शरीर को भी छोड़ने का इच्छुक, मिट्टी-जल इत्यादि से धोते रहने पर भी शरीर की शुद्धता न देखता हुआ, भला कैसे (शुद्धि की) चेष्टाओं से बिल्कुल रहित (अतः अपवित्र) अन्य लोगों के शरीरों से संसर्ग कर सकता है ॥ ४० ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—नियमेषु (सिद्धीः) वक्ष्यामः—नियमों में (स्थिरता आने पर प्राप्त होने वाली) सिद्धियों को। वक्ष्यामः—कहेंगे।

(सू० सि०)—शौचात्—(बाह्य) शौच की स्थिरता के फलस्वरूप। स्वाङ्गेषु जुगुप्सा—अपने अङ्गों के प्रति कुत्सा या घृणा और फलतः अनासक्ति होती है। परैः—अन्यैः जनैः सह, अन्य लोगों (के शरीरों) से। असंसर्गः—संसर्गाभावः, सम्पर्कराहित्य, संसर्ग की प्रवृत्ति का अभाव। **'अनेन सूत्रेण बाह्यशौचस्थैर्यस्य सिद्धिरुच्यते'**।[1] **'अनेन बाह्यशौचसूचकं कथितम्'**[2] ॥ ४० ॥

(भा० सि०)—स्वस्याङ्गे इति स्वाङ्गे—अपने शरीर के अवयवों में। जुगुप्सायाम्—घृणा की भावना आने पर। शौचमारभमाणः—और अधिक शौचाभ्यास करता हुआ। यतिः—योगसाधक। कायावद्यदर्शी—शरीर के अवद्यों अर्थात् दोषों को देखने वाला। तथा कायेषु अनभिष्वङ्गी इति कायानभिष्वङ्गी—शरीरासक्तिहीन या शरीर में अनासक्त। भवति—होता है। वस्तुतः स्वाङ्गजुगुप्सा कोई श्लाघ्य या कैवल्यादिफलक सिद्धि नहीं है, फिर सिद्धि के रूप में सूत्रकार ने उसका कथन कैसे किया ? इसको उपपादित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पूर्वशौचाभ्यास

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६२।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २६२।

से शरीर के प्रति घृणा उत्पन्न होने से शौचाभ्यास की वृद्धि होती है। फलतः शरीर के दोषों का ज्ञान और उससे शरीर के प्रति अनासक्ति उदित होती है, जिससे 'अपर-वैराग्य' की पुष्टि होती है। इस दृष्टि से 'स्वाङ्गजुगुप्सा' सिद्धि के रूप में समझी जानी चाहिए। इसी सिद्धि का श्रेष्ठ परिणाम यह होता है कि। परैरसंसर्गः—परैः (सह) असंसर्गः असम्बन्धः, सम्पर्काभावः (भवति)—दूसरे लोगों के साथ संसर्ग का अभाव होता है। वह कैसे ? उस क्रम को बताते हैं। कायस्य स्वभावमवलोकते इति णिन्यन्तः शब्दः, कायस्वभावावलोकी—शरीर के स्वभाव को ठीक से देखने वाला। (यतिः) स्वम्—आत्मीयम्, अपने ही। कायम्—शरीर को। जिहासुः—हातुमिच्छुः (√ओहाक् + सन् + उः) कायस्य अवद्यसंयुक्तत्वात् परित्यक्तुकामः, दोषमय होने के कारण और उस दोषसमुच्चय का दर्शन करने के कारण अपने ही शरीर को त्यागने के लिए इच्छुक यति। मृज्जलादिभिः—मिट्टी और जल इत्यादि पदार्थों से। आक्षालयन्नपि—चारों ओर से धोते हुए भी। कायस्य शुद्धिम्—शरीर की शुद्धि या सफाई को। अपश्यन्—न देखते हुए (Still I not securiting purity)। कथम्—भला कैसे ? परकायैः—दूसरे लोगों के शरीरों से। कथम्भूतैः ? अत्यन्त-मेवाप्रयतैः—अत्यन्त ही मलिन, प्रयत्नाधानरहितैः अकृतसंस्कारैः, जिनमें बिल्कुल सफाई नहीं की गयी है, ऐसे अन्य शरीरों के साथ। संसृज्येत—संसर्ग कर सकता है ? संसर्ग के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? अर्थात् संसर्ग कर ही नहीं सकता है। **'शौचपरस्य मम कायो न शुद्ध्यति किमु प्रमत्तपरकायः ? इति दोषदर्शिनः परकायै-रसंसर्गो भवतीत्यर्थः।'** (मणिप्रभा) ॥ ४० ॥

किञ्च—

और भी (अर्थात् आभ्यन्तर शौच की सिद्धि)—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥४१॥

बुद्धिशुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता (आती है) ॥ ४१ ॥

भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यम्, तत ऐकाग्र्यम्, तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

(सत्त्वशुद्धि इत्यादि सिद्धियाँ) होती हैं—यह अवशिष्ट वाक्यांश है। (आभ्यन्तर) शौच से बुद्धिशुद्धि, उससे मन की प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इन्द्रियजय और उससे आत्मसाक्षात्कार की योग्यता बुद्धिसत्त्व को (प्राप्त) होती है। यह शौच की स्थिरता से प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—किञ्च—और भी। अब आभ्यन्तर शौच के सुदृढ़ होने पर प्राप्य फलों को सूत्रकार कहते हैं।

(सू० सि०)—आभ्यन्तर शौच की दृढ़ता या सुस्थिर अनुष्ठान के फलस्वरूप (क्रमशः)। सत्त्वशुद्धिः—सत्त्वस्य, सत्त्वप्रायबुद्धेः (क्षालितचित्तमलत्वात्) शुद्धिः, बुद्धि की निर्मलता। (बुद्धिनैर्मल्य के कारण) सौमनस्यम्—**'प्रीतिः'**—(यो० वा०), **'स्वच्छता'**—(त० वै०), **'मानसं सौख्यम्'**—(भा०), प्रसन्नता। (उससे) ऐकाग्रयम्—'एकाग्रता'। (उससे) इन्द्रियजयः—इन्द्रियों की जीत (कर्मणि षष्ठी) और (उससे)। आत्मदर्शनयोग्यत्वम्—आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की सामर्थ्य आती है। इन सभी पदों का इतरेतरद्वन्द्व समास किया गया है। च—इस पद से शौच की पूर्वसूत्रोक्त 'स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः'—नामक सिद्धियों के साथ इन सिद्धियों का संग्रह प्रकट किया गया है ॥ ४१ ॥

(भा० सि०)—भवन्ति इति वाक्यशेषः—सत्त्वशुद्धि इत्यादि पाँचों सिद्धियाँ होती हैं। सूत्र में इतने अंश का अध्याहार करना चाहिए। शुचेः—पवित्रता अर्थात् शौचानुष्ठान की दृढ़ता से। सत्त्वशुद्धिः—बुद्धिसत्त्व की शुद्धि होती है। आशय यह है कि रजोगुण और तमोगुण रूपी मल अभिभूत हो जाते हैं और शुद्धसत्त्व का उद्रेक होता है। **'क्षालितचित्तमलस्य सत्त्वशुद्धिः सत्त्वोद्रेको भवति'**—(यो० वा०)। ततः—उस सत्त्वोद्रेक से। सौमनस्यम्—मनःप्रसादः, मन की प्रसन्नता होती है। तत ऐकाग्रयम्—उस मानस प्रसन्नता से मन की एकाग्रता प्राप्त होती है। ततः इन्द्रियजयः—उससे इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। ततश्च—और उस इन्द्रियजय से। आत्मदर्शनयोग्यत्वम्—आत्मसत्त्व का साक्षात्कार करने की (विवेकख्यातिकालिक) योग्यता। बुद्धिसत्त्वस्य—चित्त को। भवति—प्राप्त होती है। इति एतत्—यह इतनी (दो सूत्रों में कही गयी) कुल सिद्धियाँ। शौचस्थैर्याद्—द्विविध शौच की स्थिरता से। अधिगम्यत इति—प्राप्त होती है। **'एतत्सूत्रद्वयोक्तं शौचसामान्यस्य स्थैर्यात्प्राप्यत इत्यर्थः'**।[1] **'पूर्वस्य पूर्वस्य स्थैर्यादुत्तरस्याविर्भावः···ततश्चेयं शौचसिद्धिरेव'**—(विवरण पृ० २२३) ॥ ४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोष (के स्थिर होने) से निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है ॥ ४२ ॥

तथा चोक्तम्—

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६३।

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्' ॥ ४२ ॥
(शान्ति० १७४।४६, वायु० पु० ९३।१०१)

वैसे ही कहा भी गया है—

संसार में जो कामजन्य सुख है और जो महान् स्वर्गीय सुख है, ये दोनों (सुख) तृष्णा के नाश के सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते ॥ ४२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब 'सन्तोष' नामक द्वितीय नियम की सिद्धि का कथन किया जा रहा है । सन्तोषात्—सन्तोष के सुस्थिर अर्थात् वितर्करहित हो जाने पर **'सन्तोष-वितर्कानुत्पत्तौ'**—(विवरण पृ० २२३) । अनुत्तमसुखलाभः—न विद्यमानम् उत्तमं यस्मात्तद् अनुत्तमम् (बहुव्रीहिः) अनुत्तमञ्च तत् सुखञ्चेति अनुत्तमसुखम् (कर्मधारयः) तस्य लाभः (षष्ठीतत्पुरुषः) इति तथोक्तः, सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है । यह अनुत्तम सुख क्या है ? तृष्णा या कामना की पूर्त्ति रूपी सुख तो आगमापायी और क्षयातिशयादि की कष्टकारिणी सम्भावनाओं से संकुल होता है, इसलिये तृष्णाजन्य कोई भी सुख अनुत्तमसुख कदापि नहीं कहा जा सकता । तृष्णाओं के नाशरूपी संतोष के कारण प्राप्त होने वाला निर्विषय तथा स्वाभाविक एवं शान्त सुख ही यहाँ 'अनुत्तमसुख' कहा गया है । श्रुति में भी इसका प्रतिपादन हुआ है—**'ते शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति'** ।[1] अपने पूज्यपिता पुरु को यौवन का अर्पण करते हुए ययाति ने भी कहा था—

'या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम् ।
तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते' ॥ ४२ ॥[2]

(भा० सि०)—इसी अर्थ को परिपुष्ट करते हुए भाष्यकार 'मनुस्मृति' का उद्धरण देते हैं । तथा चोक्तम्—और वैसा ही 'मनुस्मृति' में कहा गया है । लोके—इस लोक में । यच्च—जो भी । कामसुखम्—कामना की पूर्ति से प्राप्त होने वाला सुख है, **'काम्यविषयप्राप्तिजनितं यत् सुखम्'** ।[3] यच्च—और जो । दिव्यम्—(दिवि भवमिति, द्यौ + यत्), देवलोक में प्राप्य । महत् सुखम्—महान् सुख है । लौकिक सुख की तुलना में दिव्यसुख को 'महत्' कहा गया है । एते—ये दोनों सुख (ऐहिक और आमुष्मिक—उभयविध सुख) । तृष्णाक्षयसुखस्य—तृष्णायाः क्षयः इति तृष्णाक्षयः स एव सुखम् इति तथोक्तस्य अर्थात् तृष्णानाशरूपी, कामनाशून्यत्वरूपी सुख की । षोडशीं कलाम्—

---

१. द्रष्टव्य; बृहदारण्यकोपनिषद् ।
२. द्रष्टव्य; महाभारत, आदिपर्व ८५।१४ ।
३. द्रष्टव्य; भास्वती पृ० २६४ ।

सोलहवें अंश की। न अर्हतः—बराबरी नहीं कर सकते। इनका तात्पर्य यह है कि तृष्णाक्षयसुख की तुलना में समस्त लौकिक एवं स्वर्गीय सुख सर्वथा नगण्य हैं। इस प्रकार के अनुत्तमसुख की स्थिति आने पर समझना चाहिए कि अब 'सन्तोष' नामक नियम का अनुष्ठान सम्यग् रूप से प्रतिष्ठित हो गया है ॥ ४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥ ४३ ॥

तप से अशुद्धि का नाश हो जाने से (अणिमादि) कायसिद्धि और (दूरश्रवणादि) इन्द्रियसिद्धि (प्राप्त) होती हैं ॥ ४३ ॥

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम्। तदावरणमलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या, तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥

(ठीक से) की गयी तपस्या अशुद्धि के आवरण रूपी मल को नष्ट कर देती है। उस आवरण रूपी मल के हट जाने से अणिमादि शारीरिक सिद्धियाँ (प्राप्त होती हैं) और इन्द्रियों की सिद्धियाँ—(बहुत) दूर से सुनना, देखना इत्यादि (प्राप्त होती हैं) ॥ ४३ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तपसः—तपस्या के परिनिष्ठित हो जाने से। अशुद्धिक्षयात्—अशुद्धि अर्थात् चित्त के मलों का नाश होने से। कायेन्द्रियसिद्धिः—कायश्च इन्द्रियञ्चेति कायेन्द्रिये तयोस्सिद्धिर्भवतीति शेषः शरीरसम्बन्धी सिद्धि और इन्द्रियों की सिद्धि होती है। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, यत्रकामावसायित्व और वशित्व नामक आठ सिद्धियों में से अणिमा, महिमा, लघिमा और प्राप्ति—ये चार कायसिद्धियाँ कही जा सकती हैं। **'अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिश्च सुगमम्'**।[1] एक-एक इन्द्रिय की अलग-अलग असाधारण क्षमताओं को इन्द्रियों की सिद्धियाँ कहा गया है, जैसे—दूर, विप्रकृष्ट और व्यवहित स्थलों की बात देखना नेत्रेन्द्रिय की सिद्धि है ॥ ४३ ॥

(भा० सि०)—निर्वर्त्यमानम् एव तपः—(निर् + √वृत् + णिच् + यक् + शानच् प्र० ए०) निःशेषेण क्रियमाणम्, **'निष्पाद्यमानम्'** (भा०) विधिवत् किया गया तप। 'एव' शब्द का अभिप्राय यह है कि अन्य किसी काल या क्रिया या वस्तु की अपेक्षा न करता हुआ 'तप' स्वयं अशुद्धिक्षय और उससे उत्पन्न कायेन्द्रियसिद्धि रूपी फल प्रदान करता है। अशुद्ध्यावरणमलम्—अशुद्धिरेव आवरणं तदेव मलः तं तथोक्तम्, अधर्मादिक अशुद्धि रूपी, चित्त का आवरण बने हुए मल को। हिनस्ति—नाशयति, नष्ट करता है, मिटाता है। तदावरणमलापगमात्—दूरीभवनात्, उस आवरणभूत चित्तमल के निकल जाने से। कायसिद्धिः अणिमाद्या—अणिमा इत्यादि कायसिद्धि,

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २३४।

प्राप्त होती है। तथा—और उसी प्रकार। दूराच्छ्रवणदर्शनाद्या इन्द्रियसिद्धिः इति—दूर से सुनना और दूर से देखना—इस क्रम से श्रवणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय इत्यादि सभी इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्याय (के स्थिर होने से) इष्ट देवताओं का सम्पर्क होता है ॥ ४४ ॥

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥ ४४ ॥

देवता, ऋषि और सिद्धगण स्वाध्यायपरायण प्राणी को दीख पड़ते हैं और उसके काम आते हैं ॥ ४४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब 'स्वाध्याय' नामक नियम के सम्यगनुष्ठान से प्राप्य सिद्धि का कथन किया जा रहा है। स्वाध्यायाद्—मोक्षशास्त्राध्ययन तथा प्रणवादि के जप के सम्यगनुष्ठान करने से। इष्टदेवतासम्प्रयोगः—इष्टदेवतानां सम्प्रयोगः सम्पर्कः दर्शनादिः **'सम्प्रयोगो दर्शनम्'**।[1] अभीष्ट देवताओं (यहाँ सिद्धों और ऋषियों का भी अतिदेश समझना चाहिए) का दर्शन और तज्जन्य कार्यसिद्धि सम्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

(भा० सि०)—देवाः—देवतागण। ऋषयः—मन्त्रद्रष्टारः वसिष्ठादयः। सिद्धाश्च—और सिद्धगण। स्वाध्यायः शीलं यस्य तस्य स्वाध्यायशीलस्य—स्वाध्यायाभ्यासनिष्ठ साधक को। दर्शनं गच्छन्ति—दृष्टिमायान्ति, दिखायी पड़ते हैं, दर्शन देते हैं। कार्ये चास्य वर्तन्ते—और इसके काम आते हैं। इसके अभीष्ट कामों को पूरा करते हैं। **'ते दर्शनप्रतिबन्धकपापनिवृत्त्या दर्शनमायान्ति कार्ये भवन्तीत्यर्थः'**[2] ॥४४॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरप्रणिधान (स्थिर होने) से समाधि की सिद्धि होती है ॥ ४५ ॥

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥४५॥

अपने सारे व्यापारों को ईश्वर को अर्पित करने वाले को समाधि की सिद्धि होती है, जिससे कि वह अन्य देशों में, अन्य शरीरों में और अन्य कालों में स्थित सभी इच्छित पदार्थों को उस (ईश्वरप्रणिधान) से यथार्थ रूप में जान लेता है। इसलिये इस योगी की बुद्धि (पदार्थों का) यथार्थ रूप से साक्षात्कार करती है ॥ ४५ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६४।

२. द्रष्टव्य; यो० सि० च० पृ० ८१।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ईश्वरप्रणिधानात्—ईश्वरभक्ति (के दृढ़ हो जाने) से । समाधेः—सम्प्रज्ञातादियोगस्य, सम्प्रज्ञात इत्यादि समाधियों की । सिद्धिः—पूर्णत्वम्, प्राप्तिः भवतीति शेषः, होती है, यहाँ पर सम्प्रज्ञातसमाधि की ही सिद्धि मुख्यार्थ रूप में ग्रहण करनी चाहिए । असम्प्रज्ञातसमाधि के प्रति ये यमादि पाँचों अङ्ग बहिरङ्ग ही कहे गये हैं । समाधिपाद में असम्प्रज्ञातसमाधि की शीघ्रतम सिद्धि के लिये एक सूत्र 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' आ भी चुका है, अतः पुनरुक्ति होगी । अङ्गभूत समाधि भी इस 'समाधि' शब्द का मुख्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी स्थिति में आठवें अङ्ग रूप समाधि से समाधिप्रज्ञा की उत्पत्ति माननी पड़ेगी । इस समाधि-सिद्धि का स्वरूप भाष्यकार ने स्पष्टतः समाधिकाल की प्रज्ञा के रूप में ही प्रस्तुत किया है । इसलिये इसका मुख्यार्थ न तो अङ्गभूत समाधि को माना जा सकता है और न असम्प्रज्ञात समाधि को ही । अब प्रश्न यह उठता है कि यदि ईश्वर-प्रणिधान से ही सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है तब तो फिर उस ईश्वरप्रणिधान नामक नियम को छोड़कर शेष सभी योगाङ्ग व्यर्थ ही हुए ? **'न च वाच्यमीश्वरप्रणिधानादेव चेत्सम्प्रज्ञातस्य समाधेरङ्गिनः सिद्धि कृतं सप्तभिरङ्गैरिति'**—(त० वै०) । इस शङ्का का समाधान यह है कि अन्य सकल योगाङ्गों की उपयोगिता 'ईश्वरप्रणिधान' में ही है । ईश्वरप्रणिधान में दृष्ट, अदृष्ट और अवान्तरव्यापार के रूप में ये सभी अङ्ग उपयोगी हैं, इसलिये ये व्यर्थ नहीं हैं । इस सम्बन्ध में सभी टीकाकारों की यही सम्मति है । **'ईश्वरप्रणिधानसिद्धौ दृष्टादृष्टावान्तरव्यापारेण तेषामुपयोगात्'**—(त० वै०) । **'अन्यानि अङ्गानि ईश्वर-प्रणिधानद्वारा समाधिं निष्पादयन्ति । इतराङ्गानां च स्वतो नैतादृशी शक्तिरस्ति, इत्या-शयेनेश्वरप्रणिधानस्यैव तु मुख्यतः समाधिसाधकत्वमिति'**—(यो० वा०) ॥ ४५ ॥

(भा० सि०)—ईश्वरार्पितसर्वभावस्य—ईश्वरायार्पिताः समर्पिताः सर्वे भावाः येन साधकेन तस्य, ईश्वर को अपना सब कुछ समर्पित करने वाले साधक को । ससाधिसिद्धिः—समाधि की सिद्धि होती है । यया—जिस (समाधि सिद्धि) से । सर्वम् ईप्सितम्—समस्त अभीष्ट पदार्थों को । अवितथम्—यथार्थरूपेण, सच्चे रूप में । जानाति— जान जाता है । इसी सच्ची जानकारी के विषय को स्पष्ट किया जा रहा है । देशान्तरे—अन्य देशों में । देहान्तरे—अन्य शरीरों में । कालान्तरे च—और भूतभविष्यदादि अन्य समयों में (स्थित पदार्थों को भी) । ततः—तदा, उस दशा में । अस्य—इस योगी की । प्रज्ञा—समाधिप्रज्ञा । यथाभूतम्—याथातथ्य रूप में (क्रियाविशेषणपदमेतत्) । प्रजानातीति—प्रकर्षेण जानातीति, यथार्थमेव साक्षात्करो-तीत्यर्थः, ठीक-ठीक जान लेती है ॥ ४५ ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र—

सिद्धियों सहित यम और नियम कह दिये गये । अब आसन इत्यादि योगाङ्गों को बतायेंगे । उनमें—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जो (शारीरिक स्थिति) स्थायी और सुखद हो, वह आसन है ॥ ४६ ॥

तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ४६ ॥

वे जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्य्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन और समसंस्थान स्थिरसुख अर्थात् यथासुख होते हैं। इसी प्रकार के और भी (स्थिरसुख आसन होते) हैं ॥ ४६ ॥

योगसिद्धिः

(**सं॰ भा॰ सि॰**)—यमनियमाः सिद्धिभिः सह उक्ताः—सिद्धियों सहित सारे यम और नियम बता दिये गये। अब। आसनादीनि—आसन इत्यादि अन्य योगाङ्गों को। वक्ष्यामः—कहेंगे। तत्र—उन योगाङ्गों में से—

(**सू॰ सि॰**)—आस्यते अनेन इति करणे ल्युट् (आस्+ल्युट्) आसनम्[1]—बैठने का प्रकार (Posture)। स्थिरञ्च तत् सुखञ्चेति स्थिरसुखम् (आसन पद का विशेषण)—निश्चल तथा सुखकारी। (१) **'स्थिरं निश्चलं यत् सुखं सुखावहं तदासनमिति सूत्रार्थः, आस्यतेऽत्र, आस्यते वाऽनेनेति आसनम्'**।[2] **'पद्मासनादि यदा स्थिरसुखं, स्थिरं सुखं सुखावहञ्च यथासुखमित्यर्थः भवति तदा योगाङ्गमासनं भवति'**।[3] **'स्थिरञ्च सुखञ्च'**—(रा॰ मा॰ वृ॰)। शरीर के स्थित होने की उस रीति को योगाङ्गभूत आसन कहा जाता है, जो निश्चल या स्थायी (दीर्घकाल तक चञ्चलता से रहित) और सुखद हो। **सुखप्रदत्वे सति शरीरवृत्तिस्थिरत्वमासनत्वम् इति'**।[4] जब तक उस बैठने की रीति से बैठने में स्थायित्व की क्षमता न आवे, तब तक उसे योग का अङ्ग नहीं माना जा सकता। ठीक इसी प्रकार जब तक उस रीति से बैठने में कष्ट या पीड़ा का अनुभव होता रहे, तब तक बैठने की वह रीति योगाङ्गभूत 'आसन' नहीं मानी जा सकती। यह बात वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट रूप में प्रतिपादित की है। **'येन संस्थानेनावस्थितस्य स्थैर्यसुखं सिद्धयति तदासनं स्थिरसुखं तत् तत्रभगवतः सूत्रकारस्य सम्मतम्'**[5] ॥ ४६ ॥

---

१. 'It is only with the third member of Yoganga that technique, properly speaking begins.'

—Yoga : Immortality and Freedom, p. 53.

२. द्रष्टव्य; त॰ वै॰ पृ॰ २६६ और यो॰ वा॰ पृ॰ २६६।

३. द्रष्टव्य; भा॰ पृ॰ २६६।

४. द्रष्टव्य; यो॰ द॰ पृ॰ २४१।

५. द्रष्टव्य; त॰ वै॰ पृ॰ २६७।

(**भा० सि०**)—भाष्यकार ने ऋषियों और मुनियों के द्वारा अनुभूत बैठने की उन शैलियों अर्थात् आसनों का नाम गिनाते हुए कहा है कि—तद्यथा—वे आसन ये हैं, जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्च-निषदन (क्रौञ्च पक्षी की बैठने की रीति से बैठना), हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन और समसंस्थान—ये सब आसन। स्थिरसुखम्—स्थायी और सुखप्रद होते हैं। इसीलिये ये सभी योगाङ्गभूत 'आसन' माने जाते हैं। इसी 'स्थिरसुखम्' का व्याख्यान भाष्यकार आगे भी कर रहे हैं। यथासुखञ्च—सुखमनतिक्रम्येति अर्थात् सुखपूर्वक बैठने के प्रकार हैं। **'तस्य (स्थिरसुखपदस्य) विवरणं यथासुखञ्चेति'**— (त० वै०)। **'स्थिरसुखं च सूत्रोपात्तं तस्य व्याख्यानं यथासुखमिति'**।[1] इत्येवमादीनि—इस प्रकार के ये सब, एतत्प्रभृतीनि आसनानि। 'आदि' शब्द से 'मयूरासन' तथा 'भुजङ्गासन' आदि का ग्रहण करना चाहिये। **'आदिशब्देन मयूराद्यासनानि ग्राह्याणि यावत्यो जीवजातयस्तावन्त्येवासनानीति संक्षेपः'**—(यो० वा०) ॥ ४६ ॥

अध्येताओं की सुविधा के लिये कुछ प्रमुख आसनों के लक्षणों का संग्रह किया जा रहा है—

पद्मासनम्

अङ्गुष्ठौ सन्निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र! कृत्वा पादतले उभे॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामेव पूजितम्।
उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः॥
ऊरुमध्ये तथोत्तान्नौ पाणी कृत्वा समौ दृशौ।
नासाग्रे विन्यसेद्राजन्! दन्तमूलं तु जिह्वया।
उन्नम्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैरिति॥ १॥

सिद्धासनम्

'एतदेव योगासनपदेनोच्यते श्रुतिषु'[2]—

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेकहृदयः कृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
त्वेतन्मोक्षकपाटभेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते॥ २॥

भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलः॥
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम्॥ ३॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६७।
२. द्रष्टव्य; यो० सि० च० पृ० ३।

वीरासनम्

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि सत्तमाः ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदाहृतम् ॥ ४ ॥

स्वस्तिकासनम्

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ५ ॥

दण्डासनम्

सुखप्रसारितौ पादौ सुश्लिष्टौ भुवि संस्थितौ ।
उपवेश्यार्द्धकायं तु दण्डासनमिति स्मृतम् ॥ ६ ॥

सोपाश्रयासनम्

पादौ द्वौ द्विगुणीकृत्य तिर्यगूर्ध्वं यथाक्रमम् ।
न्यसेत् पाणी योगपट्टे स्थितः श्लिष्टाङ्गुलीनखौ ॥

पर्यङ्कासनम्

पर्यङ्के योगपट्टेन बध्नीयात् पृष्ठतो गतः ।
आकुञ्च्य जानुनी सम्यक् पादं कृत्वा तु दक्षिणम् ॥
बाह्यतो वामजङ्घायां वामसव्यादधो बहिः ।
किञ्चिद्विनिर्गतं कृत्वा सन्तिष्ठेन्नास्य वै कटिम् ॥
पर्य्यङ्कमिति व्याख्यातमासनं योगसिद्धिदम् ॥ ८ ॥

समसंस्थानासनम्

बाह्याग्रप्रपदाभ्यां द्वयोराकुञ्चितयोरन्योऽन्यसम्पीडनम् ॥ ९ ॥

'अथ क्रौञ्चनिषदनं क्रौञ्चस्येवावस्थितिः । एवं हस्तिनिषदनादीनि हस्त्यादीनां संस्थानदर्शनात् प्रत्येतव्यानि, सम्प्रदायाच्चावगन्तव्यानि प्रचरदवस्थेषु तेषामनुपलब्धेः' ।[१] इन समस्त आसनों में भी योगियों ने 'सिद्धासन' और 'पद्मासन' को बड़ा महत्त्व दिया है—

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं पद्मासनम् ॥—गोरक्षसंहिता ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयास में कमी आने और शेषनाग में समापत्ति करने से (आसनों की सिद्धि होती है) ॥ ४७ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० सि० च० पृ० ८७ ।

भवतीति वाक्यशेषः। प्रयत्नोपरमात् सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

(आसनसिद्धि) होती है—वाक्य का यह अंश (पूरणीय) है। शारीरिक व्यापार के अभाव होने (पर) आसन सिद्ध होता है, जिससे अङ्गों में कँपकँपी नहीं होती। या फिर शेषनाग में समापन्न चित्त आसन को सिद्ध करता है ॥ ४७ ॥

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—आसनों का लक्षण और स्वरूप निरूपित करने के पश्चात् उनको सिद्ध करने का अर्थात् उनका जय करने का उपाय बताया जा रहा है। प्रयत्नस्य—चेष्टायाः, शारीरिक प्रयास का। शैथिल्याद्—उपरमात् विरामाद्, अभाव होने से अर्थात् आसनबन्ध के उपरान्त आसन के लिये की जाने वाली शारीरिक चेष्टा को कम करते जाने से। अनन्तसमापत्तेश्च—और शेषनाग में समापत्ति करने से। आसन की सिद्धि होती है। दोनों उपायों को इकट्ठा करके कहा गया है 'प्रयत्न-शैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्'। यहाँ पर दो प्रश्न ठीक से समझ लेने चाहिए। पहला तो यह कि वे शारीरिक श्रम कौन हैं तथा किस काल के हैं, जिनके शिथिल करने या समाप्त करने से आसन की सिद्धि होती है? दूसरा यह कि आसन की सिद्धि के लिये बताये गये इन दो उपायों में विकल्प है अथवा समुच्चय? अर्थात् दो में से किसी एक को अपनाने से आसनसिद्धि होती है अथवा दोनों के करने से आसन सिद्ध होते हैं? इनमें से प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में ये विचार प्रस्तुत किये गये हैं—

१. ये प्रयत्न शरीर की स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं, जो आसनबन्धोत्तरकाल में भी सामान्य रूप से मनुष्यों को बाधित करती हैं। साधक को चाहिए कि इन सामान्य-जनसुलभ शारीरिक क्रियाओं का त्याग करे। इससे शनैः-शनैः आसन दृढ़ हो जाता है।

(अ) **'स्वाभाविकः प्रयत्नश्चलत्वादासनविघातकः तस्योपरमेणासनं सिध्यति'।**[1]

(ब) **'तस्मादुपदेष्टव्यस्यासनस्यायमसाधको विरोधी च स्वाभाविकः प्रयत्नः··· इति स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यमासनसिद्धिहेतुः'।**[2]

(स) **'पद्मासनादिगतस्थिरुन्नतस्थापनप्रयत्नादन्यप्रयत्नशैथिल्यं कुर्यादित्यर्थः'।**[3]

(द) **'प्रयत्नोपरमादासनबन्धोत्तरकालं प्रयत्नाकरणाद्वा सिध्यति'।**[4]

---

१. द्रष्टव्य; मणिप्रभा पृ० ४६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २६७।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० २६७।

४. द्रष्टव्य; विवरण पृ० २२६।

२. आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि आसनसाधन के पूर्वकाल में बहुत अधिक शारीरिक चेष्टाएँ या अधिक (स्वाभाविक) शारीरिक क्रियाओं के होने से थकान बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप आसनबन्धकाल में अङ्गकम्पन होता है और आसन-सिद्धि नहीं हो पाती । इसलिये आसनबन्ध के पूर्वकाल के प्रयत्नों का शिथिलीकरण यहाँ सूत्रकार के द्वारा उपदिष्ट है ।

(अ) **'बहुव्यापारानन्तरं चेदासनं क्रियते तदाङ्गकम्पनादासनस्थैर्यं न भवतीत्याशयः'** ।[1]

(ब) **'बहुव्यापारानन्तरं चेदासनं क्रियते तदाङ्गकम्पनादासनस्थैर्यं न भवतीति प्रयत्नोपरमे सति तु अङ्गमेजयो न भवतीति'** ।[2]

इन दोनों मतों में से प्रथम मत ही सुसंगत एवं समीचीन है, क्योंकि प्रयत्न केवल आसनकाल के ही रोके जायें, यही बड़ी बात है । पहले के प्रयत्नों को रोक पाना सर्वथा असम्भव है । और यह तो एक सामान्य हेतु है, किसी भी यौगिक क्रिया या किसी भी लौकिक क्रिया के लिये । इसका उपयोग केवल आसन के लिये ही सीमित होने पर सूत्रकार इसे यहीं क्यों कहते ? 'शैथिल्य' शब्द का अर्थ भाष्यानुसारी 'उपरम' ही लेना चाहिए, क्योंकि भाष्यविरोध तो उचित नहीं है । इस दृष्टि से भी पहला ही अर्थ समीचीन लगता है । दूसरे प्रश्न का उत्तर भाष्यकार ने स्वयं दे दिया है कि ये उपाय वैकल्पिक हैं ॥ ४७ ॥

(**भा० सि०**)—भवतीति वाक्यशेषः—सूत्र में यह वाक्यांश जोड़ लेना चाहिये (अर्थ स्पष्टीकरण के लिये) । ऐसी भाष्यकार की सम्मति है । प्रयत्नोपरमात्—आसनबन्धकाल में अर्थात् आसनकाल में । येन (प्रयत्नोपरमेण)—जिस (प्रयत्न-त्याग) से । न अङ्गमेजयो भवति—अङ्गकम्पन नहीं होता और आसन निष्पन्न होता है । **'मृतवत् स्थितिरेव प्रयत्नशैथिल्यम्'** ।[3] अनन्ते—शेषनाग में । वा—अथवा । **'अथवा प्रयत्नशालित्वेऽपि पृथिवीधारिणि स्थिरतरशेषनागे समापन्नं चित्तमासन्नं निर्वर्तयतीति'** ।[4]

समापन्नम्—समापत्ति को प्राप्त हुआ । चित्तम्—साधक का चित्त । आसनम्—किये गये आसन को, अभ्यस्यमान आसन को । निर्वर्तयति—द्रढयति, दृढ़ करता है । 'अनन्त' शब्द का अर्थ भोजराज, भास्वतीकार और विवरणकार इत्यादि विद्वान्

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६७ ।
२. द्रष्टव्य; यो० द० पृ० २५१ ।
३. द्रष्टव्य; भा० पृ० २६७ ।
४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६८ ।

'शून्य या आकाश' लेते हैं। किन्तु प्रथम अर्थ कहीं बेहतर है। **'परमहत्त्वे वा समापन्नः'**[1] ॥ ४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

तब (आसनसिद्धि होने पर) शीतोष्णादि द्वन्द्वों से बाधा नहीं होती ॥ ४८ ॥

शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

साधक आसनजय के कारण शीतोष्णादि द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता ॥ ४८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ततः—तस्मात् हेतोः अर्थात् आसनसिद्धेः, उससे अर्थात् आसन सिद्ध हो जाने से। द्वन्द्वैः—शीत और उष्ण, भूख और प्यास इत्यादि जोड़ों से। अनभिघातः—अभिघाताभावः पीडाभावः भवतीति शेषः, पीड़ा नहीं होती अर्थात् ये जोड़े उस साधक को नहीं सताते। वह इनको बड़ी आसानी से सह लेता है। इस सूत्र में आसनसिद्धि का फल बताया गया है ॥ ४८ ॥

(भा० सि०)—शीतोष्णादिभिः—शीत और उष्ण इत्यादि युगलों से। 'आदि' पद के द्वारा 'अशनायापिपासा' इत्यादि का ग्रहण करना चाहिए। वह साधक। आसनजयात्—आसनों पर विजय हो जाने के कारण। न अभिभूयते—अभिभूत या पीड़ित नहीं होता ॥ ४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

उस (आसनजय) के होने पर श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है ॥ ४९ ॥

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कोष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसन-सिद्धि हो जाने पर बाह्य वायु को ग्रहण करना श्वास (निःश्वास है)। उदरस्थ वायु का निकालना प्रश्वास (उच्छ्वास) है। इन दोनों की गति को रोकना अर्थात् दोनों का (दोनों का अलग-अलग और दोनों का एक साथ) अभाव 'प्राणायाम' है ॥ ४९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तस्मिन् सति—आसनस्थैर्ये सति, आसनजये अर्थात् आसने दृढे सति, आसन दृढ़ हो जाने पर ही प्राणायामादि योगाङ्ग अभ्यसनीय हैं। बिना आसन सुदृढ़ हुए चलते-फिरते प्राणायाम करने से योग की सिद्धि असम्भव है, उल्टे भाँति-भाँति के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। बिना आसन बाँधे

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २६७।

हुए साँस का रोकना और छोड़ना 'प्राणायाम' नहीं है—यह बात भी 'तस्मिन् सति'—इस अंश के परिभाषांश होने से सिद्ध हो जाती है। यह 'भावे सप्तमी' का प्रयोग है। श्वासप्रश्वासयोः—श्वास अर्थात् साँस लेने और प्रश्वास अर्थात् साँस को छोड़ने की। गतिविच्छेदः—गतेर्विच्छेदः प्रक्रियाभावः क्रमच्छेदः, गति या प्रक्रिया को समाप्त कर देना, रोक देना ही। प्राणायामः—प्राणस्य आयामः (प्राण + आङ् + √यम् (नियन्त्रणार्थक) + घञ्) = 'प्राणायाम' नामक चौथा योगाङ्ग है—

'प्राणो देहगतो वायुरायामस्तन्निबन्धनम्'—इति स्मृतिः।

'प्राणः प्राणमयो वायुर्वायुरात्मा निगद्यते।

तस्यायामः समुद्दिष्टः षट्प्रकारः सुयोविग्रभिः॥'—(पद्मपुराणम्)

प्राण केवल वायु नहीं है, प्रत्युत जीवनी शक्ति (Vitiality) है। यह प्राणायाम का लक्षण है। इसके भेद आगामी सूत्र में बताये जायेंगे॥ ४९॥

(**भा० सि०**)—सति आसनजये—यह भाष्य सूत्रगत 'तस्मिन् सति' अंश का स्पष्टीकरण है। आसन-जय हो जाने पर, आसन स्थिर हो जाने पर। बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः—बाह्य वायु को शरीर के अन्दर नासिकापुटों के माध्यम से ग्रहण करना, धारण करना 'श्वास' कहा जाता है। कोष्ठचस्य—कोष्ठगतस्य, शरीरान्तःस्थितस्य। वायोर्निःसारणम्—वायु को नासिकापुटों के माध्यम से बाहर निकालना। प्रश्वासः—साँस छोड़ना प्रश्वास है। तयोः द्वयोः श्वासस्य प्रश्वासस्य च गतिविच्छेदः—क्रमभङ्गः, गतेः प्रवाहस्य भङ्गः छेदनम्। द्वयोः (मध्ये प्रत्येकस्य, उभयोः च) अभावः गतिभङ्गः प्राणायामः।

यहाँ पर ज्ञातव्य यह है कि 'उभयाभावः' में यदि उभय शब्द से 'दोनों श्वास-प्रश्वास' का एक साथ ग्रहण करेंगे तो सिर्फ 'कुम्भक' को ही 'प्राणायाम' माना जा सकता है। रेचक और पूरक को प्राणायाम नहीं गिना जा सकेगा। और यदि रेचकान्त उभयनिरोध तथा पूरकान्त उभयनिरोध को रेचक और पूरक नाम दें तो फिर वक्ष्यमाण 'केवलकुम्भक' के लिये इस परिभाषा में स्थान नहीं रह जाता। इसलिये 'उभयाभावः' का अर्थ करते समय ध्यान रखना चाहिए कि दोनों में से एक का भी अभाव 'प्राणायाम' है। इस प्रकार श्वास के गतिविच्छेद से 'रेचक' नामक प्राणायाम, प्रश्वास के गतिविच्छेद से 'पूरक' नामक प्राणायाम और दोनों के एक साथ अभाव से 'कुम्भक' तथा दोनों के ऐसे अभाव से, जिसमें रेचक और पूरक की सहायता ही न ली जाय; 'केवल कुम्भक' कहते हैं। यही अर्थ पतञ्जलि को अभिप्रेत है और यही व्यास को। पता नहीं वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु और मणिप्रभाकार को कैसे भ्रान्ति हुई? स्मृतियों तथा अन्य योगग्रन्थों में भी सर्वत्र यही लक्षण चतुर्विध प्राणायामों का दिया गया है। **'प्राणो देहगतो वायुरायामस्तन्निबन्धनम्'**—इति स्मृतिः।

एक बात यहीं पर और भी समझ लेने की है कि रेचक इत्यादि सब प्राणायाम अलग-अलग प्राणायाम हैं। रेचक, पूरक और कुम्भक—तीनों को मिलाकर 'एक प्राणायाम' केवल प्रारम्भिक भूमिका में ही कह दिया गया है। **'प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तः पूरकुम्भकरेचकैः'**—स्मृतिः। **'त्रयाणां पौर्वापर्येण प्रथमभूमिकायां सहानुष्ठाननियमादेकत्वव्यवहारोपपत्तेः, न तु तादृशवाक्येषु मिलितानामेव प्राणायामत्वं विवक्षितम्'**—(यो० वा०)। **'वक्ष्यमाणचतुर्विधप्राणायामस्यैव सामान्यलक्षणं गतिविच्छेदः शास्त्रोक्तरीत्या स्वाभाविकगतेः प्रतिषेध इत्यर्थः। स च रेचकपूरककुम्भकेष्वनुगतः'**[1] ॥ ४९ ॥

स तु—

और वह (प्राणायाम) तो—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

(शरीर के) बाहर होने वाला (रेचक), भीतर होने वाला (पूरक) तथा (बाहर और भीतर) रुकने वाला (कुम्भक)—त्रिविध प्राणायाम देश, समय और संख्या के द्वारा परीक्षित होता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है ॥ ५० ॥

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् भवत्यभाव इति। त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टाः—इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परदृष्टाः—क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टाः—एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः। एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

जहाँ पर श्वास छोड़ते हुए (श्वासग्रहण की) गति का अवरोध होता है, वह बाह्य (रेचक) प्राणायाम है। जहाँ पर श्वास ग्रहण करते हुए (श्वासनिःसारण की) गति का अवरोध होता है, वह आभ्यन्तर (पूरक) प्राणायाम है। तीसरा (रुकने वाला) स्तम्भवृत्ति (कुम्भक) प्राणायाम वह है, जहाँ पर (श्वास और प्रश्वास अर्थात् श्वासग्रहण और श्वासनिःसारण) दोनों की गतियों का अवरोध पहले ही प्रयास से हो जाता है—जैसे तपे हुए पत्थर पर डाला गया जल सब ओर से संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार (श्वासग्रहण और श्वासनिःसारण—इन) दोनों

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २६८।

(गतियों) का एक साथ ही अभाव या अवरोध हो जाता है। ये तीनों प्राणायाम 'देश' से परीक्षित किये जाते हैं। जैसे—अभी यहाँ तक इसका देश या स्थान है। 'समय' से परीक्षित होते हैं—अर्थात् इतने क्षणों तक यह प्राणायाम रहा—इस निश्चय से निर्धारित होता है। संख्या या गणना से परीक्षित होते हैं। जैसे—इतनी साँसे लेने और इतनी साँसें छोड़ने से (प्राणायाम का) पहला उद्घात होता है, उतना निगृहीत कर चुकने वाले साधक के लिये (अधिक संख्या वाला) दूसरा उद्घात, इसी प्रकार तीसरा उद्घात (उससे भी अधिक संख्या वाला) होता है। इस प्रकार से (अर्थात् इतनी संख्या वाला) मृदु, इतनी संख्या वाला मध्य और इतनी संख्या वाला तीव्र प्राणायाम होता है, इस प्रकार संख्या से परीक्षित प्राणायाम हुआ। वह (त्रिविध प्राणायाम) उक्त प्रकार से अभ्यस्त हो जाने पर दीर्घ (कालव्यापी) और सूक्ष्म (वायुसंचारवाला) होता है ॥ ५० ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—स तु—और वह अर्थात् चतुर्थ योगाङ्ग।

(सू० सि०)—प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। बाह्यश्च, आभ्यन्तरश्च, स्तम्भश्चेति बाह्याभ्यन्तरस्तम्भाः, तेषु (पृथक्-पृथक्) वृत्तयः यस्य सः (त्रिविधः प्राणायामः) इति बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः। बाह्यवृत्तिः—बाहर रहने वाला बाहर स्थित अर्थात् 'रेचक'। 'बाह्यं प्रति वृत्तिर्यस्य सः'। आभ्यन्तरवृत्तिः—आभ्यन्तरे वृत्तिर्यस्य सः आभ्यन्तरवृत्तिः (अतएव आभ्यन्तरः) प्राणायामः अर्थात् 'पूरक' प्राणायाम, भीतर स्थित भीतर रहने वाला प्राणायाम। स्तम्भवृत्तिः—स्तम्भः निरोधः (स्तम्भनम्) एव वृत्तिः वर्तनं यस्य सः, निरोधस्वभाव वाला, श्वास और प्रश्वास दोनों गतियों को एक साथ रोकने वाला प्राणायाम 'कुम्भक' है। **'घटजलवन्निश्चलत्वेन देहेऽवस्थानात्कुम्भकस्तृतीयः सिद्धः'**।[1] युगपदेव—श्वासप्रश्वासयोरुभयोः गतिविच्छेद-रूपः स्तम्भनशीलः प्राणायामः कुम्भकः स्तम्भवृत्तिर्भवति। सूत्रकार ने इन तीनों प्राणायामों का नाम नहीं दिया, इसीलिये टीकाकारों को प्राणायामों का स्वरूप-निर्धा-रण करने में बड़ी कठिनाई हुई है। फलतः बहुत बड़ी भ्रान्ति इन तीनों प्राणायामों के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वानों में भी फैली हुई है। फिर भी सूत्रकार और भाष्यकार अपने-अपने प्राणायाम-विषयक सिद्धान्त में बहुत स्पष्ट एवं दृढ़ हैं।

बाह्यप्राणायाम रेचनरूप होता है और 'श्वासगतिविच्छेदत्व' लक्षण के कारण प्राणायाम है, इसीलिये सम्प्रदायविद् लोगों ने इसका नाम 'रेचक' रखा है। इसी प्रकार आभ्यन्तर प्राणायाम पूरणरूप है और 'प्रश्वासगतिविच्छेदत्व' लक्षण के कारण प्राणायाम है। इसीलिये सम्प्रदायविद् लोग इसे 'पूरक' कहते हैं। किन्तु इन दोनों में

---

१. द्रष्टव्य; मणिप्रभा पृ० ४७।

स्तम्भवृत्तिता की गुञ्जाइश नहीं रहती। प्रायः विद्वानों को इसी स्थल में भ्रान्ति होती है। स्तम्भवृत्तिता चाहे रेचकान्त काल की हो और चाहे पूरकान्त काल की, वह 'कुम्भक' नामक प्राणायाम का ही लक्षण है। प्राणायाम के ये तीनों नाम भी इसी आधार पर (गुणवचन रूप में) रक्खे गये प्रतीत होते हैं। रेचन करने से 'रेचक', पूरण करने से 'पूरक' और कुम्भन अर्थात् प्राणवायु के रोकने या पूर्णनिरोध करने से 'कुम्भक' होता है। **'तस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्ते इति कुम्भकः'**[1] ॥ ५० ॥

(**भा० सि०**)—यत्र—जिस प्राणायाम में। प्रश्वासपूर्वकः—प्रश्वासः पूर्वः प्रधानं (प्रधानरूपेण वर्तमानः) यस्मिन् (गत्यभावे) सः प्रश्वासपूर्वकः, जिस 'श्वासप्रश्वासगतिविच्छेद' में साँस छोड़ना वर्तमान है, मुख्य रूप से विद्यमान रहता है वैसा। गत्यभावः—गतिविच्छेदः प्राणगतिभङ्गः, साँस लेने और छोड़ने के स्वाभाविक क्रम का ऐसा प्रवाहभङ्ग, जिसमें प्रश्वास या साँस छोड़ना तो बना रहे, केवल साँस लेने मात्र का अभाव हो। स बाह्यः—वह बाह्य या बाहरी प्राणायाम है। भाष्यकार ने इसे बाह्यवृत्ति नहीं कहा है, केवल 'बाह्य' कहा है। 'वृत्ति' शब्द केवल स्तम्भवृत्ति में लगाया है—यह तथ्य मार्के का है। इस बाह्य प्राणायाम को स्मृतियों और पुराणों में 'रेचक' प्राणायाम कहा गया है। **'यत्र प्राणायामे गतिविच्छेदे प्रश्वासपूर्वकगत्यभावः स तु बाह्यो बाह्यवृत्तिः प्राणायामो रेचकनामेत्यर्थः'**।[2] यत्र—जिस प्राणायाम में। श्वासपूर्वकः गत्यभावः—श्वासः पूर्वः प्रधानं (प्रधानरूपेणावस्थितः) यस्मिन् सः गत्यभावः गतिविच्छेदः (प्राणायामः), श्वासक्रिया के जिस गत्यभाव में 'श्वास' तो प्रधान रूप से बना रहता है, किन्तु साँस छोड़ने का क्रम निरुद्ध कर दिया जाता है। सः आभ्यन्तरः—वह आन्तरिक या भीतरी प्राणायाम होता है, उसे स्मृतियों में 'पूरक' कहा गया है। **'यत्र श्वासेन पूरकेण गत्यभावः स आभ्यन्तरः आभ्यन्तरवृत्तिः प्राणायामः पूरकनामेत्यर्थः'**।[3]

तृतीयः—तृतीय प्राणायाम। स्तम्भवृत्तिः—स्तम्भः अवरोधः (न रेचनरूपा न वा पूरणरूपा केवलं स्तम्भनरूपा) एव वृत्तिः वर्तनं शीलं यस्यासौ स्तम्भवृत्तिः, (Retention of either inhaled air inside or exhaled air outside) स्तम्भन रूप का होता है। यत्र—जिसमें कि। उभयाभावः—श्वास और प्रश्वास दोनों का एक साथ प्रवाहभङ्ग होता है। सकृत्प्रयत्नाद्—यह हेतु 'रेचक' और 'पूरक' से वैलक्षण्य प्रतिपादन के लिये तथा वक्ष्यमाण 'केवलकुम्भक' प्राणायाम से भेद प्रकट

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५२।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७०।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७०।

करने के लिये है। रेचनक्रिया में लगातार रेचक-प्रयत्न करते रहना पड़ता है और पूरणक्रिया में निरन्तर आपूरण-प्रयत्न करते रहना पड़ता है, किन्तु कुम्भक में विधारक-प्रयत्न केवल एक बार करके ही उभयाभाव की प्राप्ति हो जाती है। **'यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात्प्रयत्नादभावो भवति न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघप्रविधारकप्रयत्नो नापि रेचकप्रयत्नौघविधारणप्रयत्नोऽपेक्ष्यते किन्तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत् सर्वतः सङ्कोचमापद्यते एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्ननिरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मीभूतोऽवतिष्ठते'** ।[1] तात्पर्य यह है कि यह प्राणायाम एक ही प्रयास या कोशिश से (प्रारम्भिक दशा में भी पहले प्रयास से ही)। भवति—हो जाता है, इसमें पूर्वाभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका नाम 'कुम्भक' होता है। **'यत्र उभयाभावः श्वासप्रश्वासयोरभावः सकृत्प्रयत्नादेवाभ्यासनिरपेक्षाद्भवति स स्तम्भवृत्तिः प्राणायामः कुम्भकनामेत्यर्थः'** ।[2]

'केवलकुम्भक' नामक चौथा प्राणायाम बहुत प्रयत्न या अभ्यास के बाद ही किया जा सकता है। प्राणों के अन्दर आने और बाहर जाने की क्रिया का एक साथ अभाव होने के विषय में भाष्यकार दृष्टान्त देते हैं। यथा—जैसे। तप्ते उपले न्यस्तं जलम्—तपे हुए गर्म पत्थर पर डाला गया पानी। सर्वतः—सब ओर से। सङ्कोचमापद्यते—संकुचित हो जाता है। तथा—उसी प्रकार से। द्वयोः—साँस के बाहर फैलने और भीतर फैलने, इन दोनों का। युगपद्—एक ही साथ। अभावः भवति—अभाव या गतिविच्छेद अर्थात् प्रवाहभङ्ग हो जाता है। इति—इस प्रकार। इस 'कुम्भक' की सत्ता सामान्यतया पूरक के अन्त में होती है और रेचकान्त में भी होती है। यद्यपि भास्वतीकार और वाचस्पति मिश्र दोनों ने कुम्भक की स्थिति पूरक के अन्त में ही कही है, किन्तु योगमार्ग में परिनिष्ठित अन्य आचार्यों ने कुम्भक की स्थिति उभयथा मानी है—

१. **'स्तभ्यते पूरितकुम्भवन्निश्चलतया विधारकप्रयत्नेन अन्तर्बहिरेव वाऽवस्थाप्यते इति कुम्भकः'** ।[3]

२. **'सोऽयमान्तरः कुम्भकः पूरितस्यान्तःप्रदेशे धारणात्। रेचितकुम्भकस्तु बाह्यकुम्भकः रेचितस्य वायोर्बहिःस्थापनात्'** ।[4]

३. **'आरेच्यापूर्य यत् कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः ।'**—(स्कन्दपुराणम्)

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७१।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७०।

३. द्रष्टव्य; योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० ८९।

४. द्रष्टव्य; यो० सि० च० पृ० ९७।

४. 'रेचितस्य बहिःस्तम्भो वायो रेचितकुम्भकः ।
पूरकेण विना सम्यग्योगोऽयं सुखदो नृणाम् ॥
पूरितस्योदरे रोधः पश्चाद्रेचकसंयुतः ।
नाडीशुद्धिकरः सम्यक्प्रोक्तः पूरितकुम्भकः ॥'—(देवलस्मृतिः)

५. **'कुम्भकस्य रेचकपूरकयोः बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः उभयत्रैव प्राणस्य विलयात्'** ।[1]

त्रयः अपि एते—ये तीनों ही प्राणायाम। देशेन परिदृष्टाः—देश के द्वारा परीक्षित या प्रमाणित या पर्यालोचित होते हैं। जैसे। इयानस्य देशो—इस रेचक या पूरक या कुम्भक का देश इतना है। देश के द्वारा किया गया यह पर्यालोचन, देश की कमी और अधिकता दोनों के द्वारा प्राणायाम-विषयक प्रगति को सूचित करता है। कालेन परिदृष्टाः—समय के द्वारा पर्यालोचित होते हैं। क्षणानाम्—क्षणों की। पलक गिरने में जितना समय लगता है, उसके चौथाई समय को 'क्षण' कहते हैं। **'निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणः'** ।[2]

इयत्तायाः अवधारणेन—इतनेपन अर्थात् क्षणों की संख्या के निश्चय के द्वारा। अवच्छिन्नाः—निर्धारित किये गये जैसे इतने क्षणों तक रेचकादि रहे और फिर बढ़ते-बढ़ते इतने क्षणों तक रहे। काल के द्वारा ये प्राणायाम इस प्रकार परिदृष्ट या आलोचित होते हैं। संख्याभिः परिदृष्टाः—संख्याओं के द्वारा देखे गये या पर्यालोचित किये गये। संख्या के द्वारा आलोचन यद्यपि अलग से कहा गया है, किन्तु वस्तुतः यह कालपरिदृष्टि का ही एक रूप है। **'क्षणानामियत्ता कालो विवक्षितः श्वासप्रश्वासेयत्ता संख्येति कथञ्चिद् भेदः'** ।[3] **'संख्याभिरपि कालनियम एव क्रियते, तथापि प्रकारभेदाद् भेद इति'** ।[4]

संख्यापरिगणन मात्राओं से किया जाता है। **'यत्र च मात्रासंख्याभिः प्राणायाम-नियमः क्रियते स संख्यापरिदृष्टः'** ।[5] संख्यापरिदृष्टि का व्याख्यान भाष्यकार करते हैं। एतावद्भिः—इतने। श्वासप्रश्वासैः—साँस लेने और छोड़ने से उपलक्षित समय को 'मात्रा' कहते हैं। इतनी अर्थात् (१२) मात्राओं से परिमित पूरकादि प्राणायाम का प्रथम 'उद्घात' होता है। तद्वन्निगृहीतस्य—उसी प्रकार से उस उद्घात का अभ्यास कर चुकने वाले को। एतावद्भिः—इतनी अधिक अर्थात् (२४) मात्राओं वाले प्राणायाम से। द्वितीयः उद्घातः—उस प्राणायाम का दूसरा 'उद्घात' सिद्ध

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७०।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७१।
३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७२।
४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७२।
५. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २५३।

होता है। एवं तृतीयः—इसी प्रकार इतनी अधिक अर्थात् (३६) मात्राओं वाला 'तृतीय उद्घात' सिद्ध होता है। यह 'उद्घात' क्या है ?

वस्तुतः प्राणवायु का आयमन या गतिविच्छेद होने पर शरीर के अन्दर अपानवायु प्रभावित होता है। वह नाभिमूल से ऊपर उठकर शिरोभाग में टकराता है।[1] इससे सन्न-सन्न की प्रतीति साधारण व्यक्ति को भी श्वासादि निरोध करने पर होती है। अपानवायु का ऊपर जाकर टकराना ही 'उद्घात' कहा गया है।[2] यह 'उद्घात' प्रायः १२ मात्राकाल में एक बार होता है। एक उद्घात वाला प्राणायाम 'मृदु', दो उद्घातों वाला प्राणायाम 'मध्य' और तीन उद्घातों वाला प्राणायाम 'तीव्र' माना जाता है। जैसा कि लिङ्गपुराण में कहा गया है—

प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम्।
नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः॥
मध्यमश्च द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥

एवं मृदुः—इस प्रकार से अर्थात् इतनी मात्राओं से यह प्राणायाम (प्रथम उद्घात वाला अर्थात् १२ मात्राओं वाला प्राणायाम) मृदु है। एवं मध्यः—इसी प्रकार से (दो उद्घातों या २४ मात्राओं वाला) प्राणायाम मध्य है। एवं तीव्रः—इसी प्रकार से इतनी मात्राओं वाला (तीन उद्घातों) अर्थात् ३६ मात्राओं वाला तीव्र प्राणायाम होता है। इति—इस रीति से। प्राणायाम। संख्यापरिदृष्टः—संख्या या मात्राओं से आलोचित होता है। इन रेचक, कुम्भक और पूरक प्राणायामों की मात्राओं के सम्बन्ध में भी शास्त्रकारों में मतभेद है। समीचीन मत यह है कि प्राणायाम मृदुरूप में १२ मात्रा वाले, मध्यरूप में २४ और तीव्ररूप में ३६ मात्राओं वाले होते हैं।

'मात्रा द्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मध्यमः प्राणसंरोधः षट्त्रिंशन्मात्रिकोत्तमः॥'

स खलु अयम् एवम्—वह यह (पूरक, रेचक और कुम्भक रूपी त्रिविध) प्राणायाम। एवम्—इस प्रकार से (देशकाल और संख्यापरिदृष्टि के उपाय से प्रतिदिन)। अभ्यस्तः—अभ्यास किया जाने पर। दीर्घसूक्ष्मः भवतीति शेषः—दीर्घश्च सूक्ष्मश्चेति दीर्घसूक्ष्मः भवति, दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। दीर्घः—दीर्घकालव्यापी

---

१. 'उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः (अपानस्य) शिरसि अभिहननम्।' —रा० मा० वृ० पृ० ५३।

२. 'प्राणेनोत्सार्यमाणेन अपानः पीडयते यदा।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम्॥' —यो० सि० च० पृ० ९७।

अर्थात् घण्टों और प्रहरों तक स्थित रहने वाला तथा अनेकानेक मात्राओं या संख्याओं वाला हो जाता है। सूक्ष्मः—बाहर बहुत कम दूर तक अनुभूयमान होने वाला (किन्तु देह के अन्दर सर्वत्र प्रसृत)।

'स खल्वयं दिवसपक्षमासादिक्रमेणाभ्यस्तो दीर्घकालव्याप्त्यैव दीर्घो, दुर्लक्ष्यगतितया च सूक्ष्मो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञको भवतीत्यर्थः'।[1]

यहीं पर एक बात और कह देने योग्य है कि प्राणायाम देश, काल और संख्या में से किसी एक के द्वारा भी आलोचित किया जा सकता है। तीनों से या दो से अवधारण करने की आवश्यकता नहीं है। **'देशकालसंख्याभिः परिदृष्ट इत्यत्र चेच्छाविकल्प एव न तु समुच्चयः, उदाहृतवसिष्ठवाक्यादौ केवलमात्रासंख्यायामपि प्राणायामदर्शनात्'**[2] ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाह्य प्रदेश वाले (अर्थात् रेचक) और आभ्यन्तर प्रदेश वाले (अर्थात् पूरक) का अतिक्रमण करने वाला चौथा (केवलकुम्भक) प्राणायाम होता है ॥ ५१ ॥

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः ॥ ५१ ॥

देश, काल और संख्या के द्वारा परीक्षित बाह्य प्रदेश में होने वाला (रेचक) प्राणायाम (इसके द्वारा) अतिक्रान्त होता है और (उसी प्रकार परीक्षित) भीतरी प्रदेश में होने वाला (पूरक) प्राणायाम भी इसके द्वारा अतिक्रान्त होता है। (अतिक्रान्त होने वाले) दोनों प्रकार के प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म (ही) होते हैं। (रेचक और पूरक की) भूमि सिद्ध हो चुकने पर (श्वासग्रहण एवं श्वासनिःसारण—इन) दोनों गतियों का पूर्ण निरोध (ही) चतुर्थ प्राणायाम (केवलकुम्भक) है।

(सहितकुम्भक नामक) तृतीय प्राणायाम (बाह्य और आभ्यन्तर) प्रदेशों वाले (रेचक एवं पूरक प्राणायामों का देशादि के द्वारा) परीक्षण किये बिना ही

---

१. द्रष्टव्य; यो० सि० च० पृ० ८९।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७२।

(श्वास और प्रश्वास की) गति निरोध रूप, एक ही बार में किया जा-(सक) ने वाला, देश, काल और संख्या से परीक्षित होता हुआ दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है। चौथा प्राणायाम तो श्वास और प्रश्वास का देशादि के (द्वारा पहले ही) परीक्षण हो चुकने से क्रमशः भूमिजय हो चुकने के कारण, उन दोनों (रेचक और पूरक) के अतिक्रमणपूर्वक (श्वास और प्रश्वास दोनों की) गति का (एकदम) निरोध रूप चौथा (केवलकुम्भक) प्राणायाम होता है। (दोनों प्रकार के कुम्भक प्राणायामों) में यही अन्तर होता है ॥ ५१ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी—बाह्यश्चाभ्यन्तरञ्चेति बाह्याभ्यन्तरे, ते विषयौ ययोस्तौ बाह्याभ्यन्तरविषयौ, रेचकपूरकाख्यौ प्राणायामौ तौ आक्षिपति अतिक्रामति इति बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी। चतुर्थः—चतुर्थसंख्याकः केवलकुम्भकाख्यः प्राणायामः। बाह्यविषय अर्थात् बाह्य प्रदेशवाले रेचक तथा आभ्यन्तरविषय अर्थात् आभ्यन्तर प्रदेशवाले पूरक प्राणायाम का अतिक्रमण करने वाला, उल्लङ्घन करने वाला चौथा (केवलकुम्भक) प्राणायाम होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि तृतीय प्राणायाम, जिसे 'कुम्भक' या 'सहितकुम्भक' कहते हैं, उसे रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है। उसके आगे-पीछे रेचक और पूरक का होना अनिवार्य रहता है, किन्तु इस चौथे (केवलकुम्भक) प्राणायाम में रेचक और पूरक की बिल्कुल आवश्यकता नहीं होती ॥ ५१ ॥

१. 'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा यत्सुखं वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥'—(याज्ञवल्क्यः)

२. 'न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिः स्थितम्।
आपूर्य कुम्भवत्तिष्ठेत् केवलः स तु कुम्भकः ॥
आरेच्यापूर्य यत्कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः' ॥—(यो० सि० च०)

३. 'बाह्याभ्यन्तरविषयकौ बाह्याभ्यन्तरवृत्ती पूर्वसूत्रोक्तौ रेचकपूरकौ तयोराक्षेपी अतिक्रमी, तावतिक्रम्य त्यक्त्वा स्वयमेव केवलो वर्त्तत इति, यावत् एवम्भूतो यः प्राणायामः स चतुर्थ इत्यर्थः, अस्य च केवलकुम्भकः इति संज्ञा वसिष्ठवाक्याद्वक्ष्यमाणा भविष्यति।'[१]

४. 'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा मुख्यं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २७३।

सहितं केवलं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।
यावत् केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते' ॥—(वसिष्ठसंहिता)

(भा० सि०)—इस केवलकुम्भक प्राणायाम की स्थिति तब होती है, जब । देशकालसंख्याभिः परिदृष्टः—देश, काल और संख्या के द्वारा परीक्षित या अवधारित । बाह्यविषयः—बाह्य विषय वाला अर्थात् रेचक प्राणायाम । आक्षिप्तः—अतिक्रान्तः (Transcended) भवति । अभ्यस्त हो चुकने के पश्चात् अर्थात् दीर्घ और सूक्ष्म हो चुकने के बाद, त्याग दिया जाता है । तथा—और उसी प्रकार । आभ्यन्तरविषयः—आन्तरिक देशवाला प्राणायाम अर्थात् पूरक । परिदृष्टः—देश, काल और संख्या से परीक्षित हो चुकने पर । आक्षिप्तः—अतिक्रान्त (Transcended) हो जाता है । उभयथा—दोनों प्रकार से अर्थात् रेचक और पूरक के आक्षेपक्रम में । दीर्घसूक्ष्मः—दीर्घ और सूक्ष्म ग्रहण करना चाहिए । बिना दीर्घ और सूक्ष्म हुए रेचक और पूरक का पूर्णाभ्यास नहीं माना जायेगा और बिना उनके सिद्ध हुए उनका अतिक्रमण या आक्षेप कैसा ? इसीलिए यह कहा गया है कि । तत्पूर्वकः—रेचक और पूरक की दीर्घसूक्ष्मता है पूर्व में जिसके अर्थात् रेचक और पूरक प्राणायामों के दीर्घ और सूक्ष्म रूप में सिद्ध हो जाने के पश्चात् ही । भूमिजयात्—भूमिविजय के कारण । क्रमेण—क्रमशः । उभयोर्गत्यभावः—दोनों की अर्थात् साँस लेने और छोड़ने की गति का अभाव । चतुर्थः प्राणायामः—चौथा (केवलकुम्भक) प्राणायाम है । चूँकि तृतीय प्राणायाम में भी श्वास और प्रश्वास दोनों का गत्यभाव होता है और इस चौथे प्राणायाम में भी, इसलिये इन दोनों के पारस्परिक वैलक्षण्य का स्पष्टीकरण करने का उपक्रम किया जा रहा है। तृतीयस्तु—तृतीय प्राणायाम अर्थात् सहितकुम्भक तो । विषयेण—देशेन (तदुपलक्षितसंख्याकालादिभिश्च) । अनालोचितः—पूर्वकाले अनवधारितः । गत्यभावः—स्वाभाविक श्वासप्रश्वासगति का विच्छेद है अर्थात् इसके देशादि का आलोचन पहले नहीं हुआ रहता, प्रत्युत धीरे-धीरे इसके अभ्यास किये जाते रहने के साथ-साथ होता है । इसीलिये यह । सकृदारब्धः एव—बिना किसी पूर्वाभ्यास के ही प्रारम्भ किया गया हुआ यह प्राणायाम । अभ्यास के साथ-साथ । देशकालसंख्याभिः—देश, काल और संख्या के द्वारा । परिदृष्टः—परीक्षित होकर । दीर्घसूक्ष्मः—दीर्घ और सूक्ष्म बनता है अर्थात् सिद्ध होता है । इसके विपरीत । चतुर्थस्तु—यह चौथा 'केवलकुम्भक' नामक प्राणायाम तो । (पूर्वकाले एव) श्वासप्रश्वासयोः—श्वास और प्रश्वास के । विषयावधारणात्—देशादि का अवधारण हो चुकने के कारण । क्रमेण भूमिकाजयात्—क्रमशः भूमिकाओं की सिद्धि हो चुकने से । उभया-

क्षेपपूर्वकः—रेचक और पूरक दोनों के अतिक्रमणपूर्वक अर्थात् त्यागपूर्वक। गत्यभावः—श्वास-प्रश्वास की गति का सर्वथा विच्छेद रूप। चतुर्थः प्राणायामः—चौथा प्राणायाम है। इत्ययं विशेषः[1]—इन तृतीय और चतुर्थ प्राणायामों में यही अन्तर है ॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

उस (प्राणायाम की सिद्धि) से प्रकाश पर पड़ा हुआ पर्दा क्षीण होता है ॥५२॥

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म, यत्तदाचक्षते—'महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त' इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्–'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्ये'ति ॥ ५२ ॥

प्राणायामों का अभ्यास करने वाले इस योगी के विवेकज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म (संस्कार) क्षीण होता है, जिसके सम्बन्ध में वह बात कहते हैं कि—'रागात्मक इन्द्रजालरूपी विषयजाल से प्रकाशात्मक (बुद्धि) सत्त्व को ढँककर वही इसे अधर्म में फँसाता है।' इस योगी के प्रकाश का आवरणभूत वह संसारमूलक कर्मसंस्कार प्राणायामों के अभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। उसी प्रकार कहा भी गया है—'प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। उससे मलों की शुद्धि और ज्ञान की स्फूर्ति होती है' ॥ ५२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ततः—तस्मात् **'प्राणायामात्'**—(यो० वा०)। प्रकाशावरणम्—प्रकाशस्य बुद्धिसत्त्वप्रकाशस्य, आव्रियतेऽनेनेति करणे (आङ् + √वृ + ल्युट्) आच्छादनम्, बुद्धिसत्त्व के प्रकाश पर पड़ा हुआ अधर्मादि का पर्दा **'आवरणं क्लेशः पाप्मा च'**—(त० वै०)। क्षीयते—दुर्बल या क्षीण होता है। तात्पर्य यह है कि धीरे-धीरे नष्ट होता है। मनु ने कहा भी है कि—

१. **'प्राणायामैर्दहेद्दोषान्'**।[2]

२. **'दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।**
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहाद्' ॥[3]

---

१. 'अनालोचनपूर्वः सकृत्प्रयत्ननिर्वर्तितस्तृतीयः चतुर्थस्त्वालोचनपूर्वो बहुप्रयत्ननिर्वर्त्तनीय इति विशेषः।' —त० वै० पृ० २७४।

२. द्रष्टव्य; मनु० ६-७२।

३. द्रष्टव्य; मनु० ६-७१।

(**भा० सि०**)—प्राणायामान्—प्राणायामों का। अभ्यस्यतः—अभ्यास कर (चुक) ने वाले। अस्य योगिनः—इस योगी के। विवेकज्ञानस्य—विवेकज्ञान (बुद्धि-सत्त्व के प्रकाश) का। आवरणीयम्—आवरकम् (आङ् + √वृ + अनीयर् कर्तरि कृत्य-प्रत्ययः) **'भव्यगेयप्रवचनीयादीनां कर्तरि निपातस्य प्रदर्शनार्थत्वात् कोपनीयरञ्जनीय-वदत्रापि कर्तरि कृत्यप्रत्ययः।'**[1] बुद्धिसत्त्व के प्रकाश को आवृत करने वाला। कर्म—कर्मसंस्कार तथा उस कर्म का कारणभूत क्लेश (दोनों का ग्रहण कर्म शब्द के प्रयोग से हो जाता है।) **कर्मशब्देन तज्जन्यमपुण्यं तत्कारणं क्लेशञ्च लक्षयति।'**—(त० वै०)। क्षीयते—क्षीण होता है। **'कर्माधर्मः तस्य ज्ञानप्रतिबन्धकत्वमेव ज्ञानावरक-त्वम् एतादृशं कर्म क्षीयत इत्यर्थः।'** —(यो० वा०)। यत्तद्—जिस उस (कर्म को)। आचक्षते—आगमी लोग इस प्रकार कहते हैं। महामोहमयेन इन्द्रजालेन—'राग' नामक क्लेश को महामोह कहते हैं, जिसमें मूलभूता अविद्या भी सम्मिलित रहती है। इसलिये यह अर्थ सम्पन्न हुआ कि रागात्मक विषयमयी माया से। प्रकाश-शीलं सत्त्वम्[2]—ज्ञानात्मक बुद्धिसत्त्व को। आवृत्य—ढँककर। तदेव—वही कर्म-संस्कार **'कर्मैव'**—(यो० वा०)। अकार्ये—अन्य कुकर्मों में। नियुङ्क्ते—लगाता है। इति—यह। अस्य—इस योगी का। तदेव—वही। प्रकाशावरणम्—बुद्धि के प्रकाश अर्थात् विवेकज्ञान को आवृत करने वाला। संसारनिबन्धनम्—तथा आवा-गमन का कारणभूत। कर्म—कर्मसंस्कार। प्राणायामाभ्यासाद्—प्राणायाम के अभ्यास से। दुर्बलं भवति—क्षीण होता है। प्रतिक्षणं च क्षीयते—प्रतिक्षण अर्थात् क्रमशः क्षीण होता जाता है। तथा चोक्तम्—वैसे ही कहा भी गया है। प्राणायामात् परम्—प्राणायाम से बढ़कर। तपो न—कोई तप नहीं है। ततो मलानां विशुद्धिः—उससे चित्त के दोषों का दूरीकरण। ज्ञानस्य दीप्तिश्च—(जायते इति शेषः) और ज्ञान का स्फुरण होता है। **'प्राणायामेन प्राणानां स्थैर्याद् देहस्यापि स्थैर्यं ततश्च कर्म-निवृत्तिः, तन्निवृत्तौ तत्संस्काराणामपि क्षयः दौर्बल्यं ततो ज्ञानस्य दीप्तिः'**[3] ॥ ५२ ॥

किञ्च ?

और क्या होता है ?

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

धारणाओं में मन की क्षमता होती है ॥ ५३ ॥

प्राणायामाभ्यासादेव 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (यो० सू० १।३५)—इति वचनात् ॥ ५३ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७५।

२. 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं बुद्धिसत्त्वप्रकाशः विवेकज्ञानम्।'—त० वै० पृ० २७४।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० २७५।

प्राणायामों के अभ्यास से ही (धारणा करने में मन की सामर्थ्य होती है ।) **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'**—इस सूत्र से (यह बात) सिद्ध है ॥ ५३ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—प्राणायाम से और भी फल होता है। किञ्च—और क्या फल होता है ? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

(सू० सि०)—धारणासु—धारणा करने में अर्थात् चित्त को किसी स्थान पर एकाग्र करने में। मनसः—चित्तस्य, मन की। योग्यता—क्षमता। सञ्जायते—बढ़ती है, आती है ॥ ५३ ॥

(भा० सि०)—किस बात के परिणामस्वरूप मन धारणा के योग्य बनता है ? इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं। प्राणायामाभ्यासादेव—प्राणायामों के अभ्यास से यह सिद्धि होती है अर्थात् यह भी प्राणायामों का ही फलान्तर है। 'एव' शब्द यहाँ पर प्राणायामों के प्रकरणस्थत्व पर बल देता है। इस कथन की पुष्टि के लिये 'पतञ्जलि' के ही समाधिपादगत सूत्र को भाष्यकार उद्धृत करते हैं। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य—प्राणों के श्वासनिरोध और प्रश्वासनिरोध से अर्थात् चतुर्विध प्राणायामों से मन स्थिर अर्थात् धारणा में समर्थ होता है। इति वचनात्—इस पातञ्जलवचन से ही यह सिद्ध हो चुका है। **'प्राणायामो हि मनः स्थिरीकुर्वन् धारणासु योग्यं करोतीति'**[1] ॥ ५३ ॥

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

अपने (अर्थात् इन्द्रियों के) विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण-सा कर लेना 'प्रत्याहार' है ॥ ५४ ॥

स्वविषयसम्प्रयोगाभावे [2]चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येषः प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

(इन्द्रियों के) अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर (इन्द्रियों के द्वारा) चित्त के स्वरूप का अनुकरण-सा कर लिया जाता है, इसलिये चित्त का निरोध होने पर चित्त के समान इन्द्रियाँ (भी) निरुद्ध हो जाती हैं, अन्य इन्द्रियजय के समान

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७६।

२. 'चित्तस्य स्वरूपानुकार इव'—इति पाठान्तरम्।

अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करतीं। जैसे—मधुमक्खियाँ उड़ते हुए मधुमक्खियों के राजा के पीछे उड़ जाती हैं और बैठते हुए उस (मधुमक्खियों के राजा) के पीछे बैठ जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी चित्त का निरोध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं, यही 'प्रत्याहार' है ॥ ५४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अथ कः प्रत्याहारः ? आखिर प्रत्याहार क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान सूत्र में दिया गया है। स्वेषाम्—(इन्द्रियों के) अपने। विषयाणाम्—शब्दरूपरसादीनाम्, शब्द इत्यादि विषयों के साथ। असम्प्रयोगे—सम्प्रयोगः सम्पर्कः तस्याभावे, **विषयसम्प्रयोगाभावे**'—(भा०), भावे सप्तमी, संयोग न होने पर। विषयसंयोग न करने पर ही प्रत्याहार की स्थिति सम्भव है। इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का। चित्तस्वरूपानुकार इव प्रत्याहारः—चित्त के स्वरूप के सदृश स्वरूपवाली हो जाना ही 'प्रत्याहार' है। **'इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपम् (विपरीतम्) आह्रियन्ते (अनुकृष्यन्ते) अस्मिन्निति प्रत्याहारः'** ।[1]

यह बात स्मरणीय है कि प्राणायाम और त्रिविध संयम के बीच में 'प्रत्याहार' की साधना बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य कही गयी है। प्राणायाम के कारण चित्त धारणादि संयम के योग्य अर्थात् अचञ्चल हो जाता है। उस समय यदि इन्द्रियाँ बाह्य विषयों की ओर उन्मुख होना आरम्भ करें तो विषयों की ओर उनकी जोरदार एकाग्रता होगी और महान् अनर्थ हो जायेगा। इसलिये उस समय इन्द्रियों को विषयों की ओर से तुरन्त हटाकर अन्तर्मुखी करना चाहिए। इन्द्रियों को चित्ताकारानुकारी बनाना ही उनका अन्तर्मुखीकरण है। इसी को 'प्रत्याहार' कहा जाता है। इससे धारणा निष्पन्न होती है, ध्यान तथा समाधि भी क्रमशः सुसम्पन्न होते हैं। इसीलिये प्रत्याहार को भी एक प्रमुख योगाङ्ग के रूप में गिना गया है। उस धारणा-ध्यान काल में प्रत्याहृत चक्षुरादि इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण पूर्ण रूप से करती हुई (चित्त के द्वारा) ध्यायमान तत्त्वाकाराकारित चित्त अर्थात् बुद्धिसत्त्व के समानाकार वाली होती हैं। इसको इन्द्रियों की बाह्यविषयाकारिता नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि विषयों का तो सम्पर्क ही इस स्थिति में इन्द्रियों से नहीं होता। इस सम्बन्ध में सभी प्रमुख टीकाकारों का यही मत है[2] ॥ ५४ ॥

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५४।

२. 'यत्पुनस्तत्त्वं चित्तमभिनिविशते न तदिन्द्रियाणां बाह्यविषयविषयाणामनुकारः।' —त० वै० पृ० २७७।

'जितेन्द्रियस्य हि ध्यानकाले चक्षुरादीन्यपि ध्येयवस्त्वाकारेण चित्ते तुल्याकाराणीव भवन्ति न स्वातन्त्र्येण विषयान्तरं मनसैकीभूय सङ्कल्पयन्ति, तथा चित्ते निरोधोन्मुखे सति प्रयत्नान्तरं विनैव निरुद्धानि भवन्ति।' —यो० वा० पृ० २७६।

(भा० सि०)—स्वविषयसम्प्रयोगाभावे—इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों के साथ सम्पर्क न होने पर (उन इन्द्रियों का)। चित्तस्वरूपानुकार इव—चित्त के स्वरूप के समान आकार वाली हो जाना ही। एषः प्रत्याहारः—यह प्रत्याहार है। इस 'इव' पर्यन्त भाष्यांश का अन्वय अन्त में आये हुए 'एषः प्रत्याहारः' के साथ करना चाहिए। बीच में इस अनुकरण कार्य का स्वरूप एवं उदाहरण सहित उसका उपाय भाष्यकार के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। चित्तनिरोधे—धारणादिकाल में जब चित्त को एक विषय में बाँधकर उसकी (आलम्बनातिरिक्त) अन्य सभी वृत्तियों को निरुद्ध किया जाता है, उस समय। चित्तवत् निरुद्धानि इन्द्रियाणि—विषयों की ओर से प्रत्याहृत की गयी या अवरुद्ध की गयी इन्द्रियाँ, जो कि चित्त के ही आकार के समान आकार वाली हो जाती हैं। इतरेन्द्रियजयवत्—इन्द्रियों को जीतने के अन्य अवसरों के समान। उपायान्तरम्—अन्य उपायों की। न अपेक्षन्ते—अपेक्षा नहीं करतीं। केवल 'प्रत्याहार' के कारण विषयों से प्रत्याहृत होने मात्र से वे चित्त के स्वरूप का अनुकरण-सा कर लेती हैं। अन्य इन्द्रियजय कब होता है? यतमान-संज्ञक वैराग्यकाल में। अब इन्द्रियों की चित्तानुकारिता के प्रसङ्ग में दृष्टान्त दिया जा रहा है। यथा—जैसे। मक्षिकाः—मधुमक्खियाँ। उत्पतन्तं मधुकरराजम्—उड़ते हुए अपने (मधुमक्खियों के) राजा या नायक के। अनूत्पतन्ति—पीछे-पीछे उड़ जाती हैं, और। निविशमानम्—(अन्यत्र जाकर) बैठते हुए उस (मधुकरराज) के। अनुनिविशन्ते—पीछे जाकर बैठ जाती हैं।[1] **'यथा मधुकरराजो मधुमक्षिकाश्रेष्ठो भ्रमरविशेषः स यत्रागत्य पतति तत्रैव सर्वं गत्वा पतन्तीति दृष्टचर इत्यर्थः'**।[2] तथा—वैसे ही। इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ भी। चित्तनिरोधे—चित्त का बाह्य विषय परित्याग होने पर। निरुद्धानि—निरुद्ध हो जाती हैं और ध्येयाकाराकारित चित्त-वृत्त्यनुकारिणी बन जाती हैं। इत्येष प्रत्याहारः—यह रहा 'प्रत्याहार'॥ ५४॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ५५॥

उस (प्रत्याहार) से इन्द्रियों की प्रबल वशवर्तिता होती है॥ ५५॥

शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। राग-द्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तैकाग्र्या-

१. 'दार्ष्टान्तिके दृष्टान्तोक्तोत्पतनतुल्यो निरोधः, तेन च निवेशनतुल्यं ध्यानमप्युपलक्षणीयम्, अन्यथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्साधर्म्यादिप्रदर्शने न्यूनतापत्तेः।'

—यो० वा० पृ० २७७।

२. द्रष्टव्य; पा० र० पृ० २७८।

दप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः । ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये
साधनपादो द्वितीयः ॥ २ ॥

---

(१) कुछ लोग कहते हैं कि शब्दादि विषयों में न फँसना ही इन्द्रियजय है। आसक्ति ही व्यसन है, क्योंकि यह इस (साधक) को श्रेयस् (अर्थात् कैवल्य) से दूर फेंकता है । हाँ, शास्त्रानुकूल विषयभोग करना न्यायोचित है (अतः वह व्यसन नहीं है) । (२) अन्य लोग कहते हैं कि स्वेच्छा से शब्दादि विषयों का सम्पर्क करना ही इन्द्रियजय है । (३) राग और द्वेष न रहने पर सुखदुःखरहित शब्दादि-विषयभोग ही इन्द्रियजय है—कुछ लोग ऐसा कहते हैं। (४) आचार्य जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता होने के कारण (इन्द्रिय के) विषयभोग का अभाव ही इन्द्रियजय है । इसीलिये तो यह इन्द्रियजय श्रेष्ठ कहा गया है, जिससे चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियाँ (स्वतः) निरुद्ध हो जाती हैं । (यतमानसंज्ञा वैराग्य आदि की दशा में किये गये) अन्य इन्द्रियजय के समान (प्रत्याहारसम्पन्न) योगिजन (अलग से किये गये) प्रयत्नजन्य अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करते ॥ ५५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब प्रत्याहार का योगानुकूल फल बताया जा रहा है । ततः—उससे अर्थात् प्रत्याहार के दृढ़ हो जाने से । इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के ऊपर । परमा वश्यता—उत्कृष्ट स्वत्व, काबू या अधिकार प्राप्त हो जाता है । वश्यता—वश-वर्तित्व, वशे भवानि इति (वश + यत् + टाप्) । इन्द्रियाणि वश्यानि भवन्ति, योगी तु वशी भवति वशित्वसम्पन्नस्सम्पद्यते । '**ततः प्रत्याहारादिन्द्रियाणां परमो जयो भवतीत्यर्थः**[1] ।'

(भा० सि०)—इस परमा वश्यता का क्या स्वरूप होता है ? इसका उत्तर देने के लिये अनेक पक्ष प्रदर्शित किये जा रहे हैं । १. शब्दादिषु अव्यसनम् इन्द्रियजयः इति केचित्—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन पाँचों प्रकार के विषयों में । अव्यसनम्—व्यसनाभावः, फँसाव का न होना, आसक्ति न होना ही इन्द्रियजय है । इस 'अव्यसन' पद को और अधिक स्पष्ट करने के लिये 'व्यसन' शब्द की व्याख्या की जा रही है । व्यसन क्या है ? सक्तिः व्यसनम्—आसक्ति ही व्यसन है । आसक्ति को व्यसन क्यों कहा गया है ? इसलिये कि इसकी व्युत्पत्ति

---

१. द्रष्टव्य; योगवार्तिकम्, पृ० २७८ ।

ही यही है कि । व्यस्यति—जो फेंकता है, दूर कर देता है । एनम्—एतं प्राणिनं, जनम्, इस प्राणी को । श्रेयसः—कल्याण या शुभ से, वह हुआ व्यसन । **'तदभावोऽव्यसनम् वश्यता'**—(त० वै०) । जो ऐसा नहीं है वह हुआ 'अव्यसन' । इति—इसलिये । अविरुद्धा—शास्त्र से अविरुद्ध, शास्त्रानुकूल । प्रतिपत्तिः—प्रति + √पद् + क्तिन् = भोगः **'विषयभोगः'**—(भा०), इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करना । न्याय्या—(न्याय + यत् + टाप्) न्यायसंगत, न्यायोचित है । इन्द्रियविषयों में यही के 'अव्यसन' है, अतः यही इन्द्रियों पर जय या इन्द्रियों की परमा वश्यता है ।

(२) स्वेच्छया—स्वेच्छा से, स्वतन्त्र होकर भोग्य के आकर्षण में आकर नहीं, अर्थात् भोग्य विषय के परतन्त्र होकर नहीं । 'भोग्येषु खल्वयं स्वतन्त्रो न भोग्यतन्त्र' इत्यर्थः । शब्दादीनां विषयाणां सम्प्रयोगः सम्पर्कः भोगः शब्दादिसम्प्रयोगः—शब्दादि विषयों का (इन्द्रियों के साथ) संयोग अर्थात् इन्द्रियकृत भोग ही इन्द्रियजय अथवा उनकी परमा वश्यता है । इति अन्ये—ऐसा दूसरे लोग मानते हैं ।

(३) 'रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय' इति केचित्—विषयों के प्रति राग और द्वेष से रहित होकर, सुख और दुःख से शून्य अर्थात् हर्ष और विषाद से रहित होकर शब्द इत्यादि विषयों का अनुभव करना या भोग करना ही इन्द्रियजय है, इन्द्रियों की परमा वश्यता है—ऐसा कुछ (अन्य) लोग मानते हैं ।

यद्यपि इन तीनों पक्षों में 'इन्द्रियजय' का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है, तथापि ये तीनों पक्ष निम्नकोटि के ही इन्द्रियजय को प्रकट करते हैं । प्रथम पक्ष में इन्द्रियविषयभोग होता तो पर्याप्त है, किन्तु प्राणी उन विषयों में आसक्त नहीं होता । दूसरे पक्ष में उससे कुछ ऊँची स्थिति बतायी गयी है । इसमें भोक्ता केवल अपने मन से, स्वतन्त्र रूप में विषयभोग करता है, विषयों से आकृष्ट होकर या इन्द्रियों के वशीभूत होकर नहीं करता, अतः उसमें इन्द्रियलोलुपता नहीं रहती । तृतीय पक्ष में स्थिति और सुधरी हुई है । इसमें भोग सुखदुःखशून्य होता है अर्थात् इन्द्रियों के वश में प्राणी बिलकुल नहीं रहता है । अब चतुर्थ पक्ष और एकमात्र समीचीन पक्ष को 'जैगीषव्य' के प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है । यही शुद्ध पक्ष है, जिसमें परमा वश्यता अपने पूर्ण रूप में प्रस्तुत की गयी है ।

(४) आचार्य 'जैगीषव्य' का मत है कि । चित्तस्य—चित्त की । ऐकाग्रचाद्—एकाग्रता के कारण, ध्येयालम्बन में एकाग्र होने के कारण । (विषयाणाम्) अप्रतिपत्तिरेव—भोगाभावः अप्रतिपत्तिः, विषयों का भोग ही न करना 'इन्द्रियजय' है । ततश्च—उस कारण से । इयं वश्यता—यह इन्द्रियवश्यता । तु—तो अन्य तीनों इन्द्रिय वश्यताओं की अपेक्षा । परमा—सर्वोत्कृष्ट है । यत्—जो कि । चित्तनिरोधे

इन्द्रियाणि निरुद्धानि---चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियों के (प्रत्याहार के फल-स्वरूप) निरोध के रूप की है। प्रत्याहारकृत इन्द्रियजय का वैशिष्ट्य यह है कि। योगिनः—योगी लोग (इसमें)। इतरेन्द्रियजयवद्—अन्य इन्द्रियजयों के समान (यतमानसंज्ञावैराग्यकालिक इन्द्रियजय के समान)। प्रयत्नकृतम्—अलग से किये जाने वाले। प्रयत्नान्तरम्—अन्य उपायों की। न अपेक्षन्ते—अपेक्षा नहीं रखते, आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। इसमें आप-से-आप एक साथ सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

'यथा यतमानसञ्ज्ञायामेकेन्द्रियजयेऽपीन्द्रियान्तरजयाय प्रयत्नान्तरमपेक्षन्ते, न चैवं चित्तनिरोधे बाह्येन्द्रियनिरोधाय प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः'।[1]

॥ इति श्रीपातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां सिद्धयाख्यायां समाप्तः साधनपादः ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २७९।

अथ विभूतिपादस्तृतीयः

उक्तानि पञ्च बहिरङ्गाणि साधनानि । धारणा वक्तव्या—

पाँच बहिरङ्ग साधन बता दिये गये । अब धारणा बतायी जानी चाहिए ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।। १ ।।

चित्त (का सात्त्विक वृत्ति) को (किसी बाहरी या भीतरी) प्रदेश में लगाना (स्थापित करना) धारणा है ।। १ ।।

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे—इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ।। १ ।।

नाभिचक्र में, हृदयकमल में, शीर्षप्रकाश में, नासिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग में—इस प्रकार के (आन्तरिक) देशों में या फिर बाहरी वस्तुओं (देव-मूर्ति आदि) में चित्त को वृत्तिमात्र से (अर्थात् सात्त्विक वृत्ति से) बाँधना (लगाना) धारणा है ।। १ ।।

योगसिद्धिः

यः सर्वस्य चराचरस्य जगतः कर्त्ता धृतिर्यः पुमान् ।
यत्कृष्णे प्रविलीयते च निखिलं विश्वं स्फुरत्तैजसम् ।।
येनैव प्रतिबोधितश्च सकलं जाने रहस्यं परम् ।
अन्तर्याम्यमृतात्मने च विभवे तस्मै परस्मै नमः ।। १ ।।

(सं० भा० सि०)—योगशास्त्र के प्रथमपाद में 'समाधि' और द्वितीयपाद में उसके 'साधन' भेदोपायप्रयोजनादि वैशिष्ट्यों के सहित बताये गये । बीच-बीच में अन्य प्रासङ्गिक बातों का भी विवेचन सूत्र एवं भाष्य में किया गया । इन साधनों के अभ्यास से क्या-क्या ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ? उन ऐश्वर्यों का निरूपण करने के लिये तृतीयपाद आरम्भ किया जा रहा है । योग के आठों अङ्गों में से प्रारम्भिक पाँच अङ्ग—जिन्हें आचार्य पतञ्जलि सम्प्रज्ञातयोग के प्रति बहिरङ्ग मानते हैं—साधनपाद में निरूपित किये जा चुके हैं । वहीं पर उन प्रारम्भिक अङ्गों से प्राप्य ऐश्वर्यों या सिद्धियों का भी कथन कर दिया गया है । इस पाद में योग के उन प्रमुख अङ्गों का—जिन्हें सम्प्रज्ञात योग के प्रति 'अन्तरङ्ग' कहा गया है—और उनसे प्राप्य दुर्लभ एवं प्रकृष्ट सिद्धियों का पूर्ण रूप से निरूपण किया गया है । ये सिद्धियाँ यद्यपि कैवल्य प्राप्ति के मार्ग में (आसक्ति उत्पन्न करने के कारण) बाधक बतायी

गयी हैं, किन्तु इनका अनुभव करने से लक्ष्यभूत योग के प्रति श्रद्धा[१] उत्पन्न होती है। इसलिये इनका कथन करना श्रेयस्कर समझा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों की समुदाय-रूप से पारिभाषिक संज्ञा 'संयम' है। इस संयम से अनेक अनन्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। धारणा से ध्यान होता है और ध्यान से समाधि। इसलिये इनका पौर्वापर्य निश्चित है। इसी क्रम के अनुरोध से पहले धारणा का, फिर ध्यान का और तब समाधि का लक्षण निरूपित किया गया है। इनमें से 'धारणा' क्या है?

(सू० सि०)—चित्तस्य—चेतसः, चित्त का। देशबन्धः—देशे बन्धः इति देशबन्धः, किसी देश में बाँधना, फँसाना, लगाना, स्थापित करना। धारणा—धारणा है। धारणम् एव धारणा, धार्यंत इति √धृ + णिच् + युच् + टाप् = धारणा। **'ध्रियतेऽनेनेति वा धारणा'**—(पा० र०)। चित्त को किसी देश में बाँधने का आशय है चित्त को उस देश के अतिरिक्त अन्य सभी स्थलों से हटाकर उसी देश में स्थिर करना, स्थापित करना।[२] चित्त का देशविशेष में स्थापित करना ही 'धारणा' नामक योगाङ्ग है॥ १॥

(भा० सि०)—सूत्रगत 'देश'-पद का स्पष्टीकरण करने के लिये भाष्यकार पहले भीतरी देशों और फिर बाह्य विषयों का निरूपण करते हैं। इनमें से चित्त की स्थापना के लिये उपयोगी देशों में से कुछ का नाम ग्रहण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नाभिचक्रे—नाभि में कल्पित किये गये चक्र में। हृदयपुण्डरीके—हृत्पद्म में। मूर्ध्नि ज्योतिषि—मूर्धा या शिरोभाग में स्थित ज्योति में। नासिकाग्रे—नाक के अगले भाग में। जिह्वाग्रे—जीभ के अगले भाग में। इति इत्येवमादिषु देशेषु—इसी प्रकार के अन्य 'तालु' इत्यादि आन्तरिक प्रदेशों में। **'आदिशब्देन तात्वादयो ग्राह्याः'**—(त० वै०)। बाह्ये वा विषये—या फिर बाह्य प्रदेशों में। चित्तस्य—चित्त का। वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा[३]—केवल सात्त्विक वृत्ति के द्वारा सम्बन्ध-स्थापन ही धारणा है। वृत्तिमात्रेण—वृत्तिमात्र से। इस 'मात्र' शब्द से क्या अभिप्राय है? वाचस्पति मिश्र का मत है कि बाह्य विषयों के साथ चित्त का साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण ज्ञानमात्र के द्वारा चित्त को उनमें लगाना यहाँ अभिप्रेत

---

१. 'तृतीये पादे तत्प्रवृत्त्यनुगुणाः श्रद्धोत्पादहेतवो विभूतयो वक्तव्याः।'
—त० वै० पृ० २८१।

२. 'देशे नाभिचक्रनासाग्रादौ चित्तस्य बन्धः विषयान्तरपरिहारेण यत्स्थिरीकरण सा चित्तस्य धारणोच्यते।' —रा० मा० वृ० पृ० ५६।

३. 'यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र ध्यानाधारदेशविषये चित्तस्य स्थापनं तदैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः।' —यो० वा० पृ० २८१।

है। यही बात भास्वतीकार ने कही है। किन्तु चित्त का साक्षात् सम्बन्ध आन्तरिक विषयों से भी ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से कैसे हो सकता है? इसलिये इन आचार्यों का यह कथन बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। विज्ञानभिक्षु का मन्तव्य यहाँ पर अधिक संगत प्रतीत होता है। उनका कथन है कि—

'वृत्तिमात्रेण न तु ध्येयकल्पनयेत्यर्थः तेन ध्यानादिव्यावृत्तिः।'—(यो० वा०)

इस कथन के अनुसार ध्येयपदार्थ के रूपगुणादि की कल्पना का यहाँ पर निवारण करने के लिये 'वृत्तिमात्रेण' का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि ध्येय-पदार्थ या ध्येयविषय के रूपगुणादि की कल्पना न करके केवल वृत्ति का उस प्रदेश तक प्रसार करके वहीं स्थिर करना ही धारणा है। इसके पश्चात् ध्यान का क्षेत्र प्रारम्भ होता है॥ १॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ २॥

उस (विषय) में ज्ञान की एकतानता ही ध्यान है॥ २॥

तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्॥ २॥

उस (धारणा वाले) विषय में, ध्येयरूप आलम्बन वाले (ध्येय पर ही केन्द्रित) तथा अन्य ज्ञानों से अस्पृष्ट ज्ञान की अविच्छिन्न तथा अभिन्न धारा ही 'ध्यान' है॥ २॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तत्र—धारणा के विषयभूत पदार्थ में। प्रत्ययैकतानता—ज्ञानस्य एकतानताप्रवाहः, वृत्ति का एक अभिन्न प्रवाह ही। ध्यानम्—'ध्यान' नामक सातवाँ योगाङ्ग कहा गया है॥ २॥

(भा० सि०)—तस्मिन् देशे—उस देश या विषय में, जिसमें कि धारणा की गयी थी। ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्य—ध्येयं ध्यायमानं वस्तु एव आलम्बनं लक्ष्यं यस्य, तस्य ज्ञानस्य, ध्यायमान वस्तु पर ही अवलम्बित ज्ञान की। एकतानता—एकोऽविच्छिन्नः तानः प्रसारः गतिरिति एकतानस्तस्य भावः एकतानता, अविच्छिन्न धारा **'तैलधारावदविच्छिन्नः प्रवाहः'**—तेल की अजस्र गिरती हुई धारा के समान अखण्ड प्रवाह ही 'ध्यान' है। प्रत्यय की एकतानता को और अधिक स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं। सदृशः प्रवाहः—एकसरीखा बहाव। एक ही रूप से जिस ज्ञान का प्रसरण होता रहता है, वह ज्ञान 'ध्यान' कहा जाता है। अर्थात्। प्रत्ययान्तरेण—ज्ञानान्तरेण, अन्य किसी भी ज्ञान से। अपरामृष्टः—अमिश्रितः

अस्पृष्टः प्रत्ययः प्रवाहः, सुसम्बद्धज्ञानधारा। ध्यानम्—'ध्यान' कही जाती है।[1] **'यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य यैकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण........ सा ध्यानमुच्यते'**[2] ॥ २ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

(ध्येय) अर्थमात्र को निर्भासित करने वाला अपने (ज्ञानात्मक) रूप से भी रहित-सा ध्यान ही 'समाधि' है ॥ ३ ॥

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

ध्यान ही जब ध्येय के स्वभाव का आवेश होने के कारण ध्येय के आकार से भासित तथा अपने (ज्ञानात्मक) रूप से रहित जैसा हो जाता है, उस समय उसे 'समाधि' कहा जाता है ॥ ३ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तदेव—ध्यानमेव। समाधिः—'समाधि' कहा जाता है। ध्यान के अतिरिक्त कोई वस्तु 'समाधि' नहीं होती। किन्तु प्रत्येक ध्यान को समाधि नहीं समझना चाहिए। जो ध्यान इस सूत्र में बताये गये दो विशेषणों से युक्त हो, वही 'समाधि' कहा जाता है। अर्थमात्रनिर्भासम्—अर्थ एव अर्थमात्रम्, तस्यैव निर्भासः यस्मिंस्तत्तथोक्तम्, ध्येयभूत अर्थ पर अत्यन्ताधिक एकाग्रता होने के कारण केवल उसी अर्थ के रूप में निर्भासन होने लगता है। इस अवस्था वाले ध्यान की ही 'समाधि' संज्ञा होती है। दूसरा विशेषण है 'स्वरूपशून्यमिव'—उस अर्थमात्र का निर्भासन होने के कारण ज्ञान का अपना रूप ('जानामि' इस प्रकार का) भी नहीं अनुभूत होता, इसलिये उस ध्यान को 'स्वरूपेण शून्यम् इव' कहा गया है। 'इव' शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है, क्योंकि वस्तुतः अपने स्वरूप से रहित तो कोई चीज हो नहीं सकती, इसलिये 'ध्यान' भी अपने रूप से रहित नहीं हो सकता। फिर भी ध्येयार्थस्वरूप का ही प्रकाशन होने के कारण उस ध्यान को 'स्वरूपशून्य जैसा' कहा गया है। जब 'ध्यान' इन विशेषणों वाला हो जाता है, तब उसे 'समाधि' कहते हैं।[3] भोजराज ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है—

---

१. 'धारणा यत्त देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्य वृत्तेर्या एकतानता तैलधारावदेकतानप्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टः अन्यया वृत्त्या असम्मिश्रः प्रवाहस्तद् ध्यानम्।'
—भा० पृ० २८३।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५७।

३. 'विस्मृतग्रहीतृग्रहणभावो यदा ध्यायति तदा तस्य समाधिरित्यर्थः।'
—भा० पृ० २८४।

'तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं यथार्थमात्रनिर्भासमर्थाकारावेशादुद्भूतार्थरूपमश्रुतं ज्ञान-स्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवापद्यते स समाधिरित्युच्यते। सम्यगाधीयते एकाग्री-क्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः'[1] ॥ ३ ॥

(भा० सि०)—सूत्रगत 'तत्' पद 'ध्यान' का परामर्श कराता है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं—ध्यानमेव—ध्यान ही। ध्येयस्वभावावेशाद्—ध्येयस्वभाव के आवेश के कारण, ध्येयपदार्थ के स्वभाव या स्वरूप से पूर्णरूपेण मनोयोग होने के कारण। ध्येयाकारनिर्भासम्—ध्येय के आकार से निर्भासन करने वाला। प्रत्यया-त्मकेन—ज्ञानात्मकेन। स्वरूपेण—स्वकीयेन रूपेण। शून्यमिव—शून्य यथा तथा भासमानम्, अपने ज्ञानात्मक या ग्रहणात्मक रूप को भी भूला हुआ अर्थात् ज्ञानाकार-वृत्तिरहित जैसा। यदा भवति—जब हो जाता है। तदा—उस समय, वह उत्कृष्ट ध्यान। समाधिरित्युच्यते—'समाधि' कहा जाता है अर्थात् 'समाधि' के नाम से अभिहित किया जाता है।

यह 'समाधि' शब्द पारिभाषिक है। यह ध्येयविषय में चित्त की स्थिरता की अधिकाधिक सीमा का द्योतक होता है। समाधि का सामान्य लक्षण तो चित्त की वृत्तियों का निरोध है। यद्यपि वृत्तिनिरोध थोड़ा-बहुत तो चित्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त अवस्थाओं में भी होता है, किन्तु वह चित्तवृत्तिनिरोध अर्थात् समाधि योग-साधन के लिए बिल्कुल अनुपयोगी है। उस प्रकार की समाधि का यहाँ पर ग्रहण नहीं करना चाहिए। योग के लिये जिन समाधियों की उपयोगिता होती है, वे क्रमशः ये हैं—

१. योगाङ्गरूपिणी प्रस्तुतसूत्रोक्तसमाधि।
२. सम्प्रज्ञातसमाधि।
३. असम्प्रज्ञातसमाधि।

इन तीनों समाधियों का लक्षण तत्तत्स्थलों में किया जा चुका है। इनका पारस्परिक भेद भी ज्ञातव्य है। अङ्गभूत प्रस्तुत सूत्रोक्त समाधि में ध्येयपदार्थ का ध्यायमान आकार ही निर्भासित होता रहता है। इसमें 'सम्यक्प्रज्ञानरूप' सिद्धि न होने के कारण ध्येयपदार्थ अपने सकल विशेषों सहित ज्ञात नहीं होता। किन्तु अङ्गि-भूत सम्प्रज्ञातसमाधि में सम्प्रज्ञान या साक्षात्कार का उदय हो जाने के कारण ध्येय पदार्थ के ध्यायमान तथा अध्यायमान—दोनों प्रकार के विशेष सम्पूर्ण रूप में स्वतः निर्भासित होने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि सम्प्रज्ञान या साक्षात्कार से युक्त एकाग्र-वृत्तिक समाधि तो अङ्गी 'सम्प्रज्ञातसमाधि' होती है और सम्प्रज्ञानहीन एकाग्र-

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५७।

वृत्तिक समाधि अङ्गभूत समाधि होती है।[1] असम्प्रज्ञातसमाधि इन दोनों समाधियों से भिन्न रूप की होती है, क्योंकि उसमें कोई ध्येयविषय ही नहीं होता और न किसी प्रकार का ज्ञान होता है। अतः उसका भेद इन दोनों समाधियों से सर्वथा सुस्पष्ट ही है ॥ ३ ॥

तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः—

वे ये धारणा, ध्यान और समाधि—तीनों एकत्र (अर्थात् एक ही आलम्बनगत) होने पर 'संयम' (कहे जाते) हैं—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एक ध्येयविषयक (ये) तीनों 'संयम' (कहे जाते) हैं ॥ ४ ॥

एकविषयाणि त्रीणि साधनानि 'संयम' इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

एक ही आलम्बन वाले (ये) तीनों साधन 'संयम' कहे जाते हैं। इसलिये इन तीनों की (सम्मिलित रूप में) शास्त्रीय परिभाषा 'संयम' है ॥ ४ ॥

योगसिद्धिः

(भा० सि०)—एकविषयाणि—एकविषयगतानि, **'एकविषये क्रियमाणानि'**—(भा०), एक ही पदार्थ के विषय में किये गये। त्रीणि साधनानि—धारणा, ध्यान और समाधि नामक ये तीनों साधन। संयम इत्युच्यते—'संयम' कहे जाते हैं। यह संज्ञा इन तीनों साधनों की सम्मिलित संज्ञा है। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति—वह 'संयम' संज्ञा इन तीनों की तान्त्रिकी (तन्त्र (शास्त्र) + ठक् + ङीप्) अर्थात् (योग) शास्त्रीय परिभाषा है। फलतः योगशास्त्र में 'संयम' पद से धारणा, ध्यान और समाधि के सम्मिलित रूप का बोध होता है ॥ ४ ॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उस (संयम) को जीतने से (योगी को) प्रज्ञा का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः। यथा-यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा-तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

उस संयम का जय होने पर समाधिप्रज्ञा का प्रकाश होता है। जैसे-जैसे संयम दृढ़तर होता जाता है, वैसे-वैसे समाधिप्रज्ञा निर्मलतर होती जाती है ॥ ५ ॥

---

१. 'अस्य च समाधिरूपस्याङ्गस्य अङ्गियोगसम्प्रज्ञातयोगादयं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया विशेषतो ध्येयस्वरूपं न भासते; अङ्गिनि तु सम्प्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्यविषया अपि विषया भासन्त इति, तथा च साक्षात्कारयुक्तैकाग्र्यकाले सम्प्रज्ञातयोगोऽन्यदा तु समाधिमात्रमिति विभागः।'—यो० वा० पृ० २८४।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब इस संयम की सिद्धि का फल बताया जा रहा है। तस्य—संयमस्य जयाद् इति तज्जयात्—उस संयम को जीत लेने से अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यस्त हो जाने से। **'जयः स्थैर्यं सात्म्यमिति यावत्।'**[1] प्रज्ञायाः—समाधिस्तस्य योगिनः बुद्धेः, समाधिकाल की बुद्धि का। आलोकः—प्रकाशः, दीप्तिर्भवतीति भावः। इस संयम का अभ्यस्त हो जाना ही योगी की उस पर विजय है। इस विजय से प्रज्ञा में दीप्ति या प्रकाश आता है, जिससे ध्येयालम्बन का यथार्थ साक्षात्कार उत्पन्न होता है और अङ्गभूत समाधि अङ्गी सम्प्रज्ञातसमाधि बन जाती है। इस प्रकार इस साक्षात्कारोदय या प्रज्ञालोक से ध्येय वस्तु का सम्यक् एवं स्पष्ट ज्ञान होने लगता है। यह समाधि 'सम्प्रज्ञातयोग' कही जाती है। **'प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासयतीत्यर्थः'**[2] ॥ ५ ॥

(भा० सि०)—'तस्य' का अर्थ है 'संयमस्य', उसके अर्थात् संयम के। जयात्—जय से, अभ्यासकृत स्थैर्य से। समाधिप्रज्ञायाः—समाधिसंस्कृत बुद्धि या समाधिजन्य बुद्धि का। आलोकः—प्रकाशः। दीप्तिर्भवतीति—प्रकाश होता है, अद्‌भुत नैर्मल्य हो जाता है। यह स्थिति क्रमशः ही सम्पन्न होती है। यथा-यथा—जैसे-जैसे। संयमः—धारणाध्यानसमाधिः। स्थिरपदः भवति—सुस्थिर या ठीक से अभ्यस्त होता जाता है। तथा-तथा—वैसे-वैसे, उसी क्रम से, उसी अनुपात में। समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति—समाधिजन्य प्रज्ञा निर्मलतर होती जाती है, अर्थात् प्रज्ञा का आलोक स्फुटतर होता जाता है। बढ़ते-बढ़ते ध्येयातिरिक्त पदार्थों का भी रूप प्रकट करने में वह प्रज्ञा का प्रकाश समर्थ होता जाता है। **'वैशारद्यञ्चातिसूक्ष्मव्यवहिताद्यर्थानां परप्रत्यक्षीकरणसामर्थ्यमिति'**[3] ॥ ५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस (संयम) का (उत्तरोत्तर) भूमियों में विनियोग (प्रयोग) करना चाहिए ॥ ६ ॥

तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः? ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २८५।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५७।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २८५।

परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात् ? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम् ? एवं ह्युक्तम्—

'योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्'॥ इति॥ ६॥

जीती गयी भूमिका के (अव्यवहित) बाद की जो भूमि हो, उसमें उस (संयम) का प्रयोग करना चाहिए। नीचे की भूमि को न जीत चुकने वाला व्यक्ति ठीक बाद की भूमि को छोड़ कर ऊँची भूमिकाओं में संयम नहीं कर पाता। उस (संयम) के न होने पर उसको (उन-उन भूमियों में) प्रज्ञा का प्रकाश कहाँ से हो सकता है ? (क्योंकि संयम की सिद्धि से ही प्रज्ञा का प्रकाश होता है।) किन्तु ईश्वर की कृपा से ऊपर की भूमि (के संयम) का जय कर लेने के बाद नीचे की भूमियों अर्थात् अन्य लोगों के चित्त के ज्ञान इत्यादि की भूमियों में संयम करना ठीक नहीं होता। क्यों ? उसके (फलस्वरूप उत्तरभूमिकारोहण) अर्थ की अन्य साधन से प्राप्ति हो जाने के कारण। इस भूमि के ठीक बाद की भूमि यह है—इस विषय में योग (का अभ्यास) ही गुरु (का काम करता) है। कैसे ? क्योंकि इस प्रकार से कहा गया है कि—'योग से योग को जानना चाहिए। योग, योग से ही आगे बढ़ता है। जो (योग में) असावधान नहीं होता, वह योग के द्वारा दीर्घकाल तक योग में आनन्दानुभव करता है'॥ ६॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तस्य उसका अर्थात् संयम का। भूमिषु—योगसाधना की अनेक उत्तरोत्तरवर्तिनी अवस्थाओं (Stages) में। विनियोगः—अङ्गत्वेनोपयोगः, साधनाङ्ग के रूप में उपयोग होना चाहिए। **'तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसूक्ष्मालम्बनमेतेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु विनियोगः कर्त्तव्यः, अधरामधरां चित्तभूमिं जितां जितां ज्ञात्वा उत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्यः'**[1] ॥ ६॥

(भा० सि०)—तस्य संयमस्य—उस संयम का। जितभूमेः—जिता चासौ भूमिश्चेति जितभूमिः, तस्याः। या अनन्तरा—या अव्यवहिता। भूमिः—अवस्था (Immediately following stage) है। योगसाधना की ऐसी अवस्था या भूमिका, जिसमें 'संयम' को सिद्ध कर लिया गया है, जीती हुई भूमि कही जाती है। उस संयमजय वाली भूमि के ठीक बाद की जो भूमिका (Stage) आती है। तत्र—उस (क्रम प्राप्त) भूमिका में (संयम का)। विनियोगः—प्रयोगः, उपयोगः,

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५८।

नियोजनं कर्तव्यमिति शेषः। अजिताधरभूमिः—न जिता अधरा भूमिः, (अधर-भूमिगतस्संयमः इत्याशयः) येनासौ योगी, ऐसा योगी जिसने नीचे की भूमिकाओं (अर्थात् उनमें किये गये संयम) को अभी तक नहीं जीता, वह। अनन्तरभूमिम्—उसके ठीक बाद वाली भूमि को। विलङ्घ्य—लाँघकर, छोड़कर। प्रान्तभूमिषु—अत्युच्च भूमियों में। संयमं न हि लभते—संयम नहीं कर सकता। तदभावाच्च—तस्य संयमस्य अभावात्—उस संयम के न हो पाने से। तस्य—उस योगी को। कुतः प्रज्ञालोकः—प्रज्ञा का प्रकाश (उस-उस भूमि में) कैसे प्राप्त हो सकता है? किन्तु इय नियम का एक अपवाद भी है। वह बताया जा रहा है—ईश्वरप्रसादाद्—ईश्वर के अनुग्रह से। जितोत्तरभूमिकस्य च—उत्तरवर्तिनी भूमिका को (बिना उसमें संयम किये ही) जीत लेने वाले योगी का। अधरभूमिषु—नीचे की भूमियों में (यथा)। परचित्तज्ञानादिषु—अन्य व्यक्तियों के चित्त की जानकारी इत्यादि में। संयमो न युक्तः—संयम करना व्यर्थ है, ठीक नहीं है। कस्मात्—क्यों? तदर्थस्य—तस्य अर्थस्य, उस प्रयोजन के। अन्यतः एव अवगतत्वाद्—(संयम से) भिन्न उपाय (ईश्वरानुग्रह) से ही सिद्ध हो जाने के कारण। अभिप्राय यह है कि संयमजय-प्राप्य तत्तत्पदार्थज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि संयम से भिन्न ईश्वरानुग्रह के द्वारा ही प्राप्त हो जाने के कारण निचली भूमियों में संयम करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यह जानने के लिये कि कौन नीचे की भूमि है और कौन उसके ठीक बाद की भूमि है? भाष्यकार का कथन यह है कि। अस्याः भूमेः—इस भूमि के। अनन्तरा इयं भूमिः—ठीक बाद की यह भूमि है। इत्यत्र—इस विषय में। योग एव उपाध्यायः—योग (का अभ्यास) ही गुरु है। योगाभ्यास करते जाइये, आप से आप पता चलता जायगा कि अब इसके बाद किस भूमिका में संयमजय करना चाहिए। कथम्—क्यों? हि एवमुक्तम्—क्योंकि ऐसा ही कहा गया है कि। योगेन योगो ज्ञातव्यः—योग से ही योग (के अगले आयामों) को जानना चाहिए। योगो योगात् प्रवर्तते—योग से ही योग प्रवर्तित होता है, आगे बढ़ता है। योऽप्रमत्तस्तु—और जो योगसाधन में प्रमादहीन होता है, अभ्यासरत रहता है। योगेन स योगे रमते चिरम्—वह सुदीर्घ काल तक योगानन्द के अनुभव का लाभ करता है। **'उपाध्यायो गुरुः, योगबलादेव स्वयं जानातीत्यर्थः'**[1] ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पहले वाले (पाँचों अङ्गों की) अपेक्षा ये तीनों अङ्ग (सम्प्रज्ञातसमाधि के लिये) अन्तरङ्ग (माने जाते) हैं ॥ ७ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २८७।

तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

पहले वाले अङ्गों अर्थात् यमादि साधनों की अपेक्षा वे धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तरङ्ग होते हैं ॥ ७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—एक बहुत बड़ी शङ्का विभूतिपाद के आरम्भ से ही पाठकों के मन में यह बनी होगी कि जब योग के आधारभूत आठ अङ्ग बताये गये हैं, तो साधनपाद के अन्तर्गत यम से लेकर प्रत्याहारपर्यन्त पाँच का ही व्याख्यान क्यों किया गया है ? धारणा, ध्यान तथा समाधि, योगसाधन होने पर भी साधनपाद में न कहे जाकर विभूतिपाद में क्यों कहे गये हैं। योगाङ्गों के इन दो वर्गों में अवश्य कोई भेदक तत्त्व है ? इसी तत्त्व को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार बताते हैं कि पहले वाले पाँचों अङ्ग सम्प्रज्ञातसमाधि के बहिरङ्गमात्र हैं, जबकि बाद वाले तीनों अङ्ग सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरङ्ग हैं। इस अन्तरङ्गत्व का अर्थ है निकटतमता या साक्षात्कारणता। जो अङ्ग किसी अङ्गी के साथ साक्षात्सम्बद्ध होता है और इसीलिये उस अङ्गी की सिद्धि में जिसकी सत्ता अवश्यम्भाविनी होती है, वह उस अङ्गी का 'अन्तरङ्ग' कहा जाता है। प्रकृत प्रसङ्ग में यमादि पाँचों साधन 'बहिरङ्ग' कहे जाते हैं, क्योंकि इनका इस जन्म में अभ्यास किये बिना ही केवल धारणा, ध्यान और समाधि के ही अभ्यास से जडभरतादि सदृश बहुत से योगियों को सम्प्रज्ञात की सिद्धि हो जाती है।[1] किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास के बिना सम्प्रज्ञात की सिद्धि किसी योगी को कभी नहीं सुनी गयी। इसलिये यमादि पाँचों अङ्ग सम्प्रज्ञातसमाधि के 'बहिरङ्ग' कहे गये हैं और धारणा, ध्यान तथा समाधि 'अन्तरङ्ग' माने गये हैं। त्रयम्—धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों। पूर्वेभ्यः—पहले वाले अङ्गों की तुलना में (सम्प्रज्ञातसमाधि के लिये)। अन्तरङ्गम्—अन्तरङ्ग हैं, साक्षादुपकारक अङ्ग हैं, अपरिहार्य अङ्ग हैं ॥ ७ ॥

(भा० सि०)—तद् एतद्—वह यह। धारणाध्यानसमाधित्रयम्—धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों। सम्प्रज्ञातस्य समाधेः—अङ्गी सम्प्रज्ञातसमाधि के।

---

१. 'अन्तरङ्गत्वे च बीजमिदं यद्ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधरूपे सम्प्रज्ञाते ध्येयसंयमः साक्षादेव कारणं विषयान्तरसञ्चाररूपत्वात् एवं ध्येयसाक्षात्कारेऽपि साक्षादेव विषयान्तरसञ्चाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा कारणमिति, प्रत्याहारान्तं त्वङ्गपञ्चकं चित्तस्थैर्यद्वारेण परम्परयैवोभयोः कारणमिति, अत एव यस्य जडभरतादेः स्वत एव प्राचीनकर्मवशाच्चित्तं संयमयोग्यं भवति तस्य नास्तीतराङ्गावश्यकत्वम्।'

—यो० वा० पृ० २८७।

अन्तरङ्गम्—अन्तरङ्ग अर्थात् भीतरी अङ्ग या साक्षात्सम्बद्ध अङ्ग हैं। किनकी तुलना में ये अङ्ग भीतरी अङ्ग कहे गये हैं ? पूर्वेभ्यः (अङ्गेभ्यः)—पहले वाले यमादि पाँचों योगसाधनों की तुलना में। इति—यह शब्द इस सूत्र के भाष्य की समाप्ति का सूचक है ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

वह (संयम) भी निर्बीजसमाधि के लिये बहिरङ्ग (ही) है ॥ ८ ॥

तदप्यन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं भवति। कस्मात् ? तदभावे भावादिति ॥ ८ ॥

(सम्प्रज्ञातसमाधि की दृष्टि से) अन्तरङ्ग (धारणा, ध्यान और समाधि नामक) तीनों साधन निर्बीजयोग के बहिरङ्ग (ही) हैं। क्यों ? उनका अभाव हो जाने पर ही (निर्बीजयोग के) होने के कारण ॥ ८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तद्—इस पद से 'त्रयम्' अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों के समुदाय का परामर्श होता है। ये तीनों यद्यपि सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरङ्ग हैं, फिर भी असम्प्रज्ञातसमाधि के प्रति अन्तरङ्ग नहीं हैं। इस तथ्य की अवतारणा करने के लिये 'अपि' शब्द का प्रयोग हुआ है। निर्बीजस्य—निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञातसमाधि के। बहिरङ्गम्—बाहरी अङ्ग हैं, साक्षात्सम्बन्धित अङ्ग नहीं हैं। निर्बीजसमाधि का साक्षात्सम्बन्धित अङ्ग तो 'परवैराग्य' है ॥ ८ ॥

(भा० सि०)—'तदपि' का अर्थ है—अन्तरङ्गं साधनत्रयम्—सम्प्रज्ञात समाधि के आन्तरिक अङ्गभूत धारणा, ध्यान और समाधि (का समुदाय)। निर्बीजस्य योगस्य—निर्बीज नामक योग अर्थात् असम्प्रज्ञातयोग के। बहिरङ्गम्—बाहरी अङ्ग ही हैं, अन्तरङ्ग नहीं हैं। कस्मात्—क्यों ? निर्बीजसमाधि के प्रति इन तीनों के अन्तरङ्ग न माने जाने का क्या कारण है ? इस कारण को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं।

तदभावे—तेषां धारणादीनाम् अभावे अतिक्रमणे निरोधे इति तदभावे, उन धारणादि तीनों साधनों के निरुद्ध हो चुकने पर ही। भावात्—निर्बीजसमाधि के सिद्ध होने के कारण निर्बीजयोग के प्रति इन तीनों साधनों का अन्तरङ्गत्व नहीं है। उसके प्रति ये केवल बहिरङ्ग ही बन पाते हैं[1]। जब धारणादि को परवैराग्य के द्वारा निरुद्ध कर लिया जाता है, तभी निर्बीजयोग की स्थिति हो सकती है। जब तक

---

१. 'निर्बीजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनापरपर्यायस्य समाधेरेतदपि योगाङ्गत्रयं बहिरङ्गं पारम्पर्येणोपकारकत्वात्।' —रा० मा० वृ० पृ० ५८।

धारणा, ध्यान और समाधि रहेंगे, तब तक असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति हो ही नहीं सकती। इसलिये न तो इन साधनों और निर्बीजयोग का समानविषयत्व है और न आनन्तर्य ही। इसलिये इनकी अन्तरङ्गता निर्बीजयोग के प्रति सर्वथा अनुपपन्न है। इस कारण से निर्बीजयोग के प्रति इन साधनों का बहिरङ्गत्व ही माना गया है।

'साधनत्रयस्य सम्प्रज्ञात एवान्तरङ्गत्वं न त्वसम्प्रज्ञातस्य निर्बीजतया तैः स समानविषयत्वाभावात्, तेषु चिरनिरुद्धेषु सम्प्रज्ञातपरमकाष्ठापरनामज्ञानप्रसादरूपपरवैराग्यानन्तरमुत्पादाच्चेत्याह 'तदेतदिति'[1] ॥ ८ ॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः ?

अब गुणों का स्वभाव चञ्चल होता है—इसलिये चित्त के निरोधकाल में चित्त का परिणाम किस रूप का होता है ? (इस विषय में वर्तमान सूत्र है)—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानसंस्कारों का दबना और निरोधसंस्कारों का उभरना—यह निरोधकालिक चित्त में होने वाला 'निरोधपरिणाम' है ॥ ९ ॥

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः, तयोरभिभवप्रादुर्भावौ। व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

व्युत्थानसंस्कार चित्त के (ही) धर्म हैं। वे ज्ञानरूप नहीं होते, इसलिये ज्ञान का निरोध होने पर निरुद्ध नहीं होते। निरोधसंस्कार भी चित्त के धर्म हैं। इन दोनों का (क्रमशः) अभिभव और प्रादुर्भाव होता है (अर्थात्) व्युत्थानसंस्कार दबते जाते हैं और निरोधसंस्कार उभरते आते हैं (इस प्रकार) चित्त निरोधदशा को प्राप्त होता है। इसलिये एक चित्त का हर क्षण भिन्न-भिन्न संस्कारों वाला बनना 'निरोधपरिणाम' है। उस (निरोधपरिणाम के) समय में चित्त (निरोध) संस्कारमात्र (के रूप में) अवशिष्ट रहता है—यह निरोधसमाधि में बताया जा चुका है ॥ ९ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २८८।

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—निरोधचित्तक्षणेषु—निरोधदशा वाले योगिजन का चित्त 'निरोधचित्त' कहा गया है। इसलिये निरोधचित्त से तात्पर्य है 'निरोधकालिक चित्त'। चित्त की उस स्थिति में जितना समय बीतता है, उस समय के लिये कहा गया है 'निरोधचित्तक्षणेषु' अर्थात् निरोधकालिक चित्त की स्थिति में। गुणानां वृत्तं व्यवहारः इति गुणवृत्तम्—गुणों का व्यवहार। चलम्—चञ्चल, अर्थात् निरन्तर परिणमनशील होता है। इति—इति हेतोः, इसलिये। कीदृशः तदा चित्तपरिणामः—उस समय चित्त का परिणाम किस रूप का होता है ? गुणों के गतिशील होने के कारण उनका निरन्तर परिणाम होता रहता है, इसलिये उस परिणाम का स्वरूप बताने के लिये यह सूत्र अवतरित हुआ है।

(सू० सि०)—व्युत्थानञ्च निरोधश्चेति व्युत्थाननिरोधौ, तयोः संस्कारौ तयोरिति व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः—व्युत्थानकाल में बनने वाले (चित्त के) संस्कार 'व्युत्थानसंस्कार' हैं और निरोधकाल में बनने वाले (चित्त के) संस्कार 'निरोधसंस्कार' हैं। इन दोनों प्रकार के संस्कारों का। अभिभवश्च प्रादुर्भावश्चेति अभिभवप्रादुर्भावौ—(क्रमशः) दबना और उभरना ही। निरोधक्षणे यच्चित्तं तन्निरोधक्षणचित्तं तत्र अन्वयः अवस्थितिः सम्बन्धः यस्य तादृशः निरोधक्षणचित्तान्वयः।' निरोधपरिणामः—निरोधकालिक चित्त में होने वाला परिणाम 'निरोधपरिणाम है। आशय यह है कि निरोधकालिक चित्त में भी परिणाम होता रहता है, क्योंकि त्रिगुणात्मक चित्त परिणामपरायण ही रहता है। भले ही उस समय ज्ञान के निरुद्ध होने के कारण योगी को चित्त के परिणामों का अनुभव न हो सके। **'निरोधे तु नानुभूयते परिणामो, न चाननुभूयमानो नास्ति, चित्तस्य त्रिगुणतया चलत्वेन गुणानां क्षणमप्यपरिणामस्यासम्भवादित्यर्थः'।**[1]

यह व्युत्थान क्या है ? समस्त ज्ञान—चाहे वह सम्प्रज्ञातसमाधि से भिन्न काल का हो अथवा सम्प्रज्ञातसमाधिकाल का, पूर्णनिरोध की अपेक्षा से वह सब व्युत्थान ही है। पूर्णनिरोध की निस्तरङ्ग, निष्प्रत्यय प्रशान्तवाहिता की स्थिति से चित्त का हटना, बहकना या उठना ही चित्त का व्युत्थित होना या व्युत्थान को प्राप्त होना है। इन ज्ञानों को निगृहीत करने की प्रक्रिया अर्थात् इन ज्ञानों को उत्पन्न न होने देने के प्रयत्न को 'निरोध' कहते हैं। इस निरोध को करने से चित्त में जो संस्कार पड़ते या बनते हैं, उन्हें 'निरोधसंस्कार' कहते हैं[2]। इन दोनों प्रकार के परस्पर-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २८९।

२. 'अत्र निरोधकाले जायमानसंस्कार एव निरोधसंस्कार इत्युक्तः।'

—यो० वा० पृ० २९०।

विरोधी संस्कारों में से 'व्युत्थानसंस्कारों' का अभिभव होना या दब जाना और निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव होना या उभरना चित्त का निरोधपरिणाम है[१]। यह परिणाम किस अवस्था के चित्त में होता है? इसका उत्तर सूत्रगत 'निरोधक्षण-चित्तान्वयः' पद देता है, जो कि निरोधपरिणाम के विशेषण के रूप में आया हुआ है। निरोधकालिक चित्त में अन्वय वाला या उपस्थिति रूप से सम्बन्धित यह निरोध नामक परिणाम होता है। **'अयमर्थः यदा व्युत्थानसंस्काराख्यो धर्मस्तिरोभूतो भवति निरोधसंस्काररूपश्चाऽविर्भवति, धर्मिरूपतया च चित्तमुभयत्रान्वयित्वेनाऽवस्थितं प्रतीयते तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते'[२] ॥ ९ ॥**

(भा० सि०)—व्युत्थानसंस्काराः—सभी ज्ञानों से उत्पन्न संस्कार ही 'व्युत्थान-संस्कार' कहे जाते हैं। ये संस्कार। चित्तधर्माः—चित्त के धर्म हैं अर्थात् चित्त में रहने वाले धर्म हैं। न ते प्रत्ययात्मकाः—वे ज्ञानात्मक नहीं होते। अभिप्राय यह है कि ज्ञान से ये संस्कार उत्पन्न जरूर होते हैं, किन्तु ज्ञान इनका उपादानकारण नहीं है, केवल निमित्तकारण है। जो पदार्थ जिस उपादानकारण से उत्पन्न होता है, वह उस पदार्थमय होता है। जैसे—पट तन्त्वात्मक होता है, कुविन्दात्मक नहीं, वैसे ही घट मृदात्मक होता है, कुम्भकारात्मक नहीं। इसी प्रकार ज्ञानजन्य संस्कार भी चित्तोपादान स बनते हैं, इसलिये वे चित्तात्मक होते हैं, वे ज्ञानात्मक नहीं कहे जा सकते। इस विवेचन से यह पता चल जाता है कि 'ज्ञानजन्य संस्कार' ज्ञान के निरुद्ध होने पर भी क्यों नहीं निरुद्ध होते?' निमित्तकारण के नाश या निरोध से कार्य का नाश या निरोध नहीं होता। उपादानकारण के निरुद्ध होने पर ही कार्य का निरोध होता है। इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः—इसलिये इन ज्ञानजन्य संस्कारों का निरोध, ज्ञान का निरोध होने पर नहीं होता।[३]

निरोधसंस्काराः अपि चित्तधर्माः—निरोधप्रक्रिया से चित्त में बनने वाले संस्कार 'निरोधसंस्कार' कहे जाते हैं। ये संस्कार भी चित्त के ही धर्म हैं। तयोः—एतयो-र्व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः, व्युत्थान और निरोध इन दोनों प्रकार के संस्कारों का। अभिभवप्रादुर्भावौ—दबना और उभरना। आशय यह है कि। व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते—व्युत्थान वाले संस्कार अभिभूत होते हैं, दबते हैं और। निरोधसंस्कारा

---

१. 'अभिभवो न्यग्भूततया कार्यकरणासामर्थ्येनावस्थानम्।'

—रा० मा० वृ० पृ० ५९।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ५९।

३. 'न (इमे) प्रत्ययोपादानकाः, अतो न व्युत्थानसंस्काराः प्रत्ययनिरोधेऽपि निरुद्धा भवन्तीत्यर्थः निमित्तकारणत्वादेव प्रत्ययस्येति भावः। तस्मात्प्रत्ययनिवृत्तावपि तत्संस्कारनिवृत्तिकारणं पृथगेवापेक्ष्यत इति।' —यो० वा० पृ० २९०।

आधीयन्ते—निरोधसंस्कारों का चित्त में आधान होता है, अर्थात् प्रादुर्भाव होता है। चित्तं निरोधक्षणमन्वेति—चित्त निरोध क्षण से अन्वित होता है अर्थात् निरोध की दशा को प्राप्त होता है। तद्—इसलिये। एकस्य चित्तस्य—एक ही चित्त का। प्रतिक्षणम्—प्रत्येक क्षण में। इदम्—यह। संस्कारान्यथात्वम्—संस्काराणाम् अन्यथात्वम्, परिवर्तनम्, संस्कारों का यह परिवर्तन ही। निरोधपरिणामः—निरोध नामक परिणाम है। तदा—उस निरोध की स्थिति में। चित्तम्—चित्त। संस्कारशेषम्—निरोध संस्कारमात्रावशिष्ट हो जाता है। न तो उसमें कोई वृत्ति रहती है और न किसी वृत्ति से उत्पन्न कोई संस्कार। इति—यह बात। निरोधसमाधौ—निरोधसमाधि के व्याख्यानों के प्रसङ्ग में। व्याख्यातम्—बतायी गयी है। इस प्रकार के चित्त नामक एक ही धर्मी के—व्युत्थानसंस्कार और निरोधसंस्कार नामक—दो परस्पर भिन्न धर्मों का ही परिणाम होता है। **'संस्कारमात्राणामेवात्र परिणाम एकस्य धर्मिणश्चित्तस्येति दिक्'**[1] ॥ ९ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

उस (निरोध चित्त) का पूर्ण शान्तरूप से (लगातार) स्थित रहना (इन निरोध) संस्कारों (के प्रादुर्भाव) से होता है ॥ १० ॥

निरोधसंस्काराद् निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति। तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

निरोधसंस्कारों के कारण निरोधसंस्कारों के अभ्यास की पटुता की अपेक्षा रखने वाली चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है[2]। उन निरोधसंस्कारों के मन्द हो जाने पर व्युत्थानजन्य संस्कारों (के उभरने) से निरोधात्मक संस्कार अभिभूत हो जाते हैं ॥ १० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—निरोधसमाधि में होने वाले 'निरोधपरिणाम' का निरूपण ९वें सूत्र में किया गया है। इस निरोधपरिणामपरम्परा का क्या फल है—इसका वर्णन करते हुए इस सूत्र में कहा गया है कि तस्य—उस निरोधकालिक चित्त की। संस्काराद्—निरोधसंस्कारों के कारण। 'संस्कार' शब्द में एकवचन जात्यर्थक है, अतः बहुवचनान्त अर्थ समुचित है। प्रशान्तवाहिता—प्रशान्तं यथा तथा वहतीति प्रशान्त-

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० २९०।

२. 'प्रशान्तवाहिता निर्मलनिरोधधारया वहनं निरोधसंस्कारबलादेव भवति।' —यो० वा० पृ० २९१।

वाही, तस्य भावः प्रशान्तवाहिता, **'व्युत्थानसंस्कारमलरहितनिरोधपरम्परामात्रवाहिता**—(त० वै०) (भवतीति शेषः)। प्रशान्तरूप से स्थित होना, प्रकृष्ट रूप से शान्त बना रहना सम्भव होता है। दीर्घकाल तक व्युत्थानसंस्कारों के द्वारा निरोधसमाधि के भङ्ग होने की स्थिति नहीं आती। निरोधपरिणाम के होते रहने के फलस्वरूप व्युत्थानसंस्कार दबे रहते हैं, जिसके कारण व्युत्थान या विक्षेप की आशङ्का नहीं रहती। इस प्रकार चित्त के निरोधपरिणाम का सद्यःफल निरोधसमाधि का स्थिरत्व होता है[1] ॥ १० ॥

(भा० सि०)—सूत्र में आये हुए 'संस्कार' पद का अर्थ स्पष्ट करने के प्रयोजन से भाष्यकार संस्कार के स्थान पर इस प्रसङ्ग में 'निरोधसंस्कार' पद का प्रयोग करते हैं। निरोधसंस्कारात्—निरोधसंस्कारों से। चित्तस्य—निरोधावस्था चित्त की। प्रशान्तवाहिता भवति—निस्तरङ्ग, निर्बाध रूप से निरोधसमाधि की स्थिति बनी रहती है, अर्थात् निरोधसमाधि के भङ्ग का अभाव ही चित्त की प्रशान्तवाहिता है। यह प्रशान्तवाहिता किसकी अपेक्षा करती है—निरोधसंस्कारों के प्रादुर्भाव की अथवा उनकी दृढ़ता की ? इसका उत्तर इस विशेषण में है 'निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा'—यह प्रशान्तवाहिता निरोधसंस्कारों की अभ्यस्तता से उत्पन्न उनकी पटुता अर्थात् सक्षमता या सुदृढ़ता की अपेक्षा करने वाली होती है। निरोधसंस्कारों के बलवान न रहने पर क्या होता है ? इस विषय में कहा जा रहा है कि। तत्संस्कारमान्द्ये—उन निरोधसंस्कारों के मन्द या निर्बल रहने पर। निरोधधर्मः संस्कारः—ये निरोधात्मक संस्कार। व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण—व्युत्थानात्मक संस्कारों से। अभिभूयते—दब जाते हैं और निरोधसंस्कारों की धारा टूट जाती है। फलतः निरोधसमाधि भङ्ग हो जाती है ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

(चित्त में) अनेकाग्रता का तिरोभाव और एकाग्रता का प्रादुर्भाव होना चित्त का समाधिपरिणाम है ॥ ११ ॥

सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्। तदिदं चित्तमपायोपजननयोः[2] स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते, स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

---

१. 'परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः।'
—रा० मा० वृ० पृ० ५९।

२. 'अपायोपजनयोः' इति पाठान्तरम्।

सभी (विषयों की) ओर उन्मुख होना (अर्थात् अनेकाग्र होना) चित्त का धर्म है और एकाग्र होना भी चित्त का धर्म है। इन दोनों धर्मों में से सब ओर उन्मुख होने का अभाव (सर्वार्थता का) तिरोहित हो जाना है, तथा एकाग्रता का उदित होना (एकाग्रता का) प्रकट होना है। इन दोनों (सर्वार्थता के अभाव और एकाग्रता के उदय) में धर्मी होने के नाते चित्त ही अनुगत रहता है। अपने में ही होने वाले धर्मों अर्थात् तिरोभाव और प्रादुर्भाव से अनुगत (अर्थात् युक्त) वह यह चित्त समाहित होता है। यह चित्त का समाधिपरिणाम होता है ॥ ११ ॥

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—इस सूत्र में अङ्गभूत समाधिकालिक चित्त का परिणाम निरूपित किया जा रहा है। चित्त व्युत्थानदशा में सभी विषयों की ओर उन्मुख रहता है, अनेकविषयप्रवण होता है। यही चित्त की 'सर्वार्थता' है। इस व्युत्थान दशा से हटाकर जब चित्त को किसी एक आलम्बन की ओर लगाया जाता है, तब वह एकाग्र होता है। यह चित्त की 'एकाग्रता' कही जाती है। सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ—इन सर्वार्थता और एकाग्रता का क्रमशः क्षय अर्थात् तिरोभाव और उदय अर्थात् प्रादुर्भाव। चित्तस्य—चित्त का। समाधिपरिणामः—'समाधि' नाम का परिणाम है। **'सर्वार्थता चलत्वान्नानार्थग्रहणं चित्तस्य विक्षेपो धर्मः। एकस्मिन्नेवावलम्बने सदृशपरिणामितैकाग्रता सापि चित्तस्य धर्मः।'**[1] इस समाधीयमान चित्त में सर्वार्थता या विक्षेप का क्रमशः अत्यन्ताभिभव होता जाता है और एकाग्रता की पूर्णाभिव्यक्ति होती जाती है। इसलिये इसे समाधिकालीन चित्तपरिणाम होने के कारण चित्त का 'समाधिपरिणाम' कहते हैं। निरोधपरिणाम में व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव और निरोधसंस्कारों का उदय होने के कारण वह चित्त के 'संस्कारों' से सम्बन्धित परिणाम है। किन्तु इस परिणाम का सम्बन्ध चित्त की 'वृत्तियों' से ही रहता है ॥ ११ ॥

(**भा० सि०**)—इस सर्वार्थता और एकाग्रता के क्षय और प्रादुर्भाव की स्थिति भी 'चित्त' नामक धर्मी में होती है, इसलिये इस प्रकार का परिणाम भी चित्त का परिणाम है। भाष्यकार इसी को समझाने के लिये कहते हैं। सर्वार्थता चित्तधर्मः—सर्वार्थता अर्थात् विक्षिप्तता या नानाविषयोन्मुखता चित्त का ही धर्म है और। एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः—एकाग्रता अर्थात् एकविषयोन्मुखता भी चित्त का ही धर्म है। इन दोनों धर्मों का धर्मी चित्त ही है। सर्वार्थतायाः क्षयः तिरोभावः इत्यर्थः—सर्वार्थता के क्षय का अर्थ है सर्वार्थता का तिरोभाव, तिरोहित हो जाना या बिल्कुल दब जाना। तात्पर्यतः अतीतावस्था को प्राप्त हो जाना ही क्षय है।[2] एकाग्रतायाः उदयः

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ६०।

२. 'सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्कारादनुपपत्तिरतीतेऽध्वनि प्रवेशः क्षयः'। —रा० मा० वृ० पृ० ६०।

आविर्भावः इत्यर्थः—एकाग्रता के उदय का अर्थ है एकाग्रता का आविर्भाव, प्रकटित होना या वर्तमानावस्था को प्राप्त करना।[1] अब यह शङ्का होती है कि ये क्षय और उदय, जब सर्वार्थता और एकाग्रता को होते हैं तो ये क्षयोदय सर्वार्थता और एकाग्रता के धर्म हुए। इन्हें सर्वार्थता और एकाग्रता का परिणाम कहा जाना चाहिए। इस क्षयोदय को आखिर चित्त का परिणाम क्यों माना जाए? इसका हेतु बताते हुए भाष्यकार कहते हैं—

तयोः—सर्वार्थता और एकाग्रता का। धर्मित्वेन—धर्मी होने के कारण। चित्तम्—चित्त। अनुगतम्—अन्वयी रूप से उपस्थित रहता है, आधार रूप से सम्बन्धित रहता है। इसलिये यद्यपि क्षयोदय रूप परिणाम साक्षात् चित्त के परिणाम न होकर उसके धर्मभूत सर्वार्थता और एकाग्रता के परिणाम हैं, किन्तु सर्वार्थता और एकार्थता स्वयं धर्मी नहीं हैं, केवल धर्म ही हैं, इसलिये धर्म के परिणामों की सत्ता भी धर्मी में ही होने से क्षयोदय रूप परिणाम भी वस्तुतः 'चित्त' नामक धर्मी में ही कहे जाएँगे, अन्यत्र नहीं। इस बात को विज्ञानभिक्षु ने भली-भाँति स्पष्ट किया है—

'ननु सर्वार्थतैकाग्रतयोर्धर्मौ कथं चित्तस्येत्युच्येते? तत्राह तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तमिति। तयोः सर्वार्थतैकाग्रतयोः, तथा च धर्मपरिणामोऽपि धर्मद्वारा धर्मिण एव भवतीत्यर्थः।'[2]

तदिदं चित्तम्—वह यह चित्त, अर्थात् वह चित्त, जिसके सम्बन्ध में यह बताया जा चुका है कि तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्। सर्वार्थता और एकाग्रता के धर्मी होने के कारण (उनके क्षयोदय में) अनुगत रहने वाला यह चित्त। अपायोपजननयोः—**'यावपायोपजननौ सर्वार्थतायाः अपायः, एकाग्रताया उपचयस्तयोः।'**[3] सर्वार्थता के क्षय और एकाग्रता के उदय में। उपजननम्—प्रादुर्भावः, उत्पत्तिः। इसी अपायोपजनन का विशेषण है—स्वात्मभूतयोर्धर्मयोः—जो कि इस चित्त के अपने आत्मा अर्थात् स्वरूप में होते हैं ऐसे—सर्वार्थता के क्षय तथा एकग्रता के उदय—नामक दोनों धर्मों में। अनुगतम्—'सदिति शेषः' अनुगत रहता हुआ (Undergoing constantly these two types of changes)। समाधीयते—समाहित होता है, समाधि को प्राप्त होता है। स चित्तस्य समाधिपरिणामः—वह चित्त का 'समाधिपरिणाम' कहा जाता है। यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि सर्वार्थता का अपाय और एकाग्रता का उदय इकट्ठे ही नहीं हो जाते; प्रत्युत क्षणों के क्रम से होते हैं[4] ॥ ११ ॥

---

१. 'एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्तमानेऽध्वनि प्रकटत्वम्'।
—रा० मा० वृ० पृ० ६०।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २९२।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २९२।

४. 'सर्वार्थताया अत्यन्तोच्छेद एकदा न भवति, नापि एकाग्रताया निष्पत्तिरेकदा भवति किन्तु क्षणक्रमेणैव।'—यो० वा० पृ० २९२।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥ १२ ॥

तब फिर (चित्त में) समानरूप के ज्ञानों का शान्त और उदित होते रहना चित्त का 'एकाग्रतापरिणाम' है ॥ १२ ॥

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्तः उत्तरस्तत्सदृश उदितः। [1]समाहित-चित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवाऽऽसमाधिभ्रेषादिति। स खल्वयं धर्मिणश्चि-त्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

समाधि में लीन चित्त में पूर्वकालिक ज्ञान शान्त होता रहता है और उत्तर-कालिक (ठीक) उसी प्रकार का (ज्ञान) उदित होता रहता है। दोनों में अनुगत रहने वाला समाहित चित्त तो समाधि टूटने तक उसी तरह से (एकाग्र ही) बना रहता है। यह परिणाम धर्मी चित्त का 'एकाग्रतापरिणाम' (कहा जाता) है ॥१२॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ततः पुनः—उस समाधिपरिणाम के पश्चात् फिर (जब) सम्प्रज्ञातसमाधिकाल में। तुल्यप्रत्ययौ शान्तोदितौ—(भवत इति शेषः)—समान रूप के ही (ध्येयविषयक) ज्ञान, शान्त और उदित होते रहते हैं अर्थात् जिस प्रकार का ज्ञान अतीत हुआ, उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान आविर्भूत हो जाता है। **'शान्तोऽतीतमध्वानं प्रविष्टः अपरस्तूदितो वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः।'**[2] **'शान्तोदितौ अतीतोत्पद्यमानौ तुल्यप्रत्ययावेकाकारप्रत्ययौ।'**[3] यह परिवर्तनशीलता चित्त का 'एकाग्रतापरिणाम' है। जैसा कि स्पष्ट हो गया है कि इस परिणामकाल में चित्त में निरन्तर समान ज्ञानधारा अर्थात् एक ही प्रकार की ज्ञानराशि बनती है, विरोधी प्रकार का ज्ञानलेश भी इसमें उदित नहीं होता, इसलिये निश्चय ही यहाँ 'सम्प्रज्ञात-समाधिकाल' की चित्तावस्था के परिणाम का ही निरूपण किया गया है ॥ १२ ॥

(भा० सि०)—समाहितचित्तस्य—लब्धसम्प्रज्ञातसमाधिचित्तस्य, सम्प्रज्ञात समाधि की दशा में पहुँचे हुए चित्त में। पूर्वप्रत्ययः—पूर्वकालिक ज्ञान। शान्तः—शान्त अर्थात् अतीत होता चलता है और। उत्तरः—बाद का, परवर्ती। तत्सदृशः—पहले वाले ध्येयाकारज्ञान के ही रूप का ज्ञान। उदितः—उदित होता चलता है। **'तुल्यौ च तौ प्रत्ययौ चेति तुल्यप्रत्ययौ।'**[4] उभयोः अनुगतम्—पूर्व तथा पर दोनों

---

१. 'समाधिचित्तमि'ति पाठान्तरम्।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ६१।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २९२।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २९२।

ज्ञानों में अर्थात् ज्ञान की इस सदृशाकारपरिवर्तनपरम्परा में अनुगत। समाधिचित्तं पुनः—सम्प्रज्ञातसमाधिकालिक चित्त तो। तथैव—तद्वत् एकाग्र ही बना रहता है। कब तक? आसमाधिभ्रेषात्—'भ्रेषो भ्रंशः'[1], भङ्ग इति यावत्—अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधि के टूटने तक यही क्रम चलता रहता है। स खलु अयम्—वह यह (चित्त का) परिणाम। धर्मिणः चित्तस्य—धर्मी चित्त का प्रत्ययरूप धर्मों के शान्त्युदयक्रम के द्वारा होने वाला। एकाग्रतापरिणामः—'एकाग्रतापरिणाम' है। **'एतदुक्तं भवति समाधिकाले पूर्वोत्तरकालभाविनौ प्रत्ययौ सदृशौ भवतः। अयं चित्तस्य धर्मिणः एकाग्रतापरिणामः'**[2] ॥ १२ ॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

इस (चित्तपरिणाम के निरूपण) से भूतों और इन्द्रियों में (निरन्तर होने वाले) धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम (भी) निरूपित हो गये ॥ १३ ॥

एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः। लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नो, यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः। तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्, एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा। न चानागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम्। एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमानमनागतलक्षणं[3] हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नम्। यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः, एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति। एवं पुर्ननिरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति तथावस्थापरिणामः—तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति; एष धर्माणामवस्थापरिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २९३।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० २९३।

३. 'अनागतं लक्षणमि'ति पाठान्तरम्।

एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम्, गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। एतेन भूतेन्द्रियेषु[1] धर्मधर्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः। परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति। तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्त्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति।

अपर आह—'धर्मानभ्यधिको धर्मी, पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्, पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येन[2] विपरिवर्त्तेत यद्यन्वयी स्यादिति। अयमदोषः। कस्मात्? एकान्ततानभ्युपगमात्। तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति। कस्मात्? नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यम्। सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति। लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति। यथा—'पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवती'ति।

अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसङ्करः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति। तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम्। सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्त्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम्। एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति। किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः। क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति। उक्तञ्च—'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते। सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते।' तस्मादसङ्करः। यथा रागस्यैव क्वचित् समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः। किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः, तथा लक्षणस्येति। न धर्मी त्र्यध्वा। धर्मास्तु त्र्यध्वानः। ते लक्षिता अलक्षिताश्च[3] तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः, यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने। यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः। कथम्? अध्वनो

---

१. भूतेन्द्रियादिषु'—इति पाठान्तरम्।

२. 'कौटस्थयेनैव परिवर्त्तेत' इति पाठान्तरम्।

३. 'अलक्षिताः तत्र लक्षिताः' इत्यधिकं पाठान्तरम्।

व्यापारेण व्यवहितत्वात् । यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतो, यदा करोति तदा वर्त्तमानो, यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते । नाऽसौ दोषः । कस्मात् ? गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् । यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम् । तस्मिन्विकारसंज्ञेति । तत्रेदमुदाहरणम्—मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति । घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते । घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति । धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था, धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति । एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः ? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः[1] ॥ १३ ॥

इससे अर्थात् पहले (९ से १२ सूत्रों तक) बताये गये धर्म, लक्षण और अवस्था रूपी चित्त के परिणाम से भूतों और इन्द्रियों में (निरन्तर होने वाले) धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम निरूपित हो गये, यह जानना चाहिए । उन (तीनों परिणामों में से)—१. चित्तरूपी धर्मी में व्युत्थानधर्म का अभिभव और निरोधधर्म का प्रादुर्भाव 'धर्मपरिणाम' है । और २. 'लक्षणपरिणाम' यह है—निरोध तीनों लक्षणों वाला होता है, अर्थात् तीन अध्वाओं (स्थितियों) से युक्त होता है । यह निरोध पहले अपनी भविष्यत्काल वाली स्थिति को छोड़कर (अपने) धर्मत्व को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए वर्तमानकाल (की) स्थिति को प्राप्त होता है, जिस स्थिति में उसकी स्वरूपतः अभिव्यक्ति होती है । यह (वर्तमान स्थिति) इस (निरोध) का दूसरा अध्वा (स्थिति) है । (इस स्थिति में भी) वह अपने अतीत और अनागत लक्षणों की (स्थितियों से) रहित नहीं होता । इसी प्रकार व्युत्थान भी तीनों लक्षणों वाला अर्थात् तीनों अध्वाओं (स्थितियों) से युक्त होता है । अपने वर्तमान लक्षण या स्थिति को त्यागकर, अपने धर्मत्व को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए अतीत या भूतकालिक स्थिति को प्राप्त होता है । यह (अतीत) स्थिति इसका तीसरा अध्वा है । (इस अतीत स्थिति में भी) व्युत्थान अपने अनागत और वर्तमान लक्षणों (की स्थितियों) से रहित नहीं होता । इसी प्रकार फिर

---

१. 'परिणाम इति'—इति पाठान्तरम् ।

से प्रादुर्भूत होने वाला व्युत्थान अपने अनागत लक्षण को छोड़कर—धर्मत्व अक्षुण्ण बनाये रखते हुए वर्तमान लक्षण (की स्थिति) को प्राप्त होता है, जिस (स्थिति) में कि इसकी स्वरूपतः अभिव्यक्ति होने पर (वर्तमानकालिक) कार्य होते हैं। यह स्थिति इसका दूसरा अध्वा है। (इस स्थिति में) यह अपने अतीत और अनागत लक्षणों की स्थितियों से रहित नहीं होता। इस प्रकार फिर निरोध (वर्तमान स्थिति को प्राप्त) होता है और इसी प्रकार फिर व्युत्थान (वर्तमान स्थिति को प्राप्त) होता है। (३) वैसे ही अवस्थापरिणाम (भी) होता है। उस निरोध (के वर्तमान लक्षण को प्राप्त करने) के क्षणों में निरोधसंस्कार बलवान् रहते हैं और व्युत्थान-संस्कार दुर्बल रहते हैं। यह धर्मों का 'अवस्थापरिणाम' है। इन (तीनों प्रकार के) परिणामों में यह भेदक तत्त्व समझना चाहिए कि धर्मी का परिणाम धर्मों के द्वारा, धर्मों का परिणाम लक्षणों (कालिकस्थितियों) के द्वारा तथा लक्षणों का परिणाम अवस्थाओं के द्वारा होता है।

इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणामों से रहित (सत्त्वादि तीनों) गुणों का व्यवहार क्षणमात्र भी नहीं टिक सकता, क्योंकि गुणों का स्वभाव चञ्चल होता है। गुणों का (चञ्चल) स्वभाव ही गुणों की गतिशीलता का कारण कहा गया है। इसलिये इस (त्रिगुणात्मक चित्त में होने वाले धर्मलक्षणावस्थापरिणामों का कथन होने) से भूतों और इन्द्रियों में धर्म-धर्मी के भेद से तीनों प्रकार का परिणाम जानना चाहिए। वस्तुतः (धर्म-धर्मी के अभेद की दृष्टि से) तो एक ही परिणाम होता है। क्योंकि धर्म तो धर्मी का स्वरूपभूत ही होता है, इसलिये (उदित होने वाले अन्य) धर्मों के द्वारा धर्मी का विकार ही प्रपञ्चित होता है। (किन्तु) उस (धर्मिपरिणाम) में धर्मी में रहने वाले धर्मों का ही अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों अध्वाओं में अन्य प्रकारत्व होता है। (उस) द्रव्य अर्थात् धर्मी का अन्यत्व नहीं होता। जैसे—तोड़कर अन्य प्रकार से बनाये जाने वाले सोने के बर्तन का ही भिन्न प्रकारत्व होता है, सोने का भिन्न प्रकारत्व नहीं। (इसी प्रसङ्ग में) पूर्वपक्षी कहता है कि धर्मों से अतिरिक्त धर्मी कोई पदार्थ नहीं होता, पूर्वतत्त्व (धर्मी) का स्वरूप अक्षुण्ण रहने के कारण। यदि (धर्मों में सदा) अनुगत रहने वाला धर्मी (कोई पदार्थ) होता तो (परिणामों के) पूर्व की स्थिति और (परिणामों के) बाद की स्थिति के भेदों में अनुगत रहता हुआ वह केवल कूटस्थनित्य रूप में ही परिणत होता।

(सिद्धान्तपक्ष)—यह (हमारा) सिद्धान्त निर्दोष है। क्यों? (धर्मी की) आत्यन्तिक नित्यता का स्वीकार न करने के कारण। (हमारे मत में तो) यह सारा जगत् अभिव्यक्ति से रहित हो जाता है। क्यों? आत्यन्तिक नित्यता के निषेध

के कारण अभिव्यक्तिरहित हो जाने पर भी यह (जगत् अव्यक्त रूप से) रहता है, अत्यन्तोच्छेद के निषेध के कारण। (अपने) कारण में संसृष्ट हो जाने (अर्थात् लीन हो जाने) के कारण इस जगत् की सूक्ष्मता हो जाती है और सूक्ष्मता के कारण ही इसकी अभिव्यक्ति का अभाव होता है। लक्षणों के द्वारा परिणत होने वाला धर्म तीनों अध्वाओं (अर्थात् तीनों कालों की स्थितियों) में विद्यमान रहता है। अतीत-धर्म, अतीतलक्षण से युक्त रहता हुआ (भी) अनागत और वर्तमान लक्षणों से रहित नहीं होता, उसी प्रकार अनागतधर्म, अनागतलक्षण से युक्त रहता हुआ (भी) वर्तमान और अतीत लक्षणों से रहित नहीं होता। उसी प्रकार वर्तमानधर्म, वर्तमान लक्षण से युक्त रहता हुआ (भी) अतीत और अनागत लक्षणों से रहित नहीं होता। जैसे—एक स्त्री में अनुरक्त पुरुष शेष स्त्रियों से विरक्त नहीं रहता। (पूर्व-पक्ष) इस लक्षणपरिणाम में सभी (धर्मों) का सभी लक्षणों (कालों) से सम्बन्ध होने के कारण (सभी) काल की स्थितियों के संकर (का दोष) लागू होता है—ऐसा विपक्षियों के द्वारा आक्षेप किया जाता है। (सिद्धान्तपक्ष) उसका परिहार (यह है कि)—

धर्मों का धर्मत्व तो सिद्ध ही है और धर्मत्व सिद्ध रहने पर अध्वभेद तो कहना ही पड़ेगा, क्योंकि केवल वर्तमानकाल में ही तो धर्म का धर्मत्व रहता नहीं (वह तो अतीत और अनागत काल में भी रहता है)। इस प्रकार (मानने पर तो) क्रोध-काल में राग के अभिव्यक्त न रहने के कारण चित्त रागधर्मक नहीं रह सकता (अर्थात् विरक्त हुआ माना जाएगा, तब उसमें आगे चलकर राग की उत्पत्ति तथा अनुभूति कैसे सम्भव होगी ? इसलिये धर्मों का त्रिलक्षणत्व सिद्ध होता है। धर्मों का त्रिलक्षणत्व सिद्ध करके अब त्रिलक्षणसाङ्कर्य का परिहार करते हैं—) और तीनों लक्षणों की एक साथ एक वस्तु में अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। (प्रत्युत) क्रमशः ही अपने व्यञ्जक से अभिव्यक्त होने वाले (प्रत्येक लक्षण) की अभिव्यक्ति होती है। (उस दशा में शेष दो लक्षणों की सत्ता उस धर्म में अव्यक्त रूप से रहती है, इस तथ्य की पुष्टि में पञ्चशिख-सूत्र उद्धृत किया जा रहा है)—और कहा भी गया है—'(गुणत्रय के) अतिशयित (अर्थात् अभिव्यक्त) रूप और अतिशयित (अर्थात् अभिव्यक्त) वृत्तियों का ही परस्पर विरोध होता है। सामान्य (अर्थात् अनभिव्यक्त रूप एवं वृत्तियाँ) तो अतिशयों (अन्य अभिव्यक्त रूपों एवं वृत्तियों) के साथ प्रवृत्त होते हैं। इसलिये (उनका) सङ्कर नहीं होता। जैसे—राग की ही कहीं पर अभि-व्यक्तावस्था है, तो इसमें उस समय अन्य स्थलों में उसका अभाव नहीं है। बल्कि वह अपने सामान्य (अर्थात् अव्यक्त) रूप से (वहाँ भी) अनुगत है, इसलिए उस समय वहाँ पर भी राग का अस्तित्व है। वैसे ही इन लक्षणों का होता है। धर्मी,

तीनों लक्षणों वाला नहीं होता (बल्कि) धर्म, तीनों लक्षणों वाले होते हैं। वर्तमान और अतीतानागत वे धर्म उस अवस्था को प्राप्त होते हुए अवस्थाभेद से अन्य रूप में निर्दिष्ट किये जाते हैं, द्रव्यभेद से नहीं। जैसे—एक संख्या सैकड़े के स्थान में सौ, दहाई के स्थान में दस और इकाई के स्थान में एक कही जाती है। और जैसे—कोई स्त्री एक होने पर भी (सम्बन्धरूपी अवस्था के भेद से) माता भी कही जाती है, पुत्री और बहन भी।

अवस्थापरिणाम (को स्वीकार करने) में कुछ लोगों के द्वारा कूटस्थता की प्रसक्ति का दोष कहा गया है। कैसे ? अतीतादि लक्षणों का एक-दूसरे से व्यवधान केवल व्यापारनिमित्तक होने के कारण जब (तक) वर्तमान लक्षणवाला रहता है। और जब (व्यापार) करके निवृत्त हो जाता है, तब अतीत लक्षणवाला होता है। और इस प्रकार से धर्मी और धर्म का तथा लक्षणों और अवस्थाओं का कूटस्थ-नित्यत्व प्रसक्त होता है। ऐसा दोष औरों के द्वारा कहा जाता है। (सिद्धान्तपक्ष) यह दोष नहीं (प्रसक्त होता) है। क्यों ? (गुणी) धर्मी के नित्य होने पर भी धर्मों के अभिभव और उदय की विलक्षणता के कारण। जैसे—अविनाशी शब्दादितन्मात्रों के कार्यरूप पृथ्वी, आकाशादि संस्थान आविर्भाव एवं तिरोभावशील धर्ममात्र हैं, वैसे ही अविनाशी सत्त्वादि गुणत्रय का आविर्भाव-तिरोभावशील कार्यरूप महत्तत्त्व (भी) धर्ममात्र है। और उस (धर्म) की संज्ञा विकार (होती) है। इस विषय में यह उदाहरण दिया जा रहा है—धर्मी मिट्टी 'पिण्डाकार' रूप धर्म से अन्य धर्म 'घट' के आकार को प्राप्त होती हुई धर्म के द्वारा घटरूप में परिणत होती है। (२) घटरूप धर्म अपने अनागत लक्षण को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है—इस प्रकार धर्म, लक्षणों के द्वारा परिणत होता है। (३) वर्तमानलक्षण को प्राप्त 'घट' हर क्षण नये से पुराना होता हुआ अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार लक्षणों का अवस्थाओं में परिणाम होता है, उसी प्रकार धर्मी का अन्य धर्मों में (परिणत) होना भी (उसकी) एक अवस्था ही है, (और) धर्म का अन्य लक्षणों में (परिणत) होना भी (उसकी एक) अवस्था ही है। इस प्रकार से धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम (के रूप में) एक ही धर्मिपरिणाम अवान्तर भेद से (तीन प्रकार का) दिखाया गया है। इसी प्रकार (धर्मी मृत्तिका के परिणामों की भाँति) अन्य पदार्थों में भी (परिणाम) घटित कर लेना चाहिए। ये धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम धर्मी के निजी (धर्मित्व) स्वरूप काअतिक्रमण या त्याग नहीं करते, इसलिये (वस्तुतः) एक ही (धर्मी का अवस्था-भेदरूपी) परिणाम इन सभी (धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों) परिणामों के भेदों को व्याप्त करता है। आखिर यह परिणाम क्या है ? धर्मी के पहले धर्मों के

(अर्थात् धर्मी में रहने वाले धर्म, लक्षण और अवस्थाओं) के निवृत्त हो जाने पर अन्य धर्मों (धर्म, लक्षण और अवस्थाओं) का आविर्भूत होना ही परिणाम है ॥१३॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—एतेन—सूत्र सं० ९, १०, ११ और १२ में बताये गये चित्त के त्रिविधपरिणामों (अर्थात् निरोध, समाधि और एकाग्रता परिणामों) के माध्यम से। भूतेन्द्रियेषु—भूतों और इन्द्रियों में। धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम नाम के तीन परिणाम। व्याख्याताः—उक्त-प्रायाः, इस सूत्र में दो महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान रखने की हैं। पहली बात यह है कि भूत और इन्द्रिय—ये तन्मात्राओं और सात्त्विक अहंकार के तत्त्वान्तरपरिणाम हैं। इनके आगे जो परिणाम होता है, वह तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होता। आशय यह है कि अव्यक्त तत्त्व से लेकर भूतेन्द्रियों पर्यन्त जो-जो परिणाम होते हैं, उनके फलस्वरूप सांख्य-योगोक्त २४ तत्त्व बनते हैं। इस परिणामक्रम में एक तत्त्व परिणत होकर जो रूप धारण करता है, वह पहले तत्त्व से भिन्न तत्त्व माना जाता है। किन्तु इन भूतेन्द्रिय तत्त्वों का जो परिणाम होता है, उससे कोई नया तत्त्व नहीं बनता, बल्कि पहले वाला तत्त्व परिणत होकर भी वही तत्त्व बना रहता है, केवल उसकी अवस्था में ही परिवर्तन हो जाता है, अर्थात् उसमें नये धर्म प्रादुर्भूत हो जाते हैं। इसलिये इन भूतेन्द्रिय नामक विकारों के परिणाम के रूप में धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम ही सूत्र में कहे गये हैं। प्रकृतियों अर्थात् अव्यक्त, महत्, अहङ्कार और तन्मात्राओं के जो नये तत्त्व बनाने वाले परिणाम होते हैं, वे तत्त्वान्तरपरिणाम होते हैं। जब उनमें सरूपपरिणाम होते रहते हैं, उस समय उनमें धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम भी होते हैं, इस प्रकार प्रकृतियों में तत्त्वान्तरपरिणाम भी होते हैं और परिणाम होने पर भी तत्त्वपरिवर्तन न होने की दशा में धर्मलक्षणावस्था परिणाम भी होते हैं। जबकि विकृतियों में केवल धर्म लक्षण और अवस्था परिणाम ही होते हैं।

'एत एव परिणामाः भूतेन्द्रियेषु न तु तत्त्वान्तरपरिणामा इत्यसाधारणाशयेनैवात्र प्रकृत्यादिष्विति नोक्तम्, तेन तत्त्वान्तरपरिणामवदेतेऽपि परिणामाः सर्व एव यथायोग्यं प्रकृत्यादिष्वप्यवगन्तव्या; तथा च भाष्यकारो वक्ष्यति। एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं क्षणमपि न गुणवृत्तमवतिष्ठते इत्येतेन सर्ववस्तुषु परिणामत्रयमिति।'[1]

ज्ञातव्य यह है कि चित्त के निरोध, समाधि और एकाग्रता परिणामों को ही क्रमशः भूतेन्द्रियों में होने वाले धर्म और अवस्था परिणाम कहते हों—ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः निरोध, समाधि और एकाग्रता—परिणामों में से प्रत्येक परिणाम इन तीनों धर्मलक्षणावस्थापरिणामों का समवेत रूप है। तात्पर्य यह है कि चित्त के

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २९३।

निरोधपरिणाम में भी धर्मलक्षणावस्थारूप तीनों परिणाम होते हैं। समाधिपरिणाम में भी धर्मादि तीनों परिणाम होते हैं और एकाग्रतापरिणाम में भी धर्मादि तीनों परिणाम होते हैं। निरोध, समाधि और एकाग्रता तो परिणत चित्त के स्वरूप का कथनमात्र है ॥ १३ ॥

(**भा० सि०**)—भाष्यकार सूत्रगत 'एतेन' पद का व्याख्यान करते हैं कि इससे अर्थात् धर्मलक्षणावस्थारूपेण पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन—इस सूत्र के पूर्ववर्ती सूत्रों में बताये गये धर्म, लक्षण और अवस्था के रूप के निरोध, समाधि तथा एकाग्रता नामक प्रत्येक चित्तपरिणाम (के माध्यम) से। भूतेन्द्रियेषु—भूतों और इन्द्रियों में भी। धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः—धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम बता दिये गये—ऐसा जानना चाहिए। अब इसी बात को घटित कर रहे हैं। तत्र—चित्त के निरोधपरिणाम के प्रसङ्ग में। व्युत्थाननिरोध-योर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ—व्युत्थान (संस्कार) रूपी धर्म का तिरोभाव और निरोध (संस्कार) रूपी धर्म का आविर्भाव। धर्मिणि—**'चित्तधर्मिणि'**[१], धर्मी चित्त में होने वाला। धर्मपरिणामः—धर्मपरिणाम है।

लक्षणपरिणामश्च—और लक्षणपरिणाम बताया जा रहा है। त्रिलक्षणः निरोधः—अतीत, अनागत और वर्तमान कालों वाला निरोध। त्रिभिरध्वभिर्युक्तः—इस वाक्यांश में 'त्रिलक्षण'[२] शब्द का ही व्याख्यान किया जा रहा है। तीनों अध्वाओं अर्थात् तीनों कालों की स्थितियों से सम्पन्न या युक्त होता है। सांख्ययोग के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ तीनों लक्षणों से सम्पन्न होता है? यदि ऐसा न हो तो कोई वस्तु कैसे वर्तमान हो सकती है? क्योंकि यदि वर्तमानता उसमें न होती तो कहाँ से आ जाती? स खलु—वह त्रिलक्षण निरोध। प्रथमम्—पहले। अनागत-लक्षणमध्वानम्—**'लक्षणं कालः'**[३]। **'लक्ष्यतेऽनेन लक्षणं कालभेदः'**।[४] अनागत या भविष्यत्काल वाली स्थिति को। हित्वा—त्यक्त्वा, छोड़कर। धर्मत्वमनतिक्रान्तः—किन्तु निरोधत्वरूप धर्मत्व को न छोड़ते हुए। वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नः—वर्तमान-कालिक स्थिति को प्राप्त होता है। यत्र—जिस (स्थिति) में। अस्य—इस निरोध का। स्वरूपेणाभिव्यक्तिः—अपने निजी रूप में प्राकटच या प्रकाशन (Manifestation) होता है। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा—यह वर्तमानकालिक स्थिति इस निरोध

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २९४।

२. 'एतस्यैव विवरणं त्रिभिरध्वभिर्युक्त इति।'—यो० वा० पृ० २९३।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० २९४।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २९४।

का द्वितीय अध्वा अर्थात् द्वितीय स्थिति है। 'अध्वा' शब्द का अर्थ 'काल' है। **'अध्वशब्दः कालवचनः'**।[1]

'अध्वा ना पथि संस्थाने स्यादवस्कन्दकालयोः'।

—मेदिनी ८५।३५।

अत्ति बलं प्राणिनामिति अध्वा 'अद्' भक्षणे (अ० प० अ०)+क्वनिप् **'अदेधञ्च'**[2] सूत्र से क्वनिप् प्रत्यय और अद् को 'ध' अन्तादेश हुआ। इस प्रकार यह शब्द कालवाचक हुआ। **'अनागतादिभावोऽध्वेत्युच्यते'**।[3] अनागतभाव, वर्तमानभाव और अतीतभाव—ये अध्वापद के अर्थ हैं।

इस प्रकार वर्तमानभाव अर्थात् वर्तमानकाल की स्थिति में भी यह निरोध। अतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां च न वियुक्तः—अतीत और अनागत लक्षणों या कालों से सर्वथा रहित नहीं होता। अव्यक्त रूप से ये दोनों लक्षण भी वर्तमानकालिक निरोध में बने ही रहते हैं। यह निरोधरूपी धर्म का 'लक्षणपरिणाम' हुआ। तथा—उसी प्रकार। व्युत्थानम्—व्युत्थान नामक धर्म भी। त्रिलक्षणम्—तीनों लक्षणों या कालों वाला होता है। तात्पर्य यह है कि वह। त्रिभिरध्वभिर्युक्तः—तीनों कालों की स्थितियों से युक्त या सम्पन्न होता है। यह व्युत्थान 'निरोधपरिणाम' में। वर्तमानं लक्षणं हित्वा—वर्तमानकालिक स्थिति को छोड़कर। धर्मत्वमनतिक्रान्तम्—(किन्तु) अपने व्युत्थानरूप धर्मत्व को न त्यागते हुए। अतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्—अतीतकालिक भाव को प्राप्त होता है। एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा—यह इस व्युत्थान का तीसरा 'कालिक भाव' या तीसरी 'कालिक स्थिति' है। इस अतीतकालिक भाव को प्राप्त यह व्युत्थान। अनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां च न वियुक्तः—अनागतकालिक भाव और वर्तमानकालिक भाव से रहित नहीं होता। यह व्युत्थान रूपी धर्म का 'लक्षण-परिणाम' है।[4]

अब इसी व्युत्थान के वर्तमानकालिक अभिव्यक्तिरूपी द्वितीय लक्षण को भी बताने का उपक्रम भाष्यकार के द्वारा किया जा रहा है। एवं पुनः—इसी प्रकार। फिर जब निरोधसमाधि भङ्ग होती है और निरोधपरिणामक्रम टूटता है, उस समय। उपसम्पद्यमानम्—जायमानम्, उदित होता हुआ। व्युत्थानम्—व्युत्थान रूपी धर्म।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २९४।

२. द्रष्टव्य; उणादि सू० ४।११६।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २९४।

४. 'एवं व्युत्थानकालेऽपि व्युत्थाननिरोधयोः लक्षणपरिणामौ क्रमेण दर्शयति।'

—यो० वा० पृ० २९५।

अनागतं लक्षणं हित्वा—अनागतकालिक भाव को छोड़कर। धर्मत्वमनतिक्रान्तम्—किन्तु व्युत्थानत्व रूपी धर्म को न छोड़ता हुआ। वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नम्—वर्तमानकालिक भाव को प्राप्त होता है। यत्र—जिस दशा में। अस्य—इस व्युत्थान धर्म की। स्वरूपेण—अपने निजी रूप में। अभिव्यक्तिः—**'समुदाचारः'**[1] प्रकाशन (Manifestation) होता है। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा—यह इसका द्वितीय अर्थात् वर्तमानकालिक भाव है। अतीतानागताभ्याञ्च लक्षणाभ्यां न वियुक्तमिति—इस दशा में भी यह व्युत्थानधर्म सामान्य अर्थात् अव्यक्त रूपवाले अतीत और अनागत लक्षणों से रहित नहीं होता। एवम्—इसी प्रकार से। पुनः—फिर से। निरोधः—निरोध (अभिव्यक्त) होता है। एवं पुनः—और इस प्रकार से फिर। व्युत्थानम् इति—व्युत्थानम् (अभिव्यक्त) होता है। यह व्युत्थाननिरोध का परिणामचक्र अपवर्गकाल तक योगी के चित्त में चलता रहता है।[2]

तथा—और उसी प्रकार से (निरोधपरिणाम की दशा में)। अवस्थापरिणामः—अवस्थापरिणाम भी होता है। तत्र—उस निरोधपरिणाम की दशा में। निरोधक्षणेषु—चित्त के निरोधकाल में। निरोधसंस्काराः—निरोधसंस्कार। बलवन्तो भवन्ति—बलवान् होते हैं, प्रबल रहते हैं। व्युत्थानसंस्काराः दुर्बला इति—और व्युत्थानसंस्कार दुर्बल रहते हैं। एषः—यह। धर्माणाम्—निरोधरूप तथा व्युत्थानरूप धर्मों का (लक्षणों के माध्यम से)। अवस्थापरिणामः—अवस्थापरिणाम है। तत्र—इस प्रसङ्ग में (ज्ञातव्य यह है कि)। धर्मिणः—धर्मी का। धर्मैः परिणामः—धर्मों के द्वारा या धर्मों के रूप से परिणाम होता है। धर्माणाम्—धर्मों का। लक्षणैः परिणामः—लक्षणों के द्वारा परिणाम होता है। लक्षणानाम्—और लक्षणों का अर्थात् कालिकभावों का। अवस्थापरिणामः—(दुर्बल, निर्बलादि) अवस्थाओं के द्वारा परिणाम होता है। एवम्—इस प्रकार से। धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यम्—धर्मलक्षणावस्थापरिणामों से शून्य। गुणवृत्तम्—गुणों का व्यवहार। क्षणमपि—क्षणमात्र भी। न अवतिष्ठते—नहीं टिकता। अर्थात् गुणों में प्रतिक्षण ये परिणाम होते रहते हैं। चलञ्च गुणवृत्तम्—क्योंकि गुणों का स्वभाव चञ्चल होता है। गुणस्वाभाव्यं तु गुणानां प्रवृत्तिकारणमुक्तम् इति—स्वभाव एव स्वाभाव्यम् (स्वभाव + ष्यञ् स्वार्थे), गुणों का स्वभाव ही गुणों की प्रवृत्ति या परिणामशीलता का कारण कहा गया है। एतेन—इस चित्त में होने वाले धर्मादि त्रिविध परिणामों के कारण। भूतेन्द्रियेषु—पाँचों महाभूतों और सभी इन्द्रियों में। धर्मिभेदात्—धर्म

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २९५।

२. 'इदं च व्युत्थान-निरोधपरिणामचक्रमपवर्गपर्यन्तमेव।'

—यो० वा० पृ० २९५।

और (धर्माश्रयभूत) धर्मी में भेद की दृष्टि से । त्रिविधः परिणामः—तीन प्रकार के (अर्थात् धर्म, लक्षण और अवस्था) परिणाम । वेदितव्यः—समझे जाने चाहिये । इस बात को आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार संकलित किया है—**'धर्मधर्मिणोर्भेदमालक्ष्य तत्र भूतानां पृथिव्यादीनां धर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणामः, धर्माणाञ्चातीतानागतवर्तमानरूपतालक्षणपरिणामः, वर्तमानलक्षणापन्नस्य गवादेर्बाल्य-कौमार-यौवनवार्धकमवस्थापरिणामः, घटादीनामपि नवपुरातनताऽवस्थापरिणामः, एवमिन्द्रियाणामपि धर्मिणां तत्तन्नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामः, धर्मस्य वर्तमानताऽऽदिलक्षणपरिणामो, लक्षणस्य रत्नाद्यालोचनस्य स्फुटत्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । सोऽयमेवंविधो भूतेन्द्रियपरिणामो धर्मिणो धर्मलक्षणावस्थानां भेदमाश्रित्य वेदितव्यः'** ।[1]

परमार्थतस्तु—वस्तुतः तो (अर्थात् धर्मी और धर्म में अभेद की दृष्टि से तो) । एक एव परिणामः—एक ही परिणाम होता है अर्थात् धर्मी का ही परिणाम (आविर्भूत और तिरोभूत होने वाले धर्मलक्षणावस्थाओं के द्वारा होता है) । धर्मधर्मि का अभेद कैसे कहा जा रहा है ? अब इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है । धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मः—धर्म, धर्मी का स्वरूप ही तो है, कोई अलग स्थित वस्तु तो है नहीं । इसलिये वस्तुतः धर्म, धर्मी से अभिन्न ही हुआ, भले ही दोनों एक न हों, किन्तु अभेद अर्थात् अलग स्थिति का अभाव तो दोनों में हुआ ही । इसलिये । एषा—यह (सारे परिणाम) । धर्मिविक्रिया एव—धर्मी का विकार ही अर्थात् धर्मी का परिणाम ही तो । धर्मद्वारा—धर्म के माध्यम से (धर्मी में रहने वाले) धर्मों के द्वारा । प्रपञ्चयते—त्रिविधपरिणाम के रूप में प्रकट होती हैं । **'(अत्र) धर्मशब्देन धर्मलक्षणावस्था परिगृह्यते, तद्द्वारा धर्मिणि एव विक्रियेत्येका चासङ्कीर्णा च'** ।[2] परिणाम के धर्मिगत माने जाने पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि तब तो धर्मपरिणाम में धर्मी का ही अन्यथात्व होता है । अब इस शङ्का को निरस्त करने का हेतु देते हैं । तत्र—धर्मी के इस परिणाम की दशा में । धर्मिणि वर्तमानस्य—धर्मी में रहने वाले । धर्मस्यैव—धर्म का ही । अतीतानागतवर्तमानेषु—अतीत, अनागत और वर्तमान अध्वाओं में । भावान्यथात्वं भवति—भावपरिवर्तन ही होता है । न द्रव्यान्यथात्वम्—द्रव्यस्य धर्मिणः अन्यथात्वं न भवति, धर्मी का परिवर्तन नहीं हो जाता । कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रकटतः धर्मी का ही परिणाम होता है, फिर भी वस्तुतः धर्मी का परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन तो धर्मादि का ही होता है । यही धर्मिपरिणाम का स्वरूप या स्वभाव है । यथा—जैसे । भित्वा—तोड़कर । अन्यथाक्रियमाणस्य—अन्य बरतन इत्यादि रूपों से प्रस्तुत किये जाने वाले । सुवर्ण-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २९७ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० २९७ ।

भाजनस्य--सोने के बरतन (रूपी धर्म) का ही। भावान्यथात्वं भवति--परिवर्तन या अन्य वस्तुत्व होता है। सुवर्णान्यथात्वम्—सोने (रूपी धर्मी) का परिवर्तन या अन्यवस्तुत्व नहीं होता। भले ही यह परिणाम सुवर्णरूपी धर्मी का ही होता हो।

इस विषय में एक आक्षेप किया जा रहा है। अपर आहु:—पूर्वपक्षी लोग कहते हैं कि (जब धर्म और धर्मी में अभेद स्वीकार किया जाता है, तब) धर्मानभ्यधिक: धर्मी—अभित: अधिक: इति अभ्यधिक: अतिरिक्त: न तथा इति अनभ्यधिक: अर्थात् अनतिरिक्त: अभिन्न: इति यावत्। धर्मेभ्य: अनभ्यधिक: इति धर्मानभ्यधिक: अर्थात् स्वगतधर्मों से अभिन्न अर्थात् धर्मस्वरूप ही धर्मी। पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्—परिणाम की दशा में अपने पूर्व स्वभाव को न छोड़ने के कारण अर्थात् द्रव्य का अन्यथात्व न होने के कारण। पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतित: सन्—अर्थात् परिणाम के पूर्व और परिणाम के पश्चात् की भिन्नता में भी अपरिवर्तित रूप से अनुगत रहता हुआ। यद्यन्वयी स्यात्—यदि समस्त परिणमनशील धर्मों में अन्वित रहता है तो वह। कौटस्थ्येन विपरिवर्तेत इति—कूटस्थ रूप से ही परिणत होता है—ऐसा माना जाना चाहिए। जब कि कूटस्थरूप में परिणाम असम्भव है।[१] क्योंकि कूटस्थ नित्य चितिशक्ति का परिणाम नहीं हुआ करता।

अब इसका परिहार किया जा रहा है। अयम्—यह हमारा सिद्धान्त। अदोष:—निर्दोष है, सर्वथा सुसंगत है। कस्मात्—क्यों? एकान्तानभ्युपगमात्[२]—एकान्तिकता का स्वीकार न करने के कारण। एकान्तिका से तात्पर्य है—स्वरूपत: और धर्मत: दोनों प्रकार से। यदि हम धर्मी की स्वरूपत: और धर्मत:—दोनों प्रकार से नित्यता स्वीकार करते, तब धर्मी में 'कूटस्थता' तथा 'परिणाम' इन दो की विसंगति उपस्थित होती, क्योंकि जो कूटस्थ है, उसका परिणाम नहीं हो सकता। ऐसा तत्त्व हमारे सिद्धान्त में केवल चितिशक्ति अर्थात् पुरुष है। पुरुष के अतिरिक्त अन्य सभी तत्त्व स्वरूपत: नित्य भले हो, किन्तु धर्मादिरूप से अनित्य ही है। इसलिये सभी धर्मी स्वरूप से तो नित्य कहे गये हैं, किन्तु धर्म रूप से वे अनित्य ही होते हैं। फलत: दोनों में एकान्तिक अभेद नहीं हुआ। इसलिये धर्मी में एकान्तनित्यता का स्वीकार

---

१. 'तर्हि पूर्वापरसकलावस्थाभेदेष्वनुगततयाऽतीताद्यवस्थायामपि सत्त्वप्रसङ्गात् कौटस्थ्येनैव तिष्ठेत् चितिशक्तिवद् नित्यत्वकूटस्थत्वयोरेकार्थत्वात् तच्च तवात्यनिष्टमित्यर्थ:।'—यो० वा० पृ० २९९।

२. 'यदि चितिशक्तिरिव द्रव्यस्यैकान्तिकीं नित्यतामभ्युपगच्छेम तत एवमुपालभ्येमहि न त्वैकान्तिकीं नित्यतामातिष्ठामहे।'—त० वै० पृ० २९९।

'एकान्तनित्यत्वानभ्युपगमादित्यर्थ:।'—यो० वा० पृ० २९९।

'एकान्तनित्यं दृश्यद्रव्यमिति वादस्यानभ्युपगमादिति।'—भा० पृ० २९९।

नहीं हुआ और न कूटस्थपरिणाम का दोष ही प्रसक्त हुआ। तदेतत् त्रैलोक्यम्—यह सारा त्रिभुवन, समस्त जगत्। व्यक्तेरपैति—विनाशकाल में अपनी धर्ममयी अभिव्यक्तियों से रहित हो जाता है, नहीं उपलब्ध होता। कस्मात्—क्यों? नित्यत्वप्रतिषेधाद्—एकान्तनित्यता का अस्वीकार होने के कारण। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके धर्मादि परिणत हो जाते हैं। अपेतमप्यस्ति—और अभिव्यक्तिहीन होकर भी यह जगत् (सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता, बल्कि) रहता है। विनाशप्रतिषेधाद्—आत्यन्तिक उच्छेद का स्वीकार न किये जाने के कारण। प्रसङ्गतः इस पहेली को सुलझाने का यत्न किया जा रहा है कि अपेत या अनभिव्यक्त हो जाने पर भी यह जगत् कैसे रहता है? और रहते हुए भी दिखायी क्यों नहीं पड़ता? संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यम्—अपने कारणभूत द्रव्य या धर्मी में संसृष्ट या लीन हो जाने के कारण यह स्थूल नहीं रह जाता, सूक्ष्म हो जाता है। सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति—और स्थूल न रहने के कारण इसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिये वह दिखायी नहीं पड़ता।[1]

धर्मों के परिणाम के द्वारा धर्मिपरिणाम का निरूपण किया गया। अब धर्मों का लक्षणों के द्वारा जो परिणाम होता है, उसका निरूपण किया जा रहा है। लक्षणपरिणामो धर्मः—लक्षणैः परिणामः यस्य सः तथोक्तः धर्मः, लक्षणों के द्वारा परिणत होने वाला धर्म। अध्वसु वर्तमानः—अतीतानागत तथा वर्तमानकालिक भावों में रहने वाला अर्थात् तीनों कालों की स्थितियों में विद्यमान रहने वाला धर्म। (यदा) अतीतः—जब अतीत हो जाता है। (तदा) अतीतलक्षणयुक्तः—तब अतीत अध्वा अर्थात् अतीतकालिक स्थिति से युक्त रहता है। (किन्तु) अनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्याम् अवियुक्तः—(सूक्ष्म) अनागत और वर्तमान अध्वाओं से रहित नहीं होता। तथा—उसी प्रकार। अनागतः—जब अनागत (लक्षण को प्राप्त) होता है। (तब) अनागतलक्षणयुक्तः—अनागतकालिक स्थिति अर्थात् अनागत अध्वा से युक्त रहता है। (किन्तु) वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्याम् अवियुक्तः—(सूक्ष्मभूत) वर्तमान और अतीत अध्वाओं से रहित नहीं होता। तथा—उसी प्रकार। वर्तमानः—(जब) वर्तमान (अध्वा को प्राप्त) होता है। (तब) वर्तमानलक्षणयुक्तः—वर्तमानकालिक स्थिति अर्थात् वर्तमान अध्वा से युक्त होता है। (किन्तु) अतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्याम् अवियुक्तः इति—(सूक्ष्म) अतीत और अनागत अध्वाओं से रहित नहीं होता। इस विषय में एक दृष्टान्त भी दे रहे हैं, ताकि वर्तमानकाल में अननुभूत अतीत एवं अनागत लक्षणों की भी सत्ता का बोध हो जाय। यथा—जैसे। पुरुषः—मनुष्य। एकस्यां स्त्रियां रक्तः—एक स्त्री में अनुरक्त होने पर भी। न

---

१. 'तथा च नात्यन्तनित्यो येन चितिशक्तिवत् कूटस्थनित्या स्यात् किन्तु कथञ्चिन्नित्यः तथा च परिणामीति सिद्धम्'।—त० वै० पृ० ३००।

शेषासु विरक्तः—अन्य स्त्रियों के प्रति वैराग्यवाला अर्थात् रागरहित नहीं होता। इससे यह ज्ञात होता है कि एक स्थल में वर्तमानाध्वा को प्राप्त राग अन्य स्थल में भी (सूक्ष्म) अतीतानागत अध्वा से वियुक्त नहीं होता। ऐसा न मानने पर फिर अन्य स्थल में रागोत्पत्ति सर्वथा असम्भव होगी।[1] तब तो सभी धर्मों के, सदा सभी अध्वाओं से युक्त रहने के कारण अध्वाओं का सङ्कर होगा—इस शङ्का को उद्भावित करके उसका निराकरण किया जा रहा है।[2] तत्र लक्षणपरिणामे—इस लक्षणपरिणाम में। सर्वस्य—अनागतादि सभी लक्षणों के। सर्वलक्षणयोगात्—सभी अतीतादि लक्षणों की उपस्थिति होने से। अध्वसङ्करः प्राप्नोति—अध्वाओं का सङ्कर या, सर्वसम्मिश्रण प्रसक्त होता है। इति दोषः—यह दोष। परैः—विपक्षियों के द्वारा। चोद्यते—आरोपित किया जाता है, उद्भावित किया जाता है। तस्य—उस दोष का। परिहारः—निराकरण (किया जा रहा) है। धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम्—इन घटादि धर्मों का धर्मत्व सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका धर्मत्व तो पहले से ही सिद्ध है।[3] सांख्ययोगशास्त्र के अनुसार यदि कोई धर्म अपने अभिव्यक्तिकला में मौजूद नहीं है तो वर्तमानकाल में उसकी अभिव्यक्ति कहाँ से होगी? **'न खल्वसदुत्पद्यते न च सद्विनश्यति।'** सति च धर्मत्वे—धर्म में धर्मत्व के सदा रहने पर। उसकी कुछ काल तक अनभिव्यक्ति, फिर अभिव्यक्ति और फिर अनभिव्यक्ति रूपी भेदों की संगति प्रदर्शित करने के लिये उस धर्म का। लक्षणभेदोऽपि वाच्यः—अतीतानागतवर्तमान नामक तीनों कालिकभेद अवश्य कहे जाने (अर्थात् माने जाने) चाहिए, नहीं तो नये धर्म की अर्थात् असद् धर्म की उत्पत्ति और सद्धर्म के विनाश का प्रसङ्ग गले पतित होगा। क्योंकि। न वर्तमानसमये एव अस्य धर्मत्वम् (अस्तीति शेषः)—इस घटादि का धर्मत्व केवल वर्तमानसमय में ही हो, अतीत और अनागत में न हो, ऐसा नहीं है। यह धर्मत्व तो भूत और भविष्यत् समय में भी है। यह कैसे सम्भव है? एवं हि—इस प्रकार (अर्थात् धर्म को भूत और भविष्यत्काल के भाव से रहित) मानने पर। चित्तम्—प्राणियों का चित्त। रागधर्मकं न स्यात्—राग नामक धर्मवाला हरगिज नहीं हो सकता। क्रोधकाले रागस्यासमुदाचाराद् इति—क्योंकि क्रोधकाल में चित्त में राग की अभिव्यक्ति तो होती नहीं। यदि अभिव्यक्ति

---

१. 'न ह्यनुभावाभावः प्रमाणसिद्धमपलपति, तदुत्पाद एव तत्र तत्सद्भावे प्रमाणमसत उत्पादासम्भवान्नरविषाणवदिति।'—त० वै० पृ० ३०१।

२. 'सर्वस्यानागतादेर्वर्तमानादिसर्वलक्षणयोगादनागतादिकमपि वर्तमानं स्यादित्यध्वनां सङ्करः प्रसक्तः क्रमिकत्वे चासदुत्पादप्रसङ्ग इति शेषः।'

—यो० वा० पृ० ३०२।

३. 'धर्माणां तावद् धर्मत्वं प्राक्साधितत्वान्न साधनीयम्।'—भा० पृ० ३०२।

न होने पर किसी पदार्थ की सत्ता अनागत रूप से न मानें तो आगे चलकर उसकी अभिव्यक्ति कैसे हो सकेगी? क्योंकि असत् की तो उत्पत्ति हो नहीं सकती। इससे यह निश्चित हुआ कि घटादि समस्त धर्म तीनों लक्षणों से सदा युक्त होते हैं।

किञ्च—और क्या होता है? त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः—एक ही काल में एक ही अभिव्यक्ति में इन अतीत, अनागत और वर्तमान—तीनों अध्वाओं की अपने-अपने विशेष रूप से अभिव्यक्ति नहीं होती। क्रमेण तु—बल्कि एक के बाद एक के क्रम से ही। स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य—अपने अभिव्यञ्जक कारण से अभिव्यक्त हो उठने वाले एक-एक लक्षण की। भावः—अभिव्यक्तिः। भवेदिति—होनी चाहिए अर्थात् होती है। स्वस्य आत्मनः व्यञ्जकः उद्बोधकः अभिव्यञ्जकः स्वव्यञ्जकस्तेन अञ्जनं प्रकटीभवनम् अभिव्यक्तिर्यस्य तत् स्वव्यञ्जकाञ्जनं तस्येति स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य–अर्थात् अपने अभिव्यञ्जक से अभिव्यक्त होने वाले पदार्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह हुआ कि लक्षणत्रय से सदा युक्त रहने पर भी धर्म में तीनों लक्षणों के साङ्कर्य का दोष नहीं प्रसक्त होता। वादी के पक्ष की अभिसन्धि यह है कि। वर्तमानो घटः—इस वर्तमानलक्षण वाले 'घट' धर्म में इसी वर्तमानकाल में ही 'अतीतो घटः' या 'अनागतो घटः' यह भी व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि धर्म सदा तीनों लक्षणों से युक्त रहते बताये जा रहे हैं। किन्तु ऐसा व्यवहार होता नहीं। इसलिये धर्मों का 'त्रिलक्षणयुक्तत्व' वाला सिद्धान्त सदोष है। उत्तरपक्ष के अनुसार इस दोष का परिहार इस प्रकार हो जाता है कि जब वर्तमानलक्षण की अभिव्यक्ति हो रही है; उस समय अन्य दो लक्षणों की अभिव्यक्ति नहीं है। इसलिये सामान्य रूप से विद्यमान होने पर भी अतीत और अनागत लक्षणों की अभिव्यक्ति इस समय नहीं होती। इसलिये वर्तमानलक्षण के अभिव्यक्तिकाल में 'अतीतो घटः' और 'अनागतः घटः' का व्यवहार नहीं किया जा सकता। उक्तञ्च—इसी तथ्य की परिपुष्टि में भाष्य में पहले भी कहा गया है। रूपातिशयाः वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते—पदार्थ के विशेष रूपों और विशेष वृत्तियों का ही परस्पर विरोध है अर्थात् सह अस्तित्व नहीं होता। सामान्यानि तु अतिशयेन सह प्रवर्तन्ते—पदार्थों के सामान्य रूप और सामान्य वृत्तियाँ तो उनके विशेष रूप और विशेष वृत्ति के साथ-साथ रहते ही हैं। तस्मादसङ्करः—इसलिये धर्मों के इन तीनों लक्षणों से युक्त रहने पर भी इन तीनों लक्षणों का सङ्कर नहीं होता। यथा—जैसे (धर्मी चित्त के धर्मभूत) राग का ही। क्वचित् समुदाचारः—किसी पदार्थ के प्रति अभिव्यक्ति (विशेषरूपता) रहती है। इति—इससे। न तदानीमन्यत्राभावः—उसका अन्य पदार्थों के प्रति अभाव नहीं रहता, प्रत्युत सामान्य सत्ता रहती है। केवलं सामान्येन समन्वागतः—किन्तु केवल सामान्य रूप से ही उसकी उन भिन्न स्थलों में अन्विति बनी

रहती है। इति—इसलिये। तदा तस्य भावः अस्ति—उस समय भी उस राग की उन भिन्न स्थलों में सत्ता तो है ही। तथा लक्षणस्येति—वैसे ही तीनों लक्षणों की भी धर्म में सदा सत्ता रहती है। एक लक्षण विशेष रूप से रहता है और शेष लक्षण उस काल में सामान्य रूप से रहते हैं। न धर्मी त्र्यध्वा—धर्मी तीनों लक्षणों वाला नहीं होता। धर्मास्तु त्र्यध्वानः—वरन् उस धर्मी के धर्म तीनों लक्षणों वाले होते हैं। ते[1]—वे धर्म ही। लक्षिताः—अभिव्यक्त या वर्तमान। अलक्षिताश्च—और अनभिव्यक्त अर्थात् अतीतानागत लक्षण वाले। तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तः—उस-उस धर्मलक्षणावस्था को प्राप्त करते हुए। **'अवस्थाशब्देन धर्मलक्षणावस्था उच्यन्ते।'**[2] अन्यत्वेन—अन्य-अन्य रूप से। प्रतिनिर्दिश्यन्ते—कहे जाते हैं। अवस्थान्तरतः—अन्य रूप से कथन अवस्था-भेद के कारण होता है। न द्रव्यान्तरतः—द्रव्यभेद के कारण नहीं। धर्मी द्रव्य तो वही रहता है। इसका उदाहरण देते हैं—

यथा—जैसे। एका रेखा—**'एकत्वव्यञ्जिका रेखा अङ्कविशेषः'**—(यो० वा०), एक संख्या वाली रेखा अर्थात् एक का अङ्क। शतस्थाने—सैकड़े के स्थान पर। शतम्—'सौ' संख्या की बोधक होती है। दशस्थाने—दहाई के स्थान पर 'दश' संख्या की बोधक होती है। एकस्थाने चैकम्—इकाई के स्थान पर 'एक' संख्या की बोधक होती है। आशय यह है कि द्रव्य या धर्मी तो वही एक का अङ्क ही है, किन्तु अवस्था या स्थान के भेद से उसका मान भिन्न हो जाता है। यथा च—और जैसे। एकत्वेऽपि—एक द्रव्य होने पर भी। स्त्री—एक ही स्त्री। माता च उच्यते—(किसी की) माता भी कही जाती है। दुहिता च स्वसा च इति—और (किसी की) लड़की भी कही जाती है तथा (किसी की) बहिन भी।

अवस्थापरिणामे—अवस्थापरिणाम को स्वीकार करने में[3]। कौटस्थ्यप्रसङ्ग-दोषः—धर्मी, धर्म, लक्षण और अवस्था सभी में कूटस्थता की प्रसक्ति होती है—यह दोष। कैश्चिद्—कुछ विपक्षियों के द्वारा। उक्तः—कहा गया है। कथम्—किस प्रकार से? अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वाद्[4]—अध्वाओं के व्यापारमात्र से अन्तरित होने के कारण। आशय यह है कि केवल व्यापारमात्र से अध्वाओं में परिवर्तन माना गया है, अभिव्यक्ति और तिरोभाव के द्वारा अध्वाओं का अन्तर होता हो—ऐसा नहीं

---

१. 'ते इति—धर्माणामध्वत्रयमेव स्फोरयति'।—त० वै० पृ० ३०४।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३०४।

३. 'अवस्थापरिणामाभ्युपगमे'।—यो० वा० पृ० ३०५।

४. 'व्यापारनिमित्तेनैव सर्ववस्तुष्वनागताद्यध्वनामन्योऽन्यं व्यवहितत्वाभ्युपगमात् विभागाभ्युपगमात् न तु भावरूपेण सदा सत्त्वस्येष्टत्वादित्यर्थः।'

—यो० वा० पृ० ३०५।

माना गया। यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति—जब कोई धर्म अपना व्यापार नहीं करता। तदा अनागतः—तब उसका 'अनागत' अध्वा कहा जाता है। इत्येवम्—इस प्रकार से। धर्मधर्मिणोः—धर्मी और धर्म की। लक्षणानामवस्थानाञ्च—तथा लक्षण और अवस्थाओं की। कौटस्थ्यम्—कूटस्थता। प्राप्नोति—प्रसक्त होती है। इति परैर्दोष उच्यते—विपक्षियों के द्वारा यह दोष बताया जाता है। नाऽसौ दोषः—(सिद्धान्तपक्ष के अनुसार) यह दोष नही आता। कस्मात्—क्यों? गुणिनित्यत्वेऽपि—धर्मी के धर्मापेक्षया नित्य होने पर भी। गुणानाम्—गुणों के। विमर्दवैचित्र्यात्—विमर्दस्य तिरोभावस्य परिणामस्य वैचित्र्यात्[1]—वैलक्षण्यात्, धर्मों के तिरोभावरूपी वैलक्षण्य के कारण कूटस्थत्व दोष की प्रसक्ति नहीं होती। यथा—जैसे। अविनाशिनां शब्दादीनाम् (धर्मिणाम्)—अपेक्षाकृत अविनाशी शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों तन्मात्रारूप धर्मियों के। आदिमत् धर्ममात्रं संस्थानम्—कार्यभूत धर्मरूप, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी नामक महाभूत। विनाशि—तिरोभाव को प्राप्त करने वाले होते हैं। एवम्—इसी प्रकार। अविनाशिनां सत्त्वादीनां गुणानाम्—अविनाशी अर्थात् उस धर्म की तुलना में स्थायी सत्त्व, रजस् और तमस् नामक 'प्रकृति' कहे जाने वाले तीनों गुणों का। आदिमात्रं धर्ममात्रं लिङ्गम्—कार्यभूत 'लिङ्ग' नामक धर्म। विनाशि—तिरोभावात्मक परिणाम को प्राप्त करने वाला होता है। तस्मिन्—और उस धर्म को। विकारसंज्ञा (भवतीति शेषः)—'विकार' नाम दिया जाता है। ये दोनों दृष्टान्त तत्त्वान्तरपरिणामों के विषय के हैं। अब इसी कूटस्थनित्यत्व के दोष की प्रसक्ति न होने का उदाहरण केवल धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामों वाले भौतिक विषयों में से दिया जा रहा है। मृद्धर्मी—मिट्टी रूपी धर्मी। पिण्डाकाराद् धर्माद्—अपने ढेले रूप के धर्म से। धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानः—अन्य धर्म को प्राप्त कराती हुई। धर्मतः घटाकारः परिणमते—धर्मद्वारा घटरूप में परिणत होता है। यह धर्मी का 'धर्मपरिणाम' हुआ। इसी प्रक्रिया में। घटाकारः—'घट' रूपी धर्म। अनागतं लक्षणं हित्वा—अपने अनभिव्यक्त अनागत अध्वा को छोड़कर। वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यते—वर्तमानकालिक स्थिति को प्राप्त होता है। इति—इस प्रकार से। लक्षणतः परिणमते—यह धर्म लक्षणों के द्वारा परिणत होता है। यह धर्म का 'लक्षणपरिणाम' हुआ। घटः—वर्तमानलक्षण युक्त यह 'घट' धर्म। नवपुराणताम्—नयेपन और पुरानेपन को। प्रतिक्षणमनुभवन्—प्रतिक्षण अनुभव करता हुआ। यह घट क्रमशः नये से कम नया, कम नये से पुराना

---

१. 'धर्मिनित्यत्वेऽपि धर्माणां विमर्दस्य विनाशस्य कूटस्थतो वैचित्र्यात् वैलक्षण्यादित्यर्थः, अपरिणामिनित्यतैव कौटस्थ्यं यच्च पुरुषातिरिक्ते नास्तीति भावः।'
—यो० वा० पृ० ३०६।

और पुराने से अधिक पुराना होता जाता है। अवस्थापरिणामं प्रतिपद्यते इति—अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है। यह धर्मगत लक्षण का 'अवस्थापरिणाम' हुआ। यह 'अवस्थापरिणाम' लक्षणों की विभिन्न अवस्थाएँ या स्थितियाँ ही हैं। विभिन्न-स्थिति रूप अवस्थापरिणाम लक्षणों की ही भाँति धर्मी और धर्म को भी होता है। क्रमशः 'धर्मपरिणाम' और 'लक्षणपरिणाम' के रूप में। इस बात को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं। धर्मिणोऽपि धर्मान्तरम् अवस्था (एव)—धर्मी के भिन्न-भिन्न धर्म, उस धर्मी की अवस्थाएँ अर्थात् पूर्व-स्थिति से भेद ही तो हैं। धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्था—और धर्म के भिन्न-भिन्न लक्षण (वर्तमानादि काल) उस धर्म की (तीन) अवस्थाएँ ही हैं। इस प्रकार धर्मपरिणाम और लक्षणपरिणाम—दोनों दशाओं में भी वस्तुतः अवस्थापरिणाम ही होता है—ऐसा भी कहा जा सकता है। वाचस्पतिमिश्र ने उचित ही कहा है—

'न चायं नियमो लक्षणानामेवावस्थापरिणाम इति सर्वेषामेव धर्मलक्षणावस्थाभेदानामवस्थाशब्दवाच्यत्वादेक एवावस्थापरिणामः सर्वसाधारण इति'।[1]

इति—इस प्रकार से अर्थात् धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामों के भेद से। एक एव—वस्तुतः एक ही। द्रव्यपरिणामः—द्रव्य का परिणाम या धर्मी का परिणाम। भेदेन—अवान्तरभेद से। धर्म, लक्षण और अवस्था—इन तीनों प्रकार का। उपदर्शित इति—दिखाया गया है। तात्पर्य यह है कि धर्मादि के धर्मी से अभेद की दृष्टि से वस्तुतः एक ही प्रकार का परिणाम होता है और वह है 'धर्मिपरिणाम'।[2] अवान्तरभेद की दृष्टि से यही 'धर्मिपरिणाम'—१. धर्मपरिणाम। २. लक्षणपरिणाम और ३. अवस्थापरिणाम—नामक तीन भेदों वाला कहा जाता है।[3]

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यम् इति—इसी प्रकार अन्य भूतों और इन्द्रियों में भी इन विविध परिणामों को घटित कर लेना चाहिए। त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम 'धर्मी' के निजी रूप को नहीं छोड़ते, इसलिये एक ही परिणाम उन सारे परिणम्यमान धर्मों, लक्षणों और अवस्थाओं में

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३०७।

२. 'सामानाधिकरण्यद्वारेण धर्म्येव धर्मः इति यावत्। तदैक एव परिणामो धर्मिपरिणाम एवेत्यर्थः धर्मलक्षणावस्थानां धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्तः धर्मिस्वरूपाभिनिवेशात्।' —त० वै० पृ० ३१६।

३. 'त्रयोऽपि परिणामाः धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ताः धर्मिष्वेवानुगतः अतो धर्मधर्म्यभेदात् धर्मिपरिणाममात्रमेकमेवेति सामान्यतो भवति धर्मी स एव च सर्वान् परिणामानभिप्लवते व्याप्नोति। —यो० वा० पृ० ३०७।

परिणत होता हुआ (उसी धर्मी में समग्र परिणाम) उसी एक धर्मी में अनुगत रहता है। इसीलिये कहा गया है कि एक ही परिणाम (धर्मिपरिणाम ही) इन सभी परिणाम-भेदों को व्याप्त करता है अर्थात् अपने में अन्तर्भावित कर लेता है। इस परिणामप्रक्रिया का इतना विस्तृत विवेचन कर चुकने के पश्चात् भाष्यकार ने मुख्य समस्या का स्पष्टीकरण करते हुए विषय को इस प्रकार उपसंहृत किया है। अथ कोऽयं परिणामः—आखिर यह परिणाम है क्या चीज ? इसका मौलिक स्वभाव क्या है ? जिस परिणाम को वस्तुतः 'एक' कहा गया तथा भेद की दृष्टि से जिसे 'तीन प्रकार का' भी कहा गया है और जिसके भेदों को इतने संरम्भ के साथ अभी तक विवेचित किया गया है। उसके मौलिक स्वभाव का उपसंहार इन शब्दों में किया जा रहा है। अवस्थितस्य द्रव्यस्य—परिणामकाल में स्वयं अपने स्वभाव को नहीं परिवर्तित करने वाले धर्मी के। पूर्वधर्मनिवृत्तौ—पहले वाले धर्मों (तथा तद्गत लक्षणों एवं तद्गत अवस्थाओं) का तिरोभाव हो जाने पर। धर्मान्तरोत्पत्तिः—बाद वाले अन्य धर्मों (तथा तद्गत लक्षणों एवं तद्गत अवस्थाओं) का आविर्भूत होना। उस द्रव्य अर्थात् धर्मी का। परिणामः—(परिणाम कहा जाता) है। यहाँ पर 'धर्म' पद से धर्मी में रहने वाले धर्म, उसमें रहने वाले लक्षण और उसमें रहने वाली अवस्थाओं का भी ग्रहण करना चाहिए। **'धर्मशब्द आश्रितत्वेन धर्मलक्षणावस्थावाचकः'**[1] ॥ १३ ॥

तत्र—

उस प्रसङ्ग में (धर्मी यह है)—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्त (अतीत), उदित (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (अनागत) धर्मों में अनुगत रहने वाला (पदार्थ) धर्मी है ॥ १४ ॥

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भाव एकस्यान्योऽन्यश्च परिदृष्टः। तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते। यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्यते ? तत्र त्रयः[2] खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति। तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः। सव्यापारा उदिताः। ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः। वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३०७।
२. 'तत्र ये'—इति पाठान्तरम्।

वर्तमानाः ? पूर्वपश्चिमताया अभावात् । यथानागतवर्त्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य । तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः । तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्य ।

अथाव्यपदेश्याः के ? सर्वं सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तम्[1]—'जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्विति'—एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति । देशकालाकारनिमित्तासम्बन्धान्न[2] खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी । यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मात् ? अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत ? तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति । वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

धर्मी की योग्यता से अवच्छिन्न शक्ति ही धर्म है । और फलोत्पत्ति के भेद से अनुमीयमान सत्ता वाले वे धर्म एक धर्मी के भिन्न-भिन्न (प्रकार के अनेक) देखे गये हैं । उन (अनेक धर्मों) में से अपने कार्य का (तत्काल) अनुभव करता हुआ वर्तमान धर्म, अतीत और अनागत (नामक) अन्य धर्मों से भिन्न होता है । किन्तु जब धर्म अपने निर्विशेष रूप से धर्मी में विद्यमान रहता है, उस समय धर्मी के स्वरूपमात्र होने के कारण कौन (किस रूप वाला) वह किस (व्यापार से अन्य धर्मों) से भिन्न होगा ? (अर्थात् किसी से भिन्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता) । यहाँ धर्मी के तीन (प्रकार के) धर्म होते हैं—शान्त (अतीत), उदित (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (अनागत) । उन (तीनों) में से—(१) शान्त (अतीत) धर्म वे हैं, जो व्यापार करके उपरत हो गये हैं । (२) जो व्यापार सहित हैं, वे उदित (वर्तमान) हैं । और वे (वर्तमान) धर्म, अनागतलक्षण वाले (अव्यपदेश्य) धर्म के ठीक बाद में आने वाले होते हैं । वर्तमानधर्म के ठीक बाद में आने वाले अतीतधर्म होते हैं । (प्रश्न यह उठता है कि) अतीत के अनन्तर वर्तमान धर्म क्यों नहीं होते ? (इसका उत्तर यह है कि अतीत और वर्तमान धर्मों में) पूर्वता और पश्चिमता (की उपलब्धि) का अभाव होने के कारण । अनागत और वर्तमान धर्मों में जिस तरह का पूर्व-पश्चिमभाव (उपलब्ध) होता है, उस प्रकार का पूर्व-पश्चिमभाव अतीत धर्म का (वर्तमान धर्म के साथ) नहीं होता ।

---

१. 'यथोक्तम्'—इति पाठान्तरम् ।

२. 'निमित्तापबन्धात्'—इति पाठान्तरम् ।

इसलिये अतीत धर्म का पश्चाद्भावी (कोई धर्म) नहीं होता। इस कारण से वर्तमान धर्म का अव्यवहित पूर्ववर्ती (कोई) अनागत धर्म ही होगा (अतीत धर्म नहीं)।

अब अव्यपदेश्य (अनागत) धर्म कौन से हैं ? सभी धर्मी सब शक्तियों वाले होते हैं। (ये सब अनभिव्यक्त कार्योत्पादन शक्तियाँ ही अव्यपदेश्य धर्म हैं।) जिस विषय में (पूर्वाचार्यों के द्वारा) कहा गया है कि—जल और पृथ्वी का परिणाम-भूता रसादि की अनेकरूपता स्थावर (अचर) पदार्थों में देखी जाती है और उसी प्रकार स्थावरों की (परिणामभूता विविधरूपता) जङ्गम (चर) पदार्थों में तथा जङ्गमों की (परिणामभूता विचित्रता) स्थावर (अचर) पदार्थों में (दृष्टिगोचर होती है)। इस प्रकार से जातितः उच्छेद न होने के कारण सभी पदार्थ सर्वकार्यो-त्पादनशक्ति से सम्पन्न होते हैं। (यही सर्वकार्योत्पादनशक्ति ही अव्यपदेश्य या अना-गत धर्म हैं।) किन्तु इन सभी (शक्तियों) की अभिव्यक्ति (वर्तमानता) देश, काल, आकार और निमित्तों के असम्बन्ध के कारण एक साथ नहीं होती। जो इन अभिव्यक्त (वर्तमान) तथा अनभिव्यक्त (अतीतानागत) धर्मों में अनुगत रहने वाला तथा सामान्यविशेषरूप वाला होता है, (सभी) धर्मों में (स्थायी रूप से) अनुगत वह (पदार्थ) धर्मी है। किन्तु जिसके मत में यह अननुगत धर्ममात्र ही है, उसके मत में (कर्मफल के) भोग का अभाव होगा। क्यों ? अन्य विज्ञान के द्वारा किये गये कर्म के भोक्ता के रूप में अन्य विज्ञान का अधिकार कैसे हो सकता है ? और उस (अनुभूत विषय) की स्मृति का अभाव होगा। अन्य के द्वारा देखे गये विषय का स्मरण अन्य को नहीं होता। और वस्तु की पहचान होने से भी (यह सिद्ध होता है कि) धर्मों में स्थायी रूप से अनुगत रहने वाला कोई धर्मी है, जो अन्य धर्मों वाला होकर पहचाना जा रहा है। इसलिये यह पदार्थ धर्मों में अननुगत धर्ममात्र नहीं है (प्रत्युत धर्मी है) ॥ १४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—शान्तधर्माः उदितधर्माः अव्यपदेश्यधर्मास्ताननुपतितुमनुगन्तुं शीलमस्येति शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती—शान्त (अतीत) या कृतव्यापार धर्म, उदित (वर्तमान) या कुर्वद्व्यापार धर्म तथा अव्यपदेश्य (अनागत) या कार्यजनन-शक्ति रूप धर्मों में अनुगत रहने वाला पदार्थ 'धर्मी' कहा जाता है। धर्माः सन्ति अस्येति धर्मी अर्थात् धर्मवान्, धर्मों वाला। 'अनुपाती' का अर्थ है **'अन्वयित्वेन स्वीकरोति'**—(रा० मा० वृ०), **'अनुगतः'**—(यो० वा०)। समन्वागतः—उपस्थित या अनुगत रहने वाला। धर्मों को तीन कालों वाला बताया गया है। जो धर्म कृत-व्यापार हो चुके हैं, वे शान्त अर्थात् अतीत कहे जाते हैं। जैसे—मिट्टी नामक धर्मी

में चूर्ण मिट्टी, पिण्डाकार मिट्टी, घटाकार मिट्टी और टूटने पर कपालिकाकार मिट्टी। जब घट बना हुआ है तो उस समय मिट्टी का चूर्णाकार धर्म और पिण्डाकार धर्म उसके 'शान्त' या 'अतीत' धर्म हुए। जो धर्म वर्तमान या कुर्वद्व्यापार रहता है, वह 'उदित' या 'वर्तमान' कहा जाता है। जैसे—घटकाल में मिट्टी नामक धर्मी का उदित धर्म 'घटरूप' हुआ। 'अव्यपदेश्य' धर्म क्या है ?

उसका प्रतिपादन करने में कठिनाई यह पड़ती है कि ऊपर बताये गये दोनों धर्म तो अनुभवगोचर होते हैं। एक पूर्वानुभूत है और दूसरा अनुभूयमान होता है। किन्तु 'अनागत' धर्म का अनुभव नहीं हुआ रहता, इसलिये अनुभव के स्पर्श से रहित होने के कारण उनका निर्वचन कठिन होता है। इसीलिये उन्हें 'व्यपदेष्टुं कथयितुमयोग्य इति 'अव्यपदेश्यः' अकथनीयः' कहा गया है। जैसे—वर्तमान घट की वर्तमानता के पूर्व कौन कह सकता था कि इस मिट्टी का घट ही बनेगा या कपाल धर्म ही बनेगा या कि कोई अन्य धर्म बन जायेगा ? इसलिये अनागत धर्म को 'अव्यपदेश्य' कहा गया है ॥ १४ ॥

(भा० सि०)—धर्मिणः—धर्मी की। योग्यतावच्छिन्ना—योग्यता से निर्धारित (Limited or determined by capacity) शक्तिरेव—शक्ति ही। धर्मः—धर्म है। स च—और वह धर्म। फलस्य—कार्यस्य। प्रसवः—उत्पत्तिः। तस्य भेदात्—तस्य नानारूपत्वात्। अनुमितः—अनुमानप्रमाणलभ्यः, ज्ञेयः। सद्भावः—अस्तित्वं यस्य सः फलप्रसवभेदानुमितसद्भावः—कार्यों की उत्पत्ति के भेद से अनुमित होती है सत्ता जिसकी, ऐसा वह धर्मी। एकस्य—एक धर्मी का। अन्यः अन्यश्च परिदृष्टः[१]—भिन्न-भिन्न धर्म देखे गये हैं, बहुसंख्यक धर्म देखे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म अनेक या बहुसंख्यक होते हैं और धर्मी में इनकी सत्ता उस धर्मी में होने वाले कार्य-भेद से अनुमित होती है। चूँकि धर्म धर्मी की योग्यतारूपिणी शक्ति है और योग्यताओं का प्रत्यक्ष सर्वदा नहीं होता। अतः धर्मी में रहने वाले इन धर्मों की सत्ता का ज्ञान कार्योत्पत्तिभिन्नत्वहेतु वाले अनुमानप्रमाण से होता है। धर्मों को धर्मी की शक्ति मानने से धर्मों का अनागन्तुकत्व भी सिद्ध होता है और धर्मी से उनका अभेद भी। **'नहि शक्तिवियोगः शक्तिमतोरभेदादिति भावः[२]।'**

धर्मी को सामान्य रूप से वर्णित करके अब उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताया जा रहा है। तत्र—उन शक्तिरूपी धर्मों में से। वर्तमानः धर्मः—वर्तमान या उदित

---

१. 'स च धर्मः एकस्य धर्मिणोऽनेकोऽपि दृष्ट इत्यर्थः।'

—यो० वा० पृ० ३०८।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३०९।

नामक धर्म । स्वव्यापारमनुभवन्—अपना व्यापार वर्तमानकाल में करता हुआ **'कुर्वद्व्यापाराः वर्तमानाः'**—(यो० सि० च०) । धर्मान्तरेभ्यः—अन्य धर्मों से, अर्थात् । शान्तेभ्यश्च अव्यपदेश्येभ्यश्च—अतीत और अनागत नामक धर्मों से । भिद्यते—विविच्यते, भिन्न होता है । यह भिन्नता वर्तमान धर्म के विशेषरूप अर्थात् अभिव्यक्तिकाल में होने पर ही समझनी चाहिये । सामान्य रूप से रहते हुए वर्तमानधर्म में अतीत, अनागत धर्मों से कोई भेद नहीं होता । और यह तो सर्वविदित ही है कि सांख्ययोग की मान्यता में सभी पदार्थ सदा रहते हैं, इसलिये वर्तमानधर्म भी तो सदा रहेगा । यह जो अन्य धर्मों से उसका भेद प्रदर्शित किया गया है, वह इसके विशेषरूप की स्थिति का ही है ।

यदा तु—किन्तु जब यह वर्तमानधर्म । सामान्ये समन्वागतः भवति—अपने सामान्य अर्थात् अनभिव्यक्त रूप से धर्मी में रहता है । तदा—उस समय । धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्—धर्मिस्वरूप से भिन्न न होने के कारण । कोऽसौ—वह अलग से है ही क्या ? केन भिद्यते—और अपने किस लक्षण के द्वारा और लक्षणों से भिन्न प्रकट हो सकता है ? इस प्रकार धर्मी और धर्म में अत्यन्त भेद नहीं होता, प्रत्युत भेदाभेद का ही सम्बन्ध समझना चाहिए । **'नन्वेवं किं धर्माणामन्योऽन्यमत्यन्तमेव भेदो न तु भेदाभेदौ ? नेत्याह यदात्विति'** ।[1]

इन धर्मों के वर्गीकरणपूर्वक इनका अलग-अलग स्वरूप-निर्वचन किया जायेगा । तत्र त्रयः खलु धर्मिणो धर्माः—धर्मी के तीन प्रकार के धर्म होते हैं । शान्ताः उदिताः अव्यपदेश्याश्चेति—शान्त, उदित और अव्यपदेश्य अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत । तत्र—उन तीनों में से । (१) ये व्यापारान् कृत्वा उपरताः—जो धर्म व्यापार करके उपरत हो गये हैं, निवृत्त हो गये हैं, वे शान्त या अतीत धर्म हैं । (२) सव्यापाराः—व्यापारैस्सह विद्यमाना इति, व्यापारों के साथ रहते हुए अर्थात् व्यापार करते हुए, कुर्वद्व्यापार धर्म । उदिताः—उदित या वर्तमान धर्म हैं । ते च—और ये वर्तमान धर्म । अनागतस्य लक्षणस्य—अनागतलक्षण वाले धर्म के । समनन्तराः—न विद्यमानम् अन्तरं येषु ते अनन्तराः, सम्यग्रूपेण अनन्तरा इति समनन्तराः, बिल्कुल सँटे हुए अर्थात् अव्यवहित रूप से आगे या पीछे आने वाले को 'समनन्तर' कहा जाता है । यहाँ पर ठीक पीछे आने वाले के लिये 'समनन्तर' कहा गया है । इसलिये 'समनन्तराः' का अर्थ हुआ—अव्यवहितरूपेण पश्चाद्भावी । ये वर्तमान-धर्म अनागत-धर्म के ठीक बाद में आने वाले होते हैं । वर्तमानस्य अनन्तरा अतीताः—वर्तमान धर्म के ठीक बाद में आने वाले धर्म 'अतीत' कहे जाते हैं । किन्तु इन अतीत धर्मों के बाद फिर वर्तमान धर्म नहीं आते—इस विषय में प्रश्न उठाया जा रहा है । किमर्थमती-

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३०९ ।

तस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः—अतीतधर्म के अव्यवहित पश्चाद्भावी वर्तमानधर्म क्यों नहीं होते ? पूर्वपश्चिमताया अभावाद्—क्योंकि अतीत और वर्तमान धर्मों के बीच पूर्वभावित्व और पश्चाद्भावित्व की उपलब्धि नहीं होती अर्थात् अतीत हो चुकने पर वह धर्म वर्तमान नहीं होता। पश्चिमता—(अवर—पश्च + डिमच् + तल् + टाप्) पश्चाद्भावित्वम्—पीछे होना। पूर्वता—पहले होना। यथानागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता—अनागत और वर्तमान के बीच जैसा पूर्वभाव और पश्चाद्भाव है। एवम्—उस प्रकार का। अतीतस्य न—अतीतधर्म का वर्तमानधर्म के साथ पश्चाद्भाव नहीं है। तस्मान्नास्ति अतीतस्य समनन्तरः—इसलिये अतीत धर्म के ठीक बाद में वर्तमान आदि कोई भाव न आने के कारण अतीत का (अव्यवहित) पश्चाद्भावी (वर्तमानादि) धर्म नहीं होता। तद्—इसलिये (समनन्तरता के लिये पूर्वपश्चिमता की शर्त होने के कारण)। अनागत एव[1]—अनागत या अव्यपदेश्य धर्म ही। वर्तमानस्य समनन्तरो भवति—वर्तमानधर्म का अव्यवहित पूर्वभावी होता है।

(३) अथ—अब। अव्यपदेश्याः—न कहे जाने योग्य अनागत धर्म। के—कौन हैं, अर्थात् किस लक्षण वाले होते हैं ? यह बात ध्यान देने की है कि जैसे—व्यापारों के किये जा चुकने और किये जाते रहने के आधार पर अतीत एवं वर्तमान धर्मों का निरूपण किया गया है, वैसे ही यदि अनागत धर्मों का लक्षण यह किया जाय कि **'ये व्यापारान् करिष्यन्ति तेऽव्यपदेश्याः'** अर्थात् 'जो धर्म व्यापारों को आगे चलकर पूरा करेगा, वह अनागत या अव्यपदेश्य धर्म है।' तो यह लक्षण ठीक नहीं हो सकेगा, क्योंकि बहुत से ऐसे अनेक, अनन्त धर्म अनागत रूप में रहते हैं, जो व्यापार नहीं कर पाते और फिर भी अनागत रूप से उनकी सत्ता बनी रहती है। इसलिये इनका लक्षण प्रकारान्तर से दिया जा रहा है—

सर्वम्—सभी धर्मी। सर्वात्मकम् (भवतीति शेषः)—सर्वशक्तिमान् होते हैं। वे सभी शक्तियाँ सर्वविकारोत्पादन में समर्थ होती हैं। अनुकूल देशकाल, आकार और निमित्त को प्राप्त करके ही वे व्यापार करती हैं, अन्यथा व्यापार नहीं कर पातीं। ये सर्वविकारोत्पादनसमर्थ धर्मिगत शक्तियाँ ही अव्यपदेश्य या अनागत धर्म हैं। **'तथा च सर्वत्र परिणामिन्यवस्थिताः सर्वविकारजननशक्तय एवाव्यपदेश्या इत्यर्थः।'**[2] **'अव्यपदेश्या धर्मा असंख्याताः तैः सर्ववस्तूनां सर्वसम्भवयोग्यता।'**[3] यत्र—जिस विषय में, अर्थात् सभी वस्तुएँ सर्वकार्यात्मक होती हैं—इस विषय में।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३१०।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३१०।

३. 'अनागत एव समनन्तरः पूर्वत्वेन भवति वर्तमानस्य नातीतः, अतीतस्य वर्तमानः पूर्वत्वेन समनन्तरो नाव्यपदेश्यः।'—त० वै० पृ० ३१०।

उक्तम्—पूर्वाचार्यों के द्वारा यह कहा गया है। जलभूम्योः—जल और भूमि का। पारिणामिकम्—(परिणाम + ठक् स्वार्थे) परिणाम या विकार। रसादिवैश्वरूप्यम्—रस और गन्धादि नामक अनेकरूपत्व या वैचित्र्य। स्थावरेषु—निर्जीव पदार्थों में, अचर वस्तुओं में। दृष्टम्—देखा जाता है। तथा—वैसे ही। स्थावराणाम् (परिणाम इति शेषः)—अचर पदार्थों का परिणाम या विकार। जङ्गमेषु—चर पदार्थों अर्थात् सजीव पदार्थों में देखा जाता है। और जङ्गमानां स्थावरेषु—जङ्गम पदार्थों या स्थावरों में परिणाम देखा जाता है। निर्जीव पदार्थों में रस और गन्ध इत्यादि वैचित्र्य का होना जल और भूम्यादि का 'परिणाम' है और निर्जीव अंगूर, आम, सेव इत्यादि फलों के द्वारा रक्तवृद्धिरूप परिणाम जीवों में देखा जाता है। वैसे ही रुधिर-सेचन इत्यादि से अनार के पेड़ का बड़ा होना तथा मछली डालने से कटहल में फल अच्छे आना—जङ्गमों या स्थावरों में परिणाम है। एवम्—इस प्रकार से। जाते-रनुच्छेदेन—धर्मिसामान्यस्य उच्छेदाभावेन अर्थात् सामान्य रूप से सभी धर्मों के सर्वत्र विद्यमान होने के कारण। सर्वम्—सकल पदार्थ। सर्वात्मकम्—सर्वशक्तिसम्पन्न होते हैं। किन्तु सभी शक्तियों के सब पदार्थों में विद्यमान होने पर भी सदा उनकी वर्तमान-रूप में अभिव्यक्ति नहीं होती—इसका हेतु बताते हैं—

देशकालाकारनिमित्तासम्बन्धात्—(अनुकूल) देश, काल, आकार और सहकारी कारणों के सम्बन्ध न होने से। समानकालम्—समानः एकः कालः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, अर्थात् एक ही काल में। आत्मनाम्—**'भावानाम्'**—(त० वै०), पदार्थों की। न खलु अभिव्यक्तिः—अभिव्यक्ति नहीं होती। जैसे सामान्यतः कश्मीर देश में अभिव्यक्त या प्रादुर्भूत होने वाले केसर की अभिव्यक्ति (आविर्भाव) पाञ्चाल देश में नहीं होती। शीतकाल में तरबूज का आविर्भाव नहीं होता। मृगाकार में मनुष्याकार आविर्भूत नहीं होता और पापनिमित्त से होने वाला दुःख पुण्यकर्मा लोगों को नहीं होता।[1] हाँ, किसी विशेष निमित्त के प्रबल होने पर कुछ से कुछ बन भी सकता है। ये निमित्त ईश्वरेच्छा और योगजधर्म आदि हो सकते हैं। कालिदास ने ठीक ही कहा है—**'विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छयेति'**। यः—जो पदार्थ। एतेषु—इन। अभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेषु—अभिव्यक्त अर्थात् वर्तमान तथा अनभिव्यक्त अर्थात् अतीत और अनागत धर्मों में। अनुपाती—अनुगत। सामान्य-विशेषात्मा—तथा सामान्य एवं विशेष स्वरूप वाला होता है। सः—वह। अन्वयी—अनेक धर्मों के आश्रय रूप से स्थित पदार्थ। धर्मी—धर्मी है। यस्य तु—और जिस (बौद्ध) के मत में। इदम्—यह धर्मी। धर्ममात्रम्—केवल धर्मरूप तथा। निरन्वयम्—निर्गतः (केनापि सह) अन्वयः सम्बन्धः यस्मात् तत्, किसी भी धर्म

१, द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३१३।

से असम्बद्ध होता है। तस्य—उसके (बौद्ध) मत में। भोगाभावः—(प्रसज्यते इति शेषः) कर्मफल-भोग के अभाव का दोष आता है। कस्माद्—क्यों ? इसलिये कि उसके अनुसार 'विज्ञान' या चित्तमात्र एक सत्ता है और शेष सब पदार्थ विज्ञान के ही विक्षेप हैं। ये विज्ञान अथवा चित्त भी प्रतिक्षण भंग हो जाने वाले प्रत्ययमात्र होते हैं। इसलिये। अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणः—अन्य चित्त के द्वारा किये गये कर्म के। भोक्तृत्वेन—भोक्ता के रूप में। अन्यत्—अन्य चित्त। कथम्—कैसे। अधिक्रियेत—अधिकारी बनाया जाय ? अर्थात् अन्य चित्त कैसे भोक्ता माना जाये ? दूसरा दोष यह आता है। स्मृत्यभावश्च—स्मृति का सम्भव न होना। नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति—जब एक चित्त एक क्षण के बाद नहीं रहता तो पहले क्षण वाले चित्त के द्वारा किये गये अनुभव का स्मरण अन्य क्षण वाले पूर्वभिन्न चित्त को हरगिज नहीं हो सकता। इन दो दोषों के कारण संसार को चित्तमात्र एवं चित्त को धर्ममात्र मानने वाले विज्ञानवादी बौद्धों की मान्यता खण्डित हो जाती है और धर्मी की सत्ता सिद्ध होती है। धर्मी की सत्ता की सिद्धि के लिये एक और भी तर्क दिया जा रहा है। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितः अन्वयी—धर्मीवस्तु की (धर्मों के परिवर्तित होते रहने पर भी) पहचान होने से भी सिद्ध होता है कि इन परिवर्तनशील समस्त स्वधर्मों में अन्वित रहने वाला सर्वधर्मवान्[1] 'धर्मी' नामक पदार्थ होता है। यः—जो कि। धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः —अन्यधर्मता को प्राप्त होने पर भी अर्थात् अन्य धर्मों वाला होकर भी। प्रत्यभिज्ञायते—पहचाना जाता है कि यह वही पदार्थ है, जो पहले इस-इस रूप, रङ्ग या आकार वाला था और आज उससे भिन्न रूप, रङ्ग और आकार वाला हो गया है। इस प्रकार परिवर्तनशील धर्मों से उपेत यह अन्वयी और धर्मों की अपेक्षा अधिक स्थायी पदार्थ 'धर्मी' कहा जाता है। तस्मात्—इसलिये। इदम्—यह धर्मी। वाक्य के विधेयांश 'धर्ममात्रम्' की विवक्षा से नपुंसकलिङ्गता है। निरन्वयम्—सभी धर्मों से असम्बद्ध अर्थात् **'निर्धर्मकम्'**।[2] धर्ममात्रम्—केवल धर्मरूप। न इति—नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

(धर्मी के) भिन्न-भिन्न परिणाम होने में क्रम की भिन्नता ही ज्ञापक (हेतु) है ॥ १५ ॥

---

१. 'अन्वयी बहुधर्माणामाश्रयरूपो व्यवह्रियमाणः पदार्थो धर्मी।'

—भा० पृ० ३१३।

२. 'धर्ममात्रमित्यस्य विवरणं निरन्वयमिति निर्धर्मकमित्यर्थः।'

—यो० वा० पृ० ३१४।

एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति। तद्यथा—चूर्णमृत्, पिण्डमृद्, घटमृत्, कणमृदिति च क्रमः। यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः। पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः। लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्तमानभावक्रमः। तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावक्रमः। नातीतस्यास्ति क्रमः। कस्मात्? पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वम्। सा तु नास्त्यतीतस्य। तस्माद् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः। तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि। घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते। सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति। धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति। त एते क्रमाः धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति। यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचार[1]स्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते। चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च। तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः। वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः। ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥ इति ॥ १५ ॥

एक धर्मी का एक ही परिणाम—इस (दोष) का प्रसङ्ग आने पर क्रमों का भिन्नत्व ही (धर्मी के) भिन्न-भिन्न परिणामों का हेतु होता है। वह जैसे—पिसी हुई मिट्टी, पिण्डाकार मिट्टी, घटाकार मिट्टी, कपालाकार मिट्टी और कणरूप मिट्टी—यह क्रम है। जो जिस धर्म के ठीक बाद वाला धर्म है, वह उसका क्रम है। पिण्ड नष्ट होता है, (और) घट आविर्भूत होता है—यह धर्मपरिणाम में क्रम है। लक्षणपरिणाम में क्रम (यह है जैसे) घट के अनागतलक्षण की स्थिति से वर्तमान लक्षण की स्थिति का क्रम; वैसे ही पिण्ड के वर्तमानलक्षण की स्थिति से अतीतलक्षण की स्थिति का होता है। अतीतलक्षण का क्रम नहीं होता। क्यों? पूर्व के पश्चात् होने पर ही अव्यवहितपरवर्तिता होती है। अतीत की वह (पूर्व से परता) तो होती नहीं, इसलिये दो ही लक्षणों का क्रम होता है।

वैसे ही अवस्थापरिणाम में भी क्रम होता है। (जैसे) नये घट के किसी भाग में पुरानापन दिखायी देता है और वह (पुरानापन) क्षणपरम्परा के अनुपाती क्रम के द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ उत्कृष्ट अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। (अर्थात् पुराना-

---

१. 'धर्मिण्यभेदोपचारेण'—इति पाठान्तरम्।

पन सर्वथा प्रकट होने लगता है ।) यह, धर्मिपरिणाम और लक्षणपरिणाम से अलग तीसरे प्रकार का (अवस्था नामक) परिणाम है । वे ये क्रम, धर्म और धर्मी के भेद रहने पर ही प्रकट होने वाले होते हैं । धर्म भी (स्वगत) अन्य धर्मों के स्वरूप की अपेक्षा से धर्मी बनता है । किन्तु जब वस्तुसत् धर्मी में अभेद की दृष्टि से कथन होता है, तब उस (अभेदोपचार) के द्वारा वह (धर्मी) ही धर्म कहा जाता है । उस समय यह क्रम (क्रमिक विकास) एक ही रूप (धर्मिपरिणामक्रम के रूप) में भासित होता है । चित्त में दो प्रकार के धर्म होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । उनमें से ज्ञानरूपी धर्म 'प्रत्यक्ष' होते हैं और चित्तस्वरूप से ही स्थित धर्म 'परोक्ष' होते हैं । अनुमानप्रमाण के द्वारा साधित चित्तमात्रास्तित्व वाले वे (अपरिदृष्ट धर्म) सात ही होते हैं— 'निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति—ये चित्त के न दिखायी पड़ने वाले धर्म होते हैं' ।। १५ ।।

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—धर्मी की सिद्धि पिछले सूत्र में हो गयी । अब धर्मी के परिणामों के सम्बन्ध में एक शङ्का रह जाती है । वह शङ्का यह है कि जब धर्मी एक होता है, तब उसके अनेक परिणाम क्यों होते हैं । एक धर्मी से तो एक ही परिणाम होना चाहिए । अनेक परिणाम मानने में तो यही शंका होती है कि वे सब परिणाम अकस्मात् ही प्रकट हो जाते हैं और इस प्रकार सत्कार्यसिद्धान्त का खण्डन प्रसक्त होता है । इस सम्बन्ध में बताते हैं कि एक धर्मी के अनेक परिणाम, क्रमों के अनेक होने के कारण सिद्ध होते हैं । परिणामान्यत्वे—परिणामस्य अन्यत्वम्, भिन्नत्वम्, अनेकत्वम्, तस्मिन्, परिणामों के अनेक होने में । क्रमान्यत्वम्—**'यो यस्य समनन्तरो धर्मः स क्रमः'**—(यो० वा०), जो जिसका परवर्ती धर्म है, वह उसका क्रम है । इन परवर्ती धर्मरूपी क्रमों का अनेक होना ही । हेतुः—हेतु है, अर्थात् ज्ञापक है । यहाँ पर 'हेतु' शब्द का अर्थ उपादान या निमित्तकारण नहीं लेना चाहिये । क्योंकि क्रमों का अनेक होना परिणाम-भेद का उपादान या निमित्तकारण नहीं है । प्रत्युत यह उसका लिङ्ग या ज्ञापक है । इसीलिये भोजराज कहते हैं—**'धर्माणामुक्तलक्षणानां यः क्रमस्तस्य यत्प्रतिक्षणमन्यत्वं परिदृश्यमानं तत् परिणामस्योक्तलक्षणस्यान्यत्वे नानाविधत्वे हेतुर्लिङ्गं ज्ञापकं भवति**[1]। विज्ञानभिक्षु भी यही मानते हैं—**'एकस्य धर्मिणः परिणामनानात्वे क्रियाभेदो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः'**[2] ।। १५ ।।

(**भा० सि०**)—एकस्य धर्मिणः—एक धर्मी का । एक एव परिणामः—एक ही परिणाम होगा । इति प्रसक्ते—इस प्रसङ्ग के उपस्थित होने पर । क्रमान्यत्वम्—

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ६३ ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३१४ ।

क्रमाणां नानाविधत्वम्, परवर्ती धर्मों की अनेकरूपता ही। परिणामान्यत्वे— धर्मी के परिणामबहुत्व में। हेतुर्भवति इति—ज्ञापकं साधकं भवति, ज्ञापक या सिद्ध करने वाला होता है। तद्यथा—वह जैसे। चूर्णमृत्—पिसी हुई मिट्टी। पिण्डमृद्— सनी हुई ढेले के आकार की मिट्टी। घटमृत्—घटाकार मिट्टी। कपालमृत्—घट के टूटने पर खपड़ों के आकार की मिट्टी। कणमृत्—खपड़ों के टूटने पर कणों के रूप की मिट्टी। इति च क्रमः—मृत्तिका नामक धर्मी के ये विभिन्न क्रम या विकसित धर्म हैं। यो यस्य धर्मस्य—जो जिस धर्म का। समनन्तरो धर्मः—अव्यवहित परवर्ती धर्म होता है '**अव्यवहितपरवर्ती धर्मः**'—(यो० सि० च०)। सः—वह परवर्ती धर्म। तस्य—उस पूर्ववर्ती धर्म का। क्रमः—क्रमिक विकास या विकसित धर्म है। इस प्रकार से क्रम का अर्थ हुआ क्रमवाला, क्रम से बाद में आने वाला अर्थात् अव्यवहित परवर्ती। '**क्रमक्रमवतोरभेदमास्थाय स तस्य क्रम इत्युक्तम्**[1]।' इस क्रम की प्राप्ति को उदाहरणों के द्वारा समझाते हैं। पिण्डः प्रच्यवते—मृद्धर्मी का पिण्डाकार धर्म अपने स्वरूप से विचलित हो जाता है। घट उपजायते—और घटाकार धर्म आविर्भूत हो जाता है। इति धर्मपरिणामक्रमः—यह धर्म-परिणाम के विषय में पिण्ड का घटरूप क्रम है। इसी प्रकार सर्वत्र धर्म-परिणाम के विषय में पूर्वधर्म का क्रम परवर्ती धर्म समझना चाहिये।[2] लक्षणपरिणामक्रमः—लक्षणपरिणामक्रम बताया जा रहा है। घटस्य—घट का। अनागतभावाद्—अनागतलक्षण वाली स्थिति से। वर्तमानभावक्रमः—वर्तमानभाव एव क्रम इति तथोक्तः, वर्तमानलक्षण वाली स्थिति ही 'क्रम' है। तथा—उसी प्रकार। पिण्डस्य—पिण्ड का। वर्तमानभावाद्— वर्तमानकालिक स्थिति से। अतीतभावक्रमः—अतीतभाव एव क्रम इति तथोक्तः, अतीतकालिक स्थितिरूपी क्रम हुआ। यह ध्यान में रखना चाहिए कि धर्म के। अतीतस्य—अतीतलक्षण वाली स्थिति का। क्रमः—(परवर्ती लक्षण वाली स्थिति रूपी) कोई क्रम। नास्ति—नहीं हुआ करता। कस्मात्—क्यों? पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वम्—पहले पीछे का भाव होने पर ही अव्यवहित परिवर्तित्व होता है (और अव्यवहित परवर्ती को ही 'क्रम' माना गया है)। सा तु—और वह पूर्व का पश्चाद्भावित्व। अतीतस्य—अतीतलक्षण का कोई होता नहीं। तात्पर्य यह है कि किसी धर्म की अतीतकालिक स्थिति के पश्चात् उस धर्म की न तो वर्तमानकालिक स्थिति होती है और न अनागतकालिक स्थिति होती है। जैसे घट की अतीतलक्षण वाली स्थिति आ जाने के बाद न तो वह अतीत घट वर्तमान हो सकता है और न अनागत। यदि यह कहा जाय कि अतीत घट से प्राप्त मृत्तिका से

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३१५।

२. 'अव्यवहितपरवर्ती धर्मः पूर्वस्य क्रम इत्यर्थः।' —भा० पृ० ३१५।

फिर नया घट बन सकता है, इसलिये अतीत के बाद घट की अनागत और वर्तमान स्थिति तो हो जाती है, फिर क्यों अतीत के बाद 'क्रम' का स्वीकार नहीं किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि यह नया घट पहले वाला घट नामक धर्म नहीं है। यह घट तो मृद्धर्मी के पहले 'घट' धर्म से बिल्कुल भिन्न दूसरा 'घट' धर्म है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अतीतलक्षण का परवर्तीलक्षण अर्थात् 'क्रम' नहीं होता। इस प्रकार यह भी निश्चित हुआ कि। द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः—अनागत और वर्तमान इन्हीं दो लक्षणों के क्रमशः वर्तमान एवं अतीतलक्षण 'क्रम' होते हैं।

तथा—उसी प्रकार से। अवस्थापरिणामक्रमोऽपि—अवस्था परिणामों में भी क्रम होते हैं। अभिनवस्य घटस्य—नये बने हुए घट के। प्रान्ते—किसी एक अंश में। पुराणता—पुरानापन। दृश्यते—दिखायी पड़ता है। सा च—और वह पुराणता। क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेण—क्षणों के प्रवाह के अनुवर्ती क्रम के द्वारा। अभिव्यज्यमाना—अभिव्यक्त होती हुई अर्थात् अधिक स्पष्ट प्रकट होती हुई। परां व्यक्तिमापद्यते—उत्कृष्ट कोटि की अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है अर्थात् बिल्कुल स्फुट हो जाती है। इति—इसलिये। धर्मलक्षणाभ्याञ्च विशिष्टः—धर्म और लक्षण परिणामों से अतिरिक्त। अयं तृतीयः परिणामः—यह एक तीसरा (अवस्था नामक) परिणाम होता है। इति—यह सिद्ध होता है।

अब इन तीनों परिणामों के क्रमों के अलग-अलग वर्गीकरण और इनके एक रूप में कथन किये जाने का आधार बताते हैं। ते एते— वे ये क्रम अर्थात् अव्यवहित परवर्ती (धर्म, लक्षण और अवस्था-रूप भाव)। धर्मधर्मिभेदे सति—धर्म और धर्मी में भेद की अपेक्षा से। प्रतिलब्धस्वरूपाः—प्रतिलब्धानि स्वेषां रूपाणि यैः (क्रमैः) ते, अपने-अपने स्वरूप को प्राप्त होने वाले होते हैं। यदि धर्मधर्मी के भेद को दृष्टि में न रखा जाये, तब क्रम के तीन रूप लब्धास्तित्व नहीं होते। तब 'क्रम' किस रूप का भासित होता है ? इसका उत्तर यह है कि चूँकि वस्तुतः एक 'धर्मिपरिणाम' ही होता है, अतः उस धर्मिपरिणाम की अपेक्षा से क्रम भी एक ही रूप का होता है। इसे बताने का उपक्रम भाष्यकार कर रहे हैं। धर्म और धर्मी बिल्कुल अलग वस्तुएँ नहीं हैं। धर्मोऽपि धर्मी भवति अन्यधर्मापेक्षया—क्योंकि धर्म भी (स्वगत) अन्य धर्मों की अपेक्षा से धर्मी कहा जाता है। इति—इस कारण से। यदा तु—जब। परमार्थतः—वास्तविक दृष्टि से देखे गये वस्तुसत्। धर्मिणि—धर्मी में (धर्मादि का)। अभेदोपचारः (क्रियते इति शेषः)—अभिन्नतया व्यवहारः, अभेदप्रकारक व्यवहार होता है, तब। तद् द्वारेण—उस अभेदोपचार के द्वारा। स एव—वह धर्मी ही। धर्मः—धर्म। अभिधीयते—कहा जाता है। तदा—उस समय। अयं क्रम एकत्वेनैव—यह क्रम अर्थात् धर्मिपरिणामक्रम एक ही प्रकार का, एक ही रूप में। प्रत्यवभासते—भासित होता है। भाष्य के इस वाक्य में आये हुए 'परमार्थतः धर्मी' पद का वाचस्पतिमिश्र और

विज्ञानभिक्षु आदि प्रायः सभी टीकाकारों ने मूलधर्मी अर्थात् 'प्रकृतितत्त्व' अर्थ किया है। किन्तु उपक्रम और उपसंहार का अनुशीलन करने से पता चलता है कि भाष्यकार का मन्तव्य यहाँ पर 'धर्मिमात्र' से है, केवल 'प्रकृति' नामक धर्मी से नहीं। इस तथ्य को सिद्ध करने में अधोलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—(१) इसी पाद के १३वें सूत्र के भाष्य में भी भेददृष्टि से माने गये त्रिविध परिणामों का कथन कर चुकने पर भाष्यकार ने धर्म-धर्मी के अभेद से एक ही परिणाम है, यह बताने के लिये कहा था—**'परमार्थस्तु एक एव परिणामः'**—इति। (२) प्रकृत अर्थ के प्रसङ्ग में जो कथन 'धर्मिमात्र' के लिये अभीष्ट है, वह केवल 'प्रकृति' नामक धर्मी में सीमित किये जाने पर अर्थन्यूनता की आपत्ति होती है। (३) सामान्य को बिना किसी प्रबल हेतु के विशेषरूप से गृहीत करना उस वस्तु के साथ अन्याय है।

प्रसङ्गतः 'चित्त' नामक धर्मी के धर्मों का परिगणन किया जा रहा है, क्योंकि योगशास्त्र में आद्योपान्त चित्त नामक धर्मी की अनल्प उपयोगिता है। चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्च अपरिदृष्टाश्च—चित्त के दो प्रकार के धर्म होते हैं—दृष्टिगोचर होने वाले और दृष्टिगोचर न होने वाले। तत्र—उनमें से। प्रत्ययात्मकाः—ज्ञानरूप या वृत्तिरूप धर्म। परिदृष्टाः—दृष्टिगोचर होने वाले धर्म होते हैं। वस्तुमात्रात्मकाः—और वस्तुभूत चित्त के ही रूप से भासित होने वाले धर्म। अपरिदृष्टाः—दृष्टिगोचर न होने वाले धर्म माने जाते हैं। ते च सप्तैव भवन्ति—और वे अपरिदृष्ट धर्म सात ही होते हैं। अनुमानेन—वे अनुमानप्रमाण से। प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः—(अनुमानप्रमाणेन) प्रापितः बोधितः ज्ञापितः वस्तुमात्रतया चित्तनामकवस्त्वाकारतया सद्भावः अस्तित्वं सत्त्वं येषां ते तथोक्ताः, वस्तुभूत चित्त के स्वरूप से जिनकी सत्ता अनुमानप्रमाण के द्वारा जानी जाती है, ऐसे दृष्टिगोचर न होने वाले ये सात धर्म अधोलिखित हैं। निरोधश्च धर्मश्च संस्कारश्च इति निरोधधर्मसंस्काराः—यहाँ पर इतरेतरद्वन्द्व समास है। इसमें चित्त के तीन धर्मों का कथन हुआ है—१. निरोध २. धर्म और ३. संस्कार। (४) परिणामः—चित्त के त्रिविध परिणाम। अथ—एतदनन्तर (५) जीवनम्—प्राणधारण करने का प्रयत्न। (६) चेष्टा—क्रिया, इन्द्रियों के माध्यम से चित्त के द्वारा स्वतः की गयी क्रियाएँ। (७) शक्तिश्च—चित्त की अनागतलक्षण-रूपिणी शक्तियाँ। ये सातों। चित्तस्य—चित्त के। दर्शनवर्जिताः—दृष्टिगोचर न होने वाले अर्थात् अपरिदृष्ट। धर्माः—धर्म हैं॥ १५॥

अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—

इसके बाद पाद-समाप्ति-पर्यन्त योग के सब अङ्गों का अनुष्ठान कर लेने वाले योगी के जिज्ञासित पदार्थों की जानकारी के लिये संयम (एकत्रकृत धारणा, ध्यान और समाधि) का विषय प्रस्तुत किया जा रहा है—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

तीनों परिणामों में संयम करने से (योगी को) अतीत तथा अनागत का साक्षात्कार होता है ॥ १६ ॥

धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम् । धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः । तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति ॥ १६ ॥

धर्म, लक्षण व अवस्था (इन तीनों) परिणामों में संयम करने से योगी को अतीत व अनागत का (साक्षात्कार रूप) ज्ञान होता है। एक ही आलम्बन में (किये गये) धारणा, ध्यान तथा समाधि—इन तीनों को 'संयम' कहा गया है। इस कारण साक्षात्कृत तीनों परिणाम उन (योगियों) में (ध्येयपदार्थों के) भूत और भविष्यत्काल की स्थितियों का साक्षात्काररूपी ज्ञान सम्पादित करते हैं (अर्थात् योगियों को त्रिविधपरिणामविषयक साक्षात्कार होने पर आप से आप ध्येयपदार्थों के समस्त अतीत और अनागत का साक्षात्कार हो जाता है) ॥ १६ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—अतः—'**अतः परमापादपरिसमाप्तेः**'।[१] उपात्तसर्वसाधनस्य—उपात्तानि, सम्यक् सम्पादितानि योगस्य सर्वसाधनानि योगाङ्गानि येन तस्य, आठों योगाङ्गों का अनुष्ठान ठीक से कर लेने वाले। योगिनः—योगी की। बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये—बोद्धुमिष्टः इति, बुध+सन्+क्तः प्र० ए०) बुभुत्सितश्चासौ अर्थश्चेति तथोक्तः तस्य प्रतिपत्तये बोधाय साक्षात्काराय, जिज्ञास्यमान पदार्थों की जानकारी के लिये।[२] संयमस्य—एक ही विषय में किये गये धारणा, ध्यान और समाधि के। विषयः—विषय अर्थात् आलम्बन (और तद्विषयक संयम की सिद्धि की सूचक विभूतियाँ)। उपक्षिप्यते—प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(**सू० सि०**)—परिणामानां त्रयम् इति परिणामत्रयं, तस्मिन् संयमः, तस्माद् इति परिणामत्रयसंयमात्—धर्म, लक्षण और अवस्था – इन तीनों परिणामों में संयम करने से। अतीतानागतज्ञानम्—अतीतश्च अनागतश्च इति अतीतानागते, तयोः ज्ञानम् इति तथोक्तम्, योगी को उन पदार्थों के अतीत व अनागत का साक्षात्कार हो जाता है। इस सूत्र में धर्म, लक्षण और अवस्था—ये तीनों परिणाम, संयम के आलम्बन बताये गये हैं। (उन पदार्थों के) अतीत और अनागत का साक्षात्कार होना—इस संयम से प्राप्त होने वाली विभूति है ॥ १६ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३१९।

२. 'बुभुत्सितानां योगिभिर्जिज्ञासितानामर्थानां साक्षात्काराय यमादिसाधनसम्पन्नस्य योगिनः संयमविषय उपक्षिप्यते।'—यो० वा० पृ० ३१९।

(भा० सि०)—धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु—किसी द्रव्य के धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम में। संयमाद्—संयम करने से। योगिनाम्—योगियों को। अतीतानागतज्ञानम्—अतीत और अनागत का साक्षात्कार। भवति—होता है। 'संयम' शब्द का अर्थ अगली पंक्ति में स्मरण कराया जा रहा है। एकत्र—एकस्मिन् विषये, एक ही आलम्बन में। धारणाध्यानसमाधित्रयम्—किये गये धारणा, ध्यान और समाधि नाम के तीनों योगाङ्गों को सम्मिलित रूप से। संयमः उक्तः—संयम कहा गया है। अब प्रश्न यह है कि जिस आलम्बन में संयम किया जाता है, उस विषय में साक्षात्कार का उदय होना तो स्वाभाविक एवं सर्वथा सङ्गत है, ध्येयविषय से भिन्न पदार्थों का साक्षात्कार विवेकज्ञान की स्थिति के पूर्व कैसे हो सकता है ? इसे सिद्ध किया जा रहा है।

तेन—तस्मात् इत्यर्थः, इस कारण से। साक्षात् क्रियमाणं परिणामत्रयम्—साक्षात् किये जाते हुए ये तीनों परिणाम। तेषु—उन योगियों में। अतीतानागतज्ञानम्—ध्येय पदार्थों के सम्पूर्ण अतीत और अनागत का साक्षात्कार। सम्पादयति—उत्पन्न करता है। पदार्थों के अतीत और अनागत रूप लक्षणपरिणाम के ही अर्न्तगत बताये गये हैं। इसलिये ध्येय पदार्थों के समस्त अतीतानागत का ज्ञान संयम के विषय से अतिरिक्त का साक्षात्कार नहीं है। इस प्रकार संयम और उसकी सिद्धिरूप अतीतानागत-साक्षात्कार के विषय भिन्न-भिन्न नहीं हुए। अतः किसी प्रकार की अस्वाभाविकता या असङ्गति की शङ्का सर्वथा निर्मूल है। वाचस्पतिमिश्र ने इस बात को सुस्पष्ट समझाया है—**'तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणं तेषु परिणामेष्वनुगते ये अतीतानागते तद्विषयं ज्ञानं सम्पादयति परिणामत्रयसाक्षात्करणमेव तदन्तर्भूतातीनागत-साक्षात्करणात्मकमिति विषयभेदः संयमसाक्षात्कारयोरित्यर्थः'**[1] ॥ १६ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्द, अर्थ और ज्ञानों के अन्योऽन्याध्यास के कारण सङ्कीर्णता रहती है (जबकि हैं तीनों वस्तुतः अलग-अलग) उनके अलगाव में सयंम करने से (योगी को) सभी जीवों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है ॥ १७ ॥

तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती। श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्। पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति। वर्णा एकसमयासम्भवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानः। ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते। वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारि-

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३१९-२०।

वर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः । पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इति । एवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति । तदेतेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य सङ्केत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषयमेकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णम् । बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं, परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्सं प्रतिपत्त्या प्रतीयते । तस्य सङ्केतबुद्धितः प्रविभागः । एतावतामेवंजातीयकोऽनुसंहार एतस्यार्थस्य वाचक इति ।

सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थः, योऽर्थः स शब्द इति । एवमितरेतराध्यासरूपः सङ्केतो भवतीति । एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्सङ्कीर्णाः—गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम् । य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित् । सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः । 'वृक्ष' इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति । तथा न ह्यसाधना क्रियास्तीति । तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपः । नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां[1] चैत्राग्नितण्डुलानामिति । दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते, 'जीवति' प्राणान्धारयति । तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं वा कारकवाचकं वा । अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति । तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः । तद्यथा—'श्वेतते प्रासाद' इति क्रियार्थः । 'श्वेतः प्रासाद' इति कारकार्थः शब्दः । क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च । कस्मात् ? सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः सङ्केत इति । यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः । स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः । एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः । एवं तत्प्रविभागसंयमाद्योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति ॥ १७ ॥

उनमें से—वाणी वर्णों के उच्चारण में ही कृतार्थ हो जाती है और कान ध्वनि के परिणत स्वरूपमात्र विषय वाला होता है और 'पद' नादानुसंहार

१. 'कर्तृकर्मकरणानाम्'—इति पाठान्तरम् ।

बुद्धि (वर्णैकत्वापादनबुद्धि) के द्वारा गृहीत किया जाने वाला (स्फोटरूप) होता है। 'वर्ण' एक ही क्षण में उत्पन्न न होने के कारण परस्पर असम्बद्ध स्वरूप वाले होते हैं। वे पदत्व का स्पर्श न करके (अर्थात् पद को उपस्थित न करके) ही उदित और शान्त हो जाते हैं। इसलिये (उनमें से) हर एक वर्ण अपदस्वरूप (ही) कहा जाता है। (यह तो वर्णों व पदों का भेद कहा गया)। फिर (दूसरी दृष्टि से) हर एक वर्ण पद रूप भी है (क्योंकि) सभी अर्थों के बोध कराने की योग्यता से युक्त होता है। अन्य सहकारी वर्णों से सम्बद्ध होने के कारण नानारूपता को प्राप्त हुआ-सा, बाद वाले (वर्ण) से पहले और पहले वाले (वर्ण) के बाद में विशेष (स्फोट) रूप में अवस्थित होता है। इस प्रकार क्रमानुसार प्रयुक्त होने वाले (आनुपूर्वी की अपेक्षा रखने वाले) अर्थगत संकेत से युक्त ये इतने (ही) समस्त अर्थों का बोध कराने की शक्ति से परिगत गकार, औकार और विसर्ग, सास्नादिमान् (गौ) पदार्थ को प्रकाशित करते हैं। अर्थसंकेत से युक्त तथा ध्वनिगत क्रम से रहित उन इन वर्णों की जो एक अभिव्यक्ति बुद्धि में होती है, वाच्यार्थ का वाचक वह (अखण्ड स्फोट रूप) तत्त्व 'पद' कहा जाता है। वह (स्फोटरूप) पद एक होता है, एक बुद्धि का विषय होता है, एक (ध्वन्यादि) प्रयत्न से सम्पादित हुआ करता है, अखण्ड होता है, क्रमरहित होता है, वर्णाकार नहीं होता, बुद्धिनिष्ठ होता है और अन्तिम वर्ण के ज्ञान के व्यापार से अभिव्यक्त होता है। दूसरों को बताने की इच्छा से (वक्ता द्वारा) बोले जाने वाले तथा श्रोताओं के द्वारा सुने जाने वाले वर्णों के द्वारा, अनादिकालीन वचोव्यवहार की वासना से वासित लोकबुद्धि के द्वारा सदृश व्यवहारपरम्परा के कारण नित्य के समान बन जाता है। इस (स्फोटरूप) पद की विषयव्यवस्था संकेतज्ञान से होती है। (जैसे) इतने वर्णों का इस रूप का मिलन इस अर्थ का वाचक (बोधक) है।

संकेत तो पदों और (उनके) अर्थों के बीच पारस्परिक अध्यारोप के रूप का तथा स्मृतिनिष्ठ स्वरूप वाला होता है। (इसी का स्पष्टीकरण किया जा रहा है।) जो यह शब्द है, वही यह अर्थ है और जो यह अर्थ है, वही शब्द है। इस प्रकार से अन्योन्यारोप के रूप का 'संकेत' होता है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान पारस्परिक आरोप के कारण मिश्रित (से) हो जाते हैं। जैसे—'गौः'—शब्द है, 'गौः' ही अर्थ है और 'गौः' ही ज्ञान है। जो इनके ठीक-ठीक भेद को जानने वाला है, वह सभी (जीवों की बोली) जानने वाला होता है। (जैसे—एक वर्ण सर्वाभिधान की शक्ति से युक्त होता है, वैसे ही) सभी पदों में वाक्य की (अर्थबोधकता वाली) शक्ति रहती है। जैसे—'वृक्ष' कहे जाने पर 'है' यह ज्ञात हो जाता है। (क्योंकि) कोई भी पदार्थ 'होने' का अपवाद नहीं है। उसी प्रकार बिना कारक के क्रिया नहीं होती। और वैसे ही 'पकाता है'—यह कहे जाने पर सभी कारकों का अध्याहार हो

जाता है। कर्ता, करण और कर्म रूपी (क्रमशः) चैत्र, अग्नि और चावल का कथन तो (अर्थ का) नियमन करने के लिये अनुवादमात्र है। पूरे वाक्य के लिये एक पद की रचना भी देखी जाती है, जैसे—'वेद का अध्ययन करता है' इस अर्थ में 'श्रोत्रिय' पद होता है और 'प्राणों को धारण करता है' इस अर्थ में 'जीवति' (यह पद) होता है। वहाँ वाक्य में ही पद के अर्थ का प्रकाशन होता है। इसलिये (वाक्यगत) पद की ठीक से व्युत्पत्ति करके (ही) व्याख्यान करना चाहिये कि (वह) क्रियाबोधक है अथवा कारकबोधक। नहीं तो 'भवति', 'अश्वः' और 'अजापयः' इत्यादि पदों में नाम और क्रिया दोनों की एकरूपता के कारण यह ज्ञात नहीं होता कि कैसे इनका व्याख्यान किया जाना चाहिये—क्रियारूप में अथवा कारकरूप में ? उन शब्दों, अर्थों और ज्ञानों की विषयव्यवस्था भी होती है। वह जैसे—'श्वेतते प्रासादः' (मकान सफेद हो रहा है), इस वाक्य में स्थित 'श्वेतते' पद क्रियार्थक है और 'श्वेतः प्रासादः' (मकान सफेद है), इस वाक्य में स्थित 'श्वेत' पद कारकार्थक है। इन दोनों पदों (श्वेतते और श्वेतः) अर्थ (क्रमशः) क्रियारूप और कारकरूप है। और ज्ञान भी क्रियारूप तथा कारकरूप होता है। (इन शब्दों, अर्थों और ज्ञानों का सङ्कर होने के कारण भेद करना चाहिये, यह जो कहा है—) वह क्यों ? इसलिये कि 'वह यही है'—इस प्रकार के इतरेतर अध्यारोप के कारण संकेतनिमित्तक एकाकार ही ज्ञान होता है। किन्तु जो 'श्वेत अर्थ' है, वह 'श्वेत शब्द' तथा 'श्वेत ज्ञान' का आलम्बन बनता है। वह अर्थ अपनी अवस्थाओं के द्वारा परिणत होता हुआ न तो शब्द के साथ (परिणत) होता है और न ज्ञान के साथ (परिणत) होता है। इसी प्रकार शब्द (भी) और इसी प्रकार ज्ञान (भी) एक-दूसरे के साथ-साथ (परिणत) नहीं होते। इसलिये सिद्ध हुआ कि (वस्तुतः) 'शब्द' अन्य प्रकार की वस्तु है, 'अर्थ' अन्य प्रकार की वस्तु है और 'ज्ञान' अन्य प्रकार की वस्तु है—यह (तीनों का) भेद है। इस प्रकार तीनों के भेद में संयम करने से योगी को सभी जीवों की बोली (के अर्थ) का ज्ञान हो जाता है॥ १७॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—शब्दार्थप्रत्ययानाम्—शब्द, (उस शब्द के) अर्थ तथा (उस अर्थ) ज्ञान के। इतरेतराध्यासात्—अन्योन्यारोप से अर्थात् संकेतरूप पारस्परिक अध्यारोप से। संकरः (भवतीति शेषः)—अविविक्तता[1], संकीर्णता अर्थात् मिश्रितता बनी रहती है। जबकि वस्तुतः ये तीनों चीजें एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं,

१. 'भिन्नानामपि बुद्ध्येकरूपता सम्पादनात्सङ्कीर्णत्वम्।'

—रा० मा० वृ० पृ० ६४।

जैसे—गकार, औकार और विसर्ग से बना हुआ 'गौः' यह 'शब्द' है। खुरविषाण तथा सास्नादिमान् चौपाया 'गाय' नामक जीव 'अर्थ' है। उस पशु के आकार से आकारित बुद्धि गौ का 'ज्ञान' है। सामान्य व्यवहार में इनका संकर हो जाता है। 'गौः' शब्द, 'गौः' अर्थ और 'गौः' ज्ञान—एकाकार जैसे प्रतीत होते हैं। तत्प्रविभागे—तेषां प्रविभागः तस्मिन्, उनके भेद में। **'तेषां प्रविभागे भेदे'**—(यो० वा०)। संयमाद्—किये गये संयम से। सर्वभूतरुतज्ञानम्—सर्वाणि च तानि भूतानि चेति सर्वभूतानि सर्वजीवाः पशुपक्षिसरीसृपादयः तेषां रुतानि शब्दाः तेषां ज्ञानं बोधः इति तथोक्तम्, सभी जीवों की बोली अर्थात् शब्दों के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। जैसे—कोई कौआ बोल रहा हो तो उसके बोलने का क्या अर्थ निकल रहा है—यह जानकारी हो जाती है। समस्त जीवों की बोली का ज्ञान होना एक असाधारण क्षमता है। इस असाधारण-क्षमतारूप विभूति या सिद्धि की प्राप्ति शब्दार्थज्ञान के भेद में संयम के सिद्ध होने पर होती है॥ १७॥

(भा० सि०)—सूत्र में कहे गये शब्द, अर्थ और प्रत्ययों का संकर तथा उनका वास्तविक प्रविभाग समझाने के लिये भाष्यकार सर्वप्रथम 'शब्द' के वास्तविक स्वरूप को निरूपित कर रहे हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि वाणी के द्वारा उच्चारित वर्णों का समूह ही शब्द है ? अथवा कान में सुनाई पड़ने वाली ध्वनि ही शब्द है। तत्र—इस विषय में। वाग्—वाणी। वर्णेषु एव अर्थवती—वर्णों का उच्चारण करने में ही कृतार्थ हो जाती है। वर्णोच्चारण में ही उसका प्रयोजन पूरा हो जाता है। कहने का आशय यह है कि वाणी अर्थों के बोधक 'शब्द' को उपस्थित नहीं करती।[1] इसलिये 'वर्ण' 'शब्द' नहीं हैं। और इसी प्रकार। श्रोत्रञ्च—कर्णेन्द्रिय भी। ध्वनि-परिणाममात्रविषयम्—ध्वनेः परिणामः ध्वनिपरिणामः, स एव विषयः यस्य तादृशम्, वाणी के द्वारा उच्चरित ध्वनि, वीचीतरङ्गन्याय से या कदम्बमुकुलन्याय से ध्वनि-जन्य ध्वन्यन्तर और फिर तज्जन्य ध्वन्यन्तर—इस क्रम से परिणत होती जाती है। इस रूप की जो ध्वनिजन्य ध्वनि कर्णेन्द्रिय में पहुँचती है, उसी को 'ध्वनिपरिणाम' कहा गया है। इसलिये कर्णेन्द्रियगत यह 'परिणतध्वनि' भी वाचक अर्थात् अर्थबोधक 'शब्द' नहीं है।[2]

---

१. 'वागिन्द्रियजन्यः शब्दः (ध्वनिः) वर्ण एव न तु शृङ्गादिशब्दो नापि वाचकं पदम् इत्यर्थः।'—यो० वा० पृ० ३२०।

२. 'ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियशङ्खादिष्वभिहतस्योदानवायोः परिणामभेदः, येन परिणामेनोदानवायुर्वक्तृदेहादुत्थाय शब्दधारां जनयन् श्रोतृश्रोत्रं प्राप्नोति तस्य ध्वनेः परिणामभूतं वर्णावर्णसाधारणं नादाख्यं शब्दसामान्यमेव श्रोत्रस्य विषयः न तु ध्वन्य-परिणामभूतं वाचकं पदमित्यर्थः।'—यो० वा० पृ० ३२४।

तब फिर वाचक शब्द अर्थात् पद क्या हैं ? कहाँ रहते हैं ? किस इन्द्रिय से गृहीत होते हैं ? इसका उत्तर दिया जा रहा है । पदं पुनः—पद तो अर्थात् अर्थबोधक शब्द तो । नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम्—नादानां वर्णात्मकध्वनीनाम् अनुसंहारः पश्चात्-कालिकैकत्वापादनं तस्य बुद्धिः तया निर्ग्राह्यं ग्रहणयोग्यम्, गकारौकारादि वर्ण ही नाद हैं । (ये पहले अलग-अलग प्रतीत होते हैं, किन्तु) बाद में एक रूप में (rolled in one) मिले हुये प्रतीत होते हैं । इन नादों अर्थात् वर्णों का एकत्व आपादित करने वाली बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाने योग्य होता है । यह गृहीत तत्त्व ही अखण्डपदस्फोट है । यही 'पद' है । अर्थ को स्फुट करने वाला होने के करण इसे 'स्फोट' कहते हैं । ये स्फोटरूप पद बुद्धिनिष्ठ होते हैं + ये न तो वाणी में रहते हैं और न कानों में । इनका ग्रहण न वागिन्द्रिय से हो सकता है और न कर्णेन्द्रिय से, प्रत्युत बुद्धि के द्वारा ही ये स्फोटरूप पद गृहीत होते हैं । इन पदों का ग्रहण करने वाली बुद्धि किस रूप की होती है ? नादानुसंहारकारिणी या वर्णैकत्वापादिका बुद्धि के द्वारा ही ये गृहीत होते हैं ।[१] इन स्फोटरूप पदों का वर्णों से भेद दिखाया जा रहा है । वर्णाः—गकारौकारादि वर्ण । एकसमयासम्भवित्वाद्—एक ही समय अर्थात् एक ही क्षण में, युगपदेव उत्पन्न और स्थित न हो सकने के कारण, **'पूर्वोत्तरकालक्रमेणोच्चार्यमाणत्वान्नैकसमयभाविना वर्णाः'** ।[२] ते—वे । परस्परनिरनुग्रहात्मानः—परस्पर एक-दूसरे के उपकार्य और उपकारक नहीं होते । इसलिये । पदम्—अर्थबोधकशब्दत्व को । असंस्पृश्य (अर्थात्) अनुपस्थाप्य—स्पर्श न करके अर्थात् पद को उपस्थित न करके । आविर्भूतास्तिरोभूताश्च—उत्पन्न और नष्ट होते जाते हैं । तात्पर्य यह है कि अर्थबोध कराने में असमर्थ रहते हैं । इसलिये वे, वाचकशब्द या पद नहीं कहे जा सकते । **'वर्णानां तु यौगपद्यासम्भवोऽतः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वायोगात् सम्भूयापि नार्थधियमाधत्ते'** ।[३]

किन्तु पदों और वर्णों में भेद होने पर भी इतना भेद नहीं है कि एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध ही न हो या फिर वर्णों की पदनिर्माण में आंशिक उपयोगिता भी न हो, इसलिये कहा जा रहा है । वर्णः पुनः एकैकः पदात्मा—फिर प्रत्येक वर्ण (एकश्च एकश्च इति एकैकः इति द्विरुक्तिः) पदात्मक या पदरूप भी होता है, **'पदानामुपादानभूतः'** ।[४] कैसे ? सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः—अर्थों का बोध कराने की सभी शक्तियों से युक्त होता है । सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्—अपने सहयोगी अन्य वर्णों के साथ सम्बन्धित

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३२४ ।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३२१ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३२१ ।

४. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३२२ ।

होने के कारण । जैसे—एक ही 'ग्' वर्ण, गौः, गौरम् और नगः इत्यादि में सहकारिभूत औ, तथा विसर्ग; औ, र्, अ तथा म्, और न् तथा अ एवं विसर्ग इत्यादि वर्णों के साथ सम्बन्धित होने के कारण अनेक रूपों में उपस्थित होता है। वैश्वरूप्यमिवापन्नः—अनेकरूपता-सी प्राप्त किये हुए, **'नानात्वमिवापन्नो न तु (वस्तुतः) नानात्वमापन्नः'**—(त० वै०) । पूर्वश्च—पहले स्थित वह वर्ण । उत्तरेण—परवर्ती वर्णान्तर के द्वारा और । उत्तरश्च—बाद में स्थित वही वर्ण । पूर्वेण—पहले स्थित सहकारिभूत वर्णान्तर के द्वारा । विशेषेऽवस्थापितः—यहाँ 'विशेष' का अर्थ लेना चाहिये 'पदस्फोट । **'विशेषे गोत्ववाचके गोपदस्फोटेऽवस्थापितः'**—(त० वै०) । **'विशेषे गौरिति स्फोटपदेऽखण्डे तादात्म्येनावस्थापितो भवति'**—(यो० वा०) । अखण्डपदस्फोट के रूप से भासित होता है । इति—इसीलिये । एवम्—इस प्रकार से । बहवो वर्णाः—बहुत से वर्ण । क्रमानुरोधिनः—(पूर्वोत्तर) क्रम की अपेक्षा रखते हुए । अर्थसंकेतेनावच्छिन्नाः—(स्फोटरूप पद से अभेद के कारण) अर्थविषयक संकेत से युक्त । इयन्ते—गम्यन्ते, जाने या माने जाते हैं । 'इयन्ते' पद को वा० मि० और वि० भि० आदि ने 'इयन्तः' समझकर अर्थ किया है, किन्तु इससे वाक्य के कर्तृत्व, कर्तृविशेषणत्व और क्रिया का पदान्वय आदि निश्चित करने में बड़ी खींचातानी करनी पड़ती है, अतः इसे √इण् धातु का कर्मणि लट् प्र० ब० का रूप मानना अधिक उपयुक्त लगता है । सर्वाभिधानशक्तिपरिवृताः—सब कुछ बोधित करने की शक्ति से सम्पन्न । एते—ये । गकारौकारविसर्जनीयाः—ग्, औ, और विसर्ग । सास्नादिमन्तमर्थम्—सास्नादिमान् अर्थ, अर्थात् 'गो जाति' नामक अर्थ को । द्योतयन्ति इति—प्रकाशित करते हैं । तद्—इसलिये । एतेषाम्—इन । अर्थसंकेतेनावच्छिन्नानाम्—अर्थ के संकेत से युक्त । तथा । उपसंहृतध्वनिक्रमाणाम्—उपसंहृतः समाप्तः ध्वनेः क्रमः आनुपूर्वीविशेषो येषां तेषां तथोक्तानां वर्णानाम्, समाप्त हुए ध्वनियों के क्रम वाले वर्णों का । य एको बुद्धिनिर्भासः—जो एक बुद्धिरूप निर्भासन है, जो एकाकारबुद्धि का प्रकाश है । **'बुद्धावेकत्वख्यातिः'** ।[1] तत्—वह । वाच्यस्य—अर्थ का । वाचकम्—बोधक । संकेत्यते—संकेतित किया जाता है, **'तस्मिन् संकेतोपदेशः'**—(यो० वा०), उपदिष्ट किया जाता है । इस प्रकार वस्तुतः यही बुद्धिनिष्ठ पदस्फोट ही वाचक 'पद' है । किन्तु व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभेद के कारण उन-उन विशेषणों वाले वर्णों को भी 'पद' कहने का प्रचलन है ।

(१) भोजराज ने सूत्रगत 'शब्द' पद की व्याख्या इस तरह की है—

'शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो नियतक्रमवर्णात्मा नियतैकार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः, यदि वा क्रमरहितः स्फोटात्मा ध्वनिसंस्कृतबुद्धिग्राह्यः' ।[2]

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३२३ ।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ६४ ।

(२) विज्ञानभिक्षु ने भाष्य का स्वारस्य 'स्फोट' पद मानने में ही समझा है, इसलिये वर्णों का पदत्व उनकी दृष्टि में अविवेकमात्र है—**'भाष्यकारस्तु वर्णानां पदत्वं निराकरोति'**।[1]

(३) वाचस्पतिमिश्र भी इसी निर्णय पर पहुँचते हैं—**'यतः पदात्मा विभक्तवर्णरूषितः प्रकाशतेऽतः स्थूलदर्शी लोको वर्णानिव पदमभिमन्यमानस्तानेव प्रकारभेदभाजोऽर्थभेदे सङ्केतयति'**।[2]

तदेकं पदम्—यह (स्फोटरूप) पद एक है। वर्णों की भाँति अनेक नहीं। एकबुद्धिविषयम्—(क्योंकि) एक ही बुद्धि का विषय बनता है। **'तदेकं पदं लोकबुद्ध्या प्रतीयते इति सम्बन्धः'**—(त० वै०)। स्फोटरूप पद के एकत्व में प्रमाण दिया जा रहा है। एकप्रयत्नाक्षिप्तम्—एकेनैव प्रयत्नेन आक्षिप्तं व्यञ्जितम्, ध्वन्यादि रूप एक ही प्रयत्न से व्यञ्जित या उत्थापित होने वाला। अभागम्—भाग या अंशों से रहित, अर्थात् अखण्ड। अक्रमम्—क्रमरहित अर्थात् एकाएक स्फुरित होने वाला। अवर्णम्—वर्णों से भिन्न। बौद्धम्—**'अनुसंहारबुद्धिविदितम्'**—(त० वै०), (बुद्धि + अण्—विदितार्थे) अर्थात् बुद्धिनिष्ठ या बुद्धिगत। अन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितम्—अन्तिम वर्ण के ज्ञानरूप व्यापार से व्यञ्जित या अभिव्यक्त होने वाला। परत्र प्रतिपिपादयिषया—अन्य व्यक्तियों को बताने की इच्छा से। अभिधीयमानैः—उच्चारित किये गये। श्रोतृभिः श्रूयमाणैश्च वर्णैः—और सुनने वालों के द्वारा सुने गये वर्णों के द्वारा। अनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या—अनादिकालिक बात करने और सुनने की वासना से अनुप्राणित लोगों की बुद्धि के द्वारा। सिद्धवत्—नित्य स्थित के समान। सम्प्रतिपत्त्या—सदृशव्यवहार चलने की परम्परा के कारण। प्रतीयते—अनुभूत होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्फोटरूप पद की प्रतीति, बोले तथा सुने गये वर्णों के द्वारा शाब्दबोध की वासना से वासित अन्तःकरण के द्वारा नित्यरूप से चलने वाली शब्दार्थव्यवहार-परम्परा के कारण होती है। यह 'पदस्फोट' अखण्ड, एक, अक्रम एवं बुद्धिगत होता है तथा वर्णों में से अन्तिम वर्ण की जानकारी या साफ-साफ सुनाई पड़ने के द्वारा अभिव्यञ्जित होता है।

सभी वाचकपद स्फोटरूप के सिद्ध हुये। इसलिये शङ्का उठती है कि जब स्फोटरूप सभी वाचकपद अखण्ड, अक्रम और वर्णों से भिन्न होते हैं, तो फिर कैसे पता चलता है कि अमुक पद 'गो' अर्थ का वाचक है और अमुक पद 'अश्व' अर्थ का। इस शङ्का का निराकरण करते हुये भाष्यकार कहते हैं। तस्य—उस पद (समूह)

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३२५।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३२७।

के । प्रविभागः—विषयों की अलग-अलग व्यवस्था, अर्थ के विभाजन का नियमन । संकेतबुद्धितः – संकेतज्ञान अर्थात् संकेतग्रह से होता है । जैसे । एतावताम्—इतने वर्णों का । एवञ्जातीयकोऽनुसंहारः—इस प्रकार का (व्यञ्जित) एकीभवन अर्थात् बुद्धिनिष्ठस्फोट । एतस्यार्थस्य वाचकः इति – इस अर्थ का वाचक है । **'तस्य पदस्य प्रविभागो विषयव्यवस्था सङ्केतग्रहादेव भवति प्रविभागमेवाह—एतावतामिति । एतावतां वर्णानामेवंजातीयक एवमानुपूर्वीकोऽनुसंहारो मिलनमेतस्यार्थस्य वाचक उपस्थापक इत्येवंरूपो विभाग इत्यर्थः'** ।[1]

यह 'संकेत' नामक पदार्थ क्या है ? इसका ग्रहण कैसे होता है ? इसके द्वारा कौन-सा व्यापार होता है ? अब यह बताया जा रहा है । संकेतस्तु—संकेत तो । पद-पदार्थयोः—पद और उसके अर्थ का । इतरेतराध्यासरूपः—अन्योऽन्यारोप के प्रकार का अर्थात् अभिन्नाकार । स्मृत्यात्मकः—तथा स्मृतिनिष्ठ होता है **'स्मृतावात्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः'**—(त० वै०) । 'संकेत' के कारण शब्द और अर्थ का जो संकर होता है, उसका स्वरूप दिया जा रहा है । योऽयं शब्दः—ये जो 'गौः' इत्यादि शब्द हैं । सोऽयमर्थः—वही ये 'गो जाति' इत्यादि अर्थ हैं । योऽर्थः—और जो 'गो जाति' इत्यादि अर्थ हैं । स शब्द इति—यही 'गौः' इत्यादि शब्द हैं । एवम्—इस रूप का । इतरेतराध्यासरूपः—पारस्परिक आरोप के रूप का । संकेतो भवति इति—'संकेत' होता है । एवम्—इस प्रकार से । एते शब्दार्थप्रत्ययाः—ये शब्द, अर्थ और ज्ञान । इतरेतराध्यासात्—अन्योऽन्यारोप के कारण । संकीर्णाः—अविविक्तता या मिश्रण को प्राप्त होते हैं ।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि 'संकेत' नामक अन्योऽन्याध्यास तो शब्द और अर्थ के ही बीच होता है । अर्थ और ज्ञान के बीच तथा शब्द और ज्ञान के बीच के इतरेतराध्यास को तो 'संकेत' कहा नहीं जाता । इसलिये सूत्रकार को तीनों के बीच के अध्यास को प्रकट करने के लिये 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्' का ही कथन करना पड़ा । 'संकेत' शब्द के प्रयोग से उनका काम नहीं चल सकता था । इसीलिये इस सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु कहते हैं—**'तत्र सङ्केतग्रह एव शब्दार्थयोरितरेतराध्यासः शब्दार्थयोस्तु प्रत्ययेन सहैकाकारत्वादन्योऽध्यासः प्रसिद्ध एवेति भावः'** ।[2] अब इन त्रिविध इतरेतराध्यासों का उदाहरण भाष्यकार दे रहे हैं । 'गौः' इति शब्दः—'गौः' यही शब्द है । गौरित्यर्थः—'गौः' यही अर्थ है । गौरिति ज्ञानम्—'गौः' यही ज्ञान है । यहाँ पर शब्द को, अर्थ को और ज्ञान को—अर्थात् तीनों को 'गौः' रूप ही माना गया है । जबकि ध्यान देने पर तीनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं, एक-रूप नहीं ।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३२७ ।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३२८ ।

'गौः शब्द' तो गकार, औकार और विसर्ग वर्णों के क्रमानुरोधी ध्वनि-समूह से व्यञ्जित बुद्धिनिष्ठ 'पदस्फोट' रूप ही होता है। इससे भिन्न सींग, पूँछ और सास्ना वाली पशुजातिगत 'गाय' ही 'गौः अर्थ' है। तथा इन दोनों से भिन्न गोत्वाकाराकारित हुई बुद्धिवृत्ति ही 'गो ज्ञान' है। शब्द, अर्थ और ज्ञान की इस विविक्तता या भिन्नता पर लोग प्रतिक्षण ध्यान नहीं दे पाते, फलतः उनकी बुद्धि में शब्द, अर्थ और ज्ञान—तीनों की संकीर्ण एवं अभिन्न प्रतीति होती है। यही इन तीनों का इतरेतराध्यासपूर्वक संकर है।

यः—जो व्यक्ति। एषाम्—इन शब्द, अर्थ और ज्ञान की। प्रविभागज्ञः—भिन्नतारूप विषयव्यवस्था को (संयम के द्वारा) ठीक-ठीक जानने वाला होता है। स सर्ववित्[1]—वह सर्वभूतरुतज्ञ अर्थात् सभी प्राणियों की बोली को जानने वाला होता है। अर्थ का बोध शब्द से होता है—यह तो ठीक है, किन्तु अभिप्रेत अर्थ का बोध होने के लिये वाक्यगत सभी शब्दों की अपेक्षा होती है। इसलिये वाक्यार्थ ही मुख्य या अभिप्रेत अर्थ होता है। फलतः सभी शब्द वाक्यार्थपरक होते हैं। **'वाक्यार्थपरा एव सर्वे शब्दाः तेन स एव ते।'**—(त० वै०)। अतः वाक्यार्थ ही शब्दों का वास्तविक अर्थ है। शब्दों के अलग-अलग अनन्वित अर्थ से वक्ता का अभिप्राय श्रोता की समझ में नहीं आ सकता। इस कारण वास्तविक वाचकता अनन्वित पदों में न मानी जाकर वाक्य में मानी जाती है। इसलिये वैयाकरणलोग 'पदस्फोट' की भाँति 'वाक्यस्फोट' भी मानते हैं और उसे ही मुख्य मानते हैं।

जिस प्रकार वर्ण, पदात्मा कहे गये हैं, उसी प्रकार पद भी वाक्यात्मक होते हैं—इसी बात को स्पष्ट किया जा रहा है। सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः—(वाक्यगत) सभी पदों में वाक्य की शक्ति होती है। वाक्यशक्तिः—क्रिया और कारकों के सम्बन्धबोधक पदों का प्रयोग 'वाक्य' है।[2] इसलिये इन भिन्न-भिन्न पदों के अर्थों के साथ अन्वित होकर एकार्थबोध कराने वाली शक्ति 'वाक्यशक्ति' कही जाती है। यह शक्ति पूरे वाक्य में रहती है। यह शक्ति इन पदों में अलग-अलग भी रहती हुई मानी जाती है। जैसे—पदशक्ति प्रत्येक वर्ण में भी रहती हुई मानी गई है और वर्ण को 'पदात्मा' तथा 'सर्वाभिधानशक्तिप्रचित' कहा गया है, वैसे ही प्रत्येक पद को भी 'वाक्यात्मा' और 'वाक्याभिधानशक्तिप्रचित' कहा जा सकता है। इसका उदाहरण भी दे रहे हैं। वृक्ष इत्युक्ते—केवल 'वृक्ष' कहे जाने पर। अस्तीति गम्यते—'है' का ज्ञान अध्याहृत कर लिया जाता है। **'अध्याहृतास्तिपदसहितं 'वृक्ष' इति पदं वाक्यार्थे**

---

१. 'सर्ववित् सर्वभूतरुतज्ञ इति'।—त० वै० पृ० ३२८।

२. 'वाक्यं क्रियाकारकसम्बन्धबोधकः पदप्रयोगः।'—भा० पृ० ३२।

वर्तत इति तद्भागत्वात् वृक्षपदं तत्र वर्तत इत्यर्थः' ।[1] इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अकेले एक वृक्षादि पद में भी वाक्यशक्ति रहती ही है। इस 'अस्ति' का अध्याहार क्यों होता है? इस आवश्यकता का हेतु बताते हैं। पदार्थः सत्तां न व्यभिचरति—कोई भी पदार्थ अपने 'होने' का अपलाप कभी नहीं कर सकता अर्थात् कोई पदार्थ कभी हो और कभी न हो, फिर भी पदार्थ बना रहे—ऐसा व्यभिचार पदार्थ की सत्ता के विषय में कभी नहीं हो सकता। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि **'यत्रान्यत्क्रियापदं नास्ति तत्रास्तिर्भवन्ति परः प्रयोक्तव्यः ।'**—(व्या० महा०)।

तथा—इसी प्रकार। क्रिया (अपि)—क्रिया भी। असाधना हि न अस्तीति—अविद्यमानानि साधनानि कारकाणि यस्याः सा 'असाधना' कारकहीना[2] न भवितुमर्हति, कोई भी क्रिया कारकरहित नहीं हो सकती। इसलिये जब किसी क्रियापद का ही उच्चारण किया जाये तो उसमें भी किसी न किसी कारक का अध्याहार होता है। इससे निश्चित हुआ कि अकेले एक क्रियापद में भी वाक्य-शक्ति माननी चाहिये।[3] तथा च—और इस तथ्य के पोषक दृष्टान्त ये हैं—'पचति' इति उक्ते—'पकाता है' यह कहे जाने पर। सर्वकारकाणाम्—सभी कारकों का। आक्षेपः—अध्याहार[4] होता है। प्रश्न उठ सकता है कि जब क्रियामात्र के कथन से कारकों का अनिवार्यतः अध्याहार हो ही जाता है, तो फिर वाक्य में कारकों का कथन करने की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह है कि। कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानाम्—कर्ता, करण और कर्मकारक के रूप में अवस्थित चैत्र, अग्नि और तण्डुल का। अनुवादः—फिर से कथन किया जाना, क्रियापद से ही अध्याहृत हो जाने पर भी पुनर्वचन। नियमार्थः—नियमन के प्रयोजन से ही होता है। नियमन का अर्थ होता है परिसीमित करना या अन्यव्यावर्तन करना। 'चैत्रः' पद का कथन करने से पचति-क्रिया का कारकत्व नहीं प्रकट होता; प्रत्युत चैत्र में कर्तृत्व का परिसीमन और मैत्रदेवदत्तादि के कर्तृत्व का व्यावर्तन हो जाता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि अकेले क्रियापद 'पचति' में भी 'चैत्रः अग्निना तण्डुलान् पचति'—जैसे बड़े वाक्य की-सी शक्ति रहती है।[5] अब पदों की वाक्यार्थकता का निर्वचन प्रारम्भ करते हैं। च—और।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३२८।

२. 'असाधना कारकहीना क्रिया नास्ति ।'—भा० पृ० ३२९।

३. 'तथानपेक्षमपि पदं वाक्यार्थे वर्तमानं दृश्यत इति सुतरामस्ति वाक्यशक्तिः पदानामिति ।'—त० वै० पृ० ३२९।

४. 'आक्षेपः—अध्याहारः स्यात् ।'—भा० पृ० ३२९।

५. 'पचतीत्यत्र चैत्रोऽग्निना तण्डुलान् पचतीति कारकपदक्रियापदसमस्ता वाक्यशक्तिस्तत्रास्तीत्यर्थः ।'—भा० पृ० ३२९।

वाक्यार्थे—वाक्य के अर्थ में अर्थात् वाक्य के अर्थ वाले । पदरचनम्—पदों की रचना, पदों की निर्मिति । दृष्टम्—देखी जाती है । यथा । श्रोत्रियः छन्दोऽधीते—वेदाध्ययन करता है, इस अर्थ में 'श्रोत्रिय' शब्द बनता है । आशय यह है कि 'श्रोत्रिय' पद का वही अर्थ है, जो 'वेदाध्ययन करता है'—इस वाक्य का । (छन्दस् + घन् कर्तरि) 'छन्दोऽधीते' इस पाणिनीय सूत्र से 'छन्दस्' शब्द में 'घन्' प्रत्यय लगा, और 'छन्दस्' को 'श्रोत्र' आदेश हुआ तथा 'घ' को 'इय्' आदेश होकर 'श्रोत्रिय' पद बनता है । इसी प्रकार 'जीवति' (जीता है)—इस पद का वही अर्थ है, जो 'प्राणान् धारयति'—(प्राणों को धारण करता है) इस वाक्य का । अब वाक्य की पदार्थकता का निरूपण किया जा रहा है । तत्र—वहाँ पर अर्थात् पद और वाक्य में से । वाक्ये—वाक्य में । पदार्थाभिव्यक्तिः—पद के अर्थ का प्रकाशन होता है । अकेले पद में उस अभिप्रेत अर्थ का स्पष्ट प्रकटीकरण नहीं होता । ततः—इस कारण से । पदम्—पद । विभज्य—विभाजन या व्युत्पादन करके । व्याकरणीयम्—व्याख्येयम्, व्याख्यान के योग्य होता है । पद का विभाजन करके ही उसका अर्थ निश्चित करना चाहिये ।[1]

अन्यथा—यदि ऐसा न करें तो । 'भवति', 'अश्वः', 'अजापयः'—इत्येवमादिषु—भवति, अश्व और अजापय—इत्यादि पदों में । नामाख्यातसारूप्याद्—संज्ञापद और क्रियापद की समानरूपता के कारण । अनिर्ज्ञातम्—यह अज्ञात ही रहता है कि । कथं—क्रियायां कारके वा—व्याक्रियेतेति—यह पद आखिर कैसे व्याख्यात किया जाय—क्रियारूप में अथवा कारकरूप में ? क्योंकि ये पद दोनों के रूप हो सकते हैं । कैसे ? (१) 'घटो भवति'—वाक्य में 'भवति' शब्द (√भू + लट् प्र० ए० के रूप में) प्रयुक्त है । यहाँ 'भवति' पद का अर्थ है 'होना', इसलिये यहाँ क्रियापद हुआ । और 'भवति ! भिक्षां देहि'—वाक्य में यह 'भवति' शब्द सम्बोधन में भवत् शब्द के एकवचन के रूप में प्रयुक्त है। यहाँ 'भवति' का अर्थ है 'आप' । अतः यहाँ पर संज्ञापद हुआ । (२) 'अश्वस्त्वम्'—वाक्य में 'अश्वः' पद 'साँस लिया' के अर्थ में (√श्वस् प्राणने धातुः + लुङ् मध्यमपुरुष एक० के रूप में) है, इसलिये यहाँ पर यह क्रियापद है । और 'अश्वो धावति' वाक्य में 'अश्वः' शब्द 'घोड़े' के अर्थ में (अश्व शब्द के प्र० ए० के रूप में) प्रयुक्त हुआ है । इसलिये यहाँ यह संज्ञापद हुआ । इसी प्रकार । (३) 'अजापयः शत्रून्' वाक्य में 'अजापयः' शब्द 'शत्रुओं को पराजित कराया' के अर्थ में (√जप् + णिच् + लङ् + मध्यमपुरुष एकवचन के रूप में) प्रयुक्त हुआ है । इसलिये यहाँ पर यह क्रियापद हुआ । और 'अजापयः पिब'—वाक्य में 'अजापयः' शब्द 'बकरी के दूध' के अर्थ में (अजायाः पयः द्वि० ए० के रूप में) प्रयुक्त हुआ है । इसलिये यहाँ यह संज्ञापद हुआ ।

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३२९ ।

वर्ण, पद और वाक्य—तीनों ही स्फोटरूप 'शब्द' के व्यञ्जक होते हैं। इसलिये व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के बीच अभेदोपचार से वर्ण, पद और वाक्य तीनों को 'शब्द' कहा जाता है। इन वर्ण, पद और वाक्य—रूप के शब्दों में भी परस्पर इतरेतराध्यास के कारण संकर होता है। साथ ही (त्रिविध) शब्दों, अर्थों और उनके ज्ञानों में भी परस्पर अध्यास के कारण संकर होता है। इन नानाविध इतरेतराध्यासों के बीच शब्द और अर्थ के बीच का इतरेतराध्यास, जो कि स्मृतिनिष्ठ होता है—'संकेत' कहा जाता है[1]। अवशिष्ट इतरेतराध्यासों के लिये कोई पारिभाषिक पद व्यवहार में प्रचलित नहीं है।

शब्दार्थज्ञानों के संकर का प्रदर्शन करके अब उनके वास्तविक भिन्नत्व का प्रदर्शन किया जा रहा है। तेषां शब्दार्थप्रत्ययानाम्—इन शब्द, अर्थ और ज्ञानों का। प्रविभागः—वास्तविक भिन्नत्व (होता) है। तद्यथा—वह जैसे (इस प्रकार से)। 'श्वेतते प्रासादः'—मकान सफेद हो रहा है। इति—इस वाक्य में आया हुआ 'श्वेतते' शब्द। क्रियार्थः—क्रियावाचक है। इसका अर्थ (श्वेत होने या सफेद होने रूप की) क्रिया है। और। 'श्वेतः प्रासादः'—सफेद मकान। इति—यहाँ पर आया हुआ 'श्वेतः' शब्द। कारकार्थः शब्दः—कारकवाची शब्द है अर्थात् इस अर्थ में (श्वेतगुण वाला) कारक (संज्ञा) है। इस प्रकार शब्दों का अवान्तरभिन्नत्व दिखाया गया। तदर्थः—उन दोनों शब्दों का अर्थ भी। क्रियाकारकात्मा—क्रियारूपी अर्थ और कारकभूत संज्ञारूपी अर्थ है। प्रत्ययः—इन अर्थों का ज्ञान भी। च—क्रियारूपाकार और संज्ञारूपाकार—दो अलग-अलग प्रकार का हुआ। इस प्रकार ज्ञान भी अलग-अलग तरह के हुये—'क्रियाकाराकारित ज्ञान' और 'संज्ञाकाराकारित ज्ञान'।

कस्मात्—इन शब्दार्थज्ञानों का प्रविभाग क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं कि यह शब्दार्थज्ञान का संकर तो संकेतनिमित्तक (आरोपमूलक) और भ्रान्तिजन्य है। (वास्तविक दृष्टि से तो वक्ष्यमाण रीति से इनका प्रविभाग ही सिद्ध होता है।) सोऽयम्—यह (शब्द या अर्थ) क्रमशः वही (अर्थ या शब्द) है। इति—इस प्रकार के। अभिसम्बन्धात्—अभेदसम्बन्ध की कल्पना से। संकेते—संकेत या इतरेतराध्यास नामक निमित्त से ही। एकाकारः प्रत्ययः—अभिन्नरूप से शब्द और अर्थ का ज्ञान होता है। यहाँ पर 'संकेते' में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति इसकी निमित्तता को ही प्रकट करती है। **'सङ्केतोपाधिरेकाकारप्रत्ययो न तु तात्त्विक इत्यर्थः सङ्केत इति सप्तम्या सङ्केतस्य निमित्तता दर्शिता।'**—(त० वै०)।

यस्तु श्वेतः अर्थः—किन्तु यह जो श्वेतवस्तु रूप का 'अर्थ' है। सः—वह। शब्दप्रत्यययोः आलम्बनीभूतः—वह तो अपने वाचक 'श्वेत' शब्द और अपने आकार से

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३२८।

आकारित 'श्वेताकार ज्ञान' का आलम्बन होता है। स हि—वह अर्थ। स्वाभिरवस्थाभिः—अपनी नूतनता और पुरानापन या छोटाई और बड़ाई या हल्कापन और गाढ़ापन इत्यादि अवस्थाओं के रूप से। विक्रियमाणः—परिणाम को प्राप्त होता हुआ। न शब्दसहगतः—न तो शब्द के साथ जाता है। न बुद्धिसहगतः—और न ज्ञान के साथ। तात्पर्य यह है कि वह 'अर्थ' अपने धर्मों, लक्षणों और अवस्थाओं के द्वारा जब परिणत होता रहता है, उस समय उसके वाचक शब्द और तदाकारित ज्ञान में अर्थगत परिणाम नहीं होते। उन शब्दों एवं ज्ञानों के परिणाम अर्थगतपरिणाम से अलग होते हैं। यहीं पर तीनों का अलग-अलग होना स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अर्थ की परिणामप्रक्रिया शब्दार्थज्ञानों के बीच आरोपित अभिन्नता की पोल खोल देती है। एवम्—इसी प्रकार से। शब्दः—शब्द भी। (अपनी अवस्थाओं के द्वारा परिणत होता हुआ अपने वाच्यार्थ और तदाकारित ज्ञान से भिन्न रूप में ही परिणत होता है)। एवम्—इसी प्रकार से। प्रत्ययः—ज्ञान भी (अपनी अवस्थाओं के द्वारा परिणत होता हुआ अपने आलम्बनीभूत अर्थ और तद्वाचक शब्द के रूप से नहीं परिणत होता)। नेतरेतरसहगतः—एक-दूसरे के साथ परिणत नहीं होता। इति—इसलिये सिद्ध होता है कि—

अन्यथा शब्दः, अन्यथा अर्थः, अन्यथा प्रत्ययः—'शब्द' अन्य प्रकार के पदार्थ हैं, 'अर्थ' (उनसे) अन्य प्रकार के पदार्थ हैं और 'ज्ञान' (उनसे) अन्य प्रकार के पदार्थ हैं। इति विभागः—इस प्रकार इन तीनों में वस्तुतः भिन्नता ही होती है। अब सूत्रार्थ का उपसंहार किया जा रहा है। एवम्—इस प्रकार। तत्प्रविभागसंयमाद्—तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः तत्र संयमाद्, इन शब्दार्थज्ञानों के वास्तविक भिन्नत्व में संयम करने से। योगिनः—योगी को। सर्वभूतरुतज्ञानम्—सर्वाणि च तानि भूतानि चेति सर्वभूतानि, तेषां रुतं शब्दः, तस्य ज्ञानं साक्षात्कारः, सभी जीवों की बोली का ज्ञान। सम्पद्यते—ठीक-ठीक हो जाता है। उन जीवों की बोली में भी शब्द, अर्थ और प्रत्यय होते हैं। इसलिये मनुष्य की बोली के शब्दार्थप्रत्ययों में संयम करने से जो साक्षात्कार उत्पन्न होता है, वह तज्जातीय समस्त जीवों के शब्दार्थज्ञानों का ज्ञान करा देता है। इसलिये इस 'संयम' से यह विभूति सिद्ध होती है। **'एवं प्रविभागसंयमाद् योगिनः सर्वेषां भूतानां पशुमृगसरीसृपवयःप्रभृतीनां यानि रुतानि तत्राप्यव्यक्तं पदं तदर्थः तत्प्रत्ययश्चेति। तदिह मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु कृतः संयमः समानजातीयतया तेष्वपि कृत एवेति तेषाम् एवं तदर्थभेदं तत्प्रत्ययं च योगी जानातीति सिद्धम्'**[1] ॥ १७ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३३२

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारों (में संयम करने) के (फलस्वरूप प्राप्त) साक्षात्कार से पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः। ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः। तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः। न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्। तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम्।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणात् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत्[1]। अथ भगवानावटचस्तनुधरस्तमुवाच—'दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमि'ति। भगवन्तमावटचं जैगीषव्य उवाच—'दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि।' भगवानावटच उवाच—'यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमि'ति। भगवाञ्जैगीषव्य उवाच—'विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तं कैवल्यापेक्षया[2] दुःखमेव। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः। त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति। दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः। तृष्णादुःखसन्तानापगमात्तु[3] प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥ १८ ॥

ये संस्कार निश्चय ही दो प्रकार के होते हैं— १. स्मृति और क्लेशों के हेतुभूत वासनारूप (संस्कार) और २. कर्मफलभोग के हेतुभूत धर्माधर्मरूप (कर्माशय संस्कार)। ये (दोनों प्रकार के संस्कार) पूर्वजन्मों में उपचित हुए रहते हैं। ये परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति तथा जीवन इत्यादि धर्मों की भाँति चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं। इन (संस्कारों) में (किया गया) संयम (इन) संस्कारों का साक्षात्कार कराने में सक्षम होता है। और इन संस्कारों का साक्षात्कार (इन संस्कारों के उपचयस्थलभूत पूर्वजन्मों के) देश, काल तथा निमित्त के अनुभवों

---

१. 'प्रादुरभूत्'—इति पाठान्तरम्।
२. 'कैवल्यसुखापेक्षया'—इति पाठान्तरम्।
३. 'तृष्णादुःखसन्तापापगमात्तु'—इति पाठान्तरम्।

से रहित नहीं होता । तो इस प्रकार संस्कारों का साक्षात्कार हो जाने से योगी को पूर्वजन्मों का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । दूसरे जीवों (के चित्तों) में भी इसी प्रकार से (उनमें स्थित) संस्कारों के (संयम के फलस्वरूप) साक्षात्कार होने से उन अन्य जीवों के जन्म का ज्ञान होता है ।

(इस तथ्य में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये आर्षसंवाद उदाहृत किया जा रहा है ।) इस प्रसङ्ग में यह कहानी सुनी जाती है—संस्कारों के साक्षात्कार होने से दश महाकल्पों में (प्राप्त) जन्मादि के परिणामक्रम को जानने वाले भगवान् जैगीषव्य को विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ था । (किसी समय) शरीरधारी भगवान् आवटच उनसे बोले—'दश महाकल्पों में उत्पन्न हो चुकने के कारण, (तथा) अनभिभूत सात्त्विक बुद्धिवाले, नारकीय तथा तिर्यक् योनियों में मिलने वाले दुःख का अनुभव कर चुकने वाले और फिर देवताओं एवं मनुष्यों (की योनियों) में बार-बार उत्पन्न होने वाले और अनभिभूत सात्त्विक बुद्धिवाले तुम्हारे द्वारा सुख और दुःख में से किसका अधिक अनुभव किया गया ?' भगवान् आवटच से जैगीषव्य बोले—'दश महाकल्पों में उत्पन्न हो चुकने के कारण, नरक और तिर्यग्योनि में मिलने वाले दुःखों का अनुभव कर-(चुक) ने वाले तथा देवताओं और मनुष्यों (की योनियों) में बार-बार उत्पन्न होने वाले, अनभिभूतबुद्धिसत्त्व वाले मेरे द्वारा जो कुछ (कटु) अनुभव किया गया, मैं उस सबको दुःख ही मानता हूँ ।' भगवान् आवटच फिर बोले—'यह जो चिरञ्जीव का (तुम्हारा) प्रकृतिजय और सन्तोष (रूप) अनुत्तम सुख है, क्या यह भी दुःख की ही कोटि में डाल दिया गया ?' भगवान् जैगीषव्य बोले—'विषयसुख की तुलना में ही सन्तोष को अनुत्तम सुखरूप कहा गया है । कैवल्य की अपेक्षा से तो (यह भी) दुःख (रूप) है । बुद्धिसत्त्व का यह धर्म (भी) त्रिगुणात्मक है और (कोई भी) त्रिगुणात्मक धर्म त्याज्य (दुःख की) कोटि में ही डाला जाता है । तृष्णातन्तु दुःख-स्वरूप होता है और तृष्णा (रूपी) दुःख की धारा के दूर हो जाने से तो यह (सन्तोषरूप) निर्मल, निर्बाध, सर्वप्रिय सुख कहा गया है । कैवल्य की दृष्टि से तो यह भी दुःख ही है ॥ १८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—संस्कारसाक्षात्करणाद्—संस्कारों का साक्षात्कार करने से । संस्कार कई प्रकार के होते हैं । ये सभी चित्त के अपरिदृष्ट परिणाम माने गये हैं । यहाँ पर किन संस्कारों के लिये कहा गया है ? इनमें से वासनारूप संस्कार और कर्माशयरूप संस्कार का साक्षात्कार करने से । पूर्वजातेः—पूर्वकालिक जन्मों का ज्ञान होता है । यह साक्षात्कार कैसे हो सकेगा ? इसका क्रम यह होता है कि इन संस्कारों में संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करने से संस्कारों का साक्षात्कार उदित

होता है और इस साक्षात्कार के फलस्वरूप योगी को अपने पूर्वजन्मों का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है। **'तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति एवं मया सोऽर्थोनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसन्दधानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेणोद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति'**[1] ॥ १८ ॥

(भा० सि०)—अमी संस्काराः खलु—ये सूत्रोक्त संस्कार निश्चित रूप से। द्वये—दो प्रकार के होते हैं। **'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा'** (पा० सू०)—के अनुसार यहाँ पर 'द्वि' शब्द में अवयववाची 'अयच्' प्रत्यय लगा है। यह शब्द भी सर्वनाम होता है। इसीलिये बहुवचन पुंल्लिङ्ग में इसका रूप 'द्वये' हुआ। (१) स्मृतिक्लेश-हेतवः वासनारूपाः—इन दो संस्कारों में से पहले प्रकार के संस्कार 'वासनारूप' के होते हैं और स्मृति तथा अविद्यादि क्लेशों को उत्पन्न करते हैं। इन संस्कारों के अतिरिक्त। (२) विपाकहेतवः धर्माधर्मरूपाः—धर्म और अधर्म रूप के संस्कार होते हैं, जो विपाकों अर्थात् जात्यायुर्भोगरूप के त्रिविध कर्मफलों के हेतु या उत्पादक होते हैं। ते—ये दोनों प्रकार के संस्कार। पूर्वभवाभिसंस्कृताः—पूर्वभवेषु पूर्वजन्मसु अभिसंस्कृताः 'निष्पादिताः' 'उपचिताः' इति तथोक्ताः, पूर्वजन्मों में बने हुये होते हैं। परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः—ये द्विविध संस्कार परि-णाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्म नामक चित्त के अदृश्य धर्मों की भाँति चित्त के अदृश्य धर्म हैं।[2] तेषु संयमः—इन संस्कारों में किया गया संयम। साक्षात्-क्रियायै—संस्कारों का साक्षात्कार करने में। समर्थः—समर्थ होता है। तात्पर्य यह है कि इन संस्कारों में संयम सुदृढ़ हो जाने पर इनका साक्षात्कार सिद्ध होता है। अब चूँकि यह साक्षात्कार इन संस्कारों के बनने के स्थान, देश और कारणों का भी पूर्ण ज्ञान अवश्य कराता है, इसलिये इन संस्कारों के बनने के आधारभूत पूर्वकालिक जन्मों का ज्ञान इसी साक्षात्कार के द्वारा योगी को स्वतः हो जाता है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं। तेषाम्—उन संस्कारों के। देशकालनिमित्तानुभवैः—निर्मित होने के समय, स्थान और कारणों के ज्ञान के। विना—बिना। साक्षात्करणं च नास्ति—इनका साक्षात्कार नहीं होता। तदित्थम्—तो इस प्रकार से। संस्कार-साक्षात्करणात्—संस्कारों के साक्षात्कार से। योगिनः—योगी को। पूर्वजातिज्ञानम्—पूर्वजन्मों का ज्ञान। उत्पद्यते—उत्पन्न होता है। परत्रापि—अन्य प्राणियों के विषय में भी। एवमेव—इसी प्रकार से। संस्कारसाक्षात्करणात्—योगी को संस्कारों का साक्षात्कार होने से। परजातिसंवेदनम्—परेषां प्राणिनां जातयः जन्मानि तासां संवेदनं बोधः भवति इति शेषः, अन्य प्राणियों के पूर्वजन्मों का भी ज्ञान हो जाता है। संस्कारों का सानुबन्ध साक्षात्कार ही अविनाभावित्व के द्वारा पूर्वजन्मज्ञान को प्रस्तुत कर देता है।

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० १६५।

२. द्रष्टव्य; यही ग्रन्थ पृ० ३६९।

इस सम्बन्ध में अर्थात् पूर्वजन्मज्ञान के विषय में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये ऋषियों का एक आख्यान बताया जा रहा है। अत्र—इस विषय में। इदम् आख्यानम्—यह कथा। श्रूयते—सुनी जाती है। भगवतो जैगीषव्यस्य—भगवान् जैगीषव्य को। संस्कारसाक्षात्करणात्—संस्कारों का साक्षात्कार करने से। दशसु महासर्गेषु[१]—दश महासृष्टियों या महाकल्पों में। जिस प्रकार प्रलय और महाप्रलय होती हैं, उसी प्रकार सृष्टि और महासृष्टि भी। एक महासृष्टि और उसके महाप्रलय के बीच का काल 'महाकल्प' कहा जाता है। जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतः—जन्म तथा जीवन के बाल्ययौवनवार्धक्यादिरूप के परिणामों की परम्पराओं का साक्षात्कार करते हुए (जैगीषव्य) को। विवेकजं ज्ञानम्—सर्वविषयक, सर्वथा-विषयक तथा अक्रम विवेकजन्यज्ञान। प्रादुरभवत्—प्रादुर्भूत हुआ था। तात्पर्य यह है कि जैगीषव्य ने संस्कारसाक्षात्कार के द्वारा पूर्वजन्मज्ञान प्राप्त करते हुए, विवेकजज्ञान और उसके पश्चात् कैवल्य को प्राप्त किया था। विवेकख्याति और विवेकजज्ञान में अन्तर है। विवेकख्याति प्रकृति और पुरुष के अन्यत्व का सम्यग्बोध है। इससे विवेकजज्ञान रूप की सिद्धि होती है, जिसमें सभी वस्तुओं का पूर्णरूपेण एक साथ ज्ञान हो जाता है। विवेकख्याति के उपरान्त इस विवेकजज्ञान रूपी सिद्धि को योगी चाहे प्राप्त करे और चाहे न करे, विवेकख्यातिमात्र से ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है।[२]

अथ—एतदनन्तर किसी समय। भगवानावट्यः—आवट्य नामक महर्षि ने। तनुधरः—धरतीति धरः, पचाद्यच् तनोर्धरः इति तनुधरः, शरीरधारण करके अर्थात् निर्माणकायसम्पन्न होकर। तम्—जैगीषव्य से। उवाच—कहा। दशसु महासर्गेषु—दश महाकल्पों में। भव्यत्वात्—होने या स्थित रहने के कारण। अनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन—अनभिभूतं बुद्धिसत्त्वं चित्तसत्त्वं यस्यासौ तेन तथोक्तेन, रजस्तमस् के द्वारा जिसकी बुद्धि का सत्त्व अर्थात् सत्त्वबहुल चित्त कुप्रभावित नहीं हुआ, आक्रान्त नहीं हो गया, ऐसे उज्ज्वल चित्त वाले। नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता—(प्रारम्भिक जन्मों में) नरक अर्थात् नारकयोनियों और तिर्यग्गर्भ अर्थात् पशुपक्षि-सरीसृपादि तिर्यग्योनियों में मिलने वाले दुःखों का पूरा-पूरा अनुभव करने वाले तुम्हारे द्वारा। 'त्वया' के विशेषण रूप से यह पद भी समझा जाना चाहिये। और फिर बाद में। देवमनुष्येषु—देवयोनियों तथा मनुष्ययोनियों में। पुनः पुनः—बार-बार। उत्पद्यमानेन त्वया—उत्पन्न होने वाले तुम्हारे द्वारा। सुखदुःखयोः—सुख और दुःख

---

१. 'महाकल्पः—महासर्गः'—त० वै० पृ० ३३०।

२. 'प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति'—यो० सू० भा० ३।५५।

में। किम्—कौन। अधिकमुपलब्धम्—अधिक अनुभूत किया गया (सुख अथवा दुःख)? भगवन्तमावटचम्—भगवान् आवटच से। जैगीषव्य उवाच—जैगीषव्य बोले। दशसु महासर्गेषु भव्यत्वाद्—दश महाकल्पों में स्थित, रह चुकने के कारण। अनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया—प्रकाशमान बुद्धि वाले मेरे द्वारा। नरक-तिर्यग्भवदुःखं सम्पश्यता—नरक और तिर्यग्योनि में प्राप्त होने वाले दुःख का पूरा-पूरा अनुभव करने वाले (मेरे द्वारा)। इस 'अनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन' विशेषण का अभिप्राय यह है कि चूँकि जैगीषव्य को पूर्वजन्मों की स्मृति है, इसलिये उनकी बुद्धि पूर्वजन्मानुभवों के स्मरण करने के विषय में सर्वथा समर्थ है। उस पर रजस् या तमस् का पर्दा नहीं पड़ा है। इसलिये यह विशेषण रक्खा गया है। देवमनुष्येषु—देव और मनुष्यों में अर्थात् इन योनियों में। पुनः पुनः—बारम्बार। उत्पद्यमानेन—उत्पन्न होने वाले (मेरे द्वारा)। यत्किञ्चिद्—जो कुछ। अनुभूतम्—अनुभव किया गया। तत्सर्वम्—उस सबको। दुःखमेव—दुःख ही। प्रत्यवैमि—(प्रति + अव√ इण् + लट् उ० ए०) मन्ये, जाने, मानता या समझता हूँ। भगवानावटच उवाच—महर्षि आवटच ने फिर कहा। यदिदम्—यह जो। आयुष्मतः—चिरञ्जीविनस्तवेत्यर्थः, चिरञ्जीव का अर्थात् तुम्हारा। प्रधानवशित्वम्[1]—प्रधान या प्रकृति तत्त्व के ऊपर स्वामित्व है। अनुत्तमं च सन्तोषसुखम्—अविद्यमानम् उत्तमं यस्मात् तत् अनुत्तमं परमोत्कृष्टम् इति यावत्, 'सन्तोष' नामक सर्वश्रेष्ठ सुख है।[2]

आशय यह है कि हे जैगीषव्य! यह जो तुमको प्रधानजय और सन्तोषजन्य परमसुख प्राप्त है। किमिदमपि—क्या ये भी। दुःखपक्षे—दुःख की कोटि या श्रेणी में। निक्षिप्तम्—न्यस्तम्, तुम्हारे द्वारा डाल दिये गये, क्योंकि तुम यह कह रहे हो कि 'तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि।' इति—यह शङ्का आवटच ने जैगीषव्य के सामने रक्खी। भगवान् जैगीषव्य उवाच—महर्षि जैगीषव्य ने कहा। इदं सन्तोषसुखम्—यह सन्तोषजन्य सुख। विषयसुखापेक्षया एव अनुत्तमम् (सुखम्) उक्तम्—विषय-जन्य सुखों की तुलना में ही परमोत्कृष्ट सुख कहा गया है। कैवल्यसुखापेक्षया—कैवल्यमेव सुखमिति कैवल्यसुखं तस्यापेक्षया तुलनायाम्, कैवल्यरूपी परमानन्द की तुलना में तो। दुःखमेव—यह भी सरासर दुःख ही है।

यह (भी) दुःखरूप क्यों है? इसका हेतु जैगीषव्य स्वयं बता रहे हैं। बुद्धि-सत्त्वस्य अयं धर्मः—ये प्रकृतिजय और संतोषजन्यानुभव भी तो बुद्धि के ही धर्म हैं, बुद्धिनिष्ठ ही होते हैं और बुद्धि का धर्म होने के कारण। त्रिगुणः—त्रिगुणात्मक होते हैं। त्रिगुणश्च प्रत्ययः—और त्रिगुणात्मक ज्ञान (चाहे जैसा हो। हेयपक्षे

---

१. 'प्रकृतिजयः' भा० पृ० ३३४।

२. 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।'—यो० सू० २।४२।

न्यस्तः[1]—त्याज्यकोटि में डाल दिया गया है (शास्त्रकारों के द्वारा)। इस बात पर शङ्का यह होती है कि जब सन्तोषसुख भी दुःखरूप ही है तो फिर योगसूत्रकार का **'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः'**—यह कथन किस प्रकार सङ्गत है ? इसका उत्तर भी जैगीषव्य के ही वचन से दिया जा रहा है। तृष्णातन्तुः—यह तृष्णा का तागा अर्थात् कामनाओं का जाल। दुःखरूपः—दुःखस्वरूप होता है, सर्वथा दुःखमय है। सन्तोष होने पर तृष्णाओं का क्षय हो जाता है, अतः। तृष्णादुःखस्यापगमात्—तृष्णारूपी दुःख के दूर हो जाने से। इदम्—यह सन्तोषानुभव। प्रसन्नम्—निर्मल[2]। अबाधम्—निर्बाध या पीड़ारहित। सर्वानुकूलम्—सभी को प्रिय। सुखमुक्तम्—सुख कहा गया है ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

(दूसरों के चित्त पर संयम करने से) दूसरों के चित्त का (सविशेष) ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

(दूसरों के) चित्त में संयम करने से, (दूसरों के) चित्त के साक्षात्कार होने पर, उसके कारण दूसरों के चित्त का (सविशेष) ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब संयम से प्राप्त होने वाली चौथी सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है। प्रत्ययस्य—प्रतीयतेऽर्थोऽनेनेति प्रत्ययः चित्तं तस्य[3], प्रत्यय शब्द का अर्थ है 'चित्त' उस पर संयम करने से प्राप्त होने वाली विभूति इस सूत्र में बतायी गयी है। किन्तु किसके (अपने या पराये) चित्त पर संयम करने से ? सूत्रगत शब्दों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता। इस सम्बन्ध में टीकाकारों में बड़ा मतभेद है।

१. **'प्रत्ययस्य परचित्तमात्रस्य।'**—वाचस्पतिमिश्र और भोजराज के मत से यहाँ पर 'प्रत्यय' शब्द का अर्थ है दूसरों का 'चित्त'।

२. **'प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वकीयचित्तवृत्तेः संयमेन'**—विज्ञानभिक्षु के अनुसार 'प्रत्ययपद' से यहाँ पर 'रागादिमान् अपनी चित्तवृत्ति' ही अर्थ लेना चाहिये।

---

१. 'हेयपक्षे दुःखपक्षे न्यस्तो मधुविषसम्पृक्तान्नवदित्यर्थः। कैवल्यस्य च सुखत्वमात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपतयोक्तम्। 'सुखं दुःखसुखात्यय' इति मोक्षशास्त्रे परिभाषणात्।'
—यो० वा० पृ० ३३४।

२. 'प्रसन्नम्—निर्मलम्।'—भा० पृ० ३३४।

३. द्रष्टव्य; पा० र० पृ० ३३५।

३. **'प्रत्यये रक्तद्विष्टादिचित्तमात्रे संयमाद्'**—हरिहरानन्दारण्य के अनुसार राग-मय या द्वेषमय, किसी के भी (अपने या पराये) चित्त में किये गये संयम से।

यहाँ पर विज्ञानभिक्षु और हरिहरानन्द आरण्य का मत ठीक नहीं है, क्योंकि जिस चित्त पर संयम होगा, उसी चित्त का सविशेष ज्ञान होना सर्वथा समीचीन होगा। इसलिये 'प्रत्ययस्य' का अर्थ 'परचित्तस्य' ही करना चाहिए। यही मान्यता भाष्यानुकूल भी है, क्योंकि इस पाद के २०वें सूत्र के भाष्य में इस विभूति के सम्बन्ध में एक खास बात बताते हुए 'प्रत्यय' पद को 'परचित्त' के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है—**'रक्तं प्रत्ययं जानाति अमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति। परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूत-मिति।'** अन्यचित्तविषयक साक्षात्कार होने पर। परचित्तज्ञानम्—परेषां चित्तानि, तेषां ज्ञानं भवति, दूसरों के चित्तों का सविशेष ज्ञान हो जाता है॥ १९॥

(**भा० सि०**)—प्रत्यये—परप्रत्यये, दूसरों के चित्तों पर। संयमात्—संयम करने से। साक्षात्करणात्—उन चित्तों का साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कार से। ततः—उस साक्षात्कारोदय के फलस्वरूप। परचित्तज्ञानम् (भवतीति शेषः)—उन चित्तों का सविशेष ज्ञान होता है। अभिप्राय यह है कि दूसरों के चित्तों के सामान्य रूप पर संयम करने से उनके विशेष रूप का साक्षात्कार हो जाता है, जैसे कि उस चित्त का ज्ञानव्यापार रागात्मक है अथवा द्वेषात्मक। और उसमें रागादि गहरे हैं या हल्के हैं—इत्यादि॥ १९॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ २०॥

किन्तु वह (परचित्तज्ञान) आलम्बनसहित नहीं होता, उस (सालम्बन चित्त) के (योगी के संयम का) विषय न बनने के कारण॥ २०॥

रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति। परप्रत्यय-स्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतम्। परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्त-स्य आलम्बनीभूतमिति॥ २०॥

(पूर्वसूत्रोक्त सिद्धि से सम्पन्न योगी उस) अनुरक्त चित्त को तो जानता है, किन्तु वह अमुक आलम्बन में अनुरक्त है—यह नहीं जानता। (क्योंकि इस ज्ञाय-मान) दूसरे चित्त का जो आलम्बन है, वह (संयम करने वाले) योगी के चित्त के द्वारा विषय नहीं बनाया गया था। दूसरे का चित्तमात्र ही तो उस योगी के चित्त (के संयम) का विषय बना था॥ २०॥

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—इस सूत्र में परचित्तज्ञान की सीमा बतायी जा रही है। तत् च—और वह (परचित्त का) ज्ञान। सालम्बनं न—आलम्बनेन सहितं इति साल-

म्बनं न भवतीति शेषः, आलम्बनसहित नहीं होता। आशय यह है कि परचित्तसंयम की सिद्धि के फलस्वरूप परचित्त का जो सविशेष ज्ञान होता है, उसमें अन्य सारी विशेषताएँ तो ज्ञात हो जाती हैं, किन्तु उस चित्त का आलम्बन क्या है ? अर्थात् वह चित्त किस विषय में अनुरक्त, द्वेषी, प्रसन्न इत्यादि है ?—इस आलम्बनरूपी विशेष का ज्ञान नहीं होता। वह ज्ञायमान परचित्त रागमय है या क्रोधमय है; या कितना अधिक रागादिमय है—ये सारे विशेष तो परचित्तज्ञान होते समय ज्ञात हो जाते हैं। किन्तु उस परचित्त के इस राग-क्रोध आदि का आलम्बन या विषय क्या है ? कौन है ? इस विशेष का ज्ञान इस सिद्धि के द्वारा नहीं होता। इसका कारण सूत्र के उत्तरार्ध में ही बता दिया गया है। तस्य—परचित्तालम्बनस्य, उस परचित्त के आलम्बन के। अविषयीभूतत्वाद्—विषय न बनने के कारण।[1] तात्पर्य यह है कि यह 'परचित्तालम्बन' तो (संयम करने वाले) योगी के संयम का विषय बना ही नहीं, उसके संयम का विषय केवल 'परचित्त' ही बना था। इसलिये उस चित्त के ही विशेषों का साक्षात्कार, संयम की सिद्धि के रूप में होगा। तद्भिन्न पदार्थ का अर्थात् चित्त से बाहर स्थित उसके आलम्बनरूप किसी जड़ या चेतन का, जो पदार्थ संयम का विषय ही नहीं बना था, उसका ज्ञान तादृश संयम की सिद्धि के द्वारा नहीं हो सकता॥ २०॥

(भा० सि०)—एतत्सिद्धिप्राप्त योगी। प्रत्ययम्—परचित्तम्, संयम के विषयभूत दूसरे चित्त को। रक्तम्—रागात्मक तो। जानाति—जान लेता है। किन्तु। अमुष्मिन्—उस विशेष अर्थात् अमुक व्यक्ति या पदार्थ रूपी। आलम्बने—आलम्बन में। रक्तमिति न जानाति—अनुरक्त है, यह नहीं जान पाता। इसका कारण यह है कि। परप्रत्ययस्य यदालम्बनम्—इस ज्ञायमान परचित्त के अनुरागादि का जो विषय है। तद्—वह व्यक्ति या पदार्थ। योगिचित्तेन—संयम करने वाले योगी के चित्त के द्वारा। नालम्बनीकृतम्—(सूत्रगत 'अविषयीभूतम्' पद का यह अर्थ है), संयम के आलम्बन या विषय के रूप में गृहीत नहीं किया गया था। परप्रत्ययमात्रं तु[2]—दूसरे का चित्तमात्र ही तो। योगिचित्तस्य—योगी के संयमशील चित्त का। आलम्बनीभूतम् इति—आलम्बन या विषय बना था॥ २०॥

---

१. 'तस्मात्परकीयचित्तं नाऽऽलम्बनसहितं गृह्यते, तस्यालम्बनस्याऽगृहीतत्वात्, चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव।' —रा० मा० वृ० पृ० ६६।

२. 'तस्मात्परप्रत्ययमात्रं योगिचित्तस्यालम्बनीभूतम्, न तु परचित्तस्यालम्बनमपीति तुशब्दार्थः।' —यो० वा० वृ० ३३५।

**कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-
प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥**

शरीर के रूप में (किये गये) संयम से उसकी (नेत्रों के द्वारा) गृहीत होने की शक्ति का प्रतिबन्ध हो जाने पर (अन्य लोगों की) नेत्रेन्द्रिय के प्रकाश से संयोग न होने पर (योगी के शरीर का) अन्तर्धान (सिद्ध) होता है ॥ २१ ॥

कायस्य रूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिबध्नाति । ग्राह्य-शक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

शरीर के रूप में (किये गये) संयम से शरीर के रूप की जो (नेत्रेन्द्रिय के द्वारा) देखी जा सकने वाली शक्ति है, उस (के व्यापार) को (योगी स्वेच्छा से) रोक देता है । (इस) देखे जा सकने की शक्ति के रुक जाने पर नेत्रों के प्रकाश से संयोग न होने पर योगी को 'अन्तर्द्धान' (उपस्थित होने पर भी न दिखायी पड़ना) नामक सिद्धि उत्पन्न होती है । इस (रूपान्तर्द्धान के निरूपण) से शब्दान्तर्द्धान इत्यादि को भी निरूपित हुआ जान लेना चाहिए ॥ २१ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—संयम से प्राप्त होने वाली पाँचवें प्रकार की सिद्धि का कथन किया जा रहा है । कायरूपसंयमात्—कायस्य रूपमिति कायरूपं तस्मिन् संयमस्तस्मात् (हेतौ पञ्चमी), शरीर के रूप में संयम करने से । तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे—तस्य (रूपस्य) ग्राह्यशक्तिः (ग्राह्यत्वप्रकारा शक्तिः) तस्याः स्तम्भे (प्रतिरोधे) प्रति-बन्धे सति, शरीर के रूप की देखे जा सकने की योग्यतारूपिणी शक्ति (का व्यापार) स्तम्भित या प्रतिरुद्ध हो जाने पर अर्थात् रुक जाने पर । रूप नेत्रेन्द्रिय से ही गृहीत होता है, अतएव रूपों में नेत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने या नेत्रेन्द्रिय का ग्राह्य बनने की योग्यता होती है । इस चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपिणी योग्यता या शक्ति का (योगी के सङ्कल्पमात्र से) स्तम्भन हो जाता है । जिसके फलस्वरूप उसके शरीर के रूप का अन्य लोगों के चाक्षुष आलोक से सम्पर्क ही नहीं हो पाता । चक्षुःप्रकाशा-सम्प्रयोगे—अन्य लोगों के नेत्रेन्द्रिय के प्रकाश की किरणों के साथ सम्पर्काभाव हो जाता है । इस प्रकार का सम्पर्काभाव हो जाने पर । **'ततश्च परचक्षुःप्रकाशैस्तत्किरणैरसंयोगेऽन्तर्द्धानमुत्पद्यते योगिनः, दिवान्धेनेव केनाप्यसौ न दृश्यत इत्यर्थः ।'**[1] अन्तर्द्धानम्—'अन्तर्द्धान' नामक सिद्धि प्राप्त होती है । योगी उपस्थित रहते हुए भी किसी को दिखाई नहीं पड़ता, लोगों की दृष्टि से ओझल रहता है । 'अन्तर्द्धान'

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३३६ ।

(अन्तर√धा+ल्युट् भावे) का शाब्दिक अर्थ होता है भीतर स्थित होना अर्थात् बाह्यदृष्टियों से गृहीत न होते हुए स्थित रहना ॥ २१ ॥

(भा० सि०)—कायरूपे—शरीरस्य रूपे । विज्ञानभिक्षु ने इसका अर्थ किया है 'स्वशरीरस्य रूपे'—अपने शरीर के रूप में । जबकि वाचस्पतिमिश्र और भोजराज इसका अर्थ 'शरीरमात्र के रूप में' करते है । यहाँ पर विज्ञानभिक्षु का अर्थ सिद्धि और साधन की एकविषयता की दृष्टि से अधिक सङ्गत प्रतीत होता है । संयमाद्—किये गये संयम से । रूपस्य या ग्राह्याशक्तिः—रूप की जो चक्षुर्गोचरता की योग्यता है । तां प्रतिबध्नाति—उसको (स्वसंकल्पमात्रेण—अपनी इच्छा से) स्तम्भित कर देता है, रोक देता है । कौन ? वही योगी । ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति—इस रूपनिष्ठ ग्राह्ययोग्यता के रुक जाने पर । चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे—अन्य लोगों के नेत्रेन्द्रिय के प्रकाश का सम्पर्क न होने पर । **'ततः परकीयचक्षुर्जनितेन प्रकाशेन ज्ञानेनासम्प्रयोगः चक्षुर्ज्ञानविषयत्वं योगिनः कायस्येति ।'**[1] योगिनः अन्तर्द्धानम् उत्पद्यते—योगी के शरीर की अचक्षुर्गोचरतारूप या अदृश्यतारूप की सिद्धि होती है ।

अब इस 'अन्तर्धान' रूप सिद्धि का अतिदेश किया जा रहा है । एतेन—सूत्रोक्तचक्षुर्गोचरताविषयक 'अन्तर्द्धान' नामक सिद्धि के निरूपण से । शब्दाद्यन्तर्धानम्—शब्दादिविषयक अन्तर्द्धान । जब वह चाहे तब उसका बोलना कोई न सुने शब्दान्तर्धान है । स्पर्शान्तर्धान के द्वारा कोई उसकी इच्छा के बिना उसका स्पर्श नहीं कर सकता । रसान्तर्धान के द्वारा उसके शरीर का स्वाद बिना उसकी इच्छा के कोई नहीं जान सकता । गन्धान्तर्धान से उसके शरीर की गन्ध का पता उसकी इच्छा के बिना किसी को नहीं चल सकता । इस प्रकार शब्दादि चारों के अन्तर्धान भी । उक्तम्—उपलक्षित हुए, कहे गये । वेदितव्यम्—जानने चाहिए । **'काये शब्दस्पर्शरसगन्धसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे श्रोत्रत्वग्रसनाघ्राणप्रकाशासम्प्रयोगे तदन्तर्धानमिति सूत्रमूहनीयम्'**[2] ॥२१॥

सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म, तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम होते हैं । उनमें (किये गये) संयम से मृत्यु का ज्ञान होता है । अरिष्टों से भी (मृत्यु का ज्ञान) होता है ॥ २२ ॥

आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्र यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा[3] कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सम्पिण्डितं

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३३६ ।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३३६ ।
३. 'ह्रसीयसा'—इति पाठान्तरम् ।

चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा चाऽग्निः[1] शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ [2]क्रमतोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं--सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्, अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्राध्यात्मिकं—घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधिभौतिकं—यमपुरुषान्पश्यति, पितॄनतीतानकस्मात्पश्यति। तथाधिदैविकं—स्वर्गमकस्मात्सिद्धान्वापश्यति, विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति॥ २२॥

आयुरूपी फल वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) सोपक्रम और (२) निरुपक्रम। उनमें से—जैसे फैलाया गया भीगा वस्त्र—अपेक्षाकृत कम समय में सूखे, जैसा सोपक्रम (कर्म) होता है। या जैसे—सूखे तिनकों के समूह में डाली गई तथा चारों ओर से हवायुक्त अग्नि बड़ी शीघ्रता से जला दे—वैसा सोपक्रम (कर्म) होता है। और जैसे वही अग्नि (गीले) तिनके के ढेर में क्रम से अवयवशः डाली जाने पर देर में जलाये, उस प्रकार का निरुपक्रम कर्म होता है। वह एकभविक आयुःफलक कर्म दो प्रकार का होता है—सोपक्रम और निरुपक्रम। उसमें (किये गये) संयम से अपरान्त अर्थात् मरण का ज्ञान होता है। (यह मरणज्ञान) अरिष्टों से भी होता है। अरिष्ट तीन तरह के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। इनमें से आध्यात्मिक (अरिष्ट यह) है—शरीर के अन्दर स्थित ध्वनि को कान बन्द किये हुए प्राणी नहीं सुनता या नेत्र बन्द किये जाने पर (चमकीले) प्रकाश को नहीं देखता। उसी प्रकार आधिभौतिक (अरिष्ट यह) है—यमदूतों को प्राणी देखता है या अकारण ही मरे हुए पितरों को देखता है। (आधिदैविक अरिष्ट यह) है—अकारण ही स्वर्ग को या सिद्धों को देखता है या सब कुछ उल्टा देखता है। इससे भी प्राणी जान जाता है कि मृत्यु आ गयी है॥२२॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब संयम से प्राप्त होने वाली छठवें प्रकार की सिद्धि का निरूपण किया जा रहा है। सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म—फलप्रदान करने के लिये (अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण) कार्योन्मुखता के आधार पर कर्मों के दो प्रकार माने गये हैं—(१) सोपक्रम कर्म और (२) निरुपक्रम कर्म। इन

---

१. 'वाग्नि'—इति पाठान्तरम्।

२. 'क्रमशो'—इति पाठान्तरम्।

में से सोपक्रम कर्म वह है, जो उपक्रम अर्थात् (फलदान करने की) तैयारी से सम्पन्न है। सह उपक्रमेण—वर्तमानम् इति सोपक्रमम्। तात्पर्य यह हुआ कि ऐसा कर्म, जो अपना फल देने में सर्वथा सक्रिय या सव्यापार है, वह 'सोपक्रम' हुआ।[1] स्वाभाविक है कि सक्रिय कर्म या सव्यापार कर्म तीव्र वेग से अपना फल देगा। इसके विपरीत निरुपक्रम कर्म होते हैं, जो फल तो अवश्य देते हैं, किन्तु फलप्रदान करने की तैयारी में ढीले होते हैं। तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध में निष्क्रिय रहते हैं और अनुकूल अवसर आने पर ही फल दे पाते हैं। इसलिये फल देने में मन्दवेग वाले होते हैं। निर्गतः उपक्रमः यस्मात्तन्निरुपक्रमम्[2]। इन कर्मों के सम्बन्ध में एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि भले ही ये निष्क्रिय हों, किन्तु निष्फल नहीं होते। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'—की उक्ति भारतीयदर्शन का अकाट्य सिद्धान्त है।

तत्संयमाद्—**'तस्मिन् कर्मणि धर्माधर्मयोः संयमाद्।'**—(त० वै०), इति तत्संयमाद्, उस द्विविध कर्म में किये गये संयम से (साक्षात्कारोदय होता है और उससे)। अपरान्तज्ञानम्—अपरश्चासावन्तश्चेति अपरान्तः मरणं मृत्युः। मृत्यु को 'अपरान्त' इसलिये कहा गया है कि पर अन्त तो महाप्रलय में होता है, जिसमें चिर-काल तक जीना बन्द रहता है, किन्तु इस लौकिक मरण में तो कर्मभोग के लिये शीघ्र ही जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार महाप्रलय की अपेक्षा से इस मरण को 'अपरान्त' कहा गया है।[3] तस्य ज्ञानमित्यपरान्तज्ञानम्, मृत्यु के (देश और काल) की जानकारी होती है। यह तो यौगिक सिद्धि की बात हुई। सूत्रकार प्रसङ्गतः यह भी बता रहे हैं कि इस प्रकार का मरणज्ञान। अरिष्टेभ्यो वा (भवतीति शेषः) अरिष्टों अर्थात् मरणसूचक चिह्नों से भी होता है। **'अरिवत् त्रासयन्तीति अरिष्टानि त्रिविधानि मरणचिह्नानि।'**—(त० वै०)। न विद्यमानं रिष्टम् (रिष्+क्तः भावे) शुभभावः यस्मिन् तत्तथोक्तम् अरिष्टम्, अशुभ या मृत्यु की सूचना देने वाले चिह्न 'अरिष्ट' कहे जाते हैं॥ २२॥

(**भा० सि०**)—आयुर्विपाकं कर्म—आयुः विपाकः यस्य तत् कर्म, आयु अर्थात् जीवनावधिरूपी फल देने वाले कर्म। द्विविधम्—दो प्रकार के होते हैं। सोपक्रमं

---

१. 'तदिदं सोपक्रमम्। उपक्रमः व्यापारस्तत्सहितमित्यर्थः······फलदानाय व्याप्रियमाणं कादाचित्कमन्दव्यापारं निरुपक्रमम्।'—त० वै० पृ० ३३६।

२. 'सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ·········निरुपक्रमञ्च मन्दवेगेन फलदातृ।'
—यो० वा० पृ० ३३६।

३. 'महाप्रलयमपेक्ष्यापरान्तो मरणम्।' —त० वै० पृ० ३३७।

निरुपक्रमञ्च—सोपक्रम अर्थात् तीव्र वेग से फल देने वाले कर्म और निरुपक्रम अर्थात् मन्दवेग से फल देने वाले कर्म। तत्र—उन दोनों में से। यथा—जिस प्रकार। आर्द्रवस्त्रम्—गीला कपड़ा। वितानितम्—(सदिति शेषः) प्रसारित किया गया हुआ, फैलाया हुआ। लघीयसा कालेन—थोड़े ही समय में, शीघ्रतर में (लघु + ईयसुन् तृ० ए०), शुष्येत्—सूख जाये, अर्थात् सूख जाता है। तथा—इस प्रकार का शीघ्र कार्य करने वाला। सोपक्रमम्—'सोपक्रम' कर्म होता है। यथा—और जिस प्रकार। तदेव—वही गीला कपड़ा। सम्पिण्डितम्—अप्रसारित रहता हुआ, नहीं फैलाया गया हुआ, सिकुड़ा पड़ा हुआ। चिरेण—देर में। संशुष्येत्—सूखे अर्थात् सूखता है। एवम्—इस प्रकार से, देर में फल देने वाला। निरुपक्रमम्—'निरुपक्रम' कर्म होता है। यथा च—और जिस प्रकार से। अग्निः—आग। शुष्के कक्षे—सूखे तिनकों में, **'कक्षः शुष्कतृणे प्रोक्तः'**—(धरणिकोशः)। मुक्तः—डाली गयी। और। वातेन—वायु से। समन्ततः—हर ओर से। युक्तः—प्रज्वलित अथवा उत्तेजित होकर। क्षेपीयसा कालेन—(क्षिप्र + ईयसुन् तृ० ए०), अतिशय शीघ्रता से, थोड़े ही समय में। दहेत्—जला दे अर्थात् जला देती है। तथा—वैसे ही शीघ्रतर फल-प्रद। सोपक्रमम्—'सोपक्रम' कर्म होता है। यथा वा—और जैसे। यहाँ पर 'वा' 'च' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। स एवाग्निः—वही आग। तृणराशौ—न सूखे हुए अर्थात् हरे तिनकों के समूह में। क्रमतः—बारी-बारी से। अवयवेषु—एक-एक भाग में। न्यस्तः—लगायी गयी हुई। चिरेण—देर में। दहेत्—जलाये अर्थात् जलाती है। तथा उसी प्रकार देर में अर्थात् धीरे-धीरे फल देनेवाला। निरुपक्रमम्—'निरुपक्रम' कर्म होता है। इस दृष्टान्त में भाष्यकार के द्वारा प्रयुक्त 'मुक्तः' और 'न्यस्तः'—अग्नि के इन दो विशेषणों का अन्तर, अर्थ को सर्वथा स्पष्ट कर देता है।

तद्—वह। ऐकभविकम्—अव्यवहित पूर्व एक जन्म की अवधि में किया गया कर्मसमूह। **'अव्यवहितपूर्वजन्मनि सञ्चितम्'**।[1] आयुष्करम्—आयुरूपी फल को देने वाला कर्म। द्विविधम्—दो प्रकार का होता है। सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च—सोपक्रम कर्म और निरुपक्रम कर्म। तत्संयमाद्—उस द्विविध कर्म में किये गये संयम से। अपरान्तस्य—अपरान्त की। अर्थात्। प्रायणस्य—प्रकर्षेण अयनं गमनं मरणमित्यर्थः, मरण या मृत्यु की। ज्ञानम्—जानकारी होती है। अब सूत्र में प्रसङ्गतः आये हुए 'अरिष्टेभ्यो वा' का व्याख्यान कर रहे हैं। त्रिविधम् अरिष्टम्—मरणसूचक चिह्न तीन प्रकार के होते हैं—(१) आध्यात्मिकम्, (२) आधिभौतिकम् (३) आधिदैविकञ्चेति। तत्र—इनमें से। आध्यात्मिकम्—आत्मनि इति सप्तमीविभक्त्यर्थ-

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३३७।

काधिपदस्य आत्मपदेन सह समासोऽव्ययीभावः 'अध्यात्मम्'—शरीर या बुद्धि में, तत्र भवम्—उसमें होने वाला इस अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय लगाकर 'आध्यात्मिकम्' शब्द बना—अर्थ हुआ शरीर या बुद्धि में होने वाला। **'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते'**।[1] इसी प्रकार आधिदैविकम् और आधिभौतिकम् इत्यादि पद भी बनते हैं।[2] इनमें **'अनुशतिकादीनाञ्च'** सूत्र से उभयपदवृद्धि हुई है। आध्यात्मिक अरिष्ट को स्पष्ट करते हैं। जब प्राणी। पिहितकर्णः—कान बन्द किये हुए। स्वदेहे—अपने शरीर के अन्दर सुनायी पड़ने वाले। घोषम्—शब्द या नाद को। न शृणोति—नहीं सुनता। वा—या। नेत्रेऽवष्टब्धे—नेत्र को बन्द करके दबाने पर। ज्योतिः—आन्तरिक प्रकाश या चमक को। न पश्यति—नहीं देखता। यह उसके मरण का सूचक शारीरिक चिह्न अर्थात् 'आध्यात्मिक' अरिष्ट है। तथा—उसी प्रकार। आधिभौतिकम्—भूतों अर्थात् अन्य प्राणियों या जीवों में रहने वाला अरिष्ट यह है—(जब) प्राणी। यमपुरुषान्—यमदूतों को। पश्यति—देखता है। या। अतीतान्—मरे हुए। पितॄन्—पितरों को। अकस्मात्—एकाएक, अचानक। पश्यति—देखता है। तो इस 'आधिभौतिक' अरिष्ट से उसका मरण सूचित होता है। आधिदैविकम्—देवताओं और सिद्धपुरुषों में रहने वाला, अर्थात् देवसिद्धादिनिमित्तक मरणचिह्न (यह) है—(जब प्राणी)। अकस्मात्—अचानक। स्वर्गम्—स्वर्ग को। सर्वं विपरीतं वा पश्यति—या सब कुछ उल्टा देखता है। **'विपरीतं वा सर्वं माहेन्द्रजालादिव्यतिरेकेण, ग्रामनगरादिस्वर्गनरकमभिमन्यते, मनुष्यलोकमेव देवलोकमिति'**।[3] यह आधिदैविक अरिष्ट से उसके मरण का सूचित होना है। अनेन—इस शब्द से 'त्रिविधमरिष्टम्' का परामर्श होता है, इसलिये अर्थ हुआ कि इन तीन प्रकार के अरिष्टों से। वा—भी। उपस्थितम्—आगतम्, आयी हुई। अपरान्तम्—मृत्यु को। जानाति—प्राणी जान लेता है। मृत्यु का देश-काल जानने में उपयोगी इन दोनों साधनों में से कर्मसंयम का साधन तो केवल योगी के लिये है और अरिष्टों का सबके लिये सुलभ है। दोनों के द्वारा प्राप्त अपरान्तज्ञान के स्वरूप में भी बहुत अन्तर है। साक्षात्कारद्वारा प्राप्त यह ज्ञान सर्वथा सुस्पष्ट, निश्चित एवं विस्तृत होता है, जबकि अरिष्टों से एक अस्पष्ट सूचनामात्र मिलती है[4] ॥ २२ ॥

---

१. द्रष्टव्य; वा० २८६९।

२. 'आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे'—अमरकोशः पृ० ७०।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३३८।

४. 'यद्यपि अयोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायेण तज्ज्ञानमुत्पद्यते तथापि तेषां सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिनां देशकालतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारीति भेदः।'

—रा० मा० वृ० पृ० ६८।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री इत्यादि में (किये गये संयम से मैत्री आदि सम्बन्धी) बल उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

मैत्रीकरुणामुदितेति तिस्रो भावनाः। तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते। भावनातः समाधिर्यः स संयमः। ततो बलान्यबन्ध्यवीर्याणि जायन्ते। पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ॥ २३ ॥

मैत्री, करुणा और मुदिता—ये तीन भावनाएँ हैं। इनमें से (योगी) सुखी जीवों के प्रति मैत्री की भावना करके (उसके फलस्वरूप) मैत्री-बल प्राप्त करता है। दुःखी जीवों के प्रति करुणा की भावना करके (उसके फलस्वरूप) करुणा-बल प्राप्त करता है। पुण्यात्मा लोगों के प्रति मुदिता की भावना करके (उसके फलस्वरूप) मुदिता-बल प्राप्त करता है। भावना (करने) से जो समाधि होती है, वही (धारणा, ध्यान का आक्षेप करने के कारण) 'संयम' है। उस (संयम) से दुर्धर्ष शक्ति वाले (मैत्र्यादि) बल उत्पन्न होते हैं। (प्रथमपाद के ३३वें सूत्र में बतायी गयी चार भावनाओं में से यहाँ न कही गयी) पापियों के प्रति की जाने वाली उपेक्षा (वस्त्वात्मक) भावना नहीं है, इसलिये उसमें (धारणाध्यानपूर्विका) समाधि नहीं होती है। इसलिये उसमें संयम (सम्भव) न होने के कारण 'उपेक्षा' से बल नहीं प्राप्त होता ॥ २३ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब संयम से प्राप्त सातवें प्रकार की सिद्धि बतायी जा रही है। मैत्र्यादिषु—मैत्री आदि तीन प्रकार की भावनाओं अर्थात् मनोवृत्तियों में पूर्वसूत्र से 'संयम' की अनुवृत्ति होती है। इसलिये अर्थ यह हुआ कि (किये गये संयम से)। बलानि—तत्तद्विषयक बल योगी को सिद्ध होते हैं। जैसे—मैत्री की भावना में संयम करने से मैत्री का बल, करुणा की भावना में संयम करने से करुणा का बल और मुदिता अर्थात् हर्ष की भावना में संयम करने से हर्ष का बल योगी को प्राप्त होता है। उपेक्षा नामक मनोवृत्ति एक अभावात्मक तथ्य है, भावात्मक पदार्थ नहीं है, इसलिये भाष्यकार की दृष्टि में उसमें न तो समाधि हो सकती है और न उसके फलस्वरूप कोई बल ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये सूत्रगत 'आदि' पद से करुणा और मुदिता इन्हीं दो भावनाओं का संग्रह करना चाहिए। इन तीन प्रकार के बलों

का क्या स्वरूप है ? यह भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है । इन मैत्री आदि से सम्बन्धित बलों की सिद्धि से योगी जिस किसी भी देवदनुजमनुजादि से मित्रता करना चाहे, भले ही वह विरोध रखता हो या उदासीन हो, वह जीव इस योगी का मित्र बन जायेगा । योगी के प्रति एक अपरिहार्य आकर्षण का अनुभव तत्तज्जीव को होगा और वह बँधा हुआ-सा या खिंचा हुआ-सा उसके निकट आकर उसका मित्र बनेगा । साथ ही इस मैत्रीबल के द्वारा परस्पर कलहायमान अन्य प्राणियों के बीच भी उसके संकल्प-मात्र से मैत्री हो जायेगी । **'स्वस्य परस्य वा परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्ननिरपेक्षो भवतीति यावत् एवं करुणादिष्वपि बोध्यम् ।'**—(यो० सि० च०) । इसी प्रकार करुणा और मुदिताबलों को भी समझना चाहिए । एक बात यहाँ और स्पष्टतः समझ लेनी चाहिए कि प्रथमपाद में ये भावनाएँ केवल भावित की जाने के लिये बतायी गयी थीं और चित्त को एकाग्र करने के उपाय के रूप में इनकी भावना करने का विनियोग बताया गया था । यहाँ पर (उपेक्षावर्जित) इन भावनाओं में किये गये 'संयम' का फल बताया जा रहा है । दोनों स्थलों पर अलग-अलग साधनाओं का विधान किया गया है और भिन्न-भिन्न फलादेश किये गये हैं ॥ २३ ॥

(भा० सि०)—'सूत्रगतमैत्र्यादिषु' पद का व्याख्यान भाष्यकार कर रहे हैं कि 'मैत्री, करुणा, मुदिता' इति तिस्रः भावनाः—ये तीन भावनाएँ होती हैं । तत्र—उन तीनों में से मैत्री नाम की भावना के विषय में बताया जा रहा है कि । सुखितेषु भूतेषु—सुखी जीवों के प्रति । मैत्रीं भावयित्वा—मैत्री की भावना करके (क्रमशः चित्तस्थैर्य और उससे धारणा, ध्यान तथा समाधि करके) । मैत्रीबलं लभते—मैत्री-विषयक बल योगी प्राप्त करता है । इसी प्रकार । दुःखितेषु—दुःखी जनों के प्रति । करुणां भावयित्वा—करुणा की भावना करके (क्रमशः चित्तस्थैर्य और उससे धारणा-ध्यान-समाधि करके) । करुणाबलं लभते—करुणाविषयक बल को योगी प्राप्त करता है । इसी प्रकार । पुण्यशीलेषु—पुण्य करने वाले प्राणियों के प्रति । मुदितां भाव-यित्वा—हर्ष की भावना करके (क्रमशः चित्तस्थैर्य और उससे धारणा-ध्यान-समाधि करके) । मुदिताबलं लभते—हर्षसम्बन्धी बल को योगी प्राप्त करता है । भावना करने से संयम की स्थिति आती है—इस तथ्य को भाष्यकार प्रकट कर रहे हैं । भावनातः[1]—भावना करने से । यः समाधिः—जो समाधि उत्पन्न होती है । स संयमः—वही 'संयम' है । कहने का तात्पर्य यह है कि तत्तत्प्रकार की भावना करने से चित्त प्रसन्न होकर स्थिति का लाभ करता है, इसलिये समाधि सिद्ध होती है । और चूँकि समाधि, धारणा-ध्यानपूर्वक होती है तथा कार्योत्पादन में समर्थ होने के

---

१. 'मैत्र्यादिभावनातस्तद्भावेषु स्वरूपशून्यमिव तत्तद्भावनिर्भासं ध्यानं यदा भवेत्तदा तत्र समाधिः स एव तत्र संयमः ।'—भा० पृ० ३३८ ।

कारण समाधि का ही प्राधान्य होता है, इसलिये उस समाधि की स्थिति से ही इसके पूर्ववर्ती धारणा और ध्यान की विद्यमानता का आक्षेप हो जाता है। इस प्रकार भावना करने से धारणा-ध्यान-समाधि की स्थिति आती जाती है और 'त्रयमेकत्र संयमः' लक्षण के अनुसार इसी को 'संयम' कहा जाता है। ततः—उस संयम से। अबन्ध्यवीर्याणि—अबन्ध्यम् अव्यर्थम् अमोघं वीर्यं शक्तिः येषां तानि तथोक्तानि, अचूक शक्ति वाले। बलानि—मैत्रीबल, करुणाबल और मुदिताबल। जायन्ते—प्रादुर्भवन्ति, योगी में आ जाते हैं।

यहाँ पर संयम के विषयों के बीच 'उपेक्षा' का ग्रहण नहीं किया गया। इसका हेतु दिया जा रहा है। पापशीलेषु—पापात्मक कार्य करने वाले पापी जीवों के प्रति बतायी गयी। उपेक्षा—मैत्र्यादिशून्यतारूपा उदासीनता। तु—तो। न भावना—भावना ही नहीं है, अभावरूपिणी है। उसमें भावना की ही नहीं जा सकती। **'न तु तस्यामभावरूपिण्यामुपेक्षायां प्रतियोगितत्त्वातिरिक्तः कश्चन विशेषोऽस्ति यस्य साक्षात्कारार्थं भावना स्याद्।'**[1] ततश्च—और इस कारण से। तस्याम् उपेक्षायाम्—उस उपेक्षा में। समाधिः—समाधि। नास्ति—नहीं होती, नहीं हो सकती। अतः—इसलिये। उपेक्षातः—उपेक्षा से (भावना, स्थिरता और समाधि के क्रम से (प्राप्त होने वाला)। बलं न—सिद्धिरूप कोई बल नहीं (प्राप्त) होता। तत्र संयमाभावाद्—उसमें संयम न हो सकने के कारण। इति—भाष्यान्तसूचक पद है॥ २३॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

(हाथी इत्यादि के) बलों में (किये गये) संयम से हाथी इत्यादि का बल (योगी को प्राप्त) होता है॥ २४॥

हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति। वैनतेयबले संयमाद् वैनतेयबलो भवति। वायुबले संयमाद् वायुबल इत्येवमादि॥ २४॥

हाथी के बल में (किये गये) संयम से (योगी) हाथी के बल वाला हो जाता है। गरुड़ के बल में (किये गये) संयम से (योगी) गरुड़ के बल वाला हो जाता है। (और) पवन के बल में (किये गये) संयम से (योगी) वायु के बल वाला हो जाता है। इसी प्रकार से और भी (समझ लेना चाहिए)॥ २४॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र के द्वारा संयमजन्य आठवें प्रकार की सिद्धि बतायी जा रही है। यहाँ भी 'संयम' की अनुवृत्ति चल रही है। बलेषु—हाथी आदि भिन्न-भिन्न जीवों के बलों में। किये गये संयम के फलस्वरूप। हस्तिबलादीनि—हस्तिबल, गरुड़बल, वायुबल आदि। भवन्ति (इति शेषः)—योगी में उत्पन्न हो जाते हैं॥ २४॥

---

[1] द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३३८।

(भा० सि०)—हस्तिबले संयमाद्—हाथी के बल में किये गये संयम से। योगी। हस्तिबलो भवति—हस्तिनः बलमिव बलं यस्यासौ तथोक्तस्सम्पद्यते, हाथी के सदृश बलवाला हो जाता है। वैनतेयबले संयमाद् वैनतेयबलो भवति—गरुड के बल में किये गये संयम से गरुड़ के सदृश बलवाला हो जाता है। और। वायुबले संयमाद् वायुबलः—वायु के बल में किये गये संयम से वायु के सदृश बलवाला हो जाता है। इत्येवमादि—इसी प्रकार और भी होता है अर्थात् सिंहादि के बलों में किये गये संयम के फलस्वरूप योगी सिंहादि के सदृश बल वाला हो जाता है। यह नहीं समझना चाहिए कि जिस जीव के बल में संयम किया जाता है, वह जीव बलरहित हो जाता है, प्रत्युत तत्सदृश बल योगी में अपने आप संयम की सिद्धि के रूप में आविर्भूत होता है ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

(ज्योतिष्मती) प्रवृत्ति के प्रकाश का (तत्तद् विषयों में) विन्यास करने से सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त तथा दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसः। तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

मन की ज्योतिष्मती (विशोका) प्रवृत्ति (प्रथमपाद के ३६वें सूत्र में) कही गयी है। उसका जो प्रकाश है—उसको योगी सूक्ष्म या व्यवधानयुक्त या दूरस्थ पदार्थ के ऊपर फेंककर उस अर्थ की जानकारी कर लेता है ॥ २५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में संयम की नवें प्रकार की सिद्धि बतायी जा रही है। 'विशोका ज्योतिष्मती'—नाम की प्रवृत्ति (प्रकृष्टा वृत्तिः) साक्षात्कार रूप की और ज्योतिस्वरूप होती है। इस प्रकाश का स्वरूप बताते हुए भाष्यकार ने यो० सू० १।३६ के भाष्य में कहा है, **'प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते।'** इस प्रवृत्ति का आलोक सूर्य की अथवा चन्द्रमा की अथवा ग्रहों की या मणियों की कान्ति के सदृश स्फुरित होता रहता है। प्रवृत्त्यालोकस्य—इस प्रवृत्ति के प्रकाश के। न्यासात्—तत्तद्विषयेषु वक्ष्यमाणेषु सूक्ष्मादिषु विन्यसनात्, सूक्ष्मादिक वस्तुओं के ऊपर, बुद्धि या अस्मिता के संयम से उदित प्रवृत्ति के प्रकाश को लगाने, उन्मुख करने से। सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्—सूक्ष्म वस्तुओं अर्थात् परमाणु आदि का, व्यवधानयुक्त अर्थात् दीवार इत्यादि से आवृत वस्तुओं का, तथा विप्रकृष्ट या दूरवर्ती वस्तुओं जैसे पर्वतशिखर पर स्थित और समुद्रतल इत्यादि में स्थित पदार्थों का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

(भा० सि०)—मनसः ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः उक्ता—मन की अर्थात् चित्त में उदित होने वाली 'विशोका ज्योतिष्मती' नामक साक्षात्काररूपिणी प्रवृत्ति समाधिपाद के ३६वें सूत्र में और उसके भाष्य में साङ्गोपाङ्ग कही जा चुकी है । तस्याः—उस प्रवृत्ति का । यः—जो । आलोकः—प्रकाश[1] **'तत्कालीनो यः सत्त्वप्रकाशः'**—(यो० वा०) । तम्—उस प्रकाश को । सूक्ष्मे वा—चाहे अत्यन्त छोटी वस्तु जैसे परमाणु इत्यादि में । व्यवहिते वा—या फिर व्यवहित वस्तु में, किसी अन्य अपारदर्शक पदार्थ से अन्तरित वस्तु को व्यवहित या अन्तरित कहते हैं । जैसे—भूमि के नीचे दबे हुए खजाने इत्यादि में । विप्रकृष्टे वा—या फिर दूरस्थ वस्तु में, जैसे—मेरु-पर्वत के ऊपर स्थित किसी पदार्थ में या समुद्र की तलहटी में पड़े हुए पदार्थ में । विन्यस्य—डालकर, अर्थात् ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक को उन-उन पदार्थों की ओर उन्मुख करके या केन्द्रित करके । तम् अर्थम्—उस प्रकाश से प्रकाशित हुए उस पदार्थ को । अधिगच्छति—जानाति, जान लेता है, उनका साक्षात्कार कर लेता है ।

सूत्रगत 'न्यासात्' शब्द का अर्थ भाष्यकार ने 'विन्यस्य' शब्द के द्वारा ही प्रकट किया है । इस 'प्रकाश के न्यास' से अनेक टीकाकारों ने 'संयम' अर्थ निकालने की चेष्टा की है । वाचस्पतिमिश्र ने **'संयमनं विन्यस्य'**—(त० वै०) कहा है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि इस आलोकविषयक 'संयम' को उन-उन वस्तुओं में न्यस्त करके । भोजराज कहते हैं—**'न्यासात्तद्वासितानां विषयाणां भावनात्'**—(भा०) । जिसका अर्थ यह हुआ कि उस आलोक से आलोकित हुए विषयों में संयम करने से तत्तद्वस्तु का ज्ञान होता है । इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र इस सिद्धि का हेतु 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक पर किये गये संयम' को मानते हैं । भोजराज की दृष्टि में इस सिद्धि का हेतु 'इस आलोक से आलोकित विषयों पर किया गया 'संयम' है । विज्ञानभिक्षु की मान्यता यह है कि ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के उदित हो जाने से ही यह सिद्धि हो जाती है । किसी अन्य संयम[2] की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का उदय ही बुद्धि और अस्मिता में से किसी एक पर किये गये संयम का फल है । किन्तु विज्ञानभिक्षु का मत इसलिये ठीक नहीं प्रतीत होता कि ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का उदय तो धारणा करने का फल बताया गया है,[3] ध्यान और समाधि का नहीं । इसलिये यह प्रवृत्त्युदय संयम की सिद्धि नहीं मानी जा सकती । इस सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र का ही मत सर्वश्रेष्ठ लगता है ॥ २५ ॥

---

१. 'योऽसावालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरः' ।—रा० मा० वृ० पृ० ६९ ।
२. 'अत्र न्यासमात्रवचनात्तेषु संयमापेक्षा नास्ति'—यो० वा० पृ० ३३९ ।
३. 'हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंविद्'—यो० सू० भा० १।३६ ।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमाद् ॥ २६ ॥

सूर्य में (किये गये) संयम से (समस्त) भुवनों का ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः। तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्याऽऽध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। तत्परः[1] स्वर्लोकः[2] पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः। चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

'ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥'

इति संग्रहश्लोकः। तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरव-कालसूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्ट-मायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते[3]। ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातल-पातालाख्यानि सप्त पातालानि। भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेम-मणिमयानि श्रृङ्गाणि। तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः। श्वेतः पूर्वः, स्वच्छः पश्चिमः, कुरुण्डकाभ[4] उत्तरः। दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः, यतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव विवर्तते।[5] तस्य नीलश्वेतश्रृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्रायामाः।

तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसाहस्रायामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं किम्पुरुषं भारतमिति। सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वा माल्यवत्सीमानः। प्रतीचीनाः केतुमाला गन्ध-मादनसीमानः। मध्ये वर्षमिलावृतम्। तदेतद्योजनशतसाहस्रं, सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्। स खल्वयं शतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः। ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुश-

---

१. 'कालमाक्षिप्य'—इति पाठान्तरम्।
२. 'कुरण्टकाभः'—इति पाठान्तरम्।
३. 'वर्तते'—इति पाठान्तरम्।
४. 'ततः परः'—इति पाठान्तरम्।
५. 'स्वर्गलोकः'—इति पाठान्तरम्।

क्रौञ्चशाल्मलमगधपुष्करद्वीपाः[1] सप्तसमुद्राश्च[2] सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः[3]। सप्तसमुद्रपरिवेष्टिताः वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः। तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति। तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति। सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः। सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि। सुधर्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा[4] विपरिवर्तन्ते। माहेन्द्रनिवासिनः षड् देवनिकायाः—त्रिदशाः, अग्निष्वात्ताः, याम्याः, तुषिताः, अपरिनिर्मितवशवर्तिनः, परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति।

ते सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः[5]। महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदाः, ऋभवः, प्रतर्दनाः, अञ्जनाभाः, प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः। प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायः—ब्रह्मपुरोहिताः, ब्रह्मकायिकाः, ब्रह्ममहाकायिकाः, अजरामरा इति। एते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः। द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः—आभास्वराः, महाभास्वराः, सत्यमहाभास्वरा इति। एते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः, सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः—अच्युताः, शुद्धनिवासाः, सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति। अकृतभवनन्यासाः[6] स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः। तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः। शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः।

---

१. 'गोमेध'—इति पाठान्तरम्।

२. 'समुद्राश्च'—इति पाठान्तरम्।

३. 'स्वादूदकसप्ते'ति—पाठान्तरम्।

४. 'दिवी'त्यधिकः पाठः कुत्रचित्।

५. 'परिचाराः'—इति पाठान्तरम्।

६. 'ते चाकृते'ति—पाठान्तरम्।

सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः। संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः। तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति[1]। त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः[2]। विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते, न लोकमध्ये न्यस्ता इति। एतद्योगिनां साक्षात्कर्त्तव्यं[3] सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा, ततोऽन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति॥ २६॥

उसका विस्तार (इस प्रकार) है। (कुल चौदह लोकों में से) सात लोक (ये) हैं—उनमें, अवीचि से लेकर मेरु पर्वत के ऊपरी धरातल तक (१) यह 'भूलोक' है। मेरु के उपरी धरातल से लेकर ध्रुव (तारा) तक ग्रहों, नक्षत्रों और तारों (के विद्यमान होने) से आश्चर्यमय (२) 'अन्तरिक्षलोक' है। उसके ऊपर पाँच प्रकार का (३) स्वर्गलोक है। (जिनमें) तीसरा लोक (३) 'इन्द्रलोक है। चौथा प्रजापति (४) 'महर्लोक' है। (फिर) ब्रह्मलोक तीन प्रकार का होता है (५) 'जनलोक' (६) 'तपोलोक' और (७) 'सत्यलोक'। (इस लोकसप्तक का संग्रह इस प्रकार किया गया है)—(जन, तप, सत्य—इन) तीन भागों वाला 'ब्रह्मलोक' है। उसके नीचे प्रजापति का 'महर्लोक' है। फिर (उसके नीचे) इन्द्र का 'स्वर्गलोक' कहा गया है। फिर (उसके नीचे) 'अन्तरिक्षलोक' में तारे रहते हैं और फिर (उसके नीचे) 'भूलोक' में प्रजाएँ हैं। यह (सात लोकों के वर्णन का) संग्रह करने वाला श्लोक है। (अब भूलोक के ही अंशभूत नरकों का प्रतिपादन किया जा रहा है–) उस (भूलोक) के अन्तर्गत अवीचि के ऊपर-ऊपर (क्रमशः) स्थित मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अन्धकार में प्रतिष्ठित, महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र नामक छह महानरकभूमियाँ हैं। जिनमें अपने कर्मों से अर्जित दुःख का भोग करने वाले प्राणी (ही) कष्टकारी तथा दीर्घ आयु प्राप्त करके उत्पन्न होते (अर्थात् पहुँचते) हैं। (यहाँ तक चौदह में से 'भू' आदि सात लोकों का वर्णन हुआ। अब अन्य सात लोकों का वर्णन किया जा रहा है–) उसके बाद (अर्थात् अवीचि के नीचे) महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नाम के सात 'पाताललोक' हैं। (इन सातों लोकों की अपेक्षा से) आठवीं यह 'वसुमती' नामक भूमि सात द्वीपवाली है, जिसके बीचों-बीच पर्वतों का राजा सुनहला 'सुमेरु' स्थित है। चाँदी, वैदूर्यमणि, स्फटिकमणि और सोने की बनी हुई उसकी चोटियाँ हैं। उस सुमेरु पर्वत के दक्षिण का आकाशभाग वैदूर्यमणि की कान्ति के सम्पर्क से नीलकमल की पंखुड़ियों के समान श्यामवर्ण का रहता है।

---

१. 'प्रतिष्ठन्ते'—इति पाठान्तरम्।

२. 'इति' इत्यधिकः पाठः कुत्रचित्।

३. 'योगिनां साक्षात्करणीयम्'—इति पाठान्तरम्।

पूर्व की ओर का आकाश का भाग सफेद रहता है। पश्चिम की ओर का आकाश का भाग निर्मल और उत्तर की ओर का आकाश का भाग कुरण्टक फूल की कान्ति-वाला (अर्थात् सुनहला) रहता है। इस (पर्वत के) दक्षिण भाग में जामुन का वृक्ष है, जिसके कारण (दक्षिणवर्ती) यह द्वीप 'जम्बूद्वीप' (कहा जाता) है। (उस सुमेरु के चारों ओर) सूर्य के चलने से रात और दिन उसमें लगे हुए से घूमते हैं। उस (सुमेरु) पर्वत के उत्तर की ओर स्थित नील, श्वेत और शृङ्गवान् नामक दो हजार योजन विस्तृत तीन पर्वत हैं। उन (पर्वतों) के बीच-बीच में नव-नव हजार योजन तक फैले हुए, रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरु नाम के तीन देश (स्थित) हैं। उस (सुमेरु पर्वत) के दक्षिण की ओर दो हजार योजन विस्तृत निषध, हेम-कूट और हिमालय पर्वत है। इनके बीच-बीच में नव-नव हजार योजन विस्तार वाले हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत नामक तीन देश हैं। सुमेरु के पूर्व की ओर स्थित, माल्यवान् पर्वत की सीमा वाला 'भद्राश्व' नामक देश है और पश्चिम की ओर स्थित गन्धमादन पर्वत की सीमा वाला 'केतुमाल' नामक देश है। सुमेरु पर्वत के ठीक नीचे) बीच में 'इलावृत' नामक एक देश है। (इस प्रकार) वह यह 'जम्बूद्वीप' सौसहस्र योजनों वाला हुआ। सुमेरु के चारों ओर की दिशाओं में इस (विस्तार) के आधे में सभी (पर्वत और देश) विद्यमान है। हाँ, तो यह 'जम्बू-द्वीप' सौसहस्र योजन विस्तार वाला है और इससे दोगुने विस्तार वाले (एवं) मण्डलाकार क्षारसमुद्र से घिरा हुआ है। उस (जम्बूद्वीप) से, दो-दो गुने विस्तार वाले (क्रमशः) शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाल्मलद्वीप, मगधद्वीप और पुष्कर-द्वीप हैं।

और (इन द्वीपों को घेरने वाले) सातों समुद्र सरसों के ढेर के समान तथा (किनारों पर स्थित) आश्चर्यजनक, शिरोभूषणरूप पर्वतों से युक्त तथा (क्षारजल के बजाय) ईख के रस, मदिरा, घृत, दही, माँड़ और दूध के समान स्वादिष्ट जल वाले हैं। (ये सातों द्वीप) सातों समुद्रों से घिरे हुए, कङ्कण के समान (गोले) आकार वाले, (समुद्र-तटों पर स्थित) 'लोकालोक' नामक पर्वत से परिवृत और पचास कोटि योजन परिमाण वाले हैं। इस प्रकार से सुव्यवस्थित भागों वाला यह सब भूमण्डल ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत संस्थापित है। (और) यह ब्रह्माण्ड, प्रकृति का (वैसा ही) एक क्षुद्र अंश है, जैसे आकाश में जुगनू। उनमें से पाताल, समुद्र और इन पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड और विनायक नामक देवगण रहते हैं। सभी द्वीपों में पुण्यात्मा देवता तथा मनुष्यलोग रहते हैं। सुमेरुपर्वत देवताओं की उद्यानभूमि है। वहाँ पर मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ और सुमानस—ये उपवन हैं,

सुधर्मा नाम की देवसभा, सुदर्शन नाम की नगरी और वैजयन्त नामक महल हैं। ग्रह, नक्षत्र और तारे ध्रुव में बँधे हुए (से), वायुविक्षेप के नियम से प्रकटित गति वाले, (होकर) सुमेरु के ऊपर-ऊपर संस्थित (रहकर) अन्तरिक्षलोक में भ्रमण करते रहते हैं। (तीसरे लोक अर्थात्) महेन्द्रलोक के निवासी छह प्रकार के देवताओं के वर्ग (ये) त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ती और परिनिर्मितवशवर्ती। वे सभी सिद्धसंकल्प, अणिमादि आठ ऐश्वर्यों से युक्त कल्पपर्यन्त जीने वाले, वृन्दारक कहे जाने वाले मैथुनप्रेमी, स्वतोनिर्मित शरीरधारी तथा उत्तम एवं मनोनुकूल अप्सराओं से सेवित रहते हैं।

(चौथे लोक अर्थात्) प्रजापतिवाले महर्लोक में पाँच प्रकार के देवताओं के समूह ये हैं—कुमुद, ऋषभ, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ। ये महाभूतों के स्वामी, ध्यानजन्य तृप्ति का आहार करनेवाले तथा एकसहस्रकल्पपर्यन्त जीने वाले होते हैं। (पाँचवें लोक अर्थात्) ब्रह्मा के प्रथमलोक (अर्थात् जनलोक में (रहने वाले) चार प्रकार के देवगण ये हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक एवं अमर। ये महाभूतों एवं इन्द्रियों के स्वामी एवं (क्रम से) दुगुनी-दुगुनी बढ़ी हुई (अर्थात् २००० कल्प, ४००० कल्प, ८००० कल्प और १६००० कल्प की) आयु वाले होते हैं। (छठवें लोक अर्थात्) ब्रह्मा के 'तपोलोक' नाम के दूसरे लोक में (रहने वाले) तीन प्रकार के देवताओं के समूह ये हैं—आभास्वर, महाभास्वर और सत्यमहाभास्वर। ये महाभूतों, इन्द्रियों और प्रकृति के स्वामी तथा (क्रमशः) दुगुनी-दुगुनी बढ़ी हुई (अर्थात् ३२००० कल्प, ६४००० कल्प और १२८००० कल्प की) आयु वाले होते हैं। ये सभी ध्यानजन्य तृप्ति का भोग करने वाले, उर्ध्ववीर्य उच्चस्तरीयाखण्ड ज्ञान वाले तथा निम्नस्तरीय ज्ञान के विषयों के भी ज्ञाता होते हैं। (सातवें लोक अर्थात्) ब्रह्मा के तीसरे 'सत्यलोक' नामक लोक में (रहने वाले) चार प्रकार के देवताओं के समूह ये हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञी। वे (किसी भी प्रकार के) भवनादिनिर्माण से रहित, अपने आप में स्थित, (क्रमशः) ऊपर-ऊपर विराजमान, प्रकृति के स्वामी तथा सृष्टिपर्यन्त आयुवाले होते हैं। उनमें से अच्युत नामक देवगण सवितर्कसमाधिजन्यसुखमग्न, शुद्धनिवास नामक देवगण सविचारसमाधिजन्यसुखमग्न, सत्याभ नामक देवगण आनन्दानुगतसमाधिजन्यसुखमग्न तथा संज्ञासंज्ञि नामक देवगण अस्मितानुगतसमाधिजन्यसुखमग्न रहते हैं। वे भी त्रैलोक्य के अन्तर्गत ही स्थित हैं। वे ये (भूर्लोकादि) सात लोक हैं। ये सभी 'ब्रह्मलोक' (कहे जाते) हैं। विदेह और प्रकृतिलीन तो मोक्षसदृश पद में स्थित रहते हैं, इसलिये लोक के अन्तर्गत नहीं गिने गये। यह समस्त भुवन योगी के द्वारा सूर्यद्वार में संयम करके साक्षात्कृत किया जाने योग्य है। उस (सूर्यद्वार) से

अन्य पदार्थों में भी (संयम करके इनका साक्षात्कार किया जा सकता है)। इस प्रकार (संयम का) तब तक अभ्यास करना चाहिए, जब तक यह सब देख न लिया जाय ॥ २६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में संयमजन्य दसवें प्रकार की सिद्धि बतायी गयी है। भुवनज्ञानम्—भुवनानां ज्ञानम् इति तथोक्तम्, अर्थात् सभी भुवनों का ज्ञान। योगी को। सूर्ये संयमाद् (भवतीति शेषः)—सूर्य में संयम करने से प्राप्त होता है। यहाँ पर संयम का विषय प्रकाशमय सूर्य है। सूत्रों का प्रकरण देखकर यही निश्चय होता है। किन्तु टीकाकारों ने इस सूर्य शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।

१. भाष्यकार के मत में इस संयम का विषय 'सूर्यद्वार' है—

'एतद्योगिना साक्षात्कर्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा'—(यो० भा०)।

२. वाचस्पतिमिश्र के अनुसार इस संयम का विषय 'सुषुम्णानाड़ी' है—

'सूर्य्यद्वारे सुषुम्नानाडयाम्'—(त० वै०)।

३. भोजराज इस संयम का विषय स्पष्टतः 'प्रकाशमानसूर्य' को ही स्वीकार करते हैं—

'सूर्य्ये प्रकाशमये यः संयमं करोति।'—(रा० मा० वृ०)।

४. विज्ञानभिक्षु भी 'सूर्य' शब्द का अर्थ 'प्रकाशमानसूर्य' नामक ग्रह ही मानते हैं और भाष्यकार के शब्दों के अनुरोध से सूर्य के द्वार अर्थात् सूर्यमण्डल के अग्रभाग को ही संयम का विषय मानते हैं—

'सूर्ये सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा योगिनैतद् भुवनं साक्षात्करणीयम्। अत्र योगशास्त्रान्तर-दर्शनेन द्वारशब्दः पूरितः (भाष्यकारेण) इत्युन्नीयते। सूर्यद्वारं च ब्रह्मणो लोकद्वार-भूतम्।'—(यो० वा०)।

५. भास्वतीकार भी 'सूर्य' शब्द का अर्थ 'सुषुम्णा का द्वार' ही मानते हैं—

'सूर्यद्वारे सुषुम्णाद्वारे'।[1]

६. नारायणतीर्थ ने दोनों मतों को एक प्रकार से मिला दिया है और सुषुम्णा को नाड़ी के अर्थ में न लेकर, सूर्य की एक किरण के नाम के रूप में माना है। फलतः इनकी दृष्टि में इस संयम का विषय अन्तरिक्ष में 'प्रकाशमान सूर्य' ही है—

'दिवि देदीप्यमानमार्तण्डे सुषुम्नादिसहस्ररश्मिमलिनि संयमात्।'[2]

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३०६।

२. द्रष्टव्य; यो० सि० च० पृ० १२३।

इस मतभेद से इस संयम का विषय दुरूह हो गया है। लगता है कि सूर्य और सूर्य के द्वार अर्थात् अग्रभाग का सुषुम्णा आदि के रूप में टीकाकारों द्वारा व्याख्यात होने में हठयोग का प्रभाव काम कर गया है। इसके पहले और बाद के सूत्रों को देखकर यही निर्णय लेना पड़ता है कि पतञ्जलि को यहाँ पर 'अन्तरिक्ष में चमकने वाला सूर्य' ही इस संयम के आलम्बन के रूप में अभिप्रेत है। इसके पहलेवाले सूत्रों में हस्तिबल इत्यादि योगीशरीर से बाहर स्थित पदार्थ संयम के विषय हैं।[1] ज्योतिष्मतीप्रवृत्ति के आलोक को योगीशरीर से बाहर स्थित सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों पर ही केन्द्रित किया जाता है।[2] प्रस्तुत सूत्र के बाद वाले सूत्रों में भी योगिशरीर से बाहर स्थित चन्द्रमा, ध्रुवतारा (२८वाँ सूत्र) इत्यादि पदार्थ ही संयम के विषय बताये गये हैं[3]। और २८वें सूत्र के भाष्य में तो भाष्यकार ने स्वयं स्पष्ट भी किया है कि **'ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयाद्।'**—(यो० भा०)। इसलिये यही संगत लगता है कि संयम का विषय यहाँ पर अन्तरिक्ष में प्रकाशित होने वाले 'सूर्य के मण्डल के अग्रभाग' को ही माना जाये। यही 'सूर्यद्वार' का वास्तविक अर्थ है और यही सूत्रानुकूल तथा भाष्यानुसारी व्याख्यान है॥ २६॥

(**भा० सि०**)—तेषां भुवनानां प्रस्तारः विस्तारः इति तत्प्रस्तारः—उन भुवनों का विस्तार बताया जा रहा है। कुल चौदह भुवन इस ब्रह्माण्ड में बताये गये हैं। उनमें से सात ऊपर के लोक हैं और सात नीचे के लोक। उनमें सर्वप्रथम ऊपर के सात लोक भाष्यकार के द्वारा कहे जा रहे हैं[4]। सप्तलोकाः—(ऊपर) सात लोक हैं। तत्र—उनमें से। अवीचेः प्रभृति—अवीचि[5] नामक सबसे निचले नरक से ले करके। मेरुपृष्ठं यावत्—सुमेरुपर्वत की ऊपरी सतह या धरातल तक। इत्येष भूर्लोकः—यह इतना भूलोक या पृथ्वीलोक है। मेरुपृष्ठादारभ्याऽऽध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः—मेरु पर्वत की ऊपरी सतह से लेकर ध्रुवतारा तक (सूर्यादि) अनेक ग्रहों, अश्विनी-भरणी आदि नक्षत्रों तथा अन्य अगणित तारों से संकुल और आश्चर्यजनक अन्तरिक्षलोक या भुवर्लोक है। तत्परः—उससे ऊपर। पञ्चविधः स्वर्गलोकः—पाँच प्रकार के स्वर्गलोक हैं। इन पाँचों को जब स्वर्गलोकत्व के कारण एक माना जाता है, तब कुल तीन लोक होते हैं और तभी त्रिलोकी और

---

१. द्रष्टव्य; यो० सू० ३।२४।

२. द्रष्टव्य; यो० सू० ३।२५।

३. द्रष्टव्य; यो० सू० ३।२६–२७।

४. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३४०।

५. 'अवीचिर्नाम नरकविशेषः।'—यो० वा० पृ० ३४०।

त्रैलोक्य की उक्ति संगत होती है।[1] जब अलग-अलग गिनते हैं, तो उक्त चतुर्दशभुवन होते हैं। इन पाँचों स्वर्गलोकों का अवान्तर भेद बता रहे हैं—

माहेन्द्रः—इन्द्र का लोक (स्वर्गलोकों में पहला और सातों लोकों के क्रम में) तीसरा लोक हुआ। इसी प्रकार। प्राजापत्यो महर्लोकः चतुर्थः—प्रजापति देवता का 'महर्लोक' नामक लोक चौथा लोक है। त्रिविधः ब्राह्मः तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति—जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक नामक तीन ब्राह्मलोक हैं (जो क्रमशः पाँचवें, छठवें और सातवें लोक हैं)। इन सातों लोकों के नाम नीचे की ओर के क्रम से इस संग्रहश्लोक में दिये गये हैं। ब्राह्मलोकः त्रिभूमिकः—(१) सत्यलोक, (२) तपोलोक और (३) जनलोक—इन तीन रूपों वाला 'ब्रह्मलोक' है। ततः—उसके नीचे, **'ततोऽधः'** (यो० वा०)। प्राजापत्यः महान् लोकः—प्रजापति देवता का (४) महर्लोक है। और उसके नीचे। माहेन्द्रः—इन्द्रदेवता का। स्वरित्युक्तः—'स्वर्गलोक' कहा गया है। उसके नीचे। दिवि—अन्तरिक्ष में तारों का (६) अन्तरिक्षलोक है। उसके नीचे। भुवि—और पृथ्वी में। प्रजाः—प्रजालोक अर्थात् मनुष्यादि प्रजाओं का (७) भूलोक है। तत्र···जायन्ते—अब पृथ्वी के नीचे तथा अवीचि नामक सबसे निचले नरक के बीच में स्थित नरकों का नामरूप वर्णित किया जा रहा है। ये सभी नरक भूलोक के ही अंश माने गये हैं[2], क्योंकि अवीचि से लेकर मेरुपृष्ठपर्यन्त भूलोक का ही विस्तार है। तत्र—इन सातों लोकों में प्रथम भूलोक में ही। उपरि-उपरि निविष्टः—(अवीचि के) ऊपर-ऊपर स्थित (अवीचि के अतिरिक्त)। षण्महानरकभूमयः—छह महानरकों के स्थान हैं। जो ऊपर से नीचे की ओर स्थित क्रमशः घनप्रतिष्ठा (नरकभूमि)—**'घनाः शिलाशकलादयः'**—(यो० वा०), कङ्कड़, पत्थर इत्यादि पार्थिव पदार्थों से बनी हुई 'महाकाल' नामक नरकभूमि हैं। सलिलप्रतिष्ठा (नरकभूमिः)—जल में प्रतिष्ठित, जलमयी नरकभूमि है। इसका नाम 'अम्बरीष' नरक है। अनलप्रतिष्ठा (नरकभूमिः)—आग में प्रतिष्ठित अर्थात् आग से भरी हुई 'रौरव' नामक नरकभूमि है। अनिलप्रतिष्ठा (नरकभूमिः)—अखण्ड, वायु में प्रतिष्ठित अर्थात् वायु से परिपूर्ण 'महारौरव' नामक नरक है। आकाशप्रतिष्ठा (नरकभूमिः)—आकाश में प्रतिष्ठित सर्वथा सुनसान 'कालसूत्र' नामक नरक है। तमःप्रतिष्ठा (नरकभूमिः)—अन्धकार में प्रतिष्ठित सर्वथा अन्धकारमयी महानरकभूमि का नाम 'अन्धतामिस्र' है। यत्र—जिन (अवीचि

---

१. 'एतेन त्रिलोकव्यवस्थापि दर्शिता, पञ्चानां सामान्यतः स्वर्लोकत्वेनैक्यात्।'
—यो० वा० पृ० ३४०।

२. 'इदानीं पृथिव्याः अधःस्थितान् सप्तनरकान् भूर्लोकांशतया प्रतिपादयति'।
—यो० वा० पृ० ३४०।

सहित) सातों नरकों में। स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः—अपने कुकर्मों से दुःख-मय भोग का अर्जन करने वाले जीव। कष्टम्—कष्टरूपम्। दीर्घमायुः—दीर्घ-जीवनावधि को। आक्षिप्य—आदाय, **'गृहीत्वा'**—(यो० वा०), ले करके, प्राप्त करके। जायन्ते—उत्पन्न होते हैं, पहुँचते हैं।

भूलोक इत्यादि सातों लोकों का नामरूप वर्णित करके अब शेष सात लोकों का नामरूप गिनाते हैं। ततः—अवीचि के नीचे, **'अवीचेरध इत्यर्थः'** (यो० वा०)। महा······पातालानि—१. महातल, २. रसातल, ३. अतल, ४. सुतल, ५. वितल, ६. तलातल और ७. पाताल—नाम के सात 'पाताललोक' हैं। अब भूलोक का सविस्तार वर्णन किया जा रहा है। इयं भूमिः—यह पृथ्वी। अष्टमी—जो इन सातों पातालों से ऊपर गणना की दृष्टि से आठवीं पड़ती है। सप्तद्वीपा वसुमती—सात द्वीपों वाली तथा 'वसुमती' नाम वाली है। यस्याः—जिसके। मध्ये—बीच में। काञ्चनः पर्वतराजः सुमेरुः—स्वर्णिम पर्वतराज सुमेरु स्थित है। तस्य—इस सुमेरु की। राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि—चोटियाँ चाँदी की, वैदूर्यमणि की, स्फटिकमणि की और सोने की हैं। तत्र—उसमें। वैदूर्यप्रभानुरागात्—वैदूर्य की कान्ति के सम्पर्क से। नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः—नीले कमल की पँखुड़ी के समान श्यामवर्ण का दक्षिणी आकाश है। पूर्वः श्वेतः—पूर्वी आकाश सफेद है। पश्चिमः स्वच्छः—और उसके पश्चिम का आकाश सर्वथा निर्मल है। उत्तरः कुरुण्डकाभः[1]—कुरुण्डक (करसरैया) के फूल के समान पीला उत्तरी आकाश है। अस्य च दक्षिणपार्श्वे—इस सुमेरु के दक्षिण भाग में। जम्बूः—जामुन का पेड़ है। यतः—जिसके कारण। अयम्—यह द्वीप। जम्बूद्वीपः—'जम्बूद्वीप' कहा जाता है। तस्य—उस सुमेरु के चारों ओर। सूर्यप्रचारात्—सूर्य के चलते रहने के कारण। रात्रिन्दिवम्—रात और दिन। लग्नमिव—(इसमें) लगे हुए-से। विवर्तते—घूमते रहते हैं। **'रात्रिन्दिवं संयुक्तमिव सद्विवर्तते भ्रमति'**—(यो० वा०)। जम्बूद्वीप को सुमेरु पर्वत के चारों ओर वृत्ताकार फैली हुई पहली कक्षा में स्थित समझना चाहिए।

तस्य—उस सुमेरु पर्वत के। उदीचीनाः—उत्तर दिशा में स्थित। नीलश्वेतशृङ्ग-वन्तः—१. नील, २. श्वेत और ३. शृङ्गवान् नाम के। द्विसहस्रायामाः—दो हजार योजन में फैले हुए। त्रयः पर्वताः—तीन पर्वत हैं। तदन्तरेषु—इन पर्वतों के बीच में। नवनवयोजन······कुरव इति—नव-नव हजार योजन विस्तृत १. रमणक, २. हिरण्मय और ३. उत्तरकुरु नामक। त्रीणि वर्षाणि[2]—तीन देश हैं। दक्षिणतः—

---

१. 'कुरुण्डकं सुवर्णवर्णः पुष्पविशेषः।' —भा० पृ० ३४१।

२. 'स्याद् वृष्टौ लोकधात्वंशे वत्सरे वर्षमस्त्रियाम्।' —अ० को० पृ० ६१७।

(सुमेरु के) दक्षिण की ओर। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः—दो हजार योजन में फैले हुए १. निषध्र २. हेमकूट और ३. हिमगिरि नामक तीन पर्वत हैं। तदन्तरेषु—उनके बीच। त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं किम्पुरुषं भारतमिति—नव-नव हजार योजन विस्तृत १. हरिवर्ष, २. किम्पुरुष और ३. भारत—नाम के तीन देश हैं। प्राचीनाः—सुमेरु के पूर्व में स्थित। माल्यवत्सीमानः—माल्यवान् पर्वतरूपी सीमा वाला। भद्राश्वाः—'भद्राश्व' नामक देश है। देशवाची शब्द होने के कारण यह बहुवचनान्त है। इसी प्रकार आगे 'केतुमाल' शब्द का भी देशवाची होने के कारण बहुवचनान्त प्रयोग हुआ है। प्रतीचीनाः—इस सुमेरु के पश्चिम में स्थित। गन्धमादन सीमानः—गन्धमादन पर्वत की सीमा वाला। केतुमालाः—केतुमाल नाम का देश है। मध्ये—सुमेरु पर्वत के नीचे ही बीचो-बीच। इलावृतं वर्षम्—इलावृत नाम का देश है।[1] इस प्रकार जम्बूद्वीप में कुल नव देश और सुमेरु को लेकर नव पर्वत हैं। अब जम्बूद्वीप का परिमाण बताया जा रहा है—

तदेतद्योजनशतसाहस्रम्—तो यह सौ हजार योजन वाला जम्बूद्वीप। सुमेरोः[2]—सुमेरु पर्वत के। दिशि दिशि—चारों ओर (की दिशाओं) के अवकाश में। तदर्धेन—तस्य अर्धेन, अपने आधे विस्तार से। व्यूढम्—बँटा हुआ स्थित है।[3] स खलु अयं शतसाहस्रायामः जम्बूद्वीपः—वह यह सौ हजार योजन में फैला हुआ जम्बूद्वीप। ततो द्विगुणेन—उस (सौ हजार योजन) से भी दुगुने (अर्थात् २००००० योजन विस्तृत)। वलयाकृतिना लवणोदधिना—और वलय के समान गोले आकार वाले तथा नमकीन जलवाले समुद्र से। वेष्टितः—आवेष्टित या घिरा हुआ है। ततश्च—और इस (जम्बूद्वीप) से। क्रमशः। द्विगुणाः द्विगुणाः—दुगुने-दुगुने। शाककुशक्रौञ्चशाल्मलमगधपुष्करद्वीपाः—शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाल्मलद्वीप, मगधद्वीप और पुष्करद्वीप हैं। कहने का आशय यह हुआ कि इनका विस्तार क्रमशः दो लाख योजन, चार लाख योजन, आठ लाख योजन, सोलह लाख योजन, बत्तीस लाख योजन और चौंसठ लाख योजन है। सप्तसमुद्राश्च—(इन द्वीपों के चारों ओर स्थित) सातों समुद्र। सर्षपराशिकल्पाः—सरसों के ढेर के समान (न तो ऊँचे और न समतल अर्थात् थोड़ा-थोड़ा ऊपर उठे हुए हैं)। सविचित्रशैलावतंसाः—(तटों पर स्थित) विस्मयकारी पर्वतों वाले। तथा। इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादू-

---

१. 'छत्राकारं सुमेरोरधोभागे वर्षमिलावृतं चतुर्दिक्षु च पर्वताश्च्छत्रपार्श्वस्थावरणवास इव मेरुपार्श्वेष्वेव संसक्ता इति।' —यो० वा० पृ० ३४२।

२. 'यतोऽस्य मध्यस्थः सुमेरुः।' —त० वै० पृ० ३४१।

३. 'तदेतज्जम्बूद्वीपाख्यस्थानं योजनशतसहस्रमितम् अतश्च सुमेरोश्चतुर्दिक्षु पञ्चाशद्योजनसहस्रेण व्यूढं संक्षिप्तं परिसंख्यातमित्यर्थः।' —यो० वा० पृ० ३४२।

दकाः––क्रमशः ईख के रस, मदिरा, घृत, दही, माँड़ और दूध के समान स्वादिष्ट जलवाले हैं। ये सातों द्वीप। सप्तसमुद्रवेष्टिताः––इन सातों समुद्रों से क्रमशः घिरे हुए। वलयाकृतयः—(घेरने वाले समुद्रों के वृत्ताकार होने के कारण) गोले कंकण के सदृश आकार वाले। लोकालोकपर्वतपरिवाराः––लोकालोक पर्वत से परिवृत, लोकालोकपर्वतः परिवारः येषां ते तथोक्ताः। पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः––पचास करोड़ योजन में फैले हुए माने गये हैं। तदेतत्सर्वम्—इस प्रकार यह सम्पूर्ण। सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डलम्––सुप्रतिष्ठितं सम्यक्स्थितं संस्थानमण्डलं च यस्य तादृशं विश्वम्भरामण्डलम्, भूमण्डल। अण्डमध्ये––ब्रह्माण्ड के बीच में। व्यूढम्—संक्षिप्तम्, (लघुरूप से) स्थित है। और अण्डं च—यह ब्रह्माण्ड भी। प्रधानस्य––प्रकृति का। अणुः अवयवः––अत्यन्त लघु अंश है। यथा आकाशे खद्योतः—जैसे विशाल आकाश में (लघुतम) खद्योत (जुगनू) नामक जन्तु रहता है।[1]

इन भुवनों का नाम, रूप, विस्तार आदि बताकर अब भाष्यकार इनमें रहने वालों का वर्णन कर रहे हैं। तत्र––इन चौदह भुवनों में से। पाताले, जलधौ, एतेषु पर्वतेषु (च)—पातालों में, समुद्रों में और इन पर्वतों में। असुर···विनायकाः–– असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सराएँ, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड और विनायक (नामक)। देवनिकायाः—देवगण, देवयोनिविशेष के समूह, **'देवनिकायाः देवसमूहाः'**—(यो॰ वा॰)। प्रतिवसन्ति—निवास करते हैं। सप्तेषु द्वीपेषु—सभी द्वीपों में। पुण्यात्मानः–शुभकर्मसंस्कार वाले। देवमनुष्याः—देवता और मनुष्य रहते हैं। सुमेरुः—सुमेरुपर्वत। त्रिदशानाम्—देवताओं की। उद्यानभूमिः—उपवन या विहारस्थली है। तत्र––उस उद्यानभूमि में। मिश्र···उद्यानानि—मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ और सुमानस—ये चार उपवन हैं। सुधर्मा देवसभा—देवताओं का 'सुधर्मा' नामक एक सभागृह है। सुदर्शनं पुरम्—'सुदर्शन' नामक नगर है। वैजयन्तः प्रासादः––'वैजयन्त' नामक महल है। यहाँ तक सात पातालों और भूलोक के रहने वाले निवासियों का परिचय दिया गया है। अब अन्तरिक्षलोक में रहने वाले पदार्थों का वर्णन किया जा रहा है।[2] ग्रहनक्षत्रतारकास्तु—सूर्यचन्द्रादि (९) ग्रह, अश्विनी इत्यादि (२७) नक्षत्र और उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे असंख्य तारे। ध्रुवे निबद्धाः––निश्चल 'ध्रुवतारे' में (खूँटे से बँधे हुए बैलों की भाँति) बँधे हुए। वायुविक्षेप···प्रचाराः—विविध वायुव्यापार

---

१. 'अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च॥'—विष्णुपुराणम्।

२. 'भूर्लोकस्थानुक्त्वा भुवर्लोकस्थानाह।'—यो॰ वा॰ पृ॰ ३४३।

से प्रतिनियत संचार वाले।[1] तथा। सुमेरोः उपरि उपरिसन्निविष्टाः—सुमेरु पर्वत के ऊपर-ऊपर क्रमशः स्थित रहते हुए। विपरिवर्तन्ते—घूमते हैं।[2] अभिप्राय यह है कि सुमेरु के धरातल के ठीक ऊपर ग्रह हैं, उनके ऊपर नक्षत्र हैं और उनसे भी ऊपर अन्य तारे हैं।

अब इसके आगे पाँचों प्रकार के स्वर्गलोकों के निवासियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है। माहेन्द्रनिवासिनः—महेन्द्रलोक के निवासी लोग। षड्देव-निकायाः—छह प्रकार के देवताओं के गण ये होते हैं। त्रिदश···वर्तिनश्चेति—१. त्रिदश, २. अग्निष्वात्त, ३. याम्य, ४. तुषित, ५. अपरिनिर्मितवशवर्ती और ६. परिनिर्मितवशवर्ती। सर्वे—सभी छहों प्रकार के देवगण। सङ्कल्पसिद्धाः—संकल्पाः सिद्धाः येषान्ते अर्थात् पूर्ण मनोरथ वाले या सिद्धसंकल्प होते हैं। अर्थात्। अणिमा···आपन्नाः—अणिमा इत्यादि आठों सिद्धियों के स्वामित्व से युक्त होते हैं। कल्पायुषः—एक कल्प की आयु वाले होते हैं। वृन्दारकाः—**'पूज्याः'**—(त० वै०) पूजनीय। कामभोगिनः—कामभोग करने वाले अर्थात् **'मैथुनप्रियाः'**—(त० वै०)। औपचारिकदेहाः[3]—स्वतः दिव्यशरीर धारण करने वाले। उत्तमानुकूलाभिः—उत्तमाश्च ता अनुकूलाश्चेति तथोक्तास्ताभिः, 'सर्वोत्तम' एवं प्रेम करने वाली। अप्सरोभिः—अप्सराओं से। कृतपरिवाराः—घिरे हुए। उनके साथ नाना क्रीड़ाओं में व्यापृत रहते हैं।

प्राजापत्ये हि महति लोके—प्रजापति देवता के लोक अर्थात् 'महर्लोक' में। पञ्चविधो देवनिकायः—पाँच प्रकार के ये देवगण रहते हैं। कुमुदा····इति—१. कुमुद, २. ऋभु, ३. प्रतर्दन, ४. अञ्जनाभ और ५. प्रचिताभ। एते—ये देवगण। महाभूतवशिनः—महाभूतानां वशिनः स्वामिनः इत्यर्थः, महाभूतों के स्वामी अर्थात् महाभूतों पर जय प्राप्त किये हुए होते हैं। **'यद्यदेव तेभ्यो रोचते तत्तदेव महाभूतानि प्रयच्छन्ति, तदिच्छातश्च महाभूतानि तेन तेन संस्थानेनावतिष्ठन्ते।'**[4]—ध्याना-हाराः—ध्यानमेव, ध्यानजन्यं सुखमेव आहारो येषान्ते तथोक्ताः, ध्यानमात्र से ही तृप्त

---

१. 'विक्षेपः व्यापारः।'—त० वै० पृ० ३४४।

२. 'एते ग्रहादयः सर्वोपरि स्थिते मेढिकाष्ठवन्निश्चलतया स्थितेऽत एव ध्रुवसंज्ञके ज्योतिर्विशेषवायुरज्जवा बद्धा गाव इव हालिकतुल्यचक्रवायोः प्रतिनियतसञ्चारेण कालविशेषैरवधृतगतयः सुमेरोरुपर्युपरिभावेन सन्निविष्टा भुवर्लोके भ्रमन्तीत्यर्थः।'
—यो० वा० पृ० ३४३।

३. 'पित्रोः संयोगं विना क्षणमात्रेणोत्पद्यमानशरीरा इत्यर्थः।'
—यो० वा० पृ० ३४४।

४. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३४४।

एवं पुष्ट रहने वाले **'ध्यानमात्रतृप्ताः पुष्टा भवन्ति ।'**—(त० वै०) । कल्पसहस्रायुषः—और एक हजार कल्पों तक जीने वाले होते हैं । प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके—ब्रह्मा के प्रथम लोक अर्थात् 'जनलोक' में चतुर्विधो देवनिकायः—चार प्रकार के ये देवगण रहते हैं । ब्रह्मपुरोहिताः अमरा इति—१. ब्रह्मपुरोहित, २. ब्रह्मकायिक, ३. ब्रह्ममहाकायिक और ४. अमर । एते—ये देवगण भी । भूतेन्द्रियवशिनः—महाभूतों और इन्द्रियों के स्वामी या जयी होते हैं । द्वितीये तपसि लोके—ब्रह्मा के दूसरे लोक अर्थात् तपोलोक में । त्रिविधो देवनिकायः—तीन प्रकार के देवताओं के गण रहते हैं । आभास्वराः···महाभास्वरा इति—१. आभास्वर, २. महाभास्वर और ३. सत्यमहाभास्वर । एते—ये देवगण । भूतेन्द्रिय···प्रकृतिवशिनः—महाभूतों, इन्द्रियों और प्रकृति के वशी या स्वामी होते हैं । द्विगुणो द्विगुणोत्तरायुषः—क्रमशः दुगुनी (अधिक) आयु वाले होते हैं । आशय यह है कि ब्रह्मपुरोहितों की आयु २००० कल्प, ब्रह्मकायिकों की आयु ४००० कल्प तथा महाकायिकों की आयु ८००० कल्प और अमरों की आयु १६००० कल्प होती है । इसी क्रम से आभास्वरों की आयु ३२००० कल्प, महाभास्वरों की आयु ६४००० कल्प और सत्यमहाभास्वरों की आयु १२८००० कल्प होती है ।

सर्वे—ये सभी । ध्यानाहाराः—ध्यानमात्र से तृप्त रहने वाले हैं । ऊर्ध्वरेतसः—ऊर्ध्वमुच्चैः स्थापितं रेतः यैस्ते तथोक्ताः, अस्खलित एवं ऊपर चढ़े हुए वीर्य वाले होते हैं । ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञानाः—ऊर्ध्वलोकों के विषय में अखण्डित ज्ञान वाले तथा । अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः—अधोलोकों के भी समस्त विषयों के ज्ञान से युक्त होते हैं । तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके—ब्रह्मा के तीसरे लोक अर्थात् सत्यलोक में । चत्वारो देवनिकायाः—चार प्रकार के देवगण रहते हैं । १. अच्युताः—अच्युत, २ शुद्धनिवासाः—शुद्धनिवास । ३. सत्याभाः—सत्याभ और ४. संज्ञासंज्ञिनश्चेति—संज्ञासंज्ञी । ये सब । अकृतभवनन्यासाः—किसी प्रकार का निवासस्थान न बनाने वाले । अतः । स्वप्रतिष्ठाः—अपने आप में प्रतिष्ठित अर्थात् **'आत्मवासाः ।'**[1] उपर्युपरिस्थिताः—क्रमशः ऊपर-ऊपर की कक्षाओं में स्थित रहते हैं, **'अच्युतानामुपरि स्थिताः शुद्धनिवासाः एवं क्रमेणेत्यर्थः ।'**[2] प्रधानवशिनः—प्रकृतिजयी होते हैं । यावत्सर्गायुषः—सृष्टिपर्यन्त जीने वाले होते हैं । इनके सम्बन्ध में श्रुति का वचन है—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३४५ ।
२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३४५ ।

इन चारों प्रकार के सत्यलोकवासियों में अवान्तरभेद भी है। वह यह कि। तत्र—उनमें से। अच्युताः—अच्युत देवता। सवितर्कध्यानसुखाः—वितर्कानुगत-समाधिजन्य सुख उठाते हैं। शुद्धनिवासाः—शुद्धनिवास नामक देवगण। सविचार-ध्यानसुखाः—विचारानुगतसमाधिजन्य सुख उठाते हैं। सत्याभाः—सत्याभ नामक देवगण। आनन्दमात्रध्यानसुखाः—आनन्दानुगतसमाधिजन्य सुख उठाते हैं और। संज्ञासंज्ञिनश्च—संज्ञासंज्ञी देवगण। अस्मितामात्रध्यानसुखाः—अस्मितानुगतसमाधि-जन्य सुख उठाते हैं। **'त एव सर्वे सम्प्रज्ञातसमाधिमुपासते'**।[1] तेऽपि—वे चारों भी। त्रैलोक्यमध्ये—त्रैलोक्य के अन्तर्गत ही। प्रतितिष्ठन्ति—स्थित रहते हैं। **'न ब्रह्माण्ड-बहिरित्यर्थः।'**—(यो॰ वा॰)। त एते सप्तलोकाः—वे ये सातलोक (पृथ्वी आदि ऊपर वाले लोक) हैं। सर्वे एव—ये सभी लोक या भुवन। ब्रह्मलोकाः—ब्रह्मलोक ही हैं। **'सर्वे एवादि पुरुषस्य ब्रह्मणो लोका ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य लिङ्गदेहेन सर्वलोक-व्यापनात्।'**[2] (तो फिर असम्प्रज्ञातसमाधि वाले देवगण कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर देते हैं—) विदेहप्रकृतिलयास्तु—विदेह और प्रकृतिलीन तो। मोक्षपदे—मोक्षपद की-सी स्थिति में अर्थात् भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि में। वर्तन्ते—स्थित रहते हैं। इति—इस कारण से। लोकमध्ये—इस चतुर्दशलोकात्मक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत। न न्यस्ताः—नहीं स्थित होते। इनकी न तो वस्तुतः मुक्तावस्था है और न सक्रिय लौकिक स्थिति ही होती है। ये। संस्कारमात्रोपगचित्त से कैवल्यपद का-सा अनुभव करते हुए 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि' में लीन रहते हैं। एतत्—यह सब। योगिना—योगी के द्वारा। सूर्यद्वारे—सूर्यमण्डल के अग्रभाग में। संयमं कृत्वा—धारणा, ध्यान और समाधि करके। ततोऽन्यत्रापि—इस सूर्यद्वार के अति-रिक्त उन पदार्थों में भी संयम करके (भुवनज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ये पदार्थ योगशास्त्र में बताये गये हैं। **'न केवलं सूर्यद्वारसंयमस्यैव भुवनज्ञानं फलं किन्तु योग-शास्त्रोक्तसंयमान्तरस्यापीत्यतो रागक्षयार्थम् अन्यत्र संयमेनापि समग्रभुवनं साक्षात्कर-णीयमित्युपदिशति।'**[3] एवम्—इस प्रकार भुवनसाक्षात्कारी यह संयम। तावद्—तब तक। अभ्यसेद्—अभ्यास करना चाहिए। यावद्—जब तक कि। इदं सर्वम्—यह समस्त भुवन। दृष्टम् इति—देख न लिया जाये॥ २६॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमा में किये गये संयम से तारक-वृन्द का ज्ञान होता है॥ २७॥

चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयात्॥ २७॥

---

१. द्रष्टव्य; त॰ वै॰ पृ॰ ३४५।

२. द्रष्टव्य; यो॰ वा॰ पृ॰ ३४६।

३. द्रष्टव्य; यो॰ वा॰ पृ॰ ३४६।

चन्द्रमा में संयम करके तारों के समूह को ठीक से जान लेना चाहिए ॥ २७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में संयमजन्य ११वें प्रकार की सिद्धि बतायी जा रही है। चन्द्रे—चन्द्रमा में संयम करने से। 'संयमात्' पद की अनुवृत्ति ३४वें सूत्र तक चलेगी। ताराणां व्यूहः समूहः इति ताराव्यूहः, तस्य ज्ञानम् इति ताराव्यूहज्ञानम्—तारों के समूह का ज्ञान होता है। इस 'सूत्र' में कहे गये 'चन्द्र'-पद का अर्थ भी कुछ टीकाकारों ने हठयोग के प्रभाव में आकर 'तालु के मूल में स्थित चन्द्रबिम्ब' किया है। **'चन्द्रे चन्द्रद्वारे, उक्तञ्च 'तालुमूले च चन्द्रमा' इति'**।[1] किसी ने 'नासाग्रे शशधृग्बिम्बम्' यह उक्ति उद्धृत करके नासाग्रवर्ती बिम्ब को 'चन्द्रमा' माना है। किन्तु ये दोनों मत ठीक नहीं हैं। इसका कारण पिछले सूत्र की सिद्धि में स्पष्ट किया जा चुका है। वस्तुतः यहाँ प्रतिपादित संयम का विषय भी आधिदैविक चन्द्रमा ही है। वा० मि०, वि० भि० और नारायणतीर्थ आदि का भी स्वारस्य इसी मान्यता में है ॥ २७ ॥

(भा० सि०)—चन्द्रे—चन्द्रमण्डल में। संयमं कृत्वा—संयम करके। ताराव्यूहम्—ताराओं के समूह को। विजानीयात्—विशेषेण जानीयात्, सविशेष रूप से जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कुछ तारों के विषय में सामान्यरूप का ज्ञान तो बहुतों को होता है कि कहाँ कौन तारे हैं, कौन किस समय दीख पड़ता है, कौन कम या अधिक चमकीला है—इत्यादि। किन्तु उनका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिये 'चन्द्रमा' में संयम करना आवश्यक है। इस चन्द्रसंयम से तारों का वास्तविक स्वरूप, उनकी ठीक-ठीक स्थिति और उनकी संख्या इत्यादि का पूरा ज्ञान हो जाता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि चन्द्रमा में संयम करने से चन्द्रमा का विशेष ज्ञान होना चाहिए, तारों का ज्ञान क्यों हो जाता है? इसका उत्तर यह है कि चन्द्रमा नक्षत्रों का स्वामी या अधिपति है, इसलिये **'यद्विषयः संयमस्तज्जातीयस्य सकलस्य साक्षात्कारः'**—नियम से चन्द्रसंयम से तारकसमूह का सविशेष ज्ञान या साक्षात्कार होना सर्वथा उपपन्न है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।। २८ ॥

ध्रुवतारा में किये गये संयम से उन (तारों) की गति का (ठीक-ठीक) ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं जानीयात्।[2] ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि जानीयात् ॥ २८ ॥

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३४७।

२. 'विजानीयाद्'—इति पाठान्तरम्।

उस (ताराव्यूहज्ञान) के अनन्तर ध्रुवतारा में संयम करके तारों की गति जाननी चाहिए। ऊर्ध्वलोक के विमानों में संयम करके उन (विमानों) को जानना चाहिए ॥ २८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में संयमजन्य १२वें प्रकार की सिद्धि बतायी गयी है। तारों की स्थिति और उनका स्वरूप जानने के बाद उनकी ठीक-ठीक गति जानने के लिये। ध्रुवे—'ध्रुव' नाम के निश्चल तारे में किये गये संयम से। तासां ताराणां गतिः इति तद्गतिः, तस्याः ज्ञानम् इति तद्गतिज्ञानम्—उन तारों की गति का ज्ञान होता है। तारों की गति का ठीक-ठीक ज्ञान चन्द्रसंयम से नहीं होता, क्योंकि चन्द्रमा स्वयं गतिशील है, उस गतिशील पदार्थ पर स्थित बुद्धि से अन्य ग्रह-नक्षत्रतारकादि की गति का ठीक-ठीक आकलन नहीं हो पाता। अतः 'ध्रुव' नामक तारे पर संयम करने से गतिहीन एवं स्थिर पदार्थ पर स्थित बुद्धि के द्वारा ही अन्य तारों की गति का ठीक-ठीक ज्ञान होना सुसंगत माना गया है। हम स्वयं चलते हुए किसी की गति का ठीक-ठीक आकलन नहीं कर पाते, वैसा करने के लिये हमें रुककर ही देखना पड़ता है। बुद्धि के इसी स्वभाव के कारण तारों की गति का शुद्ध ज्ञान करने के लिये ध्रुवतारे पर संयम करना आवश्यक बताया गया है ॥ २८ ॥

(भा० सि०)—ततः—उन तारों के स्वरूप और उनकी स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने के बाद। ध्रुवे—ध्रुव नामक स्थिर तारे में। संयमं कृत्वा—संयम करके। ताराणाम्—तारों की। गतिं जानीयात्—गति जाननी चाहिए। अब इस संयम और तज्जन्य सिद्धि का अतिदेश करते हुए भाष्यकार कहते हैं। ऊर्ध्वविमानेषु—ऊर्ध्वं यानि विमानानि तेषु, ऊर्ध्वलोकों में स्थित सूर्यरथ आदि देवताओं के वाहनों में। कृतसंयमः—संयम करने वाला योगी। तानि—उन विमानों को। जानीयात्—जाने अर्थात् उसे उनकी गति जाननी चाहिए। इस प्रकार अन्तरिक्षलोक और स्वर्ग-लोक के पदार्थों की गति-स्थिति इत्यादि जानने के उपायभूत संयमों का कथन इन सूत्रों में किया गया है ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्र में (किये गये संयम से) शरीरसंस्थान का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्। वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः सन्ति। धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि। पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः ॥ २९ ॥

नाभिचक्र में संयम करके शरीरसंस्थान का सविशेष ज्ञान करना चाहिए। (शरीर में) वात, पित्त और कफ—ये तीन दोष होते हैं। त्वचा, रक्त, मांस, नस, हड्डी, मज्जा और वीर्य—ये सात धातुएँ होती हैं। इन (धातुओं) में पहले-पहले कही गयी (धातु बादवाली धातु की अपेक्षा) बाहरी है—इसी प्रकार से (शरीर में) इन धातुओं का सन्निवेश हुआ है। (इन सब का सम्यग्ज्ञान नाभिचक्र में किये गये संयम से उत्पन्न साक्षात्कार के द्वारा करना चाहिये) ॥ २९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—यह सूत्र संयमजन्य १३वें प्रकार की सिद्धि का प्रतिपादन करता है। संयम का विषय अब यहाँ शरीरान्तर्वर्ती अर्थात् आध्यात्मिक है। नाभिचक्रे—नाभिरूप चक्र अर्थात् नाभिमण्डल में (किये गये संयम से)। यद्यपि यहाँ पर नाभि के निकट मेरुदण्ड पर स्थित रूप में कल्पित तथा हठयोगियों के द्वारा अत्यन्त समादृत 'मणिपूरचक्र' सूत्रकार के द्वारा स्पष्टतः अभिप्रेत नहीं है, फिर भी लगता है कि यही नाभिचक्र, षट्चक्रपरम्परा में विकसित होकर 'मणिपूरचक्र' कहा जाने लगा। यहाँ पर तो नाभिमण्डल को ही 'नाभिचक्र' कहा गया है। **'शरीरमध्यवर्तिनाभिकन्दरूपं चक्रं कदलीमूलवदादौ उत्पन्नं यतः शाखापल्लवादिवच्छिरः पादादिकमवयवजातम् ऊर्ध्वमधश्चाविर्भवति, तस्मिन्नाभिचक्रे संयमात्'**।[1] इस संयम से उत्पन्न साक्षात्कार के द्वारा। कायव्यूहज्ञानम् (भवतीति शेषः)—कायस्य शरीरस्य व्यूहः अवयवादिसन्निवेशः संस्थानम् इति कायव्यूहस्तस्य ज्ञानम् इति, शरीरसंस्थान का ठीक-ठीक ज्ञान होता है (कि शरीर में कितने, कहाँ अवयव और धातुएँ इत्यादि हैं, जिनसे कि शरीर की इतनी सुश्लिष्ट रचना हुई है) ॥ २९ ॥

(भा० सि०)—नाभिचक्रे संयमं कृत्वा—नाभिचक्र में संयम करके। योगी को। कायव्यूहम्—शरीर की समग्र रचना को, शरीरावयवसंस्थान को। विजानीयाद्—ठीक-ठीक जान लेना चाहिए। शरीर की रचनासामग्री का व्यूहन या विन्यास ठीक-ठीक जानने के लिये उपयोगी (उनका प्रारम्भिक) ज्ञान भाष्यकार प्रस्तुत कर रहे हैं। वातपित्तश्लेष्माणः—वात, पित्त और कफ। त्रयो दोषा सन्ति—ये तीनों शरीर के दोष हैं अर्थात् इन्हीं के वैषम्य से शरीररूपी रचना ध्वस्त होती है। इसलिये इनकी भी जानकारी सर्वथा उपादेय हैं। और शरीर की उपादानभूत सात धातुएँ ये हैं—धातवः सप्त—धातुएँ सात होती हैं। त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि—त्वचा, रक्त, मांस, नस,[2] हड्डी, हड्डी में रहने वाला मज्जा नामक रस और वीर्य—ये सात धातुएँ हैं। एषाम्—इन सातों में से। पूर्वं पूर्वम्—पहले-पहले

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३४७।

२. 'अथ वस्नसा स्नायुः स्त्रियाम्।'—अमरकोशः २।६।६६।

वाली धातुएँ बादवाली धातुओं (की अपेक्षा से)। बाह्यम्—बाहर-बाहर स्थित होती हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर में त्वचा सबसे बाहर रहती है, त्वचा के बाद अन्दर की और रक्त रहता है, जो त्वचा के अतिरिक्त अन्य सब धातुओं से बाहर रहता है। इन दोनों के बाद मांस रहता है, जो त्वचा और रक्त के अतिरिक्त सब धातुओं से बाहर की ओर होता है। इन तीनों से अन्दर की ओर नसें या (नाडियाँ) होती हैं, जो हड्डी, मज्जा और वीर्य की अपेक्षा बाहर की ओर रहती हैं। इसके बाद हड्डी होती है, जो मज्जा और वीर्य से बाहर की ओर रहती हैं। इनके बाद मज्जा होती है, जो शुक्र की अपेक्षा बाहरी है। सबसे भीतर शरीर में वीर्य रहता है। इत्येष विन्यासः—(धातूनाम् इति शेषः)—शरीर में धातुओं की इस प्रकार से उपस्थिति होती है ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठकूप में (किये गये संयम से) भूख और प्यास मिट जाती हैं ॥ ३० ॥

जिह्वाया अधस्तात्तन्तुः। ततोऽधस्तात्कण्ठः। ततोऽधस्तात् कूपः। तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

जिह्वा के नीचे तन्तु होता है। उसके नीचे कण्ठ है। उसके नीचे कूप (Cavity) होता है। उसमें (किये गये) संयम से भूख और प्यास (योगी को) बाधित नहीं करतीं ॥ ३० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अब इस सूत्र के द्वारा संयमजन्य १४वें प्रकार की सिद्धि बतायी जा रही है। कण्ठकूपे—कण्ठे गले कूपः इव कूपः गर्त्ताकारप्रदेशः तस्मिन्, कण्ठ या गले में गड्ढे के आकार का जो प्रदेश है, उसमें (किये गये संयम से)। क्षुत् च पिपासा चेति तथोक्ते, तयोः निवृत्तिः अपगमः इति क्षुत्पिपासानिवृत्तिः—भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है। आशय यह है कि योगी जब तक चाहे तब तक बिना खाये-पिये रह सकता है। उसे किसी प्रकार की पीड़ा या शारीरिक हानि नहीं होती। इस कण्ठकूप का प्राणादि के साथ संघर्ष होने से प्राणियों को भूख-प्यास लगती हैं। इस प्रदेश पर किये गये संयम के फलस्वरूप न तो भूख और प्यास लगती है और न अन्नजलादि के बिना शरीर को कोई हानि ही होती है। **'कूपः गर्ताकारप्रदेशः प्राणादेर्यत्संस्पर्शात्क्षुत्पिपासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते।'** —(रा० मा० वृ०) ॥ ३० ॥

(**भा० सि०**)—इस कण्ठगतकूप को भाष्यकार समझा रहे हैं। जिह्वाया अधस्तात्—जिह्वा के नीचे, जीभ की जड़ में या मूलभाग में। तन्तुः—(Vocal cord)

एक जिह्वासूत्र होता है। **'जिह्वाया अधस्ताज्जिह्वातन्तुः'**—(यो० सि० च०)। ततोऽधस्तात्—उसके नीचे। कण्ठः—कण्ठभाग या गला होता है। ततोऽधस्तात्—और उस कण्ठ के नीचे। कूपः—**'उरःपर्यन्तं कूपाकारच्छिद्रम्'**—(यो० सि० च०), कण्ठ के नीचे वक्षःस्थलपर्यन्त एक गड्ढा-सा होता है। उसे ही 'कण्ठकूप' कहते हैं। तत्र—उस कण्ठकूप में। संयमात्—किये गये संयम से, उस योगी को। क्षुत्पिपासे—भूख और प्यास। न बाधेते—नहीं पीड़ित करतीं। **'तस्मिन्प्रदेशे संयमादशेषविशेषतः साक्षात्कृते सति क्षुत्पिपासानिवृत्तिरूपा सिद्धिर्भवतीत्यर्थः'**[1] ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूर्माकार नाड़ी में (किये गये संयम से योगी) स्थिरता का लाभ करता है ॥ ३१ ॥

कपादध उरसि कूर्माकारा नाडी। तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते। यथा—सर्पो गोधा वेति ॥ ३१ ॥

(कण्ठ) कूप के नीचे उरःस्थल में कछुए के आकार की नाड़ी होती है। उसमें संयम करने वाला योगी स्थिरत्व को प्राप्त करता है। जैसे—साँप या गोधा स्थिर हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—यह १५वें प्रकार की संयमसिद्धि है। इसमें संयम का विषय 'कूर्मनाड़ी' है। इसकी सिद्धि स्थिरता की प्राप्ति है। कूर्मनाड्याम्—कूर्मनाड़ी में अर्थात् कच्छपाकार नाड़ी में किये गये संयम के फलस्वरूप। स्थैर्यम् (सिद्ध्यतीति शेषः)—स्थिरता सिद्ध होती है। यह कूर्माकार नाड़ी उरःस्थल में शरीर के अन्दर होती है। इसमें संयम करने से योगी स्थैर्यलाभ करता है। यह स्थैर्य योगी के शरीर का है अथवा उसके चित्त का? इस प्रसङ्ग में भोजराज दोनों प्रकार का स्थैर्य स्वीकार करते हैं। **'तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते'''यदि वा कायस्य स्थैर्यम् उत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः'**।[2] विज्ञानभिक्षु तथा भास्वतीकार स्पष्टतः इस सिद्धि को चित्तस्थैर्यरूपिणी मानते हैं। किन्तु भाष्यकार का अभिप्राय इस सिद्धि को 'शरीरस्थैर्यरूपिणी' मानने का ही प्रतीत होता है। यही अर्थ यहाँ पर ठीक भी लगता है, क्योंकि चित्तस्थैर्य तो अनेकशः प्रतिपादित भी किया जा चुका है ॥ ३१ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३४८।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ७१।

(भा० सि०)—भाष्यकार सर्वप्रथम इस कूर्मनाड़ी का परिचय देना चाहते हैं। कूपादधः—उक्त कण्ठकूप के नीचे। उरसि--वक्षःस्थल में। कूर्माकारा--कूर्मस्य आकारः इव आकारो यस्याः सा कूर्माकारा नाड़ी। यह नाड़ी कछुए के आकार की होती है, इसलिये यहाँ इसको 'कूर्मनाड़ी' कहा गया है। भोजराज के अतिरिक्त किसी आचार्य ने 'कूर्मनाड़ी' पद का अर्थ 'कूर्मनामा' नाड़ी नहीं किया, प्रत्युत भाष्य के अनुसार 'कूर्माकारा' नाड़ी ही किया है और यही अर्थ समीचीन भी है। तस्याम्--उस कूर्माकार नाड़ी में। कृतसंयमः—कृतः संयमः येनासौ योगी, संयम करने वाला योगी। स्थिरपदम्—स्थिरञ्च तत्पदञ्चेति तथोक्तम्, स्थिर अवस्थिति या अच्युत-स्थिति को। लभते--प्राप्त करता है। यहाँ पर शरीर की स्थिरता ही विवक्षित है। स्थिरपद को प्राप्त करने वाले योगी के लिये दिये गये दृष्टान्तों से यह बात स्पष्ट है। यथा सर्पो गोधा वेति--जैसे साँप या गोधा नामक जन्तु स्वेच्छा से स्थिरता को प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही योगी भी जब चाहे तो इतना स्थिर हो जाये कि कोई उसे हिला भी न सके। दृष्टान्त (न० १) साँप की स्थिरता का दर्शन तब होता है, जब वह प्रवेश करता हुआ बिल में सिर डाल देता है। उसके बाद चाहे जितने ही बलशाली लोग उसे ऊपर की ओर खींचें, किन्तु खींच नहीं सकते। यह है उसकी 'स्थिरपदता'। इसी प्रकार दृष्टान्त (न० २) गोधा की स्थिरपदता भी प्रसिद्ध है। मध्यकालीन इतिहास में अनेक ऐसे वर्णन मिलते हैं, जिनमें शत्रुओं के किलों पर सेनाओं के चढ़ने के लिये गोधा के पैर में मजबूत डोरी बाँध कर किले की चहारदीवारी के ऊपरी भाग पर गोधा को फेंक दिया जाता था। गोधा ऊपर दीवाल की छत से चिपक जाती थी और सेना उस डोरी के सहारे किले के अन्दर प्रविष्ट हो जाती थी। डोरी-सहित गोधा को 'कमन्द' कहा जाता है॥ ३१॥

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मूर्धा में स्थित ज्योति में (किये गये संयम से) सिद्धों का दर्शन होता है॥३२॥

शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिः। तत्र संयमात् सिद्धानां द्यावा-पृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम्॥ ३२॥

सिर की खोपड़ी के अन्दर अवकाश में अत्यन्त चमकीला प्रकाश है। उसमें किये गये संयम से अन्तरिक्ष और पृथ्वी के बीच में (अदृश्य रूप से) चलने वाले सिद्धों का दर्शन होता है॥ ३२॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—यहाँ संयमजन्य १६वें प्रकार की सिद्धि कही गयी है। मूर्द्ध-ज्योतिषि--सिर में स्थित प्रकाश में (किये गये संयम से)। सिर की खोपड़ी के

अन्दर जो छिद्र है, उसे 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं। उसमें एक अद्भुत प्रकाश रहता है। इस प्रकाश का आधार होने के कारण यह 'ब्रह्मरन्ध्र' ही **'मूर्द्धज्योतिः'** कहा जाता है।[1] सिद्धदर्शनम्––सिद्धानां देवयोनिविशेषाणां (लौकिकानां कृतेऽदृश्यानाम्) दर्शनं साक्षात्कारः (भवतीति शेषः), अदृश्य सिद्धों का साक्षात्कार होता है ॥ ३२ ॥

(भा० सि०)—शिरःकपाले—शिरसः कपालः इति तथोक्तः तस्मिन्, शिर की खोपड़ी में। अन्तश्छिद्रम्––छिद्रस्यान्तः, ब्रह्मरन्ध्र नामक छेद या अवकाश के अन्दर। प्रभास्वरम्––प्रकर्षेण भास्वरं प्रकाशमानम्, अत्यन्त चमकीला। ज्योतिः—तेज या प्रकाश है। तत्र––उसमें। संयमात्––कृतात् संयमात्, किये गये संयम से। द्यावापृथिव्योः––द्युलोक अर्थात् अन्तरिक्षलोक और पृथ्वीमण्डल के। अन्तरालचारिणाम्—अन्तराले मध्ये चरितुं विचरितुं शीलमेषामिति तथोक्तानाम्, बीच में विचरण करने वाले। सिद्धानाम्[2]––दिव्यपुरुषाणाम्[3] (अदृश्यानाम्)। दर्शनम्—साक्षात्कारः, साक्षात्कार होता है ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

या फिर प्रातिभज्ञान से सब कुछ (जान लिया जाता है) ॥ ३३ ॥

प्रातिभं नाम तारकम्। तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्। यथोदये प्रभा भास्करस्य। तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

प्रातिभज्ञान तारकज्ञान (कहा जाता) है। यह विवेकजज्ञान का प्रारम्भिक रूप है। जैसे––सूर्य के उदय के पहले उसकी प्रभा होती है। योगी प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर उसके द्वारा भी सब कुछ जान लेता है ॥ ३३ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में अन्य किसी विषय पर किये जाने वाले संयम की सिद्धि का कथन नहीं किया गया है, प्रत्युत सभी संयमों से अलग-अलग होने वाले पदार्थज्ञानों का समुच्चय एक ही साधन के द्वारा बताया जा रहा है। 'विवेकजज्ञान' जिस किसी भी संयम से उत्पन्न होता है, उस संयम के अतिरिक्त किसी संयम को करने की आवश्यकता प्रातिभज्ञान के उदय के लिये आवश्यक नहीं है। जैसे—सूर्योदय की

---

१. 'शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशाधारत्वाज्ज्योतिः।'

—रा० मा० वृ० पृ० ७२।

२. 'सिद्धः देवयोनिविशेषः।'—भा० पृ० ३४८।

३. 'सिद्धाः दिव्याः पुरुषाः।'—रा० मा० वृ० पृ० ७२।

सूचना उषा से होती है और जिस प्रकार सूर्य के समान प्रकाश तो उषा में होता नहीं, फिर भी रात्रि के अन्धकार में डूबे हुए समस्त पदार्थों की पर्याप्त जानकारी उषा के प्रकाश से भी हो जाती है। ठीक उसी प्रकार 'विवेकजज्ञान' जैसा परम-प्रकाश तो 'प्रातिभज्ञान' में नहीं होता, किन्तु फिर भी उस प्रातिभज्ञान से ही सब कुछ चीजें ज्ञात हो जाती हैं। प्रातिभात्—प्रतिभाया इदम् इति प्रातिभं (प्रतिभा + अण्) ज्ञानम्, तस्मात् इति प्रातिभात्, अर्थ यह हुआ कि विवेकजज्ञान के उदित होने के पूर्व बुद्धि में जो असामान्य प्रतिभा उदित होती है, उसका प्रकाश ही 'प्रातिभज्ञान' है। वही **'प्रतिभा ऊहः तद्भवं प्रातिभं प्रसंख्यानहेतुसंयमवतो हि तत्प्रकर्षं प्रसंख्यानोदय-पूर्वलिङ्गं यदूहजं ज्ञानं तेन सर्वं विजानाति योगी'**।[1] सर्वम्—सर्वं जानातीति शेषः, सब कुछ, जो एक-एक संयम के द्वारा अलग-अलग जाना जाता है, उसको इकट्ठा ही जानने का एक साधन यह 'प्रातिभज्ञान' भी है। इसी अभिप्राय से सूत्र में 'वा' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥ ३३ ॥

(भा० सि०)—प्रातिभं नाम तारकम्—यह प्रातिभज्ञान ही तारकज्ञान है। **'तारयति दुःखमग्नान् जनान् इति तारकम्'**—(यो० वा०)। यह तारकज्ञान क्या है ?—इसे बताया जा रहा है। तद्—तारक या प्रातिभ नामक ज्ञान। विवेकजज्ञान-स्य पूर्वरूपम्—आगे बताये गये विवेकजज्ञान का पूर्वाभास या पूर्वलिङ्ग है। **'तच्च विवेकजस्य ज्ञानस्य वक्ष्यमाणस्य सार्वज्ञ्यस्य पूर्वलिङ्गम्।'**—(यो० वा०)। यथा—जैसे। भास्करस्य उदये—सूर्योदय के प्रसङ्ग में। प्रभा—उषा का प्रकाश। सूर्य का पूर्वलिङ्ग या पूर्वाभास है। वैसे ही विवेकजज्ञान का पूर्वाभास या पूर्वलिङ्ग 'प्रातिभ-ज्ञान' है। तेन वा—उससे भी (अन्य अलग-अलग संयमों के विकल्प के रूप में)। सर्वमेव जानाति योगी—योगी सब कुछ जान लेता है। कब ? प्रातिभज्ञानस्य—प्रातिभज्ञान की। उत्पत्तौ—उत्पत्ति होने पर ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंविद् ॥ ३४ ॥

हृदय में (किये गये संयम से) चित्त का साक्षात्कार होता है ॥ ३४ ॥

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, तत्र विज्ञानम्। तस्मिन् संयमाच्चित्तसंविद् ॥ ३४ ॥

इस शरीर में जो स्वल्प कमल (सदृश) गृह (या स्थान) उसमें चित्त रहता है। उसमें (किये गये) संयम से चित्त का साक्षात्कार होता है ॥ ३४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में संयम से प्राप्त १६वें प्रकार की सिद्धि बतायी गयी है। इसमें संयम का विषय शरीर के अन्दर स्थित 'हृदयाकाश' नामक स्थान है।

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३४८।

हृदय में ही बुद्धि का निवास माना गया है। आत्मा का निवास माने जाने के कारण इस शरीर को 'ब्रह्मपुर'[१] कहते हैं। हृदये—इस हृदय में (किये गये संयम से)। चित्तसंविद्—चित्तस्य संवित् साक्षात्कारो भवतीति शेषः, चित्त[२] (अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार) का साक्षात्कार होता है ॥ ३४ ॥

(**भा० सि०**)—यद्—जो। इदम्—यह। ब्रह्मपुरे—ब्रह्म अर्थात् आत्मा का पुर अर्थात् शरीर है, उस शरीर के अन्दर। दहरम्—स्वल्पम्, छोटा। पुण्डरीकम्—कमलम्, कमलसदृश शरीर का अवयव। वेश्म—गृह या स्थान है। इतनी पंक्ति भाष्यकार ने छान्दोग्योपनिषद् से ली है। इसका अर्थ वहाँ पर आचार्य शङ्कर ने इस प्रकार किया है—

'अथानन्तरं यदिदं वक्ष्यमाणं दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकसदृशं, वेश्मेव वेश्म द्वारपालादिमत्वात्'।[३] तत्र—वहाँ पर। विज्ञानम्—बुद्धिः, चित्तम्, चित्त या अन्तःकरणसामान्य रहता है।[४] तस्मिन्—उस दहरपुण्डरीक वेश्म अर्थात् हृदय में। संयमात्—संयम करने से। 'तस्मिन्' पद का परामर्श निकटवर्ती विज्ञान से न करके 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' से करना चाहिए, क्योंकि 'दहरपुण्डरीकरूप वेश्म' 'हृदय' का ही व्याख्यान है और सूत्र में संयम का विषय हृदय ही बताया गया है, चित्त नहीं। अब शङ्का हो सकती है कि जब संयम का विषय हृदय है तो उससे हृदय का साक्षात्कार होना चाहिए, चित्त का साक्षात्कार क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर यह है कि हृदय में किये गये संयम से हृदयस्थ सकल पदार्थों का साक्षात्कार होगा और हृदय में ही चित्त भी रहता है, इसलिये हृदय में किये गये संयम से बुद्धि का साक्षात्कार होना सर्वथा स्वाभाविक एवं सुसंगत है। चित्तसंविद्—चित्तस्य ज्ञानम्, चित्त का पूर्ण साक्षात्कार होता है।

प्रसङ्गतः यह ज्ञातव्य है कि आध्यात्मिक संयम के आलम्बनभूत—(१) नाभिचक्र, (२) कण्ठकूप, (३) कूर्मनाड़ी, (४) मूर्धज्योति और (५) हृदय—हठयोग में स्वीकृत षट्चक्रों या सप्तचक्रों के प्रारम्भिक आधारमात्र हैं। इन नाभिचक्र आदि को मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार चक्र ही नहीं समझ बैठना चाहिए। क्योंकि इन सात चक्रों का स्वरूप काल्पनिक रहस्यात्मक और

---

१. 'तस्मिन् ब्रह्मपुरे शरीरे दहरं वेश्म'।—यो० वा० पृ० ३४९।

२. 'चित्तमन्तःकरणसामान्यमेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदमात्रेण चतुर्धात्र दर्शने विभागात्।'—यो० वा० पृ० १२।

३. द्रष्टव्य; छा० शा० भा० पृ० ८०५।

४. 'तत्र विज्ञानं विज्ञानवृत्तिकमन्तःकरणम्।' —यो० वा० पृ० ३४९।

अभौतिक प्रकार का है,[1] जबकि सूत्रकार के द्वारा बताये गये संयम के आलम्बनभूत ये पाँचों स्थल शरीर के अन्दर स्थित, वास्तविक तथा भौतिकशरीरविज्ञान के द्वारा सम्मत हैं। हाँ, यह निश्चित है कि संयम के आलम्बनभूत, शरीर के अन्दर स्थित इन्हीं पाँचों केन्द्रों से आगे चलकर षट्चक्र और सप्तचक्र की कल्पना का विकास हुआ होगा ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्, स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

अत्यन्त भिन्न बुद्धि और पुरुष का अभिन्न रूप में ज्ञात होना भोग है, (जो कि बुद्धि की) परार्थता के कारण (होता है)। (इस भोगरूपी ज्ञान से भिन्न) स्वार्थ (केवल पुरुषवस्तुक प्रत्यय) में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है ॥३५॥

बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्। तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्त-विधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः। तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्यया-विशेषो भोगः पुरुषस्य, दर्शितविषयत्वात्। स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थ-त्वाद् दृश्यः। यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुषविषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते। पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तम्— 'विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्'—(बृ० २।४।१४) इति ॥ ३५ ॥

बुद्धिगत प्रकाशस्वभाव सत्त्वगुण समान रूप से अविनाभावी रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत करके सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के रूप में (विवेकख्याति की दशा में) परिणत होता है। उस परिणामी सत्त्वगुण से अत्यन्त विपरीत धर्म वाला, उससे भिन्न शुद्ध, चैतन्यमात्रस्वरूप पुरुष होता है। (इस प्रकार) अत्यन्त भिन्न बुद्धि और पुरुष (नामक तत्त्वों) का अभिन्न (एकाकार) रूप से भासित होना ही भोग है। पुरुष के दर्शितविषय (बुद्धि द्वारा दिखाये गये विषयों का प्रतिसंवेदी) होने के कारण (दोनों का एकाकार भासनरूप होता है)। यह भोग नामक (दोनों का एकाकार) ज्ञान बुद्धि की परार्थता के कारण (पुरुष का) दृश्य (बनता) है। इस

---

1. 'But careful reading of the texts suffices to show that the experiences in question are trans-physiological, that all these 'centers' represent Yogic states.'

—Yoga : Immorataliiy and Freedom p. 233।

(भोगज्ञान) से विशिष्ट (अर्थात् भिन्न), जो चैतन्यमात्र के आकार वाला एक अलग पुरुषविषयक ज्ञान (बुद्धिगत चित्प्रतिबिम्बमात्र) होता है, उसमें (किये गये) संयम से पुरुष का साक्षात्कार होता है। (किन्तु यह पुरुषसाक्षात्कार भी आत्मनिष्ठ नहीं होता, प्रत्युत प्रज्ञारूप ही होता है। इसीलिये यह भी शुद्ध पुरुषज्ञान नहीं है। (इस तथ्य का सहेतु कथन किया जा रहा है—) इस बुद्धिसत्त्वनिष्ठ पुरुषविषयक ज्ञान से द्रष्टा पुरुष नहीं देखा जा सकता है; शुद्धपुरुष को तो स्वयं पुरुष ही अनुभूत कर सकता है (मुक्तावस्था या असम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति में) वैसे ही (श्रुतियों में) कहा भी गया है—(ज्ञानस्वरूप) 'ज्ञ'-तत्त्व को अरे किस (बुद्धयादि) साधन से देखा जाये ? (अर्थात् किसी भी साधन से वह नहीं देखा जा सकता) ॥ ३५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—यह संयमजन्य १८वें प्रकार की सिद्धि है। इसमें संयम का विषय पुरुष का (बुद्धि में पड़ा हुआ) प्रतिबिम्बरूपी पुरुषविषयकप्रत्यय है, जो कि अन्य पदार्थों के ज्ञान के ग्रहीतृत्व से रहित गृहीत होता है। **'यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चिति-मात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमाद्'**[1]। इससे जो पुरुषज्ञान या पुरुषसाक्षात्कार है, वह भी विवेकख्याति का पूर्णरूप न होकर उसका आंशिक रूप ही है। इसके पहले वाले सूत्र में विवेकख्याति के लिये उपयोगी बुद्धि का साक्षात्कार 'हृदये चित्त-संविद्' बताया गया है। विवेकख्याति अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के लिये बुद्धि-सत्त्व का साक्षात्कार और पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार—दोनों अनिवार्यतः अपेक्षित हैं, क्योंकि इन दोनों तत्त्वों का साक्षात्कार होने पर ही तो दोनों की भिन्नता का साक्षा-

---

१. (क) 'बुद्धिसत्त्वगतपुरुषप्रतिबिम्बालम्बनात्पुरुषालम्बनं दर्पणवन्मुखालम्बनं न तु पुरुषप्रकाशनात्पुरुषालम्बनम्। बुद्धिसत्त्वमेव तु तेन प्रत्ययेन सङ्क्रान्तपुरुषप्रति-बिम्बं पुरुषच्छायापन्नं चैतन्यमालम्बत इति पुरुषार्थः।'—त० वै० पृ० ३४३।

(ख) 'यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रावलम्बनः परित्यक्ताहङ्कारसत्त्वे या चिच्छाया संक्रान्तिस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषयं ज्ञानमुत्पद्यते। तत्र तदेवं रूपं स्वालम्बनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठं पुरुषो जानाति। न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते ज्ञेयत्वा-पत्तेर्ज्ञातृज्ञेययोश्चात्यन्तविरोधात्।'—रा० मा० वृ० पृ० ७३।

(ग) 'पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वस्वरूपाकारं पश्यति बुद्धयारूढमात्मानं पश्यती-त्यर्थः, स्वस्मिन्प्रतिबिम्बितमिति शेषः। तथा च स्वप्रतिबिम्बितस्वाकारबुद्धिवृत्तिदर्शन-मेव पुरुषस्य घटदर्शनमिति, न चात्र कर्मकर्तृविरोधः।'—यो० वा० पृ० ३५२।

(घ) 'पुरुषाकारत्वाद् ग्रहीताऽपि स्वार्थ इव प्रतीयते। तादृशः स्वार्थो ग्रहीता हि संयमस्य विषयः।'—भा० पृ० ३५३।

त्कार हो सकता है। इसलिये इस सूत्र के द्वारा विवेकख्याति के अनिवार्य अङ्गभूत पुरुषतत्त्व के साक्षात्कार का प्रकार बताया गया है। किन्तु एक बात इस विषय में सदा स्मरण रखनी चाहिए कि यह पुरुषसाक्षात्कार 'आत्मानुभूति' नहीं है, प्रत्युत पुरुषविषयक केवल बौद्धिकज्ञान है। भाष्यकार ने इस बात को यहीं पर स्पष्ट कर दिया है कि **'न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते।'** इस पंक्ति में **'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्'**—श्रुति की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है। **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'**—श्रुति का भी तो यही मन्तव्य है। टीकाकारों में इस सूत्र में उपदिष्ट संयम के विषय और संयमजन्य साक्षात्कार के आलम्बन के सम्बन्ध में कुछ मतभेद अवश्य है। किन्तु यह अन्तर मूलतः वाचस्पतिमिश्र और विज्ञानभिक्षु के एकप्रतिबिम्बवाद और द्विप्रतिबिम्बवाद नामक सिद्धान्तों के अन्तर के कारण ही आता है।

इस सूत्र में पुरुष के शुद्ध रूप का परिचय देने के लिये पहले उसके संकीर्ण रूप का ही कथन किया जा रहा है, क्योंकि समस्त व्यवहारकाल में उसका ज्ञान बुद्धि के साथ संकीर्णरूप में ही होता है। यह बात 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' सूत्र में ही बता दी गयी है। समस्त लौकिक जीवों की भोगावस्था ही रहती है, इसलिये उन्हें भोगरूप का ही ज्ञान होता है, जिसमें कि पुरुष बुद्धिवृत्ति के साथ संकीर्णरूप में ही भासित होता है। किन्तु इससे यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि पुरुष और बुद्धि दोनों का एक ही स्वरूप है। इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के साथ सूत्र का प्रारम्भ होता है। अत्यन्तासंकीर्णयोः—अत्यन्त असंकीर्ण अर्थात् विविक्त या भिन्न स्वरूप वाले। सत्त्व-पुरुषयोः—बुद्धि और पुरुष—इन दोनों तत्त्वों का। प्रत्ययाविशेषः—ज्ञानसाम्य, अभिन्न रूप से दिखायी पड़ना अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप में न दिखायी पड़ना ही **'भेदेनाप्रतिभासनम्'**—(रा० मा० वृ०), **'प्रत्यययोर्विविच्याग्रहणम्।'**—(यो० वा०)। भोगः—पुरुष का भोग है, यह भोग। (सत्त्वस्य) परार्थत्वात्—बुद्धि के परार्थ अभिव्यक्त होने के स्वभाव के कारण होता है। पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही बुद्धिसत्त्व अभिव्यक्त होता है।[1] परस्मै इदम् (बुद्धिसत्त्वम्) इति परार्थं बुद्धिसत्त्वं तस्य भावः परार्थत्वं तस्मात्, बुद्धिसत्त्व के पुरुषप्रयोजनसाधक होने के कारण ही यह भोग सम्भव होता है। इस प्रकार परार्थभूत बुद्धिसत्त्व की अपेक्षा से पुरुष ही स्वार्थ है। उस स्वार्थपदाभिधेय पुरुष में संयम करना बताया जा रहा है। 'स्वार्थ' शब्द का अर्थ स्पष्ट करने में भाष्यकार की यह उक्ति बड़ी सहायक है। **'किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति'**।[2] स्वार्थसंयमात्—स्वस्मै

---

१. 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम्।'—सां० का०।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० २४४।

अयमिति स्वार्थः पुरुषः,[1] तस्मिन् संयमात् इति, स्वार्थभूत पुरुष में ही संयम करने से । पुरुषज्ञानम्—पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है ।

अब इसी प्रसङ्ग में एक शङ्का और समाहित कर लेने योग्य है । वह यह कि जब बुद्धिसत्त्व और पुरुष दोनों का एक ही रूप में दिखायी पड़ना ही भोग है, तो बहुत सम्भव है कि बुद्धि और पुरुष जिस अभिन्न एक रूप में दिखायी पड़ते हों, वह पुरुष का ही रूप हो और उसी के रूप से पुरुषसत्त्व भी दिखायी पड़ रहा हो और अभिन्नाभासन को ही 'भोग' संज्ञा दी गयी हो । तब तो भोग भी मूलतः पुरुष का ही रूप हुआ और उस भोग में भी संयम करने से पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है । इस शङ्का के उत्तर में पञ्चशिख का यह सूत्र सारी असलियत स्पष्ट कर देता है कि **'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ।'** बुद्धि और पुरुष का एक ही रूप का प्रकाशन होता है और वह बुद्धिवृत्ति के रूप का ही होता है । इस प्रकार भोग वस्तुतः बुद्धि-सत्त्व के ही रूप का होता है, पुरुष रूप का नहीं । इसलिये पुरुष का साक्षात्कार करने के लिये कोई भी भोगरूप ज्ञान संयम का विषय नहीं बन सकता । इस कारण भोग से भिन्न पुरुषरूप ही इस संयम का विषय बताया जा रहा है । यह स्वार्थ पुरुष किस रूप का है ? और किस प्रकार संयम का विषय बनाया जा सकता है ? इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि बुद्धिसन्निधिहीन, निर्लेप असङ्ग पुरुषतत्त्व में तो बुद्धि का प्रवेश ही नहीं हो सकता । इसलिये वह अपने मौलिक स्वरूप में तो संयम का विषय बन ही नहीं सकता । तो फिर इस संयम का विषय कौन-सा है ? बुद्धिसत्त्वसन्निहित पुरुष का जो प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है, उससे संयुक्त बुद्धि घटपटादि पदार्थाकाराकारित होकर ग्रहीता पुरुष द्वारा गृहीत होती है अर्थात् उसका दृश्य बनती है । यह तो पुरुष का भोग कहा जाता है । और जब पुरुषप्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि किसी भी विषय के आकार से आकारित नहीं होती, उस समय बुद्धि स्वच्छ चित्प्रतिबिम्बमयी मात्र रहती है । बुद्धि पर पड़ा हुआ यह 'पुरुष का प्रतिबिम्ब' ही स्वार्थ पुरुष का बुद्धिगोचर रूप है । यही इस सूत्रोपदिष्ट संयम का विषय है । इससे पुरुष के शुद्ध एवं तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार कैसे हो जाता है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे सामने अनुपस्थित एवं दृष्टिगोचर न होने वाले मनुष्य का स्वरूप उसके फोटो से जाना जाता है, या स्वच्छजलादि में प्रतिबिम्बित सूर्य को देखकर सूर्य-बिम्ब का ज्ञान हो जाता है, या जैसे दर्पण में पड़ते हुए किसी प्राणी के प्रतिबिम्ब को देखकर दर्पणाभिमुख कोई दूसरा व्यक्ति उस पुरुष के रूप का साक्षात्कार कर लेता है, वैसे ही बुद्धि में प्रति-

---

१. 'सर्वं पुरुषाय कल्पते पुरुषस्तु न कस्मैचिदित्यर्थः ।'

—त० वै० पृ० २१७ ।

बिम्बित पुरुष के स्वरूप में संयम करने से पुरुष के वास्तविक रूप का बौद्धिक ज्ञान योगी को हो जाता है। जैसा कि वाचस्पतिमिश्र ने स्पष्ट किया है—

'बुद्धिसत्त्वगतपुरुषप्रतिबिम्बालम्बनात् पुरुषालम्बनं दर्पणवन्मुखालम्बनं न तु पुरुषप्रकाशनात् पुरुषालम्बनं बुद्धिसत्त्वमेव तु तेन प्रत्ययेन सङ्क्रान्तपुरुषप्रतिबिम्बं पुरुषच्छायाऽऽपन्नं चैतन्यमालम्बत इति पुरुषार्थः'[1] ॥ ३५ ॥

(**भा० सि०**)—बुद्धि और पुरुष तो भिन्नरूप के हैं ही, किन्तु किसी को यह संदेह न हो कि रजोगुण और तमोगुण के सम्पर्क के कारण सत्त्वगुण पुरुष से भिन्न हो जाता है और स्वयं प्रकाशशीलता इत्यादि धर्मों के कारण पुरुष के समान ही होता है, इसलिये भाष्यकार पुरुष की तुलना सर्वथा अभिव्यक्त सत्त्व से ही करते और दोनों को परस्पर अत्यन्त भिन्न सिद्ध करते हैं। सत्त्वगुण विवेकख्याति की स्थिति में सर्वथा अभिव्यक्त होता है, अतः उस दशा के सत्त्व को पुरुष से भिन्नाकार प्रतिपादित किया जा रहा है। प्रख्याशीलं बुद्धिसत्त्वम्—प्रकाशस्वभाव वाला बुद्धिरूप में परिणत सत्त्वगुण। समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी—(प्रत्येकम्) सत्त्वे सत्तायाम् उपनिबन्धनं कारणं हेतुः इति सत्त्वोपनिबन्धनम्, एक-दूसरे की सत्ता का कारण होना अर्थात् परस्पर अविनाभावी होना। **'सत्त्वोपनिबन्धनम् अविनाभावित्वम्'**—(भा०)। समानम् एकरूपं सत्त्वोपनिबन्धनम् अविनाभावित्वं ययोस्ते तथोक्ते (नपु० द्वि० व०), समान रूप से एक-दूसरे के अविनाभावी रजोगुण और तमोगुण को। वशीकृत्य—अभिभूय, अभिभूत करके, बिल्कुल दबा करके। सत्त्वपुरुषान्यता प्रत्ययेन परिणतं सत्त्वं च पुरुषश्च तयोरन्यता विविक्तत्वं भिन्नत्वम् इति सत्त्वपुरुषान्यता तस्याः प्रत्ययः ज्ञानम्, ख्यातिरिति तथोक्तस्तेन (रूपेण) परिणतं लब्धपरिणामक्रमम्, विवेकख्यातिरूप में परिणत होता है। तस्माच्च परिणामिनः सत्त्वात्—उस परिणामी सत्त्व से भी **'चकारोऽप्यर्थकः न केवलं रजस्तमोभ्यामित्यर्थः'**।[2] अत्यन्तविधर्मा—विपरीतः धर्मः यस्यासौ विधर्मा **'धर्मादनिच्केवलात्'**।[3] अत्यन्तं यथा तथा विधर्मा इति अत्यन्तविधर्मा, बिल्कुल विरुद्ध धर्म वाला। शुद्धः—त्रिगुणातीत। अन्यः—अतिरिक्ततत्त्वभूतः, भिन्नतत्त्व। चितिमात्ररूपः—चितिरेव चितिमात्रं, तदेव रूपं यस्य स चितिमात्ररूपः, केवल चैतन्य रूप पुरुष होता है। इस प्रकार एक-दूसरे से। अत्यन्तासङ्कीर्णयोः तयोः—अत्यन्त अलग या भिन्न—इन दोनों तत्त्वों के। प्रत्यययोः अविशेषः—ज्ञानयोः सम्यगेकाकारता, ज्ञानों की एकाकारता अर्थात् अभिन्न रूप से भासित होना। भोगः—भोग है। पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात्—

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५३।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५१।

३. द्रष्टव्य; पा० सू० ५।४।१२४।

पुरुष, बुद्धि के द्वारा दर्शित विषयों का अभिमान करने वाला होता है—इस कारण से 'भोग' सम्भव होता है। स भोगप्रत्ययः—यह भोगरूप ज्ञान। सत्त्वस्य परार्थत्वात्—बुद्धिसत्त्व के पुरुष का अर्थ सिद्ध करने वाला होने के कारण। दृश्यः—पुरुष का दृश्य या भोग्य बनता है।

यस्तु—किन्तु जो। तस्माद् विशिष्टः—उस 'भोग' रूपी ज्ञान से भिन्न। चितिमात्ररूपः अन्यः पौरुषेयः प्रत्ययः—चैतन्यमात्र के आकार वाला एक अलग पुरुषविषयक ज्ञान होता है अर्थात् बुद्धिवृत्ति में पड़ा हुआ सर्वविषयात्मक वृत्ति से भिन्न केवल पुरुषप्रतिबिम्ब है। तत्र संयमाद्—उसमें किये गये संयम से। पुरुषविषया प्रज्ञा जायते—पुरुष का साक्षात्कार होता है। किन्तु यह 'पुरुषसाक्षात्कार' भी बुद्धिकृत ही है। इस साक्षात्कार को आत्मनिष्ठानुभूति या अपरोक्षानुभूति नहीं मान लेना चाहिए। वैसा अनुभव तो बुद्धि के द्वारा हो ही नहीं सकता। वह तो मन का अमनीभाव होने पर अर्थात् सात्त्विक वृत्ति का भी पूर्ण निरोध हो जाने पर अर्थात् 'असम्प्रज्ञातसमाधि' के सिद्ध होने पर ही हो सकता है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' की स्थिति तो असम्प्रज्ञात की सिद्धि होने पर ही आती है। उसके पूर्व तो 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' की ही स्थिति रहती है। बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषप्रत्ययेन च—और बुद्धिनिष्ठ इस पुरुषज्ञान से अर्थात् पुरुषविषयक साक्षात्कार से। पुरुषो न दृश्यते—पुरुषतत्त्व का साक्षाद् बोध नहीं होता, क्योंकि अचित् बुद्धि के द्वारा चित्पुरुष का प्रकाशन असम्भव है। **'चित्या जडः प्रकाश्यते न जडेन चितिः। पुरुषप्रत्ययस्त्वचिदात्मा कथं चिदात्मानं प्रकाशयेत्।'**—(त० वै०)।

पुरुष एव—आत्मा ही (बुद्धिनिरपेक्षरूप से)। स्वात्मावलम्बनं प्रत्ययं पश्यति—अपना बोध करता है, आत्मानुभव करता है। तथाहि—क्योंकि इसी प्रकार। उक्तम्—श्रुतियों में कहा गया है। विज्ञातारम्—विज्ञानघन, आत्मतत्त्व को। अरे—आश्चर्यबोधक अव्यय पद है, आखिर। केन—कीदृशेन साधनेन, बुद्धि इत्यादि किस साधन से ? विजानीयाद्—जानना चाहिए अर्थात् किसी भी साधन से (बुद्धीन्द्रियादि द्वारा) नहीं जाना जा सकता। वह तो अवाङ्मनसगोचर है। वही अपने आप को जानता है—यह अभिप्राय है। वह तो साक्षात् ज्ञानरूप 'ज्ञ' ही है॥ ३५॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शाऽऽस्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

उस (स्वार्थसंयम) से प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्ता (नामक सिद्धियाँ) उत्पन्न होती हैं॥ ३६॥

प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम् । श्रावणाद्दिव्यशब्द-श्रवणम् । वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः । आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित् । आस्वादा-द्दिव्यरससंवित् । वार्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥३६॥

प्रातिभ (सिद्धि) से सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरस्थ तथा अतीत और अनागत का ज्ञान होता है। श्रावण (नामक सिद्धि) से दिव्य शब्द सुनायी पड़ता है, वेदन (नामक सिद्धि) से दिव्यस्पर्श की अनुभूति (होती है) । आदर्श (नामक सिद्धि) से दिव्यरस का अनुभव (होता है) । वार्ता (नामक सिद्धि) से दिव्यगन्ध की अनुभूति (होती है) । (इन सिद्धियों से) ये इतने सदा होते हैं ॥ ३६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—पूर्ववर्ती सूत्र में निर्दिष्ट संयम की ही अवान्तर सिद्धि इस सूत्र में भी बतायी गयी है । इसमें किसी नये आलम्बन पर किये गये संयम की सिद्धि का वर्णन नहीं किया गया। इसे पुरुषसाक्षात्कार का भी फल नहीं मानना चाहिए। क्योंकि भाष्यकार की ३७वें सूत्र की उक्ति 'तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वाद्' इन सिद्धियों को पुरुषसाक्षात्कार की विरोधिनी और बाधिका सिद्ध करती है । (विज्ञानभिक्षु को छोड़-कर) वाचस्पतिमिश्र और भोजराज इत्यादि आचार्यों की भी यही सम्मति है । **'स च स्वार्थसंयमो न यावत्प्रधानं स्वकार्यं पुरुषज्ञानमभिनिर्वर्तयति तावत् तस्य पुरस्ताद् या विभूतीराधत्ते ताः सर्वा दर्शयति ।'**—(त० वै०) । **'ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानाद् व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि (प्रातिभादीनि) जायन्ते ।'**—(रा० मा० वृ०) । ततः—उस स्वार्थ (पुरुष) में संयम करने से पुरुषसाक्षात्कार के पूर्व ही । प्रातिभश्च श्रावणश्च वेदनश्च आदर्शश्च आस्वादश्च वार्ता चेत्येते षट् प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वाद-वार्ताः जायन्ते—प्रातिभम्—प्रातिभज्ञान ('मन' नामक इन्द्रिय का विषयभूत); श्रावणम्—दिव्यशब्द सुनायी पड़ना (श्रवणेन्द्रिय का विषयभूत) । वेदनम्—दिव्य-स्पर्शानुभव (त्वगिन्द्रिय का विषयभूत) । आदर्शम्—दिव्यरूप दिखायी पड़ना (चक्षुरिन्द्रिय का विषयभूत); आस्वादः—दिव्यरसास्वादन (रसनेन्द्रिय का विषय-भूत) और । वार्ता—दिव्यगन्ध का अनुभव (घ्राणेन्द्रिय का विषयभूत) । ये छहों अलौकिक विभूतियाँ । जायन्ते— उत्पद्यन्ते, उत्पन्न हो जाती हैं । प्रातिभज्ञान का परिचय तो 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' (३३वें) सूत्र में ग्रन्थकार पहले ही करा चुके हैं । श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता—ये छह तत्तदिन्द्रियों के अलौकिक विषयानुभवों के शास्त्रीय नाम हैं । इसलिये इनको लौकिकश्रावणादि से भिन्न जानना चाहिए[1] ॥ ३६ ॥

---

१. 'श्रोत्रादीनां पञ्चानां दिव्यशब्दाद्युपलम्भकानां तान्त्रिक्यः सञ्ज्ञाः श्रावणाद्याः ।' —त० वै० पृ० ३५४ ।

(भा० सि०)—जैसा कि इस पाद के ३३वें सूत्र में निर्दिष्ट किया जा चुका है तदनुकूल । प्रातिभाद्—प्रातिभज्ञान से । सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतानां ज्ञानमिति तथोक्तम्—परमाण्वादि सूक्ष्म पदार्थों का, दृष्टि से अन्तरित या व्यवहित पदार्थों का, दूरदेशस्थ पदार्थों का, अतीतकालिक वस्तुओं का तथा अनागत या भविष्यत्कालिक पदार्थों का ज्ञान होता है । श्रावणाद्—'श्रावण' नाम की सिद्धि से । दिव्यशब्दश्रवणम्—देवलोक के-से शब्द सुनायी पड़ते हैं । वेदनात्—'वेदन' नामक त्वगिन्द्रियसम्बन्धी विभूति से । दिव्यस्पर्शाधिगमः—दिव्य जीवों और दिव्य वस्तुओं के स्पर्श की अनुभूति होती है **'तस्माद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानं समुपजायते'**—(रा० मा०) । आदर्शाद्—'आदर्श' नाम की विभूति से । दिव्यरूपसंविद्—(दिव्यपदार्थों के) रूपों का साक्षात्कार होता है । आस्वादाद्—'आस्वाद' नाम की विभूति से । दिव्यरससंविद्—(दिव्यपदार्थों के) स्वाद की अनुभूति होती है । वार्तातः—वार्ता नाम की विभूति से । दिव्यगन्धविज्ञानम्—दिव्य (द्युलोकीय पुष्पादिपदार्थों की) सुगन्ध का अनुभव होता है । इति एतानि—ये सब (छहों प्रकार की) असाधारण विभूतियाँ । नित्यम्—सदा **'कामनां विनापि'**—(यो० वा०), योगी की इच्छा के बिना ही । जायन्ते[1]—योगी को प्राप्त होती हैं ।। ३६ ।।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।। ३७ ।।

वे (प्रातिभादि विभूतियाँ) समाधि में अन्तरायरूप और व्युत्थान में (ही) सिद्धिरूप हैं ।। ३७ ।।

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात् । व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ।। ३७ ।।

वे (अर्थात्) प्रातिभादि (विभूतियाँ) समाहितचित्त योगी के लिये (तो) उत्पन्न होने वाले विघ्न हैं, उस (पुरुष) के साक्षात्कार के विरोधी होने के कारण । व्युत्थितचित्त के लिये ये (अवश्य ही) उत्पन्न होती हुई सिद्धियाँ हैं ।। ३७ ।।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—'प्रातिभ' इत्यादि विभूतियाँ पुरुषतत्त्व के साक्षात्कार में विषयान्तर उपस्थित करने के कारण विघ्नरूप होती हैं, इसीलिये इन्हें उपसर्ग कहा गया है । प्रश्न यह है कि जब ये विघ्नरूप हैं, तो फिर इनको 'सिद्धि' क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर दिया जा रहा है । ते—वे प्रातिभ इत्यादि विभूतियाँ । समाधौ—समाधि में अर्थात् समाधि की निष्पत्ति में । उपसर्गाः—**'अन्तरायाः'**—(यो० वा०),

---

१. 'एताः सिद्धयो नित्यं भूमिविनियोगमन्तरेणेत्यर्थः प्रादुर्भवन्ति ।'
—भा० पृ० ३५४ ।

विघ्न हैं। व्युत्थाने—व्युत्थान की स्थिति में, ये विभूतियाँ। सिद्धयः--'सिद्धि' कही जाती हैं। समाधि की दृष्टि से तो ये सिद्धि न होकर विघ्नरूप ही हैं। **'अतो व्युत्थानापेक्षयैवैते सिद्धयः, पुरुषार्था इत्यर्थः'**।[1] **'व्युत्थितचित्तो हि ताः सिद्धीरभिमन्यते जन्मदुर्गत इव द्रविणकणिकामपि द्रविणसम्भारम्'**[2] ॥ ३७ ॥

(भा० सि०)—ते—वे। प्रातिभादयः—प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नाम की विभूतियाँ। उत्पद्यमानाः सत्यः—उत्पन्न होती हुई। स्वार्थसंयम में लगे हुए समाधिरत योगी को पुरुषतत्त्व के साक्षात्कार के पहले ही आनुषङ्गिक रूप से उत्पन्न होने वाली ये विभूतियाँ। समाहितचित्तस्य—समाधिनिष्ठ योगी के लिये। उपसर्गाः—उपसर्ग या विघ्नरूप हैं, उत्पातस्वरूप हैं।[3] इसका कारण बता रहे हैं। तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वाद्—तस्य दर्शनस्य प्रत्यनीकत्वाद् विरोधित्वादित्यर्थः, पुरुषसाक्षात्कार की विरोधिनी होने के कारण, पुरुषसाक्षात्कार के मार्ग में बाधक ही होती हैं। व्युत्थितचित्तस्य—समाधिलभ्य आत्मसाक्षात्कार रूपी लक्ष्य से हीन लौकिक बुद्धि वाले जीव के लिये अवश्य ही। सिद्धयः—ये सिद्धियाँ या कमाल कही जा सकती हैं। संयमजन्य अन्य सिद्धियाँ भी यदि पुरुषसाक्षात्कार के मार्ग में बाधा डालती हैं, तो वे भी विघ्नरूप ही समझी जानी चाहिए। फिर यह कथन केवल प्रातिभादि विभूतियों के लिये ही क्यों किया गया है? इसका प्रधान कारण यही है कि अन्य सिद्धियाँ पुरुषसाक्षात्कार की योग्यता के बहुत पहले की हैं, उस समय तक पुरुषसाक्षात्कार का कोई निश्चय तो रहता नहीं। और ये सिद्धियाँ ठीक पुरुषसाक्षात्कार के पूर्वकाल में और उसी संयम से प्राप्त होने वाली हैं, इसलिये शीघ्रप्राप्य पुरुषदर्शनरूप फल में इन्हीं के द्वारा विलम्ब और विघ्न पड़ता है। अतः इन्हीं के सन्दर्भ में यह कथन सर्वथा सुसंगत एवं आवश्यक है। वैसे 'पुरुषदर्शनप्रत्यनीकत्व' की दृष्टि से अन्य विभूतियों में भी उपसर्गत्व का अतिदेश समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

(चित्त के) बन्धन के कारणभूत (कर्मसंस्कार) के शिथिल पड़ जाने से और (चित्त की) गति का ज्ञान हो जाने से, चित्त का दूसरों के शरीर में प्रवेश हो सकता है ॥ ३८ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३५५।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५५।

३. 'अजन्यं क्लीब उत्पात उपसर्गः समं त्रयम्।'—अमरकोषः २।८।१४।

लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद् बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति, प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव। कर्मबन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति। यथा—मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति॥ ३८॥

चञ्चलस्वभाव (अतः) अस्थिर मन का कर्मसंस्कारवश शरीर (की सीमा) में बन्धन अर्थात् रुकाव (रहता) है। उस बन्धनकारक कर्म (संस्कार) का ढीलापन समाधि के बल से होता है और चित्त की गति की जानकारी तो समाधि से ही उत्पन्न होती है। कर्म (संस्कार) रूपी बन्धन के ढीले हो जाने और अपने चित्त की गति की जानकारी हो जाने से योगी (अपने) चित्त को शरीर से बाहर निकाल कर अन्य शरीरों में प्रविष्ट कर-(सक) ता है, और इस प्रकार से प्रविष्ट कराये गये चित्त का (उस योगी के शरीर की) इन्द्रियाँ अनुगमन करती हैं। जैसे—मधुमक्खियाँ उड़ते हुए मधुमक्खियों के राजा के पीछे उड़ जाती हैं और प्रविष्ट होते हुए मधुमक्खियों के राजा के पीछे प्रविष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ (भी) दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होने में चित्त का अनुसरण करती हैं॥ ३८॥

(सू० सि०)—३६वें सूत्रपर्यन्त संयम से प्राप्य विविधसाक्षात्काररूपी सिद्धियों का कथन किया गया। अब संयम से प्राप्य क्रियारूपी सिद्धियों का निरूपण किया जा रहा है।[1] यद्यपि मन भी विभु है, किन्तु नियतकर्मसंस्कारों के कारण वह शरीर के अन्तर्गत बँधा हुआ-सा रहता है। बन्धकारणशैथिल्यात्—(मनसः) बन्धस्य कारणम् (कर्मसंस्कारः), तस्य शैथिल्यात् तानवात्, मन के (शरीर के अन्दर) बँधने के कारणभूत जो कर्मजन्यसंस्कार धर्माधर्म रूप होते हैं[2], समाधि के द्वारा उन कर्मसंस्कारों के शिथिल या ढीले हो जाने से। प्रचारसंवेदनाच्च—प्रचारस्य गतेः संवेदनं संयमलभ्यज्ञानं तस्माच्च, और मन या चित्त की चाल किन मार्गों से होती है? किस स्थान से किस स्थान की ओर होती है? कितनी शीघ्रता से होती है? चित्त की मार्गभूता शरीरस्थ किन नाड़ियों से होकर चित्त चला करता है?—चित्त की गति से सम्बन्धित इन सारी बातों की (संयम के द्वारा) जानकारी हो जाने से

---

१. 'तदेवं ज्ञानरूपमैश्वर्यं पुरुषदर्शनान्तं संयमफलमुक्त्वा क्रियारूपमैश्वर्यं संयमफलमाह।'—त० वै० पृ० ३५५।

२. 'मनसो धर्माधर्मवशादेव शरीरे या प्रतिष्ठा ज्ञानहेतुः सम्बन्धविशेषः, स बन्ध इत्यर्थः।'—यो० वा० पृ० ३५५।

साधक अपने शरीर के साथ-साथ दूसरों के शरीरों में भी चित्त की गति की साधन-भूता नाड़ियों और स्थानविशेषों का ज्ञान कर लेता है। इस कारण से वह अपने चित्त को दूसरे प्राणियों के जीवित या मृत शरीर में आविष्ट अर्थात् प्रविष्ट कराने में समर्थ होता है। यही बात अगले सूत्रांश में कही गयी है। चित्तस्य—योगी के चित्त का। परशरीरावेशः—परेषां शरीरेषु आवेशः प्रवेशः भवितुमर्हतीति शेषः, दूसरों के शरीरों में प्रवेश हो सकता है। योगी जब चाहे, जिसके शरीर में चाहे (जीवित या मृत प्राणी के शरीर में) इस सिद्धि के द्वारा अपने चित्त को प्रविष्ट कर सकता है। भोजराज इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

'चित्तस्य च योऽसौ प्रकारो हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी, अनया चित्तं वहति, इयञ्च रसप्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति। स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति तदा परकीयं शरीरं मृतं जीवच्छरीरं वा चित्तसञ्चारद्वारेण प्रविशति'[1] ॥ ३८ ॥

(**भा० सि०**)—लोलीभूतस्य—**'चञ्चलस्य, यत्र क्वचनगामिनो मनसः'**—(भा०), चञ्चल स्वभाव वाले। अप्रतिष्ठस्य—अत एव अस्थिरस्य, एक ही जगह पर नहीं टिकने वाले। मनसः—चित्तस्य, चित का। कर्माशयवशाद्—कर्मजन्यसंस्कारों के कारण ही। शरीरे बन्धः—एक ही शरीर में बन्धन या परिसीमन हो जाता है। इसी 'बन्ध' का अर्थ भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि। बन्धः प्रतिष्ठा इत्यर्थः—बन्ध का अर्थ है प्रतिष्ठा, अवस्थिति, स्थित होना। इससे निश्चित हुआ कि सर्वत्र प्रसरण-शील मन कर्मसंस्कारों की बदौलत ही किसी एक शरीर में बँधा हुआ स्थित रहता है। तस्य बन्धकारणस्य कर्मणः—उन मनोबन्धनकारी कर्मसंस्कारों अर्थात् कर्मों का। (कर्म और कर्मजन्यसंस्कार, कार्यकारणाभेद की विवक्षा से एक-दूसरे के लिये व्यव-हृत किये गये हैं)। शैथिल्यम्—शिथिलता, ढीला पड़ना, बिल्कुल हल्का पड़ जाना। समाधिबलाद्—समाधि के बल से, संयम के फलस्वरूप। भवति—होता है, सम्भव होता है। सम्पत्ति के द्वारा मनोबन्धनकारी कर्मसंस्कारों के शिथिल पड़ जाने से। प्रचारसंवेदनञ्च चित्तस्य—और चित्त की गति (के मार्ग, स्थान आदि का) ज्ञान। समाधिजमेव—समाधिकृतं फलमेव, समाधि से प्रादुर्भूत फल ही है। आशय यह है कि समाधि से ही 'बन्धकारणभूत कर्मसंस्कारशैथिल्य' और 'चित्तप्रचारसंवेदन' दोनों उत्पन्न होते हैं और इन दोनों हेतुओं से चित्त का परशरीरप्रवेश सम्भव होता है। कर्मबन्धक्षयात्—कर्मकृत बन्धन के क्षीण हो जाने से। स्वचित्तस्य—अपने चित्त के। प्रचारसंवेदनात् च—और चित्त के चलने (की रीति, रफ्तार और मार्ग इत्यादि) का ज्ञान हो जाने से। योगी चित्तम्—योगी अपने चित्त को।

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ७५।

स्वशरीरात्—अपने शरीर से । निष्कृष्य—निकालकर । शरीरान्तरेषु—अन्य प्राणियों के शरीरों में । निक्षिपति—डाल देता है, **'परशरीरमाविशति'**—(त० वै०) । निक्षिप्तं चित्तम्—इस प्रकार से अन्यत्र प्रविष्ट चित्त का । इन्द्रियाणि अनुपतन्ति—योगी की इन्द्रियाँ (भी) अनुगमन करती हैं । **'इन्द्रियाणि च चित्तानुसारीणि परशरीरे यथाधिष्ठानं निविशन्त इति ।'**—(त० वै०) । अब इन्द्रियों के द्वारा किये जाने वाले चित्तानुपतन के लिये मधुमक्षिकाओं और मधुकरराज का दृष्टान्त दिया जा रहा है । यथा उत्पतन्तं मधुकरराजम्—जैसे उड़ते हुए मधुकरराज के । मक्षिका अनूत्पतन्ति—पीछे-पीछे मधुमक्खियाँ उड़ जाती हैं । निविशमानम् अनुनिविशन्ते—और (छत्तों में) प्रविष्ट होते हुए उसके पीछे-पीछे (छत्ते में) प्रविष्ट हो जाती हैं । तथा—उसी प्रकार से । इन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते—दूसरे के शरीरों में प्रविष्ट होने में इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुसरण करती हैं । 'अनुविधीयन्ते'—प्रयोग में 'अनु' और 'वि'-पूर्वक √'धीङ् आधारे' धातु (दिवादि० आत्मने०) का लट् लकार, प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप समझना चाहिए, क्योंकि √डुधाञ् धातु में प्रयुक्त 'यक्' प्रत्यय का यहाँ कोई निमित्त नहीं है ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदान (वायु पर संयम करके, उस) को जीतने से जल, कीचड़ और काँटे इत्यादि में न फँसना और ऊर्ध्वगमन सिद्ध होता है ॥ ३९ ॥

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम् । तस्य क्रिया पञ्चतयी । प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः । समं नयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः । अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः । उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति । तेषां प्रधानं प्राणः । उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्गः, उत्क्रान्तिश्च प्रायणकाले[1] भवति । तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

प्राणनादिलक्षणों वाला, सभी इन्द्रियों का (सामान्य) व्यापार ही 'जीवन' है । उस (जीवन नामक इन्द्रियव्यापार) के कार्य (अभिव्यक्त परिणाम) पाँच रूपों वाले होते हैं । (उनमें से)—(१) मुख और नासिका के द्वारा संचार करने वाला (तथा नासिकाग्र से लेकर) हृदयपर्यन्त रहने वाला (कार्य) 'प्राण' है । (२) और (भुक्त-पीत अन्नादि के रस को) समान रूप से ले जाने के कारण (हृदय से लेकर) नाभिपर्यन्त रहने वाला (कार्य) 'समान' होता है । (३) (मलमूत्र-गर्भादि को) नीचे ले जाने के कारण (नाभि से लेकर नीचे) पैर के तलुए तक रहने वाला (कार्य) 'अपान' है । (४) (रसादि को नासिकाग्र से) ऊपर की

---

१. 'प्रयाणकाले'—इति पाठान्तरम् ।

ओर ले जाने के कारण (नासिकाग्र से लेकर ऊपर की ओर) शिर तक रहने वाला (कार्य) 'उदान' है । (५) (और समस्त शरीर में) व्याप्त रहने वाला (कार्य) 'व्यान' है । (उत्क्रमणकाल में शेष चार के द्वारा 'प्राणों' का ही अनुगमन किये जाने के कारण) उन सबमें प्रधान 'प्राण' ही (माना जाता) है । (इनमें से) 'उदान' को (संयम के द्वारा) जीत लेने से जल, कीचड़ और काँटों इत्यादि में फँसाव नहीं होता और मरणकाल में (योगी का) ऊर्ध्वगमन होता है । इस (ऊर्ध्व-गमन) को (वह) अपने अधीन कर लेता है ।। ३९ ।।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में संयम के द्वारा प्राप्त होने वाली क्रियारूपी दूसरी सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है । उदानजयात्—पाँच प्रकार के प्राणों में से एक 'उदान' नामक प्राण भी है, 'उदान' नामक प्राण पर संयम करने से इस पर विजय प्राप्त होती है । इस 'उदानजय' के फलस्वरूप । जलपङ्ककण्टकादिषु असङ्गः—जलञ्च पङ्कश्च कण्टकश्च इति जलपङ्ककण्टकास्ते आदौ येषां तेषु तथोक्तेषु, जल, कीचड़ और काँटे इत्यादि पदार्थों में डूबने या फँसने का अभाव सिद्ध होता है । इसके फलस्वरूप योगी में ऊपर उठ जाने की अद्भुत क्षमता आ जाती है, इसलिये वह इन पदार्थों के ऊपर ही ऊपर भारहीन-सा होकर चल सकता है । इन वस्तुओं में न तो वह डूबता है, न नीचे धँसता है । **'ऊर्ध्वगतित्वेन जले महानद्यादौ, महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा न सज्जतेऽतिलघुत्वात् । तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽप्युद्गच्छतीत्यर्थः'** ।[1] उत्क्रान्तिश्च—(स्वायत्ता भवति इति शेषः) मरणकाल में उस योगी की ऊर्ध्वगति भी सुनिश्चित हो जाती है । **'उत्क्रान्तिश्चार्चिरादिमार्गेण भवति प्रयाणकाले'**[2] ।।३९।।

(भा० सि०)—'उदान' को ठीक-ठीक समझाने के लिये भाष्यकार प्राणों का स्वरूप निरूपित कर रहे हैं । प्राणादिलक्षणा—प्राणादिः लक्षणं रूपं नाम वा यस्याः सा (वृत्तिः व्यापारः) तथोक्ता—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन नामों वाली (वृत्ति) । समस्तेन्द्रियवृत्तिः—सभी इन्द्रियों की वृत्ति अर्थात् ग्यारहों इन्द्रियों का व्यापार जिसे प्राण, समान, उदान और व्यान नाम दिया जाता है, वही 'जीवन' है । **'जीवननाम्नी सर्वेन्द्रियाणां वृत्तिः प्राणनापाननादिरूपेत्यर्थः'** ।[3] इन्द्रियों के व्यापार दो प्रकार के होते हैं—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर ।[4] ये बाह्य-

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ७६ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५८ ।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३५६ ।

४. 'द्वयीन्द्रियाणां वृत्तिर्बाह्याऽऽभ्यन्तरी च । बाह्या रूपाद्यालोचनलक्षणा, आभ्यन्तरी तु जीवनम् ।'—त० वै० पृ० ३५६ ।

व्यापार 'देखना-सुनना' इत्यादि हैं। ये हर इन्द्रिय के अलग-अलग होते हैं। इन सब इन्द्रियों का सामान्य[1] व्यापार आभ्यन्तर है, यही प्राणादि नाम से प्रसिद्ध है। प्राणादिव्यापार ही प्राणी का 'जीवन' कहा जाता है। इस प्राणादि-व्यापार को शरीर के अन्तर्गत अलग-अलग स्थान पर रहने और भिन्न-भिन्न कार्य पूरा करने के अनुसार प्राण, समान, अपान और व्यान—इन पाँच नामों से अभिहित किया जाता है। इन पाँचों के मुख्य वासस्थान अमरकोश में ये बताये गये—

'हृदि प्राणो, गुदेऽपानः, समानो नाभिदेशगः।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥'

यद्यपि प्राणादि व्यापार पाँच हैं और 'प्राण' उनमें से केवल एक का ही नाम हैं, किन्तु प्रधान होने के कारण समानादि चारों को भी कभी-कभी 'प्राण' कहा जाता है, जैसे—'पञ्च प्राणाः'। इन पाँचों के सम्बन्ध में एक बात और याद रखनी चाहिए कि ये पाँचों 'वायु' नहीं हैं,[2] ये जीवनीशक्ति (Vital energy) मात्र हैं, फिर भी कभी-कभी इन्हें वायु या पवन क्यों कह दिया जाता है? वास्तविकता यह है कि शरीर में उपस्थित वायु के माध्यम से ही इन प्राणादिकों की अभिव्यक्ति होती है, इसलिये अभेदोपचार से इन्हें कभी-कभी वायु भी कह दिया जाता है। **'स हि प्रयत्न-भेदः शरीरोपगृहीतमारुतक्रियाभेदहेतुः सर्वकरणसाधारणः'**।[3] तस्य—उस जीवन की। क्रिया—**'कार्यम्'** (त० वै०), कार्य। पञ्चतयी—पाँच अवयवों अर्थात् पाँच रूपों वाली होती है। जीवन की क्रिया के पाँच रूप ही 'प्राण', 'समान', 'अपान', 'उदान' और 'व्यान' नामों से जाने जाते हैं। इन पाँचों के शरीरान्तर्गत कार्यक्षेत्र आदि विवरणों को प्रस्तावित किया जा रहा है।[4] प्राणः—प्राण। मुखनासिका-गतिः—मुख और नासिका के द्वारा गमन करने वाला; प्रकर्षेण आनयति इति

---

१. 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः वायवः पञ्च।'—सां० का०।

२. 'प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुरित्यादिश्रुतिषु वायोः प्राणकार्यत्वश्रवणात्, 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशादि'ति ब्रह्मसूत्रे वायुतत्सञ्चाराभ्यामतिरेकस्य प्राणेऽवधारणाच्च।'
—यो० वा० पृ० ३५७।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५६।

४. 'वृत्तिरन्तः समस्तानां करणानां प्रदीपवत्।
अप्रकाशा क्रियारूपा जीवनं कायधारिका॥
सा यावदनिरुद्धा तु हन्ति वायुं रजोऽधिका।
धर्माद्यनावृत्तिवशात्तावज्जीवति मानवः॥'
—युक्तिदीपिकोदाहृतौ श्लोकौ पृ० १४९।

(प्र + $\sqrt{}$अन् + णिच् + अच्) प्राणः । आहृदयवृत्तिः—हृदयमभिव्याप्येति आहृदयं वृत्तिर्यस्यासौ तथोक्तः, यह (नासिकाग्र से लेकर नीचे की ओर) हृदयपर्यन्त वृत्ति या स्थिति वाला होता है । अपनयनात्—नीचे ले जाने के कारण अर्थात् मलमूत्र-गर्भादि को नीचे की ओर ले जाने के कारण । अपानः—'अपान' नामक जीवन-कार्य । आपादतलवृत्तिः—(नाभि से लेकर नीचे की ओर) पादतल पर्यन्त, पैर के तलुए तक रहने वाला होता है । उन्नयनाद्—उद् ऊर्ध्वं नयनात्, रसादियों को ऊपर की ओर ले जाने के कारण । उदानः—'उदान' नामक जीवनकार्य । आशिरोवृत्तिः—(नासिकाग्र से लेकर ऊपर की ओर) शिरोभागपर्यन्त स्थित रहने वाला होता है । व्यानः—और 'व्यान' नामक जीवनकार्य । व्यापी—व्याप्नोति इति व्यापी, (शरीर-भर में) व्याप्त रहने वाला होता है । **'सर्वदेहव्यापिवृत्तिको बलवत्कर्महेतुर्व्यानः'** ।[1] तेषां प्रधानं प्राणः—इन पाँचों प्रकार के जीवन कार्यों में 'प्राण' सर्वप्रमुख होता है । क्योंकि जब तक (शरीर में) प्राण रहता है, तब तक शेष चारों भी शरीर में रहते हैं और जब प्राण शरीर से निकलता है, तब शेष चारों भी उसका अनुगमन करते हुए निकल जाते हैं । **'तदुत्क्रमे सर्वोत्क्रमश्रुतेः प्राणमुत्क्रामन्तमनु सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति'** ।[2]

प्राणादि पाँचों का स्वरूप, उनकी क्रिया और स्थान का निरूपण करके भाष्य-कार 'उदान' के संयम का फल बता रहे हैं । उदानस्य जयात्—उदान को संयम के द्वारा जीत लेने से । योगियों को । जलपङ्ककण्टकादिषु—जल, कीचड़ और काँटों में । असङ्गः—संसक्तेरभावः, संसर्ग का न होना, न फँसना, न डूबना । यह सिद्धि प्राप्त होती है । **'उदाने कृतसंयमस्तज्जयाज्जलादिभिर्न प्रतिहन्यते'** ।[3] इस सिद्धि के साथ ही एक अन्य सिद्धि भी इसी उदानजय से होती है । उत्क्रान्तिश्च—और ऊपर जाना, जीव की ऊर्ध्वगति । प्रायणकाले भवति—मृत्युकाल में होती है । ताम्—उस उत्क्रान्ति को । वशित्वेन प्राप्नोति—अधिकारी हो जाता है । कहने का आशय यह है कि यह 'ऊर्ध्वगति' उस योगी के वश में हो जाती है । वह मरणकाल में स्वेच्छा से ऊर्ध्वगति को अर्थात् अर्चिरादिमार्गगमन को प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

(संयम के द्वारा) 'समान' पर विजय प्राप्त कर लेने से (योगी) चमकता है ॥ ४० ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३५८ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५७ ।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५८ ।

जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति ॥ ४० ॥

'समान' को जीतने वाला (योगी) (शरीरगत) तेज को उद्भावित करके प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०) —संयम से प्राप्त होने वाली क्रियारूप एक और सिद्धि का वर्णन इस सूत्र में किया जा रहा है। पूर्ववर्ती सूत्र में 'उदानजय' की सिद्धि कही गयी थी; इस सूत्र में 'समानजय' की सिद्धि कही जा रही है। समानजयात्—'समान' नामक जीवनीशक्ति पर (संयम के द्वारा) विजय प्राप्त करने से। योगी को। ज्वलनम्—तेजस्विता अर्थात् प्रकाशित होना सिद्ध होता है ॥ ४० ॥

(भा० सि०)—जितसमानः—जितः (संयमद्वारा) समानः जीवनव्यापार-विशेषः येनासौ योगी जितसमानः, जिस योगी ने संयम के द्वारा 'समान' को जीत लिया है, वह योगी। तेजसः उपध्मानं कृत्वा—तेज का[1] (शरीर में रहने वाली अग्नि का) उपध्मान[2] करके अर्थात् तेज को उद्भावित या उद्भूतरूप करके। ज्वलति—('ज्वल् दीप्तौ' भ्वा० प० से० + लट् प्र० ए०), दीप्त होता है, चमकता है।[3] योगी में एक अद्भुत दीप्ति या चमक आ जाती है ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

कर्णेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से दिव्य कर्णेन्द्रिय प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च। यथोक्तम्—'तुल्यदेश-श्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति' इति, तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गमनावरणं चोक्तम्। तथाऽमूर्त्तस्यानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य। शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम्। बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति, तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम्। श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

समस्त श्रोत्रेन्द्रिय का आधार आकाश है और सभी शब्दों का भी। जैसा कि (पञ्चशिखाचार्य के द्वारा) यह कहा गया है कि—'समान स्थान में स्थित सभी

---

१. 'तेजसः शारीरस्योपध्मानम् उत्तेजनम्।'—त० वै० पृ० ३५८।

२. 'उपध्मानम् उत्तम्भनमुत्तेजनं ततश्च प्रज्ज्वलन्निव लक्ष्यते योगी।'
—भा० पृ० ३५२।

३. 'तेजसा प्रज्ज्वलन्निव योगी प्रतिभाति।' —रा० मा० वृ० पृ० ७६।

लोगों को एक देश वाले (एक ही प्रकार के) शब्द सुनायी पड़ते हैं।' और वह यह (श्रोत्रेन्द्रिय) आकाश का अनुमापक (सत्ता का साधक) होता है। (यह आकाश) अनावरण भी कहा गया है। उसी प्रकार अमूर्त (आकाश) के अनावरण दिखायी पड़ने से आकाश का व्यापकत्व भी प्रसिद्ध है। शब्दग्रहण से श्रोत्रेन्द्रिय की अनुमिति होती है, (क्योंकि) बहरे और न बहरे लोगों में से एक तो शब्द को सुनता है और दूसरा नहीं सुनता। इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय ही शब्द को विषय बनाने वाली होती है। (इन) शब्द और आकाश के (आधाराधेय रूप) सम्बन्ध में संयम करने वाले योगी को दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय का लाभ होता है॥ ४१॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—दिव्यश्रोत्ररूपिणी सिद्धि की प्राप्ति यद्यपि 'स्वार्थसंयम' से भी होती है, तथापि वह साक्षात् श्रवणादि विषय के संयम से नहीं प्राप्त होती और यह सिद्धि साक्षात् श्रवणादि विषय में किये गये संयम से प्राप्त होती है।[1] इसमें संयम का विषय श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के बीच का 'आधाराधेय' सम्बन्ध है। इसे भी संयमलभ्य क्रियारूप सिद्धि माननी चाहिए। इन दोनों सिद्धियों में एक प्रमुख अन्तर यह भी है कि पहले वाली सिद्धि में दिव्यशब्द का श्रवण होता है, अतः वह 'ज्ञानरूपा सिद्धि' है, जबकि इस सिद्धि में दिव्यकर्णेन्द्रिय की प्राप्ति होती है, जिसके फलस्वरूप योगी को जिस किसी अतीतानागतव्यवहित प्राणी के शब्द को सुनने की क्षमता आ जाती है—अतः यह 'क्रियारूपा सिद्धि' हैं। श्रोत्राकाशयोः—कर्णेन्द्रिय और आकाश—इन दोनों के। सम्बन्धसंयमाद्—सम्बन्धे संयमाद्, सम्बन्ध में संयम करने से। दिव्य-श्रोत्रम्—अद्भुत शक्तिसम्पन्न कर्णेन्द्रिय की प्राप्ति होती है अर्थात् कर्णेन्द्रिय अद्भुत-शक्तिसम्पन्न हो जाती है॥ ४१॥

(भा० सि०)—श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश का यथार्थ सम्बन्ध जानने के लिये इनका स्वरूप और शब्दों का स्वरूप ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है, इसी दृष्टि से भाष्यकार इनके स्वरूप का ठीक-ठीक परिचय करा रहे हैं। नैयायिकों के मत में श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश एक ही पदार्थ हैं।[2] इस मान्यता के विरुद्ध भाष्यकार यह स्थापित करते हैं कि—सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा—सभी की कर्णेन्द्रियों की प्रतिष्ठा अर्थात् आधार 'आकाश' है। तात्पर्य यह हुआ कि कर्णेन्द्रिय और आकाश परस्पर अभिन्न पदार्थ नहीं हैं, बल्कि आकाश (कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश) में कर्णेन्द्रिय

---

१. 'स्वार्थसंयमादन्वाचयशिष्टं श्रावणाद्युक्तम्, सम्प्रति श्रावणाद्यर्थादेव संयमाच्छ्रवणादि भवतीति।'—त० वै० पृ० ३५८।

२. 'आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।
इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः॥'—भा० प० ४४।२, ४५।१।

स्थित रहती है। आकाश कर्णेन्द्रिय का आधार बनता है और कर्णेन्द्रिय उसकी आधेय हुई। सर्वशब्दानाञ्च—और सभी शब्दों का भी (आधार या प्रतिष्ठा यही आकाश है)। आशय यह है कि शब्द भी आकाश में ही स्थित होते हैं। किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द—इन दोनों की आकाशाधेयता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। शब्द कार्य हैं और आकाश उनका कारण—इस प्रकार से शब्द अपने कारणभूत आकाश में रहते हुए माने गये हैं (सत्कार्यवाद की मान्यता के अनुसार)। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का कार्य नहीं है, प्रत्युत अहङ्कारजन्य है; फिर भी आकाश के उपकारापकार से श्रोत्रेन्द्रिय के उपकृत और अपकृत होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय आकाशाश्रित कहा गया है।[1] क्योंकि कर्णविवररूप आकाश में किसी ठोस द्रव्य के नीरन्ध्र उपस्थित हो जाने पर श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य रुकता है, शब्द ग्रहण नहीं हो पाता और उस द्रव्य के हटने से श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य प्रारम्भ होता है, शब्द सुनायी पड़ने लगते हैं। इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय को (कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न) आकाश में स्थित बताया गया है।

इस सम्बन्ध में पञ्चशिखाचार्य का यह सूत्र प्रमाण के तौर पर दिया गया है। तुल्यदेशश्रवणानाम्—तुल्यः समानः देशः आकाशः स्थानमिति तुल्यदेशः, तस्मिन् (तुल्यदेशे) श्रवणानि श्रोत्राणि श्रोत्रेन्द्रियाणि येषां तेषां (चैत्रमैत्रादीनाम्), जिन लोगों के कान समान स्थान में उपस्थित हैं। सर्वेषाम्—तेषां सर्वेषां जनानाम्, उन सभी श्रोताओं को। एकदेशश्रुतित्वम्—एकश्चासौ देशश्च (आकाश) इति एकदेशः तत्स्थं तद्गतमेव श्रुतित्वं शब्दाकर्णनम् इति तथोक्तम्, एक स्थान के ही शब्द सुनायी पड़ते हैं। **'तस्मात्सर्वेषामेकजातीया श्रुतिः शब्दः इत्यर्थः, तदनेन श्रोत्राधिष्ठातृत्वमाकाशस्य शब्दगुणत्वञ्च दर्शितमिति'**।[2] इस विषय को इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि जैसे प्रयाग के माघमेले में तीन पंडालों में अलग-अलग भाषण हो रहे हैं। उनमें से पहले पण्डाल में जितने लोग बैठे हैं, उनके कान उस पण्डाल में वर्तमान आकाश में स्थित हैं। दूसरे पण्डाल में श्रोताओं के कान दूसरे पण्डाल के आकाश में स्थित हैं और तीसरे पण्डाल के श्रोताओं के कान तीसरे पण्डाल के आकाश में स्थित हैं। इनमें से पहले पण्डाल में बैठे हुए सभी लोगों को एक प्रकार के शब्द सुनायी पड़ेंगे, दूसरे पण्डाल के सभी श्रोताओं को उससे भिन्न किन्तु एक ही प्रकार के शब्द सुनायी पड़ेंगे और तीसरे पण्डाल के सभी श्रोताओं को पहलेवाले दोनों पण्डालों से भिन्न किन्तु एक ही प्रकार के शब्द सुनायी पड़ेंगे। तच्चैतद्—वह यह एक स्थान-

---

१. 'सर्वश्रोत्राणामाहङ्कारिकाणामप्याकाशं कर्णशष्कुलीविवरं प्रतिष्ठा, तदायतनं श्रोत्रम्, तदुपकारापकाराभ्यां श्रोत्रस्योपकारापकारदर्शनात्।'

—त० वै० पृ० ३५९।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३५९।

गत एक ही प्रकार के शब्दों का सुनायी पड़ना। आकाशस्य लिङ्गम्[1]—आकाश की अनुमिति कराने वाला हेतु है। **'सा ह्येकजातीया शब्दव्यञ्जिका श्रुतिर्यदाश्रया तदेवाकाशशब्दवाच्यम्'**।[2]

अनावरणञ्चोक्तम्—आवरणरहित होना भी आकाश का लिङ्ग कहा गया है। तथा—उसी तरह। अमूर्तस्य—मूर्तिहीनस्याकाशस्य, मूर्तिरहित आकाश के। अनावरणदर्शनात्—अनावरण दिखायी पड़ने के कारण। आकाशस्य—आकाश का। विभुत्वमपि—सर्वव्यापकत्व, सर्वगतत्व भी। प्रख्यातम्—प्रसिद्ध है। शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम्—शब्द सुनायी पड़ने से कर्णेन्द्रिय की सत्ता की अनुमिति होती है। (यथा) बधिराबधिरयोः—बहरे (कर्णेन्द्रियहीन लोग) और न बहरे (कर्णेन्द्रिय युक्त) लोगों में से। एकः—अबधिरः, जो बहरा नहीं है। शब्दं गृह्णाति—शब्दों को सुनता है। अपरः—दूसरा अर्थात् बहरा। न गृह्णाति—नहीं सुन पाता। इति—इस प्रकार से कर्णेन्द्रिय की सत्ता का अनुमान शब्द के सुनायी पड़ने के आधार पर होता है। तस्मात्—इसलिये निश्चित हुआ कि। श्रोत्रमेव—कर्णेन्द्रिय ही। शब्दविषयम्—शब्द है ग्राह्यविषय जिसके ऐसी इन्द्रिय है, अर्थात् शब्दविषयिणी इन्द्रिय है। श्रोत्राकाशयोः—इस कर्णेन्द्रिय और आकाश के। सम्बन्धे—आधाराधेय रूप सम्बन्ध के ऊपर। कृतसंयमस्य योगिनः—संयम करने वाले योगी को। दिव्यश्रोत्रम्—दिव्यकर्णेन्द्रिय। प्रवर्त्तते—प्रवृत्तं भवति, हो जाती है। 'दिव्यश्रोत्रम्' का अर्थ यह है कि वह योगी एक साथ ही सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ शब्दों को सुनने में समर्थ कर्णेन्द्रिय वाला हो जाता है। **'युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं श्रोत्रं भवतीत्यर्थः'**।'—(रा० मा० वृ०)। इस संयम से प्राप्त दिव्यश्रोत्रत्व की सिद्धि को उपलक्षण के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार त्वचा और वायु के सम्बन्ध में संयम करने से 'दिव्यत्वचा' की प्राप्ति होती है। नेत्र और अग्नि के सम्बन्ध में संयम करने से 'दिव्यरसना' और नासिका तथा पृथ्वी के सम्बन्ध में संयम करने से 'दिव्यघ्राणेन्द्रिय' की प्राप्ति समझनी चाहिए ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में (किये गये) संयम से या हल्की रूई (इत्यादि) में (संयम के द्वारा) समापत्ति (लाभ करने) से आकाशगमन (सिद्ध) होता है ॥ ४२ ॥

---

१. 'तच्चैतत् श्रोत्रं शब्दश्चाकाशस्य लिङ्गमनुमापकं, न हि सूक्ष्ममिन्द्रियमनाश्रयं स्थातुमर्हति गन्धवत्।'—यो० वा० पृ० ३५९।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३६०।

यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात्कायस्य, तेन सम्बन्धः प्राप्तिः। तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु तूलादिष्वापरमाणुभ्यः समापत्ति लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुः। लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति, ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति, ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

जहाँ शरीर है, वहाँ आकाश (भी) है, शरीर (की स्थिति) के लिये उस (आकाश) के अवकाश प्रदान करने के कारण। अतएव (दोनों का) सम्बन्ध अर्थात् मिलन होता है। उस (सम्बन्ध) में संयम कर लेने वाला (योगी) उस सम्बन्ध को जीतकर (अर्थात् साक्षात्कार कर) के (या) रूई इत्यादि परमाणु पर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में समापत्ति प्राप्त करके, (काय और आकाश के) सम्बन्ध को जीत लेने वाला (अत्यन्त) हल्का हो जाता है। और हल्का होने के कारण जल में पैरों से विचरण कर-(सक) ता है, उसके पश्चात् मकड़ी के जाले के तन्तुओं में विचरण कर (लेता है और ऐसा कर) के किरणों में विचरण करता है। तब (फिर) स्वेच्छा से उस योगी का आकाश में चलना सिद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—संयम से प्राप्त होने वाली क्रियारूपिणी एक अन्य सिद्धि का कथन किया जा रहा है। यह सिद्धि 'आकाशगमन' के रूप की होती है। इस सिद्धि के हेतुभूत दो उपाय इस सूत्र में बताये गये हैं। पहला है 'कायाकाशसम्बन्धसंयम' और दूसरा 'लघुतूलसमापत्ति'। इन दोनों में से किसी भी एक उपाय के द्वारा शरीर और आकाश के बीच के सम्बन्ध पर विजय मिलेगी अर्थात् स्वेच्छा से उस सम्बन्ध पर अधिकार प्राप्त होगा। इसके फलस्वरूप योगी जब चाहें जितना हल्का बन जाये। हल्का हो जाने पर वह क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म स्थानों में विचरण करने में समर्थ हो जायेगा। कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्—शरीर और आकाश के (बीच के) सम्बन्ध में किये गये संयम से। लघुतूलसमापत्तेश्च—**'चकारोऽत्र विकल्पार्थकः'**—(यो० वा०)। यहाँ पर चकार का अर्थ समुच्चय नहीं बल्कि विकल्प है। इस प्रकार 'आकाशगमन' नामक सिद्धि के लिए दो अलग-अलग उपायों का विकल्प सूत्रकार ने दिया है[१] ॥ ४२ ॥

(भा० सि०)—पहले काय और आकाश के सम्बन्ध को निरूपित किया जा है। यत्र—जिस स्थान में। कायः—शरीर रहता है, स्थित होता है। तत्र—वहाँ पर। आकाशम्—आकाश अवश्य रहता है। इस मान्यता का हेतु बता रहे हैं।

---

१. 'कायाकाशसम्बन्धसंयमाद्वा लघुनि वा तूलादौ कृतसंयमः समापत्ति चेतसस्तत्स्थतदञ्जनतां लब्ध्वेति।'—त० वै० पृ० ३६२।

तस्य कायस्य अवकाशदानात्—क्योंकि आकाश, शरीर को अवकाश (स्थित होने का स्थान) देता है। 'तस्य' पद से आकाश का परामर्श होता है। इसमें 'कर्तरि' षष्ठी समझनी चाहिए। 'कायस्य' में कर्मणि षष्ठी है। तेन—इसलिये। सम्बन्धः—(द्वयोरिति शेषः) काय और आकाश का सम्बन्ध है। इसी का अर्थ है—प्राप्तिः—दोनों का मिलना। **'अतः कायस्याकाशेन सम्बन्धः प्राप्तिरूपो व्यापनमिति यावद् इत्यर्थः'**।[1] तत्र—उस सम्बन्ध में। कृतसंयमः—संयम करने वाला योगी। तत्सम्बन्धं जित्वा—उस कायाकाश के सम्बन्ध को जीतकर, अर्थात् संयम के द्वारा उस सम्बन्ध का साक्षात्कार करके। या। तूलादिषु—रुई इत्यादि में। आपरमाणुभ्यः—परमाणुपर्यन्त। लघुषु—हल्के, सूक्ष्म पदार्थों में। समापत्तिं लब्ध्वा—संयम के द्वारा समापत्ति प्राप्त करके। जितसम्बन्धः—सूक्ष्म पदार्थों में की गयी 'तत्स्थतदञ्जनता' रूपी समापत्ति की प्राप्ति के द्वारा कायाकाशसम्बन्ध को जीतकर अर्थात् कायाकाशसम्बन्ध का पूर्ण साक्षात्कार करके। लघुः—लघु हो जाता है, अत्यन्त हल्का हो जाता है। यहाँ पर यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि लघुतूलादि समापत्ति से भी 'कायाकाशसम्बन्धजय' होता है और कायाकाश के सम्बन्ध पर किये गये संयम से भी 'कायाकाशसम्बन्धजय' होता है। और दोनों साधन संयमरूप ही हैं, क्योंकि समापत्ति भी संयम से उत्कर्ष-काल में ही होती है।

इन दोनों वैकल्पिक साधनों में अन्तर यह है कि पहले में संयम का विषय साक्षात् 'कायाकाशसम्बन्ध' रहता है, जबकि दूसरे में संयम का विषय 'तूलादिपरमाणुपर्यन्त' सूक्ष्मपदार्थ होते हैं। अतः दूसरे साधन में अन्यविषयक संयम के द्वारा परम्परया कायाकाशसम्बन्ध का साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है। इन दोनों में से किसी भी एक साधन के द्वारा 'कायाकाशसम्बन्धजय' प्राप्त करके योगी अत्यन्त हल्के होने की सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाता है। इसके पश्चात् बताये गये क्रम से वह 'आकाश में विचरण करने' की सिद्धि का लाभ करता है। लघुत्वाच्च—और अत्यन्त हल्का हो जाने के कारण। जले—जल में। पादाभ्यां विहरति—पैरों से चलने में समर्थ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वह जल में नहीं डूबता। इसका हेतु योगी का निरतिशय हल्कापन है। ततः तु—और उसके बाद। ऊर्णनाभितन्तुमात्रे—मकड़ी के जाले की एक-एक कड़ी में। विहृत्य—स्वेच्छा से विचरण करके। यहाँ पर ल्यप् प्रत्यय सामर्थ्यक्रम को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। रश्मिषु—सूर्यादि की किरणों में। विहरति—विहर्तुं समर्थो भवति, विचरण करता है। ततः—और तब उसके बाद। यथेष्टम्—स्वेच्छा से। अस्य—इस योगी को। आकाशगतिः—आकाशे निरावरणे गतिः गमनम् इत्याकाशगतिः, आकाश में चलना, विचरण

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३६३।

करना । भवति—सिद्ध होता है । अभिप्राय यह है कि लघु होने पर पहले जलरूपी आधार पर चलना बताया गया है । फिर उसके बाद मकड़ी के जाले के अत्यन्त पतले सूत के ऊपर उसकी गति होती है । इसके बाद नितान्त हल्के आधार के रूप में रश्मियों का कथन किया गया है । तब उसके बाद सर्वथा निराधार होकर अनावरण आकाश में चलने की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है ॥ ४२ ॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा, ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

(शरीर के) बाहर (चित्त की) अकल्पित वृत्ति 'महाविदेहा' (कही जाती) है । उससे ज्ञान के आवरण का नाश होता है ॥ ४३ ॥

शरीराद् बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा । सा यदि शरीर-प्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते । या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः, सा खल्वकल्पिता । तत्र कल्पितया साधयत्यकल्पितां महाविदेहामिति, यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः । ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्म-विपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

शरीर के बाहर मन की वृत्ति का होना 'विदेहा' नाम की धारणा है । वह यदि केवल वृत्ति के द्वारा शरीर में ही स्थित (रहने वाले) मन की होती है तो वह 'कल्पिता' (धारणा) कही जाती है । किन्तु जो (धारणा) शरीरनिरपेक्ष (उससे) बाहर ही स्थित (रहने वाले) मन की बाह्यवृत्तिरूपिणी होती है, वह 'अकल्पिता' (धारणा) है । योगी इन (दोनों) में से कल्पिता (धारणा) के द्वारा अकल्पिता अर्थात् महाविदेहा (धारणा) को सिद्ध करता है, जिस (महाविदेहा के सिद्ध होने) से योगिजन अन्य (प्राणियों के) शरीरों में प्रविष्ट होते हैं । और इसी धारणा से, प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व का जो क्लेशकर्मविपाकरूप रजस्तमोजन्य आवरण है, उसका नाश होता है ॥ ४३ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—इस सूत्र में चित्त के ज्ञान को ढँकने वाले क्लेश, कर्म और विपाक के संस्कारों का नाश करने वाली 'महाविदेहाधारणा' रूपिणी सिद्धि का कथन किया जा रहा है । इस सिद्धि का भी साधन संयम ही है । इस संयम का आलम्बन क्या है और इस संयम का स्वरूप क्या है ? अभी तक संयम के जितने विषय बताये गये थे, उनको (मन की कल्पना के द्वारा) बुद्धि के अन्दर सन्निविष्ट करके शरीर

के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित किया जाता था, किन्तु इस संयम में मन को शरीर के बाहर किसी विषय में स्थित किया जाता है। जब शरीर के बाहर मन स्थापित किया जाता है, तब 'विदेहा' नाम की धारणा बनती है। इस 'विदेहा' धारणा की साधारण स्थिति में मन बाहर स्थित रहने पर भी योगी के शरीर से निरपेक्ष नहीं होता। तात्पर्य यह है कि शरीर से उसका सम्बन्ध बना रहता है। किन्तु जब बाहर स्थापित यह मन सर्वथा शरीरसम्बन्धनिरपेक्ष हो जाता है अर्थात् बाहर ही 'अस्मीति' अर्थात् 'मैं यहाँ हूँ'—इस प्रकार की भावना वाला कर लिया जाता है, तब इस मनोवृत्ति को 'महाविदेहा' नाम की धारणा कहा जाता है। इस धारणा की संयमरूपता को प्राप्त कर लेने पर उक्त सिद्धि की प्राप्ति होती है। **'अयमर्थः शरीराहङ्कारे सति या मनसो बहिर्वृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते। यदा पुनः शरीराहङ्कारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकल्पिता, तस्यां संयमाद्योगिनः सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते।'**—(रा० मा० वृ०)। बहिः—बाहर अर्थात् इस स्थूलशरीर से बाहर मन की जो। अकल्पिता वृत्तिः—'अकल्पिता' वृत्ति होती है। अकल्पितावृत्ति का अर्थ है शरीरनिरपेक्ष बाहर ही स्थित मन की वृत्ति। **'यदा शरीरं विहाय मनो ध्यायमाने बहिरधिष्ठाने वृत्तिं लभते तदाकल्पिता बहिर्वृत्तिर्महाविदेहाख्या'।**[1] महाविदेहा—इसी अकल्पितावृत्ति को 'महाविदेहा' धारण करते हैं। ततः—इस महाविदेहा धारणा के सुदृढ़ हो जाने पर अर्थात् धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधिरूपता को प्राप्त कर लेने पर, तात्पर्य यह है कि इस अकल्पितावृत्ति पर संयम सध जाने पर। प्रकाशावरणक्षयः—प्रकाशात्मक चित्तसत्त्व के क्लेशकर्मविपाकसंस्कार रूपी आवरण का विगलन हो जाता है ॥ ४३ ॥

(**भा० सि०**)—महाविदेहा नामक वृत्ति और उसके प्राप्य सिद्धि का निरूपण करने की दृष्टि से भाष्यकार पहले विदेहा नाम की धारणा का वर्णन करते हैं। शरीराद् बहिः—(साधक के) अपने शरीर से बाहर। मनसः—चित्तस्य, मन का। वृत्तिलाभः—वृत्तिरूपेण स्थितिः, वृत्तिरूप से स्थित होना। विदेहा नाम धारणा—विदेहा नाम की धारणा है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'देशबन्धः चित्तस्य धारणा' के अनुसार धारणा करने के लिये शरीर के आन्तरिक देशों में भी मन को वृत्तिलाभ कराया जाता है और शरीर के बाहर के देशों में भी। इन दो विधियों में से जो दूसरी वाली विधि है—शरीर के बाहर के देशों में मन के वृत्तिलाभ करने की—उसे 'विदेहा' धारणा कहते हैं। **'सा च बहिरधिष्ठानरूपा धारणा विदेहा सामान्यमित्यर्थः'।**[2] इस विदेहाधारणा के भी दो रूप होते हैं। पहले रूप की विदेहाधारणा

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३६३।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३६२।

में मन वृत्तिलाभ तो शरीर के बाहर करता है, किन्तु स्वयं शरीरनिरपेक्ष नहीं हो जाता अर्थात् वह शरीर के अन्दर ही प्रतिष्ठित रहता है। सा—वह विदेहाधारणा। यदि—अगर। शरीरप्रतिष्ठस्य—शरीरस्थस्य, शरीर में ही स्थित रहते हुए। मनसः—चित्तस्य, मन की। बहिर्वृत्तिमात्रेण—बाहर केवल वृत्ति या व्यापार के द्वारा ही। भवति—निष्पद्यते, निष्पन्न होती है। सा—तो वह। कल्पितेत्युच्यते—कल्पिता (विदेहधारणा) कही जाती है। अब दूसरे रूप की विदेहा धारणा का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है। शरीरनिरपेक्षा शरीरसम्पर्क से रहित। **'शरीर-निरपेक्षा व्यक्तशरीरेत्यर्थः'**—(यो० वा०)। बहिर्भूतस्यैव मनसः—शरीराद् बहिः-प्रतिष्ठस्यैव मनसः, शरीर से बाहर ही स्थित मन के। बहिर्वृत्तिः—बाह्य व्यापार रूप की होती है। सा खलु—वह विदेहा धारणा तो। अकल्पिता—'अकल्पिता' विदेहा धारणा है। इन दोनों प्रकार की विदेहा धारणाओं में से पहली उपायभूता है और दूसरी उपेयभूता। पहली के द्वारा दूसरी सिद्ध की जाती है। तत्र—उन दोनों में से। कल्पितया—कल्पिता विदेहा धारणा के द्वारा। अकल्पितां महाविदेहामिति—महाविदेहा नामक अकल्पिता विदेहाधारणा को। साधयति—योगी साधता है, सिद्ध करता है। यया—जिस 'महाविदेहा' के द्वारा। योगिनः—योगी लोग। परशरीराणि—दूसरे लोगों के शरीरों में। आविशन्ति—आवेष्टुं प्रवेष्टुं वा शक्नुवन्ति, प्रवेश करते हैं। इस महाविदेहा के संयम से उपलब्ध यह क्रियारूप सिद्धि होती है। ततश्च धारणातः—और इस महाविदेहा धारणा की सिद्धि के फलस्वरूप। प्रकाशा-त्मनः—प्रकाशरूप। बुद्धिसत्त्वस्य—चित्तसत्त्व का। यद्—जो। आवरणम्—आच्छादक या पर्दा। क्लेशकर्मविपाकत्रयं रजस्तमोमूलम्—रजोगुण और तमोगुण-जन्य क्लेश, कर्म और विपाक (संस्कार) ये तीनों हैं। तस्य—उनका। क्षयो भवति—नाश हो जाता है, विगलन हो जाता है ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

(भूतों के) स्थूल (शब्दादि) रूप, स्व (सामान्य) रूप, सूक्ष्म (तन्मात्र) रूप, अन्वय (त्रिगुण) रूप और अर्थवत्ता (भोगापवर्गसम्पादनशक्ति रूप में किये गये संयम से योगी को भूतजय (सिद्ध) होता है ॥ ४४ ॥

तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः। एतद् भूतानां प्रथमं रूपम्। द्वितीयं रूपं स्वसामान्यम्। मूर्त्तिर्भूमिः, स्नेहो जलम्, वह्निरुष्णता, वायुः प्रणामी, सर्वतोगतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते। अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः। तथा चोक्तम्—'एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः'—इति सामान्य-

विशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम्। द्विष्ठो हि समूहः; प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः - शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति, शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूहः— उभये देवमनुष्याः। समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः। स च भेदाभेदविवक्षितः, आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घः, आम्रवणं ब्राह्मणसङ्घ इति। स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च। युतसिद्धावयवः समूहो वनं सङ्घ इति, अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति। अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः। एतत्स्वरूपमित्युक्तम्। अथ किमेषां सूक्ष्मरूपम्? तन्मात्रं भूतकारणम्, तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इति, एवं सर्वतन्मात्राणि एतत्तृतीयम्। अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः। अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनी। गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्। तेष्विदानीम्भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति। तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयो भवति, तज्जयाद् वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति॥ ४४॥

इनमें पृथ्वी इत्यादि में रहने वाले आकारादि धर्मों सहित शब्दस्पर्शादि विशेष ही 'स्थूल' शब्द द्वारा लक्षित किये गये हैं। यह भूतों का पहला रूप है। (भूतों का) दूसरा रूप (उनका) अपना सामान्य है (जैसे—) मूर्ति भूमि है, स्नेह जल है, उष्णता अग्नि है, बहने वाला वायु है और सर्वत्र व्याप्त होने वाला आकाश है— यह इतना 'स्वरूप' शब्द से कहा जाता है। इस सामान्य के ही शब्द इत्यादि विशेष हैं। वैसे ही यह कहा भी गया है—एक सामान्य में समन्वित होने वाले इन (पृथिवी इत्यादि का) (शब्दादि) धर्मों से अलगाव (स्पष्ट) होता है। इस (शास्त्र) में सामान्य और विशेष का समुदाय 'द्रव्य' (माना गया) है। समूह दो तरह का होता है—१. (शब्दों से) अप्रकटित भेदों वाले अवयवों में अनुगत होने वाला (समूह), जैसे—शरीर, वृक्ष, यूथ, वन। २. शब्दों से ही प्रकटित भेदों वाले अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह, (जैसे)—देवों और मनुष्यों—दोनों का समूह। इस समूह का एक भाग देवता हैं और दूसरा मनुष्य—इन्हीं दोनों से यह (देव-मनुष्य) समूह (बना हुआ) कहा जाता है और वह (समूह)—१. विवक्षित भेद वाला तथा। २. अविवक्षित भेद वाला (होता) है। आमों का वन, ब्राह्मणों का संघ (षष्ठी के द्वारा विवक्षित भेद वाला समूह) और आम्रवन तथा ब्राह्मणसंघ (कर्मधारय के द्वारा अविवक्षित भेद वाला समूह)। यह समूह फिर दो प्रकार का

होता है।—१. युतसिद्ध (पृथक्करणीय) अवयवों वाला और। २. अयुतसिद्ध (अपृथक्करणीय) अवयवों वाला। (इन दोनों में से) युतसिद्धावयवों वाला समूह है—वन या संघ। अयुतसिद्ध अवयवों वाला समूह है—शरीर या वृक्ष या परमाणु।

अयुतसिद्ध (अपृथक्करणीय) अवयवभेदों में अनुगत रहने वाला समूह 'द्रव्य' है—यह पतञ्जलि मानते हैं। यही (भूतों का) स्वरूप है—यह कहा गया है। अब इनका सूक्ष्मरूप क्या है? भूतों का कारणभूत तन्मात्र (ही उनका सूक्ष्मरूप है)। उस भूत का अवयव परमाणु है (जो स्वयं) सामान्य विशेषात्मक (और) अयुतसिद्ध अवयव भेदों में अनुगत (अतः) समूह रूप (द्रव्य) है। इसी प्रकार सभी तन्मात्राएँ भी (समुदायरूप द्रव्य) हैं। यह भूतों का तीसरा (अर्थात् सूक्ष्म) रूप है। अब भूतों का चौथा रूप—प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति के स्वभावों वाले तथा अपने कार्यों के स्वभाव में अनुपतन करने वाले (सत्त्वादि) तीनों गुण (ही) 'अन्वय' शब्द के द्वारा कहे गये हैं। अब इन भूतों का पाँचवाँ रूप 'अर्थवत्त्व', तीनों गुणों में विद्यमान 'भोगापवर्गप्रयोजनता' है। (चूँकि ये) गुण तन्मात्रों, भूतों और भौतिक पदार्थों में (वर्तमान ही) हैं, इसलिये ये सभी पदार्थ अर्थवान् हुए। अब (इन) पाँचों रूपों वाले, इन पाँचों भूतों में (किये गये) संयम से (भूतों के) उन रूपों का साक्षात्कार और उन पर विजय मिलती है। पाँचों भूतस्वरूपों को जीतकर, पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त होती है। इस (पञ्च) भूतजय से पाँचों भूत और उनकी प्रकृतियाँ (अर्थात् तन्मात्राएँ) बछड़े का अनुसरण करने वाली गायों की भाँति इस योगी की इच्छाओं की पूर्तिकारिणी होती हैं॥ ४४॥

योगसिद्धिः

(**सू० सि०**)—इस सूत्र में पृथिव्यादि पाँचों भूतों की विविध अवस्थाओं पर किये गये संयम से प्राप्त होने वाली 'भूतजय' नाम की सिद्धि बतायी गयी है। स्थूल-स्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्—स्थूलञ्च स्वरूपञ्च सूक्ष्मञ्च अन्वयश्च अर्थवत्त्वञ्चेति स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि (इतरेतरद्वन्द्वः) तेषु संयमः तस्माद्, पृथिव्यादि भूतों का 'स्थूलरूप' वह है, जो कि (प्राणियों को) इन्द्रियगोचर होता है। आकारादिधर्मों से विशिष्ट भौतिक द्रव्य ही स्थूल रूप में वर्तमान भूत हैं। **'भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत् स्थूलरूपम्'**—(रा० मा० वृ०)। इन भूतों का 'स्वरूप' है इनका सामान्य, अर्थात् मूर्ति, स्नेह, उष्णता, बहना और अवकाशप्राप्ति। इन भूतों के 'सूक्ष्मरूप' हैं—गन्धादि पाँचों तन्मात्र। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ही इन भूतों के 'अन्वयरूप' हैं, क्योंकि यही तीनों गुण सभी भौतिक स्थितियों में अन्वित रहते हैं। इन भूतों का 'अर्थवत्त्व' है भोगापवर्गप्रयोजनता, जो कि गुणों में विद्यमान रहती है। पाँचों भूतों के पाँचों रूपों में किये गये संयम से। 'भूतजयः'—भूतानां

जयः, पाचों भूतों पर जय की प्राप्ति होती है। **'भूतानि अस्य वश्यानि भवन्तीत्यर्थः'**[1] ॥ ४४ ॥

(भा० सि०)—भूतों के पाँचों रूपों का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार पहले 'स्थूलरूप' को समझाते हैं। तत्र—इन पाँचों रूपों में से। पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः—पृथिव्या अयमिति (पृथिवी + अण्), पार्थिवः आद्यः येषां ते पार्थिवाद्याः, पृथिवीसम्बन्धी, जलसम्बन्धी, अग्निसम्बन्धी, वायुसम्बन्धी और आकाशसम्बन्धी, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रकारक विशेष। जैसे—षड्जगान्धारादि शब्दविशेष, शीतोष्णादि स्पर्शविशेष, नीलपीतादि रूपविशेष, कषायमधुरादि रसविशेष, सुरभि-असुरभि इत्यादि गन्धविशेष। इनमें से पृथिवी में पाँचों विशेष रहते हैं। जल में गन्धवर्जित शेष चार विशेष रहते हैं। अग्नि में गन्धरसरहित शेष तीन विशेष रहते हैं। वायु में गन्धरसरूपरहित दो विशेष रहते हैं और आकाश में गन्ध, स्पर्श, रूप और रस—चारों से रहित केवल शब्द नाम का विशेष रहता है। ये सभी भौतिक पदार्थ। आकारादिभिर्धर्मैः सह—आकार इत्यादि धर्मों के सहित। स्थूलशब्देन—सूत्रगत 'स्थूल' शब्द के द्वारा। परिभाषिताः—कहे गये हैं। इन भूतों के आकारादि धर्म ये होते हैं—

(१) पृथिवी में ये ११ धर्म होते हैं—

'आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता ॥'

(२) जल में ये १० धर्म होते हैं—

'स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवञ्च यत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं सन्धानं चौदका गुणाः ॥'

(३) अग्नि में ये ८ धर्म होते हैं—

'ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम् ॥'

(४) वायु में ये ८ धर्म होते हैं—

'तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः ॥'

(५) आकाश में ये ३ धर्म होते हैं—

'सर्वतोगतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वधर्मविलक्षणाः ॥'

---

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ७९।

इन आकारादि (अपने-अपने) धर्मों के सहित, भूतों के विशेष रूप ही भूतों के 'स्थूलरूप' कहे गये हैं। भौतिक द्रव्य इसी रूप में प्राणियों को परिदृश्यमान होते हैं।

एतद् भूतानां प्रथमं रूपम्—यह 'स्थूलरूप' भूतों का पहला सूत्रोक्त रूप है। द्वितीयं रूपम्—इन भूतों का दूसरा सूत्रोक्त रूप अर्थात् स्वरूप। स्वसामान्यम्—हर एक भूत का अपना-अपना 'सामान्य' है। **'स्वसामान्यं, स्वस्वसामान्यमिति साधारणं लक्षणम्'**—(यो० वा०)। अब भाष्यकार इन भूतों के प्रातिस्विक सामान्य का निर्देश कर रहे हैं। मूर्तिः—सांसिद्धिक कठोरता, **'संहतत्वम्'**—(भा०)। **'सांसिद्धिकं काठिन्यम्'**—(त० वै०)। **'सांसिद्धिकं काठिन्यं तद्व्यङ्ग्या पृथिवीत्वजातिः'**—(यो० वा०)। भूमिः—भूमि है, अर्थात् पृथिवी का स्वसामान्य या स्वरूप है। स्नेहः—तरलता **'तारल्यम्'**—(भा०)। जलम्—जल है, अर्थात् जल का स्वसामान्य है। उष्णता—गर्मी, औष्ण्य। वह्निः—अग्नि है, अर्थात् अग्नि का स्वसामान्य है। प्रणामी—वहनशील। वायुः—वायु है। 'प्रणामी' पद विशेषण है। इसका प्रकरण के अनुसार 'प्रणामित्व' अर्थ लेना चाहिए। वायु का स्वसामान्य 'प्रणामित्व' या वहनशीलत्व है। सर्वतोगतिः[1]—सर्वत्र उपस्थित। आकाशः इति—आकाश है। यहाँ भी 'सर्वतोगतिः' पद विशेषण है, इससे प्रकरणानुसार 'सर्वतोगतित्व' अर्थ लेना चाहिए। इसलिये आकाश का स्वसामान्य हुआ सर्वगतत्व। एतत् स्वरूपशब्देन उच्यते—भूतों के ये रूप सूत्रगत 'स्वरूप' शब्द के अर्थ हैं। अस्य सामान्यस्य—इन पृथिव्यादि भूतों के इन सामान्यों के। शब्दादयः—षड्जादिशब्द, उष्णादिस्पर्श, नील-पीतादिरूप, मृदुकषायादिरस और सुरभ्यादि गन्ध। विशेषाः—विशेष अर्थात् विविध भेद हैं।[2] **'एते हि नामकर्मभिरवान्तरं विभज्यन्त इति विशेषाः'**।[3] तथा चोक्तम्—और इसी तरह (पञ्चशिखाचार्य के द्वारा) कहा भी गया है। एकजातिसमन्वितानामेषाम्—एक-एक सामान्य स्वरूप वाले इन भूतों की। धर्ममात्रव्यावृत्तिः—शब्दादिरूप धर्मों से ही परस्पर व्यावृत्ति होती है, सजातीयों से पृथक्त्व या भेद प्रकट होता है। इति—पाञ्चशिखसूत्र की समाप्ति का सूचक पद है। यह निश्चित हुआ कि 'काठिन्यादि' पाँचों भूतों के सामान्य हैं; विविधशब्दरूपरसादि उनके विशेष हैं और पृथिवी इत्यादि

---

१. 'चलनेन तृणादीनां शरीरस्याटनेन च।
सर्वत्र वायुसामान्यं नामित्वमनुमीयते॥'

—तत्त्ववैशारदी में उद्धृत पृ० ३६५।

२. 'सामान्यान्यपि मूर्त्यादीनि जम्बीरपनसामलकफलादीनि रसादिभेदात्परस्परं व्यावर्त्यन्ते तेनैतेषां रसादयो विशेषः।'—त० वै० पृ० ३६५।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३६४।

भौतिक द्रव्य हैं। अब यहाँ वैशेषिकों के द्वारा यह शङ्का उठायी जा सकती है कि द्रव्य तो सामान्य और विशेष का आश्रय होता है,[1] फिर सामान्य और विशेष को द्रव्य का स्वरूप कैसे माना जा रहा है ? उस मत का तिरस्कार करते हुए भाष्यकार[2] अपना मत प्रतिपादित करते हैं कि—

अत्र—इस (सांख्य-योग) दर्शन में। सामान्यविशेषसमुदायः—सामान्य और विशेष का समूह ही। द्रव्यम्—द्रव्य (माना गया) है। जो वादी सामान्य और विशेष के आश्रय को 'द्रव्य' मानते हैं, उनको भी सामान्य और विशेष का समूह अनुभूत होता है। इस समूहानुभव का अपलाप वे कैसे कर सकते हैं ? अब इस समूह से अतिरिक्त इसका आधार वे कहाँ से लायेंगे, जिसे वे 'द्रव्य' कह सकें। इसलिये सामान्य और विशेष के समूह को ही 'द्रव्य' मानना चाहिए, क्योंकि इनसे भिन्न इनके आश्रयभूत किसी अन्य पदार्थ का मिलना ही असम्भव है। किन्तु हर प्रकार का समूह द्रव्य नहीं है—इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये समूह के प्रकारों का विवेचन किया जा रहा है। द्विष्ठो हि समूहः—समूह दो प्रकार का होता है। द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां तिष्ठतीति (द्वि+स्था+कः=द्विष्ठः) द्विधा स्थितः, दो प्रकारों से स्थित होता है। उनमें से। १. प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः—जिन अवयवों का पारस्परिक अलगाव शब्दों से प्रकट नहीं हो रहा है, उनमें अनुगत रहने वाला समूह। शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति—जैसे—शरीर, वृक्ष, झुण्ड या वन—यह प्रथम प्रकार का समूह है। २. शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूहः—शब्दों से प्रकटित भेदों वाले अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह। उभये देवमनुष्याः—जैसे—दोनों देवताओं और मनुष्यों का समुदाय। समूहस्य—इस समुदाय के। देवा एको भागः—एक अवयव देवता हैं। मनुष्या द्वितीयो भागः—दूसरा अवयव मनुष्य हैं। ताभ्याम् एव—उन्हीं दोनों अवयवों से। समूहः—समूह। अभिधीयते—(शब्दतः) कहा जा रहा है। स च—और वह (द्वितीय प्रकार का) समूह। भेदाभेदविवक्षितः—बोलने वालों के द्वारा कभी भेद की विवक्षा वाला और कभी अभेद की विवक्षा वाला होता है। तात्पर्य यह है कि कभी वक्ता अवयवों के 'भेद' को प्रकट करने की इच्छा से इस समूह का कथन करता है और कभी अवयवों के 'अभेद' को प्रकट करने की इच्छा से इस समूह का कथन करता है। भेदविवक्षितशब्देनोपात्तभेदावयवानुगत समूह का उदाहरण है—'आम्राणां वनम्' आम के पेड़ों का वन। ब्राह्मणानां संघः—ब्राह्मणों का संघ। अभेदविवक्षित-

---

१. 'गुणाश्रयो द्रव्यम्।'—तर्कभाषा पृ० ३५।

२. 'यत्तु वैशेषिकाः सामान्यविशेषयोराश्रयमेव द्रव्यं मन्यन्ते न तु तयोर्भेदमपि, तन्मताद्विविच्य स्वसिद्धान्तमाह।'—यो० वा० पृ० ३६५।

शब्दोपात्तभेदावयवानुगत समूह का उदाहरण है—'आम्रवणम्'—आम्रा एव वनमिति (मयूर्व्यंसकादिसमासः), आम्रवृक्षरूपी वन । ब्राह्मणसङ्घः—ब्राह्मणा एव सङ्घः इति (मयूरव्यंसकादिसमासः), ब्राह्मण जाति के व्यक्तियों रूपी सङ्घ । स पुनः—यह द्विविध समूह भी । द्विविधः—दो तरह का होता है—१. युतसिद्धावयवः—पृथक्सिद्ध अवयवों वाला समूह । २. अयुतसिद्धावयवश्च—और अपृथक्सिद्ध अवयवों वाला । दोनों का अलग-अलग उदाहरण दिया जा रहा है । युतसिद्धावयवः समूहः वनं सङ्घ इति—पृथक्सिद्ध अवयवों वाला समूह, जैसे—वन और संघ । अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति—अपृथक्सिद्ध अर्थात् जो अलग-अलग न स्थित हो सके, ऐसे अवयवों वाला समूह, जैसे—शरीर, वृक्ष और परमाणु । प्रसङ्गतः परमाणुओं के सम्बन्ध में भाष्यकार की मान्यता द्रष्टव्य है कि 'परमाणु' एक सावयव द्रव्य है और उसके अवयव अपृथक्सिद्ध रहते हैं । **'परमाणूनामपि पञ्चचतुरादितन्मात्रा-समूहताया वक्ष्यमाणत्वादिति भावः'** ।[1]

इन नानाप्रकार के समुदायों में से जो । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहः—अपृथक्सिद्ध अवयवभेदों में अनुगत समूह है । द्रव्यम्—उसे 'द्रव्य' कहते हैं । इति पतञ्जलिः—ऐसा आचार्य पतञ्जलि का मत है । एतत्—यह भूतों का द्वितीय रूप । स्वरूपमित्युक्तम्—सूत्रगत 'स्वरूप' शब्द से कहा गया है । अथ—अब । एषां सूक्ष्म-रूपं किम्—इन भूतों का सूक्ष्मरूप कौन-सा है ? साक्षात्कारण ही किसी पदार्थ का सूक्ष्मरूप माना जाता है, इसलिये कहा गया कि । भूतकारणम्—इन महाभूतों के साक्षात्कारणस्वरूप जो । तन्मात्रम्—'तन्मात्र' नामक पदार्थ हैं । वही इन भूतों के सूक्ष्मरूप कहे जाते हैं । **'सूक्ष्मं च यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादि-तन्मात्राणि'** ।[2] तस्य—उस भूत का । एकश्च चरमावयवः—एक अन्तिम अवयव । परमाणुः—परमाणु होता है । वह परमाणु भी । सामान्यविशेषात्मा—मूर्ति इत्यादि सामान्य और शब्दादि विशेषों वाला होता है । **'सामान्यं मूर्तिः शब्दादयो विशेषाः सदात्मा'**—(यो० वा०) । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदायः—अपृथक्त्वेन सिद्ध सामान्य-विशेषरूप अवयवभेदों में अनुगत समुदाय रूप होता है । आशय यह है कि परमाणु भी घटादि के समान एक सावयव द्रव्य है, किन्तु है सूक्ष्मद्रव्य । एवम्—इसी प्रकार से । सर्वतन्मात्राणि—सभी तन्मात्राएँ भी सूक्ष्म द्रव्य हैं ।[3] एतत्—ये तन्मात्ररूप सूक्ष्म द्रव्य ही । तृतीयं रूपमिति—भूतों के 'सूक्ष्म' नामक तीसरे रूप हैं ।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३६७ ।

२. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ७९ ।

३. 'यथा च परमाणुः सूक्ष्मं रूपमेवं तन्मात्राणि सूक्ष्मं रूपमिति ।'
—त० वै० पृ० ३६८ ।

अथ--अब। भूतानां चतुर्थं रूपम्--भूतों का चौथा रूप अर्थात् 'अन्वय' नाम का रूप कहा जा रहा है। ख्यातिक्रियास्थितिशीलः--प्रकाशक्रिया और स्थिति--इन तीनों स्वभावों वाले। कार्यस्वभावानुपातिनः--अपने समस्त कार्यों में उपस्थित रहने वाले। गुणाः—सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीनों गुण ही। अन्वयशब्देन उक्ताः—'अन्वय' शब्द के द्वारा कहे गये हैं। इसलिये ये तीनों गुण ही भूतों के 'अन्वय' रूप हैं। अथ--अब। एषाम्--इन भूतों का। पञ्चमं रूपम्--पाँचवाँ रूप। अर्थवत्वम्--'अर्थवत्त्व' है। गुणेष्वेवान्वयिनी--गुणों में ही वर्तमान रहने वाली। भोगापवर्गार्थता--पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धिरूपी प्रयोजनता। गुणाः--ये गुण ही। तन्मात्रभूतभौतिकेषु--तन्मात्राओं, भूतों और सभी भौतिक द्रव्यों में। वर्तमानाः (भवन्तीति शेषः)--मौजूद रहते हैं, इसलिये गुणों में अन्वित भोगापवर्गार्थता इन सभी पदार्थों में विद्यमान हुई। इसलिये कहा गया है कि। सर्वम् अर्थवत्--समस्त भौतिकप्रपञ्च भोगापवर्गरूपी अर्थवत्ता से युक्त है। इस प्रकार 'अर्थवत्व' ही भूतों का पाँचवाँ रूप हुआ। इदानीम्--अब प्रकरणानुसार। तेषु पञ्चरूपेषु पञ्चभूतेषु--पाँच रूपों वाले उन पाँचों भूतों में। संयमात्—संयम करने से। तस्य तस्य रूपस्य—भूतों के उस-उस अर्थात् संयम का आलम्बन बनने वाले प्रत्येक रूप का। स्वरूपदर्शनम्—साक्षात्कार। जयश्च—और उस पर विजय। प्रादुर्भवति—प्राप्त होती है। तत्र - उनमें से। पञ्च भूतस्वरूपाणि—पाँचों भूतों के (पाँचों) रूपों को। जित्वा—जीतकर। भूतजयो भवति—योगी को 'भूतजय' सिद्ध होता है। तज्जयाद्—इस भूतजय के फलस्वरूप। भूतप्रकृतयः—भूतानि च प्रकृतयश्च तन्मात्राणि चेति तथोक्ताः, पाँचों महाभूत और पाँचों तन्मात्राएँ। वत्सानुसारिण्यो गाव इव—अपने बछड़ों का अनुसरण करनेवाली गायों की भाँति। अस्य—इस योगी की। सङ्कल्पानुविधायिन्यः भवन्ति—इच्छा के अनुसार कार्य करने वाली होती हैं ॥ ४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

उससे अणिमादि (सिद्धियों) का आविर्भाव, शरीरसम्पत्ति और उन (भूतों) के धर्मों से अबाधितत्व (सिद्ध) होता है ॥ ४५ ॥

तत्राणिमा भवत्यणुः। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान्भवति। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः। भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम्, ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति। कस्मात्? अन्यस्य यत्रकामावसायिनः

पूर्वसिद्धस्य तथाभूतेषु सङ्कल्पादिति। एतान्यष्टावैश्वर्याणि। कायसम्पद्वक्ष्यमाणा। तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां, शिलामप्यनुप्रविशतीति। नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति। नाग्निरुष्णो दहति। न वायुः प्रणामी वहति। अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति॥ ४५॥

उनमें से अणिमा (वह) है, (जिससे वह योगी) अणुरूप हो जाता है। लघिमा (वह) है, (जिससे अत्यन्त) हल्का हो जाता है। महिमा (वह) है, (जिससे) महान् हो जाता है। प्राप्ति (वह) है, (जिससे) अँगुली के अग्रभाग से ही चन्द्रमा को छू लेता है। प्राकाम्य है इच्छा का निर्बाध पूरा होना, जिससे (वह योगी) भूमि के अन्दर (उसी तरह) तैरता और डूबता है, जैसे—(साधारण व्यक्ति) जल में। वशित्व (वह) है, (जिससे योगी) भूतों और भौतिक पदार्थों में स्वतन्त्र हो जाता है, (स्वयं किसी) अन्य के अधीन नहीं रह जाता। ईशित्व (वह) है (जिससे) उन (भूत तथा भौतिक पदार्थों) के उत्पादन, विनाश एवं स्थापना के विषय में समर्थ होता है। यत्रकामावसायित्व अर्थात् सत्यसङ्कल्पता (वह) है, जिससे कि जैसा सङ्कल्प होता है, वैसी ही भूतों की प्रकृतियों (अर्थात् तन्मात्रों) की व्यवस्था होती है। (किन्तु) समर्थ होने पर भी (वह योगी) पदार्थों को उल्टा नहीं करता। क्यों ? दूसरे सत्यसङ्कल्प पूर्वसिद्ध (ईश्वर) का (पदार्थों के) उस प्रकार के होने में सङ्कल्प होने के कारण। वे आठ ऐश्वर्य होते हैं। शरीरसम्पत्ति आगे (सूत्र में) कही जाने वाली है। और उन (भूतों) के धर्मों के द्वारा अबाधितत्व होता है, (जिससे कि) पृथ्वी (अपने) मूर्तरूप धर्म से योगी के शरीरादि की क्रिया को नहीं रोकती, (वह) शिला में अनुप्रविष्ट हो जाता है। तरल जल (उसे) नहीं भिगोता। उष्ण अग्नि उसे नहीं जलाती। वहनशील वायु उसको नहीं उड़ाता। अनावरणरूप आकाश में भी वह गुप्तशरीर वाला हो जाता है अर्थात् सिद्धों के द्वारा भी अदृश्य हो जाता है॥ ४५॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—पूर्वोक्त 'भूतजय' का ही फल इस सूत्र में बताया जा रहा है। अभिप्राय यह है कि भूतजय की सिद्धियों का ही सूत्र में संग्रह और वर्गीकरण किया गया है। ततः—तस्मादेव भूतजयाद् (हेतोः), उसी भूतजय से। अणिमादिप्रादुर्भावः—अणिमा एवादिर्येषामष्टानां सिद्धीनां तेऽणिमादयः, तेषां प्रादुर्भावः आविष्कारः इति तथोक्तः, अणिमा इत्यादि आठों सिद्धियों का आविर्भाव (योगी में) हो जाता है। कायसम्पत्—कायस्य सम्पत्, शरीर की सम्पत्ति नाम की सिद्धि। और। तद्धर्मानभिघातश्च—तेषां भूतानां धर्माः मूर्तितारल्योष्णत्वप्रणामित्वानावरणत्वादिरूपा-

स्तैर्योगिनोऽनभिघातः बाधाभावश्च भवति सिध्यति इत्यर्थः, उन भूतों के मूर्तिता-रल्योष्णत्वादि धर्मों से योगी के किसी सङ्कल्प या चेष्टा में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस प्रकार वह योगी अप्रतिहत गति और अप्रतिहत चेष्टाओं वाला बन जाता है ॥ ४५ ॥

(**भा० सि०**)—भूतजय से प्राप्त होने वाली इतनी प्रकार की सिद्धियों में से अणिमा इत्यादि आठ महासिद्धियों का बड़ा महत्त्व है। भाष्यकार इन आठों का स्वरूप क्रमशः स्पष्ट करते हैं। तत्र—उनमें से। अणिमा—'अणिमा' नाम की सिद्धि वह है, जिससे कि योगी। अणुः भवति—स्वसङ्कल्पानुसार 'अणु' परिमाण वाला अर्थात् अत्यन्त छोटा हो जाता है। **'स्वेच्छया यदणुपरिमाणशरीरो भवति तदणिमा, सङ्कल्पमात्रेण तत् क्षणादेवावयवापचयेन सौक्ष्म्यं देहस्य भवति, भूतप्रकृतिवशित्वा-दिति।'**—(यो० वा०)। लघिमा—लघिमा नाम की सिद्धि वह होती है, जिससे कि योगी। लघुः भवति—सङ्कल्प मात्र से ही अत्यन्त हल्का हो जाता है, रुई इत्यादि की भाँति। **'महानपि लघुभूत्वेषीकातूल इवाकाशे विहरति'**—(त० वै०)। महिमा—महिमा नाम की सिद्धि वह है, जिससे कि योगी। महान् भवति—जब चाहे तब बहुत विशाल अर्थात् गजपर्वतादि के आकार का हो जाता है। इन तीनों सिद्धियों का नाम 'इमनिच्'-प्रत्ययान्त है। इमनिच्-प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं। भाष्य-कार ने आठ सिद्धियों की इस सारणी में 'गरिमा' को नहीं गिना है। गरिमा के स्थान पर 'यत्रकामावसायित्व' नाम की आठवीं सिद्धि को स्वीकार किया है। इस सिद्धि की संज्ञा 'कामावसायित्व' नहीं है, बल्कि 'यत्रकामावसायित्व'—यह पूरा शब्द ही इसकी संज्ञा है। **'यत्रकामावसायित्वमिति तान्त्रिकी परिभाषा पुराणेष्वप्येवमव-गमाद्'।**[1] प्राप्तिः—'प्राप्ति नाम की सिद्धि वह है, जिससे कि। अङ्गुल्यग्रेणापि—अँगुली के अगले भाग से ही। चन्द्रमसं स्पृशति—चन्द्रमा को भी छू लेता है। इन चारों सिद्धियों का लाभ भूतों के स्थूल रूप पर संयम और विजय प्राप्त करने पर होता है।[2]

अब भूतों के स्वरूप-संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धि को कहा जा रहा है। प्राकाम्यम् इच्छानभिघातः—इच्छा का अधूरा न रहना, अवश्य पूरा होना ही 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि है, प्रकामस्य भावः प्राकाम्यम्। योगी की इच्छा होने पर भूतों के मूर्त्यादिरूपों के द्वारा कोई रुकावट या बाधा नहीं उपस्थित होती है। **'सत्यामिच्छायां नास्य रूपं भूतस्य रूपैर्मूर्त्यादिभिर्विहन्यते, भूतस्वरूपाणां जितत्वा-**

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३७०।

२. 'स्थूलसंयमजयाच्चतस्रः सिद्धयो भवन्तीति।'—त० वै० पृ० ३६९।
'एताश्चतस्रः स्थूलसंयमसिद्धयः।'—यो० वा० पृ० ३६९।

दित्यर्थः ।'—(यो० वा०) । इस प्राकाम्य का उदाहरण दिया जा रहा है । भूमौ—पृथ्वी में । उन्मज्जति—उतराता या तैरता है । निमज्जति—डुबकी लगाता है । यथा उदके—जैसे जल में कोई डूबे या तैरे । पृथिवी का स्वरूपभूत काठिन्य उसको बाधित नहीं करता है । भूतों के सूक्ष्म रूप अर्थात् तन्मात्रों में संयम करने से 'वशित्व' नाम की सिद्धि का लाभ होता है । वशित्वम्—वशित्व वह सिद्धि है, जिससे कि योगी । भूतभौतिकेषु—भूतों और भौतिक पदार्थों के ऊपर । वशी भवति—वशः अधिकारः अस्ति अस्येति (वश + इनिः) वशी, अधिकारी या स्वामी हो जाता है । अवश्यश्चान्येषाम्—वह योगी उन भूतों और भौतिक पदार्थों के वश में नहीं रहता, प्रत्युत वे पदार्थ ही योगी के वश में रहते हैं । **'यानि यथाऽवस्थापयति तानि तथावतिष्ठन्त इत्यर्थः'**—(त० वै०) । अब 'अन्वयरूप' पर किये गये संयम की सिद्धि बता रहे हैं । ईशितृत्वम्—ईश्वरता । तेषाम्—उन भूतों के । प्रभवाप्ययव्यूहानाम्—उत्पत्ति, विनाश और व्यवस्थाओं को । ईष्टे—करने में समर्थ होता है । 'अर्थवत्वसंयम' से 'यत्रकामावसायित्व' की सिद्धि होती है । यत्रकामावसायित्वम्—यत्रकामावसायित्व है सत्यसङ्कल्पता । सच्चे या अवश्य पूरे होने वाले सङ्कल्पों वाला होना । इसी 'सत्यसङ्कल्पता' को अगले वाक्य में स्पष्ट किया जा रहा है । यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्—तात्पर्य यह है कि योगी जिस प्रकार चाहता है, उस प्रकार भूतों और भूतों की प्रकृतियों अर्थात् तन्मात्रादिकों की व्यवस्था या स्थिति होती है । फिर भी पहले से चली आती हुई जगद्-व्यवस्था को योगी भङ्ग नहीं करता । शक्तोऽपि—योगी समर्थ होने पर भी । न च पदार्थविपर्यासं करोति—पदार्थों की स्थिति को उलट नहीं देता । कस्माद्—क्यों ? अन्यस्य—इस योगी से अन्य । पूर्वसिद्धस्य—सबसे पहले के सिद्ध । यत्रकामावसायिनः—'यत्रकामावसायित्व' नामक सिद्धि से सम्पन्न योगी अर्थात् ईश्वर का । भूतेषु—भूतों के विषय में । तथा सङ्कल्पाद् इति—उसी प्रकार का सङ्कल्प होने से (कि ये भूतपदार्थ ऐसे ही हों—यह सङ्कल्प होने के कारण) नये योगी के द्वारा भूतभौतिक-व्यवस्था में परिवर्तन करने पर पूर्वसिद्ध योगी के सत्यसङ्कल्पत्व अर्थात् यत्रकामावसायित्व का खण्डन होगा, जिससे वह सिद्धान्त ही बाधित हो जायेगा । एतानि—ये अणिमादि । अष्टौ—आठ । ऐश्वर्याणि—सिद्धियाँ हैं ।

कायसम्पद्—शरीरसम्पत्ति । वक्ष्यमाणा—अगले सूत्रभाष्य में कही जाने वाली है । अतः पिष्टपेषण बचाने के लिये यहाँ इसका व्याख्यान नहीं किया गया । तद्धर्मानभिघातश्च—तस्य भूतस्य धर्मैरनभिघातः अबाधितत्वम्, भूतों के धर्मों से योगी का बाधित न होना । इस सिद्धि से । पृथ्वी मूर्त्या योगिनः शरीरादिक्रियां न निरुणद्धि—पृथ्वी अपने धर्मभूत मूर्ति से योगी की शरीर इत्यादि की चेष्टा को नहीं बाधित

करती, फलतः । शिलामपि अनुप्रविशति इति—योगी पत्थर की शिला में भी प्रविष्ट हो जाता है । स्निग्धाः—तरल । आपः—जल । न क्लेदयन्ति—योगी के शरीर को नहीं भिगोता । उष्णः अग्निः—गरम आग । न दहति—योगी के शरीर को नहीं जलाती । प्रणामी वायुः—वहनशील वायु । न वहति—योगी को नहीं उड़ाता । अनावरणात्मकेऽप्याकाशे—आच्छादित न करने वाले आकाश में भी । आवृतकायः भवति—वह योगी अपने शरीर को छुपा सकता है । सिद्धानामप्यदृश्यो भवति—सिद्धों को भी नहीं दृष्टिगोचर होता ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूप, सलोनापन, बल और वज्र के समान सुदृढ़ अङ्गविन्यास (ही) 'कायसम्पत्' है ॥ ४६ ॥

दर्शनीयः, कान्तिमान्, अतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति ॥ ४६ ॥

(योगी) दर्शनीय, कान्तिमान्, अतिशय बलवान् और वज्र के समान सुदृढ़ अङ्गसन्निवेश वाला (हो जाता है) ॥ ४६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—रूपं च लावण्यं च बलञ्च, वज्रसंहननत्वञ्चेति रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि—सुन्दर रूप, सलोनापन, बलवत्ता और वज्र के समान सुदृढ़ अवयवविन्यास—ये चारों 'कायसम्पत्' नाम की सिद्धि कहे जाते हैं । तात्पर्य यह है कि 'कायसम्पत्' नाम की सिद्धि का लाभ होते ही योगी के शरीर में सुन्दर रूप, सलोनापन, बलवत्ता और वज्र के समान सुदृढ़ अङ्गविन्यास आ जाते हैं ॥ ४६ ॥

(भा० सि०)—इस 'कायसम्पत्' नाम की सिद्धि का लाभ हो जाने पर योगी । दर्शनीयः—रूपवान् । कान्तिमान्—लावण्ययुक्त, सलोना । अतिशयबलः—अतिशय बलवान् । वज्रसंहननश्चेति—और वज्र के समान सुदृढ़ अङ्गसन्निवेश वाला अर्थात् वज्रवत् सुदृढ़ अवयवसंस्थान वाला हो जाता है । **'वज्रसंहननत्वं वज्रवद् दृढसंहतिः कायस्य सम्यगभेद्यत्वमित्यर्थः ।'**—(भा०) ॥ ४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

(इन्द्रियों के) ग्रहणात्मक रूप, स्व-रूप, अस्मिता रूप, अन्वयरूप और अर्थवत्व रूप में किये गये संयम से (साक्षात्कार द्वारा) इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है ॥ ४७ ॥

सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः । तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम् । न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारम् । कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण

[१]मनसानुव्यवसीयेतेति ? स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्य-विशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम् । तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहङ्कारः । तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः । चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणाः, येषामिन्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामाः । पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति । पञ्चस्वेवेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४७ ॥

सामान्य और विशेषों वाले शब्दादिक (विषय) 'ग्राह्य' पदार्थ हैं । उनमें इन्द्रियों की (आलोचन रूप) वृत्ति 'ग्रहण' है, और यह (आलोचन) सामान्यमात्र के ग्रहणरूप का नहीं होता । (क्योंकि) इन्द्रिय के द्वारा अगृहीत वह ग्राह्य-विषय का विशेष मन के द्वारा कैसे जाना जा सकता है ? और फिर (इन्द्रियों का) स्वरूप प्रकाशशील बुद्धिसत्त्व के सामान्य-विशेषों के अपृथक्सिद्ध अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह 'इन्द्रिय' नामक द्रव्य है । उन (इन्द्रियों) का तीसरा रूप 'अस्मिता' लक्षण वाला अहङ्कार है । उस (अस्मिता रूप) सामान्य की इन्द्रियाँ (ही) विशेष हैं । (इन्द्रियों का) चौथा रूप है—प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील तथा ज्ञानात्मक (तीनों) 'गुण', जिनका परिणाम अहङ्कार सहित इन्द्रियाँ हैं । पाचवाँ रूप (वह) है, जो (तीनों) गुणों में विद्यमान (भोगापवर्गरूप) 'पुरुषार्थसाधकत्व' है । इन्द्रियों के इन पाँचों रूपों में क्रमानुसार संयम (करना चाहिये) और उनमें क्रमशः जय प्राप्त करके पाँचों रूपों में जय हो जाने से योगी को 'इन्द्रियजय' नाम की सिद्धि आविर्भूत होती है ॥ ४७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—पुरुष और प्रकृति-तत्त्वों की सन्निधि से अभिव्यक्त सकल जगत् इन्द्रियात्मक और भूतात्मक है । इनमें से भूतों के सभी स्वरूपों में किये गये संयम से 'भूतजय' नाम की सिद्धि बतायी जा चुकी है । अब इस सूत्र के द्वारा इन्द्रियों के सभी स्वरूपों में किये गये संयम से प्राप्य 'इन्दियजय' नाम की सिद्धि का कथन किया जा रहा है । जैसे—भूतों के पाँच रूप माने गये थे, वैसे ही इन्द्रियों के भी कुल पाँच रूप होते हैं । इन्द्रियाँ ग्राह्यविषयों का ग्रहण करती हैं । इसी रूप में वे लोक में प्रख्यात हैं, इसीलिये उनका प्रथम रूप 'ग्रहण' बताया जा रहा है । विषयाभिमुख इन्द्रियों का व्यापार ही इन्द्रियों का 'ग्रहण' रूप है ।[२] स्वरूपम्—इन्द्रियों का सामान्य प्रकाशात्मक रूप ही उनका 'स्वरूप' है । अस्मिता—इन्द्रियाँ सात्त्विक 'अस्मिता' की विकार हैं,

१. 'मनसा वानुव्यवसीयेते'ति—पाठान्तरम् ।

२. 'ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखीवृत्तिः ।'—रा० मा० वृ० पृ० ८१ ।

इसलिये अस्मिता का उनमें अनुगम रहता है, क्योंकि 'कार्यं हि कारणेनानुप्रविष्टं भवति'। यह 'अस्मिता' ही इन्द्रियों का तीसरा रूप है। अन्वयः—तीनों गुण समस्त इन्द्रियों में अन्वित रहते हैं, इसलिये ये तीनों गुण इन्द्रियों के 'अन्वय' रूप हैं। अर्थवत्वम्—इन्द्रिय रूप में अभिव्यक्त तीनों गुणों में अभिव्याप्त पुरुष की भोगापवर्ग-साधनता ही इन्द्रियों का 'अर्थवत्व' नामक पाँचवाँ रूप है। इन पाँचों इन्द्रियरूपों में किये गये। संयमात्—संयम से। इन्द्रियजयः—'इन्द्रियजय' नाम की सिद्धि योगी को होती है ॥ ४७ ॥

(भा० सि०)—इन्द्रियों के पाँचों रूपों का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार सबसे पहले रूप 'ग्रहण' को समझा रहे हैं। समान्यविशेषात्मा—सामान्य और विशेष के समुदाय रूप। शब्दादिः—शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध नामक विषय ही। ग्राह्यः—इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होते हैं, इसीलिये इन्हें 'ग्राह्य' कहा जाता है। तेषु—ग्राह्येषु, उन ग्राह्य विषयों में। इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की। वृत्तिः—व्यापार, आलोचनरूप का व्यापार। इन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण का विषयाकार परिणाम ही आलोचन या वृत्ति है। यद्यपि यह वृत्ति (विषयाकार परिणाम रूप आलोचन) अन्तःकरण की ही होती है। फिर भी चक्षुरादि इन्द्रियों के आधार से यह संभव होती हैं। इसलिये इसे इन्द्रियों की वृत्ति कहा गया है।[1] यही इन्द्रिय-व्यापार, उनका। ग्रहणम्—'ग्रहण' नाम का रूप है। जो मतवादी यह मानते हैं कि यह 'इन्द्रियकृत' आलोचन विषय के सामान्यमात्र का ग्रहण करता है, उसके विशेषों का आलोचन इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, उनका खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि। तच्च—और वह इन्द्रियकृत ग्रहण। सामान्यमात्रग्रहणाकारम्—विषय के सामान्य के ग्रहण रूप का। न—नहीं होता है। इन्द्रियेण अनालोचितः—इन्द्रियों के द्वारा आलोचित न किया गया, ग्रहण न किया गया। स विषयविशेषः—विषय का वह विशेष, विषयगत वह विशेष। मनसा—चित्त के द्वारा। कथम्—भला कैसे ?

अनुव्यवसीयते इति—गृह्येत, गृहीत हो सकता है ? क्योंकि वैसा मानने पर कोई अन्धा या बहरा कैसे हो सकता है।[2] इसलिये इन्द्रियालोचन विषय के सामान्य और

---

१. 'वृत्तिरालोचनं विषयाकारपरिणामविशेषः चित्तावधारणाभिमानसंशयरूपादन्तःकरणानामसाधारणवृत्तिचतुष्काद्विलक्षणो दर्शनस्पर्शननामा, यद्यपि सोऽपि स्मरणाद्यनुरोधेनान्तःकरणस्यैव, तथापि चक्षुराद्युपष्टम्भेनैव भवतीति कृत्वा दर्शनादिश्चक्षुरादीनामुच्यते।'—यो० वा० पृ० ३७२।

२. 'बाह्येन्द्रियतन्त्रं हि मनो बाह्ये प्रवर्ततेऽन्यथाऽन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गात्, तदिह यदि न विशेषविषयमिन्द्रियं तेनासावनालोचितो विशेष इति कथम्मनसाऽनुव्यवसीयेत।'
—त० वै० पृ० ३७२।

और विशेष दोनों का होता है। **'तस्मात्सामान्यविशेषविषयमिन्द्रियालोचनमिति'।**[1] इन इन्द्रियों का दूसरा रूप है—इनका 'स्वरूप'। स्वरूपं पुनः—और इनका स्वरूप यह है कि। प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य—प्रख्यारूपचित्तसत्त्व के। सामान्यविशेषयोः—'प्रकाशरूपत्व' नामक सामान्य और 'नियतरूपादिविषयत्व'[2] नामक विशेषों के। अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः—अपृथक्सिद्ध अवयवभेदों में अनुगत। समूहः—समुदाय या समूह रूप। द्रव्यम्—द्रव्य ही। इन्द्रियम्—इन्द्रिय है। **प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य संस्थानभेदश्चेन्द्रियरूपमेकं द्रव्यं जातम्। तदिन्द्रियद्रव्यं तु सामान्यविशेषयोः प्रकाशसामान्यस्य कर्णादिरूपविशेषव्यूहनस्य च समूहरूपं निरन्तरालावयववद्।'**[3]

तेषाम्—उन इन्द्रियों का। तृतीयं रूपम्—तीसरा रूप। अस्मितालक्षणः अहङ्कारः—'अस्मिता' नामक अहङ्कार है। यहाँ पर 'अहङ्कार' शब्द से किसी को अभिमान नामक वृत्ति का भ्रम न हो—इसलिये 'अस्मितालक्षणः' विशेषणरूप में कहा गया है।[4] तस्य सामान्यस्य—सामान्य-भूत इस अहङ्कार के। इन्द्रियाणि विशेषाः—विशेष ही इन्द्रियाँ हैं, जैसे—विशेष रूप-भूतों के समान तन्मात्र है। विशेषभूत इन्द्रियों का सामान्य 'अस्मिता' है। इसीलिये 'अहङ्कार' भी इन्द्रियों का सामान्य होने के कारण एक रूप है।

चतुर्थं रूपम्—इन्द्रियों का चौथा रूप है। व्यवसायात्मकाः—ज्ञानात्मक रूप में परिणत होने वाले। प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणाः—प्रकाश, प्रवृत्ति एवं स्थिति के स्वभाववाले सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीनों गुण। येषाम्—जिन गुणों के। परिणामाः—परिणत रूप हैं। साहङ्काराणि इन्द्रियाणि—अहङ्कारसहित इन्द्रियाँ। वे ही तीनों गुण इन्द्रियों के चौथे रूप हैं। तीनों गुण दो रूपों में परिणत होते हैं। एक ज्ञानात्मक या व्यवसायात्मक रूप में और दूसरे ज्ञेयात्मक या व्यवसेयात्मक रूप में। इनमें से व्यवसायात्मकरूप में परिणत गुणत्रय 'ग्रहणाकार' होते हैं और अहङ्कार तथा एकादश 'इन्द्रियाँ' कहे जाते हैं। व्यवसेयात्मक रूप में परिणत गुणत्रय 'ग्राह्याकार' होते हैं और तन्मात्र, भूत तथा भौतिक पदार्थ कहे जाते हैं। इन दो में से व्यवसायात्मक परिणाम वाले गुण इन्द्रियों के चौथे रूप हैं। पञ्चमं रूपम्—इन्द्रियों का पाँचवा रूप

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३७२।

२. 'अहङ्कारो हि सत्त्वभागेनात्मीयेनेन्द्रियाण्यजीजनद् अतो यत्तत्र करणत्वं सामान्यं यच्च नियतरूपादिविषयत्वं विशेषस्तदुभयमपि प्रकाशात्मकमित्यर्थः।'
—त० वै० पृ० ३७३।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३७३।

४. 'तत्राभिमानाख्यवृत्तिभ्रमनिरासायास्मितालक्षण इति विशेषणम्।'
—यो० वा० पृ० ३७३।

वह है। यद्—जो। गुणेषु अनुगतम्—तीनों गुणों में व्याप्त। पुरुषार्थवत्त्वम् इति—पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक प्रयोजनों की साधकता है। यह पुरुषप्रयोजन-साधकता ही इन्द्रियों का पाँचवाँ रूप है। एतेषु—इन। पञ्चसु—पाँचों। इन्द्रियरूपेषु—इन्द्रियरूपों में। यथाक्रमम्—क्रममनतिक्रम्येति यथाक्रमम् (अव्ययीभावसमासः) क्रमानुसार अर्थात् सबसे पहले प्रथम रूप में, फिर दूसरे रूप में—इस क्रम से। संयमः—(करणीय इति शेषः संयम करना। तत्र तत्र जयं कृत्वा—और उस-उस रूप में (साक्षात्कार द्वारा) विजय प्राप्त करके। पञ्चरूपजयाद्—पाँचों रूपों पर प्राप्त विजय से। योगिनः—योगी को। इन्द्रियजयः—इन्द्रियजय नामक सिद्धि। प्रादुर्भवति—उत्पन्न या प्रकट होती है ॥ ४७ ॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

उस (इन्द्रियजय) से मनोजवित्व (मनोवेगयुक्तत्व), विकरणभाव (शरीर-निरपेक्ष इन्द्रिय की पहुँच), और प्रधानजय (प्रकृतिजय) भी सिद्ध होते हैं ॥४८॥

कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम्। विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इति। एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते। एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

शरीर की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करना 'मनोजवित्व' है। देह से बाहर स्थित इन्द्रियों को अभीष्ट (दूर) देश, काल तथा (ग्राह्य) विषयों की अपेक्षा से (तत्तद् देश, काल और विषयों में) व्यापृत हो पाना 'विकरणभाव' है। प्रकृति के सभी विकारों का स्वामित्व 'प्रधानजय' है। ये तीन सिद्धियाँ 'मधुप्रतीका' कही जाती हैं, और ये (सिद्धियाँ) पाँचों इन्द्रियों के (पाँचों) स्वरूपों को जीतने से प्राप्त होती हैं ॥ ४८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—'इन्द्रियजय' के फलस्वरूप ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ततः—उस (इन्द्रियजय) से। मनोजवित्वम्—मनसः जवः वेगः गतिः इति मनोजवः, सोऽस्ति अस्येति मनोजवी, तस्य भावो मनोजवित्वम्, मन के समान द्रुतगति वाला होना 'मनोजवित्व' है। इस जितेन्द्रिय योगी का शरीर इसी प्रकार का हो जाता है। **'शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम्'**।[1] विकरणभावः—विगतानि देहाद् दूरीभूतानि करणानि इन्द्रियाणि यस्य स योगी विकरणः, तस्य भावः स्थितिः तथोक्तः, शरीर की अपेक्षा न करके व्यापार करने में समर्थ इन्द्रियों से युक्त

१. द्रष्टव्य; रा० मा० वृ० पृ० ८१।

होना 'विकरणभाव' है।[1] प्रधानजयश्च—प्रधानस्य प्रकृतेर्जयः, **'सर्वप्रकृतिविकार-वशित्वं प्रधानजयः।'**—(त० वै०), सभी प्रकृतियों और विकृतियों पर अधिकार या स्वामित्व होना 'प्रधानजय' है। ये तीनों सिद्धियाँ 'इन्द्रियजय' नाम की भूमि का लाभ होने के अनिवार्य फलस्वरूप होती हैं ॥ ४८ ॥

(भा० सि०)—कायस्य—शरीर को। अनुत्तमः—अविद्यमानः उत्तमः यस्मात् सः, सर्वश्रेष्ठ या सर्वातिशायी। गतिलाभः—वेग की प्राप्ति ही। मनोजवित्वम्—'मनोजवित्व' नाम की सिद्धि है। विभुपरिमाण होने के कारण मन की गति सार्वत्रिक होती है। इसी मनोगति के समान सर्वातिशायी गति योगी के शरीर को भी प्राप्त हो जाती है। इसलिये इस सिद्धि को 'मनोजवित्व' नाम दिया गया है। विदेहानाम्—विगतानि देहादिति विदेहानि तेषां तथोक्तानाम्, शरीर से बाहर स्थित अर्थात् शरीरनिरपेक्ष। इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का। अभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षः वृत्तिलाभः—अभीष्ट देशों, समयों और विषयों के सम्बन्ध में व्यापार करना, जानना या चेष्टा करना ही। विकरणभावः—'विकरणभाव' नाम की सिद्धि है। इस सिद्धि के फलस्वरूप योगी का शरीर चाहे जहाँ रहे, उससे निरपेक्ष होकर उसकी इन्द्रियाँ दूर से दूर प्रदेश में अतीत और अनागत कालों में और सूक्ष्मादि विषयों में भी अपनी आलोचनादि क्रिया करने में समर्थ हो जाती है।[2] अब 'प्रधानजय' का निरूपण किया जा रहा है। सर्वप्रकृतिविकारवशित्वम्—प्रकृतिश्च विकाराश्चेति प्रकृतिविकाराः, सर्वे ते प्रकृतिविकारा इति सर्वप्रकृतिविकारास्तेषां वशित्वं स्वामित्वमिति तथोक्तम्, आठों प्रकृतियों और सोलहों विकारों का स्वामित्व प्राप्त हो जाना ही। प्रधानजय इति—'प्रधानजय' नाम की सिद्धि है। **'सर्वासां व्यक्तिभेदेनानन्तानां भूतेन्द्रियप्रकृतीनां सत्त्वादिगुणानां तद्विकाराणां च सर्वेषां स्वेच्छयानुविधानं प्रधानजय इत्यर्थः'**।[3]

एतास्तिस्रः सिद्धयः—ये तीनों सिद्धियाँ। 'मधुप्रतीका' उच्यन्ते—'मधुप्रतीका' कही जाती है। तात्पर्य यह है कि इन तीनों सिद्धियों की एक शास्त्रीय संज्ञा 'मधुप्रतीका' है। एताश्च—और 'मधुप्रतीका' नाम की ये सिद्धियाँ। करणपञ्चकरूपजयाद्—इन्द्रियों के पाँचों रूपों पर संयम के द्वारा विजय प्राप्त कर लेने से। अधिगम्यन्ते—लभ्यन्ते, प्राप्त की जाती हैं। इन्द्रियों को जीतने से प्रकृतियों पर विजय

---

१. 'कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः।'

—रा० मा० वृ० पृ० ८१।

२. 'विदेहानां शरीरनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिप्रेते देशे काले विषये च वृत्तिलाभो ज्ञानचेष्टादिकरणसामर्थ्यं विकरणभावः।'—भा० पृ० ३७४।

३. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३७।

क्यों मिल जाती है ? इन्द्रियजय से मनोजवित्व और विकरणभाव की सिद्धि तो ठीक है, क्योंकि इनका सम्बन्ध साक्षात् इन्द्रियों से है। इससे प्रधानजय कैसे सिद्ध हो जाता है ? इस शङ्का के समाधान के लिये ही भाष्यकार ने यह पंक्ति लिखी है। इसका आशय यह है कि इन्द्रियों के पाँचों रूपों पर संयम करने पर ही इन्द्रियजय होता है और इन पाँचों रूपों के अन्तर्गत अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व भी आते हैं। अस्मिता से अहङ्कारतत्त्व, अन्वय से त्रिगुण और अर्थवत्व से पुरुषप्रयोजनसाधकता का ग्रहण होता है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त कोई नयी चीज 'प्रधानजय' में सम्बद्ध नहीं होती। इसी कारण इन्द्रियजय से 'प्रधानजय' नाम की सिद्धि का प्राप्त होना अस्वाभाविक और असङ्गत है। **'नन्विन्द्रियजये कथं प्रकृतिमहदहङ्काराणां जय इति चेन्न—इन्द्रियरूपेष्वन्तिमरूपत्रयात्तेषामिति'**[1] ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥ ४९ ॥

बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्याति में ही प्रतिष्ठित (चित्त वाले योगी) को सभी पदार्थों का स्वामित्व तथा सर्वज्ञत्व (सिद्ध) होता है ॥ ४९ ॥

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकार-संज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपतिष्ठन्त इत्यर्थः। सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः इत्येषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ॥ ४९ ॥

राजस एवं तामस मलों से शून्य सत्त्वमयी बुद्धि के अत्यन्त निर्मल हो जाने पर, उत्कृष्ट वशीकारसंज्ञा (वैराग्य) में स्थित (तथा) बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्यातिमात्र के रूप में प्रतिष्ठित (चित्त वाले योगी) को सभी वस्तुओं का स्वामित्व (प्राप्त होता है) अर्थात् ज्ञानात्मक और ज्ञेयात्मक—सभी रूपों वाले गुण (इस) अधिकारी जीव (अर्थात् योगी) के प्रति समस्त भोग्य पदार्थों के रूप में उपस्थित होते हैं। (और) सर्वज्ञता (प्राप्त होती है) अर्थात् भूत, भविष्यद् तथा वर्तमान धर्मों के रूप में स्थित सभी रूपों वाले गुणों का एक साथ विवेकजन्य ज्ञान होता है। यह 'विशोका' नाम की सिद्धि है, जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ, दग्धक्लेशबन्धन और स्वामी होकर विचरण करता है ॥ ४९ ॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३७५।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ग्राह्यविषय (पाँचों भूतों के पाँचों रूप) तथा ग्रहणविषय (इन्द्रियों के पाँचों रूप) में किये गये संयमों से प्राप्य सिद्धियों का वर्णन करके अब ग्रहीतृविषय (अस्मिता) में किये गये संयम से प्राप्त होने वाली प्रमुख सिद्धि का निरूपण किया जा रहा है।[1] इस संयम से 'विवेकख्याति' नामक भूमिका का लाभ होता है, जिसके फलस्वरूप क्रियैश्वर्यरूप–१. सर्वभावाधिष्ठातृत्व और ज्ञानैश्वर्य रूप—२. सर्वज्ञातृत्व सिद्ध होते हैं। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि का चरम पर्यवसान विवेकख्याति में होता है। इस 'विवेकख्याति' से ही ये दोनों ऐश्वर्य सुलभ हो जाते हैं। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य–सत्त्वञ्च पुरुषश्चेति सत्त्वपुरुषौ, तयोरन्यता, तस्याः ख्यातिः ज्ञानं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः, सा एव (संयमस्वाभाव्याद् न काचिदन्या ख्यातिः) इति सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रम् (अस्वपदविग्रहो नित्यसमासः), तदस्ति अस्य योगिनः इति (मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तं पदम्), तस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य, बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व के साक्षात्कार से ही युक्त (चित्त वाले) योगी को। सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्—सभी भावों अर्थात् वस्तुओं का अधिष्ठातृत्व, विनियोक्तृत्व अर्थात् स्वामित्व और। सर्वज्ञातृत्वम्—सभी पदार्थों की जानकारी होती है। च—और, इस 'च' शब्द के द्वारा विवेकख्यातिजन्य इन दोनों विभूतियों का समुच्चय हो रहा है। एक बात यहाँ समझ लेनी चाहिये कि यद्यपि इस सूत्र में 'संयम' पद का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' के साथ लगा हुआ 'मात्र' शब्द 'संयम' के अर्थ को प्रकट किये दे रहा है,[2] क्योंकि समाधि में 'अर्थमात्र' का निर्भास होता है, ध्येयान्तर का बिल्कुल ज्ञान नहीं होता। इस सूत्र में भी 'मात्र' शब्द के प्रयोग से 'समाधि' और तद्द्वारा 'संयम' का आक्षेप स्वतः हो जाता है ॥ ४९ ॥

(भा० सि०)—निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य—जिसके रजोगुण और तमोगुण रूप के मल सर्वथा शान्त हो गये हैं—ऐसे सत्त्वमय चित्त का। परवैशारद्ये (जाते इति शेषः)—उत्कृष्ट नैर्मल्य होने पर, परम स्वच्छत्व हो जाने पर। और। परस्यां वशीकारसंज्ञायां[3] वर्तमानस्य—उत्कृष्ट वशीकारसंज्ञा वैराग्य में प्रतिष्ठित (और इसी कारण से विषयप्रवृत्तिविमुख चित्त का)। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य—बुद्धि और पुरुष के विविक्तत्व को जानने में ही प्रतिष्ठित चित्त को।

---

१. 'तदेवं ग्राह्यग्रहणसंयमयोः सिद्धिमुक्त्वा ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिमाह।'
—यो० वा० पृ० ३०५।

२. 'मात्रशब्देन संयमरूपख्यातिर्लब्धा।'—यो० वा० पृ० ३७५।

३. 'वशीकारवैराग्याद् विषयप्रवृत्तिहीनं चेतो विवेकख्यातिमात्रप्रतिष्ठं भवति।'
—भा० पृ० ३७६।

सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्—सभी भावपदार्थों अर्थात् वस्तुओं का विनियोक्तृत्व या स्वामित्व प्राप्त होता है। इसी 'सर्वाधिष्ठातृत्व' का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। सर्वात्मानो गुणाः व्यवसायव्यवसेयात्मकाः—व्यवसीयते अनेन इति (वि+अव+√षो+घञ् करणे प्र० ए०) व्यवसायः ज्ञानम्, व्यवसितुं योग्या इति (वि+अव+√षो+यत् प्र० बहु०) व्यवसेयाः ज्ञेयाः, तावेवात्मा शरीरं येषां ते तथोक्ताः, ज्ञान और ज्ञेय रूप में स्थित। सर्वपदार्थरूप सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीनों गुण। स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रति—स्वामी बने हुए जीव अर्थात् इस योगी के प्रति। अशेषदृश्यात्मत्वेन—सम्पूर्ण दृश्य या सम्पूर्ण भोग्य पदार्थों के रूप से।[1] उपतिष्ठन्त इत्यर्थः—उपस्थित होते हैं, प्रस्तुत होते हैं।

सर्वज्ञातृत्वम् (भवतीति शेषः)—उस योगी को सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। इस 'सर्वज्ञातृत्व' पद का ही व्याख्यान अब किया जा रहा है। सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानाम्—भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालिक पदार्थों के रूप में स्थित सर्वाकार गुणों का। 'धर्म' शब्द का अर्थ है पदार्थ या वस्तुएँ[2]। अक्रमोपारूढम्[3]—क्रममुपारूढं क्रमिकं न तथेति तथोक्तम्, परित्यक्तक्रमम्, यौगपद्य से आविर्भूत अर्थात् एक साथ होने वाला। विवेकजं ज्ञानम्—विवेकजन्यं ज्ञानम्, विवेकजज्ञान। आविर्भूत होता है। इत्यर्थः—यह अर्थ है। इत्येषा—यह दो प्रकार की सिद्धि। विशोका नाम सिद्धिः—'विशोका' नाम की सिद्धि है। योगीजनों में यह द्विविध सिद्धि 'विशोका' नाम से प्रसिद्ध है। याम्प्राप्य—जिसे पाकर। योगी। सर्वज्ञः—सर्वज्ञ (होकर)। क्षीणक्लेशबन्धनः—क्षीणानि दग्धभावं प्राप्तानि क्लेशरूपबन्धनानि यस्यासौ तथोक्तः, जले हुए क्लेशरूपी बन्धनों वाला होकर। वशी—सभी पदार्थों का स्वामी होकर। विहरति—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र रूप में विचरण करता है। बाद में प्रारब्धसंस्कारों का भोग के द्वारा क्षय हो जाने पर विदेहकैवल्य का लाभ करता है॥ ४९॥

---

१. 'अशेषभोग्यवस्त्वाकारेण परिणता भूत्वोपतिष्ठन्ते योगिनाम्।'
—यो० वा० पृ० ३७६।

२. यद्यपि 'धर्म' शब्द पदार्थवाचक के रूप में बौद्ध वाङ्मय में ही प्रायः व्यवहृत हुआ है, किन्तु आस्तिक दर्शनों में भी गौडपाद आदि आचार्यों ने इस शब्द को इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। और योगभाष्यकार ने तो बौद्धों में प्रचलित पदावली का उपयोग अनेक स्थलों पर किया ही है।

३. 'अक्रमोपारूढं युगपदुपस्थितम्।'—भा० पृ० ३७७।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

उस (सिद्धि) के प्रति वैराग्य के कारण दोषबीजों का (सर्वथा) नाश होने पर (विदेह) कैवल्य भी होता है ॥ ५० ॥

यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः, सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति। एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति। तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते। तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां प्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम्। तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ५० ॥

जब क्लेशों और कर्म (संस्कारों) के क्षीण हो जाने पर इस (योगी) को ऐसा (ज्ञान) होता है कि यह विवेकख्याति (भी) सत्त्वगुण का ही धर्म है और सत्त्वगुण तो त्याज्यकोटि में डाला गया है, और अपरिणामी, शुद्धपुरुष सत्त्वगुण से सर्वथा भिन्न है। तब इस प्रकार उस (विवेकख्याति) से (भी) विरक्त होते हुए इस (योगी) के अंकुरित होने में असमर्थ जले हुए धान के बीजों के समान जो क्लेशों (और कर्मों) के बीज रहते हैं, वे चित्त के साथ ही साथ लीन हो जाते हैं। उनके लीन हो जाने पर पुरुष फिर इस त्रिविधताप का अनुभव नहीं करता। तब मन में कर्म, क्लेश और विपाकों के (संस्कार) रूप से अभिव्यक्त होने वाले तथा कृतकृत्य हो चुके हुए गुणों के (प्रकृति में) लीन हो जाने पर पुरुष को गुणों से आत्यन्तिक वियोग अर्थात् कैवल्य हो जाता है। उस दशा में पुरुष अपने रूप में स्थित चैतन्यमात्र रहता है ॥ ५० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—यह प्रकरण विभूतियों के वर्णन का है। प्रकरण के आधार पर यही मानना चाहिये कि इस सूत्र में 'कैवल्य' नामक परमपुरुषार्थ या सर्वोत्कृष्ट सिद्धि का निरूपण किया गया है। यह सिद्धि भी विवेकख्यातिरूपी संयम से ही परवैराग्य के द्वारा प्राप्त होती है। यह सिद्धि सर्वमूर्धन्य है।[1] तद्वैराग्याद्—तस्माद् विवेकख्यातेः वैराग्यम् इति तद्वैराग्यं तस्मात्तथोक्ताद्, उस विवेकख्याति के प्रति उत्पन्न हुए (पर) वैराग्य से। 'अपि'—यह शब्द भिन्नक्रम है।[2] इसका अन्वय 'कैवल्य' के

---

१. संयमान्तराणां पुरुषार्थाभासफलत्वाद् विवेकख्यातिसंयमस्य पुरुषार्थतां दर्शयितुं विवेकख्यातेः परवैराग्योपजननद्वारेण कैवल्यं फलमाह।'—त० वै० पृ० ३७७।

२. 'अपिशब्दः कैवल्यमित्यनेनान्वेति।'—यो० वा० पृ० ३७७।

पश्चात् करना चाहिये। दोषबीजक्षये—दोषाणां सर्वदुःखानां बीजानि क्लेशकर्मविपाकसंस्कारास्तेषां क्षयः सर्वथोन्मूलनम्, तस्मिन् सति, सभी दोषों के बीज क्लेशकर्मविपाकों के संस्कार हैं। इनका चित्त के साथ ही प्रकृति में लय हो जाने पर। **'दुःखदोषस्य बीजानामखिलवासनाकर्मणां चित्तेन सह लये सति।'**—(यो० वा०)। कैवल्यमपि—कैवल्य नाम का सकलसिद्धिशिरोमणि रूप परमपुरुषार्थ भी सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

(भा० सि०)—यदा—जब। क्लेशकर्मक्षये—क्लेशकर्मसंस्कारों के क्षीण हो जाने पर। अस्य—इस योगी को। एवं भवति—ऐसा ज्ञान होता है कि। अयं विवेकप्रत्ययः—यह विवेकख्याति भी। सत्त्वस्य धर्मः—सत्त्वगुण का ही धर्म है। सत्त्वञ्च—और यह सत्त्वगुण अन्य सब गुणों से श्रेष्ठ होने पर भी स्वभावतः परिणामी और जड होने के कारण। हेयपक्षे न्यस्तम्—त्याज्यकोटि में ही डाला गया है, त्याज्य ही माना गया है। पुरुषश्च—और पुरुष। अपरिणामी शुद्धः सत्त्वादन्यः इति—परिणामशून्य, त्रिगुणातीत होने से शुद्ध तथा सत्त्वगुण से सर्वथा भिन्नस्वभाव है। एवं विरज्यमानस्य—इस प्रकार विरक्त होते हुए। अस्य—इस योगी के। यानि क्लेशबीजानि—जो क्लेश के संस्कार। यहाँ पर क्लेशबीजों को कर्म और विपाक के बीजों का उपलक्षण मानना चाहिये, क्योंकि क्लेशसंस्कारों से ही कर्म तथा कर्मों से कर्मसंस्कार और उनसे ही विपाक या फलभोग तथा उनसे वासनासंस्कारों की उत्पत्ति होती है। इसलिये 'क्लेश, कर्म और विपाक सभी के संस्कार'—यही अर्थ अभीष्ट समझना चाहिये। दग्धशालिबीजकल्पानि—विवेकख्याति के कारण जले हुए धान के बीजों के समान। अप्रसवसमर्थानि—उगने में असमर्थ कर दिये गये थे। तानि—वे। मनसा सह—चित्त के साथ-साथ। प्रत्यस्तं गच्छन्ति—प्रकृति में प्रलीन हो जाते हैं।

तेषु—उनके। प्रलीनेषु (सत्सु)—प्रकृति में लीन हो जाने पर। पुरुषः—पुरुषतत्त्व। पुनरिदं तापत्रयम्—फिर कभी इन त्रिविध—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—दुःखों को। न भुङ्क्ते—नहीं अनुभव करता। मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानाम्—चित्त में क्लेश, कर्म और भोग के संस्कारों के रूप से अभिव्यक्त होने वाले। चरितार्थानाम्—तथा इस दशा में कृतार्थ हो चुकने वाले। एतेषां गुणानाम्—इन तीनों गुणों के। प्रतिप्रसवे—प्रकृति में लीन हो चुकने पर। पुरुषस्य—पुरुष का। आत्यन्तिकः—सदा के लिये, शाश्वतिक रूप से। गुणवियोगः—गुणेभ्यो वियोग इति तथोक्तः, गुणों से असंयुक्त होना, अलग हो जाना ही। कैवल्यम्—'कैवल्य' नाम की सिद्धि है। तदा—उस स्थिति में। पुरुषः—पुरुषतत्त्व। स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव—अपने निजी रूप में स्थित चेतनशक्तिमात्र रहता है। इति—समाप्तिसूचक पद है ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गाद् ॥ ५१ ॥

(इन्द्रादि) देवताओं के द्वारा सादर निमन्त्रित किये जाने पर आसक्ति और गर्व नहीं करना चाहिये, फिर अनिष्ट (संसार) का प्रसङ्ग होने के कारण ॥ ५१ ॥

चत्वारः खल्वमी योगिनः—प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति । तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कृतकर्तव्यसाधनादिमान् । चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः । सप्तविधाऽस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा । तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः [1]सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते—'भो ! इहास्यतामिह रम्यतां, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्यू बाधते, वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसो, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः । स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता । प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमि'ति ।

एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान्भावयेत् घोरेषु । संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशो योगप्रदीपः । तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः । स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति । स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत् । सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति । स्मयादयं सुस्थितम्मन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति । तथा चास्य च्छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति । ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः, एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढीभविष्यति । भावनीयश्चार्थोऽभिमुखीभविष्यतीति ॥ ५१ ॥

वे योगी चार (प्रकार के) होते हैं—१. प्रथमकल्पिक, २. मधुभूमिक, ३. प्रज्ञाज्योति और ४. अतिक्रान्तभावनीय । उनमें से प्रथम (प्रकार का) योगी अभ्यास करने वाला तथा आरब्धसाक्षात्कार होता है । दूसरा (योगी) ऋतम्भराप्रज्ञा वाला होता है । भूतेन्द्रियजय से सम्पन्न तीसरा (योगी) समस्त साक्षात्कृत (परचित्तादिज्ञान) तथा साक्षात्करणीय (विशोकादि) विषयों में अच्युत रहने के लिये प्रबन्ध किये हुए और विहित साधनानुष्ठानादि से युक्त होता है । चौथा (योगी)

---

१. 'सत्त्वविशुद्धिमि'ति—पाठान्तरम् ।

तो (वह) है, जो 'अतिक्रान्तभावनीय' होता है। उसके लिए चित्तविलय (ही) एक (मात्र) प्रयोजन (रह जाता) है। इसकी सात रूपों की अन्तिम भूमिका वाली प्रज्ञा होती है। उनमें से मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते हुए योगी को (स्वर्गादि) लोकों के स्वामी देवता बुद्धि-शुद्धि का विचार करते हुये स्वर्गादि स्थानों के द्वारा इस प्रकार से निमन्त्रण देते हैं—'अरे ! यहाँ विराजिये, यहाँ रमण कीजिये, यह स्पृहणीय भोग है, यह कन्या सुन्दरी है, यह रसायन वृद्धावस्था और मृत्यु को दूर करता है, यह आकाशीय विमान है, यहाँ वे कल्पवृक्ष हैं, पवित्र स्वर्गङ्गा है, सिद्ध महर्षिगण हैं, श्रेष्ठ तथा अनुकूल अप्सराएँ हैं, दिव्य कान और नेत्र (हो जाते) हैं, शरीर वज्रतुल्य (हो जाता) है। यह सब आपके द्वारा अर्जित किया गया है। अविनश्वर अजर और अमर यह देवताओं का प्रिय स्थान आप प्राप्त करें।'

इस प्रकार कहा जाता हुआ (योगी) आसक्ति के दोषों को इस प्रकार ध्यान करे—'भीषण संसार रूपी अङ्गारों में जलाये जाते हुए तथा जन्म-मरण के अन्धकार में बार-बार पड़ने वाले मेरे द्वारा किसी तरह से क्लेशरूपी अन्धकार का नाशक योगरूपी दीपक प्राप्त किया गया। लालच पैदा करने वाले विषयों के रूप का पवन उस (योगप्रदीप) से प्राप्त प्रकाश का विरोधी है। लब्धप्रकाश वह मैं इस विषयरूपिणी मृगतृष्णा से ठगा जाकर क्यों फिर उसी धधकती हुई संसाराग्नि में अपने को इन्धन बनाऊँ ? आपके स्वप्नतुल्य तथा हीन जनों के द्वारा अभिलषणीय, विषयों का भला हो।' इस प्रकार सुस्थिरबुद्धि होकर योगी समाधि को (ही) साधे। आसक्ति न करके, 'मैं तो इस प्रकार से देवताओं का भी प्रार्थनीय हो गया हूँ'—इस प्रकार का गर्व भी न करे। गर्व के कारण योगी अपने को सुस्थित मानने के कारण अपने को मृत्यु के द्वारा पकड़े गये हुये बालों वाला नहीं समझेगा। और इस प्रकार से अन्य दोषों की ताक में रहने वाली एवं सर्वदा (किये गये) यत्नों से प्रतीकार्य असावधानी, लब्धावकाश होकर (अविद्यादि समस्त) क्लेशों को आधार प्रदान करेगी। उससे फिर अनभीष्ट (संसारचक्र) की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार आसक्ति और गर्व न करने वाले योगी के द्वारा साक्षात्कृत पदार्थ सुदृढ़ हो जायेगा और साक्षात्करणीय पदार्थ सामने आयेगा ॥ ५१ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—योग से प्राप्त होने वाली सर्वोत्कृष्ट सिद्धि 'कैवल्य' के मार्ग में वैसे तो अनेक बाधाएँ बतायी गयी हैं, किन्तु इस सूत्र में एक विशिष्ट 'आधिदैविक' बाधा का उल्लेख किया जा रहा है। साथ ही इस बाधा का प्रतीकार भी बताया जा रहा है। स्थान्युपनिमन्त्रणे—स्थानं स्वर्गादिकमस्ति एषामिति स्थानि-

नस्तेषामुपनिमन्त्रणं तस्मिन्, स्वर्गादिलोकों के स्वामी इन्द्रादि देवताओं के द्वारा योगी को स्वर्गादिक भागों का निमन्त्रण दिये जाने पर।[1] सङ्गस्मयाकरणम्—सङ्गः सक्तिः स्मयो गर्वः तयोरकरणम्, आसक्ति और गर्व का न करना ही (इस बाधा को दूर करने का) एकमात्र उपाय है। अभिप्राय यह है कि उस निमन्त्रण में आसक्ति और गर्व नहीं करना चाहिये। पुनरनिष्टप्रसङ्गात्—फिर से अनिष्टभूत संसारचक्र[2] का प्रसङ्ग उपस्थित होने के कारण। तात्पर्य यह है कि यदि उस निमन्त्रण में आसक्ति या गर्व किया गया तो फिर योगमार्ग से भ्रष्ट होकर अनिष्ट संसारचक्र में फिर फँस जाना पड़ेगा और सर्वदुःख-विनाशक 'कैवल्य' नहीं प्राप्त हो सकेगा ॥ ५१ ॥

(**भा० सि०**)—योगसाधना की किस अवस्था में देवताओं के द्वारा भोगादि की प्रार्थना की जाती है? इसका निश्चय करने के लिये भाष्यकार कहते हैं। चत्वारः खल्वमी योगिनः—ये योगी लोग चार अवस्थाओं वाले होते हैं। १. प्रथमकल्पिकः—प्रथमकल्प के योगी। २. मधुभूमिकः—'मधुमती' भूमिकावाले योगी। ३. प्रज्ञाज्योतिः—प्रज्ञाजन्यप्रकाश वाले योगी। ४. अतिक्रान्तभावनीयश्चेति—और साक्षात्करणीय समस्त विषयों का साक्षात्कार कर चुकने वाला योगी। इन्हीं चारों का लक्षण अलग-अलग दिया जा रहा है। तत्र—इन चारों में से। प्रथमः—प्रथमकल्पिकः योगी। अभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः—योगाभ्यास में लगा हुआ ऐसा योगी, जिसे पदार्थों को प्रकाशित करने वाला, साक्षात्कार होने तो लगा हो, किन्तु अभी स्थिर न हुआ हो—प्रथमकल्पिक कहा जाता है। **"प्रवृत्तमात्रं न तु निष्पन्नज्योतिर्ज्ञानं यस्य स तथा।'**—(यो० वा०)। **'प्रवृत्तमात्रं न पुनर्वशीकृतं ज्योतिर्ज्ञानं परचित्तादिविषयं यस्य स तथा।'**—(त० वै०) ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः—ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त कर लेने वाला योगी दूसरा है, अर्थात् 'मधुभूमिक' कहा जाता है। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः—जिस योगी को 'भूतजय' और 'इन्द्रियजय' नाम की विभूतियाँ सिद्ध हो चुकती हैं, वह तीसरे प्रकार का योगी है। अर्थात् उसे 'प्रज्ञाज्योति' कहते हैं। इस अवस्था वाला योगी। सर्वेषु भावितेषु—सभी साक्षात्कृत विषयों में। कृतरक्षाबन्धः[3]—कृतः भावितेषु साक्षात्कृतविषयेषु रक्षाबन्धः भूमिकासंरक्षणप्रबन्धः येनासौ, जिसने सभी साक्षात्कृतविषयों को च्युत न होने देने का पूरा प्रबन्ध

---

१. 'स्थानिनो महेन्द्रादयः'—त० वै० पृ० ३७८।

२. 'सङ्गस्मयाभ्यां पुनरपि संसारप्रसङ्गाद्।'—यो० वा० पृ० ३७८।

३. 'सर्वेषु भावितेषु निष्पादितेषु भूतेन्द्रियजयात्परचित्तादिज्ञानादिषु कृतरक्षाबन्धः यस्तेभ्यो न च्यवते।'—त० वै० पृ० ३७९।

दृढ़ाभ्यासादि के द्वारा कर लिया है। भावनीयेषु[1]—और सभी साक्षात्करणीय विषयों में। कृतकर्तव्यसाधनादिमान्—करणीय साधनानुष्ठानों को करने वाला होता है। चतुर्थः—वह योगी चौथी अवस्था वाला है। यस्तु—जो कि। अतिक्रान्त-भावनीयः—कृतकृत्य हो चुका होता है। तस्य—उसका। चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः—चित्त को प्रविलीन करना ही एकमात्र प्रयोजन अवशिष्ट रहता है। सप्तविधाऽस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा—इस चतुर्थभूमिक योगी की उत्कृष्टतम कोटि की बुद्धि केवल सात रूपों वाली रहती है।

तत्र—इन चारों अवस्थाओं वाले योगियों में से। मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य—'मधुमती' भूमि का साक्षात्कार करने वाले योगी की। सत्त्वशुद्धिम्—बुद्धि की शुद्धता को। अनुपश्यन्तः—देखते हुए, दृष्टि में रखते हुए। स्थानिनो देवाः—स्वर्गादि प्रसिद्ध स्थानों के अधिकारी देवगण। स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते—अपने-अपने स्थानादिकों के द्वारा निमन्त्रित करते हैं। यहाँ पर 'स्थान' शब्द तत्तत्स्थानगत समस्त भोगों का उपलक्षण है। इससे स्पष्ट हुआ कि दूसरी भूमिका को सिद्ध कर चुकने वाले योगी को ही देवादिगणों के द्वारा निमन्त्रण दिया जाता है। प्रथमभूमिक योगी तो देवताओं के निमन्त्रण के अयोग्य ही रहता है, साक्षात्कार का धनी न होने के कारण। तृतीयभूमि का योगी देवताओं को सुलभ सारे भोगों का स्वामी स्वयं ही हो जाता है, 'भूतेन्द्रियजय' से प्राप्य अमोघ सिद्धियों के कारण। इसलिये उसकी दृष्टि में देवोपम भोग कोई दुर्लभ पदार्थ नहीं रह जाते। चौथी भूमि वाले योगी में 'परवैराग्य' के कारण किसी भी प्रकार के भोग की शङ्का नहीं हो सकती। इसलिये उसमें दैवी प्रलोभनरूपी आधिदैविक बाधा की शङ्का ही नहीं हो सकती। अतः इस दैवीप्रलोभनरूपी आधिदैविक बाधा की आशङ्का केवल द्वितीय अवस्था वाले अर्थात् 'ऋतम्भराप्रज्ञा' वाले या 'मधुमूमिक' योगी को ही रहती है।

अब देवताओं के द्वारा किये गये उपनिमन्त्रण का स्वरूप बताया जा रहा है। भोः[2]—सम्बोधित करने के लिये प्रयुक्त होने वाला अव्ययपद है। इह—इस स्थान में। आस्यताम्—आसीन हो, निवास करें। इह रम्यताम्—यहाँ रमण कीजिये। कमनीयोऽयं भोगः—अमुक भोग बड़ा ही स्पृहणीय है। कमनीयेयं कन्या—यह कन्या बड़ी ही सुन्दरी है। इदं रसायनं जरामृत्युं बाधते—यह रसायन (रूपी औषध) है, इसका सेवन करने से बुढ़ापे और मृत्यु की बाधाएँ सदा के लिये दूर हो जाती

---

१. 'तथा भावनीयेषूत्पादनीयेषु विशोकादिसिद्धयादिष्वसम्प्रज्ञातपर्यन्तेषु विहित-साधनवानित्यर्थः।''—यो० वा० पृ० ३७९।

२. 'अथ सम्बोधनार्थकाः। स्युः पाट् प्याडङ्ग हे है भोः।' —अमर० ३।४।७।

हैं । इदम्—यही । वैहायसम्—विहायस इदम् इति (विहायस्[1] + अण्) आकाशीय । यानम्—वाहन है । अमी कल्पद्रुमाः—वे कल्पवृक्ष हैं । उनसे जो भी अद्भुत या दुर्लभ वस्तु चाहो, प्राप्त कर सकते हो । पुण्या मन्दाकिनी—पवित्र स्वर्गङ्गा नदी है (स्नानाचमनादि के लिये) । सिद्धा महर्षयः—सिद्ध महर्षिगण हैं । सभी जिज्ञासाओं की शान्ति करने के लिये ये सक्षम हैं । उत्तमा अनुकूला अप्सरसः—सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी तथा मनोनुकूल रहने वाली अप्सराएँ हैं, (मनोरञ्जन के लिये) । दिव्ये श्रोत्र-चक्षुषी—दिव्यशक्तिसम्पन्न कर्णेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय हैं (स्वर्गीय पदार्थों को देखने और सुनने के लिये) । वज्रोपमः कायः—वज्र के समान सुदृढ़ एवं बलवान् शरीर हैं (सभी भोगों को भोगने के लिये) । स्वगुणैस्सर्वमुपार्जितमायुष्मता—अपने योग-साधनानुष्ठान रूपी धर्मों से चिरञ्जीवी आप के द्वारा ये सब भोग कमाये गये हैं (इनमें किसी का एहसान नही है) । इदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियम् इति—देवताओं को सर्वथा प्रिय यह अनश्वर तथा जरामरणरहित देवस्थान । प्रतिपद्यताम्—आपके द्वारा प्राप्त किया जाय । एवमभिधीयमानः—इस प्रकार स्थानी देवताओं से कहा जाता हुआ वह योगी । सङ्गदोषान् भावयेत्—इन भोगों में फँसने पर उत्पन्न होने वाले दोषों अर्थात् अनर्थों को सोचे ।

अब भाष्यकार सङ्गदोषों को सोचने की शैली प्रतिपादित कर रहे हैं । घोरेषु संसाराङ्गारेषु—भीषण संसाररूपी अङ्गारों में । पच्यमानेन—दह्यमानेन, जलाये जाते हुए । जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन मया—तथा जन्म और मृत्यु के अँधेरे में बार-बार लड़खड़ाते हुए मेरे द्वारा । कथञ्चित्—किसी तरह से, बड़ी कठिनाई से । क्लेशतिमिरविनाशः योगप्रदीपः—क्लेशरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला योगरूपी दीपक । आसादितः—पाया गया है, मिला है । एते तृष्णा-योनयः विषयवायवश्च—और ये लालच पैदा करने वाले भोगात्मक विषयरूपी पवन । तस्य प्रतिपक्षाः—उसके विरोधी हैं । स खल्वहं लब्धालोकः—(योगप्रदीप का) उजाला पानेवाला वह मैं । अनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितः—इस विषय-भोग रूपिणी मृगतृष्णा से छला गया । तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेः—फिर उसी धधकती हुई संसाररूपी अग्नि का । आत्मानं कथमिन्धनीकुर्याम्—अपने आपको कैसे ईंधन बना दूँ ? इति—इस प्रकार से विषयासक्ति दोष की भावना करनी चाहिये और उन देवताओं से कहना चाहिये कि । स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः स्वस्ति—आपके इन स्वप्नतुल्य क्षणभंगुर विषयों का भला हो (इनसे मुझे कोई सरोकार नहीं है) । इत्येवं निश्चितमतिः—इस प्रकार सुदृढ़बुद्धि होकर । समाधि-म्भावयेत्—अगली भूमियों की समाधि का अनुष्ठान करे । सङ्गदोषों के ही समान 'स्मय'

१. 'विहायाः शकुने पुंसि गगने पुंनपुंसकम् ।'—अमर० १।२।३।

अर्थात् देवप्रार्थितत्वरूपी सिद्धि के विषय में 'गर्व' भी नहीं करना चाहिये। उससे भी दोष उत्पन्न होते हैं। सङ्गमकृत्वा—विषयों में आसक्ति से बचकर, न फँसकर। स्मयमपि न कुर्यात्—यह गर्व भी नहीं करना चाहिए कि। एवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति—'अरे! अब तो मैं देवताओं का भी प्रार्थनीय बन गया हूँ।' स्मयाद्—क्योंकि इस स्मय (√स्मिङ्+अच्) अर्थात् गर्व के कारण। सुस्थितम्मन्यतया—सुस्थितमात्मानं मन्यत इति सुस्थितम्मन्यस्तस्य भावस्तया, अपने को सुस्थित समझने के कारण। आत्मानम्—अपने को। मृत्युना केशेषु गृहीतमिव—मृत्यु के द्वारा पकड़े गये बालों वाला, मौत के चंगुल में जकड़ा हुआ। न भावयिष्यति—न जानेगा। तात्पर्य यह है कि अपनी वास्तविक दुर्गति को नहीं समझेगा। तथा च—और। अस्य—इस योगी की। छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादः—दोषावकाश की ताक में रहने वाली तथा नित्य (नियम से) यत्नों के द्वारा दूर की जा सकने वाली असावधानी। लब्धविवरः—मौका पा जायेगी, अवसर प्राप्त कर लेगी, अर्थात् इस योगी को असावधानी घेर लेगी। क्लेशानुत्तम्भयिष्यति—और इसके क्लेशों को उभारेगी, सहारा देगी। ततः—उसके फलस्वरूप। पुनः—फिर से। अनिष्टप्रसङ्गः—अनिष्टरूप संसारचक्र की प्रसक्ति होगी। अभिप्राय यह है कि वह संसार के दलदल में फिर फँस जायेगा। एवम्—इस प्रकार। सङ्गस्मयावकुर्वतः—देवताओं के द्वारा दिखाये जाते हुए विषय-भोगों में आसक्ति और गर्व न करते हुए इस योगी का। भावितोऽर्थः दृढीभविष्यति—'साक्षात्कृत' अर्थ सुदृढ़ एवं अखण्डित रहेगा। भावनीयश्चार्थः—और अगली भूमियों में 'साक्षात्करणीय' अर्थ। अभिमुखीभविष्यति—सामने शीघ्रता से उपस्थित होगा। अतः अगली योगभूमियों की सिद्धि सुकर होगी ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षण और उनके क्रम में (किये गये) संयम से (भी) विवेकजज्ञान होता है ॥ ५२ ॥

यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः। यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यात् उत्तरदेशमुपसम्पद्येत स कालः क्षणः। तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते। क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी, क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा। तं कालविदः 'काल' इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः। क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसम्भवात्, पूर्वस्मादुत्तरभाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः, तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति

तत्समाहारः । ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः । तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति । तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी धर्माः । तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम् । ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥ ५२ ॥

जैसे सूक्ष्मता की सीमा तक पहुँचा हुआ द्रव्य 'परमाणु' (कहा जाता) है, उसी प्रकार अत्यन्तसूक्ष्मता तक पहुँचा हुआ काल 'क्षण' (कहा जाता) है । या फिर जितने समय में एक परमाणु चलकर पहले वाले स्थान को छोड़े और बादवाले स्थान को पहुँचे, वह समय 'क्षण' है । उस क्षण की धारा का न टूटना ही तो उस (क्षण) का क्रम है । क्षण और उसके क्रम का वस्तुरूप से समाहार (संग्रह) नहीं होता, इसीलिये मुहूर्त, अहोरात्र (इत्यादि क्षणसमूह) बुद्धिगत क्षणसमाहाररूप हैं । वह यह (क्षणसमाहाररूप में प्रसिद्ध) काल अवास्तविक, बुद्धि (की कल्पना) से निर्मित, शाब्दीप्रमा का अनुसरण करने वाला है, और थोथे ज्ञान वाले संसारी लोगों को वस्तुरूप से स्थित जैसा लगता है । (किन्तु) क्षण तो वास्तविक होता है (और) क्रम का आश्रयभूत होता है; और क्रम क्षणों के नैरन्तर्य के स्वरूप का होता है । उस (क्षण) को कालज्ञ योगिजन 'काल' कहते हैं । दो क्षण साथ (ही) स्थित नहीं होते और क्रम भी दो साथ स्थित क्षणों का नहीं होता, (दो क्षणों की साथ स्थिति) असम्भव होने के कारण । (इसलिये) पहले वाले (क्षण) से बाद वाले (क्षण) की जो अनन्तरता है, वही क्षण का क्रम है ? अतः वर्तमान (अवस्था वाला) ही एक (वस्तुरूप से सत्तावान्) क्षण होता है । पहले वाले और बाद में आने वाले क्षण वर्तमान नहीं रहते, इसलिये उन सब का समाहार या संग्रह नहीं होता । जो भूत और भविष्यत् क्षण हैं, वे परिणाम में अन्वित हुए कहे जाने चाहिये । अतः एक (वर्तमान) क्षण से (अनुगत) समस्त लोक परिणाम का अनुभव करता है । ये सभी धर्म उस एक (वर्तमान) क्षण पर चढ़े हुए होते हैं । क्षण और उसके क्रम—इन दोनों में किये गये संयम से उन दोनों का साक्षात्कार (होता है) और उस (साक्षात्कार) से विवेकजज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—विवेकख्याति से जो सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है, उसे 'विवेकजज्ञान' कहते हैं—यह हम ५०वें सूत्र में कह आये हैं । इस 'विवेकजज्ञान' की प्राप्ति का एक अन्य साधन भी सूत्रकार के द्वारा इस सूत्र में बताया जा रहा है । इस प्रकार से 'विवेकजज्ञान' की प्राप्ति के लिये इस शास्त्र में कुल दो (वैकल्पिक) साधन बताये गये हैं ।[१] क्षणतत्क्रमयोः—क्षणाश्च (तेषां क्रम इति तत्क्रमः) तत्क्रमश्चेति

---

१. 'अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह ।'
—रा० मा० वृ० पृ० ८३ ।

क्षणतत्क्रमौ, तयोः क्षणतत्क्रमयोः, क्षणों और उनके क्रम में। संयमाद्—कृतात् संयमाद्, किये गये संयम से। विवेकजं ज्ञानम्—विवेकजज्ञान आविर्भूत होता है, योगी को सिद्ध होता है। इस विवेकजज्ञान का स्वरूप इसी पाद के ४९वें सूत्र के भाष्य में कहा जा चुका है और ५२वें तथा ५३वें सूत्रों में भी इसी के स्वरूप और वैशिष्टच का ही निरूपण किया जायेगा। इसकी सिद्धि (मुख्यतया) योगी को 'विवेकख्याति' से स्वयंसिद्ध फल के रूप में हो जाती है। किन्तु यदि विवेकख्याति के होने के पूर्व या उसके बिना कोई 'विवेकजज्ञान' प्राप्त करना चाहे, तो उसके लिये यह वैकल्पिक संयम बताया गया है। विवेकजज्ञान मूलतः ऐसा सार्वत्रिक एवं सर्वाङ्गीण होता है कि उससे समस्त ज्ञेयवस्तु का अशेष विशेषों सहित पूर्णज्ञान हो जाता है ॥ ५२ ॥

(**भा० सि०**)—भाष्यकार पहले 'क्षण' का स्वरूप समझाना चाहते हैं। यथाऽपकर्षपर्यन्तम्···क्षणः—जैसे अपकृष्टरूप अर्थात् सूक्ष्मरूप द्रव्य 'परमाणु' होता है, उसी प्रकार अत्यन्त अपकृष्ट रूप वाला काल 'क्षण' है।[1] इस पङ्क्ति से यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि द्रव्य का सूक्ष्मरूप तो 'तन्मात्र' है, अतः तन्मात्र ही 'परमाणु' कहे गये हैं। वस्तुतः तन्मात्र, अहङ्कार और महत्तत्त्व तो तत्त्वान्तरपरिणाम हैं। तन्मात्र के तत्त्वान्तरपरिणाम 'महाभूत' हैं। इन महाभूतों के आगे फिर तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होते, इसलिये सांख्ययोग में परमाणु नामक कोई तत्त्वान्तर स्वीकृत नहीं किया गया। वस्तुतः महाभूतों के अन्तर्गत ही जो सूक्ष्मतम रूप है, उसी को परमाणु माना गया है। महाभूतों का सूक्ष्म अवस्थान परमाणु के रूप में और स्थूल अवस्थान लोष्ठादि द्रव्यों के रूप में होता है। इसलिये भाष्यकार ने 'द्रव्यस्य अपकृष्टं तत्त्वं परमाणुः'—यह नहीं कहा, प्रत्युत 'अपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुः'—यही कथन किया है। वाचस्पतिमिश्र ने भी इस अंश का व्याख्यान इन शब्दों में किया है—**'लोष्ठस्य हि प्रविभज्यमानस्य यस्मिन्नवयवेऽल्पत्वतारतम्यं व्यवतिष्ठते सोऽपकर्षपर्यन्तः परमाणुर्यथा तथापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः पूर्वापरविभागविकलकालकलेति यावत्'**।[2]

'क्षण' को प्रकारान्तर से स्पष्ट किया जा रहा है। यावता वा समयेन चलितः परमाणुः—जितने समय में चलकर एक परमाणु। पूर्वदेशं जह्यात्—पहले वाले स्थान को छोड़ दे। उत्तरदेशमुपसम्पद्येत—और बाद वाले स्थान में पहुँच जाये। सः कालः क्षणः—उतने समय को 'क्षण' कहते हैं। तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः—क्षणों के प्रवाह का न टूटना अर्थात् निरन्तरता ही क्षणों का क्रम है। क्षणतत्क्रमयोः—क्षणों

---

१. 'क्षणः स कालावयवो यस्य कलाः प्रभवितुं न शक्यन्ते। तथाविधानां कालक्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्येण परिणामस्तत्र संयमात्प्रागुक्तं विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते।'
—रा० मा० वृ० पृ० ८३।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३८१।

और उनके क्रम का। नास्ति वस्तुसमाहारः—वस्तुरूप में इकट्ठा होना, समुदाय बनना (वास्तविक पदार्थ के रूप में) सर्वथा असम्भव है, क्योंकि एक क्षण के नष्ट हो जाने पर ही दूसरा क्षण आता है। अतः दो क्षण इकट्ठे नहीं स्थित हो सकते, और न तो क्रम ही वस्तुरूप से स्थित होता है। इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः—इसलिये क्षणों के समूहरूप में प्रसिद्ध मुहूर्त, दिन, रात, मास, संवत्सर आदि केवल बुद्धिस्थ क्षणसमूह ही हैं। तात्पर्य यह है कि क्षणों का समूह लोगों की बुद्धि में ही कल्पित होता है और उसी बुद्धिकल्पित क्षणसमूह को ही मुहूर्त, दिन-रात इत्यादि नाम दिया जाता है। अतः यह स्पष्टतः सिद्ध है कि। स खल्वयं कालः—क्षणों का समूहरूप यह समय। वस्तुशून्यः—वास्तविक सत्ता से रहित। बुद्धिनिर्माणः—बुद्धौ निर्माणं यस्य सः तथोक्तः, केवल बुद्धि में ही बनने वाला। शब्दज्ञानानुपाती—केवल शब्दज्ञान के माहात्म्य से ज्ञात होने वाला। व्युत्थितदर्शनानां लौकिकानाम्—असमाहित दृष्टिवाले, स्थूलबुद्धि वाले लोगों को। वस्तुस्वरूप इवावभासते—वस्तुभूत पदार्थ के रूप में भासित होता है। क्षणस्तु—इस काल से विपरीत यह 'क्षण' तो। वस्तुपतितः[1]—वस्तुभूत पदार्थों की कोटि में आने वाला **'क्षणाख्यस्तु कालो वस्तुकोटिप्रविष्टः।'**—(यो० वा०)। क्रमावलम्बी—क्रमस्य अवलम्बः इति क्रमावलम्बः, सोऽस्यास्तीति तथोक्तः, क्षणक्रम का अवलम्ब होता है। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा—क्योंकि 'क्रम' क्षणों की निरन्तरता के रूप का ही होता है। तम्—उस क्षणनैरन्तर्य रूपी क्रम को ही। कालविदः योगिनः—काल के सच्चे ज्ञाता योगी लोग। 'काल' इति आचक्षते[2]—'काल' संज्ञा देते हैं, काल या समय कहते हैं। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः—कोई भी दो क्षण साथ-साथ नहीं स्थित होते। क्रमश्च न—इसलिये क्रम भी वस्तुरूप से सत् नहीं होता। इसका हेतु दे रहे हैं। द्वयोः सहभुवोः असम्भवात्—दो साथ स्थित रहने वाले क्षणों की असम्भवता के कारण। तो फिर 'क्रम' कहाँ रहा? पूर्वस्माद् उत्तरभाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः—पहले वाले क्षण के बाद होने वाले क्षण की जो निरन्तरता (Continuity) है, वही क्रम है। तस्माद्—इसीलिये। वर्तमान एव एकः क्षणः—एक ही क्षण वर्तमान होता है। न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति—उसके पहले वाले क्षण और बाद वाले क्षण वर्तमान नहीं होते। तस्मान्नास्ति तत्समाहारः[3]—तेषां समाहारः इति तत्समाहारः, इसीलिये इन क्षणों का

१. 'वस्तुपतितः वास्तव इत्यर्थः।'—त० वै० पृ० ३८३।

२. 'ततस्तत्क्षणनैरन्तर्यं कालविदो योगिनः 'काल' इति वदन्ति।'

—भा० पृ० ३८३।

३. 'तस्मात्सर्वदैव वर्तमानलक्षणः एव क्षणस्तिष्ठति, न पूर्वोत्तरे क्षणा इत्यतो नास्ति तयोः क्षणतत्क्रमयोः वास्तवं मिलनं मुहूर्तादिरूपमित्यर्थः।'

—यो० वा० पृ० ३८३।

वस्तु के रूप में समाहार या समुदाय नहीं बन सकता । ये तु भूतभाविनः क्षणाः—और जो पहले वाले तथा बाद वाले क्षण होते हैं । ते परिणामान्विताः[1] व्याख्येयाः—वे क्रमशः अतीतलक्षण परिणाम तथा अनागतलक्षण परिणाम में सामान्य रूप से अनुगत कहे जाने चाहिये । तेन एकेन क्षणेन—इसीलिये इस एक वर्तमान क्षण के द्वारा ही । कृत्स्नो लोकः—समस्त जगत् । परिणाममनुभवति—परिणाम को प्राप्त ही होता रहता है । क्योंकि वर्तमान क्षण में ही अर्थक्रियाकारित्व की सामर्थ्य होती है, अतीतानागत क्षणों में नहीं । तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी धर्माः—सभी वर्तमान पदार्थ उसी (वर्तमान) क्षण पर चढ़े रहते हैं । तयोः तत्क्षणक्रमयोः—इन क्षणों तथा उनके क्रम में । संयमात्—संयम करने से । तयोः साक्षात्कारः—उनका साक्षात्कार होता है । ततश्च—और उससे (भी) । विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति—योगी को विवेकजज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

उस (विवेकजज्ञान) का एक विशेष विषय (इस सूत्र में) उदाहृत किया जा रहा है ।

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

जाति, लक्षण और देश के द्वारा भिन्नत्व का निर्धारण न होने से समान रूप वालों की अलग-अलग जानकारी उस (विवेकजज्ञान) से (ही) होती है ॥ ५३ ॥

तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुर्गौरियं वडवेयमिति । तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं—कालाक्षी गौः, स्वस्तिमती गौरिति । द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देशभेदोऽन्यत्वकरः—इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति । यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते, तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः । असन्दिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति । कथम् ? पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणदेशाद्भिन्नः[2] । ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने । अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति । एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति । अपरे तु वर्णयन्ति—येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति । तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्ति-

१. 'अन्विताः सामान्येन समन्वागता इत्यर्थः ।' —त० वै० पृ० ३८४ ।

२. 'उत्तरामलकसहक्षणाद्देशाद्भिन्नः'—इति पाठान्तरम् ।

व्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वहेतुः। क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति। अत उक्तम्—'मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमि'ति वार्षगण्यः॥ ५३॥

दो समान पदार्थों के स्थान और लक्षण एकरूप होने पर उनका जातिभेद (उनकी) भिन्नता का (ज्ञापक) हेतु है, (जैसे—एक स्थान पर स्थित और एक ही रङ्ग-रूप वाली होने पर) यह गाय है, (और) यह घोड़ी है। समान स्थान और समान जाति होने पर (उनका) लक्षण भिन्नत्व (प्रकट) करने वाला होता है, (जैसे—एक स्थान पर स्थित और एक ही जाति वाली होने पर) यह काली आँख वाली गाय है, (और) यह स्वस्तिक चिह्न वाली गाय है। दो आँवलों के जाति और लक्षण समान होने से स्थानभेद, भिन्नत्व (प्रकट) करने वाला होता है, (जैसे—एक ही जाति वाले और एक ही आकार वाले होने पर) यह पूर्ववर्ती (आँवला) है, (और) यह उत्तरदेशवर्ती (आँवला) है। किन्तु जब पूर्वदेशस्थ आँवला ज्ञाता पुरुष के, अन्य विषय में आसक्त रहने पर उत्तरदेश में हटा दिया जाता है, तो समानदेशवर्ती होने पर यह पूर्वदेशवर्ती आँवला है और यह उत्तरदेशवर्ती आँवला है—इस प्रकार अलग-अलग (पहचान) असम्भव है। असंदिग्धज्ञान के द्वारा ही (यह) हो सकता है। इसलिये यह कहा गया है कि उस विवेकजज्ञान से ही (इस प्रकार की) जानकारी होती है। यह कैसे (होता है) ? पूर्ववर्ती आँवले के साथ के क्षणों वाला देश उत्तरवर्ती आँवले के साथ के क्षणों वाले देश से भिन्न है। और वे दोनों आँवले अपने-अपने देशों के अनुभवों के कारण भिन्न हैं। अन्य देशों के क्षणों का अनुभव ही उन दोनों (आँवलों) के भिन्नत्व (के ज्ञान) में हेतु है। इस दृष्टान्त से समानजाति, समानलक्षण और समानदेश वाले परमाणु का, पूर्वपरमाणु के देश के साथ वाले क्षणों का साक्षात्कार होने से उत्तरवर्ती परमाणु का वह (पूर्व) देश न होने पर उस (उत्तर) देश का (क्षणों के साथ वाला) अनुभव भिन्न होता है, साथ वाले क्षणों का भेद होने से उन दोनों परमाणुओं की भिन्नता का ज्ञान (विवेकजज्ञान-सम्पन्न) ऐश्वर्यवान् योगी को होता है। अन्य लोग (वैशेषिकजन) तो वर्णन करते हैं कि (परमाणुओं में) जो अन्तिम भेदक 'विशेष' नामक पदार्थ हैं, वे ही (परमाणुओं की) भिन्नता का बोध कराते हैं। उन (परमाणुओं) में भी देश और लक्षण का भेद तथा संस्थान, व्यवधान और जाति का भेद ही भिन्नता का (ज्ञापक) हेतु होता है। (सबसे अधिक सूक्ष्म) क्षणगत भेद तो योगी की ही बुद्धि से जाना जा सकता है। इसीलिये कहा गया है कि—'संस्थान, व्यवधान और जातिभेद का अभाव होने से मूलप्रकृति में पृथक्त्व नहीं होता है'—यह वार्षगण्य का कथन है॥ ५३॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—यद्यपि यह विवेकजज्ञान 'सर्वविषयक' होता है, फिर भी इसकी अनन्य उपयोगिता उस स्थल में होती है, जहाँ अन्य कोई भी ज्ञान समर्थ नहीं होता है, इसलिये । तस्य—उस विवेकजज्ञान का । विषयविशेषः—विशिष्ट विषय, ऐसा विषय, जो कि अन्य किसी साधारण या असाधारण ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जाता । उपक्षिप्यते—प्रस्तूयते, सूत्रकार के द्वारा उपन्यस्त किया जा रहा है ।

(सू० सि०)—जातिलक्षणदेशैः—भिन्नता का बोध कराने वाले सामान्य, रूप-रङ्ग और आधारस्थान नामक धर्मों के द्वारा । अन्यताऽनवच्छेदात्—अन्यतायाः भिन्नतायाः अनिर्धारणात्, **'भेदावधारणस्यासम्भवात्'**—(यो० वा०), भिन्नता का निश्चय न होने के कारण । तुल्ययोः—दो सदृश पदार्थों का । ततः—उस विवेकज-ज्ञान से ही । प्रतिपत्तिः—ठीक-ठीक जानकारी होती है । जैसे 'क' और 'ख' दो सदृश पदार्थ हैं । उनमें से 'क' और 'ख' की भिन्नता का बोध साधारणदशा में इनके जाति, रूपरङ्ग और आधारभूत स्थान नामक धर्मों के द्वारा होता है । **'पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति'**—(रा० मा० वृ०) । जब ऐसी स्थिति हो कि इन भेदक धर्मों के द्वारा भिन्नता की जानकारी न हो सके, जैसे—यदि 'क' और 'ख' एक ही जाति के पदार्थ हों, उनका रूप-रङ्ग भी बिल्कुल एक ही हो और दोनों एक ही स्थल में स्थित हों, तब उनमें से कौन 'क' है ? और कौन 'ख' है ? इस अतिशय सूक्ष्म जानकारी की प्राप्ति विवेकजज्ञान से ही हो सकती है, अन्य किसी साधन से नहीं । ऐसे अवसर ही विवेकजज्ञान के उपयोग के विशिष्ट स्थल हैं ॥ ५३ ॥

(भा० सि०)—भाष्यकार पहले जाति, लक्षण और देश की अन्यतावच्छेदकता क्रमशः प्रदर्शित कर रहे हैं । तुल्ययोः—दो सदृश पदार्थों के । देशलक्षणसारूप्ये—आधारभूत देश और रङ्गरूपादि लक्षण समान होने पर । जातिभेदः—जातिविषयक-भिन्नत्वम्, उनकी जाति का अलग-अलग होना । अन्यतायाः—उनकी भिन्नता का । हेतुः—ज्ञापकः, बोधक होता है । जैसे, गौरियम्—यह तो 'गाय' है । और । वडवेयम्—यह 'घोड़ी' है । इस उदाहरण में गृहीत 'गाय' और 'घोड़ी' का लक्षण सरूप है अर्थात् एक ही रङ्ग और एक ही रूप है और दोनों एक ही आधार में स्थित भी हैं । उनके अलगाव का बोध भिन्नजाति के कारण होता है । यह तो 'जाति' की अन्यतावच्छेदकता हुई । इसी प्रकार । तुल्यदेशजातीयत्वे—देश और जाति समान होने पर । लक्षणम्—उन पदार्थों का लक्षण । लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम् आकृत्या-दयः, रङ्गरूप आदि ही । अन्यत्वकरम्—भिन्नत्व के निश्चायक, अलगाव के बोधक होते हैं । जैसे, कालाक्षी गौः—काली आँख वाली गाय । और । स्वस्तिमती गौः—

स्वस्तिक के चिह्न से युक्त गाय। पहले गायों का शृङ्गार इस प्रकार के चिह्न आदि बना कर करने की प्रथा थी। स्वस्तिक चिह्न इस प्रकार (卐) का होता है। इस उदाहरण में दोनों गायों की जाति एक ही है और एक ही आधार में दोनों स्थित भी हैं। जाति तथा देश समान होने पर दोनों पदार्थों की भिन्नता का निश्चायक यहाँ पर 'लक्षण' अर्थात् उनका रूपरङ्ग है। इसी भाँति। द्वयोरामलकयोः—दो आँवलों के। जातिलक्षणसारूप्याद्—जाति और रङ्गरूप की समानता के कारण। देशभेदः—स्थान अलग-अलग होना ही। अन्यत्वकरः—भेद का ज्ञापक होता है। जैसे, इदं पूर्वम्—यह पूर्वदेश में स्थित आँवला है, और। इदम् उत्तरमिति—यह उत्तर की ओर स्थित आँवला है।

अब यदि भेदज्ञापक ये तीनों हेतु अनुपस्थित हों तो दो समान पदार्थों की भिन्नता का निश्चय कैसे हो? इसके लिये सूत्रकार ने कह रखा है कि विवेकजज्ञान तो सर्वविषयक एवं सर्वथाविषयक होता है। ऐसे अवसरों में ही तो 'विवेकजज्ञान' की दुर्लभ उपयोगिता होती है। यदा तु—किन्तु जब। पूर्वमामलकम्—पूर्वदेश में स्थित आँवला। अन्यव्यग्रस्य ज्ञातुः—अन्य कार्य में लगे हुए व्यक्ति को। उत्तरदेशे उपावर्त्यते—उत्तर दिशा की ओर खिसका दिया जाता है। तदा—तब। तुल्यदेशत्वे—दोनों आँवलों का आधारभूत स्थान एक ही हो जाने पर। पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः—यह पूर्वदेश वाला आँवला है और यह उत्तरदेश वाला आँवला है। इस प्रकार के अलगाव वाली जानकारी नहीं हो पाती। असन्दिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यम्—और ज्ञान तो ठीक-ठीक होना चाहिए। इत्यत इदमुक्तम्—इसलिये (सूत्रकार के द्वारा) यह कहा गया है कि। ततः प्रतिपत्तिः विवेकजज्ञानाद् इति—उस विवेकजज्ञान से ही (उन आँवलों की भिन्नता की) जानकारी होती है। कथम्—यह भिन्नत्वज्ञान 'विवेकजज्ञान' से क्यों हो जाता है? विवेकजज्ञान तो क्षण और क्षणक्रम के संयम से होता है। उसे तो तज्जातीय वस्तु का ही साक्षात्कार कराना चाहिये। इसका उत्तर दिया जा रहा है। पूर्वामलकसहक्षणः देशः—आमलकस्य क्षणैः सह वर्तत इति आमलकसहक्षणः **'चैत्रसहोदर इतिवत् (समासः)।'**—(यो० वा०)। एवंविधः पूर्वो देशः पूर्वामलकसहक्षणः देशः, पूर्वदेश में स्थिर आँवले के क्षणों के साथ परिणमित देश। उत्तरामलकसहक्षणदेशाद्—उत्तरदेशस्थ आँवले के क्षणों के साथ परिणत हुए देश से। भिन्नः—अलग है। ते चामलके—और इसलिये वे दोनों आँवले। स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने—अपने-अपने सहित क्षणों के ज्ञान के कारण भिन्न होते हैं। **'तस्यानुभवः प्राप्तिर्वा ज्ञानं वा तेन भिन्ने आमलके'।**[1] अन्यदेशक्षणानु-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३८६।

भवस्तु—अलग-अलग देशों से सम्बन्धित क्षणों की जानकारी ही। तयोरन्यत्वे हेतुः—दोनों आँवलों की भिन्नता की बोधक होती है। इति—यह निश्चित हुआ।

एतेन दृष्टान्तेन—इस दृष्टान्त से। तुल्यजातिलक्षणदेशस्य—समान जाति, लक्षण और देश वाले। परमाणोः—परमाणु का। पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणात्—पूर्वदेश में स्थित परमाणु से सम्बन्धित क्षणों का साक्षात्कार हो जाने से। उत्तरस्य परमाणोः—उत्तरदेशस्थ परमाणु में। तद्देशानुपपत्तौ—उस (पूर्व) देश के अभाव होने से। उत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः—उत्तरदेश वाले परमाणु का उस (उत्तर) देश वाला अनुभव भिन्न होता है। क्यों ? सहक्षणभेदात्—सम्बन्धित क्षणों के भिन्न होने के कारण। तयोः—दोनों परमाणुओं के। अन्यत्वप्रत्ययः—भिन्नत्व की जानकारी। ईश्वरस्य योगिनः—विवेकजज्ञान-प्राप्त योगी को हो जाती है। इति—समाप्तिसूचक पद। अपरे[1] तु वर्णयन्ति—अन्य लोग (अर्थात् वैशेषिकमतानुयायी) तो कहते हैं कि। ये—जो। अन्त्याः विशेषाः—अन्ते परमाणौ भवा इति अन्त्याः, अन्तिम पदार्थ 'परमाणु' में रहने वाले 'विशेष' नामक पदार्थ हैं। ते—वे। अन्यताप्रत्ययं कुर्वन्ति—भिन्नत्व का बोध कराते हैं। इति—यह पद वैशेषिकों के कथन की समाप्ति का सूचक है। इस पक्ष का खण्डन किया जा रहा है। तत्रापि—उन परमाणुओं में भी। देशलक्षणभेदः—पहले कहे गये देश और लक्षण का भेद। मूर्तिव्यवधिजातिभेदश्च—संस्थानविशेष, व्यवधान और जाति का भेद। अन्यत्वहेतुः—भिन्नता का हेतु तो रहता ही है। वे सर्वथा तुल्य तो होते नहीं, इसलिये। क्षणभेदस्तु—उनका क्षणगत भेद तो। योगिबुद्धिगम्य एव—योगी की प्रज्ञा से जानने योग्य होता ही है। फिर उनमें 'विशेष' की कल्पना भेदक के रूप में करना व्यर्थ ही है, क्योंकि सर्वसाधारण को भी विशेष का प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं। अत उक्तम्—इसलिये कहा गया है कि। मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावात्—मूर्ति, व्यवधान और जाति (इत्यादि) के भेद का अभाव होने के कारण। नास्ति मूलपृथक्त्वम्—मूले मूलकारणे अव्यक्तप्रकृतौ पृथक्त्वमिति मूलपृथक्त्वम्, केवल मूलकारण अर्थात् 'प्रधान' तत्त्व में पार्थक्य या भिन्नत्व नहीं है। अन्य सब पदार्थों में भेदहेतु रहते हैं, इसलिये उनकी भिन्नता योगी के द्वारा जान ली जाती है। **'यस्य तूक्ता भेदहेतवो न सन्ति तस्य प्रधानस्य प्रभेदो नास्तीत्याचार्यो मेने·········जगन्मूलस्य प्रधानस्य पृथक्त्वं भेदो नास्तीत्यर्थः'**[2] ॥ ५३ ॥

---

१. 'य इति वैशेषिका हि नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा इत्याहुः।'
—त० वै० पृ० ३८६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३८०।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

विवेकजज्ञान तारक, सर्वविषयक, सर्वथाविषयक और अक्रम होता है ॥ ५४ ॥

तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः। सर्वविषयं नास्य किञ्चिदविषयीभूतमित्यर्थः। सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं[1] सर्वथा जानातीत्यर्थः। अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्। अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥ ५४ ॥

'तारक' शब्द का अर्थ है—अपनी प्रतिभा से उत्पन्न अर्थात् अनुपदिष्ट। 'सर्वविषय' होने के कारण कुछ भी इसका अविषय नहीं है। 'सर्वथाविषय' का यह अर्थ है कि (यह) भूत, भविष्यद् और वर्तमान सबको सभी रूपों से जानता है। 'अक्रम' का यह अर्थ है कि एक ही क्षण में उपस्थित सबको सब प्रकार से ग्रहण करता है। यह विवेकजन्य ज्ञान परिपूर्ण होता है, (क्योंकि) 'मधुमती' भूमिका से लेकर जहाँ तक इस (योगप्रदीप) की परिसमाप्ति होती है—वह (सब) योगप्रदीप इसी का अंश है ॥ ५४ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—विवेकजज्ञान का लक्षण सूत्र के प्रथम चार पदों के द्वारा कहा गया है। अन्तिम पद में लक्ष्य का निर्देश हुआ है।[2] यह विवेकजज्ञान। तारकम्[3]—(√तॄ+णिच्+ण्वुल् प्र० ए० नपु०) तारयतीति तारकम्, संसाररूपी सागर से पार कराने वाला, उद्धार करने वाला होता है। इसकी उत्पत्ति हो जाने पर सब पदार्थों का एक साथ ज्ञान हो जाता है, अतः सब विषयों के प्रति दोषदर्शन, वैराग्य की सुदृढ़ता, विवेकख्याति में निखार और निर्विप्लवता का होना सुनिश्चित ही रहता है। अतः सर्वथाविवेकख्याति अर्थात् धर्ममेघसमाधि को पुष्ट करता हुआ यह 'कैवल्य' को निश्चय ही सिद्ध करता है, इसीलिये 'विवेकजज्ञान' को 'तारक' कहा गया है।[4] सर्वविषयम्—सर्वं तत्त्वजातं विषयो यस्य ज्ञानस्य तादृशं सर्वविषयम्,

---

१. 'पर्यायैः'—इत्यधिकः पाठः कुत्रचित्।

२. 'विवेकजं ज्ञानमिति लक्ष्यनिर्देशः, शेषं लक्षणम्।'—त० वै० पृ० ३८७।

३. 'संसारसागरात्तारयतीति तारकम्।'—त० वै० पृ० ३८७।

'तारयत्यगाधात्संसारसागराद्योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमित्युच्यते।' —रा० मा० वृ० पृ० ८४।

४. 'यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपम्, अतः सर्वत्र दोषसाक्षात्कारेणोक्तवैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः।'—यो० वा० पृ० ३८८।

समस्त पदार्थ जिसके विषय रहते हैं, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं होता, जो उसकी विषयता की परिधि के अन्तर्गत न हो।[१] सर्वथाविषयम्—सर्वथा सर्वप्रकारेण (गृहीताः) विषया येन तादृशम् (ज्ञानम्), विषयों को सब प्रकार से, सर्वाङ्गीण रूप से गृहीत कराने वाला होता है। अक्रमञ्च—अविद्यमानः क्रम यस्मिंस्तदक्रमम्, युगपद् गृहीताशेषविषयम्, और एक साथ समग्रतत्त्व का बोध कराने वाला। इति—एतादृशम्, ऐसा। विवेकजज्ञानम्—विवेकजज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

(भा० सि०)—तारकमिति—'तारक' शब्द का अर्थ यह है कि। स्वप्रतिभोत्थम्[२]—योगी की अपनी संयमजन्य प्रतिभा से उत्पन्न होने वाला। अनौपदेशिकमित्यर्थः—अर्थात् किसी के उपदेशादि से प्राप्त न होने वाला। **'प्रतिभा ऊहः, स्वबुद्धयुत्कर्षाद् हित्वा सिद्धमित्यर्थः'**।[३] सर्वविषयम्—विवेकजज्ञान 'सर्वविषय' होता है। इसका आशय यह है कि। नास्य किञ्चिदविषयीभूतमित्यर्थः--कोई पदार्थ इसका अविषय नहीं होता अर्थात् सभी पदार्थ इसके विषय होते हैं। सर्वथाविषयम्—सब प्रकार से विषयों की जानकारी वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि। अतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं सर्वथा जानातीत्यर्थः—भूत, भविष्यद् तथा वर्तमान—सभी वस्तुओं को सब प्रकार से जान लेता है। अक्रममिति—'अक्रम' पद का अर्थ यह है कि। एकक्षणोपारूढम्—एकः एव क्षण इति एकक्षणः, तस्मिन् उपारूढम् उपस्थितम्, एक ही क्षण में उपस्थित (करके)। सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः—सभी वस्तुओं को पूरीतौर से ग्रहण कर लेता है। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्—यह 'विवेकजज्ञान' सर्वथा परिपूर्ण होता है। तात्पर्य यह है कि इससे बढ़ कर ज्ञान का उत्कर्ष नहीं होता। अस्यैव—इसी विवेकजज्ञान का ही। अंशः योगप्रदीपः—योग का दीपक या प्रकाश अर्थात् 'सम्प्रज्ञातयोग' इसका एक अंश ही है। इस योगप्रदीप अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग की ज्ञानदीप्ति का विस्तार कितना है, जिसे कि इस विवेकजज्ञान के अंशरूप से निर्दिष्ट किया गया है। मधुमतीभूमिमुपादाय—ऋतम्भराप्रज्ञा की प्राप्ति से लेकर। यावदस्य परिसमाप्तिरिति—जब तक इस सम्प्रज्ञातयोग की परिसमाप्ति अर्थात् पराकाष्ठा होती है, उतना भाग इसी का अंशभूत है। क्योंकि सम्प्रज्ञातयोग में क्रमिक और निश्चित विषयों का ही ज्ञान होता है। इसलिये वह इस असीम परमोत्कृष्ट ज्ञान का अंश हुआ ॥ ५४ ॥

---

१. 'नास्य क्वचित्कथञ्चित्कदाचिदगोचर इत्यर्थः।''—त० वै० पृ० ३८२।

२. 'सत्त्वपुरुषान्यतासंयमक्षणतत्क्रमसंयमाभ्यामुद्बोधितं (ज्ञानम्) प्रतिभा तदुत्थं स्वप्रतिभोत्थं तदेव हि संसारतारकं घटतेऽतोऽर्थापत्त्या स्वप्रतिभोत्थमेव तारकशब्दार्थः।'—यो० वा० पृ० ३८८।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० ३८८।

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

विवेकजज्ञान को प्राप्त करने वाले अथवा विवेकजज्ञान की प्राप्ति न करने वाले को (भी)—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

बुद्धिसत्त्व और पुरुष की शुद्धि के समान हो जाने पर 'कैवल्य' होता है ॥५५॥

यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं[1] दग्धक्लेशबीजं भवति, तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति। तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा। न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति। सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यञ्च ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते। तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य दृश्यत्वेन पुनरुपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यम्। तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये
विभूतिपादस्तृतीयः ॥ ३ ॥

जब रजोगुण और तमोगुण रूपी मल से रहित सत्त्वात्मक बुद्धि, पुरुष की अन्यताख्यातिमात्र में प्रतिष्ठित और दग्धक्लेशबीज हो जाती है, तब वह पुरुष की शुद्धि की समता-सी प्राप्त कर लेती है। उस समय (पुरुष में) व्यपदिष्ट भोगों का अभाव होना ही पुरुष की शुद्धि है। इस अवस्था (की प्राप्ति होने) पर 'कैवल्य' होता है—ऐश्वर्यसम्पन्न को और ऐश्वर्यहीन को भी अर्थात् विवेकजज्ञान युक्त को और उससे भिन्न को भी। दग्धक्लेशबीज (योगी) को ज्ञान की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती। बुद्धिसत्त्व की शुद्धि के द्वारा (आनुषङ्गिक रूप से ही) यह समाधिजन्य ऐश्वर्य और ज्ञान कहे जाते हैं। वस्तुतः तो ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है, (और) उसके निवृत्त हो जाने पर (अविद्या पर आश्रित) उत्तरवर्ती (अस्मितादि) क्लेश नहीं उत्पन्न होते। क्लेशों के न होने से कर्मफलों का अभाव होता है। इस अवस्था में कृतकृत्य गुण, पुरुष के 'दृश्य' रूप में फिर नहीं उपस्थित होते। वह पुरुष का कैवल्य है। उस समय पुरुष स्वरूपमात्रप्रकाश, निर्मल एवं केवली हो जाता है॥ ५५ ॥

---

१. 'अन्यताप्रतीतिमात्राधिकारम्'—इति पाठान्तरम्।

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—'विवेकख्याति' और 'क्षणक्रम' में किये गये संयम से प्राप्त होने वाली 'विवेकजज्ञान' रूपी सिद्धि की कैवल्य के प्रति कारणता है कि नहीं ? इसका निर्णय करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि । प्राप्तविवेकजज्ञानस्य—विवेकज-ज्ञानरूपी सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाले । अप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—या इस विवेकज-ज्ञान रूपी सिद्धि को न भी प्राप्त करने वाले को केवल विवेकख्यातिमात्र से ही 'कैवल्य' प्राप्त हो जाता है । 'विवेकख्याति' ही कैवल्य प्रदान करती है, वही कैवल्य के प्रति हेतु है । विवेकख्यातिजन्य 'विवेकजज्ञान' रूपी सिद्धि चाहे योगी को प्राप्त हुई हो चाहे न हुई हो, इससे कैवल्यलाभ में अन्तर नहीं आता । कैवल्य की प्राप्ति तो विवेकख्याति से ही होती है ।[1]

(सू० सि०)—इस सूत्र में योगी के चरमलक्ष्य 'कैवल्य' का स्वरूप दिया जा रहा है । सत्त्वपुरुषयोः—सत्त्वप्रधाना बुद्धि और पुरुष—इन दोनों की । शुद्धिसाम्ये—शुद्धेः साम्यमिति शुद्धिसाम्यं तस्मिन्, शुद्धि की बराबरी हो जाने पर अर्थात् दोनों तत्त्वों के समान रूप से शुद्ध हो जाने पर । कैवल्यम्—कैवल्य होता है । इति—यह 'शब्द' तृतीयपाद की समाप्ति का सूचक है । 'बुद्धि' और 'पुरुष' दोनों की शुद्धि का स्वरूप क्या है ? इसे स्पष्टतः समझ लेना चाहिये । 'पुरुष' की शुद्धि का स्वरूप है 'उपचरित भोगों का भी अभाव' और बुद्धि की शुद्धि का स्वरूप है 'पुरुष की बुद्धि से भिन्नता की ख्याति के रूप का होना' । इस बुद्धिशुद्धि और पुरुषशुद्धि के समान होने पर अर्थात् दोनों के समान रूप से शुद्ध हो जाने पर 'कैवल्य' होता है । **'बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह समाना यदा शुद्धिर्वक्ष्यमाणरूपा विवेकसाक्षात्काराद्भवति तदैव मोक्षो न तत्र सिद्ध्यपेक्षेत्यर्थः—'** (यो० वा०) । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सुदृढ़ विवेकख्याति ही कैवल्य की हेतु है, विवेकजज्ञान आदि सिद्धियाँ नहीं । **'विवेकजज्ञानं भवतु भा वा भूत्, सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिस्तु कैवल्यप्रयोजिकेत्यर्थः'**[2] ॥ ५५ ॥

(भा० सि०)—यदा—जब । निर्धूतरजस्तमोमलम्—राजस और तामस मलों से रहित, अर्थात् रजोगुण और तमोगुण के अभिभूत हो जाने के कारण उनके मलरूपी प्रभावों से रहित । बुद्धिसत्त्वम्—सत्त्वगुणात्मिका बुद्धि । पुरुषस्यान्यता-प्रत्ययमात्राधिकारम्—पुरुष के विविक्तत्व अर्थात् गुणभिन्नत्व की ख्यातिरूप में ही प्रतिष्ठित होती हुई । दग्धक्लेशबीजं भवति—जले हुए क्लेशरूपी बीजों वाली हो

---

१. तदेवम्परम्परया कैवल्यस्य हेतून् सविभूतीन् संयमानुक्त्वा सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानं साक्षात्कैवल्यसाधनमित्यत्र सूत्रमवतारयति ।'—त० वै० पृ० ३८९ ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३८९ ।

जाती है। तदा पुरुषस्य—उस समय पुरुष की। शुद्धिसारूप्यमिव—शुद्धि की समानरूपता अर्थात् पुरुष की शुद्धि के समान शुद्धि को। आपन्नं भवति—प्राप्त कर लेती है। तदा—उस स्थिति में। पुरुषस्य—पुरुष में। उपचरितभोगाभावः—उपचर्यमाण भोग अर्थात् साक्षित्वरूपी भोग का भी अभाव हो जाना। शुद्धिः—पुरुष की शुद्धि है। एतस्यामवस्थायाम्—इस अवस्था में। ईश्वरस्य अनीश्वरस्य वा—विवेकजज्ञानरूपी सिद्धि से युक्त अथवा तत्सिद्धिविहीन योगी को। अर्थात्। विवेकजज्ञानभागिनः इतरस्य वा—विवेकजज्ञान से युक्त या उससे भिन्न योगी को। कैवल्यं भवति—कैवल्य होता है। न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति—क्योंकि जले हुए क्लेशबीज वाले योगी को (जीवन्मुक्त) प्राणी को पदार्थज्ञान (या भोग) की फिर कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। तब फिर सूत्र में विवेकजज्ञान रूपी सर्वज्ञत्व और सर्वाधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन विवेकख्याति के पश्चात् क्यों किया गया है? इसका उत्तर भाष्यकार दे रहे हैं कि। सत्त्वशुद्धिद्वारेण—सत्त्वशुद्धि के द्वारा ही। एतत्समाधिजमैश्वर्यञ्च च ज्ञानञ्च उपक्रान्तम्—यह सम्प्रज्ञातसमाधिजन्य सर्वाधिष्ठातृत्वरूप ऐश्वर्य एवं सर्वज्ञत्वरूप (विवेकजज्ञानरूप) ऐश्वर्य कह दिये गये हैं। अभिप्राय यह है कि सत्त्वशुद्धि अर्थात् विवेकख्याति का कथन तो अनिवार्य ही था। उसी का अवान्तरफल होने के नाते आनुषङ्गिक रूप से उसी के कथन के द्वारा ऐश्वर्य और सर्वज्ञता का भी कथन कर दिया गया है। कैवल्यप्रयोजक के रूप में इन सिद्धियों का कथन नहीं हुआ है। परमार्थतस्तु—मुख्यरूप से तो, पारमार्थिक दृष्टि से तो। ज्ञानाददर्शनं निवर्तते—विवेकख्यातिरूप ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है। तस्मिन्निवृत्ते—उस अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर। उत्तरे क्लेशाः न सन्ति—अज्ञान पर आधारित अस्मितादि क्लेश नहीं रह जाते। क्लेशाभावात्—क्लेशों के न रहने से। कर्मविपाकाभावः—कर्मफल का अभाव होता है। एतस्यामवस्थायाम्—इस अवस्था में। चरिताधिकारा गुणाः—कृतकृत्य हुए तीनों गुण। पुरुषस्य दृश्यत्वेन—पुरुष के दृश्य या भोग्य रूप में। न पुनः उपतिष्ठन्ते—फिर से उपस्थित नहीं होते। तत्पुरुषस्य कैवल्यम्—वही पुरुष का कैवल्य या मोक्ष है। तदा—उस दशा में। पुरुषः—पुरुषतत्त्व। स्वरूपमात्रज्योतिः—केवल अपने रूप से प्रकाशित। अमलः—त्रिगुणत्रय रूपी मल से रहित, स्वच्छ। केवली—मुक्त। भवति—हो जाता है॥ ५५॥

॥ इति श्रीपातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां सिद्धयाख्यायां विभूतिपादः समाप्तः॥

अथ कैवल्यपादश्चतुर्थः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

सिद्धियाँ जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होती हैं ॥ १ ॥

देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः, ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादि, मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः, तपसा सङ्कल्पसिद्धिः—कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि। समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥ १ ॥

अन्यदेहधारणरूपा सिद्धि (देवादिनिकायों में) जन्म से होती है। आसुर लोकों में ओषधियों से (अर्थात्) रसायन इत्यादि से इस प्रकार की सिद्धि होती है। मन्त्रों से आकाश में उड़ना और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। तप से सङ्कल्प की सिद्धि होती है, (जिससे) यथेच्छरूप वाला होकर जहाँ-तहाँ स्वेच्छा से पहुँचने वाला होता है—इस प्रकार की सिद्धि होती है। समाधिजन्य सिद्धियाँ विभूतिपाद में बतायी जा चुकी हैं ॥ १ ॥

योगसिद्धिः

यन्मायागुणसन्निकृष्टमनसा मेयं मया मीयते,
पश्चादाशयलेशकामरहिता बुद्धिस्समाधीयते।
विज्ञातुर्विशदैव यस्य कृपया ख्यातिस्सदा चीयते,
तं कैवल्यकलाचणं गतगुणं कृष्णं भजे निष्कलम् ॥

(सू० सि०)—प्रथमपाद में समाधि, द्वितीयपाद में उसके साधन तथा तृतीयपाद में समाधि से प्राप्य विभूतियों का प्रधान रूप से वर्णन किया जा चुका है। साथ-साथ और भी जो प्रासङ्गिक रूप से आवश्यक हुआ उसका भी तत्तत्स्थलों में वर्णन किया गया। अब इस पाद में समाधि से सिद्ध होने वाले (परमलक्ष्यभूत) परमपुरुषार्थ 'कैवल्य' का प्रधान रूप से वर्णन किया जायेगा।[1] कैवल्य का वर्णन करने के लिये आवश्यक है कि कैवल्य की स्थिति तक पहुँचने वाले अनाशय एवं कैवल्यभागीय चित्त का भी निर्धारण किया जाये। कैवल्ययोग्य चित्त के निर्धारण के लिये विभिन्न सिद्धियों को प्राप्त करने वाले चित्त का निरूपण करना आवश्यक है।[2]

---

१. इदानीं तद्धेतुकं कैवल्यं व्युत्पादनीयम्···इतरच्च प्रसङ्गाद्।'
—त० वै० पृ० ३९२।

२. 'तत्रादौ कैवल्ययोग्यं चित्तं निर्धारयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—अनेनैव प्रसङ्गेन जन्मादिसिद्ध्यपेक्षया यथोक्तसमाधिसिद्धेरुत्कर्षोऽपि सेत्स्यति।'
—यो० वा० पृ० ३९३।

इसलिये सूत्रकार सर्वप्रथम सिद्धियों का वर्गीकरण करते हैं। सिद्धयः—सिद्धियाँ। जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः—जन्म च ओषधिश्च मन्त्रश्च तपश्च समाधिश्चेति जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधयस्तेभ्यो जायन्त इति (√जनी + डः) तथोक्ता (भवन्तीति शेषः), जन्मतः प्राप्त होती हैं, ओषधियों से प्राप्त होती हैं, मन्त्रों से प्राप्त होती हैं, तपस्या से सिद्ध होती हैं और समाधि से प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वपाद में सिद्धियों की प्राप्ति तो समाधि की विविधस्तरीय साधना से ही होती बतायी गयी थीं। किन्तु इन सिद्धियों की प्राप्ति का एकमात्र उपाय समाधिसाधना ही नहीं है, प्रत्युत अन्य उपायों (जन्म, मन्त्र, औषधि और तपस्या) से भी ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसीलिये उपायभेद के आधार पर सिद्धियों का पञ्चविधत्व प्रतिपादित किया गया है। अब शङ्का होती है कि जब समाधि का इन उपायों के साथ तुलनात्मक वैशिष्ट्य ही नहीं रहा ? तो क्यों कोई समाधि की ओर झुके ? इसका उत्तर देने के लिये ही यह प्रसङ्ग सूत्रकार ने उठाया है कि यद्यपि ये सिद्धियाँ, समाधिभिन्न जन्मौषध्यादि साधनों से भी प्राप्त हो सकती हैं, तथापि परमपुरुषार्थरूप 'कैवल्य' की प्राप्ति तो केवल समाधि से ही हो सकती है, जन्ममन्त्रौषधितपस्या से नहीं, क्योंकि इनके द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले चित्त कर्माशययुक्त ही रहते हैं 'तत्र ध्यानजमनाशयम्।'—इत्यादि सूत्रों से इसी तथ्य का प्रकाशन सूत्रकार आगे करेंगे ॥ १ ॥

(**भा० सि०**)—जन्मना—जन्म के द्वारा ही प्राप्त। देहान्तरिता सिद्धिः—अन्ये देहा इति देहान्तराणि, देहान्तराणि सञ्जातानि अस्या इति देहान्तरिता सिद्धिः देहान्तरयुक्ता सिद्धिः, अन्य देहों वाली सिद्धि अर्थात् ऐसी सिद्धि, जिससे कि भिन्न-भिन्न देह धारण किये जा सकते हैं। नानाशरीर धारण करने की क्षमतारूपिणी सिद्धि बहुत से जीवों अर्थात् देवगन्धर्वप्रेतपिशाचादिकों को जन्म से ही प्राप्त रहती है। यह जन्मजात सिद्धि का एक उदाहरण है। देवादियोनियों में जन्म लेने मात्र से हर प्रकार का लघु-दीर्घ, ह्रस्व-विशाल शरीर धारण करने की अणिमादिप्रकारा सिद्धि होती है। असुरभवनेषु—असुरों के गृहों में। ओषधिभिः—ओषधियों से सिद्धि प्राप्त की जाती है। जैसे। रसायनेन—'पारद' इत्यादि रसायन के प्रयोग करने से शरीर का अद्भुत स्थायित्व। इत्येवमादि—इसी प्रकार की अनेक सिद्धियाँ।[1] पुराणों और स्मृतियों में सुनी जाती हैं। इस लोक में भी देखी जाती हैं।[2] असुरभवनेषु—असुरों

१. 'ओषधिसिद्धयो यथा पारदादिरसायनाद्युपयोगात्।'

—रा० मा० वृ० पृ० ८७।

२. 'इहैव वा रसायनोपयोगेन यथा माण्डव्यो मुनी रसायनोपयोगाद्विन्ध्यवासीति।'—त० वै० पृ० ३९२।

के महलों में प्रचुरता से ये सिद्धियाँ देखने-सुनने को मिलती है। असुरभवनों का उदाहरण भाष्यकार ने इसलिये दिया है कि असुरभवनों में ओषधिजन्य सिद्धियों का प्रचुरता से वर्णन स्मृतिपुराणादि में मिलता है।[1] मन्त्रैः—मन्त्रों से। आकाशगमनाणिमादिलाभः—आकाश में उड़ना और अणिमा-महिमादि को प्राप्त करना सिद्ध होता है। तपसा सङ्कल्पसिद्धिः—घोर तप करने से संकल्पसिद्धि होती है अर्थात् 'प्राकाम्य' की प्राप्ति होती है। इस संकल्पसिद्धि का ही व्याख्यान अगले वाक्य में किया जा रहा है। कामरूपी—यथेच्छ रूप धारण करके। यत्र तत्र—जहाँ चाहे वहीं। कामगः—कामेन गच्छति इति कामगः, स्वेच्छा से पहुँचने वाला होता है। अभिप्राय यह है कि इस सिद्धि के द्वारा कोई स्थान उस सिद्ध व्यक्ति के लिये दुर्गम नहीं रह जाता। यह संकल्पसिद्धि या कामनासिद्धि, तपस्या से प्राप्त होती है। समाधिजाः सिद्धयः—समाधि से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ तो। व्याख्यातः—विभूतिपाद में ही विस्तार से बतायी जा चुकी हैं॥ १॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

अन्य प्रकार (की शरीर और इन्द्रियों के रूप) से परिणत हुई शरीरों और इन्द्रियों का—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

अन्यजातीय परिणाम, प्रकृति (कारण) के अनुप्रवेश से (सम्भव) होता है॥ २॥

पूर्वपरिणामापाये उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद् भवति, कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति॥ २॥

(शरीर और इन्द्रियों के) पहले (प्रकार के) परिणाम के नष्ट होने पर उत्तरकालिक परिणाम की उत्पत्ति उन (शरीरेन्द्रियों) के नये अवयवों के अनुप्रवेश से होती है। शरीरों और इन्द्रियों की प्रकृतियाँ (क्रमशः भूत और अस्मिता) अपने-अपने विकारों (अर्थात् शरीरों और इन्द्रियों) को अवयवानुप्रवेश के द्वारा, धर्मादि निमित्त (कारण) की अपेक्षा करती हुई, अनुगृहीत करती हैं॥ २॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—तत्र—उन पञ्चविध सिद्धियों के प्रयोगकाल में। अन्यजातीयपरिणतानाम्—सिद्धपुरुषों के संकल्पवशाद् धार्यमाण भिन्न-भिन्न रूपों में

१. 'असुरभवनेष्विति प्रायिकाभिप्रायेणोक्तम्।'—यो० वा० पृ० ३९३।

प्रकट होने वाली। कायेन्द्रियाणाम्—शरीरों और इन्द्रियों की उत्पत्ति सूत्र में बताये गये प्रकार से होती है।

(सू० सि०)—पूर्वसूत्र में प्रतिपादित पञ्चविध सिद्धियों के द्वारा देहपरिवर्तन और इन्द्रियपरिवर्तन करने की जो क्षमता आ जाती है, उससे ये सिद्धलोग स्वेच्छा से विविध शरीर और इन्द्रियाँ (भिन्न-भिन्न रूप की) धारण करते हैं। इस प्रक्रिया में नया शरीर और नयी इन्द्रियाँ कैसे बन जाती हैं ? यदि उसके संकल्पमात्र से यह निर्मिति हो जाती है, तो नये शरीर इत्यादि का निर्माण बजाय भूतादि से होने के 'सङ्कल्पमात्र' से होता है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु यह बात सांख्य-योग में प्रतिपादित भौतिक सृष्टि-प्रक्रिया से विरुद्ध है, क्योंकि इस शास्त्र के अनुसार तो इन्द्रियों की सृष्टि 'अस्मिता' से और शरीर की सृष्टि 'भूतों' से होनी चाहिये। इस विरोध का परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि शरीरों और इन्द्रियों का यह। जात्यन्तरपरिणामः—अन्या जातिः इति जात्यन्तरम्, जात्यन्तरे परिणामः इति जात्यन्तरपरिणामः, भिन्नजातीयः परिणामः, भिन्न रूप में परिणत होना अर्थात् भिन्नाकार शरीरेन्द्रिय का निर्माण। प्रकृत्यापूराद्—प्रकृतीनाम् अस्मितायाः भूतानां च आपूरः अवयवानुप्रवेशस्तस्माद् (भवति इति शेषः), शरीरों की प्रकृति अर्थात् उपादानकारण 'पञ्चभूत' और इन्द्रियों की प्रकृति (उपादानकारण) 'अस्मिता' मानी गयी है। इन प्रकृतियों का आपूर या आपूरण होता है।[1] 'आपूरण' का अर्थ है अवयवों का अनुप्रवेश। उपादानकारणभूत 'अस्मिता' और 'पाँचों भूतों' के क्रमशः निर्मीयमाण (शरीरेन्द्रियानुकूल) अवयवों का अनुप्रवेश या सन्निवेश हो जाता है और उससे भिन्नजातीय शरीरेन्द्रिय का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार उस सिद्ध-व्यक्ति का सङ्कल्प इस नयी कायेन्द्रिय-सृष्टि में प्रेरकमात्र होता है, और उपादान-कारण 'भूत' तथा 'अस्मिता' ही होते हैं, इसलिये यह तथ्य शास्त्र के विरुद्ध नहीं पड़ता॥ २॥

(भा० सि०)—सिद्धपुरुषों के सङ्कल्प से। तेषाम्—उनके। पूर्वपरिणामापाये—पहलेवाले शरीरेन्द्रिय रूप परिणामों का अपगम होने पर, विनाश होने पर। उत्तरपरिणामोपजनः—बादवाले नये शरीरेन्द्रियरूप परिणाम की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति। अपूर्वावयवानुप्रवेशाद् भवति—जो पहले से नहीं था, वह है अपूर्व या नया। ऐसे नये अवयवों के अनुप्रवेश से अर्थात् आकर संगृहीत हो जाने से संभव होती है। अब प्रश्न यह है कि नये शरीरेन्द्रिय के निर्माण में जो यह आपूर या अवयवानुप्रवेश होता हैं, वह किसका होता है ? अर्थात् किसके अवयवों का अनुप्रवेश होता है ?

---

१. 'कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता तदवयवानुप्रवेश आपूरः।'—त० वै० पृ० ३९४।

इसका उत्तर देते हुये भाष्यकार कहते हैं कि । कायेन्द्रियप्रकृतयश्च—शरीर की प्रकृति (उपादानकारण) अर्थात् पृथिव्यादि पाँचों भूत और इन्द्रियों की प्रकृति (उपादान-कारण) अर्थात् अस्मिता । स्वं स्वं विकारम्—क्रमशः अपने-अपने विकार को । पाँचों भूत अपने विकारभूत नये शरीर को और अस्मिता अपने विकारभूत नयी इन्द्रिय को । आपूरेण—(नयी विकृतियों के अनुगुण) अपने अवयवानुप्रवेश से । अनु-गृह्णन्ति—अनुगृहीत करते हैं, अनुग्रह करके प्रकट करते हैं । विकारों को प्रकट करना ही उनके ऊपर अनुग्रह करना है ।[1] यदि यह कहा जाये कि जब प्रकृतियों के अवयवानु-प्रवेश से ही नये कायेन्द्रिय की निर्मिति होती है, तो फिर सदा ही नये-नये शरीरेन्द्रिय क्यों नहीं तैयार होते रहते, सिद्धपुरुषों के सङ्कल्पों से ही क्यों होते हैं ? इस आशङ्का का निराकरण करने के लिये भाष्यकार कहते हैं । धर्मादिनिमित्तम् अपेक्षमाणाः—सिद्धपुरुषों के पास सिद्धिप्राप्ति के निमित्तभूत जो 'धर्मादिरूप' संस्कार होते हैं, उनकी अपेक्षा करके ही प्रकृतियाँ अपने आपूर के द्वारा (अपने) विकारों को प्रकट करती हैं । तत्तद्धर्मों के विद्यमान होने पर ही प्रकृतियाँ आपूर के द्वारा नयी कायेन्द्रियों को अभिव्यक्त करती हैं, उन धर्मों के न होने पर नहीं । इस प्रकार प्रकृत्यापूर के द्वारा जात्यन्तरपरिणाम, प्राणिगत (तदनुगुण) धर्मादिनिमित्तसापेक्ष ही होता । इति—यह पद इस सूत्र के भाष्य की समाप्ति को सूचित करता है ॥ २ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद् ॥३॥

(धर्मादि) निमित्त,[2] प्रकृतियों के प्रयोक्ता नहीं होते, बल्कि उनसे कृषकों के समान आवरण (रूप अधर्मादि) का भेदन भर (कर दिया जाता है) ॥ ३ ॥

न हि धर्मादि निमित्तं प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति । न कार्येण कारणं प्रवर्त्यते इति । कथं तर्हि ? वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूरणात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनापकर्षत्यावरणं त्वासां भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तर-माप्लावयन्ति, तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति । यथा वा स एव क्षेत्रिक-स्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान्भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयि-तुम् । किं तर्हि ? मुद्गगवेधुकश्यामाकादींस्ततोऽपकर्षति । अपकृष्टेषु तेषु

---

१. 'स्वं स्वं विकारं स्वाधिष्ठानं कार्यं कारणञ्चापूरेणानुगृह्णन्ति अनुगृह्या-भिव्यञ्जयन्ति ।—भा० पृ० ३९४ ।

२. 'धर्मादिनिमित्तमपेक्ष्यैव वक्ष्यमाणरीत्या तत् कुर्वन्ति ।'

—भा० पृ० ३९४ ।

स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति। तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारण-मधर्मस्य। शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात्। न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति। अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः। विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते। ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति। अत्रापि[1] नहुषाजगरादय उदाहार्याः॥ ३॥

धर्म आदि निमित्त, प्रकृतियों के प्रयोक्ता नहीं होते, (क्योंकि) कार्य के द्वारा कारण नहीं प्रवर्तित किया जाता। तब कैसे (प्रकृत्यापूर के द्वारा जात्यन्तरपरिणाम) होता है? उस (धर्मादिनिमित्त) से कृषकों के समान आवरणभेदन भर किया जाता हैं—जैसे, एक क्यारी जल से पूर्ण हो जाने के कारण दूसरी समतल, निचली या अधिक निचली क्यारी को जल से भरने का इच्छुक किसान जल को हाथ (की अञ्जलि) से नहीं ले जाता, प्रत्युत जल की (गति को रोकने वाली) मेंड़ को तोड़ देता है। उस मेंड़ के टूटने पर जल स्वयं ही अन्य क्यारी में फैल जाता है। उसी प्रकार धर्म(रूपी निमित्त) प्रकृतियों के (प्रसार को रोकने वाले) आवरणभूत अधर्म को हटा देता है। उसके हट जाने पर प्रकृतियाँ अपने-अपने विकारों को प्राप्त हो जाती हैं। या फिर जैसे वही किसान उसी क्यारी में जलीय या पार्थिव रसों को अन्न के पौधों की जड़ों में प्रविष्ट कराने में समर्थ नहीं होता। तो क्या (होता है)? मुद्ग, गवेधुक और श्यामाक आदि (घासों) को उस (क्यारी) से निकाल देता है। उनके निकल जाने पर (वे जलीय या पार्थिव) रस स्वयं अनाज के पौधों की जड़ों में प्रविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार धर्म (भी) अधर्म के हटने में कारण बनता है, (धर्मरूप) शुद्धि और (अधर्मरूप) अशुद्धि के (परस्पर) आत्यन्तिक विरोध के कारण। धर्म, प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण नहीं होता। इस (विषय) में नन्दीश्वर इत्यादि उदाहरणीय हैं। इसके विपरीत, अधर्म भी धर्म को बाधित करता है और उससे अशुद्धि वाले परिणाम होते हैं। इस (विषय) में भी नहुष (का) अजगर (होना) इत्यादि उदाहरणीय है॥ ३॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अन्यदेहेन्द्रियपरिणाम प्रकृत्यापूर से ही होता है, सिद्धि के अनुगुण धर्मादि तो उसमें केवल निमित्त होते हैं, यह कहा जा चुका है। अब शङ्का यह है कि क्या ये धर्मादि निमित्त 'अस्मिता' और 'पञ्चभूत' नामक प्रकृतियों को प्रेरित और प्रभावित या कार्योन्मुख करते हैं और तब जाकर इन अस्मितादि का प्रकृत्यापूर होता है? अथवा इनकी निमित्तता किसी अन्य प्रकार से होती है? इस शङ्का का समाधान इस सूत्र के द्वारा होता है। निमित्तम्—जात्यन्तरपरिणाम के

---

१. 'तत्रापि'—इति पाठान्तरम्।

निमित्तकारण बननेवाले साधक के साधनाजन्य 'धर्मसंस्कार'। प्रकृतीनाम्—अस्मिता और पञ्चभूत नामक देहेन्द्रिय की प्रकृतियों अर्थात् उपादानकारणों के। अप्रयोजकम्—न प्रयोजकमिति अप्रयोजकम्, प्रयोजक या प्रेरक नहीं होते, क्योंकि धर्मादिसंस्कार भी तो इन्हीं प्रकृतियों के कार्य ही हैं। ये प्रकृतियाँ ही इनकी कारण हैं। कार्य के द्वारा कारण का प्रेरित या सञ्चालित होना असम्भव है।[१] तो फिर इन धर्मादि की कार्य-प्रणाली कैसी होती है, जिससे जात्यन्तरपरिणाम की सिद्धि होती है? इसका उत्तर सूत्र के दूसरे भाग में दिया गया है। ततः—उस धर्मसंस्कार से। तु—तो। वरणभेदः—'वरण' शब्द का अर्थ होता है—घेरा या बाड़ा (Surrounding Wall) **'प्राकारो वरणः सालः'**—इत्यमरः। प्रकृति के आवरण या प्रतिबन्ध का भेदन होता है, दूरी-करण या अपनयन हो जाता है। फिर प्रकृति स्वयं सर्वत्र प्रसरणशील या व्यापक होने के कारण बड़े से बड़े या छोटे से छोटे शरीरेन्द्रिय के रूप में आपूरित हो जाती है। इस प्रकार धर्मादि निमित्तों की उपयोगिता प्रकृतियों को प्रयोजित या संचालित करने में नहीं, प्रत्युत प्रकृतियों की स्वाभाविक सर्वव्यापकता या प्रसरणशीलता में प्रतिबन्धकीभूत जीवों के अधर्मादि संस्कारों का भेदन या अपनयन करने में हैं। केवल इसी रूप में धर्मादि की निमित्तकारणता समझनी चाहिये, प्रकृतियों के प्रयोजक या प्रेरक या संचालक के रूप में नहीं। सूत्रकार ने इस वरणभेदन रूपी निमित्तकारणता के लिये दृष्टान्त दिया है। क्षेत्रिकवद्—खेतिहर किसान की तरह। यह किसान जिस प्रकार जलादि को खेत की क्यारियों में पहुँचाने के लिये जल को हाथ इत्यादि से खींचकर नहीं ले जाता, प्रत्युत जल के प्रतिबन्धक आवरण को हटा भर देता है और स्व-भावतः प्रसरणशील जल दूसरी क्यारी में स्वयं व्याप्त हो जाता है। क्षेत्रिकस्थानीय 'धर्मादि' निमित्त हैं, जलस्थानीय 'अस्मितादि' प्रकृति है और मेंडस्थानीय अधर्मा-ज्ञानादि' प्रतिबन्धक हैं॥ ३॥

(भा० सि०)—न हि ··· भवति—सिद्धिप्रापक निमित्त साधकनिष्ठ धर्मादि-संस्कार, अस्मितादि प्रकृतियों के प्रेरक या कार्योन्मुखकारक नहीं होते। इसका हेतु कहा जा रहा है। न कारणं कार्येण प्रवर्त्यते इति—क्योंकि कार्य, कारण को प्रवर्तित या संचालित नहीं कर सकता है। कथन्तर्हि—तो फिर कैसे होता है? अभिप्राय यह है कि फिर धर्मादि की निमित्तता किस प्रकार हुई? वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद्—खेतिहर किसान की तरह उस धर्मादि से आवरण या प्रतिबन्ध का भेदनमात्र किया

---

१. 'सत्यं धर्मादयो निमित्तं न तु प्रयोजकाः, तेषामपि प्रकृतिकार्यत्वात्। न च कार्यं कारणं प्रयोजयति, तस्य तदधीनोत्पत्तितया कारणपरतन्त्रत्वाद्, स्वतन्त्रस्य च प्रयोजकत्वाद्।'—त० वै० पृ० ३९५।

जाता है ।[1] इस दृष्टान्त का व्याख्यान आगे किया जा रहा है । यथा—जिस प्रकार । क्षेत्रिकः—खेतिहर आदमी, किसान । केदारात्—खेत की एक क्यारी से । अपां पूरणाद्[2]—जल की पूर्ति हो चुकने के कारण । समं निम्नं निम्नतरं वा केदारान्तरम्—पहले वाली क्यारी के समतल या उससे निचली या उससे अधिक निचली किसी अन्य क्यारी को । पिप्लावयिषुः—प्लावयितुमिच्छुः, जल से देने का इच्छुक होने पर । न अपः पाणिनाऽपकर्षति—जल को हाथ से नहीं खींच ले जाता । फिर कैसे करता है ? आसां तु आवरणं भिनत्ति—वह तो केवल इस जल-राशि के रोकने वाले प्रतिबन्धक अर्थात् मेंड़ को काट भी देता है । तस्मिन् भिन्ने—उस मेंड़ के टूट जाने पर । आपः—वह जलराशि । स्वयमेव—खुद ही । केदारा-न्तरम्—दूसरी क्यारी को । आप्लावयन्ति—जलमग्न कर देती है, जल से पूरित कर देती है । तथा—उसी प्रकार से । धर्मः—साधकों का तत्तदनुष्ठानजन्य 'धर्मसंस्कार' । प्रकृतीनाम्—अस्मितादि प्रकृतियों के प्रसार, आपूर अर्थात् अवयवानुप्रवेश में । आवरणम्—प्रतिबन्धक बनने वाले । अधर्मम्—पूर्वकाल में तत्प्राणिसंचित अधर्म-संस्कार को । भिनत्ति—काट देता है, निवृत्त कर देता है । तस्मिन्भिन्ने—उस अधर्म के निवृत्त हो जाने पर । प्रकृतयः स्वयमेव स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति—अस्मितादि प्रकृतियाँ अपने-अपने विकारों अर्थात् इन्द्रियादि को स्वयं ही अभिव्यक्त कर देती हैं, किसी प्रेरक अर्थात् संचालक के द्वारा वह प्रेरित नहीं की जातीं । इसी बात को समझाने के लिये किसान के द्वारा किये गये आवरणभेद को दूसरे उदाहरण से व्याख्यात करते हैं । पहले प्रकार के दृष्टान्त में भाष्यकार को कदाचित् यह अनुपपत्ति प्रतीत हुई होगी कि जलराशि को एक क्यारी से दूसरी क्यारी में ले जाने में कभी-कभी बाल्टी इत्यादि के द्वारा सहायता लेकर बिना मेंड़ तोड़े ही किसान स्वयं सक्रिय होकर समर्थ होता है, तब तो कभी-कभी धर्मादिनिमित्त भी अधिक सक्रिय होने पर प्रकृति के प्रयोजक भी हो सकते हैं । इसलिये भाष्यकार दूसरा निर्दोष उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं । यथा वा—या जिस प्रकार से । स एव क्षेत्रिकः—वही खेतिहर किसान । तस्मिन्नेव केदारे—उसी क्यारी में । औदकान् भौमान् वा रसान्—जलीय रसों को या पार्थिव रसों को । धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुं न प्रभवति—अन्न के पौधों की जड़ों में प्रविष्ट कराने में स्वयं समर्थ नहीं होता । किं तर्हि—तो कैसे होता है ? ततः—उस क्यारी से । मुद्गगवेधुकश्यामाकादीन्—मुद्ग (बनमुँगिया), गवेधुक

---

१. 'न चैतावता धर्मादीनामनिमित्तता प्रतिबन्धापनयनमात्रेण क्षेत्रिकवदुपपत्तेः ।'
—त० वै० पृ० ३९५ ।

२. 'अपां पूरणादद्भिः पूरणात् ।'—यो० वा० पृ० ३९५ ।
'अपां पूरणात्—जलपूरणात् ।'—भा० पृ० ३६९ ।

और श्यामाक (बनसाँवाँ) इत्यादि अनभीष्ट घासों को। अपकर्षति—निराई के द्वारा दूर कर देता है। तेषु अपकृष्टेषु—उन घासों के दूर कर दिये जाने पर। रसाः स्वयमेव धान्यमूलानि अनुप्रविशन्ति—(जलीय और पार्थिव) रस स्वयं ही अनाज के पौधों की जड़ों में प्रविष्ट हो जाते हैं। तथा—उसी प्रकार। धर्मः—साधक के धर्मसंस्कार। अधर्मस्य—अधर्म के। निवृत्तिमात्रे—निवर्तन भर करने में, दूर करने में ही। कारणम्—हेतु बनते हैं। धर्म, अधर्म को क्यों निवृत्त कर देते हैं? शुद्धयशुद्धयोरत्यन्तविरोधाद्—धर्मरूप शुद्धि और अधर्मरूप अशुद्धि के परस्पर एकदम विरुद्ध होने के कारण (प्रबलधर्म, अधर्म-संस्कारों को दूर करने में समर्थ होते हैं)। धर्मः प्रकृतिप्रवृत्तौ तु हेतुर्न भवति—ये धर्मसंस्कार प्रकृति के कार्य होने के कारण प्रकृति को प्रवर्तित करने में (विधिमुखेन) हेतु नहीं बनते। अत्र—इस प्रकार प्रकृत्यापूर से होने वाले शरीरेन्द्रियान्तरपरिणाम के विषय में। नन्दीश्वरादयः—कुमार नन्दीश्वर आदि। उदाहार्याः—उदाहरणीय हैं। नन्दीश्वर इत्यादि के दृष्टान्तों में धर्मसंस्कार के द्वारा पुराने अधर्मों की निवृत्ति हुई है और तब प्रकृतियों के आपूरण या अवयवानुप्रवेश के द्वारा नये और दिव्य देहेन्द्रिय का लाभ हुआ है। विपर्ययेणापि—इसके उल्टा अर्थात् विपरीत रूप से भी (शरीरेन्द्रिय परिणाम होता है)। अधर्मो धर्मं बाधते—अधर्मसंस्कार धर्मसंस्कार को बाधित करता है अर्थात् पूर्वसंचित धर्मसंस्कारों को निवृत्त कर देता है। ततश्च—और उससे। अशुद्धिपरिणाम इति—अधर्मानुकूल पापमय अदिव्य शरीरेन्द्रियरूप परिणाम होता है। तत्रापि—उसमें भी। नहुषाजगरादयः उदाहार्याः—नहुष के अजगररूप में परिणत होने आदि का उदाहरण दिया जाना चाहिए ॥ ३ ॥

यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति ?

जब योगी बहुत से शरीरों का निर्माण करता है, उस समय क्या वे शरीर एक (अभिन्न) ही चित्त वाले होते हैं अथवा अनेक (भिन्न-भिन्न) चित्त वाले होते हैं? (इस विषय में सूत्र है—)

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

(निर्मीयमाण शरीरों में निर्मित होने वाले) निर्माणचित्त अस्मिता से ही (निर्मित) होते हैं ॥ ४ ॥

अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति, ततः सचित्तानि भवन्ति ॥ ४ ॥

चित्त के कारणभूत अस्मितामात्र को लेकर (वह योगी) निर्माणचित्तों को (तैयार) कर देता है। उससे (निर्माणकाय) चित्तयुक्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—प्रकृत्यापूर के द्वारा अनेक देहेन्द्रियनिर्माण को सिद्ध कर चुकने पर यह शङ्का होती है। यदा तु—कि जब। योगी—समाधिजसिद्धिसम्पन्न योगी। बहून् कायान्—बहुत-से शरीरों को। निर्मिमीते—स्वसंकल्पवशाद् निर्मित करता है। तदा—उस समय। ते—वे शरीर। किम्—क्या? एकमनस्काः—(भवन्ति) एक ही मन वाले होते हैं अर्थात् निर्माणकाय चाहे जितने बन जायें, मन एक (योगी का अपना मन) ही रहता है। अथ—आहोस्वित्, अथवा। अनेकमनस्काः[1]—अनेक मनवाले होते हैं, अर्थात् प्रत्येक निर्माणकाय में एक-एक मन अलग-अलग विद्यमान होता है। इस प्रकार दो विकल्प उपस्थित हुए—१. निर्माणकाय में उसका अलग मन नहीं होता २. प्रत्येक निर्माणकाय में एक-एक मन अलग से रहता है। इति—इस सन्देह का निर्णय करने के लिये प्रस्तुत सूत्र है।

(**सू० सि०**)—इस सूत्र में यह बताया जा रहा है कि योगी निर्माणकाय में निर्माणचित्त भी बनाया करता है। सभी निर्माणकाय, निर्माणचित्त से युक्त होते हैं। अतः सभी निर्माणकाय समनस्क हुए। **'इति सिद्धं तेषामपि प्रातिस्विकं मनः'**।[2] इस प्रकार निर्माणचित्तों की संख्या कितनी होती है? जितने निर्माणकाय बनते हैं, उतने ही निर्माणचित्त बनते हैं। **'तानि बहूनि निर्माणदेहसमसंख्यानि भवन्ति।'**—(यो० वा०)। निर्माणचित्तानि—(सिद्धया) निर्माणरूपाणि चित्तानीति निर्माण-चित्तानि, सिद्धपुरुषों के द्वारा सङ्कल्प से निर्मित चित्त ही 'निर्माणचित्त' कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि सिद्धियों के द्वारा जो एक या अनेक नये शरीर और चित्त बनते हैं, उन्हीं शरीरों और चित्तों के लिये क्रमशः 'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त'—ये शास्त्रीय संज्ञाएँ हैं, स्वाभाविक लौकिक शरीरों और चित्तों के लिये नहीं। 'निर्माणचित्तानि' पद का प्रयोग होने से ही स्पष्ट हो गया कि जब शरीरों के लिये चित्त भी निर्मित होते हैं, तो प्रत्येक निर्माणकाय में अलग से एक निर्मितचित्त विद्यमान होगा। इस स्पष्टीकरण से सम्बन्धभाष्य में उठायी गयी शङ्का का निराकरण हो जाता है। यहाँ एक बात और कह देने योग्य है कि 'चित्त' शब्द इस सूत्र में केवल 'मन' के लिये प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि अस्मितामात्र से उसकी निर्मिति बतायी जा रही है। अस्मिता से 'मन' की ही उत्पत्ति होती है बुद्धि और अहंकार की नहीं। तो क्या फिर इन निर्माणकायों में बुद्धि और अहंकार नहीं होते? इस सम्बन्ध में भी युक्तिसाम्य से अङ्गभूत बुद्धि और अङ्गभूत अहंकार की उत्पत्ति

---

१. 'एकमनस्काः, निर्मातृमनोमात्रेणैव व्यवहारभाजः, अनेकमनस्काः निर्मातृमनो-ऽतिरिक्तप्रातिस्विकमनोभाजः।'—यो० वा० पृ० ३९६।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ३९०।

मानी जा सकती है। **'अत्र चित्तशब्दो मनोमात्रवाची अहङ्कारप्रकृतिकत्ववचनाद्, बुद्धयहङ्कारा अपि अनेके स्वप्रकृतिप्रधानबुद्धयापूराद्भवन्तीति प्रत्येतव्यं युक्तिसाम्यादिति भाष्ये सचित्तानि शरीराणीत्यर्थः'।**[1] अस्मितामात्राद्—इन निर्मित मनों की उत्पत्ति 'अस्मिता' से ही होती है। यह निर्मित मन उस योगी के मन का कोई भाग नहीं होता, प्रत्युत योगी के धर्म से अधर्म रूपी आवरण के हट जाने पर अस्मितातत्त्व से प्रकृत्यापूर के द्वारा निर्माणचित्तों की अभिव्यक्ति तत्तन्निर्माणशरीरों में हो जाया करती है। इस प्रकार निर्माणकाय समनस्क हो जाते हैं॥ ४॥

(भा० सि०)—चित्तकारणम्—चित्तस्य मनसः कारणम् उपादानकारणम् इति तथोक्तम्, मन के उपादानकारणभूत। अस्मितामात्रम्—अस्मिता एव अस्मितामात्रम्, अस्मितातत्त्व को। उपादाय—उपादानरूपेण गृहीत्वा, उपादानरूप से ग्रहण करके। निर्माणचित्तानि[2] करोति—निर्मीयमाण मनों की रचना करता है। भाष्य के इस वाक्य का यह आशय नहीं है कि योगी का संकल्प और उसका धर्म यहाँ पर 'अस्मिता' नामक मन की प्रकृति का प्रयोजक होता है। प्रत्युत योगी के धर्मसंस्कार से पूर्ववत् अधर्मावरण का भेदनमात्र होता है। इसके पश्चात् 'अस्मिता' तत्त्व स्वतः निर्माणचित्तों के रूप में परिणत हो जाता है। ततः—इसलिये। सचित्तानि भवन्ति (निर्माणशरीराणीति शेषः)—सभी निर्माणकाय मन से युक्त ही होते हैं, मन से रहित नहीं। पुराणों में योगियों के निर्माणकायों और उनके निर्माणचित्तयुक्तत्व का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्ततः॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥ ४॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्॥ ५॥

(उन) अनेक (निर्माणचित्तों) के व्यापार-भेद में (योगी का) एक (पूर्वसिद्ध) चित्त (ही) नियामक होता है॥ ५॥

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३९६।

२. 'स्वसङ्कल्पेन निर्मितचित्तानि निर्माणचित्तानीत्युच्यन्ते।' —यो० वा० पृ० ३९०।

बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते, ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

(उन) अनेक (निर्माण) चित्तों का व्यापार (योगी के पूर्ववर्ती) एक चित्त के मन्तव्य के अनुसार कैसे हो ? इसके लिये एक (अपने पूर्वसिद्ध) चित्त को सभी चित्तों का नियामक (या नायक) बनाता है । उससे व्यापारों का भिन्नत्व (सम्भव) होता है ॥ ५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—अनेकेषाम्—उन अनेक निर्माणचित्तों के । प्रवृत्तिभेदे—प्रवृत्तीनां व्यापाराणां भेदः भिन्नत्वं नानात्वम् इति प्रवृत्तिभेदस्तस्मिन्, व्यापारों की भिन्नता अर्थात् अनेकता में । प्रयोजकम्—(प्र + √युजिर् + ण्वुल्) प्रयुक्त करने वाला, प्रेरित करने वाला, भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को निर्धारित करने वाला, नियामक निर्णायक । एकं चित्तम्—एक ही चित्त होता है । कौन-सा एक चित्त अन्य चित्तों का प्रयोजक होता है ? योगी का जो अपना पूर्वसिद्ध या मूलभूत चित्त है, वही अन्य चित्तों की क्रियाओं अर्थात् प्रवृत्तियों का प्रयोजक, निर्धारक और नियामक होता है । **'तेषामनेकेषां चेतसां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकमधिष्ठातृत्वेन, तेन न भिन्नमतत्वम् ।'**—(रा० मा० वृ०) । योगी या अन्य किसी सिद्धि से सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा अनेक निर्माणकायों में बनाये गये निर्माणचित्तों के व्यापार यदि स्वतन्त्र रीति से अलग-अलग होते तो योगी का अपना अभिप्राय उनसे कैसे सिद्ध होता ? यदि ये चित्त कोई व्यापार न करें अथवा एक ही व्यापार करें तो उनका निर्माण करना ही व्यर्थ हुआ, क्योंकि तब तो निर्माणचित्तविहीन निर्माणकायों से ही काम चल जाता, योगी का अपना चित्त ही सारे शरीरों के हाथ-पैर आदि चलाने की क्रिया को एक साथ निर्धारित कर देता और सब शरीरों का संचालन योगी के इस एक मूलभूत चित्त से ही हो जाता । इस सन्देह का निराकरण करने के लिये ही सूत्रकार ने यह बताया कि वे निर्माणचित्त सव्यापार होते हैं और भिन्न-भिन्न व्यापार करते हैं, किन्तु इस व्यापारभिन्नत्व अर्थात् प्रवृत्तिभेद में वे स्वतन्त्र नहीं होते । उनके प्रवृत्तिभेद को नियमित करने वाला योगी का मूलभूत चित्त ही होता है । यह मौलिक चित्त जिस-जिस चित्त से जो-जो व्यापार करवाता है, उस-उस चित्त का वही-वही व्यापार होता है और उन्हीं व्यापारों के अनुसार उस निर्माणकाय का क्रियाकलाप होता है । अतः निर्माणचित्त न तो सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं और न क्रियाशून्य ॥ ५ ॥

(भा० सि०)—बहूनां चित्तानाम्—इन बहुत-से निर्माणचित्तों की । प्रवृत्तिः—व्यापार, क्रिया । कथम्—किस प्रकार से । एकचित्ताभिप्रायपुरःसरा (स्यादिति

शेषः)—एकं च तत् (मूलभूतं) चित्तञ्चेति एकचित्तं, तस्याभिप्रायः आशयः सः पुरःसरः अग्रिमः लक्ष्यभूतः उद्देश्यभूतः यस्याः (प्रवृत्तेः) सा तथोक्ता, योगी के मौलिक चित्त के अभिप्राय को पूरा करने वाली ही प्रवृत्ति हो[1]। इति—इसके लिये। सर्वचित्तानाम्—सभी निर्माणचित्तों का। प्रयोजकम्—नियामक। एक-चित्तम्—अपने मूलभूत चित्त को ही। निर्मिमीते—निर्मित करता है, अर्थात् नियुक्त करता है। तात्पर्य यह है कि योगी का मूलभूत चित्त तो पहले से ही बना हुआ है, उसको योगी स्वयं तो निर्मित नहीं करता, इसलिये 'निर्मिमीते' पद का अर्थ 'नियोजयति' नियुक्त करता है, निर्धारित करता है—यही करना चाहिए। **'तेषां बहूनां चित्ताभिप्रायानुसारिणी प्रवृत्तिः स्यादित्याशयेन योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं निर्मिमीते नियामकं करोति'**।[2] ततः—उस चित्त से ही। प्रवृत्तिभेदः—उन निर्माणचित्तों की प्रवृत्तियों का भिन्नत्व, व्यापारों का नानात्व सम्भव हो पाता है[3] ॥ ५ ॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उन (पाँच प्रकार के चित्तों) में से समाधिसम्पन्न चित्त (कर्मक्लेश की) वासना (से) रहित होता है ॥ ६ ॥

पञ्चविधं निर्माणचित्तम्—जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादि-प्रवृत्तिर्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः, क्षीणक्लेशत्वाद् योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

पाँच प्रकार के निर्माणचित्त हुए (क्योंकि) जन्म, ओषधि, मन्त्र, तपस्या और समाधि (इन पाँच) से (ऐसी) सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। उनमें से जो चित्त समाधिज (अर्थात् समाधि से संस्कृत) होता है, (केवल) उसी में रागद्वेष की प्रवृत्ति कराने वाले संस्कार नहीं होते, इसलिये (उसमें) पुण्य और पाप का सम्बन्ध भी नहीं होता, योगी के क्षीणक्लेश होने के कारण। अन्य (सिद्धिसम्पन्न चित्तों) में तो कर्माशय रहते हैं ॥ ६ ॥

---

१. 'निजस्यैव मनसो नायकत्वाद्।'—त० वै० पृ० ३९८।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ३९८।

३. 'ततस्तु चित्ताभिप्रायात् तेषामवान्तरचित्तानां प्रवृत्तिरित्यर्थः।'
—यो० वा० पृ० ३९८।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—पाँच प्रकार की सिद्धियों से पाँच प्रकार के निर्माणचित्त बनते हैं। अब चूँकि इन पाँचों प्रकार के निर्माणचित्तों के प्रवृत्तिभेद का प्रयोजक सिद्धिसम्पन्न लोगों का अपना मूलभूत चित्त होता है, इसलिये क्लेश, कर्माशय और वासनाओं आदि की सम्भावना उनके मूलभूत चित्तों के विषय में ही हो रही है, उनके द्वारा प्रयोजित होने वाले निर्माणचित्तों के विषय में नहीं। वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—**'तदेवमुदितेषु पञ्चसु सिद्धचित्तेषु अपवर्गभागीयं चित्तं निर्धारयति।'**—(त० वै०)। विज्ञानभिक्षु भी यही बात कहते हैं—**'ध्यानजं ध्यानसंस्कृतम्···निर्माणचित्तमत्र निर्माणक्षणचित्तम्, न निर्मीयमाणं चित्तम्।'**—(यो० वा०)। तत्र—उन सिद्धिसम्पन्न पाँचों प्रकार के मूलभूत चित्तों में से। ध्यानजम्—ध्यान अर्थात् समाधि से बना हुआ, सुसंस्कृत चित्त ही। अनाशयम्—अविद्यमानाः आशयाः, क्लेशकर्मवासनासंस्काराः यस्मिस्तत्, क्लेशकर्मादिसंस्कारों से रहित होता है। तात्पर्य यह है कि कैवल्यप्राप्ति के योग्य होता है। अन्य सिद्धियों वाले चित्त कर्माशयादि से युक्त रहते हैं, अनाशय नहीं होते, इसलिये वे कैवल्यभागीय नहीं होते ॥ ६ ॥

(भा० सि०)—पञ्चविधम्—पाँच प्रकार के। निर्माणचित्तम्—निर्माणचित्त होते हैं। जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति—क्योंकि जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस् और समाधि—इन पाँचों से सिद्धियाँ प्राप्त होती है। तत्र—तो इन पाँच प्रकार की सिद्धियों से सम्पन्न सिद्धचित्तों में से। अभिप्राय यह है कि जन्मसिद्धिसम्पन्न चित्त, ओषधिसिद्धिसम्पन्न चित्त, मन्त्रसिद्धिसम्पन्न चित्त, तपस्सिद्धिसम्पन्न चित्त और समाधिसिद्धिसम्पन्न चित्त—इन पाँच प्रकार के चित्तों में से। यदेव ध्यानजं चित्तम्—जो समाधिसिद्धिसम्पन्न चित्त है। तस्यैव नास्ति रागादिप्रवृत्तिः आशयः—केवल उसी में रागादि की प्रवृत्ति कराने वाले क्लेश, कर्म और वासना के संस्कार नहीं होते। इस वाक्य में 'रागादिप्रवृत्तिः' पद 'आशयः' का विशेषण है। रागः आदिर्येषां रागद्वेषाभिनिवेशानां ते रागादयः, रागादीनां प्रवृत्तिः व्यापारः यस्मात् आशयात् (संस्कारात्) सः रागादिप्रवृत्तिः आशयः।[1] 'आशय' का अर्थ है क्लेश, कर्म और वासना के संस्कार। अतः—इस कारण। पुण्यपापाभिसम्बन्धः न—पुण्य और पाप का सम्पर्क इस समाधिसिद्धिसम्पन्न चित्त से नहीं होता। इसका हेतु दिया जा रहा है। क्षीणक्लेशत्वाद् योगिनः इति—योगी के क्लेश दग्धबीज हो चुकते हैं—इस कारण से उसी का चित्त 'अनाशय' सिद्ध होता है। इसका फल यह है कि केवल

---

१. 'रागादेः प्रवृत्तिर्यस्मात्संस्कारात्स रागादिप्रवृत्तिः आशयः तस्यैव नास्तीत्यनाशय इत्यर्थः।'—यो० वा० पृ० ३९९।

वही चित्त कैवल्यभागीय अर्थात् मोक्षप्राप्ति के योग्य होता है। इतरेषां तु—अन्य प्रकार के सिद्धिसम्पन्न चित्तों में तो। कर्माशयः—कर्मजन्यसंस्कार। यह उपलक्षणार्थ है, इसके द्वारा क्लेशसंस्कारों और वासनासंस्कारों का भी ग्रहण करना चाहिए। विद्यते—बने रहते हैं। इसलिये जन्मादि चार प्रकार की सिद्धियों से सम्पन्न होने पर भी वे चित्त मोक्ष के योग्य नहीं होते—यह निश्चित हुआ।[1] इस प्रकार सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह सिद्ध हुई कि योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों की समानता, अन्य साधनों से प्राप्त सिद्धियाँ हरगिज नहीं कर सकतीं, क्योंकि अन्य सिद्धियों से मनुष्य कैवल्य की सम्भावना से दूर रहकर, संसारचक्र में दिनोदिन अधिक ही फँसता जाता है। जब कि योगी का चित्त सिद्धिसम्पन्न होने पर भी 'अनाशय' रहता है और उसकी मोक्षभागीयता में अन्तर नहीं आता ॥ ६ ॥

यतः—

क्योंकि—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगी का कर्म पापपुण्यरहित (तथा) अन्य लोगों का (कर्म) तीन प्रकार का होता है ॥ ७ ॥

चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः—कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्। शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या, तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः। शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्। सा हि केवले मनस्यायत्तत्वाद् बहिःसाधनाधीना न परान्पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादानात्। इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

यह कर्मजाति चार प्रकार की होती है—पापात्मक, पुण्यपापात्मक, पुण्यात्मक और पुण्यपापरहित। उनमें से दुरात्माओं की (कर्मजाति) पापात्मक होती है। बाह्यक्रियाओं से सम्पादित (कर्मजाति) पुण्यपापात्मक होती है, उसमें दूसरों की पीड़ा और (उन पर) कृपा के द्वारा (पाप और पुण्य—दोनों प्रकार के) कर्म-संस्कारों का संग्रह होता है। तपस्या, स्वाध्याय और ध्यान (करने) वालों की (कर्मजाति) पुण्यात्मक होती है, क्योंकि वह मन के अधीन होने के कारण दूसरों को पीड़ा पहुँचाए बिना आन्तरिक साधन से सम्पादित होती है। पापपुण्यरहित

१. 'ध्यानजस्यानाशयस्य मनोऽन्तरेभ्यो विशेषं दर्शयितुमितरेषामाशयवत्तामाह—'इतरेषान्तु' इति।'—त० वै० पृ० ३९९।

(कर्मजाति) क्षीणक्लेश संन्यासियों (योगियों) अर्थात् अन्तिम शरीर वालों (जीवन्मुक्तों) की होती है । इनमें से (यह चौथी कर्मजाति) योगियों के फल-संन्यास के कारण पुण्यरहित और पापात्मक क्रियाओं को न अपनाने के कारण पाप-रहित होती है । अन्य समस्त जीवों की (कर्मजाति) तो पूर्वोक्त तीन प्रकार की होती है ॥ ७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—छठवें सूत्र में जो यह कहा गया है कि पाँचों प्रकार की सिद्धियों से सम्पन्न सिद्धों में से केवल समाधिजसिद्धि वाले योगियों का ही चित्त 'अनाशय' होता है, अन्य सिद्धों का नहीं—उसके हेतु के रूप में इस ७वें सूत्र को प्रस्तुत किया गया है ।[1] भाष्यकार इसे स्पष्ट कर रहे हैं ।

यतः—क्योंकि । योगिनः कर्म—सिद्धयोगी का कर्म अर्थात् उसके समस्त व्यापार । अशुक्लाकृष्णम्—अशुक्लश्चाकृष्णञ्चेति तथोक्तम्, अशुक्ल और अकृष्ण । 'शुक्ल' शब्द श्वेत का वाचक होता है और 'कृष्ण' शब्द काले का । अब चूँकि सात्त्विक कर्म से पुण्यसंस्कार होता है और असात्त्विक कर्मों से पापसंस्कार । इसलिये इस सूत्र-भाष्य में पुण्यसंस्कार के लिये 'शुक्ल' शब्द का प्रयोग और पापसंस्कारों के लिये 'कृष्ण' शब्द का प्रयोग किया गया है । किन्तु निष्पन्न योगी का कर्म, पुण्य और पाप दोनों में से किसी प्रकार का नहीं होता, इसलिये इस प्रकार के कर्म को 'अपुण्यपाप' अर्थात् पुण्यपापशून्य कहा जा सकता है । इस पापपुण्यराहित्य का कारण है—योगी में क्लेशों का अभाव, क्योंकि कर्मसंस्कार क्लेशमूलक ही होते हैं । 'साधनपाद' में यह तथ्य सविस्तार प्रतिपादित किया जा चुका है । इतरेषाम्—ऐसे योगियों से भिन्न जीवों का । आशय यह है कि अन्य प्रकार की सिद्धियों वाले सिद्धों का भी कर्म । त्रिविधम्—तीन प्रकार का होता है । ये तीन प्रकार कौन से हैं ? १. शुक्ल (पुण्य), २. कृष्ण (पाप) और ३. शुक्लकृष्ण (पाप और पुण्य दोनों से युक्त) ॥ ७ ॥

(भा० सि०)—पूर्ववर्ती सूत्र एवं उसके भाष्य में समाधि से सिद्धि प्राप्त करने वालों के चित्त को 'अनाशय' कहा गया है और अन्य निमित्तों से सिद्धि प्राप्त करने वालों के चित्तों को 'आशययुक्त' बताया गया है । **'आशेरत इत्याशयाः कर्मवासनाः क्लेशवासनाश्च त एते न विद्यन्ते यस्मिंस्तदनाशयं चित्तमपवर्गभागीयं भवतीत्यर्थः ।'**—(त० वै०) । सिद्धयोगियों के चित्त की अनाशयता का कारण इस सूत्रभाष्य में स्पष्ट किया गया है । कर्मयुक्त वासनाओं अर्थात् कर्मजन्यविपाकों की अनुगुण वास-

---

१. 'तत्रैव च हेतुपरं सूत्रमवतारयति 'यत' इति ।'—त० वै० पृ० ३९९ ।

नाओं की अभिव्यक्ति जिन तीन प्रकार के कर्मों से हुआ करती है, वे कर्म सिद्ध-योगियों के द्वारा कभी नहीं किये जाते। सिद्धयोगी (संन्यासी) के कर्म और ही तरह के होते हैं। इयं कर्मजातिः—प्रकरणस्था कर्मणां जातिः सामान्यम् इति कर्म-जातिः, यह कर्मसामान्य अर्थात् कर्मराशि। खलु—निश्चय ही। चतुष्पदी—**'चतुर्षु पदेषु (स्थानेषु) समवेता चतुष्पदी'**—(त० वै०) चार भिन्न स्थानों वाली अर्थात् चार भेदों वाली होती है। आशय यह है कि कर्म चार प्रकार का होता है। उन चारों कर्मभेदों का कथन किया जा रहा है—१. कृष्णा (कर्मजातिः)—काला कर्म अर्थात् अशुभ कर्म। अशुभ एवं दुःखप्रद वस्तुओं को काले रंग की मानने की परम्परा संस्कृतभाषा में पुरानी है। इसी प्रकार शुभ एवं सुखद वस्तु को श्वेतवर्ण की मानने की भी परम्परा सदा से रही है। २. शुक्लकृष्णा—श्वेत एवं काले, दोनों प्रकार के मिश्रित कर्म अर्थात् मिश्रित शुभाशुभ कर्म। ३. शुक्ला—श्वेतवर्ण के कर्म अर्थात् शुभ एवं सुखप्रद कर्म। ४. अशुक्लाकृष्णा चेति—और न श्वेत न कृष्ण वर्ण वाले, शुभाशुभ या पुण्यापुण्य—दोनों से रहित कर्म। इति—कर्मभेदों की समाप्ति का सूचक पद। अब किन प्राणियों के कर्म किस-किस कोटि के अन्तर्गत आते हैं—इस बात का व्याख्यान किया जा रहा है। तत्र—उन उक्त चतुर्विध कर्मों में से। कृष्णा—काले अर्थात् अशुभ कर्म। दुरात्मनाम्—दुरात्माओं, परपीड़कों के होते हैं। शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्म को दुरात्मा लोग करते हैं। शुक्लकृष्णा—शुभाशुभ मिश्रित कर्म वे होते हैं, जो। बहिःसाधनसाध्या—बाहरी अर्थात् अपने आप से भिन्न चेतनसाधनों (जीवों) तथा अचेतनसाधनों के द्वारा पूरे किये जाते हैं। जिन कर्मों से बाहरी वस्तुओं तथा अन्य जीवों की भी किसी न किसी रूप में अपेक्षा होती है। तत्र—उनमें अर्थात् बाह्यसाधनापेक्षी कर्मों में। परपीडा-नुग्रहद्वारेण एव—अन्य प्राणियों में से कुछ को कष्ट और कुछ को सुख देने की कृपा करके ही। कर्माशयप्रचयः—कर्मजसंस्कारों का समूह तैयार होता है। क्योंकि कोई भी कार्य चाहे जितना अच्छा क्यों न प्रतीत हो, यदि उसमें बाह्य वस्तु और अन्य जीव साधन बनते हैं, तो निश्चय ही उसमें कुछ जीवों का सुख और कुछ को कष्ट अवश्य मिलेगा, इसलिये ऐसे कर्म ऐकान्तिक रूप से शुभ या शुक्ल नहीं हो सकते। शास्त्रों में विहित यागादि कर्म भी इसी कोटि में अन्तर्भावित हैं। भाष्यकार के इस मन्तव्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि बाह्य साधनों का उपयोग किये जाने पर पूरे होने वाले कर्म ऐकान्तिक रूप से अशुभ, दुःखद या कृष्ण तो हो सकते हैं, जैसे—जीवहत्या, चोरी इत्यादि, किन्तु वे ऐकान्तिक रूप से शुभ, सुखद या शुक्ल नहीं हो सकते, क्योंकि बाह्य साधनोपयोग होने पर किसी न किसी प्रकार का अशुभत्व उन कर्मों में अवश्य ही आ जाता है। जैसे—शास्त्रविहित यागादिक्रियाओं में यह अशु-

भत्व या पापत्व अनिवार्यतः संयुक्त रहता है। वाचस्पतिमिश्र इस तथ्य का प्रकाशन इन शब्दों में करते हैं—

'यद्यावद् बहिःसाधनसाध्यं तत्र सर्वत्रास्ति कस्यचित्पीडा। न हि व्रीह्यादि-साधनेऽपि कर्मणि परपीडा नास्ति अवधतादिसमयेऽपि पिपीलिकादिवधसम्भवात्। अन्ततो बीजादिवधेन स्तम्बादिभेदोत्पत्तिप्रतिबन्धात्'।[1] शुक्ला—शुभ कर्म। तपः-स्वाध्यायध्यानवताम्—तपस्या, स्वाध्याय और ध्यान इत्यादि बाह्यसाधननिरपेक्ष क्रिया करने वाले लोगों का कर्म होता है। सा हि—क्योंकि वह कर्म (कर्मजाति)। केवले मनसि आयत्तत्वाद्—कर्ता के केवल मन के अधीन होने के कारण। अबहिः-साधनाधीना—बाह्यसाधनों से सर्वथा निरपेक्ष होती है और इसलिये। न परान् पीडयित्वा भवति—अन्य प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाती हुई पूरी हो जाती है। अशुक्लाकृष्णा—शुभ और अशुभ दोनों प्रकारों से रहित अर्थात् न तो पुण्य और न पाप कर्म। संन्यासिनाम्—सम्यग्रूपेण न्यस्यति कर्मफलमिति संन्यासी, अविद्यादि क्लेशों के क्षीण हो जाने के कारण कर्मफल का त्याग करने वाले योगी को ही यहाँ 'संन्यासी' पद के द्वारा कहा गया है। सूत्रस्थ 'योगिनः' पद का स्पष्टीकरण करने के लिये ही भाष्यकार ने कर्मफलसंन्यास करने वाले संन्यासी के कर्म को 'अशुक्लाकृष्ण' कहा है। सिद्धयोगी को ही क्षीणक्लेश और चरमदेह कहा जा सकता है, योगाभ्यासी-मात्र को नहीं।[2] क्षीणक्लेशानाम्—क्षीणाः क्लेशाः विवेकख्यातिबलाद् येषां तेषां सिद्ध-योगिनाम्, विवेकख्याति की सिद्धि के फलस्वरूप दग्धबीज हुए अविद्यादि क्लेशों वाले। इसी पद का अर्थबोध अगले पद से कराया जा रहा है। चरमदेहानाम्—जीवन्मुक्ति की सिद्धि हो जाने के कारण जिन योगियों को अब दूसरा जन्म नहीं लेना है, उनका यह अन्तिम शरीर माना जाता है। अब फिर उनको कोई दूसरा शरीर तो ग्रहण करना नहीं रहता, इसलिये वे चरमदेह कहे गये हैं। बौद्धों की परम्परा में ऐसे क्षीण-क्लेशावरण भिक्षुओं को 'अनागामी' की संज्ञा दी जाती है। संन्यासियों के कर्म अशुक्लाकृष्ण क्यों होते हैं? इसका हेतु बताते हैं। तत्र—अशुक्लाकृष्णत्वे कर्मणाम्। अशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद्—योगी के द्वारा फल का संन्यास स्वयं कर दिया जाता है। इस कारण से उसके तपस्, स्वाध्याय इत्यादि शुक्लकर्म भी फलभोग्यता के अभाव में 'शुक्ल' नहीं कहे जा सकते। सुखमय फल देने वाले कर्म को ही 'शुक्ल'

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४००।

२. 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥—गीता ६।१-२।

कर्म कहा गया है। जब कर्मफलसंन्यास के कारण उन कर्मों का फल ही अनुभूत नहीं होता, तो उनकी शुक्लता कैसी? **'योगानुष्ठानसाध्यस्य कर्माशयफलस्येश्वरे समर्पणान्न शुक्लः कर्माशयः। निरत्ययफलो हि शुक्ल उच्यते। यस्य फलमेव नास्ति, कुतस्तस्य निरत्ययफलत्वमित्यर्थः'**।[1] अकृष्णञ्चानुपादानात्—अनुपादानम्, अग्रहणम्, अकरणम् इति यावत् तस्मात्, योगी के कर्म अकृष्ण क्यों कहे गये? इस कृष्णकर्मराहित्य का कारण तो स्पष्ट है कि सिद्धयोगी कृष्णकर्मों का उपादान ही नहीं करता अर्थात् कृष्णकर्म का आचरण ही नहीं करता। इसलिये उसके कर्मों का अकृष्णत्व तो तादृशकर्माचरणराहित्य के कारण ही सिद्ध है। **'कर्मसंन्यासिनो हि न क्वचिद्धि साधनसाध्ये कर्मणि प्रवृत्ता इति न चैषामस्ति कृष्णः कर्माशयः'**।[2] इससे यह भी प्रकट हो गया कि सिद्धयोगियों के 'तपःस्वाध्याय' इत्यादि कर्म स्वरूपतः शुक्ल प्रकार के ही होते हैं, हिंसा, पीड़ा इत्यादि रूप के नहीं। फिर भी उन्हें 'अशुक्ल' इसलिये कहा गया है कि वे शुक्ल कर्मों की तरह सुखफल नहीं होते, क्योंकि योगी स्वयं कर्मफल का संन्यास किये रहता है और रागादि क्लेशों के बिना ही उदासीन होकर गुणस्वभावतः कर्म करता है। क्लेशों के बिना कर्मों से कर्माशय बनता ही नहीं है। (**'क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'**—यो० सू० २।१२)। उसके कर्मों के 'अकृष्ण' होने में भी यद्यपि क्लेशशून्यता की उपपत्ति दी जा सकती थी, किन्तु उस उपपत्ति का इस प्रसङ्ग में इसलिये औचित्य नहीं है कि वह कृष्णकर्मों का आचरण करता ही नहीं, क्योंकि जिन शुक्लकर्मों से उसको योगसिद्धि हुई, वे ही कर्म पूर्वाभ्यासवशाद् अब उसके द्वारा किये जाते हैं, उससे भिन्न नहीं।[2] इतरेषां तु भूतानाम्—सिद्धयोगियों से भिन्न अन्य मनुष्यों के कर्म। पूर्ववत् त्रिविधम्—कृष्ण, शुक्लकृष्ण और शुक्ल—इन्हीं तीन प्रकार के होते हैं। योगाभ्यासी जीवों की भी गणना इन्हीं 'इतरेषां भूतानाम्' के ही अन्तर्गत समझनी चाहिये, क्योंकि अभ्यासकाल में वे क्षीणक्लेश तो हुए नहीं रहते। इति—इस भाष्य की समाप्ति का सूचक पद है॥ ७॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ ८॥

उस (त्रिविधकर्म) से उसके विपाकों की अनुगुण वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है॥ ८॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४०१।

२. 'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥'—(नैष्कर्म्यसिद्धिः)।
'किञ्च पुण्यरतः पूर्वं ज्ञानमाप्नोति नान्यथा।
पश्चाच्च तद्वासनया पुण्यमेव करोत्यसौ॥'—(अनुभूतिप्रकाशः)।

तत इति त्रिविधात् कर्मणः। तद्विपाकानुगुणानामेवेति। यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते, तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं भवति।[1] किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः॥ ८॥

'ततः' अर्थात् तीन प्रकार के कर्मों से। उनके विपाकों के अनुरूप (वासनाओं) की ही (अभिव्यक्ति होती है)। जिस प्रकार के कर्म का जो विपाक है, उसके अनुरूप जो वासनाएँ कर्मफल (भोग) का अनुसरण करती हैं, उन्हीं की अभिव्यक्ति होती है। फलोन्मुख होता हुआ दैवकर्म, नारकीय, तिर्यग्योनिज तथा मनुष्यों की अभिव्यक्ति का हेतु नहीं बनता। किन्तु दैवकर्म (फलोपभोग) के अनुरूप ही इसकी वासनाएँ अभिव्यक्त होती हैं। नारकीय तिर्यग्योनिज तथा मनुष्यों (की वासनाओं) में भी इसी प्रकार से वही बात होती है॥ ८॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—कर्मों के चार भेद बता चुकने के बाद अब उनमें से कर्माशय उत्पन्न करने वाले भेदों से प्राप्य तत्तत् फलभोगों की सूचना देने वाली वासनाओं की अभिव्यक्ति के वैशिष्टय का प्रतिपादन किया जा रहा है। ततः—तस्माद् योगीतरजननिर्वर्तितात् त्रिविधात् कर्मणः, सिद्ध योगियों से भिन्न जीवों के द्वारा किये जाने वाले शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण—इन तीनों प्रकार के कर्मों से। 'ततः' में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में 'तसिल्' प्रत्यय है और 'हेतौ' पञ्चमी है। क्योंकि त्रिविध कर्म ही तत्तद् वासनाओं की अभिव्यक्ति के निमित्त बनते हैं। कर्म किये जाने पर बुद्धि में जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे 'कर्माशय' कहे जाते हैं। कर्माशयसंस्कारों से जाति, आयु और भोग नामक त्रिविध विपाक प्राप्त होते हैं और इन्हीं विपाकों के अनुभव से 'वासना' नामक संस्कार उत्पन्न होते हैं। वासनाएँ कर्माशयों की तरह जाति, आयु और भोग इत्यादि कोई फल उत्पन्न नहीं करती। वासनासंस्कार त्रिविध फलानुभवों की स्मृति भर कराते हैं **'ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति'**।[2] वासनासंस्कार विपाकजन्य होते हैं और चित्त में अव्यक्त पड़े रहते हैं। जिस प्रकार का कर्मविपाक मिलना होता है, उसी के अनुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति होने लगती है। इसी बात को इस सूत्र में प्रतिपादित किया गया है। तद्विपाकानुगुणानाम् एव वासनानाम्—तस्य त्रिविधकर्मणः विपाकः इति तद्विपाकस्तस्य

---

१. 'सम्भवति'—इति पाठान्तरम्।

२. द्रष्टव्य; यो० भा० पृ० १८७।

अनुगुणाः (अनुकूलो गुणो यासां ता अनुगुणा) अनुरूपास्तासां तथोक्तानाम्, त्रिविध कर्मों से प्राप्य फलों के अनुरूप वासनाओं की ही । अभिव्यक्तिः—अभिव्यञ्जनम्, उद्बुद्धावस्था (भवतीति शेषः), उद्बोध या प्रकाशन होता है । अनादिकाल से सञ्चित वासनाओं में से अनेक वासनाएँ यद्यपि विपरीत गुणों वाली भी रहती हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती ॥ ८ ॥

(भा० सि०)—तत इति त्रिविधात् कर्मणः—सूत्र में आये हुए 'ततः' पद का अर्थ है त्रिविधकर्म से । तद्विपाकानुगुणानामेव इति—त्रिविधकर्मों से प्रातिस्विक कर्म-फलों के अनुरूप या अनुगुण वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है । इस तथ्य को अधिक स्पष्ट किया जा रहा है । यज्जातीयस्य कर्मणः—जिस प्रकार के कर्म से अर्थात् शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण—इन तीनों में से जिस किसी भी प्रकार के कर्म से । यो विपाकः—क्रमशः शुभ या अशुभ या शुभाशुभ जो भी फल मिलता है । तस्यानुगुणाः—उसके अनुकूल गुणों वाली, उसके ही अनुरूप । याः वासनाः—जो वासनाएँ । कर्मविपाकमनुशेरते—उस कर्मफलभोग का अनुसरण करती हैं । तासामेव अभिव्यक्तिः—उन्हीं वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है । उस कर्मफलभोग से प्रतिकूल या उससे विरुद्ध वासनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होती । कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म के अनुसार जैसा फल प्राप्त होने को होता है, उसी के सदृश या अनुरूप वासना-संस्कार, जो कि अनादिकाल से चित्त में प्रसुप्त पड़े रहते हैं, अभिव्यञ्जित हो जाते है । यद्यपि चित्त में अनादिकाल से विविधप्रकार के फलभोगों से उत्पादित विविध प्रकार के वासनासंस्कार पड़े रहते हैं, किन्तु उनमें से अभिव्यक्ति केवल उन्हीं वासनासंस्कारों की होती है, जो आसन्न फलभोग के अनुरूप होते हैं । इस वासनाभि-व्यक्ति का निमित्त कौन होता है ? उस समय फलोन्मुख कर्म ही निमित्त है, उस वासनाभिव्यक्ति का । इस बात की परिपुष्टि सोदाहरण की जा रही है । हि—क्योंकि । दैवं कर्म—देवत्वप्रापक कर्म, ऐसा शुक्ल कर्म, जिससे देवत्व की प्राप्ति हो सके, 'दैवकर्म' कहा गया है । विपच्यमानम्—विपाकदशायां वर्तमानं सत्, फल देता हुआ, विपाकोन्मुख होने पर । नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तम्—(नरके भवा इति नारकाः) नारकाश्च (जीवाः) तिर्यञ्चश्च ('स तिर्यङ् यस्तिरोऽञ्चति'—इत्यमरः ।) मनुष्याश्चेति नारकतिर्यङ्मनुष्याः, तेषां वासनाः, तासाम् अभिव्यक्तिः, तस्याः निमित्तम् इति तथोक्तम्, नारकीय जीवों, तिर्यग्योनि वाले जीवों और मनुष्यों की वासनाओं की अभिव्यक्ति का कारण । न भवति—नहीं होता, नहीं हो सकता । किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना अभिव्यज्यन्ते—प्रत्युत जब देवत्वप्रापक कर्म का विपाक होगा और उसके लिये देवयोनि की प्राप्ति होगी, उस समय उस प्राणी के केवल वे ही वासनासंस्कार जागेंगे या उद्बुद्ध होंगे, जो देवत्व के फलभोग के अनुगुण

अर्थात् अनुकूल होंगे। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु च एवम्—और इसी प्रकार नारकीय जीवों, तिर्यग्योनि वाले पशु-पक्षियों और मनुष्यों में भी। समानश्चर्चः[1]—वही बात होती है। आशय यह है कि नरकरूपी फल देने वाले कर्म का विपाक होने पर नारक-योनि मिलती है, और उस समय उस नारकीयप्राणी की केवल वही वासनाएँ अभि-व्यक्त होगी, जो नरक के फलभोग के अनुगुण होंगी। इसी प्रकार पशु, पक्षी और मनुष्यों का जन्म देने वाले कर्मों के विपाकोन्मुख होने पर क्रमशः पशुजीवनभोग्य, पक्षिजीवनभोग्य और मनुष्यजीवनभोग्य फलों के अनुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति तत्तत् फलप्रद कर्मों के द्वारा होती है।

इस सम्बन्ध में यह निश्चित है कि 'कर्म' जहाँ एक ओर स्वानुरूप फल की सृष्टि करता है, वहीं दूसरी ओर भोक्ता में तत्फलभोगानुकूल वासनासंस्कारों की अभि-व्यक्ति का भी निमित्त बनता है। तादृश वासनाओं की अभिव्यक्ति के बिना फलभोग अधूरा ही रह जाता है और वासनाओं के उद्‌बोध से फलभोग की पूर्ति होती है। पशु-रूप में जन्म लेने के बाद उस फलभोग के अनुकूल तृणभक्षणादिकप्रवृत्ति रूप वासना की अभिव्यक्ति होगी, देवोचित केवल सुगन्धग्रहणमात्र से सन्तोष की वासना नहीं अभिव्यक्त होगी। इन सब तथ्यों से विपाकानुकूल वासनाओं की अभिव्यक्ति तत्तत् कर्मों से ही होती है, यही सिद्ध होता है। **'तस्मात् स्वविपाकानुगुणा एव वासनाः कर्माभिव्यञ्जनीया इति भाष्यार्थः'**[2] ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

स्मृति और संस्कार के एकरूप होने से जन्म, देश और समय के द्वारा व्यवहित (वासनाओं) की भी अव्यवहित अभिव्यक्ति होती है ॥ ९ ॥

वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः। स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवो-दियाद् द्रागित्येव पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत। कस्मात्? यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव। कुतश्च? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। यथा-नुभवास्तथा संस्काराः। ते च कर्मवासनानुरूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः। स्मृतेश्च पुनः

१. 'चर्चा संख्या विचारणा।'—अमरकोशः १।५।२।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४०२।

संस्कारा इत्येवमेते[1] स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति[2] ॥ ९ ॥

मार्जारजातिरूपी विपाक का उदय करने वाला (कर्माशय) अपने व्यञ्जक (कर्माशय) से लब्धस्वरूप और अभिव्यक्त होता है। वह चाहे सैकड़ों जन्मों की दूरी या सैकड़ों कल्पों से अन्तरित हो, फिर भी अपने व्यञ्जक से लब्धस्वरूप (होकर) ही उदित होगा, शीघ्र ही उदित होगा (बिना किसी व्यवधान या विलम्ब के)। तात्पर्य यह है कि पहले (मार्जारयोनि में) अनुभूत किये गये मार्जार (जातीय) फलभोग से निष्पन्न वासनाओं को लेकर ही वह उदित होगा। क्यों ? इसलिये कि अन्तरित होने पर भी इन वासनाओं का तुल्यजातीय कर्माशय ही अभिव्यञ्जक या निमित्त बनता है। इसीलिये वासनाओं का अव्यवहितत्व होता है। और (ऐसा) किसलिये (होता है) ? स्मृति और संस्कारों की समानरूपता के कारण। जिस प्रकार का अनुभव होता है, उसी प्रकार के संस्कार बनते हैं। और वे (संस्कार) कर्म तथा वासना के अनुरूप होते हैं। और जैसी वासनाएँ, वैसी ही स्मृति। इसलिये जातिदेशकाल से अन्तरित संस्कारों से स्मृति होती है और स्मृति से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। ये स्मृति और संस्कार कर्माशय के फलोन्मुख होने के कारण अभिव्यक्त हो जाते हैं। और इसीलिये अन्तरित हुई भी इन वासनाओं का अव्यवहितत्व— निमित्तनैमित्तिक भाव का उच्छेद न होने के कारण सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—पिछले सूत्र में यह तो सिद्ध हो गया कि त्रिविधकर्मों (तज्जन्य संस्कारों) से तज्जन्य विपाकों के अनुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति होने लगती है और तभी पूरा फलभोग सम्पन्न होता है। इस सूत्र में यह बताया जा रहा है कि। जो कर्माशय जब कभी जन्मायुर्भोगरूपी फल देने के योग्य होता है, तभी तदनुरूप वासना की अभिव्यक्ति होती है। इस वासनाभिव्यक्ति में स्थान, देश और बीच के जन्मों का अन्तर आ जाने पर भी कोई बाधा नहीं पड़ती। जिस प्रकार का फलभोग होने को होता है, तत्तद्रूप की वासनाएँ अव्यवहित रूप से अभिव्यक्त होने लगती हैं। उसके अननुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस सूत्र में 'वासनानाम्' पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति होती है। जातिदेशकालव्यवहितानाम् अपि (वासनानाम्)—

---

१. 'इत्येते'—इति पाठान्तरम्।

२. कासुचित्पाण्डुलिपिषु 'वासनाः संस्कारा आशया इत्यर्थः।'—इत्येतदधिकं पठ्यमानं दृश्यतेऽस्मिन् भाष्ये, तत् प्रक्षिप्तम्।

भिन्न योनियों में लिये गये जन्म, वासनोत्पत्ति वाले देश-काल तथा विपाकानुकूल जन्म के देश-काल के बीच के स्थान और समय में इन सबके द्वारा व्यवधान किये जाने पर भी इन वासनाओं की। आनन्तर्यम्—अनन्तरता, अव्यवहितत्वम्। व्यवधानों की बाधा से जरा भी बाधित हुए बिना तादृश कर्माशय के अभिव्यञ्जित होने के समकाल ही अनुकूल वासनाओं की सद्यः अभिव्यक्ति होती है। बिना बाधित हुए तत्कालाभिव्यक्ति ही 'आनन्तर्य' पद का अर्थ है। वासनाओं की यह निर्बाध अभिव्यक्ति क्यों होती है? इसका उत्तर सूत्र के अगले भाग में है। स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्—स्मृतियों और संस्कारों के एकरूप होने के कारण। तात्पर्य यह है कि पूर्वकाल में जब कोई वासना बनी होगी तो उसकी स्मृति भी उसी रूप की होगी अर्थात् उस वासनासंस्कार की अभिव्यक्ति भी उसी रूप की होगी। और यह अभिव्यक्ति कर्मसंस्कारों की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ होगी, क्योंकि उस वासना के अनुरूप पूर्वानुभवकाल में भी सदृश कर्मसंस्कार की अभिव्यक्ति ही निमित्त रही होगी। उसी के सदृश कर्मसंस्कार जब फिर कभी अभिव्यक्त होने की स्थिति में आये तो तादृश वासनासंस्कारों का ही वृत्तिलाभ करना या अभिव्यक्त होना ही तर्कसङ्गत होगा, अन्य प्रकार के वासनासंस्कारों का नहीं ॥ ९ ॥

(भा० सि०)—वृषदंशविपाकोदयः—**'उदेत्यस्मादित्युदयः कर्माशयः'**—(त० वै०)। मार्जारयोनि के अनुरूप फलभोग को उपस्थित करने वाला कर्माशय। स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः—स्वव्यञ्जकाञ्जनश्चासौ अभिव्यक्तश्चेति तथोक्तः, अपने व्यञ्जक से अञ्जित होकर अभिव्यक्त हुआ था। कोई जीव पहले जब मार्जारयोनि में रहा होगा। उस काल का वर्णन इस वाक्य के द्वारा किया गया है। सः—वह कर्माशय। यदि जातिशतेन—उसके बाद प्राप्त सैकड़ों भिन्न योनियों के द्वारा। दूरदेशतया वा—अथवा पूर्वकालिक मार्जार जन्म वाले स्थान से दूर स्थानों में होने के कारण। कल्पशतेन वा—या सैकड़ों कल्पों के बीत जाने के कारण। व्यवहितः—लब्धव्यवधानः, व्यवधानयुक्त हो जाता है, व्यवधानों के बीच में आ जाने से बाधित होता है। पुनश्च—तो फिर से, दुबारा भी। स्वव्यञ्जकाञ्जन एव—अपने व्यञ्जक हेतु से अञ्जित होकर ही। उदियात्—**'अभिव्यज्येत, विपाकारम्भाभिमुखः क्रियेतेत्यर्थः।'**—(त० वै०)। उदित होगा, फलप्रद होगा, विपाकोपस्थिति करेगा। और इस फलप्रदता में उसे देर नहीं लगेगी। इसी बात को सूचित करते हैं। द्राग् इत्येव—तुरन्त ही, बिना व्यवधानोपहत हुए उदित हो जाएगा। यहीं पर यह ध्यातव्य है कि यह कर्मसंस्कार। पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृताः वासनाः—पहले वाले मार्जारकाल में प्राप्त फलभोग से उत्पादित वासनासंस्कारों को। उपादाय—साथ लेकर ही। व्यज्येत—अभिव्यक्तिं गच्छेत्, उदित होगा। कस्मात्—ऐसा क्यों होगा?

यतः—क्योंकि। व्यवहितानामपि आसाम् (वासनानाम्)—अनेक जन्मों, स्थानों और कालों से व्यवहित हुई भी इन वासनाओं का। सदृशं कर्म—**'एकरूपतया सादृश्यम्।'**—(त० वै०)। इस कर्माशय के समान या अनुरूप ही जो पूर्वमार्जार-जन्म का देने वाला कर्मसंस्कार था, वही कर्मसंस्कार इन व्यवहित वासनाओं का। अभिव्यञ्जकम्—अभिव्यञ्जक, उपस्थापक था। निमित्तीभूतम्—अर्थात् उस जन्म में उन वासनाओं की अभिव्यक्ति का निमित्त या हेतु था। और अब फिर उस निमित्तभूत अभिव्यञ्जक पुरातन कर्माशय के सदृश कर्माशय की अभिव्यक्ति हो रही है। अतः वे वासनासंस्कार फिर सद्यः अभिव्यक्त हो जाएँगे अर्थात् उनकी स्मृति आप से आप हो जाएगी। कुतश्च—और ऐसा क्यों कर सम्भव होगा? **'आनन्तर्यमेव फलतः कारणद्वारकमुपपाद्य कार्यद्वारकमुपपादयति 'कुतश्च स्मृतिः' इति'**—(त० वै०)। स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्—स्मृति और संस्कारों के एकरूप होने के कारण यह सम्भव होता है। वासनाओं की अभिव्यक्ति स्मृति है और 'वासनाएँ' संस्कार हैं। भाष्यकार ने स्वयं (यो० सू० भा० २।१३) में कहा है—**'ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति।'** यथानुभवास्तथा संस्काराः—जैसे अनुभव होते हैं, उसी प्रकार के (अनुभवजन्य) संस्कार भी होते हैं। ते च—और वे संस्कार। कर्मवासनानुरूपाः—कर्म की वासना अर्थात् कर्मजन्य संस्कारों के अनुरूप होते हैं।[1] आशय यह है कि पहले मार्जारयोनिरूपी विपाक में जो-जो अनुभव हुए थे। उन अनुभवों से उत्पन्न वासनासंस्कार उस विपाक के निमित्तभूत कर्माशय-संस्कारों के अनुरूप ही होते हैं, इसीलिये उस प्रकार के कर्माशयसंस्कारों के पुनः विपाकोन्मुख होने पर वही वासनासंस्कार अभिव्यक्त होने लगते हैं। विसदृशयोनियों के अनुभवजन्य संस्कार उन-उन योनियों के निमित्तभूत कर्मसंस्कारों के अनुरूप होते हैं, इसलिये इस मार्जारयोनि में वे अभिव्यक्त नहीं हो पाते। 'कर्मवासना' शब्द का अर्थ है कर्मसंस्कार अर्थात् कर्माशयसंस्कार। सामान्य 'वासना' शब्द अनुभवजन्य संस्कारों के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'कर्माशय' पद का अर्थ है कर्म से बनने वाले संस्कार, किन्तु सामान्य 'आशय' शब्द का अर्थ वासनासंस्कार ही होता है। जैसा कि भाष्यकार कहते हैं। **'तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयाः'**।[2]

यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति—और वासनासंस्कार जैसे होते हैं, वैसी ही स्मृति अर्थात् वासनासंस्कारों की अभिव्यक्ति भी होती है। **'वासनाभिव्यक्तेः स्मृतिरूपत्वात्'**।[3] इस प्रकार कर्माशयों और अविभज्यमान वासनाओं की सदृशता सिद्ध

---

१. 'ते च संस्काराः कर्माशयानुरूपा एवापेक्षिता इत्यर्थः।'
—यो० वा० पृ० ४०३।

२. द्रष्टव्य; यो० सू० १।२४ पर भाष्य।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४०३।

करके अब सूत्र का तात्पर्यार्थ प्रतिपादित किया जा रहा है। इति—इसलिये। जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः—जन्म, देश और समय के व्यवधानों से बाधित या अन्तरित वासनासंस्कारों से। स्मृतिः—उन संस्कारों की अभिव्यक्ति होती है, अनुभवाकाराकारित वृत्ति बनती है। स्मृतेश्च पुनः संस्काराः—और विपाकानुभवों की स्मृतिरूपी इस वासनासंस्काराभिव्यक्ति से फिर संस्कार बनते हैं, जो आगे आने वाली तादृशी स्मृतियों के फिर हेतु बनते हैं। ते स्मृतिसंस्काराः—इस प्रकार वासनाभिव्यक्ति और उसके संस्कार। कर्माशयवृत्तिलाभवशाद्—तत्तत् कर्माशयसंस्कार के वृत्तिलाभ अर्थात् विपाकारम्भी होने के कारण। व्यज्यन्ते—प्रकट हो जाते हैं। **'कर्माशयस्य विपाकरूपो वृत्तिलाभस्तद्वशात्'**।[1] अतश्च—और इसलिये। व्यवहितानामपि—जन्मादिकों के द्वारा अन्तरित होने पर भी इन वासनासंस्कारों की। निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदात्—कार्यकारणभावता के अखण्डित होने के कारण। आनन्तर्यमेव सिद्धम्—अनन्तरता, निर्बाधरूप से उपस्थित हो जाना ही सिद्ध होता है। वासनाओं का जन्मादि से बाधित होकर उपस्थित न हो पाना सर्वथा असिद्ध है। 'कर्माशय' निमित्त अर्थात् कारण हैं और 'वासनाभिव्यक्ति' नैमित्तिक अर्थात् कार्य है। **'कर्माशयो निमित्तं वासनास्मृतिः नैमित्तिकम्·········तद्भावस्यानुच्छेदात् वर्तमानत्वादानन्तर्यं निरन्तरालता'**[2] ॥ ९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

(आत्म) कामना के नित्य होने के कारण उनका अनादित्व भी (सिद्ध) है ॥ १० ॥

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते, सा न स्वाभाविकी। कस्मात्? जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषो दुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्? न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति। घटप्रासादप्रदीपकल्पं सङ्कोचविकाशि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति। वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य सङ्कोचविकाशिनीत्याचार्यः। तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम्—बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि। चित्तमात्राधीनं श्रद्धा-

---

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४०३।

२. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४०४।

ह्याध्यात्मिकम् । तथा चोक्तम्—'ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्त्तयन्ति ।' तयोर्मानसं बलीयः । कथम् ? ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते ? दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कर्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत् ॥ १० ॥

(आत्म) कामना के नित्य होने के कारण उनका अर्थात् वासनाओं का अनादि होना सिद्ध है । जो यह आत्मकामना—'मैं न रहूँ, ऐसा न हो, बल्कि सदा रहूँ'—सबमें देखी जाती है, वह स्वाभाविक (अकारण) नहीं है । क्योंकि जन्म लिये हुए मात्र (बालक) तथा मृत्युधर्म का (इस जन्म में) अनुभव न किये हुए जीव (बालक) को द्वेषात्मक दुःख की स्मृति से उत्पन्न मरणभय कैसे हो सकता है ? और न तो स्वाभाविक वस्तु कारण का आश्रय ही लेती है । इसलिये अनादिवासनाओं से अनुविद्ध यह चित्त (कर्माशयरूप) निमित्त के कारण (उनमें से) कुछ ही (सदृश) वासनाओं को लेकर पुरुष के भोग के (सम्पादन के) लिये प्रवृत्त होता है । (कुछ) अन्य लोग इस मान्यता वाले हैं कि 'घट और भवन के (अन्दर स्थित) दीपक के समान संकुचित और विकसित (प्रकाश वाला) चित्त शरीर के परिणाम के ही आकारवाला होता है, और वैसा मानने पर ही (देहान्तरप्राप्ति और पूर्वदेहत्याग के) बीच में (चित्त का) आतिवाहिकभाव और देहान्तरसंसरण उपपन्न होता है ।' (सिद्धान्त) इस विभुपरिमाण वाले चित्त की वृत्ति ही संकुचित और विकसित होती है (यह चित्त नहीं)—ऐसा (योग के) आचार्य मानते हैं । और वह (चित्त, वृत्ति के सङ्कोच तथा विकास में) धर्माधर्म रूप निमित्त की अपेक्षा रखता है । (धर्माधर्मरूप) निमित्त दो प्रकार के होते हैं—बाहरी और आध्यात्मिक) । शरीरादिसाधनों की अपेक्षा करने वाले स्तुति, दान, अभिवादन इत्यादि बाह्य निमित्त हैं, (और) केवल चित्त के ही अधीन (शरीरादिनिरपेक्ष) श्रद्धा इत्यादि आध्यात्मिक (निमित्त) हैं । और वैसे ही कहा भी गया है—'और ये जो योगियों की मैत्री इत्यादि भावनाएँ है, ये बाह्यसाधननिरपेक्ष रूप की होती हैं और उत्कृष्ट धर्म तैयार करती हैं ।' उन दोनों प्रकार के निमित्तों में से आध्यात्मिक (निमित्त) अधिक बलवान् होता है, क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से बढ़कर भला क्या हो सकता है ? चित्तबल के बिना भला कौन शारीरिक कर्म से दण्डक-वन को निर्जन कर सकता है ? या अगस्त की भाँति कौन—(चित्तबल के बिना) समुद्र को पी सकता है ॥ १० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—वासनाओं की अव्यवहित रूप से अभिव्यक्ति तो पहले वाले सूत्र में सिद्ध की जा चुकी है । किन्तु इस सिद्धि का मूलाधार है—पूर्ववर्ती जन्मों का

होना । अतः पूर्वजन्म की सत्ता को सिद्ध करने का उपक्रम इस सूत्र में किया गया है । साथ ही पूर्वजन्मों की सत्ता की सिद्धि के फलस्वरूप वासनाओं की अनादि-कालिकता भी सिद्ध की गयी है । तासाम्—उन वासनाओं की । अनादित्वम्—अनादिकालिकता, अर्थात् जीव के अनादिकाल से चले आते हुए जन्मों में इन वासनाओं का उपचित होते रहना और इस प्रकार अनादिकाल से प्रवाहित होते रहना सिद्ध होता है । किस आधार पर ? आशिषः—आशीः अर्थात् कामना के । नित्यत्वात्—नित्य होने के कारण । यह 'आशिष्' क्या है ? और किस प्रकार इसे नित्य कहा जा सकता है ? 'आशीः' शब्द का अर्थ है—इच्छा या शुभकामना (आङ्+√शासु (इच्छायाम्)+क्विप् (सम्पदादिः—वा० ३।३।१०८), **'आशासः क्वौः'** (वा० ६।४।३४) इतीत्वम्=आशीः—रामाश्रमी टीका ३।३।२२९) सभी प्राणियों की अपने विषय में स्वाभाविक शुभ-कामना सदा होती है कि 'मैं सदा रहूँ, मेरा नाश न हो ।' इसी 'आत्माशीः' के नित्य होने के कारण यह सिद्ध होता है कि प्राणी मरने का दुःख पहले भोग चुका है अर्थात् हर प्राणी अपने वर्तमान जीवन के पहले मरने का दुःख उठा चुका है और मरना तभी हुआ होगा, जब उसके पहले वह जन्म ले चुका होगा । बिना जन्म और जीवन के मरण कहाँ ? इस प्रकार सभी प्राणियों का पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है । और उस (पहले) वाले जीवन में भी उसका यही आत्माशीः रहती है । इससे उसके पहले भी मरणानुभव और उसके पूर्व का जन्म और जीवन सिद्ध होता है । इस आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक प्राणी अनादिकाल से जन्म-मरण के चक्र में फँसा चला आया है । इसलिये अनादिकाल से प्राप्त उन-उन जीवनों में किये गये विविध प्रकार के सुखदुःखादि के अनुभवों से उसके चित्त में 'वासना' नामक संस्कारों का बनना निश्चित है । इस प्रकार वासनाओं का अनादिकाल से बनते रहना और चित्त में संचित रहना सर्वथा सिद्ध हो जाता है । भाष्यकार ने यो० सू० २।१३ के भाष्य में स्पष्ट ही लिखा है—**'ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति ।'** इस सूत्र में वासनाओं की 'अनादिकालीनता' सिद्ध की गयी है और 'च' शब्द के द्वारा पूर्वसूत्र-साधित वासनाओं के 'आनन्तर्य' का भी संग्रह[1] कर दिया गया है ॥ १० ॥

(**भा० सि०**)—तासां वासनानाम् अनादित्वम्—उनकी अर्थात् वासनाओं की 'अनादिता' सिद्ध ही है । वासनाओं की अभिव्यक्ति कर्माशयानुरूप विपाकों की प्राप्ति के समय निर्बाधरूप से होती है—ऐसा पूर्व-सूत्रभाष्य में निश्चित किया गया

१. 'तासां वासनानामनादित्वञ्च न केवलमानन्तर्यमिति चार्थः ।'

—त० वै० पृ० ४०४ ।

है। सूत्रस्थ 'तासाम्' पद का व्याख्यान करते हुए इस भाष्य में कहा जा रहा है कि 'तासाम्' अर्थात् प्रकरणप्राप्त वासनाओं का अनादित्व अर्थात् अनादिकाल से उनका इकट्ठा होना सिद्ध है। किस प्रकार? आशिषो नित्यत्वात्—सभी प्राणियों में अपने विषय की शुभकामना के नित्य होने के कारण यह सिद्ध होता है कि प्राणियों में वासनाएँ अनादिकाल से उपस्थित रहती हैं। यह बात किस प्रकार से सिद्ध हो गयी, इसको आगे स्पष्ट करते हैं कि। या इयम् आत्माशीः—यह जो अपने विषय की कामना है कि। मा न भूवं भूयासम् इति—'मैं न होऊँ—ऐसा न हो, बल्कि सदैव होऊँ अर्थात् बना रहूँ'—यह कामना। सर्वस्य दृश्यते—सभी प्राणियों में (होती है और) देखी जाती है। सा न स्वाभाविकी—यह आत्म-नाश-विरोधिनी कामना स्वाभाविक अर्थात् निर्निमित्त या अकारण नहीं होती। कस्मात्—ऐसा क्यों है? इसलिये कि। जातमात्रस्य...कथं भवेत्—वर्तमान जन्म लिये हुए तथा वर्तमान जीवन में मरण का अनुभव नहीं किये हुए जीव को द्वेषात्मक दुःख की याद से उत्पन्न होने वाला मरणभय कैसे हो सकता है? जैसे, कोई छोटा-सा बालक है, जिसने इस जीवन में अभी न तो स्वयं मरण का अनुभव किया है और न तो किसी का मरण देखा ही है, वह माँ की गोद से गिरने की स्थिति आने पर घबराता-छटपटाता हुआ माँ के आँचल को या माँ के गले से लटकते हुए किसी आभूषणादि को जोर से पकड़ लेता है, चीख उठता है। आखिर मरने के डर से ही तो वह घबराता-चिल्लाता है। यह मरणभय उसे कैसे उत्पन्न हुआ? न तो उसे इस जीवन में मरण का प्रत्यक्षानुभव हुआ, न उसने अन्य लोगों के मरण के दुःख का ही प्रत्यक्ष या अनुमान किया है। यदि यह कहा जाए कि यह मरणभय सहज या स्वाभाविक है, तो इस सम्भावना का खण्डन किया जा रहा है। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते—स्वाभाविक वस्तु या घटना किसी निमित्त या कारण की अपेक्षा नहीं करती। जो वस्तु या घटना किसी निमित्त की अपेक्षा करे, वह तो 'नैमित्तिक' हुई। स्वाभाविक तो वह वस्तु है, जो 'निमित्तजन्य' न हो, प्रत्युत वस्तु के स्वभाव से ही सिद्ध हो।[1] इसलिये स्वाभाविक धर्म निर्निमित्त, अर्थात् अकारण ही धर्मी में अभिव्यक्त होता रहता है, जैसे—आग में गर्मी। किन्तु मरणभय, मरण के कारणों के उपस्थित होने पर ही अभिव्यक्त होता है। तस्माद्—इसलिये सिद्ध होता है कि। अनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तम्—अनादिकाल से चित्त में इकट्ठी हुई वास-नाओं से बिंधा हुआ यह चित्त। निमित्तवशाद्—जो निमित्त उपस्थित हो जाए, उसके कारण। काश्चिदेव वासनाः—उन वासनाओं की राशि में से तदनुगुण कुछ ही

---

१. 'न हि स्वाभाविकं कारणान्तरमपेक्षते, वह्नेरौष्ण्यं प्रत्यपि कारणान्तरापेक्षा-प्रसङ्गात्'—त० वै० पृ० ४०५।

वासनाओं को। प्रतिलभ्य—अभिव्यज्य, अभिव्यक्त करके। पुरुषस्य भोगाय उपावर्तते—तत्तद् जीव के भोग के लिये प्रस्तुत होता है, उस पुरुष का भोग सम्पन्न करता है। इति—वासनाओं के अनादिकालत्व की सिद्धि के प्रसङ्ग की समाप्ति का सूचक पद।

अब प्रसङ्गतः चित्त के परिमाण से सम्बन्धित प्रमुख विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए चित्त के विभुत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा है। घटप्रासाद-प्रदीपकल्पं सङ्कोचविकाशि चित्तमिति—चित्त, घड़े और महल में बारी-बारी से रखे गये दीपक के समान क्रमशः सङ्कुचित और विकसित होने वाला होता है। भाव यह है कि जैसे—दीपक का परिमाण न स्वयं छोटा होता है और न स्वयं व्यापक, प्रत्युत वह जिस परिमाण वाले पदार्थ में रख दिया जाए, उस पूरे पदार्थ को प्रकाशित करने के कारण दीपक का परिमाण उसी आधार के परिमाण के अनुसार संकुचित और विकसित होता रहता है। शास्त्रों में इस प्रकार के आधारानुसारी सङ्कोचविकासशील परिमाण को 'शरीरपरिमाण' या 'मध्यमपरिमाण' कहते हैं। इस पक्ष के अनुसार चित्त का परिमाण न तो 'अणु' है, न 'विभु', प्रत्युत 'मध्यम' होता है। इत्यपरे प्रतिपन्नाः—ऐसा अन्य लोग मानते हैं, स्वीकार करते हैं। यहाँ 'अपरे' पद के द्वारा किन-किन दार्शनिकों का ग्रहण किया गया है? इस विषय में मतभेद है। भास्वतीकार[1] के अनुसार 'अपरे' पद के द्वारा 'जैनों' का ग्रहण किया गया है, और विज्ञानभिक्षु[2] के अनुसार 'सांख्यों' का। तथा च—और चित्त के ऐसा होने पर ही अर्थात् 'शरीर-परिमाण' वाला या सङ्कोचविकासशील होने पर ही। अन्तराभावः—अन्तरा मध्ये मध्यकाले, पूर्वदेहत्यागानन्तरमुत्तरदेहोत्पत्तेश्च प्रागित्यर्थः भावः स्थितिः, एक शरीर त्यागने और दूसरा शरीर धारण करने के बीच में चित्त का आतिवाहिक शरीर में स्थित होना। **'पूर्वोत्तरशरीरग्रहणयोर्यदन्तरा तत्र भाव आतिवाहिकभाव इत्यर्थः'।**[3] संसारश्च—और स्थूलशरीरों में स्थित होना।[4] युक्तः—सङ्गत होता है।

इस पक्ष का निवारण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि चित्त का परिमाण व्यापक या विभु होता है। अस्य विभुनः—इस विभु-परिमाण वाले चित्त की। वृत्तिरेव—वृत्ति ही, व्यापार ही। सङ्कोचविकाशिनी—संकुचित और विकसित होने

---

१. 'निर्ग्रन्थमतमुपन्यस्यते······इति निर्ग्रन्थनयः।'—भा० पृ० ४०६।

२. 'एवमपरे सांख्या आहुरित्यर्थः।'—यो० वा० पृ० ४०६।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४०६।

४. 'तथा च शरीरपरिमाणत्वे, देहान्तरप्राप्तये पूर्वदेहत्यागश्च देहान्तरप्राप्तिश्चान्तराऽस्यातिवाहिकशरीरसंयोगाद् भवतः, तेन खल्वयं देहान्तरे सञ्चरेत्। तथा च पुराणम्—'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलाद्'—इति, सोऽयमन्तराभावः, अत एव संसारश्च युक्त इति।'—त० वै० पृ० ४०६।

वाली होती है। आशय यह है कि चित्त स्वयं संकोचविकासशील नहीं होता, वह तो विभुपरिमाण वाला होता है। सङ्कोच और विकास उसकी वृत्तियों का होता है। इति आचार्य:—ऐसा योगशास्त्र के आचार्य पतञ्जलि का अभिमत है। तच्च—और वह सङ्कोच तथा विकास **'तच्च सङ्कोचविकाशनम्'**—(यो० वा०)। धर्मादि-निमित्तापेक्षम्—धर्म और अधर्म रूपी निमित्त (कारण) की अपेक्षा से होता है। 'धर्मादि'—में आदि पद से 'अधर्म' का ग्रहण करना चाहिए। धर्म तथा अधर्म रूपी ये। निमित्तं च—कारणम्, चित्तवृत्ति के सङ्कोच तथा विकास कराने वाले कारण। द्विविधम्—दो प्रकार के होते हैं। बाह्यम्—पहला प्रकार है—'बाह्य' निमित्त अर्थात् बाहरी कारण। आध्यात्मिकञ्च—और 'आध्यात्मिक' निमित्त अर्थात् आन्तरिक कारण या शरीरान्तर्वर्ती कारण। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यम्—उनमें से, शरीर, इन्द्रिय, धन इत्यादि बाहरी साधनों की सहायता से कृतकार्य होने वाले निमित्त 'बाह्य' कहे जाते हैं। **'आदिशब्देनेन्द्रियधनादयो गृह्यन्ते'**— (त० वै०)। यथा। स्तुतिदानाभिवादनादि—प्रशंसा करना, दान देना, अभिवादन या प्रणामादि करना—ये तो हुए धर्मरूप 'बाह्य' निमित्त। अभिवादन के अन्त में आये हुए 'आदि' पद के द्वारा अधर्म रूपी 'बाह्य' निमित्तों का संग्रह जानना चाहिए, जैसे—निन्दा, परधना-पहरण[1] इत्यादि। चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्—शरीरेन्द्रियनिरपेक्ष केवल मन के द्वारा किये जानेवाले निमित्त 'आध्यात्मिक' कहे जाते हैं। जैसे—श्रद्धा, करुणा, मुदिता इत्यादि भावनाएँ। अधर्मादिक आध्यात्मिक निमित्तों का बोध 'आदि' पद के द्वारा सूचित अश्रद्धा, घृणा, द्वेषादि से करना चाहिए।[2] इन आध्यात्मिक निमित्तों की शरीरादिनिरपेक्षता के विषय में प्रमाण दिया जा रहा है। तथा चोक्तम्—और वैसा ही (शास्त्रों में) कहा भी गया है। ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारा:—और ये जो मैत्री-करुणा इत्यादि योगियों के विहार अर्थात् मानसव्यापार हैं। **'विहाराः चर्या इत्यर्थः'**—(भा०)। **'विहारो व्यापारः'**—(त० वै०)। ते बाह्यसाधननिर-नुग्रहात्मान:—बाह्यसाधननिरपेक्षस्वभावा:, वे शरीरेन्द्रियादि बाहरी साधनों से निरपेक्ष ही स्वरूपलाभ करते हुए। प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति—शुक्ल या शुभ धर्म निष्पन्न करते हैं। तयो:—**'बाह्याभ्यन्तरमध्ये'**—(त० वै०), उन दोनों अर्थात् 'बाह्य' एवं 'आध्यात्मिक' निमित्तों में से। मानसम्—आध्यात्मिक निमित्त। बलीय:—अधिक प्रभावशाली होते हैं। कथम्—यह कैसे कहा जा रहा है? क्योंकि। ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते—ज्ञान और वैराग्य किस बाह्य निमित्त के द्वारा अभिभूत किये जा

---

१. 'आदिशब्देन निन्दापरस्वादानातिक्रमादीन्यधर्मसाधनान्यपि गृहीतानि'।

—यो० वा० पृ० ४०८।

२. 'तद्विपरीतांश्चाश्रद्धाऽऽदय इत्यर्थः।'—यो० वा० पृ० ४०८।

सकते हैं ? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं । इस बात की पुष्टि के लिये दो सुप्रसिद्ध उदाहरण दिये जा रहे हैं । (१) दण्डकारण्यं कः चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कर्तुमुत्सहेत—दण्डकवन को भला कौन व्यक्ति मानसबल के अतिरिक्त किसी बाह्य शारीरिक कर्म के द्वारा जनशून्य करने में समर्थ हो सकता था ? आशय यह है कि मानसबल के आधार पर ऐसा कर देने वाले शुक्राचार्य के अतिरिक्त कोई भी प्राणी शारीरिक बल से ऐसा नहीं कर सकता था । (२) समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्—या आध्यात्मिक निमित्त के अतिरिक्त किसी दूसरे निमित्त से अगस्त्य के समान समुद्र को भला कौन पी सकता था ? अर्थात् कोई नहीं । दण्डकवन में वहाँ के राजा पर क्रुद्ध हुए शुक्राचार्य ने अपने मानस बल से सात दिन तक पत्थर की वृष्टि करायी और उसे जनशून्य कर दिया था । अगस्त्य ने एक ही चुल्लू में सारा समुद्र इसी आध्यात्मिक बल से पी लिया था । ये दोनों कथाएँ पुराणों में अनेकशः वर्णित हैं ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः सङ्गृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

कारण (अविद्या), फल (पुरुषार्थ), आश्रय (चित्त) और आलम्बन (विषय) के द्वारा (ही) उपचित होने के कारण, इन (चारों) का अभाव होने पर उन (वासनाओं) का अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

हेतुः धर्मात्सुखमधर्माद् दुःखम् । सुखाद् रागो दुःखाद् द्वेषः । ततश्च प्रयत्नः । तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा । ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे, रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम् । अस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री, मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः । फलं तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः, न ह्यपूर्वोपजनः । मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम् । न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते । यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम् । एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः सङ्गृहीताः सर्वा वासनाः । एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः ॥ ११ ॥

हेतु (का वर्णन इस प्रकार है—) धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है । सुख से राग और दुःख से द्वेष होता है । और उस (रागद्वेष) से प्रयत्न होता है । उसके कारण मन, वाणी और शरीर से क्रियाशील होकर (प्राणी) अन्य जीवों पर कृपा करता या उनका उपघात करता है । उससे फिर धर्म और अधर्म, (उससे) सुख और दुःख, (तथा उससे) राग और द्वेष (होते हैं)—इस प्रकार से प्रवृत्त होने वाला छह (६) आरों वाला यह संसारचक्र है । प्रतिक्षण घूमते हुए इस (संसारचक्र) को आगे बढ़ाने वाली 'अविद्या' सारे क्लेशों की जड़ है—इसीलिये यही (वासनाओं

की) 'हेतु' है। 'फल' तो वह है, जिसके प्रयोजन से धर्मादि की उपस्थिति होती है, क्योंकि किसी असद्वस्तु की उत्पत्ति तो होती नहीं। साधिकार मन ही वासनाओं का 'आश्रय' है। क्योंकि मन के कृतकृत्य हो जाने पर निराश्रित वासनाएँ नहीं टिक सकतीं। सामने आयी हुई जो वस्तु (प्राणी की) जिस वासना को अभिव्यक्त करती है, वह (वस्तु) उस वासना की 'आलम्बन' होती है। इस प्रकार सारी वासनाएँ इन्हीं—हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन—के द्वारा संगृहीत होती हैं। इनका अभाव होने पर इनसे उद्भावित (सारी) वासनाओं का भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—वासनाओं का अनादित्व सिद्ध हो जाने पर यह शङ्का उठ सकती है कि अनादि होने के कारण वासनाएँ नित्य भी होंगी। उस दशा में न तो किसी को वासनाओं से कभी छुटकारा मिल सकता है और न तत्प्रयुक्त संसारचक्र के आवागमन से। तब तो सारा योगाभ्यास व्यर्थ होगा। इस शङ्का का निराकरण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वात्—हेतुश्च फलञ्च आश्रयश्च आलम्बनञ्चेति हेतुफलाश्रयालम्बनानि, तैः (निमित्तभूतैः) संगृहीतत्वाद् उपचितत्वाद्, हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनों के द्वारा ही संगृहीत होने के कारण। एषामभावे—इन हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनों का अभाव हो जाने पर। तद-भावः—तासां वासनानाम् अभावः इति तदभावः अतीतावस्था, उनका भी अर्थात् वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। जिन निमित्तों के द्वारा वासनाएँ बनती हैं और इकट्ठी होती हैं, उन निमित्तों का उच्छेद हो जाने पर वासनाओं का भी उच्छेद हो जाता है। अतः उनकी नित्यता की शङ्का नहीं करनी चाहिए। वासनाओं के उक्त निमित्तों का स्पष्टीकरण पूर्णरूप से भाष्यसिद्धि में किया जायेगा। यहाँ संक्षेप में इतना कह देना पर्याप्त है कि वासनाओं का हेतु 'अविद्या' है। 'फल' है, पुरुष का भोगा-पवर्ग नामक 'पुरुषार्थ'। 'आश्रय' है—अनिरुद्ध चित्त और 'आलम्बन' हैं—जगत् के वे सारे विषय, जिन्हें सम्मुख पाकर वासनाएँ अभिव्यक्त होती हैं ॥ ११ ॥

(भा० सि०)—वासनाएँ अनादि अवश्य हैं, फिर भी उनका उच्छेद सम्भव है। किस प्रकार से ? जिन निमित्तों से वासनाएँ उपचित होती हैं, उन निमित्तों का उच्छेद हो जाने पर वासनाओं का भी उच्छेद हो जाता है। वासनाओं के संग्राहक निमित्त ये हैं—१. हेतु, २. फल, ३. आश्रय और ४. आलम्बन। इनका निरूपण करते हुए भाष्यकार कहते हैं। हेतुः—पहला निमित्त है 'हेतु'। इस हेतु को क्रमशः सम-झाया जा रहा हैं। धर्मात् सुखम्—शुभकर्मों से उत्पन्न कर्मसंस्कारों को 'धर्म' कहते हैं। इस शुभकर्मसंस्कार रूपी धर्म से प्राणी को सुखभोग की प्राप्ति होती है। और। अधर्माद् दुःखम्—अशुभकर्मों से उत्पन्न कर्मसंस्कारों को 'अधर्म' कहते हैं। इस

अशुभकर्मसंस्कार रूपी अधर्म से प्राणी को दुःखभोग की प्राप्ति होती है। सुखात् रागः—सुखभोग से प्राणी के चित्त में 'राग' नामक क्लेश की अभिव्यक्ति होती है। दुःखात् द्वेषः—दुःखभोग से प्राणी के चित्त में 'द्वेष' नामक क्लेश की अभिव्यक्ति होती है। ततश्च—और उससे अर्थात् रागद्वेष से। प्रयत्नः—चेष्टा अर्थात् प्रतिक्रिया होती है। तेन—उस प्रयत्न या प्रतिक्रिया के कारण वह प्राणी। मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः—मन से, वाणी से, या शरीर से चेष्टा करता हुआ। परम्—अन्यं जीवम् (जातावेकवचनम्), अन्य जीवों को। अनुगृह्णाति—अनुगृहीत करता है, उनके अनुकूल आचरण करता है। उपहन्ति वा—उपघातयति, पीडयति, प्रतिकूल आचरण करता है, पीडित करता है। ततः—उस परहित और परपीड़ा से। पुनः—फिर। धर्माधर्मौ—धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ-कर्मसंस्कार बनते हैं। और फिर उनसे। सुखदुःखे–सुख तथा दुःख की प्राप्ति उस प्राणी को होती है। और फिर उनसे। रागद्वेषौ—राग तथा द्वेष की अभिव्यक्ति होती है। इसी धर्माधर्म, सुखदुःख तथा रागद्वेष से चलते हुए क्रम को 'संसार' कहते हैं। इति—इस प्रकार से। प्रवृत्तम्—चलता हुआ। इदं षडरं संसारचक्रम्—यह छह आरों वाला संसार का चक्र होता है। संसार की कल्पना यहाँ पर एक वृत्ताकार चक्र या गोले के रूप में की गयी है, जिसमें छह आरे अर्थात् तीलियाँ (Spokes) होती हैं। इन छह आरी में भी दो-दो आरों के तीन जोड़े हैं—धर्म और अधर्म का एक जोड़ा है, सुख तथा दुःख का दूसरा जोड़ा और राग तथा द्वेष का तीसरा जोड़ा। इस संसारचक्र का मूलकेन्द्रबिन्दु 'अविद्या' है।

भाष्य के प्रारम्भ में आये हुए 'हेतु' पद का अन्वय—'इति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम्'—इस अंश से करना चाहिए।[१] तब यह अर्थ निष्पन्न होता है कि वासनाओं का साक्षात् हेतु यह संसारचक्र ही है। यदि यह षडर संसारचक्र न चले तो वासनाओं के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु वासनाओं का मूल हेतु या वास्तविक हेतु तो उसे समझना चाहिए, जो इस संसारचक्र का भी कारण हो। उस वास्तविक हेतु का निरूपण भाष्यकार इस प्रकार करते हैं। अस्य च प्रतिक्षणम् आवर्तमानस्य—और प्रतिक्षण आवर्तित होने वाले अर्थात् गोलाकार चलते हुए इस संसारचक्र की। नेत्री—$\sqrt{}$नी + तृच् + ङीप्, नायिका, संचालिका, ले जाने वाली, चलाने वाली। 'अविद्या'—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरूपा 'अविद्या' है। मूलं सर्वक्लेशानाम्—जो कि 'अस्मितारागद्वेषाभिनिवेश' नामक अन्य चारों क्लेशों की भी जननी या मूलकारण है। **'अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्**[२]—में भी

१. 'हेतुः संसारचक्रमित्यन्वयः'—यो० वा० पृ० ४१०।

२. द्रष्टव्यः यो०सू० २।४।

अविद्या का सकलक्लेशमूलत्व सिद्धान्तित हुआ है। इति—इसलिये। एष हेतुः—यह अविद्या ही वासनाओं की वास्तविक 'हेतु' है।[1] यहाँ पर अविद्या के लिये 'एषः'—यह पुंल्लिङ्ग-प्रयोग समानाधिकरणपद 'हेतु' की विवक्षा से हुआ है। फलन्तु–वासनाओं का फल तो वह है। यम्—जिसको। आश्रित्य—उद्दिश्य, जिसके लिये, जिसे लक्ष्य करके। यस्य धर्मादिः–जिस धर्माधर्म की। प्रत्युत्पन्नता—वर्तमानावस्था होती है। आशय यह है कि जिस प्रयोजन से धर्माधर्म इत्यादि तैयार किये जाते हैं, वह प्रयोजन ही वासनाओं का फल है। वह प्रयोजन क्या है, जिसके लिये सारे कर्म किये जाते हैं? वह प्रयोजन है—'भोगापवर्गरूपी पुरुषार्थ'। इसलिये वासनाओं का फल हुआ 'पुरुषार्थ'। फल के इस निरूपण में भाष्यकार ने एक शब्द प्रयुक्त किया है 'प्रत्युत्पन्नता', जिसका अर्थ होता है 'वर्तमानता'। यहाँ धर्मादि की प्रत्युत्पन्नता कही गयी है, 'उत्पत्ति' नहीं कही गयी। ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि ये धर्मादि यद्यपि किये जाते हैं, लेकिन कोई नयी उत्पत्ति नहीं होती। धर्मादि भी अव्यक्तावस्था में रहते पहले से हैं, व्यक्ति के प्रयत्न से केवल 'वर्तमानकालिकता' को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् अभिव्यक्त भर हो जाते हैं। न ह्यपूर्वोपजनः—हि (यतः) अपूर्वस्य (वस्तुनः) उपजनः (उत्पत्तिः) न भवति, क्योंकि पहले न रहने वाले किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती **'नासतो विद्यते भावः'**—(गीता)। पहले से कारण के रूप में उपस्थित कार्य की अभिव्यक्ति या प्रत्युत्पन्नता अथवा वर्तमानावस्था भर हो जाती है। यही तो 'सत्कार्यवाद' की मान्यता है। **'अपूर्वस्य सत उपजनो जन्म हि नास्तीत्यर्थः, तथा सत्कार्यस्वीकारेणानागतावस्थाफलेन व्याप्तौ वर्तमानहेतुर्भवत्येवेति भावः'**।[2]

मनस्तु साधिकारम्—और अधिकारसहित मन अर्थात् ऐसा मन, जिसने अभी तक अपने सन्निहित पुरुष का भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ पूर्णरूप से सिद्ध नहीं किया। वासनानाम् आश्रयः—वासनाओं का 'आश्रय' कहा जाता है। हि—क्योंकि। मनसि अवसिताधिकारे (सति)—मन के द्वारा पूर्णरूप से पुरुषार्थ सिद्ध कर दिये जाने पर, मन के कृतकृत्य हो चुकने पर। निराश्रया वासनाः—आश्रयविहीन वासनाएँ। स्थातुं न उत्सहन्ते—नैव स्थातुं पारयन्ति, नहीं टिक सकतीं। यद् वस्तु—जो पदार्थ। अभिमुखीभूतं (सद्)—सामने स्थित होकर, सन्निहित होकर।[3] यां वासनां व्यनक्ति—जिस वासना को अभिव्यक्त करता है। तस्याः—उस वासना का। तद् आलम्बनम्—वही वस्तु या पदार्थ 'आलम्बन' कहा जाता है। एवम्—इसी प्रकार से। एतैः हेतुफलाश्रयालम्बनैः—इन-इन हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनों से।

---

१. 'अतो अविद्यैव हेतुशब्दार्थ इति'।—यो० वा० पृ० ४१०।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४१०।

३. 'यमभिमुखीभूतं वस्तु कामिनीसम्पर्कादि।'—त० वै० पृ० ४११।

संगृहीताः—उपचिताः, अकलिताः, अभिव्यञ्जित की गयी। सर्वा वासनाः—भवन्तीति शेषाः, सारी वासनाएँ होती हैं। एषामभावे—इन हेत्वादि के वर्तमान न रहने पर। तत्संश्रयाणामपि वासनानाम्—तानि एव हेत्वादीनि संश्रयः आधारः निमित्तं यासां तासां वासनानामपि, उन हेत्वादि निमित्तों पर आधारित वासनाओं का। अभावः—उच्छेदः, अतीतावस्था भवति, अभाव हो जाता है॥ ११॥

नास्त्यसतः सम्भवो न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासनाः? इति—

असत् पदार्थ की स्थिति नहीं हो सकती और सत् पदार्थ का विनाश नहीं होता है, इसलिये द्रव्यरूप से स्थित वासनाएँ कैसे नष्ट होंगी? इस विषय में (यह सूत्र है)—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्॥ १२॥

धर्मों की कालभेद से (धर्मी में) विद्यमानता (सम्भव) होने के कारण अतीत और अनागत वस्तु (भी) अपने-अपने रूप में (स्थित) होती है॥ १२॥

भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतम्, स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानम्। त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत, तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं, नापूर्वोपजनने। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावः। तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। न च यथा वर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं वा। कथन्तर्हि? स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति। स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति। वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति, न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः। एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति, नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति॥ १२॥

अगले समय में अभिव्यक्ति वाला पदार्थ 'अनागत' होता है (और बीते समय में) अनुभव की गयी अभिव्यक्ति वाला पदार्थ 'अतीत' होता है। अपने (अभिव्यक्ति के) व्यापार में चढ़ा हुआ पदार्थ 'वर्तमान' होता है। ये तीनों (प्रकार के) पदार्थ ज्ञान के विषय बनते हैं। यदि ये (तीनों ज्ञेय) पदार्थ अपने (विशेष) रूप से स्थित न हों, तो (त्रिकालदर्शी योगियों को) विषयशून्य (होने के कारण) यह (त्रैकालिक) ज्ञान न उत्पन्न हो। परन्तु उनको त्रैकालिक विषयों का ज्ञान होता

है। इसलिये अतीत और अनागत पदार्थ (भी) अपने-अपने रूप से (अवश्य ही) स्थित होते हैं। और भी, भोग सिद्ध करने वाले या अपवर्ग सिद्ध करने वाले कर्म से उत्पन्न होने वाला फल यदि असत् हो, तो फिर उसके उद्देश्य से अर्थात् उसके निमित्त से किया गया उचित साधनानुष्ठान ठीक या युक्तिसङ्गत न होता। (वस्तुतः अव्यक्त-रूप से) स्थित फल को वर्तमान (रूप से अभिव्यक्त) करने में ही (धर्मादि) साधन समर्थ होता है, (किसी) असत् वस्तु की उत्पत्ति में नहीं। वर्तमान साधन फल को विशेषरूप में अभिव्यक्त (भर) करता है, असत् को उत्पन्न नहीं करता। धर्मी अनेक धर्मों से युक्त होने के स्वभाव वाला होता है और उसके धर्म कालभेद से (उसमें) उपस्थित रहते हैं। और जिस प्रकार वर्तमान (धर्म) विशिष्ट अभि-व्यक्ति से सम्पन्न द्रव्य रूप में रहता है, उस प्रकार अतीत या अनागत (धर्म) नहीं रहते। तो फिर किस प्रकार रहते हैं? अनागत पदार्थ (भविष्यत्काल में) अभिव्यक्ति के योग्य अपने रूप में ही रहता है और अतीत पदार्थ (भूतकाल में) अनुभूत हो चुकी अभिव्यक्ति वाले अपने रूप में रहता है। केवल वर्तमानकाल वाले पदार्थ की ही अपने रूप में अभिव्यक्ति रहती है। वह (स्वरूपाभिव्यक्ति) अतीत-काल वाले और अनागतकाल वाले पदार्थ की नहीं होती। एक काल वाले धर्म के समय (शेष) दो कालों वाले धर्म, धर्मी में (अव्यक्तरूप से) समन्वित ही रहते हैं। इसलिये तीनों कालों वाले धर्मों की उपस्थिति बिना पहले स्थित हुए नहीं होती—यही सिद्धान्त है ॥ १२ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—पूर्ववर्ती सूत्र में वासनाओं का अभाव सम्भव बताया गया है। इस प्रसङ्ग में एक स्वाभाविक शङ्का भाष्यकार के द्वारा उठायी जा रही है। असतः सम्भवः नास्ति—शशशृङ्ग के समान असत् पदार्थों की न तो कभी सत्ता हो सकती है। न चास्ति सतो विनाशः—और न सत् पदार्थ का कभी विनाश हो सकता है। इति—यही तो सांख्य-योग का सत्कार्यवादी सिद्धान्त है, इसीलिये। द्रव्यत्वेन—द्रव्य के रूप से, अर्थात् सद्रूप से। सम्भवन्त्यः—वर्तमानाः, लब्धसत्ताकाः, रहने वाली। वासनाः—वासनाएँ। कथं निवर्तिष्यन्ते—भला किस प्रकार से निवृत्त हो सकेंगी? ऐसी दशा में पिछले सूत्र का 'एषामभावे तदभावः' अंश कैसे उत्पन्न हो सकेगा? इति—एवंरूपायां विचिकित्सायाम्, इस प्रकार की विचिकित्सा या शङ्का की प्रसक्ति का निराकरण करने के लिये 'अतीतानागतम्'—इत्यादि सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

(सू० सि०)—प्रस्तुत शङ्का का निराकरण करते हुए महर्षि पतञ्जलि सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि किसी वस्तु का विनाश नहीं होता, बल्कि वस्तु की केवल अतीतावस्था हो जाती है, उसी को लोग गलती से अभावप्राप्त या विनष्ट

मान लेते हैं। वास्तविकता यह है कि किसी भी सत् वस्तु का अभाव नहीं हो सकता। जब उसका अनुभव नहीं होता, तब वह अतीतावस्था वाली हो जाती है। इसी प्रकार अनुभूत होने के पूर्व भी वह वस्तु (अनागतावस्था में) रहती ही है। जो वस्तु पहले नहीं रहती, उसकी उत्पत्ति या उपस्थिति कभी नहीं हो सकती। अतीतानागतम्—अतीतश्चानागतश्च तयोः समाहारः अतीतानागतम्, भूतं भविष्यच्च वस्तु, बीती हुई और अभी तक अनुभूत न हुई वस्तु भी। स्वरूपतः अस्ति—क्रमशः अपने अतीत तथा अनागत रूप से विद्यमान अवश्य रहती है। और वर्तमान रूप से वस्तु का विद्यमान रहना तो सर्वविदित ही है। यह कैसे सिद्ध होता है? धर्माणाम्—तत्तद् धर्मों के, वस्तुओं के। अध्वभेदात्—'अध्व' शब्द का अर्थ है 'काल'—**'अध्वशब्दः कालवचनः'**—(त० वै०)। कालभेदाद् एव वस्तुनि भूतभविष्यद्वर्तमानरूपभेदः, न तु तस्य सत्त्वासत्त्वरूपभेदात्। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु के वर्तमान रूप तथा भूत और भविष्यत् रूपों में जो भेद या अन्तर होता है, वह उस वस्तु के वर्तमानकाल में सत् होने और भूतभविष्यत्काल में असत् होने के कारण होता है—ऐसा नहीं समझना चाहिए। वस्तु के तीनों कालों के रूप में जो अन्तर है, वह केवल तत्तत् काल में स्थित उस वस्तु के विशिष्ट रूपों के अन्तर के कारण होता है। वस्तुओं में जो कालभेद होता है, उस भिन्नकालिकता के कारण ही वस्तु के रूपों में अन्तर आ जाता है, न कि वस्तु के कभी होने और कभी न होने के कारण[1]। उदाहरणार्थ—कोई वस्तु वर्तमानकाल में रूपरसगन्धादि गुणों से युक्त दृष्टिगोचर होती है। वही वस्तु अनागत और अतीतावस्था में रूपरसादि से युक्त दृष्टिगोचर नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं है कि अनागत अवस्था में वह वस्तु असत् थी, वर्तमान काल में सत् हो गयी और अतीतावस्था में फिर असत् हो जायेगी अर्थात् सत्ता के कारण उसमें रूपरसादियुक्त रूप से दृष्टिगोचर होने का लक्षण होता है और असत्ता के कारण यह लक्षण नहीं रह जाता। फिर क्या बात है जिसके कारण उसी वस्तु में कभी दिखायी पड़ने और कभी न दिखायी पड़ने वाला अन्तर आ जाता है? इसका उत्तर यह है कि यह भेद या अन्तर वस्तुओं के कालभेद-मात्र का अन्तर है। वस्तु का वर्तमानकाल उसे दृष्टिगोचर या अभिव्यक्त किये रहता है और अतीत तथा अनागत काल उस वस्तु को सर्वसाधारण के लिये अभिव्यक्त या दृष्टिगोचर नहीं रखते। इससे यह सिद्ध हुआ कि वस्तुएँ अतीत और अनागत दशा में भी स्वरूपतः विद्यमान रहती हैं। उनके वर्तमान रूप से उनका अतीत और अनागत रूप भिन्न रहता है और वह भिन्नता उनकी असत्ता के कारण नहीं, प्रत्युत कालभेद के कारण होती है ॥ १२ ॥

---

१. 'नासतामुत्पादो, न सतां विनाशः, किन्तु सतामेव धर्माणामध्वभेदपरिणाम एवोदयव्ययाविति सूत्रार्थः'—त० वै० पृ० ४११।

(भा० सि०)—भविष्यद्व्यक्तिकम् अनागतम्—भविष्यन्ती व्यक्तिरभिव्यक्तिर्यस्य तद् (वस्तु) भविष्यद्व्यक्तिकम्, जिस वस्तु की अभिव्यक्ति आगे होने वाली होती है, वह 'अनागत' कही जाती है। अनुभूतव्यक्तिकम् अतीतम्—पूर्वमेव अनुभूता व्यक्तिरभिव्यक्तिर्यस्य तत् (वस्तु) अनुभूतव्यक्तिकम्, जिस वस्तु की अभिव्यक्ति पहले ही अनुभव की जा चुकी होती है,[1] वह 'अतीत' कही जाती है। स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानम्—अपने व्यापार पर आरूढ अर्थात् अभिव्यक्ति रूपी अपने व्यापार में रत पदार्थ 'वर्तमान' कहा जाता है। त्रयञ्चैतद्वस्तु—अतीत, अनागत और वर्तमान—ये तीनों ही वस्तुएँ। ज्ञानस्य ज्ञेयं—(भवतीति शेषः)—ज्ञान का विषय बनती हैं। आशय यह है कि तीनों स्थितियों में विद्यमान वस्तुओं की जानकारी होती है, इसलिये ये तीनों वस्तुएँ ज्ञान की विषय होती हैं। ज्ञान, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अर्थात् अनुमानलभ्य और शब्दगम्य भी होता है। साधारण लोगों के प्रत्यक्षज्ञान का विषय वर्तमान वस्तुएँ ही बनती हैं। अतीत और अनागत वस्तुएँ तो उनके अनुमान और आगमलभ्य ज्ञान की ही विषय बन पाती हैं। हाँ, त्रिकालदर्शी ऋषियों, मुनियों और योगियों को इन तीनों तरह की वस्तुओं का साक्षात्कार हो जाता है। इसलिये उन्हें 'त्रिकालदर्शी' कहा भी जाता है। यदि भूतकाल और भविष्यत्काल की वस्तुओं अर्थात् अतीत और अनागत वस्तुओं की विद्यमानता किसी न किसी रूप में न हो, तब उनको त्रिकालदर्शी व्यक्ति जान कैसे सकता है? इसलिये यह निश्चित होता है कि अतीत अनागत वस्तुएँ भी विद्यमान रहती ही हैं। **'त्रैकाल्यविषयं च विज्ञानं योगीनाम्।'**—(त० वै०)। **'त्रयमप्येतद्वस्तुस्वरूपसद् यतो योगिनां प्रत्यक्षज्ञानस्य ज्ञेयं विषयः।'**—(यो० वा०)। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यत्—यदि ये तीनों वस्तुएँ स्वरूपतः सत् न होतीं तो। नेदं निर्विषयं ज्ञानम् उदपत्स्यत—विषयाभाववाला यह ज्ञान अर्थात् विषयशून्य यह ज्ञान हरगिज नहीं उत्पन्न हो सकता था। तस्माद्—इसलिये। अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्ति—(वर्तमान की ही भाँति) अतीत और अनागत वस्तुएँ भी अपने-अपने रूप से विद्यमान रहती हैं। इति—यह पद इस तर्क की समाप्ति का सूचक है। किञ्च—और इसके सिवा (एक अन्य प्रबल तर्क भी इसी बात को सिद्ध करता है)। **'अतीतानागतसत्त्वस्वीकारे बीजान्तरमाह'**—(यो० वा०)। भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मणः—भोगं भजतीति भोगभाक् (भोग + √भज् + ण्विः) तस्येदम् (छप्रत्ययान्तम्) भोगभागीयम्, तस्य तथोक्तस्य, भोग करने वाले के योग्य अनुकूल अर्थात् भोगप्रद कर्म का या अपवर्ग को सिद्ध कराने वाले अर्थात् अपवर्गप्रद कर्म का। उत्पित्सु फलम्—(उत् + √पद् + सन् + उः) उत्पन्न होने वाला फल। यदि निरुपाख्यम् इति—यदि निरुपाख्य, अर्थात् उपाख्या (रूप) से

---

१. 'सम्प्रति व्यक्तिर्नास्तीति यावद्'।—त० वै० पृ० ४११।

हीन हो, तात्पर्य यह कि यदि 'असत्' हो। **'निरुपाख्यमसत्'**—(यो० वा०)। तदुद्देशेन—तो उसके लिये, उसके उद्देश्य से। अर्थात्। तेन निमित्तेन—उसके निमित्त या, उसके प्रयोजन से। **'तदुद्देशेनेत्यस्य विवरणं तेन निमित्तेन'**—(यो० वा०)। कुशलानुष्ठानम्—कुशलानां जनानाम् अनुष्ठानम् आचरणम् (कर्तरि षष्ठी), कुशलजनों का अर्थात् योगीजनों के द्वारा किया गया साधनानुष्ठान। न युज्येत—युक्तं न स्यात्, अपार्थमेव भवेदित्याशयः, व्यर्थ ही होता। क्योंकि शशश्रृङ्गवत् असत्फल के लिये प्रयास करना व्यर्थ ही होगा, सार्थक नहीं। इसी तर्क को और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। सतश्च फलस्य—पहले से अनागतरूप में स्थित फल को। वर्तमानीकरणे—'वर्तमान' रूप में लाने में ही, अभिव्यक्त करने में ही। निमित्तम्—भोगभागीय या अपवर्गभागीय धर्मादिरूप निमित्त। समर्थम् (भवतीति शेषः)—समर्थ या सक्षम होता है। न अपूर्वोपजनने—अपूर्ववस्तु अर्थात् असत् वस्तु के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। **'तथा चाव्यक्तावस्थया सतो वर्तमानतायां कारणव्यापार-साफल्यम्। दृष्टं च कारणव्यापारेण सदेवाभिव्यज्यत इति। यथा पाषाणेषु सतामेव प्रतिमापद्मादीनां लौकिकव्यापारेणाभिव्यक्तिमात्रमिति'**।[1] इसी तथ्य का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि। सिद्धं निमित्तम्—वर्तमानं धर्मादिनिमित्तम्, **'सिद्धं वर्तमानमेव निमित्तम्'**—(यो० वा०), अभिव्यक्ति को प्राप्त हुआ अर्थात् वर्तमानावस्था वाला निमित्त। नैमित्तिकस्य—कार्यभूतस्य, सम्पद्यमानस्य फलस्य, साध्यभूत फल के। विशेषानुग्रहणं कुरुते—**'अभिव्यक्तिरूपविशेषावस्थाप्रापणं कुरुते'**—(भा०), अभिव्यक्ति रूप अवस्थाविशेष को प्राप्त करा देता है। यही इतना निमित्त का काम होता है। अपूर्वं न उत्पादयति—वह निमित्त, असत् कार्य या असत् फल को नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि ऐसा कर ही नहीं सकता।

अब सूत्रस्थ 'अध्वभेदाद् धर्माणाम्'—का व्याख्यान किया जा रहा है। धर्मी च—और कोई पदार्थ या वस्तु। अनेकधर्मस्वभावः—अनेके धर्माः एव स्वभावः यस्यासौ तथोक्तः, एक से अधिक धर्मों से युक्त हुआ करता है। धर्माश्च—और (उस धर्मी में रहने वाले) धर्म। अध्वभेदेन—अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीन कालों के भेद से। तस्य—उस धर्मी में। प्रत्यवस्थिताः—(धर्मिणि) प्रत्येकम् (धर्माः) अवस्थिताः, प्रत्येक धर्म उस धर्मी में रहता है। केवल वर्तमान धर्म ही उसमें रहता है और अतीत तथा अनागत उसमें न रहते हों, ऐसा नहीं है। **'प्रत्येकमवस्थानं प्रत्यवस्थितिः'**—(त० वै०)। लेकिन फिर भी एक बड़ा अन्तर इन तीनों धर्मों के स्वरूप में है। उसका प्रतिपादन किया जा रहा है। यथा वर्तमानम्—जैसे वर्तमान धर्म। व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्ति—विशिष्ट अभिव्यक्ति से

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४१२।

सम्पन्न तथा स्वक्रियाकारी रूप वाला होता है। एवञ्च अतीतानागतं वा न—अतीत और अनागत धर्म उस (अभिव्यक्ति-सम्पन्न) स्वरूप वाले नहीं होते। कथर्न्ताह— तो फिर किस प्रकार के स्वरूप वाले होते हैं ? पहले अनागत धर्म का स्वरूप बताते हैं। स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेण अनागतम् अस्ति—अपने व्यंग्यस्वरूप से ही अनागत धर्म स्थित रहता है। भाव यह है कि अनागत धर्म का स्वरूप उस समय तक अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु आगे आने वाले क्षणों में अभिव्यक्त हो सकने वाला होता है। अर्थात् उसका स्वरूप अभिव्यंग्यमात्र होता है। इसी प्रकार। स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेण अतीतम् इति—और अपने पूर्वानुभूत अभिव्यक्ति वाले स्वरूप से अतीत धर्म रहता है। अर्थात् बीती हुई अभिव्यक्ति से सम्पन्न स्वरूप से अतीत धर्म स्थित रहता है। इसलिये वर्तमानकालिक धर्म या पदार्थ से इन दोनों धर्मों या पदार्थों का अन्तर यह है कि। वर्तमानस्यैव अध्वनः—वर्तमान धर्म के समय में **'षष्ठी चात्र सप्तम्यर्थे'**—(यो० वा०), यहाँ 'वर्तमानस्य एव अध्वनः' में प्रयुक्त षष्ठी विभक्ति 'सप्तमी' के अर्थ में है। स्वरूपव्यक्तिः इति—धर्मी के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। अतीतानागतयोरध्वनोः—अतीत और अनागत धर्मों की स्थिति के समय। सा—उस-उस स्वरूप की अभिव्यक्ति। न भवतीति—नहीं हुआ करती। धर्मी के इन त्रिविध धर्मों में से जब एक का अवसर उपस्थित रहता है, तब शेष दो धर्म उसी धर्मी में समन्वित रहते हैं। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तब उनकी सत्ता भी सत्कार्यवादी के सिद्धान्त की दृष्टि से खतरे में पड़ जायेगी। एकस्य च अध्वनः समये—और धर्मी के एक धर्म की विद्यमानावस्था में। द्वौ अध्वानौ—शेष दो धर्म। धर्मिसमन्वागतौ भवत एव—धर्मी में समनुगत रहते ही हैं। ऐसा नहीं है कि धर्मी में न रहते हुए ये धर्म नये सिरे से उत्पन्न हो जाते हों। सत्कार्यवाद का जो नियम धर्मी के साथ लागू होता है, वही नियम धर्मों के साथ भी घटित किया गया है। इति—इस प्रकार से। त्रयाणाम् अध्वनाम् (अपि)—इन तीनों धर्मों का भी। न अभूत्वा भावः—**'अभूत्वा अस्थित्वा'**—(यो० वा०), 'असत् से सत् होना', नहीं हुआ करता।

इस सूत्र और भाष्य की स्थापनाओं से यह आशङ्का निर्मूल हो गयी कि वासनाओं का अभाव कैसे हो सकेगा ? निर्गलितार्थ यह हुआ कि 'वासनाओं की अतीतावस्था प्राप्त हो जाने रूप का ही अभाव' इसके पूर्ववर्ती सूत्र में प्रतिपादित किया गया था, असत्ता रूप का नहीं। और इस प्रकार के वासनाभाव के द्वारा संसारचक्र से मुक्ति मिलने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं रह जाती ॥ १२ ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

व्यक्त और सूक्ष्म (अवस्था वाले) वे (सब धर्म) त्रिगुणात्मक ही होते हैं ॥ १३ ॥

ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः[1]। सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः। तथा च शास्त्रानुशासनम्—

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्'॥ इति ॥१३॥

तीनों अध्वाओं वाले धर्म वर्तमान (होने पर) अभिव्यक्त स्वरूप वाले और अतीत तथा अनागत (होने पर) सूक्ष्म अर्थात् अव्यक्त स्वरूप वाले रहते हैं। यह सारा (धर्मसमूह) गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) का विशेष-विशेष (प्रकार का) संस्थानमात्र है, इसलिये वस्तुतः गुणरूप ही है। और वैसा ही शास्त्र का कथन भी है, 'गुणों का पारमार्थिक रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। जो (रूप) दृष्टिगोचर होता है, वह (रूप) माया की भाँति नश्वर है'॥ १३॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—व्यक्तसूक्ष्माः—व्यक्ताश्च ते सूक्ष्माश्चेति व्यक्तसूक्ष्माः, अपने वर्तमान अध्वा में अभिव्यक्त होने वाले और अतीत तथा अनागत अध्वाओं में सूक्ष्म अर्थात् अव्यक्त रहने वाले। ते—वे सभी धर्मी अर्थात् पदार्थ। गुणात्मानः—गुणाः सत्त्वरजस्तमसाख्या एव आत्मा शरीरं येषां ते तथोक्ताः, सत्त्व, रजस् और तमस्—इन्हीं तीनों गुणों से बने हुए शरीर वाले होते हैं। भाव यह है कि जितने पदार्थ जगतीतल में दृष्टिगोचर होते हैं, स्वरूपतः सभी त्रिगुणात्मक ही हैं। तीनों गुणों से अतिरिक्त किसी पदार्थ के द्वारा उनका वर्तमान या अतीत या अनागत स्वरूप नहीं बना करता। इससे दो बातें निश्चित हुईं। पहली तो यह है कि अतीत और अनागत अवस्थाओं में भी पदार्थ केवल काल्पनिक या वैचारिक स्थिति में न रह कर सत्त्वादि त्रिगुणों से ही बना हुआ रहता है। दूसरी यह कि नाना रूपों में अभिव्यक्त होता हुआ भी समस्त जगत् केवल त्रिगुणों का ही विचित्र संघटनमात्र है। दृश्यमान सारा वैचित्र्य गुणों की भिन्न-भिन्न मात्रा में होने वाले विचित्र अवयवसन्निवेश से ही लब्धसत्ताक है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं—**'ते धर्मा यद्यपि नित्यास्तथाऽपि कालभेदेन व्यक्ताः सूक्ष्मा वा भवन्तु सर्व एव गुणात्मानः सत्त्वादिगुणमात्रस्वरूपा एव भवन्ति।'** (यो० वा०)॥ १३॥

(भा० सि०)—ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्माः—सूत्र में आये हुए 'ते' पद का व्याख्यान कर रहे हैं। वे अर्थात् वर्तमान, अतीत और अनागत—इन तीनों कालों वाले ये धर्म अर्थात् सारे दृश्यमान पदार्थ। वर्तमानाः—वर्तमान अध्वावाले होकर।

१: 'षडविशेषरूपाः' इत्यधिकः पाठः कुत्रचित्।

व्यक्तात्मानः—अभिव्यक्त स्वरूप वाले होते हैं। और चूँकि (पुरुषतत्त्व के अतिरिक्त) जगत् के सारे दृश्यमान पदार्थ इन्हीं तीन अध्वाओं वाले होते हैं, इसलिये उन सबके सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि। सर्वमिदम्—यह सारा दृश्यमान विश्व (**इदं दृश्यमानम्**—त० वै०)। गुणानाम्—सत्त्वादि तीनों गुणों का। सन्निवेशविशेषमात्रम्—विशिष्टाः सन्निवेशाः अवयवसंघाताः, अवयवसंस्थानानि इति सन्निवेशविशेषाः, त एव इति सन्निवेशविशेषमात्रम्। भिन्न-भिन्न मात्राओं में त्रिगुणों के ही सम्मिश्रण से भिन्न रूपों में दृश्यमान होते हैं। इति—इस कारण से। परमार्थतः—वस्तुतः, अन्तिम तथ्य के रूप में। गुणात्मानः—सारे धर्म गुणरूप ही हैं। **'न त्रैगुण्यातिरिक्तमेषामस्ति कारणम्, वैचित्र्यन्तु तदाहितानादिक्लेशवासनाऽनुगतवैचित्र्याद् यथोक्तं वायुपुराणे 'वैश्वरूपात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः'—इति'**।[1] तथा च शास्त्रानुशासनम्[2]—पुरातन योगशास्त्र का अनुशासन अर्थात् वचन भी इसी प्रकार का है। गुणानाम्—इन सत्त्वादि गुणों का। परमं रूपम्—पारमार्थिक रूप या मूल रूप, जो कि पदार्थों की अतीत और अनागत अवस्थाओं में भी विद्यमान रहता है, **'परमं रूपं मूलरूपमव्यक्तावस्था'**—(भा०)। दृष्टिपथम्—दृश्यमानतां दृष्टिगोचरताम्। न ऋच्छति—न गच्छति, दृष्टिगोचर नहीं होता। आशय यह है कि गुणों का जो अव्यक्त स्वरूप है, वही उनका मूल रूप है और वही नित्य या पारमार्थिक रूप है। यत्तु—और गुणों का जो (व्यक्त) रूप। दृष्टिपथं प्राप्तम्—दृष्टिगोचरता को प्राप्त होता है, दिखायी पड़ता है, व्यक्त होता है। तत्—वह रूप। मायेव—माया इव, माया के समान **'मायेव न तु माया'**—(त० वै०)। सुतुच्छकम्—विनाशि, क्षणभङ्गुर है। तात्पर्य यह है कि वह अव्यक्त रूप में परिणत हो जाता है। **'यथा हि मायाऽह्नायैवान्यथा भवति एवं विकारा अप्याविर्भावतिरोभावधर्माणः प्रतिक्षणमन्यथा प्रकृतिर्नित्यतया मायाविधर्मेण परमार्थेति'**।[3] इस उक्ति का अभिप्राय यह है कि गुणों के दो रूप होते

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४१४।

२.—यहाँ पर वाचस्पति मिश्र, भास्वतीकार तथा पातञ्जलरहस्यकार ने 'शास्त्र' शब्द से 'षष्टितन्त्र' नामक पुरातन सांख्यशास्त्र का परामर्श स्वीकार किया है—

(क) 'अत्रैव षष्टितन्त्रस्यानुशिष्टिः।'—त० वै० पृ० ४१४।

(ख) 'षष्टितन्त्रानुशासनमत्र गुणानामिति।'—भा० पृ० ४१४।

(ग) 'षष्टितन्त्रस्य सांख्यशास्त्रस्य।'—पा० र० पृ० ४१४।

किन्तु शाङ्करभाष्य की 'भामती' टीका में उद्धृत इसी श्लोक को वाचस्पति मिश्र ने वहाँ पर वार्षगण्यकृत स्वीकार किया है।

३. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४१५।

हैं—एक 'अव्यक्त प्रकृति' और दूसरा 'व्यक्त विकृति। इनमें अन्यथाभाव को प्राप्त होने वाला दूसरा रूप माया के समान होता है ॥ १३ ॥

यदा तु सर्वे गुणाः, कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियम् इति ?—

जब सभी पदार्थ (तीनों) गुण ही हैं, (तो उन पदार्थों को) शब्द एक है और इन्द्रिय एक है—यह कैसे (कहा जाता) है ?—

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणाम के एकत्व के कारण वस्तु (भूत गुणों) का एकपदार्थत्व होता है ॥ १४ ॥

प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम्, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति। शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवी-परमाणुस्तन्मात्रावयवः। तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामा-न्यमेकविकारारम्भः समाधेयः। 'नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः, अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमि'ति अनया दिशा ये वस्तुस्वरूप-मपह्नुवते, 'ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्ती'ति य आहुः, ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः ॥ १४ ॥

ज्ञान, क्रिया तथा स्थिति के स्वभाव वाले, ग्रहणात्मक गुणों का इन्द्रियरूप से हुआ एक परिणाम 'शब्द' (नामक) विषय (कहा जाता) है। मूर्तिसजातीय शब्दादितन्मात्राओं का एक परिणाम तन्मात्रावयवभूत पृथिवीपरमाणु है और उनका एक परिणाम गौ, वृक्ष, पर्वत इत्यादि—पृथिवी है। अन्य भूतों में भी स्नेह, उष्णता, प्रणामित्व तथा अवकाशदान इत्यादि को लेकर सजातीय एक विकार का आरम्भ होता है—इस प्रकार समाधान करना चाहिये। 'विज्ञानरहित अर्थ (सत्) नहीं है, बल्कि अर्थरहित तथा स्वप्नादि में कल्पित ज्ञान ही सत् है'—इस प्रकार से जो वादी (बाह्य) पदार्थ की सत्ता का अपलाप करते हैं, (और जो) यह कहते हैं कि—'(बाह्य) वस्तु ज्ञान की केवल कल्पना है, स्वाप्नपदार्थों के समान (प्रतीतिमात्रसत्) है, परमार्थतः असत् है।' वे लोग अप्रामाणिक विकल्पित ज्ञान के आधार पर वस्तु के स्वरूप को अस्वीकृत करके उस प्रकार से (अपनी बदौलत) उपस्थित उसी वस्तु को ही असत् सिद्ध करते हुए भला कैसे विश्वसनीय होंगे ? ॥ १४ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—यदा तु सर्वे गुणाः—जब विश्व के सकल पदार्थ त्रिगुणों का ही परिणाम होने के कारण अन्ततः सत्त्व, रजस् और तमस् नामक 'तीन' गुण हैं। कथम्—तो फिर कैसे यह कहा जाता है कि। एकः शब्दः—'शब्द' नामक पदार्थ एक है। एकम् इन्द्रियम्—और उससे भिन्न 'इन्द्रिय' नाम का पदार्थ एक है। यहाँ पर शङ्का का बीज यह है कि जब प्रत्येक पदार्थ सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों से बना है। न तीन से कम गुणों वाला कोई पदार्थ है और न अधिक। तो फिर पदार्थों में त्रित्व का व्यवहार होना चाहिये; एकत्व का नहीं। जैसे—शब्द नामक विषय में तीन गुण हैं तो 'शब्द' नामक विषय तीन अर्थात् त्रिसंख्याक हुआ। उसको एक पदार्थ कैसे कहा जाता है? उसे तीन पदार्थ क्यों नहीं कहते हैं? इसी तरह किसी भी इन्द्रिय को एक इन्द्रिय क्यों कहते हैं? त्रिगुणात्मक होने के कारण उसे तीन इन्द्रिय क्यों नहीं कहते? इस शङ्का के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

'भवतु त्रैगुण्यस्येत्थं परिणामवैचित्र्यमेकस्तु परिणामः पृथिवीयमिति वा कुतः? त्र्यात्मनः एकत्वविरोधादित्याशङ्क्य सूत्रमवतारयति'।[1] विज्ञानभिक्षु भी शङ्का का यही स्वरूप प्रतिपादित करते हैं— **'यदि सर्वे विकारा अनेकगुणमात्रास्तदा कथमेकं शब्दतन्मात्रम्, एकं चक्षुरिति लोकशास्त्रयोर्व्यवहार इति शङ्कावाक्यार्थः।'**[2] इति—इस शङ्का के निराकरणार्थ वर्तमान सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

(सू० सि०)—परिणामैकत्वात्—परिणामस्यैकत्वं तस्मात् तथोक्ताद्, (सभी कार्योत्पत्तियों के समय त्रिगुणों के) परिणाम के एक होने के कारण। वस्तुतत्त्वम्—वस्तूनां (परिणामभूतानां वस्तूनाम्) परिणतपदार्थानां (**'गुणानाम्'**—यो० वा०) तत्त्वं तादृशत्वमर्थात् एकत्वम्, त्रिगुणात्मक पदार्थों का तादृशत्व अर्थात् 'एकत्व' व्यवहार सिद्ध होता है। **'एवं बहुत्वेऽपि गुणानां परिणामैकत्वम्'**—(त० वै०)। तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रत्येक पदार्थ वस्तुतः त्रिगुण ही है, किन्तु फिर भी वह त्रिगुणों के परिणामी स्वभाव का प्रतिफल है, क्योंकि त्रिगुण तो अपने स्वरूप में स्थिर हैं नहीं। वे तो प्रतिक्षण परिणमनशील हैं 'चलञ्च गुणवृत्तम्'। इसलिये यद्यपि गुण तीन या अनेक हैं, तथापि उनके प्रत्येक परिणाम का प्रतिफल कोई एक ही पदार्थ होगा—चाहे वह शब्दतन्मात्र हो, चाहे रूपतन्मात्र और चाहे रसतन्मात्र—वह परिणाम तो 'एक' ही है, अनेक नहीं, अतः इस परिणाम की 'एक' संख्या के अनुरोध से परिणत पदार्थों में 'एकत्व' का व्यवहार उत्पन्न होता है। कार्यभूत तन्मात्र, इन्द्रिय,

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४१५।

२. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४१५।

पञ्चभूत आदि परिणत पदार्थों के समवायिकारण हैं। इनमें से हर एक की अभिव्यक्ति के पूर्व होने वाला 'त्रिगुणपरिणाम' अपने कार्य के विषय में 'एक' ही होता है। उसी का फलरूप वह कार्य वर्तमानावस्था को प्राप्त करता है। इन कार्यों में एकत्व का फलरूप वह कार्य वर्तमानावस्था को प्राप्त करता है। इन कार्यों में एकत्व का व्यवहार इस असमवायिकारण की एकत्वसंख्या के ही अनुरोध से होता है, समवायिकारणभूत गुणों के नानात्व का व्यवहार कार्य में नहीं होता। **'परिणामस्यैकत्वाद् वस्तूनां गुणानां तत्त्वमेकत्वमिति योजना। परमार्थतो नानात्वेऽपि व्यावहारिकेणानित्येन परिणामरूपेण वस्तूनां गुणानामेकत्वव्यवहार इत्यर्थः'**[1] ॥ १४ ॥

(**भा० सि०**)—प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां—प्रख्याशीलः प्रकाशस्वभावः सत्त्वगुणः, क्रियाशीलः प्रवृत्तिस्वभावः रजोगुणः, स्थितिशीलः गुरुत्वाद् तमोगुणः अतएव प्रख्या च क्रिया च स्थितिश्च शीलं येषां तेषां तथोक्तानाम्, क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति रूपी शीलवाले सत्त्व, रजस् और तमोगुणों का। ग्रहणात्मकानाम्—**'सत्त्वप्रधानतया प्रकाशात्मनामहङ्कारावान्तरकार्याणाम्।'**—(त० वै०), जो कि विषयों का ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। करणभावेन—(ग्रहणं) क्रियतेऽनेनेति करणम्, तस्य भावस्तेन, ग्रहण करने वाले रूप से अर्थात् इन्द्रिय के रूप से। एकः परिणामः—एक परिणाम। श्रोत्रमिन्द्रियम्—कर्णेन्द्रिय होती है। अन्य इन्द्रियाँ भी इसी प्रकार इन ग्रहणात्मक त्रिगुणों की करण रूप से एक-एक परिणाम हैं। इसके बाद 'सूक्ष्मभूत' रूपी एक परिणाम प्रदर्शित कर रहे हैं। ग्राह्यात्मकानाम्—**'तेषामेव गुणानां तमःप्रधानतया जडत्वेन ग्राह्यात्मकानाम्'**—(त० वै०)। विषयरूप से गृहीत होने की भी जिनमें क्षमता होती है, ऐसे इन त्रिगुणों का। शब्दभावेन—'शब्दतन्मात्र' नामक विषय के रूप से। एकः परिणामः—एक परिणाम। शब्दो विषय इति—'शब्दतन्मात्र' नामक विषय होता है। **'एतदपि रसादितन्मात्राणामुपलक्षणम्।'**—(यो० वा०)। इसके पश्चात् स्थूलभूत रूप एक परिणाम प्रदर्शित कर रहे हैं। मूर्तिसमानजातीयानां शब्दादीनाम्—**'मूर्तिः काठिन्यं पृथिवीत्वमिति यावत् मूर्त्या सजातीयानां शब्दादितन्मात्राणाम्।'**—(यो० वा०)। पृथिवीत्व के सजातीय शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं का। पृथिवीपरमाणुः एकः परिणामः—'पृथिवीपरमाणु' नामक एक परिणाम होता है। यह 'परमाणु' वैशेषिकों का परमाणु नहीं है, प्रत्युत जिसे वे लोग 'त्रसरेणु' कहते हैं और जो सांख्यशास्त्र में 'भूत-सूक्ष्म' शब्द के द्वारा व्यवहृत हुआ है, स्थूलद्रव्य की उस परमसूक्ष्मावस्था को योगशास्त्र में 'परमाणु' माना गया है। परिणाम में यह तन्मात्राओं से बड़ा और दृश्यमान पृथिवी इत्यादि द्रव्यों से बहुत सूक्ष्म होता है।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४१६।

तेषाञ्चैकः परिणामः—और उनका अर्थात् पार्थिवपरमाणु रूप में परिणत त्रिगुणों का। एक परिणामः—एक परिणाम है। पृथिवी—'पृथिवी' नामक महाभूत। यह पृथिवी नामक महाभूत किस-किस रूप में दृष्टिगोचर होता है? इसका परिगणन कर रहे हैं। गौः वृक्षः पर्वत इत्येवमादिः—गाय का शरीर, वृक्ष, पहाड़ इत्यादि पदार्थ। एवम्—इसी प्रकार। भूतान्तरेषु अपि—जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक भूतों के विषय में भी। स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानानि उपादाय—जैसे पृथिवी के विषय में 'मूर्ति' धर्म को लेकर विकारारम्भ होता है, वैसे ही जलादि के विषय में क्रमशः स्नेह, उष्णता, वहनशीलता और अवकाशप्रदान इत्यादि को लेकर। सामान्यम्—**'सजातीयानामनेकेषां धर्मभूतः'**—(यो० वा०), अनेक सजातीय धर्मों का सम्मिलित। एकविकारारम्भः—एक परिणाम होता है। समाधेयः—उपपादनीयः, ऐसा समझना चाहिए। इन जलीय इत्यादि परमाणुओं के क्रम से जलादि महाभूतों का परिणत होना स्पष्टतः ज्ञात ही है। त्रिगुणात्मक पदार्थों की सत्ता अलग-अलग, एक-एक वस्तु के रूप में सिद्ध होने और उसी रूप में उनके व्यवहृत किये जाने की उपपत्ति दे चुकने के पश्चात् भाष्यकार विज्ञानवादियों की इस मान्यता का खण्डन करते हैं कि 'बाह्य वस्तुओं की अलग से कोई सत्ता नहीं है, प्रत्युत वे ज्ञान की प्रतिच्छायामात्र हैं।' नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः—विज्ञानस्य विसहचरः साहचर्यरहितः असम्बन्धितः तथोक्तः अर्थः, जडपदार्थ सत् नहीं हैं। विज्ञानवादियों की मान्यता के अनुसार चित्त ज्ञानरूप ही है, ज्ञान का आश्रय नहीं। इस मत में प्रत्येक क्षण में उत्पद्यमान ज्ञान ही विज्ञान, चित्त, ज्ञान और प्रत्यय कहा जाता है। इसलिये विज्ञानवादी विचारधारा का खण्डन करते समय सूत्रकार और भाष्यकार ज्ञान, विज्ञान और चित्त शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में करते हैं। अस्ति तु ज्ञानम् अर्थविसहचरम्—किन्तु ज्ञान या चित्त अर्थ से असम्बन्धित होकर रहता है, इससे सिद्ध होता है कि जड़ पदार्थों की निरपेक्ष सत्ता नहीं है और ज्ञान की अर्थनिरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता है। **'तथा हि जडस्यार्थस्य स्वयमप्रकाशत्वान्नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः। साहचर्यं सम्बन्धः, तदभावो विसहचरः विरभावार्थः विज्ञानसम्बन्धी नास्तीति व्यवहारयोग्य इत्यर्थः। अस्ति तु विज्ञानमर्थविसहचरं तस्य स्वयम्प्रकाशत्वेन स्वगोचरास्तिताव्यवहारे कर्त्तव्ये जडमर्थम्प्रत्यपेक्षाभावात्। तदनेन वेद्यत्वसहोपलम्भनियमौ सूचितौ विज्ञानवादिना'**।[1]

स्वप्नादौ कल्पितम् इत्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते—जो लोग जड़ वस्तुओं की स्वरूपसत्ता को इस रीति से अस्वीकृत करते हैं कि ये वैसे ही कल्पितमात्र है, जैसे स्वप्नादि में स्वरूपतः सत् न होने पर भी पहाड़, वृक्ष, घटपटादि जडपदार्थ कल्पित होने मात्र से स्वरूपसत् भासित होने लगते हैं। भाष्य के इस वाक्य की

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४१८।

शब्दार्थयोजना इस प्रकार की जानी चाहिए। स्वप्नादौ कल्पितम्—स्वप्नादिकाले कल्पितमात्रम्। इत्यनया दिशा—इत्येवंरीत्या। ये—वैनाशिकाः, विज्ञानवादिनो बौद्धाः। वस्तुस्वरूपम्—जडपदार्थस्य स्वरूपम्। अपह्नुवते—अपलपन्ति, स्वप्नादि-कल्पितपदार्थ इव सर्वे इमे जडपदार्थाः निःस्वभावाः, कल्पितसद्भावा एव इत्येवं मन्यन्त इत्यर्थः। पदार्थों की इस कल्पितमात्रस्वरूपता का ही, अधिक स्पष्टीकरण किया जा रहा है। **'कल्पितत्वं विशदयति 'ज्ञानपरिकल्पना' इति'**—(त० वै०)। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य सभी (जड) पदार्थ। ज्ञानपरिकल्पनामात्रम्– चित्त की कल्पनामात्र हैं। स्वप्नविषयोपमम्—स्वप्नकाल में अनुभूयमान वस्तुओं की भाँति निर्विषय अर्थात् निःस्वभाव होते हैं। न परमार्थतः अस्ति— उनकी पारमार्थिक या वास्तविक सत्ता नहीं होती, वे स्वयं सद्रूप नहीं हैं। इति य आहुः—ऐसा जो कहते हैं, मानते हैं। ते—वे लोग। **'ते कथं श्रद्धेयवचनाः स्युरिति सम्बन्धः'**—(त० वै०)। वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य—वस्तु के स्वरूप को छोड़कर, परिहृत करके। तदेव अपलपन्तः—वस्तु की सत्ता का ही खण्डन करते हुए वे वैनाशिक लोग। कथं श्रद्धेयवचनाः स्युः— भला कैसे उनकी बातों के प्रति आदर किया जा सकता है? अर्थात् कभी नहीं किया जा सकता। इस मत के खण्डन का आधार निरूपित किया जा रहा है। (१) तथेति स्वमाहात्म्येन प्रत्युपस्थितम् इदं वस्तु—तथा इति तेन प्रकारेण **'यथा यथाऽव-भासत इदङ्कारास्पदत्वेन तथा तथा स्वयमुपस्थितं न तु कल्पनाकल्पितं विज्ञानविषयता-पन्नं, स्वमाहात्म्येनेति कारणत्वं विज्ञानं प्रत्यर्थस्य दर्शयति।'**—(त० वै०)। स्वकीयरूपेण, स्वमाहात्म्येन स्वकीयसत्तायाः महिम्ना स्वसत्त्वात्वेनैव न तु इन्द्रियादि-दोषेण इन्द्रियसन्निकर्षादिकाले प्रत्युपस्थितं बुद्धयारूढं ज्ञायमानं इदं विमतं वस्तु, विषयभूतः जडपदार्थः तत्, अपने उस लोकप्रसिद्ध स्वरूप से अपनी सत्ता के ही कारण बुद्धि पर आरूढ़ होने वाली इस विवादास्पद वस्तु अर्थात् जडपदार्थ को। (२) अप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन—अप्रामाणिक कल्पित ज्ञान अर्थात् स्वप्नकालिक ज्ञान के दृष्टान्त के बल से। वस्तुस्वरूपम् उत्सृज्य—वस्तुनः सद्रूपं बाधित्वैव, **'उपप्लुतं कृत्वा'**—(त० वै०), वस्तु की सद्रूपता की परवाह न करके। तदेव—वस्त्वेव, उस वस्तु का ही। अपलपन्तः—अपलापं कुर्वन्तः, प्रत्याख्यान करने वाले उन लोगों की बातों पर कैसे श्रद्धा की जा सकती है? स्वाप्नपदार्थों का अनुभव तो निद्रादि दोष के कारण और जाग्रदवस्था में अनुभूत पदार्थों की भावितस्मर्तव्यस्मृति से होता है, अतः जाग्रद्दशा में स्वमाहात्म्येन अनुभूयमान बाह्य पदार्थों की स्वप्न में अनुभूयमान पदार्थों से समता नहीं हो सकती। इसलिये यह दृष्टान्त विषम है। इस विषम दृष्टान्त (False Analogy) के बल पर बाह्य पदार्थों की सत्ता का अपलाप हरगिज नहीं किया जा सकता॥ १४॥

कुतश्चैतदन्याय्यम् ?—

यह बात (बाह्य पदार्थों को चित्त की परिकल्पनामात्र मानना) और क्यों न्यायविरुद्ध है ?—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तु के एक होने पर (भी) ज्ञानों के भिन्न होने के कारण इन (वस्तु और ज्ञान) दोनों का मार्ग (अस्तित्व) अलग-अलग है ॥ १५ ॥

बहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणम्। तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम्। कथम्? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवति, अधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानम्, अविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानम्, सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति। कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम्? न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः। तस्माद् वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः। नानयोः सङ्करगन्धोऽप्यस्तीति। सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं, चलञ्च गुणवृत्तमिति धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसम्बध्यते, निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनात्मना हेतुर्भवति ॥ १५ ॥

अनेक ज्ञानों का आलम्बन (विषय) बनी हुई एक ही वस्तु (उन सभी ज्ञानों के लिये) समान होती है। वह वस्तु, न तो (उनमें से) किसी एक ज्ञान के द्वारा कल्पित (रूप से स्थित) होती है और न अनेक ज्ञानों से कल्पित होती है, बल्कि स्वयं अपने रूप से स्थित रहती है। क्यों ? उस वस्तु के एक ही रहने पर (तद्विषयक) ज्ञानों का भेद होने के कारण। एक ही वस्तु से चित्त को धर्मसंस्कारों की अपेक्षा से उसी (एक वस्तु) से सुखात्मक अनुभव होता है, अधर्म (संस्कारों) की अपेक्षा से उसी (एक वस्तु) से दुःखात्मक अनुभव होता है। अविद्या की अपेक्षा से उसी (एक वस्तु) से मोहात्मक अनुभव होता है और तत्त्वदर्शन की अपेक्षा से उसी (एक वस्तु) से औदासीन्यात्मक अनुभव होता है। (अब बताइए) वह (वस्तु) किस (मनुष्य) के चित्त से परिकल्पित हुई है ? और अन्य (मनुष्यों) के चित्त के द्वारा परिकल्पित वस्तु से अन्य (मनुष्य) के चित्त की उपरक्तता भी ठीक नहीं है। इसलिये ग्राह्यत्व और ग्रहणत्व के भेद से भिन्न, वस्तु और ज्ञान का मार्ग (अस्तित्व) अलग-अलग होता है। इन (वस्तु और ज्ञान) में परस्पर सङ्कीर्ण होने का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। और साङ्ख्यपक्ष में तो वस्तु त्रिगुणात्मक (सत्) होती है। गुणों का स्वभाव परिणमनशील होता है, इसलिये धर्मादिनिमित्तों की अपेक्षा से (वह

वस्तु लोगों के) चित्तों से सम्बन्धित होती है । और (धर्मादि) निमित्तों के अनुरूप उत्पन्न होने वाले (सुखदुःखात्मक) अनुभवों का उस-उस रूप से कारण बनती है ॥ १५ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—विज्ञानवादी मतवाद का खण्डन यद्यपि १४वें सूत्र के भाष्य में किया गया है, किन्तु सूत्रकार की युक्तियाँ इस सम्बन्ध में अभी तक सामने नहीं आयी थीं । उनकी अवतारणा करते हुए भाष्यकार कहते हैं । कुतश्च—कस्माच्च कारणात्, और किस कारण से । एतद्—यह मतवाद कि **'ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्ति ।'** अन्याय्यम्—न्यायः युक्तिः तदनपेतम् (न्याय + यत्) न्याय्यम्, युक्तिसङ्गतम्, न तथेति अन्याय्यं युक्तिविरुद्धम्, सर्वथा असंगत, युक्ति-विरुद्ध है । इस बात को सिद्ध करने वाला सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(सू० सि०) इस सूत्र में सूत्रकार वस्तु की ज्ञाननिरपेक्ष सत्ता सिद्ध करने का उपक्रम कर रहे हैं । वस्तुसाम्ये—वस्तुनः साम्यम् एकत्वं वस्तुसाम्यं तस्मिन्, वस्तु के एक होने पर अर्थात् एक ही वस्तु के विषय में । चित्तभेदात्—चित्तानां ज्ञानानां भेदः भिन्नत्वम् अनेकत्वं चित्तभेदस्तस्मात् हेतोः, ज्ञानों की भिन्नता अर्थात् अनेक ज्ञान होने से । यह सिद्ध होता है कि । तयोः—**'अर्थज्ञानयो'**—(त० वै०), वस्तु और ज्ञान दोनों का । पन्थाः—**'मार्गोऽवस्थितिरित्यर्थः'**—(भा०), **'स्वरूपभेदोन्नयन-वर्त्म'**—(यो० वा०) रास्ता अर्थात् अस्तित्व, सत्ता । विभक्तः—**'अत्यन्तभिन्नः'**—(भा०), **'पृथगेव'**—(यो० वा०), अलग-अलग है । कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु और विज्ञान दोनों का परस्परनिरपेक्ष अस्तित्व निश्चित है । **'यन्नानात्वे यस्यैकत्वं तत्ततोऽत्यन्तं भिद्यते यथा चैत्रस्य ज्ञानमेकं भिन्नेभ्यो देवदत्तविष्णुभिन्नमैत्रप्रत्ययेभ्यो भिद्यते, ज्ञाननानात्वेऽपि चार्थो न भिद्यते इति भवति विज्ञानेभ्योऽन्यः अभेदश्चार्थस्य ज्ञानभेदेऽपि प्रमातॄणां परस्परप्रतिसन्धानादवसीयते ।'**—(त० वै०) ॥ १५ ॥

(भा० सि०)—बहुचित्तावलम्बनीभूतम्—बहुत चित्तों का अवलम्बन अर्थात् विषय बना हुआ । एकं वस्तु—कोई भी एक पदार्थ । साधारणम्—भवतीति शेषः, समानं धारणं यस्य तादृशं भवति, समान रूप से धारण किया जाता है, अर्थात् अनेक ज्ञानों का समान रूप से विषय बनता है । तत् खलु—और वह वस्तु या पदार्थ । न एकचित्तपरिकल्पितम्—न तो उन ज्ञानों में से किसी एक ज्ञान के द्वारा परि-कल्पित स्वरूप वाला है । नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितम्—और न ही उन अनेक ज्ञानों के द्वारा कल्पित स्वरूप वाला है । किन्तु—प्रत्युत, बल्कि । स्वप्रतिष्ठम्—स्वस्मिन् प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत्, अपने निजी स्वरूप में स्थित रहता है । **'नैकमात्रीयपुरुष-चित्तात्मकं तथा नानेकपुरुषीयचित्तात्मकमपि तु स्वप्रतिष्ठं चित्तातिरेकेणैव स्थित-**

मित्यर्थः' ।[1] कथम्—यह कैसे सिद्ध हुआ ? इसका उत्तर दिया जा रहा है। वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्—वस्तु के एक रहने पर भी, उसको विषय बनाने वाले ज्ञानों के अनेक होने के कारण। अब इस पुरुष के चित्त को। धर्मापेक्षं सुखज्ञानम्—धर्मरूपी संस्कारों की अपेक्षा से सुखानुभव होता है। तत एव—उसी पदार्थ से। अधर्मापेक्षं दुःखज्ञानम्—अधर्मरूपी निमित्त की अपेक्षा से दुःखात्मक अनुभव होता है। तत एव—और उसी पदार्थ से। अविद्यापेक्षं मूढज्ञानम्—अविद्यारूपी निमित्त की अपेक्षा से मोहात्मक अनुभव होता है। तत एव—और उसी वस्तु से। सम्यग्दर्शनापेक्षम्—यथार्थ दृष्टि की अपेक्षा से। माध्यस्थ्यज्ञानम्—'माध्यस्थ्य' पद का अर्थ है, मध्य में स्थित होना अर्थात् किसी भी कोटि में आसक्त न होना, सर्वथा उदासीन रहना, निर्लिप्त होना। तत्त्वज्ञान रूपी निमित्त की अपेक्षा से निर्लेपात्मक अनुभव होता है। इति—इस प्रकार से विषयभूत एक ही पदार्थ के रहने पर भी धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले अनुभव सुखात्मक, दुःखात्मक, मोहात्मक और निर्लेपात्मक रूप से भिन्न-भिन्न होते हैं।

कस्य चित्तेन तत्परिकल्पितम्—यह एक पदार्थ ऊपर कहे गये चार प्रकार के अनुभवों वाले लोगों में से किस अनुभव वाले पुरुष के चित्त से कल्पित हुआ है ? अर्थात् किसी एक से नहीं। और यदि वस्तु को किसी एक चित्त से कल्पित हुई मान भी लिया जाये तो सबसे बड़ी अनुपपत्ति यह होगी कि। अन्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेन—किसी दूसरे चित्त के द्वारा कल्पित हुई वस्तु से। अन्यस्य चित्तोपरागश्च न युक्तः—अन्य जन के चित्त का उपरक्त होना संभव है। उससे तो उसी वस्तु की कल्पना करने वाले चित्त का ही उपरक्त होना युक्तिसंगत है। जैसे—स्वप्नकाल में एक चित्त के द्वारा कल्पित समस्त पदार्थ केवल उसी चित्त को उपरक्त करते हैं, अन्य प्राणियों के चित्तों को नहीं। तस्माद्—इसलिये यह सिद्ध हुआ कि। ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोः—ग्राह्य और ग्रहण के भेद से परस्पर भिन्न। वस्तुज्ञानयोः—वस्तु और ज्ञान का। आशय यह है कि 'वस्तु' ग्राह्य है और'ज्ञान' उसे गृहीत करने का साधन अर्थात् ग्रहण है। इस ग्राह्यरूपत्व और ग्रहणरूपत्व के भेद से जो दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं, उनका। पन्थाः—रास्ता, अस्तित्व। विभक्तः—बँटा हुआ है; एक-दूसरे से बिल्कुल अलग है। नानयोः सङ्करगन्धोऽप्यस्ति—इन दोनों के एक-दूसरे से सङ्कीर्ण होने अर्थात् अभिन्न होने का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। इति—इस पूर्वपक्षखण्डन की समाप्ति का सूचक। ठीक है, मान लिया कि वस्तु एक है और ज्ञान उससे अलग है, तो प्रश्न यह है कि ऊपर दिये गये उदाहरण में एक ही अपरिवर्तित वस्तु से भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव आखिर क्यों उत्पन्न होते हैं ? एक अविलक्षण कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४२१।

की उत्पत्ति क्यों कर होती है ? भाष्यकार इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। सांख्यपक्षे पुनः—हमारे सांख्ययोगशास्त्र में तो। वस्तु त्रिगुणम्—(स्वीक्रियत इति शेषः) प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक स्वीकृत की जाती है। चलञ्च गुणवृत्तम्—और गुणों का स्वभाव चञ्चल होता है। इति—इसलिये। धर्मादिनिमित्तापेक्षम्—धर्मादिनिमित्तानामपेक्षा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा, धर्म अधर्म, अविद्या और सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से। चित्तैरभिसम्बध्यते—चित्तों के साथ अलग-अलग सम्बन्धित होती है। निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्य उत्पद्यमानस्य—और तत्तद् निमित्त के अनुसार उत्पद्यमान ज्ञानों अर्थात् अनुभवों की। तेन तेन आत्मना—तत्तद् रूप से। हेतुर्भवति—कारण बनती है। तात्पर्य यह है कि विषयभूत वस्तु त्रिगुणात्मक है और गुणों का स्वभाव परिणामपरायण है, इसलिये जब उस वस्तु से उपरञ्जित होने वाला चित्त धर्मप्रधान है तो धर्म की अपेक्षा से वह वस्तु अपने सत्त्वप्रधान रूप से भासित होकर उस चित्त में सुखानुभव की अभिव्यक्ति करती है। इसी प्रकार उपरञ्जित होने वाला चित्त जब क्रमशः अधर्मप्रधान, अविद्याप्रधान और सम्यग्ज्ञानप्रधान होता है, तो उस अधर्म, अविद्या और सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से वह वस्तु क्रमशः राजसरूप से दुःखात्मक, तामसरूप से मोहात्मक और शुद्धसत्त्वात्मक रूप से माध्यस्थ्यज्ञान की अभिव्यक्ति में हेतु बनती है। **रजःसहितं सत्त्वं धर्मापेक्षं सुखज्ञानं जनयति, सत्त्वमेव तु विगलितरजस्कं विद्यापेक्षं माध्यस्थ्यज्ञानमिति। ते च धर्मादयो न सर्वे सर्वत्र पुरुषे सन्ति किन्तु कश्चित्क्वचिदित्यभ्युपपन्ना व्यवस्थेति'**[1] ॥ १५ ॥

केचिदाहुः—'ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति।' त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरेषु क्षणेषु वस्तुस्वरूपमेवापह्नुवते—

कुछ (बौद्ध) लोग कहते हैं कि 'भोग्य होने के कारण सुखादि के समान (बाह्य) वस्तु (भी) ज्ञान के साथ ही (उत्पन्न होकर) स्थित रहती है।' वे इस (मान्यता) के द्वारा (वस्तु के) साधारण रूप से (अनेक ज्ञानों के प्रति) विषय बनने को खण्डित करते हुए (ज्ञान के) पूर्व क्षणों और परवर्ती क्षणों में वस्तु के अस्तित्व का ही अपलाप करते हैं।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु, तदप्रमाणकं[2] तदा किं स्यात् ? १६॥

वस्तु एक ज्ञान के अधीनस्वरूप वाली नहीं होती। (अन्यथा) ज्ञानरूप प्रमाण से (जब) अगृहीत होगी, तब वह क्या होगी ? ॥ १६ ॥

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४२२

२. 'तत्प्रमाणकम्'—इति पाठान्तरम्।

एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्, तदानीं किन्तत् स्यात् ? सम्बध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत ? ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युः, एवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत। तस्मात् स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः। स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते। तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

यदि वस्तु (की सत्ता) चित्त के अधीन हो तो चित्त के (अन्य वस्तु में) लग जाने पर या निरुद्ध हो जाने पर (स्वरूपशून्य) उस (चित्त) से अनालोच्यमान (तथा) अन्य चित्तों का आलम्बन न बनने वाली (अतः) अप्रमाणित (तथा) किसी भी चित्त के द्वारा अज्ञात सत्ता वाली स्वरूपशून्य वह वस्तु भला क्या होगी ? और (उसी) चित के साथ फिर से सम्बन्धित (होने पर) वह (वस्तु) कहाँ से उत्पन्न हो सकती है ? और इस वस्तु के जो अज्ञात अंश हैं, वे (अज्ञात होने के कारण) इसमें (स्थित ही) नहीं होने चाहिए। इस प्रकार पीठ नहीं है, इस कारण पेट भी नहीं होना चाहिए। इसलिये पदार्थ (अर्थात् वस्तु) स्वतन्त्र और सभी उपस्थित पुरुषों के लिये समान होता है। और चित्त भी स्वतन्त्र होते हैं तथा प्रत्येक प्राणी में अलग-अलग प्रवृत्त होते हैं। उन (अर्थ और चित्त) दोनों के सम्पर्क से ज्ञान अर्थात् पुरुष का भोग होता है ॥ १६ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—कुछ वादियों का अभिमत यह है कि यह तो ठीक है कि अर्थ की सत्ता ज्ञान से भिन्न है, किन्तु फिर भी उसकी सत्ता ज्ञान की समकालिक ही है। जितनी देर तक उस पदार्थ का ज्ञान रहेगा, उतनी ही देर तक वह पदार्थ भी सत् रहेगा। न उसके पहले और न उसके बाद में। क्योंकि ज्ञानकाल के अतिरिक्त समय में उस पदार्थ की सत्ता होने का कोई प्रमाण ही नहीं उपलब्ध होता। इसी मत को भाष्यकार प्रस्तुत कर रहे हैं। केचिद् आहुः—कुछ वादी कहते हैं। अर्थः—बाह्य वस्तु या पदार्थ। ज्ञानसहभूः एव—सहभवतीति सहभूः, ज्ञानस्य सहभूरिति तथोक्तः, ज्ञान के साथ ही (उत्पन्न होकर) रहने वाला। 'एव' शब्द से ज्ञानातिरिक्त काल में ज्ञेय पदार्थ की सत्ता का निराकरण किया जा रहा है। इस मान्यता में दृष्टान्तसहित हेतु दे रहे हैं। भोग्यत्वात् सुखादिवत्—सुखादि के समान भोग्य या अनुभवनीय होने के कारण। तात्पर्य यह है कि जैसे सुखदुःखादि का जब तक अनुभव होता रहता है, तब तक ही उस सुख-दुःख की स्थिति रहती है। ठीक उसी तरह से बाह्य पदार्थ भी जब तक ज्ञायमान होते रहते हैं, केवल तभी तक इनकी सत्ता रहती है, न उसके पहले और न पश्चात्। अनुभवनीय अर्थात् भोग्य या ज्ञेय पदार्थों की सत्ता भोगकाल

में ही भासित होती है, जैसे—सुख-दुःखादि । इसी आधार पर सभी ज्ञेय पदार्थों को ज्ञान का समकालिक ही स्वीकार किया जा रहा है। इति—इस तर्कपद्धति का प्रयोग वे वादी करते हैं। उनकी तर्कपद्धति का प्रयोग इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

अर्थः ज्ञानसहभूरेव (प्रतिज्ञा)। भोग्यत्वात् (हेतुः)।

(यो यो भोग्यस्स स ज्ञानसहभूरेव) सुखादिवत् (उदाहरण)। ते—वे वादी। एतया द्वारा—इस द्वार से, इस विधा से। साधारणत्वम्—वस्तुनः प्रमातृभेदेऽपि साम्यमेकत्वम्, प्रमाताओं के भिन्न होने पर भी वस्तु उनके द्वारा समान रूप से ही जानी जाती है—वस्तु की इस 'एकता' को। बाधमानाः—खण्डयन्तः। पूर्वोत्तरेषु क्षणेषु—ज्ञानकाल से पहले के क्षणों में और बाद के क्षणों में। वस्तुस्वरूपमेव—बाह्य पदार्थ के स्वरूप अर्थात् सत्ता को ही। अपह्नुवते—अस्वीकृत करते हैं, अपलपित करते हैं। इस मत का खण्डन सूत्र में किया जा रहा है।

(सू० सि०)—न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु—वस्तु एक चित्त से नियन्त्रित नहीं होती, किसी एक चित के अधीन नहीं होती अर्थात् किसी ज्ञान की समकालिक नहीं होती। **'तथा च नापि वस्तु एकज्ञाननियतमिति प्रतिज्ञा ।'**—(यो० वा०)। तद-प्रमाणकम्—तद् वस्तु (यदा) अप्रमाणकम् अविद्यमानं प्रमाणं यस्य तादृशम् अप्रमाणकम्, जिस समय वह वस्तु प्रमाणहीन रहती है अर्थात् किसी ज्ञान से गृहीत नहीं होती। तदा—तर्हि, उस समय। किं तत् स्यात्—वह वस्तु क्या होती है? क्या वह नष्ट हो जाती है? **न 'स्यादित्यर्थः'**—(त० वै०)। यदि ज्ञान के द्वारा अग्रहणकाल में उस वस्तु का नष्ट होना स्वीकार करते हैं, तो जब फिर चित्त उसका ग्रहण करेगा, उस समय उसी वस्तु की फिर उत्पत्ति और स्थिति माननी पड़ेगी। और यह बात असम्भव है, क्योंकि नष्ट हुई वस्तु फिर उसी रूप में उत्पन्न और स्थित नहीं हो सकती। दूसरी अनुपपत्ति यह है कि इस प्रकार वस्तु को एक ही ज्ञान से गृहीत और उत्पन्न मानने तथा उस ज्ञान के अन्यत्र व्यग्र रहने पर या निरुद्ध हो जाने पर नष्ट हुई स्वीकार करने पर तो 'आशामोदक' और खाये जाने वाले वास्तविक 'मोदक'—दोनों को एक ही स्वीकार करना पड़ेगा। साथ ही दोनों प्रकार के मोदकों से एक ही प्रकार का रसवीर्य्यविपाक भी उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु ऐसा होना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, इसलिये वस्तु की ज्ञाननिरपेक्ष सत्ता माननी ही पड़ेगी॥ १६॥

(भा० सि०)—एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु—यदि वस्तु किसी एक चित्त के अधीन हो अर्थात् वस्तु की सत्ता किसी एक चित्त के अधीन मानी जाय। तदा—तब तो। चित्ते व्यग्रे—**'अन्यत्र गते'**—(भा०), उस चित्त के अन्य विषय की ओर फँस जाने पर। निरुद्धे वा—या योगसाधना द्वारा उस चित्त का निरोध हो जाने पर। **'तदा**

तच्चित्ते विषयान्तरसञ्चारिणि निरुद्धे वा सति'—(यो० वा०)। तेन—जिस एक चित्त के अधीन उसकी सत्ता स्वीकार की गयी थी, उसके द्वारा, उस काल में। अपरामृष्टम्—अनालोचितम्। न गृहीतम्, न ग्रहण की गयी। अर्थात्। अविषयी-भूतम्—विषय न बनी हुई, इसीलिये। अप्रमाणकम्—अविद्यमानं प्रमाणं ज्ञानसाधनं यस्य तादृशम्, निष्प्रमाण अर्थात् अप्रमाणितसत्ताक। केनचिद् अगृहीतस्वभावकम्—इस प्रकार किसी भी चित्त के द्वारा जिसके स्वभाव अर्थात् सत्ता अर्थात् स्वरूप की जानकारी उस समय नहीं है। **'अप्रमाणकमित्यस्य विवरणं केनचिदगृहीतस्वभावकम्'**—(यो० वा०)। इसलिये। अस्वरूपं तत्—केनापि (चित्तेनागृहीतत्वाद्) अविद्य-मानं स्वरूपं यस्य तद् अस्वरूपं स्वरूपहीनं तद्वस्तु, स्वरूपग्राहक प्रमाण के अभाव में स्वरूपहीन सिद्ध हुई वह वस्तु। तदानीम्—चित्त के अन्यत्र फँसे रहने के समय अथवा चित्तनिरोधकाल में। किं स्याद्—क्या हो जाती है ? इसी प्रश्न से जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न भी उपस्थित होता है। वह यह कि जब अन्यथाव्यग्र या पूर्वनिरुद्ध चित्त इस वस्तु की ओर उन्मुख होता है, तब उस समय। चित्तेन पुनः सम्बध्यमानश्च—और (पहले नष्ट हो चुकने पर भी) फिर से चित्त के साथ सम्बन्धित होने पर अर्थात् चित्त के उसकी ओर उन्मुख होने पर। कुत उत्पद्येत—कहाँ से उत्पन्न हो जाती है ? कहाँ से, क्यों, कैसे आ जाती है ? असत् या विनष्ट वस्तु की उत्पत्ति तो सर्वथा असम्भव है। यदि वह वस्तु उन्हीं कारणों से उत्पन्न हो गयी, जिनमे कि अन्यव्यग्रता या निरोध के पश्चात् यह अन्यक्षणवर्ती नया चित्त उत्पन्न हुआ, तब तो यह वस्तु चित्त से अभिन्न ही होगी। समान कारण से एक काल में समान कार्य की ही उत्पत्ति होती है। और यदि इसके व्यञ्जक कारणों से भिन्न कारणों से उसकी उत्पत्ति हुई, तब तो यह वस्तु स्वतन्त्र कारणों से उत्पन्न होने के कारण चित्तव्यभिचारी होगी। और यदि इसी चित्त से इसकी उत्पत्ति मानें तो प्रश्न यह है कि इसकी उत्पत्ति एत-द्विषयक चित्त से मानेंगे कि अन्यविषयकचित्त से, या निर्विषय चित्त से ? इसमें प्रथम कल्प तो इसलिये सम्भव नहीं है कि उत्पत्ति के पूर्व जब यह वस्तु है ही नहीं तो एतद्विषयक चित्त ही अनुपपन्न है, उससे इसकी उत्पत्ति का सवाल ही नहीं उठता। यदि अन्यविषयक चित्त से मानें तो अन्यविषयक चित्त से तो अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होगी, इस वस्तु की उत्पत्ति आखिर कैसे होगी ? निर्विषय चित्त से किसी वस्तु की उत्पत्ति स्वीकार करने पर तो विषयता की भी अनुपपत्ति होगी। इसलिये इस चित्त से पुनः सम्बध्यमान वस्तु की—वादी के अनुसार मानी जाने वाली—पुनरुत्पत्ति सर्वथा असम्भव है।

और सबसे बड़ी अनुपपत्ति तो वस्तु को चित्ततन्त्र मानने में यह है कि। अस्य च—इस बाह्य पदार्थ के। ये—जो। अनुपस्थिता भागाः—अज्ञाताः अंशाः, अगृहीत

भाग हैं। ते चास्य न स्युः—वे इस वस्तु में होने ही नहीं चाहिए। 'अस्यार्थस्य गृह्यमाणस्याप्रतीयमाना ये च पृष्ठाद्यंशास्तेऽप्यप्रामाणिकत्वादसन्तः स्युः।'—(यो० वा०)। तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु में अगला भाग, बीच का भाग तथा पिछला भाग—ये तीन भाग जरूर होते हैं। जब कोई वस्तु, ज्ञान के द्वारा गृहीत होती है, उस समय इन तीनों भागों में से उसका एक भाग (प्रायः अगला भाग) ही ज्ञान का विषय बनता है। बीच का भाग और पिछला भाग तो अज्ञात या अनुपस्थित ही रहते हैं। इस प्रकार वस्तु के एकचित्ततन्त्रत्व को स्वीकार करने पर ज्ञानकाल में भी वस्तु अंशतः अज्ञात ही रहेगी और तब उस वस्तु के मध्य एवं पृष्ठ भाग को असत् और अस्वरूप ही समझना पड़ेगा। **'अपि च योऽर्वाग्भागः स सर्वो मध्यपरभागव्याप्तः। ज्ञानाधाने सद्भावे त्वस्यानुभूयमानत्वात्कुतो ज्ञानसहभूरर्थ इति।'**—(त० वै०)। एवम्—और इस प्रकार। नास्ति पृष्ठम्—जब वस्तु की पीठ ही नहीं है, पृष्ठभाग ही नहीं है। इति—इसलिये। उदरमपि—उदर भी अर्थात् अगला भाग भी। न गृह्येत—नहीं गृहीत होना चाहिए। क्योंकि जिस वस्तु में पिछला भाग नहीं है, उसमें अगला भाग कहाँ से होगा ? उदरभाग पृष्ठभाग से व्याप्त ही होता है। जब पीठ ही नहीं तो उदर कहाँ से हो सकता है ? **'एवञ्च पृष्ठाद्यभावादुदरं प्रतीयमानमपि न गृह्येत सत्यतयेति शेषः। उदरस्य पृष्ठादिव्याप्ततया पृष्ठाद्यभावेनोदराभावसिद्धिरिति भावः।'**—(यो० वा०)। चूँकि वैनाशिकों की यह मान्यता कि 'ज्ञानसहभूरेवार्थः'—बिल्कुल गलत सिद्ध होती है। तस्मात्—इसलिये सांख्ययोग का सिद्धान्त ही ठीक है, जिसके अनुसार। अर्थः—बाह्य पदार्थ। स्वतन्त्रः—स्वाधीन अर्थात् अन्यनिरपेक्ष रूप से सत् हैं, न तो चित्ततन्त्र हैं और न मिथ्या। स्वतन्त्राणि च चित्तानि—और बुद्धि अर्थात् चित्त भी स्वाधीन (तथा स्थिर हैं, क्षणिक प्रत्ययमात्र नहीं) हैं। प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते—प्रत्येक पुरुष के लिये अलग-अलग (होते हैं, और) वस्तुज्ञान आदि की प्रवृत्ति करते हैं। तयोः—वस्तु और चित्त का। सम्बन्धात्—सम्बन्ध होने से, सन्निकर्ष से। उपलब्धिः—अनुभवः (भवतीति शेषः)। यह उपलब्धि ही। पुरुषस्य भोग इति—पुरुष का भोग है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

(उस) वस्तु के उपराग का अपेक्षी होने के कारण चित्त को वस्तु (कभी) ज्ञात (और कभी) अज्ञात होती है ॥ १७ ॥

अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमभिसम्बध्योपरञ्जयन्ति। येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः। वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात् परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

चुम्बकमणि के समान विषय, लोहे के समान चित्त को, सम्बन्धित होकर उपरञ्जित करते हैं। और जिस विषय से चित्त उपरक्त रहता है, वह विषय (उस चित्त को) ज्ञात हो जाता है, उस (विषय) से भिन्न विषय तो अज्ञात ही रहता है। वस्तु के स्वरूप के ज्ञात और अज्ञात होने के कारण चित्त परिणामी (सिद्ध) होता है ॥ १७ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—चित्त और वस्तु की एक-दूसरे से निरपेक्षता सिद्ध कर चुकने के पश्चात् सूत्रकार अब चित्त और पुरुष का अन्तर स्पष्ट करने में प्रवृत्त होते हैं। इस अन्तर का प्रतिपादन करते में अत्यन्त उपयोगी 'चित्त का वस्तुज्ञान का प्रकार' निरूपित किया जा रहा है। चित्त को वस्तु का ज्ञान करने के लिये आवश्यक है कि चित्त वस्तु से उपरञ्जित हो जाए। बिना उपरञ्जित हुए चित्त को वस्तु ज्ञात नहीं हो सकती। इसी बात को कहा जा रहा है। तदुपरागापेक्षित्वात्—तदुपरागः वस्तूपरागः (वस्तुरूपाकाराकारितता) तमपेक्षते इति तदुपरागापेक्षी, तस्य भावस्तस्माद् तदुपरागापेक्षित्वात्, वस्तु के उपराग की प्रतीक्षा करने वाला होने के कारण। चित्तस्य—चित्त को। वस्तु—विषयभूत पदार्थ। ज्ञाताज्ञातम्—ज्ञातञ्च अज्ञातञ्चेति ज्ञाताज्ञातम्, कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है। तात्पर्य यह है कि जब चित्त वस्तु से उपरक्त हो जाता है, तब वस्तु उसे ज्ञात हो जाती है और जबतक चित्त वस्तु से उपरक्त नहीं होता, तबतक वह वस्तु चित्त को अज्ञात रहती है। क्योंकि ज्ञान करने में चित्त वस्तूपराग का अपेक्षी होता है। यह उपराग क्या है? जब ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से चित्त वस्तु का सम्बन्ध प्राप्त करता है, तब वस्तु के आकार को ग्रहण करता है, अर्थात् तदाकाराकारित हो जाता है। चित्त का यह वस्त्वाकाराकारितत्व ही वस्तु का उपराग है। **'चित्तस्य कालभेदेन ज्ञातुमज्ञातुं च वस्तु भवति। कुतः? अर्थाकारतारूपोपरागसापेक्षत्वात् अर्थज्ञान इति शेषः'**[1]॥ १७ ॥

(भा० सि०)—अयस्कान्तमणिकल्पाः विषयाः—लोहे को प्रिय चुम्बक नामक मणि के समान ज्ञेय वस्तुएँ। अयःसधर्मकम्—लोहे के समान धर्म वाले अर्थात् लोहे के समान अपने प्रिय पदार्थ की ओर प्रवृत्त होने वाले। चित्तम्—प्राणियों के चित्त को। अभिसम्बध्य—सन्निकृष्टं कृत्वा, अपने सम्पर्क में लाकर, अपने साथ सम्बन्धित करके। उपरञ्जयति—'स्वाकारतया परिणमयन्तीत्यर्थः'—(भा०), अपने आकार का कर देते हैं। जैसे—किसी रङ्ग में डाले गये वस्त्र को वह रङ्ग अपने आकार का कर देता है। **'अयस्कान्तमणिवदक्रिया एव विषया अयोवत् क्रियाशीलं चित्तं स्वमहिम्नाऽऽकृष्य स्वस्मिन् संयोज्य तदुपरञ्जयन्ति स्वाकारैराकारयन्तीति लाक्षारस इव वस्त्रम्।'**—

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४२५।

(यो० वा०)। येन च विषयेण—और जिस विषय से। चित्तम् उपरक्तम्—चित्त उपरक्त होता है अर्थात् जिस विषय के आकार को चित्त ग्रहण करता है। स विषयः—वह विषय। उस काल में। ज्ञातः—उस चित्त को ज्ञात होता है। ततः—तस्मात् विषयाद्, उस वस्तु से। अन्यः—अतिरिक्तः, अतिरिक्त पदार्थ। पुनः—तो। अज्ञातः—उस चित्त को नहीं ज्ञात होता, अज्ञात रहता है। वस्तुनः ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्—वस्तु के कभी ज्ञातरूप और कभी अज्ञातरूप होने के कारण। चित्तं परिणामि—चित्त परिणामी सिद्ध होता है। चित्त को वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है—इसका अर्थ यह हुआ कि कभी चित्त वस्त्वाकाराकारित रहता है और कभी वैसा नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि चित्त का स्वरूप परिणत होता रहता है। यही चित्त की परिणामशीलता है ॥ १७ ॥

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

किन्तु वह चित्त जिसका विषय है, उस (पुरुषतत्त्व) को—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥१८॥

उस (चित्त) के साक्षी पुरुष को, अपरिणामी होने के कारण (उस पुरुष की विषयभूत) चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

यदि चित्तवत् प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत, ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥ १८ ॥

यदि चित्त के समान साक्षी पुरुष भी परिणत हुआ करता तो उसकी विषयभूत चित्तवृत्तियाँ (चित्त के विषयभूत) शब्दादि विषयों की भाँति (कभी) ज्ञात (और कभी) अज्ञात होतीं। (इसलिये) मन (अर्थात् चित्त) का सदा ही (पुरुष को) ज्ञात रहना उसके साक्षी पुरुष के अपरिणामित्व (अर्थात् कूटस्थत्व) को (अनुमान प्रमाण से) सिद्ध करता है ॥ १८ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—'पुरुष' की विषयभूता चित्तवृत्तियाँ पुरुष को सदा ज्ञात रहती हैं—इससे पुरुष का अपरिणामित्व सिद्ध होता है। चित्त से पुरुष के इन्हीं भेदों का स्पष्ट प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त १८वें सूत्र की अवतारणा भाष्यकार इन शब्दों में कर रहे हैं। यस्य तु—किन्तु जिस 'तत्त्व' का। विषयः—विषयभूत, द्रष्टव्य। तत् चित्तमेव—वह चित्त ही है। कौन-सा चित्त? जो पिछले सूत्रभाष्य में बाह्य घटादि वस्तुओं का प्रकाशक या ज्ञाता (बनता हुआ) प्रतिपादित किया जा चुका है। तस्य—उस तत्त्व को अर्थात् 'पुरुष' नामक तत्त्व को।

(सू० सि०)—चित्तवृत्तयः—चित्त की सारी वृत्तियाँ अर्थात् चित्त के सारे व्यापार, जो कि पुरुष के विषय अर्थात् दृश्य बनते हैं। **'पुरुषो विषयी नित्यं सत्त्वञ्च विषयः स्मृतः'**—(अनुगीता)। सदा ज्ञाताः—सदैव ज्ञात ही रहते हैं। इस चित्त के विषयभूत घटपटादि तो चित्त को कभी ज्ञात होते हैं, कभी नहीं, किन्तु 'पुरुष' का विषयभूत यह चित्त, पुरुष को सदा ही ज्ञात रहता है। स्वविषयबोध के प्रसङ्ग में चित्त और पुरुष का यह प्रबल वैधर्म्य है। यह पुरुषनिष्ठ शाश्वतसाक्षिता कैसे संभव होती है? अथवा इससे पुरुष के किस स्वभाव की सिद्धि होती है? इसका उत्तर इस सूत्र के अवशिष्ट 'पदों' में दिया गया है। तत्प्रभोः—पुरुषस्य तस्य चित्तस्य प्रभुः[1] स्वामी (पुरुषः) तस्येति तत्प्रभोः पुरुषस्य, उस चित्त के स्वामी अर्थात् उस चित्त के द्रष्टा या साक्षी पुरुष के। अपरिणामित्वात्—अपरिणामी होने के कारण, कूटस्थ होने के कारण ही उसका विषयभूत चित्त उसे सदा ज्ञात या प्रकाशित रहता है। यदि पुरुष भी चित्त की भाँति परिणामी होता, तो उसका विषय भी उसे कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होता। किन्तु पुरुष के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। पुरुष का विषयभूत जो चित्त है, वह अपने स्वरूप से सदा पुरुष में प्रतिबिम्बित या उपरक्त होता हुआ उस पुरुष को सर्वथा ज्ञात ही रहता है, क्योंकि पुरुष कभी किसी प्रकार से परिणत नहीं होता। **'चित्तमानिरोधात् सर्वदा पुरुषेणानुभूयते वृत्तिमत्। तत्कस्य हेतोः? यतः पुरुषोऽपरिणामी परिणामित्वे चित्तवत्पुरुषोऽपि ज्ञाताज्ञातविषयो भवेद्। ज्ञातविषय एव त्वर्थः, तस्मादपरिणामी, ततश्च परिणामिभ्योऽतिरिच्यत इति।'**—(त० वै०) ॥१८॥

(भा० सि०)—यदि चित्तवद्—यदि चित्त के ही समान। प्रभुरपि पुरुषः—उसका स्वामी पुरुष भी। परिणमेत—परिणामी होता अर्थात् स्वविषयाकाराकारित हुआ करता। ततः—तब तो। तद्विषयाः चित्तवृत्तयः—उसका दृश्य बनने वाली चित्तवृत्तियाँ भी। शब्दादिविषयवद्—शब्दरूपरसगन्धस्पर्श नामक (चित्त के) विषयों की भाँति। ज्ञाताज्ञाताः—कदाचिज्ज्ञाताः कदाचिच्चाज्ञाताः स्युः, कभी उसे ज्ञात होतीं और कभी अज्ञात रहतीं। किन्तु ऐसा होता नहीं। प्रत्युत ये चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती है। मनसः तु सदाज्ञातत्वम्—चित्त की वृत्तियाँ ही यहाँ 'मनस्' शब्द के द्वारा कही गयी हैं। **'मनसः सवृत्तिकस्य तस्य'**—(त० वै०)। उस सवृत्तिक मन का पुरुष को सदा ज्ञात रहना। 'मनसः' में कर्मणि षष्ठी है। क्योंकि 'ज्ञा'

---

१. पुरुष को चित्त का प्रभु क्यों कहा गया है? क्योंकि पुरुष का प्रतिबिम्ब पाकर ही चित्त घटादि विषयों का प्रकाशक हो पाता है और स्वयं घटाद्याकाराकारित होकर पुरुष का दृश्य बनता है। इसी तथ्य को भाष्यकार ने पहले यो० सू० १।४ के भाष्य में कहा है—'चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः।'

क्रिया का कर्म यहाँ (पुरुष के सम्बन्ध में) वही सवृत्तिक मनस् ही है। तत्प्रभोः पुरुषस्य—उस सवृत्तिक मनस् के प्रभु अर्थात् भोक्ता या द्रष्टा 'पुरुष' तत्त्व के। अपरिणामित्वम्—अपरिणमनशील स्वभाव को। अनुमापयति—अनुमित कराता है, सिद्ध कराता है। इस प्रकार 'पुरुष' और 'चित्त' के बीच में 'अपरिणामित्व' और 'परिणामित्व' का वैधर्म्य सिद्ध हो जाता है ॥ १८ ॥

स्यादाशङ्का—चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासञ्च वैनाशिकानां चित्तात्मवादिनां भविष्यति अग्निवद् ।

(इस प्रसङ्ग में) चित्तात्मवादी वैनाशिकों की यह आशङ्का हो सकती है कि चित्त ही अग्नि के समान स्वप्रकाशक और विषयप्रकाशक भी है (चित्त के प्रकाशक के रूप में पुरुषतत्त्व को स्वीकार करना ही व्यर्थ है)।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

वह (चित्त) अपना प्रकाशक नहीं है, दृश्य होने के कारण ॥ १९ ॥

यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम् । न चाग्निरत्र दृष्टान्तः । न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति । प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः । न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः । किञ्च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः, तद्यथा—स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः । स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात् सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते—'क्रुद्धोऽहम्, भीतोऽहम्, अमुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध' इति । एतत् स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥ १९ ॥

जैसे अन्य इन्द्रियाँ और शब्दादि विषय 'दृश्य' होने के कारण स्वप्रकाशक नहीं हैं, वैसे ही चित्त भी समझा जाना चाहिए। इस (विषय) में 'अग्नि' दृष्टान्त नहीं हो सकता। क्योंकि अग्नि अपने अप्रकाशित स्वरूप को नहीं प्रकाशित करता। यह प्रकाशन, प्रकाश्य और प्रकाशक का संयोग होने पर (ही) देखा गया है। और (वस्तु के) अपने स्वरूप में ही (प्रकाश्य और प्रकाशक दो रूपों का) संयोग होता नहीं। और यदि (यह कहा जाए कि) 'चित्त अपना प्रकाशक है'—इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि किसी (अन्य) का विषय नहीं है, जैसे—'आकाश अपने आप में प्रतिष्ठित है'—इसका अभिप्राय यह है कि किसी अन्य में प्रतिष्ठित नहीं है। (तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि) अपने-अपने चित्त के व्यापारों का अनुभव होने पर ही प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे—'मैं क्रुद्ध हूँ, डरा हूँ, उस विषय के प्रति मेरा राग है और उसके प्रति मेरा क्रोध है'—(प्राणियों का इस प्रकार का) यह अनुभव अपने चित्त का प्रतिसंवेदन न मानने पर सम्भव नहीं है ॥ १९ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—पूर्वसूत्र में चित्तवृत्ति के ग्रहीता के रूप में अपरिणामी पुरुष-तत्त्व को सिद्धान्तित किया गया है। इस सम्बन्ध में। चित्तात्मवादिनां वैनाशिकानाम्—चित्त को ही आत्मा अर्थात् प्रत्यक्तत्त्व मानने वाले बौद्धों के मत में। स्याद् आशङ्का—ऐसी आशङ्का या यह शङ्का हो कि। चित्तमेव—चित्त ही। स्वाभासं विषयाभासञ्च—स्वस्य भासः प्रकाशः येन तत् स्वाभासं स्वप्रकाशकं तथा च विषयाणामाभासः प्रकाशः येन तत् विषयाभासं विषयप्रकाशकञ्च, अपने आप को प्रकाशित करने वाला और विषयों को भी प्रकाशित करने वाला। भविष्यति—होगा। अग्निवद्—अग्नि (दीपादि) के समान। विषय-प्रकाशकता के साथ ही अपने आपको भी प्रकाशित करने वाले पदार्थों के दृष्टान्त के रूप में यहाँ 'अग्नि' को प्रस्तुत किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि जैसे—अग्नि अन्य विषयों का प्रकाशक होने के साथ-साथ अपने को भी प्रकाशित करने वाला पदार्थ है (उसे कोई अन्य पदार्थ प्रकाशित नहीं करता), ठीक वैसे ही चित्त भी विषय-प्रकाशक होने के साथ-साथ अपना भी प्रकाशक है। इसलिये चित्त के प्रकाशक के रूप में पुरुषादि किसी अन्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार करना भी व्यर्थ एवं असङ्गत है।

(सू० सि०)—सम्बन्धभाष्य में प्रस्तावित शङ्का का निराकरण वर्तमान सूत्र में किया गया है। तत्—वह अर्थात् प्राणियों का चित्त। न स्वाभासम्—अपना प्रकाशक नहीं होता। इस मान्यता का हेतु क्या है ? दृश्यत्वात्—**'अनुभवव्याप्यम्'**—(त० वै०), दृश्य होने के कारण, अनुभव का विषय होने के कारण जो दृश्य होता है, वह अपना द्रष्टा नहीं हो सकता, प्रत्युत उसका प्रकाशक कोई दूसरा ही होता है, जैसे—घटादि पदार्थ दृश्य हैं। वे स्वयं अपने द्रष्टा या प्रकाशक नहीं हैं। वे चित्त के द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। इस दृश्यत्व हेतु के कारण 'चित्त' भी अपना प्रकाशक स्वयं नहीं हो सकता। आशय यह है कि चित्त को जो पुरुष प्रकाशित मानते हैं, उनके मतवाद में भी 'चित्त' (पुरुष का) 'दृश्य' बनता है। इस प्रकार उभयवादी चित्त को 'दृश्य' मानते हैं। 'दृश्य' होने का तात्पर्य यह है कि वह दृशि क्रिया का 'कर्म' है। यदि वह स्वयं द्रष्टा भी माना जाए तो वह दृशि क्रिया का 'कर्ता' भी हुआ है। अब एक ही पदार्थ अपने आप एक ही समय में 'कर्ता' और 'कर्म'—दोनों नहीं बन सकता। इस अनुपपत्ति को 'स्वकर्मकर्तृविरोध' नामक दोष कहा जाता है। इसलिये दृश्यपदार्थ कभी भी स्वयं अपना द्रष्टा या प्रकाशक नहीं माना जा सकता। अतः चित्त 'स्वाभास' नहीं हो सकता और उसके प्रकाशक या द्रष्टा के रूप में 'पुरुष' को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। चूँकि पुरुष अपरिणामी है, इसलिये चित्त (अर्थात् चित्तवृत्तियाँ) उसे सदैव ही ज्ञात या दृष्ट रहेगा॥ १९॥

(भा० सि०)—भाष्यकार इस सूत्र का विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। यथा—जैसे। इतराणि इन्द्रियाणि—अन्य सभी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ। शब्दादयश्च—और शब्दादिक विषय। दृश्यत्वात्—(चित्त के) दृश्य होने के कारण। न स्वाभासानि—स्वप्रकाशक नहीं होते। तथा—उसी प्रकार से पुरुष का या पूर्वपक्ष के अनुसार अपना ही दृश्य होने के कारण परप्रकाशित। मनः अपि—चित्त भी, **'अन्तःकरणस्यैक्याच्चित्तमेव मन इत्युक्तवान्'**।[1] प्रत्येतव्यम्—अवगन्तव्यम्, समझा जाना चाहिए। इस विषय में पूर्वपक्ष की ओर से अग्नि का दृष्टान्त (इस रूप में) दिया जाता है कि—जिस प्रकार अग्नि 'परप्रकाशक' होने के साथ-साथ 'स्वप्रकाशक' भी होती है, वैसे ही चित्त भी है। तो इसका खण्डन भाष्यकार करते हैं। अत्र च अग्निर्न दृष्टान्तः—चित्त के प्रसङ्ग में 'अग्नि' दृष्टान्त नहीं है। भाव यह है कि अग्नि भी स्वप्रकाशक या स्वाभास नहीं है, इसलिये वह भी अनुदाहरण ही है। न हि अग्निः आत्मस्वरूपम् अप्रकाशं प्रकाशयति[2]—क्योंकि अग्नि भी अपने अप्रकाशित रूप को प्रकाशित नहीं करता। **'अग्न्यादौ च स्वाभासत्वमेव नास्तीति वक्ष्यति, अतो न तत्रापि व्यभिचारः। दृष्टान्ते च सर्वदैव स्वप्रकाश्यत्वाभावोऽस्तीति।'**—(यो० वा०)। अग्नि भी घटादि के समान चक्षुरादि इन्द्रियों के माध्यम से चित्त के द्वारा ही प्रकाशित होती है। जन्मान्ध व्यक्ति के लिये अग्नि का रूप भी घटादि के रूप के समान अप्रकाशित रहता है। इसलिये 'स्वप्रकाशता' अग्नि में भी सर्वथा अनुपपन्न है। **'अग्निर्नात्र दृष्टान्तः स्वाभासस्योदाहरणम्, शब्दादिवदग्ने रूपधर्मोऽग्निनिष्ठो वा घटाद्यापतितो वा चक्षुषैव प्रकाश्यते। न ह्यग्निनिष्ठरूपं तजोधर्मभूतमात्मस्वरूपप्रकाशं प्रकाशयति'**।[3]

अब अग्नि की स्वप्रकाशकता का बाधक तर्क दिया जा रहा है। अयं प्रकाशश्च—और यह (परिणामी पदार्थों का) प्रकाशन, जो कि क्रियारूप होता है, और जो कि अपरिणामी पुरुष से भिन्न स्वरूप का है। प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः—प्रकाश्य वस्तु और प्रकाशक (चित्तरूपी) वस्तु के संयोग होने पर ही देखा जाता है, अर्थात् सम्भव होता है। न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः—स्वस्य वस्तुनः रूपमेव स्वरूपमात्रं तस्मिन् च नास्ति न सम्भवति संयोगः, किसी भी वस्तु में प्रकाशक और प्रकाश्य—इन दो रूपों का एक साथ होना संभव नहीं है, **'अयमिति पुरुषस्वभावात्**

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४३७।

२. शून्यवादी बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने भी चित्त के द्वारा आत्म-प्रकाशन के लिये दिये गये अग्नि के दृष्टान्त का खण्डन किया है—

'विषमोपन्यासोऽयं ह्यात्मानं प्रकाशयत्यग्निः।
न हि तस्यानुपलब्धिः दृष्टा तमसीव कुम्भस्य—॥'—विग्रहव्यावर्तनी, ३५।

३. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४२८।

प्रकाशाद् व्यवच्छिनत्ति, क्रियारूपः प्रकाश इति यावद् । एतदुक्तं भवति—या या क्रिया सा सा सर्वा कर्तृकरणकर्मसम्बन्धेन दृष्टा, यथा पाको दृष्टश्चैत्राग्नितण्डुलसम्बन्धेन, तथा प्रकाशोऽपि क्रियते, तयाऽपि तथा भवितव्यम् । सम्बन्धश्च भेदाश्रयो नाभेदे सम्भवतीत्यर्थः' ।[1]

किञ्च—और यदि वैनाशिकों की ओर से यह मत प्रस्तुत किया जाये । स्वाभासं चित्तम् इति—कि चित्त 'स्वाभास' होता है । इसका तात्पर्य केवल यह है कि । अग्राह्यमेव कस्यचिद्—किसी भी अन्य पदार्थ के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जाता । इति शब्दार्थः—यही इतना अर्थ है । कहने का आशय यह है कि 'स्वाभास' पद से अपने को प्रकाशित करने वाला अर्थ लेने पर तो कर्मकर्तृविरोध रूपी असङ्गति आ जाती है । इस असङ्गति को बचाने के लिये 'स्वाभास' पद का अर्थ वैनाशिक लोग 'न पराभासम्'—(अन्य के द्वारा प्रकाशित न किया जाने वाला) ही ग्रहण करते हैं, और चित्त से अतिरिक्त एक तत्त्व अर्थात् 'पुरुष' की मान्यता का कल्पनागौरव भी बचाते हैं । 'स्व' शब्द का 'पर से रहित'—इतना ही अर्थ लिये जाने के अन्य उदाहरण भी हैं । तद्यथा—जैसे । स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशम्—आकाश अपने आप में प्रतिष्ठित या स्थित है । न परप्रतिष्ठमित्यर्थः—इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह किसी दूसरे अधिकरण में स्थित नहीं है । आकाश की स्वप्रतिष्ठा का अर्थ यह नहीं है कि आकाश स्वयं स्थित होने के लिये कोई क्रिया करता है या अपने लिये कोई अधिकरण इत्यादि बनता है । इसी प्रकार चित्त के 'स्वाभास' होने का अर्थ भी केवल इतना ही लेना चाहिए कि वह किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित या गृहीत नहीं किया जाता । इसका यह अर्थ लेना ठीक नहीं है कि वह अपने से ही प्रकाशित होने की क्रिया करता है ।

अब इस मत का खण्डन किया जा रहा है । सत्त्वानां प्रवृत्तिः—प्राणियों की स्वकार्यों में प्रवृत्ति, लोगों का स्वकार्य-व्यापार में लगना । स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात् (एव हेतोः)—स्वेषां बुद्धीनां चित्तानां प्रचाराः (गतिविधयः, वृत्तयः), तेषां प्रतिसंवेदनं ज्ञानं साक्षित्वं तस्मात् एव हेतोः, अपनी चित्तवृत्तियों का प्रतिसंवेदन अर्थात् द्रष्टृत्व या ज्ञान हो जाने पर ही । दृश्यते—देखा जाता है, संभव होता है । बिना अपने चित्त की वृत्ति का ज्ञान किये, कोई किसी प्रकार का कार्यव्यापार करने में नहीं प्रवृत्त होता । चित्त इन्द्रियों के माध्यम से जब किसी विषय को प्रकाशित करता है, तब उसका ज्ञान या जानकारी करने के बाद ही प्राणी उस विषय की ओर उन्मुख, अग्रसर तथा पराङ्मुख इत्यादि होने का व्यापार करता है । बिना तद्विषयक ज्ञान हुए प्राणी की प्रवृत्ति उस विषय के सम्बन्ध में नहीं होती । **'बुद्धिः चित्तम्, प्रचाराः व्यापाराः, सत्त्वाः प्राणिनः चित्तस्य वृत्तिभेदाः क्रोधलोभादयः स्वाश्रयेण**

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४२९ ।

चित्तेन स्वविषयेण च सह प्रत्यात्ममनुभूयमानाश्चित्तस्याग्राह्यतां विघटयन्तीत्यर्थः ।'— (त० वै०) । प्राणियों की प्रवृत्ति किस प्रकार की होती है ? जैसे । क्रुद्धोऽहम्— मैं क्रोधित हूँ । चित्त की विषयाकारित वृत्ति का प्रतिसंवेदन करने के पश्चात् ही प्राणी की उस विषय की ओर क्रोधरूपा प्रवृत्ति सम्भव है । बिना उस विषय के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का प्रतिबोध किये उस प्राणी की उसके प्रति क्रोध-वृत्ति होनी असम्भव है । इसी प्रकार । भीतोऽहम् - मैं डरा हुआ हूँ । अमुत्र मे रागः—अमुक विषय में मेरा राग या प्रेम है । अमुत्र मे क्रोधः—अमुक विषय में मेरा क्रोध है । इति एतत्—एवंरूपाः प्राणिनां प्रवृत्तयः सर्वाः, इस प्रकार की समस्त प्राणि-प्रवृत्तियाँ । स्वबुद्धेरग्रहणे—प्राणी की अपनी बुद्धि का ग्रहण न करने पर अर्थात् प्रतिसंवेदन या ज्ञान करने पर । न युक्तम्—न सम्भवं नोचितं भवितुम्, नहीं हो सकतीं । इससे इस बात की सिद्धि होती है कि चित्त किसी अन्य तत्त्व के ही द्वारा गृहीत होता है । वह तत्त्व है 'पुरुष' । इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि पुरुष, चित्त की भाँति 'परप्रकाश' नहीं है; प्रत्युत 'स्वयम्प्रकाश' है । ऐसा क्यों ? इसलिये कि बुद्धि या चित्त परिणामी है और पुरुष अपरिणामी है । बुद्धि विषयों का कभी-कभी ज्ञान करती है, किन्तु पुरुष सदा चित्त का ज्ञाता बना रहता है । बुद्धि जब विषय को प्रकाशित करती है, तब तदाकाराकारित होती है, किन्तु बुद्धि का प्रतिसंवेदन करने में पुरुष में तदाकाराकारितता इत्यादि कोई भी परिणाम नहीं होता । बुद्धि में प्रकाश क्रियारूप से है, किन्तु पुरुष का तो स्वभाव या स्वरूप ही प्रकाश है, परिणाम नहीं । इसलिये पुरुष तो स्वयम्प्रकाश होता है, किन्तु चित्त वैसा नहीं माना जा सकता । इति—समाप्तिसूचक पद है ॥ १९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

और एक ही समय में दोनों (अर्थात् अपना तथा विषयों) का अवधारण नहीं हो सकता ॥ २० ॥

न चैकस्मिन् क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तम् । क्षणिकवादिनो यद् भवनं सैव क्रिया, तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

और एक ही क्षण में (चित्त के द्वारा) अपने और विषयों के रूप का प्रकाशन मानना उचित नहीं है । (क्योंकि) क्षणिकवादी (बौद्धों) का यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि जो (उसका) होना है, वही क्रिया है, वही कारक है ॥ २० ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—विज्ञानवादी बौद्धमत के द्वारा प्रस्तावित चित्त की (पर-प्रकाशकता के साथ) स्वप्रकाशकता उनके सिद्धान्त के ही विरुद्ध पड़ेगी, क्योंकि एक ही क्षण तक चित्त की स्थिति स्वीकार करने पर चित्त के द्वारा उस एक क्षण में

एक ही पदार्थ का अवधारण किया जाना सम्भव है। दो वस्तुओं (एक स्वयं चित्त और दूसरा विषय) का बोध या ज्ञान एक ही क्षण में होना असम्भव है, क्योंकि परिणामी चित्त एक ही क्षण में दो रूपों (स्वाकार और विषयाकार) से कैसे स्थित हो सकेगा ? दूसरी कठिनाई यह है कि बाद वाले क्षणों में वह चित्त रहता हुआ नहीं माना जाता। इस स्वमतविरोध की ओर इङ्गित करते हुए सूत्रकार कहते हैं। एकसमये—एकस्मिन्नेव क्षणे (चित्तोत्पत्तिक्षणे) एक ही क्षण में। च—इस सूत्रगत 'च' के द्वारा पूर्व सूत्रों में दिये गये चित्त के स्वाभासत्वविरोधी तर्कों का समुच्चय किया गया है। **'चित्तस्य स्वाभासतावादिमते तन्मतमालम्ब्यैवान्यदूषणमाह।'**—(यो० वा०)। उभयानवधारणम् (युक्तमिति शेषः)—उभयस्य (स्वस्य च विषयस्य च) अनवधारणम् अवधारणाभावः इति उभयानवधारणम्, चित्त के अपने स्वरूप तथा विषयों के रूप के अवधारण या बोध का न होना ही सम्भव है। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार का ज्ञान एक ही समय में या एक साथ हो पाना असंभव है। और दूसरे क्षणों में वह चित्त रह नहीं जाता, इसलिये हर एक चित्त केवल एक प्रकार का ही ज्ञान कर सकता है। और चूँकि चित्त के द्वारा विषय का बोध सर्ववादिसिद्ध है, इसलिये वह अपने रूप का प्रकाशन कदापि नहीं कर सकता—यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है। फलतः चित्त के ज्ञाता के रूप में 'पुरुष' तत्त्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा ॥ २० ॥

(भा० सि०)—सूत्र का अर्थ ही प्रथमपंक्ति में भाष्यकार दुहरा रहे हैं। एकस्मिन् च क्षणे—और एक ही क्षण में चित्त को एक साथ। स्वपररूपावधारणम्—अपने (चित्ताकार) रूप का और अन्य के (विषयाकार) रूप का ग्रहण करना, बोध करना। न युक्तम्—उचित नहीं है। आशय यह है कि असम्भव होने के कारण ऐसा मानना उचित नहीं है। इस तथ्य में उपपत्ति दे रहे हैं कि बौद्ध-मान्यता के अनुसार चित्त एक ही क्षण तो स्थित रहता है, अतः उसकी स्थिति ही उसका एकमात्र व्यापार है। उस एक व्यापार से एक ही कार्य हो सकता है—चाहे 'स्वाकारग्रहण' और चाहे 'विषयाकारग्रहण'। इसलिये एक क्षण में एक पदार्थ एक ही व्यापार से दो भिन्न कार्य नहीं कर सकता। **'न च वैनाशिकानामुत्पत्तिभेदातिरिक्तोऽस्ति व्यापारः। च चैकस्या एवोत्पत्तेरविलक्षणायाः कार्यवैलक्षण्यसम्भवः तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गाद्। न चैकस्योत्पत्तिद्वयसम्भवः। तस्मादर्थस्य च ज्ञानरूपस्य चावधारणं नैकस्मिन् समय इति।'**—(त० वै०)। यद् भवनम्—(चित्तस्येति शेषः), चित्त का जो होना अर्थात् उत्पन्न होना है। सैव क्रिया—वह उत्पत्ति ही एकमात्र क्रिया या व्यापार है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार चित्त करता नहीं, क्योंकि दूसरे क्षण में वह रह ही नहीं जाता। तदेव च कारकम्—वह क्षणिक अस्तित्व ही चित्त की

कारकता है, कर्तृकरणकर्मरूपता है। क्योंकि कर्तृत्व, करणत्व और कर्मत्व आदि समस्त (सम्भव) कारकत्व का निर्वाह एक ही क्षण में पूरा होता है। इति क्षणिकवादिनः अभ्युपगमः—यही क्षणिकवादी बौद्धों का स्वीकृत सिद्धान्त है। अतः क्षणिकत्वसिद्धान्त और चित्त का स्वरूपावधारण—ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हुईं। इस प्रकार चित्त के उभयावधारण को मानने पर उनके मत में 'स्वमतविरोध' का भी दोष उपस्थित होता है। **'तस्माद् दृश्यत्वमेतच्चित्तस्य सदातनं स्वाभासत्वमपनयद् द्रष्टारं च द्रष्टुरपरिणामित्वञ्च दर्शयतीति सिद्धम्।'**—(त० वै०) ॥ २० ॥

स्यान्मतिः–स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

शायद (बौद्धों का दूसरा) विचार यह हो कि—स्वरूपतः नष्ट हुआ चित्त (अपने) ठीक बाद में उत्पन्न होने वाले दूसरे चित्त के द्वारा गृहीत होता है। तो इसके निराकरणार्थ (वर्तमान सूत्र है)।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

(चित्त को) अन्य चित्त के द्वारा गृहीत मानने में (इस) चित्त के ज्ञाता (अन्य चित्त) की अनवस्था और स्मृतिसङ्कर (नामक दोषों) की प्रसक्ति होगी ॥ २१ ॥

अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत, बुद्धि-बुद्धिः केन गृह्यते ? साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः। स्मृतिसङ्करश्च——यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति। तत्सङ्कराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाकुलीकृतम्। ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन सङ्गच्छन्ते। केचित्[1] सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान् पञ्च स्कन्धान् निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति। तथा स्कन्धानां महानिर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नुवते। साङ्ख्ययोगादयस्तु प्रवादाः, स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति ॥ २१ ॥

अब (यदि पहला) चित्त (समनन्तरभावी) अन्य चित्तों से जाना जाए, तो (पूर्व) चित्त का ज्ञाता (वह) किस चित्त से जाना जाता है ? (यदि) वह भी (अपने समनन्तरभावी) दूसरे चित्त से और वह (दूसरा समनन्तरभावी) चित्त

---

१. 'केचित्तु' इति पाठान्तरम्।

भी (अपने समनन्तरभावी) अन्य चित्त से (जाना जाता है । तब तो) इस प्रकार से अनवस्था की प्रसक्ति होगी । और स्मृतियों का सङ्कर भी होगा (यथा)— चित्तों के जितने अनुभव होंगे, उतनी ही स्मृतियाँ (एक साथ) प्राप्त होंगी । इन (स्मृतियों) की सङ्कीर्णता के कारण (किसी एक) स्मृति का निश्चय न होगा । इस प्रकार से चित्त के (वास्तविक) ज्ञाता पुरुष को न स्वीकार करने वाले बौद्धों के द्वारा (बन्ध-मोक्ष की सारी व्यवस्था गड़बड़ कर दी गयी है । वे (बौद्ध) लोग भोक्ता के स्वरूप को जिस किसी (पदार्थ) में कल्पित करते हुए युक्तियुक्त नहीं सिद्ध होते, (उन बौद्धों में से) कुछ लोग जीवमात्र की भी सत्ता कल्पित करके 'वह जीव (सत्) है, जो कि इन पाँच (रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार) स्कन्धों को त्याग कर (निर्वाणकाल में) फिर अन्य (शुद्ध) पाँच स्कन्धों को धारण करता है'—यह प्रतिपादित करके उसी (जीवसत्ता-स्वीकार) से फिर भयभीत होते हैं । उसी प्रकार (इन पाँचों) स्कन्धों के प्रति महानिर्वेद नामक वैराग्य के लिये और पुनर्जन्माभावरूपी प्रशान्ति के लिये 'गुरु के निकट (रह कर) ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूँगा ।'—ऐसा प्रतिपादित करके फिर जीव (की सत्ता) का अपलाप करते हैं । सांख्ययोग इत्यादि श्रेष्ठ सिद्धान्त स्व (या आत्मा) शब्द के द्वारा स्वामी पुरुषतत्त्व को ही चित्त का भोक्ता स्वीकार करते हैं ॥ २१ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—जब वैनाशिकों का यह मत खण्डित कर दिया गया कि चित्त 'स्वप्रकाशक' भी है, तब उनकी ओर से दूसरा सम्भावित तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है । स्यात् मतिः—शायद उन बौद्धों का अब यह विचार हो कि चित्त भले ही क्षणिक होने के कारण स्वयं अपना प्रकाशक न हो, परन्तु । स्वरसनिरुद्धं चित्तम्—स्वस्य रसः स्फुरणं भावः तेन निरुद्धमिति स्वरसनिरुद्धं स्वभावेनैव क्षणे विनष्टम्, **'स्वभावतो निरुद्धं लीनं चित्तम्'** ।[1] उपस्थित होने के ही क्षण में स्वभावतः विनष्ट होने वाला चित्त । चित्तान्तरेण—अन्य चित्त के द्वारा । गृह्यते—गृहीत होता है, प्रकाशित किया जाता है, जाना जाता है । यह अन्य चित्त कौन-सा चित्त है ? इसका उत्तर 'चित्तान्तरेण' के विशेषणभूत 'समनन्तरेण' पद से दिया जा रहा है । समनन्तरेण चित्तान्तरेण—'समनन्तर' अर्थात् अपने उत्तरवर्ती, अपने बाद वाले क्षण में उपस्थित चित्त के द्वारा जाना जाता है । विज्ञानवादी बौद्धों की मान्यता है कि चित्त का प्रवाह चलता रहता है । इस प्रवाह में प्रत्ययमात्र तथा क्षणमात्रपर्यवसायी एक चित्त के बाद दूसरा वैसा ही चित्त उत्पन्न और नष्ट होता चलता है । इन क्षणभंगुर तथा ज्ञान-

१. द्रष्टव्य; भा० पृ० ४३१ ।

मात्र के आकार वाले चित्तों की धारा प्रत्येक प्राणी की चलती रहती है। इन लोगों की मान्यता यह हो सकती है कि प्रथम क्षण के चित्त का ज्ञाता या संवेदनकर्त्ता उसके बाद उपस्थित होने वाला चित्त होता है, और दूसरे क्षणवाले चित्त का ज्ञाता उसका उत्तरवर्ती तीसरे क्षणवाला चित्त होता है। इसी क्रम से प्रत्येक पूर्वचित्त का ज्ञाता चित्त अपने उत्तरवर्ती चित्त के द्वारा ज्ञात या प्रकाशित होता है। इस क्रम में पूर्ववर्ती चित्त के ज्ञाता उत्तरवर्ती चित्त की पारिभाषिक संज्ञा बौद्धदर्शन में 'समनन्तरचित्त' है। **'समञ्च तज्ज्ञानत्वेन, अनन्तरञ्चाव्यवहितत्वेन, समनन्तरं तेन'**।[1] पूर्ववर्ती चित्त का ज्ञान करने के कारण उत्तरवर्ती चित्त उसके समान या 'सम' हुआ और उससे अव्यवहित अर्थात् ठीक बाद में होने के कारण 'अनन्तर' भी अब चूँकि इन सारे पूर्ववर्ती चित्तों का धारारूप से प्राणी में अस्तित्व बना रहता है और धारारूप में यह 'आलयविज्ञान' नामक चित्तप्रवाह चित्त के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, इसलिये चित्त का ज्ञान चित्त को ही होता है—ऐसा कहने में कोई गड़बड़ी नहीं है। अतः चित्त को 'स्वाभास' कहने में कोई त्रुटि नहीं है। इति—इस पक्ष के निराकरण के लिये २१वाँ सूत्र प्रवृत्त हो रहा है।

(सू० सि०)—चित्तान्तरदृश्ये (मते सति इति शेषः)—अन्यच्चित्तं चित्तान्तरम् (मयूरव्यंसकादिसमासः), चित्तान्तरस्य दृश्यम् (पूर्ववर्ती चित्तम्) इति चित्तान्तरदृश्यं तस्मिन् तथोक्ते सति, पूर्ववर्तीचित्त अन्य चित्त अर्थात् उत्तरवर्ती (समनन्तर) चित्त के द्वारा देखा या जाना जाता है।—ऐसा स्वीकार करने पर (भावे सप्तमी)। बुद्धिबुद्धेः अतिप्रसङ्गः—बोध्यतेऽनयेति बुद्धिः ज्ञातृचित्तम्, तस्याः बुद्धिः 'ज्ञातृचित्तम्' इति बुद्धिबुद्धिः, तस्याः अतिप्रसङ्गः **'अनवस्था'**—(भा०), उस ज्ञाता चित्त का भी ज्ञाता कोई चित्त होगा और उसका भी ज्ञाता कोई चित्त होगा। इस प्रकार के अनवस्थादोष की प्रसक्ति होगी। पूर्व-पूर्ववर्ती चित्त के ज्ञाता उत्तरोत्तरवर्ती चित्तों में से अन्तिम चित्त स्वयं ज्ञात नहीं होगा। स्वयं अज्ञात वह चित्त अपने पूर्ववर्ती चित्त का ज्ञान कैसे करा सकता है? इसलिये यहाँ अनवस्था दोष पूर्णतः लागू होता है। **नार्हति चरमा बुद्धिः पूर्वबुद्धिग्रहणे समर्था, नहि बुद्ध्याऽसम्बद्धा पूर्वा बुद्धिर्बुद्धा भवितुमर्हति, नह्यगृहीतदण्डो दण्डिनमवगन्तुमर्हति। तस्मादनवस्थेति'**।[2]

इस मत में इस दोष के अतिरिक्त एक और दोष भी है। कौन-सा? इसका उत्तर है—स्मृतिसङ्करश्च, और स्मृतियों का सङ्कर अर्थात् सङ्कीर्णता या व्यामिश्रण भी प्राप्त होगा। वह इस रूप का होगा, जैसे—किसी क्षण के चित्त के द्वारा घट का प्रकाशन हुआ, 'घटं जानामि'—इस रूप का। इस चित्त का ज्ञान करने

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४३२।
२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४३३।

वाले चित्त ने, मान लीजिये 'पट' का प्रकाशन किया और साथ ही पूर्ववर्ती घटज्ञाता चित्त का भी उसने प्रकाशन किया। अब इस दूसरे चित्त का ज्ञान दो प्रकार का हुआ—'पटं जानामि' + 'घटज्ञातृचित्त जानामि'। इसी प्रकार तीसरे क्षण के चित्त को जब 'मठ' का ज्ञान हुआ, तो उसका ज्ञान इस प्रकार का होगा—'मठं जानामि' + पटज्ञातृचित्तं जानामि + घटज्ञातृचित्तज्ञातृचित्तं जानामि।' इस मठज्ञान में पट और घट के ज्ञानों की स्मृतियाँ मिली हुई हैं। इसका फल यह होगा कि जब पट की स्मृति होगी, तब घट की स्मृति भी उससे मिली हुई ही उपस्थित होगी। इसी प्रकार बाद वाले चित्तों में तो अनेक स्मृतियाँ एक-दूसरे से मिली-जुली ही उपस्थित होंगी। और कोई भी एक स्मृति, जिसे हम उपस्थित करना चाहेंगे, शुद्ध रूप में उपस्थित ही नहीं हो सकेगी। इसी को यहाँ 'स्मृतिसङ्कर' नामक दोष कहा गया है। इन दोनों दोषों की दुर्निवार आपत्ति के कारण चित्त के ज्ञाता के रूप में उसके 'समनन्तर चित्त' को नहीं स्वीकार किया जा सकता। **'चित्तं यदि पूर्वचित्तस्य द्रष्टृ स्यात् तदा तदसङ्ख्यातपूर्वचित्तगतस्मृतीनामपि युगपद् द्रष्टृ स्यादेवं स्मृतिसङ्करः'** (भा० पृ० ४३२) ॥ २१ ॥

(**भा० सि०**)—इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं। अथ—अब। चेत्—यदि। चित्तम्—विषय को प्रकाशित करने वाला चित्त। चित्तान्तरेण—अपने उत्तरवर्ती 'समनन्तर' चित्त से। गृह्येत—गृह्यते इति स्वीक्रियेत, 'ग्रहण किया जाता है'—ऐसा स्वीकार किया जाए। तो स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि। बुद्धिबुद्धिः—इस पूरे प्रकरण में ज्ञान, बुद्धि और चित्त पर्यायवाची हैं। उस चित्त का दृश्य चित्त। केन गृह्यते—किसके द्वारा जाना जाता है ? यह वैनाशिक लोग यह कहें कि। साऽपि—पूर्वचित्त का ज्ञाता वह चित्त भी। अन्यया–अन्य बुद्धि के द्वारा अर्थात् अपने उत्तरवर्ती चित्त के द्वारा ज्ञात होता है। साऽपि—और यह बाद वाली ग्राहिका बुद्धि भी। अन्यया—अपनी उत्तरवर्तिनी अन्य बुद्धि के द्वारा गृहीत होती है। इति—इस प्रकार से। अतिप्रसङ्गः—अनवस्था होगी। **'अतिप्रसङ्गोऽनवस्था'**—(यो० वा०)। स्मृतिसङ्करश्च—और स्मृतियों की सङ्कीर्णता वाला दोष भी होगा। **'स्मृतीनां व्यामिश्रीभावः'**—(भा०)। इस 'स्मृतिसङ्कर' दोष का व्याख्यान किया जा रहा है। यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवाः—पूर्वपूर्वज्ञातृचित्तों के ज्ञाता समनन्तर चित्तों के अपने-अपने विषयानुभव होंगे। तावत्यः स्मृतयः—उतनी सभी स्मृतियाँ। प्राप्नुवन्ति—उपस्थित होती हैं, इकट्ठी हो जायेंगी। तत्सङ्कराच्च—तासां स्मृतीनां सङ्करात् च, व्यामिश्रीभावात् च, और उन सभी स्मृतियों के एक में ही मिली हुई होने के कारण। एकस्मृत्यनवधारणं च स्यात्—किसी भी एक स्मृति का अलग से निश्चय नहीं हो सकेगा। इत्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषम्—चित्त के द्रष्टा

या साक्षी अर्थात् प्रतिसंवेदनकर्ता पुरुष को। अपलपद्भिः—अस्वीकार करते हुए। वैनाशिकैः—सभी बौद्धों के द्वारा। सर्वमेव—**'सर्वबन्धमोक्षधर्माधर्मादिव्यवस्थादिकम्'**—(यो० वा०)। जीव के बन्धमोक्षादि की सारी व्यवस्था ही। आकुलीकृतम्—**'विपर्यस्तम्'**—(भा०), अस्त-व्यस्त कर दी गयी है, नानादोषों से दूषित कर दी गयी है। ते तु—उन लोगों ने तो। भोक्तृस्वरूपम्—वास्तविक भोक्ता अर्थात् ज्ञाता पुरुष के अस्तित्व को। यत्र क्वचन कल्पयन्तः—जहाँ-कहीं भी कल्पित करते हुए। तात्पर्य यह है कि वे 'पुरुष' तत्त्व को स्वीकार न करने के कारण, उस तत्त्व के 'भोक्तृत्व' अर्थात् 'चित्तद्रष्टृत्व'-रूपी स्वरूप को कभी 'उसी चित्त' में और कभी चित्त के क्षणभङ्गुरत्व का ध्यान करके उसके 'समनन्तरचित्त में' कल्पित करते हैं। ऐसी गड़बड़ी करते हुए ये बौद्ध लोग। न्यायेन न सङ्गच्छन्ते—न्यायसङ्गत नहीं होते अर्थात् युक्तिसङ्गत नहीं माने जा सकते। **'भोक्तृस्वरूपे न न्यायेन सङ्गच्छन्ते न्यायविरुद्धा इत्यर्थः'**—(यो० वा०)। भाष्यकार के समय में विज्ञानवादी और शून्यवादी इन दोनों की प्रसिद्धि थी, इसलिये भाष्यकार इन दोनों मतों की इस प्रसङ्ग में अलग-अलग न्यायविरुद्धता प्रदर्शित कर रहे हैं। पहले विज्ञानवादियों की न्यायविरुद्धता को प्रपञ्चित किया जा रहा है। केचित्—कुछ बौद्ध लोग अर्थात् विज्ञानवादी बौद्ध। सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्य—चित्त (सत्त्व) को ही परिकल्पित करके अर्थात् चित्त की ही सत्ता स्वीकार करके ऐसा कहते हैं कि। अस्ति स सत्त्वः—वह चित्त, सत्त्वधारा (आलयविज्ञान) के रूप में प्रवाहित होता रहता है। वही जनसामान्य में 'जीव' कहा जाता है। यः—जो कि। एतान् पञ्चस्कन्धान्—इन रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान और संस्कार नामक पाँचों स्कन्धों को। प्रतिसन्दधाति—धारण करता है। यहाँ पर विज्ञानवादियों के सिद्धान्त की दो बातें स्पष्ट समझ ली जानी चाहिए। प्रथम तो यह कि रूपादि पाँचों स्कन्ध क्या हैं और इनकी कार्य-प्रणाली क्या है? द्वितीय यह कि क्या निर्वाण हो जाने पर भी जीव इन स्कन्धों को (नये शुद्ध रूप में) धारण करता है?

पाँच स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान और संस्कार नामक पाँच स्कन्धों की सत्ता अपने-अपने ढङ्ग से सभी बौद्ध दार्शनिक स्वीकार करते हैं। ये स्कन्ध धर्मों के समूह (Aggregate) होने के कारण धर्मों के ही भेद हैं। ये धर्म 'द्रव्य' नहीं हैं। प्रत्युत क्षणिक, पृथक् एवं अन्तिम पदार्थ हैं। कोई भी बाह्य या आन्तर वस्तु इन्हीं धर्मों का समूह होती है। ये समूह पाँच प्रकार के गिनाये गये हैं। यही रूपादि पञ्चस्कन्ध हैं। ये पाँचों स्कन्ध व्यक्तित्व के निर्माता (Factors) सूक्ष्मतम अवयव कहे जा सकते हैं। स्कन्धों में वस्तुतः दो वर्ग हैं—रूपस्कन्ध और नामस्कन्ध। नाम-स्कन्ध के चार भेद हैं—वेदना, संज्ञा, विज्ञान और संस्कार।
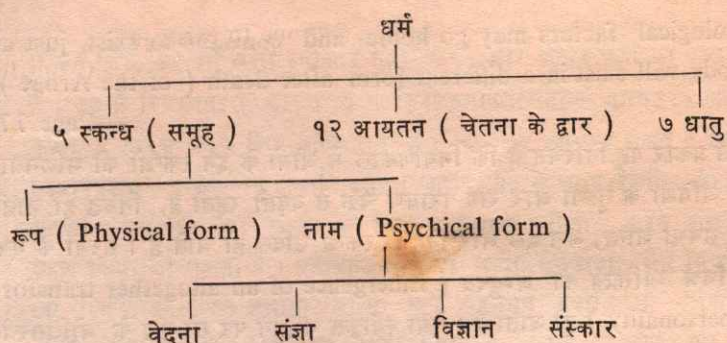
बाह्य और आन्तर शारीरिक रूप (Form) ही 'रूपस्कन्ध' है। सुखरूपा, दुःखरूपा और उपेक्षारूपा वेदना (Feeling) 'वेदनास्कन्ध' है। प्रत्यक्षीकरण (Perception) ही 'संज्ञास्कन्ध' है। यह चित्तसहित षडिन्द्रियों के प्रत्यक्षीकरण के रूप का होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण स्कन्ध 'विज्ञानस्कन्ध' है। यह चेतना (Consciousness) रूप का होता है, यह जीव की समग्र अनुभूतियों का लेखा-जोखा है। 'संस्कारस्कन्ध'—सप्रयोजन मानसिक क्रियात्मकता के रूप का होता है। इन पाँचों स्कन्धों का आविर्भाव होना तथा द्वादश आयतनों का प्रतिलाभ ही जीव या सत्त्व का जन्म है और इन स्कन्धों का भेदन होना ही जीव का मरण है।[1]

निर्वाण की दशा में इन स्कन्धों की स्थिति—जब कोई जीव निर्वाणलाभ करता है, तब इन स्कन्धों का क्या होता है? क्या ये एकदम नष्ट हो जाते हैं? और उस जीव का, जिसमें कोई आत्मा स्वीकृत नहीं है—उच्छेद हो जाता है? इसका निश्चित उत्तर 'उदान ९३' में मिलता है —

अभेदि कायो, निरोधिसञ्ञा वेदना पीति दम्हंसु सब्बा।
अव्युपसंमिसु संखारा विञ्ञानं अत्थं अगमा।

इसका अर्थ करते हुए Rune E. A. Johanson अपनी पुस्तक 'The Psychology of Nirvana' में लिखते हैं—'The body is broken, idealism is stopped, all feelings are cooled, the activities are calmed down, consciousness has gone to rest. The choice of verbs is interesting, since most of them suggest stopping or reaching immobility rather than annihilation. This is in good agreement with the Buddhist view of the process—nature of personality and it also suggests that the

१. 'जन्म खन्धानां पातुभावो आयतनानां पटिलाभो।'—संयुक्त निकाय II 31. 'मरणं खन्धानां भेदो।'—मज्झिमनिकाय III 249।

psychological factors may go home and continue to exist, just as the body will exist in a different form after death (of the Arhat)'
—Page 77.

इस प्रकार यह निश्चित है कि निर्वाणकाल में जीवों के इन स्कन्धों की मलिनता, जो कि अविद्या के तृष्णा और राग-परायण चक्र से बढ़ती रहती है, निरुद्ध हो जाती है और सर्वथा शान्त, अचञ्चल और निर्दुःख स्कन्ध उदित हो जाते हैं। सत्त्वों के एक सर्वथा भिन्न व्यक्तित्व का अभ्युदय (Emergence of an altogether transformed personality) हो जाता है। ऐसा स्वीकृत न होने पर तो बुद्ध के 'बोधिसत्त्व' रूप और उनकी 'महाकरुणा' आदि की कल्पना ही असम्भव हो जाएगी।

इति उक्त्वा—ऐसा मत प्रतिपादित करके ये विज्ञानवादी बौद्ध। पुनः—फिर। तत एव—उसी मतवाद से। त्रस्यन्ति—डरते हैं। तात्पर्य यह है कि पञ्चस्कन्धयुक्त चित्त को निर्वाण-काल में भी स्थित मानने पर व्यक्तित्वसम्पन्न चित्त की नित्यता सिद्ध होती है। और यह नित्य-व्यक्तित्व-स्वीकार तो 'आत्मा' की सत्ता का नामान्तर ही है। इसलिये उनका 'अनात्मवाद' धराशायी होने लगता है। इस स्थिति से उनका डरना उनके सिद्धान्त में 'स्वमतविरोध' की प्रबलता को प्रकट करने की दृष्टि से कहा गया है। '**इति ततश्च तत एव स्वाभ्युपगमात् पुनस्त्रस्यन्ति चित्तस्थैर्यापत्त्येत्यर्थः।**'[1]

अब विज्ञानवादियों के व्यक्तित्वसम्पन्न चित्त का भी अपलाप करने वाले शून्यवादियों के सिद्धान्त की विडम्बनापूर्ण स्थिति का आकलन किया जा रहा है। तथा—तेनैव युक्तिविरुद्धेन प्रकारेण, उसी युक्तिहीन ढङ्ग से। 'सत्त्वमेवापह्नुवते' के साथ 'तथा' का अन्वय है। अन्य बौद्ध लोग अर्थात् शून्यवादी बौद्ध। स्कन्धानां महानिर्वेदाय—वर्तमान पाँच स्कन्धों की पूर्ण शान्ति के लिये। अर्थात्। विरागाय—रागादिराहित्य के लिये। तथा इस जीवन के पश्चात् फिर कभी भी। अनुत्पादाय—इनकी उत्पत्ति न होने देने के लिये। अर्थात्। प्रशान्तये—प्रकृष्टा शान्तिः तस्यै, शाश्वतिक व्युपशम के लिये। गुरोः—अपने गुरु के। अन्तिके—निकट। ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि—ब्रह्मचर्यादि समस्त कठोर व्रतों का पालन करूँगा। 'ब्रह्मचर्यव्रत' समस्त बौद्धचर्याओं का उपलक्षण है। इत्युक्त्वा—'अहं' पद के लक्ष्यभूत व्यक्तित्व-सम्पन्न चित्त के सम्बन्ध में यह सब कह कर भी। पुनः—फिर स्वयं ही। सत्त्वस्य—उस व्यक्तित्वसम्पन्न चित्त की भी। सत्त्वम्—सत्ता को। एव—ही। अपह्नुवते—अपह्नुत करते हैं, निराकृत करते हैं। आशय यह है कि विज्ञानवादी कम से कम चित्त की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, भले ही उनके आत्मा के समान नित्यरूप में सिद्ध होने के कारण डरते हैं। ये शून्यवादी तो उनसे भी एक हाथ आगे निकले।

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४३२।

ये उस चित्त की भी सत्ता स्वीकार नहीं करते और कठोर व्रतों का पालन भी करते हैं। यह है विडम्बना। वस्तुतः ये सारी विसंगतियाँ नित्य आत्मतत्त्व को स्वीकृत न करने के कारण उनके लिये 'गलेपतित' हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि। सांख्य-योगादयस्तु—सांख्य-योग इत्यादि दर्शन। 'आदि' पद से न्याय-वैशेषिक-वेदान्त इत्यादि आत्मनित्यत्ववादी तथा आत्मा को चित्त का द्रष्टा स्वीकार करने वाले दर्शनों का ग्रहण किया जा सकता है। प्रवादाः—प्रकृष्टाः वादाः मतवादाः, श्रेष्ठ सिद्धान्त हैं। जो कि 'स्व'शब्देन—स्व अर्थात् 'आत्मा' से। पुरुषमेव स्वामिनम्—चित्त के स्वामी 'पुरुष' तत्त्व को ही। चित्तस्य भोक्तारमुपयन्ति—चित्त के भोक्ता को प्रतिपादित करते हैं, अभिहित करते हैं॥ २१॥

कथम् ?—

किस प्रकार से (पुरुषतत्त्व को चित्त का द्रष्टा स्वीकार करते हैं) ?—

चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥२२॥

प्रतिसंक्रमणरहित पुरुष के उस (बुद्धिवृत्ति) के रूप का हो जाने पर (उसको) अपनी बुद्धि का ज्ञान हो जाता है॥ २२॥

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकार्यमात्रतया[1] बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते। तथा चोक्तम्—

> **'न पातालं न च विवरं गिरीणां,**
> **नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।**
> **गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं**
> **बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥' इति॥ २२॥**

अपरिणामिनी तथा प्रतिसंक्रमणरहित भोक्तृशक्ति (पुरुष), परिणामी पदार्थ (बुद्धि) में प्रतिसंक्रमित-सी होकर उस (बुद्धि) की वृत्ति का आकार ग्रहण करती है। चेतन पुरुष के प्रतिबिम्बग्रहण से (चेतनयुक्त-सा) स्वरूप प्राप्त करने वाली उस बुद्धि की वृत्ति की अनुकृतिमात्र (सी) होने के कारण (पुरुष की) बुद्धिभोक्तृत्व-रूपिणी स्थिति, बुद्धिवृत्ति से अभिन्नाकार कही जाती है। और वैसा कहा भी गया है—

'वह गुहा, जिसमें नित्य पुरुषतत्त्व निहित रहता है, न तो पाताल है और न पर्वतों की गुफा है; न अन्धकार है और न समुद्रों का अन्तस्तल है। (फिर वह

---

१. 'अनुकारमात्रतया'—इति पाठान्तरम्।

क्या है ?) क्रान्तदर्शी ऋषिगण पुरुष की भोक्तृत्वरूपिणी प्रतीयमानावृत्ति से अभिन्नाकार बुद्धि की वृत्ति को ही वह गुहा जानते हैं' ॥ २२ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—कथम्—केन प्रकारेण पुरुषस्य चित्तद्रष्टृत्वं बुद्धिभोक्तृत्वं वा सिध्यतीति शङ्का ? सांख्ययोग इत्यादि प्रकृष्ट मत 'पुरुषतत्त्व' को चित्त का भोक्ता या ज्ञाता स्वीकार करते हैं, यह सिद्ध किया जा चुका है। इस पर शङ्का होती है कि भला यह कैसे सम्भव है ? क्योंकि पुरुष तो परिणामी और सर्वथा निष्क्रिय है ? इसका उत्तर वर्तमान सूत्र में दिया जा रहा है।

(**सू० सि०**)—अप्रतिसंक्रमायाः चितेः—प्रतिसंक्रमण अर्थात् संचाररूपी सकल क्रियाओं से रहित अर्थात् अपरिणामिनी चितिशक्ति (पुरुषतत्त्व) के। तदाकारापत्तौ—बुद्धिवृत्ति के आकार की आ पड़ने पर अर्थात् बुद्धिवृत्ति के स्वरूप के सदृश स्वरूप धारण कर लेने पर। स्वबुद्धिसंवेदनम्—पुरुष को अपनी बुद्धि का ज्ञान अर्थात् भोग होता है। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। भाव यह है कि यद्यपि पुरुष बुद्धि के रूप में परिणत होने की क्रिया नहीं करता, जैसा कि विषय का ज्ञान करने वाली बुद्धि विषयाकाराकारित होने की क्रिया करती है। फिर भी पुरुष में बुद्धि का ज्ञातृत्व तो संभव हो जाता है। वह कैसे ? तदाकारापत्ति मात्र से। बुद्धि अपने घटादि विषय का ज्ञान करने के लिये 'तदाकारपरिणाम' का सहारा लेती है, किन्तु पुरुष, जो कि तदाकारपरिणामी स्वभाव का नहीं है, वह अपने विषयभूत चित्त का ज्ञान 'तदाकारापत्ति' के द्वारा ही कर लेता है। यह 'तदाकारापत्ति' वाचस्पतिमिश्र और विज्ञानभिक्षु दोनों आचार्यों के मतों में अलग-अलग ढङ्ग से बतायी गयी है।

(१) वाचस्पतिमिश्र के अनुसार पुरुष की तदाकारापत्ति—बुद्धि में पड़ा हुआ पुरुषप्रतिबिम्ब ही बुद्धि को चेतनवती-सी कर देता है और तब वह विषयाकार में परिणत होती है। विषयाकाराकारित बुद्धि ही बुद्धिवृत्ति कही जाती है। यही बुद्धिकृत विषयज्ञान है। अब इस ज्ञान को पुरुष इस रूप में आत्मसात् करता है—'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवानहम्'। यही पुरुष का 'बुद्धिप्रतिसंवेदन' या 'भोग' या 'चित्तज्ञातृत्व' है। किन्तु अपरिणामी पुरुष कैसे विषयाकाराकारित बुद्धि को आत्मसात् करता है ? वाचस्पति मिश्र का मन्तव्य यह है कि पुरुष अपने शुद्ध रूप में यह कार्य नहीं करता, प्रत्युत बुद्धि में पड़ा हुआ 'पुरुषप्रतिबिम्ब' ही इस ज्ञान को आत्मसात् करता है। बुद्धिस्थ वह 'पुरुषप्रतिबिम्ब' ही 'अस्मिता' है। बुद्धि जिस आकार की परिणत हुआ करेगी, उस बुद्धि में स्थित 'पुरुषप्रतिबिम्ब' भी उसके परिणत होते हुए आकारों का अनुपतन करता जाएगा। बुद्धिवृत्ति के सारे रूप उस 'पुरुषप्रतिबिम्ब' में आपतित होते जायेंगे। जैसे—जब चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब साफ

किन्तु चंचल जल में पड़ता है, तो वह प्रतिबिम्ब जल की चंचलता के कारण चंचल होता है। फलतः स्वयं चंचल न होने पर भी चन्द्रमा अपने प्रतिबिम्ब के रूप में चंचल दिखायी पड़ता है। ठीक इसी प्रकार पुरुष की अपरिणामिता के बावजूद बुद्धि में पड़ा हुआ 'पुरुषप्रतिबिम्ब' चित्त के स्वगतपरिणाम के द्वारा प्राप्त चित्तज्ञान का ज्ञाताबनता है। यही है पुरुष की बुद्ध्याकारापत्ति। और इसी से पुरुष का स्वबुद्धि-भोग सिद्ध होता है।[1]

(२) **विज्ञानभिक्षु के अनुसार तदाकारापत्ति का स्वरूप**—बुद्धिस्थ पुरुषप्रतिबिम्ब इस बुद्धिवृत्ति का ज्ञाता या भोक्ता नहीं बनता, प्रत्युत ऐसा होता है कि चित्प्रतिबिम्ब से चेतनवती बुद्धि विषयाकार परिणत होकर बुद्धिवृत्ति बनती है। यह विषया-काराकारित बुद्धि अर्थात् बुद्धिवृत्ति शुद्ध पुरुषतत्त्व में स्वतः प्रतिबिम्बित होती है। असङ्ग पुरुषतत्त्व में पड़ा हुआ बुद्धि का यह प्रतिबिम्ब पुरुष को अपने आकार का कर देता है। जैसे कि—स्फटिकमणि से सन्निहित जपाकुसुम प्रतिबिम्ब होकर स्फटिक को भी अपने आकार का-सा कर देता है। इस स्थिति में पुरुष, बुद्धि के आकार का आ पड़ता है। यही उस पुरुष की बुद्ध्याकारापत्ति है और इसी अवस्था में पुरुष उस बुद्धि का ज्ञाता, प्रमाता या भोक्ता कहा जाता है॥ २२॥

(**भा० सि०**)—अपरिणामिनी—परिणाम से रहित। अप्रतिसंक्रमा च—तथा प्रतिसंक्रमण अर्थात् संचार (Movement) से शून्य। हि भोक्तृशक्तिः—बुद्धि का भोग करने वाली चितिशक्ति (पुरुषतत्त्व)। परिणामिनि अर्थे—परिणामशील पदार्थ अर्थात् चित्त में। प्रतिसङ्क्रान्ता इव—प्रतिसङ्क्रमित-सी होकर। तद्वृत्तिम्—तस्य चित्तस्य वृत्तिः ताम्, उस चित्त की वृत्ति में। अनुपतति—अनुपतित-सी हो जाती है, उसमें पड़-सी जाती है अर्थात् उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है। प्रतिबिम्ब रूप में किसी पदार्थ में पड़ना, प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ के संचार के बिना भी सम्भव है, जैसे—कुर्सी पर बैठे हुए किसी प्राणी का प्रतिबिम्ब दूर सामने रखे हुए शीशे में बिना उस प्राणी के कुर्सी से उठे ही पड़ जाता है। चित्त में पड़ा हुआ यह पुरुष-प्रतिबिम्ब ही उस अचेतन चित्त को चेतनवत् (Intelligise) कर देता है। **'इदमेव प्रतिबिम्बं बुद्धेश्चिच्छायापत्तिरित्युच्यते। तथा बुद्धेरर्थाकारतावद् आत्माकारतेत्युच्यत इति मन्तव्यम्। यद्यपि घटाद्याकारपरिणामवदात्माकारपरिणाम एव बुद्धेर्भवति तथाऽपि प्रतिबिम्बतुल्यतया स एव प्रतिबिम्बमप्युच्यते।'**—(यो० वा०)। प्राप्तचैतन्योपग्रह-स्वरूपायाः च—प्राप्तं चैतन्यस्य पुरुषस्य उपग्रहेण प्रतिबिम्बेन स्वरूपं चेतनवदाकारः यया तस्याः (बुद्धिवृत्तेः) और चेतन पुरुष के उपग्रह अर्थात् प्रतिबिम्ब से अपना चेतनसदृश रूप प्राप्त करने वाली। तस्याः बुद्धिवृत्तेः—उस चित्तवृत्ति के। अनुकार्य-

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४३५।

मात्रतया—अनुकार एवेति अनुकारमात्रं तस्य भावोऽनुकारमात्रता, तया तथोक्त्या, अनुकारमात्र होने के कारण। भाव यह है कि (विज्ञानभिक्षु के मतानुसार) इस चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब शुद्ध पुरुषतत्त्व में ज्यों का त्यों पड़ता है। चित्तवृत्ति पुरुष में हूबहू प्रतिबिम्बित हो जाती है।[1] (वाचस्पतिमिश्र के मतानुसार) बुद्धि में पड़ा हुआ पुरुषप्रतिबिम्ब भी बुद्धिवृत्ति के आकार से उपरक्त होकर वैसा ही हो जाता है। दोनों मतों से सिद्ध इस अनुकरणात्मकता के कारण। ज्ञानवृत्तिः—पुरुष की भोगरूपिणी वृत्ति प्रमाता पुरुष को अनुभूयमान ज्ञान। बुद्धि-वृत्त्यविशिष्टा—चित्तवृत्ति से अविशिष्ट, अभिन्न, समान।[2] हि—ही। आख्यायते—कही जाती है। यह ज्ञातव्य है कि बाद के रामानन्दयति और नारायणतीर्थ आदि योगसूत्रव्याख्याताओं ने वाचस्पतिमिश्र के 'एकप्रतिबिम्बवाद' को ही अपनाया है। हाँ, भावागणेश और नागोजीभट्ट इस सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु के 'द्विप्रतिबिम्बवाद' को ही प्रतिपादित करते हैं। तथा चोक्तम्—और बुद्धिवृत्ति में पुरुष की इस स्थिति को प्रमाणित करने के लिये आगमप्रामाण्य उद्धृत कर रहे हैं। गुहा—गुफा। यस्याम्—जिसमें। शाश्वतं ब्रह्म—नित्य ब्रह्म अर्थात् पुरुषतत्त्व। निहितम्—प्रतिबिम्बरूप से स्थित होता है। न पातालम्—न तो पाताललोक है। न च गिरीणां विवरम्—न वह पर्वतों की कन्दरा है। नैवान्धकारम्—न अन्धकार ही पुरुषतत्त्व के रहने की गुफा है। न उदधीनां कुक्षयः—न तो समुद्रों की अपरिमित गहराई वाली तलहटी ही वह गुफा है। 'कुक्षि' का अर्थ होता है 'कोख' अर्थात् 'आन्तरिकस्थान'। कवयः—क्रान्तदर्शी महर्षि लोग। अविशिष्टां बुद्धिवृत्तिम्—भोगरूपिणी ज्ञानवृत्ति के समान बुद्धि की वृत्ति (वा० मि०), अपने समान रूप से पुरुषतत्त्व में प्रतिबिम्बित चित्त की वृत्ति—(वि० भि०), को ही। (गुहाम्) पुरुष के अस्तित्ववाली गुफा। वेदयन्ते—प्रतिपादित करते हैं, बताते हैं। **'सा गुहा न पातालादि किन्तु ब्रह्मवृत्त्य-विशिष्टां बुद्धिवृत्तिमेव कवयः पण्डिताः पश्यन्तीति। अविशिष्टता च परस्परं प्रति-बिम्बनादुभयोरेव विषयाकारत्वं चेतनसाम्यमित्युक्तम्।'**—(यो० वा०) ॥ २२ ॥

अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

और इसीलिये यह स्वीकार किया जाता है कि—

---

१. 'यादृशं ज्ञानक्रोधादिवृत्तीनां रूपं तादृशमेव बिम्बप्रतिबिम्बोद्ग्रहणात् तदेव वृत्तिबोधस्वरूपं, स च वृत्तिबोधो वृत्त्यविवेकेन जानामीति वृत्त्यन्तरस्य विषय एव भवति, ज्ञानचितिबोधादिशब्दानां पर्यायत्वादिति।'—यो० वा० पृ० ४३५।

२. 'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धिसन्निधिसत्तया।
यथा यथा भवेद् बुद्धिरात्मा तद्वदिहेष्यते॥'—आदित्यपुराणम्।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (विषयों) से अभिसम्बद्ध चित्त (सभी विषयों वाला होता है) ॥ २३ ॥

मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तम्। तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणाऽऽत्मीयया वृत्त्याऽभिसम्बद्धम्। तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नम्, विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते। तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः। अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति। अनुकम्पनीयास्ते। कस्मात्? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति। समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः। स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत। तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति। एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते[1] ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुष इति ॥ २३ ॥

चित्त (अपने) ज्ञेय पदार्थों से उपरञ्जित होता है। और वह (चित्त) स्वयं ही विषय होने के कारण विषयी पुरुष से (चित्त की) अपनी वृत्ति के द्वारा सम्बन्धित होता है, इस प्रकार वह यह चित्त ही द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (शब्दादि-विषयों) से उपरञ्जित होता है, (अर्थात्) विषयी (पुरुष) और विषय (शब्दादि) के स्वरूप से भासित होता है, (अर्थात्) चेतन (पुरुष) और अचेतन (शब्दादि विषयों) के आकार से आकारित होता है। (इस पुरुषाकाराकारितता के कारण) विषयरूप होने पर भी अविषयात्मक (अर्थात् विषयी पुरुष) जैसा और अचेतन (प्रकृतिज) होने पर भी चेतन (पुरुष) जैसा होता है और स्फटिक मणि के समान सर्व—(सन्निहित)—विषयात्मक कहा जाता है। अतः चित्त की इस (पुरुष की) समानरूपता के द्वारा भ्रमित हुए कुछ लोग उसी को 'चेतन पुरुष' कहते हैं। इसी प्रकार के भ्रम से अन्य लोग मानते हैं कि ये समस्त पदार्थ चित्त ही हैं और ये गाय इत्यादि तथा घट इत्यादि कारणों सहित सारे बाह्य पदार्थ (स्वतः) हैं ही नहीं। वे (दोनों वादी) कृपा के पात्र हैं, क्यों? (पुरुष और बाह्यपदार्थ) सभी के आकार से भासित होने वाला चित्त ही उनके भ्रम का कारण है। समाधि-

---

१. 'प्रविभज्यन्ते'—इति पाठान्तरम्।

कालिक प्रज्ञा में ज्ञायमान (पुरुष और बाह्यवस्तु रूपी) अर्थ प्रतिबिम्बित होता है । (अतः) उस चित्त का आलम्बन बनने के कारण (उससे भिन्न) होता है । यदि वह (पुरुष या बाह्यवस्तु रूप) अर्थ चित्त ही होता तो कैसे चित्त के द्वारा चित्त का ही रूप अवधारित किया जाता ? इसलिये प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित हुआ (चेतन या अचेतन) अर्थ जिसके द्वारा जाना जाता है, वह पुरुष (नामक) पदार्थ है । (जो लोग) इस प्रकार (अलग-अलग) ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य के आकार वाले ज्ञानों के भिन्न होने के कारण इन (ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य) तीनों को स्वभावतः विविक्त रूप में जानते हैं, वे ठीक जानने वाले होते हैं । उनके द्वारा ही 'पुरुष' (तत्त्व) का साक्षात्कार किया जाता है ॥ २३ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—अतश्च—और इसीलिये (कि चित्त स्वयं पुरुष के भोग या ज्ञान का विषय है) । एतद् अभ्युपगम्यते—यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि ।

(सू० सि०)—द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तम्—द्रष्टा च दृश्यञ्चेति द्रष्टृदृश्ये, ताभ्याम् उपरक्तम् उपरञ्जितम् अभिसम्बद्धं चित्तम्, द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (पुरुष तथा बुद्धि के अतिरिक्त समस्त बाह्यविषय) दोनों से उपरञ्जित अर्थात् दोनों के आकार को ग्रहण करने के कारण दोनों से सम्बन्धित चित्त । सर्वार्थम् (भवतीति शेषः)—सर्वं द्रष्टा पुरुषः दृश्यं प्रपञ्चोऽचेतनं तत्सर्वं चेतनाचेतनम् अर्थः विषयः यस्य तत् सर्वार्थम्, सर्वविषयकं भवतीत्यर्थः (बहुव्रीहिः), द्रष्टापुरुष और दृश्य शब्दादि पदार्थ, सभी हैं अर्थ या विषय जिसके वह हुआ 'चित्त' । आशय यह है कि चित्त, पुरुष को भी सान्निध्यवशात् आलम्बन बनाता है, इसलिये पुरुषाकाराकारित भी होता है, और अन्य सभी अचेतन विषयों को भी अपना विषय बनाता है, अतः उनके आकार से भी भासित होता है । अतः चित्त 'द्रष्टृपुरुषाकार' और 'दृश्यविषयाकार' भासित होने के कारण सर्वाकार भासित होता है । इस प्रकार चित्त 'सर्वविषयक' या 'सर्वार्थ' सिद्ध होता है । चित्त की इस सर्वाकारता में यह विवेक अवश्य रखना चाहिये कि द्रष्टा के सान्निध्यमात्र से चित्त स्वतः पुरुषाकार हो जाता है, किन्तु दृश्य—विषयों का आकार ग्रहण करने में उसे इन्द्रियादि का माध्यम भी ग्रहण करना पड़ता है[१] ॥ २३ ॥

---

१. 'द्रष्टा पुरुषश्चेतनः दृश्यं शब्दाद्यचेतनमिति । तत्सर्वं चेतनाऽचेतनमर्थो विषयो यस्य तत्सर्वार्थं तत्र तत्सान्निध्याच्चिद्रूपतामिव प्राप्तं द्रष्टृचिदुपरक्तं द्रष्टृविषयं भवति इन्द्रियादिद्वारा दृश्योपरक्तं तदाकारं भवति'—(मणिप्रभा पृ० १६) ।

(भा० सि०)—मनो हि—मन या चित्त तो । मन्तव्येन अर्थेन—ज्ञातव्य पदार्थ घट इत्यादि से । उपरक्तम्[1]—उपरञ्जित हो जाता है, जैसे—स्फटिक मणि निकटस्थ जपाकुसुम से उपरञ्जित होकर तदाकाराकारित हो जाता है । तत् स्वयं च—और वह मन या चित्त स्वयम् । विषयत्वाद्—पुरुष का विषय होने के कारण । विषयिणा पुरुषेण—द्रष्टा पुरुषतत्त्व के साथ । आत्मीयया वृत्त्या—**'स्वकीयया चिद्रूपया वृत्त्या'**—(भा०), **'तच्छायापत्तिः पुरुषस्य वृत्तिः'**—(त० वै०), पुरुष की अपनी चैतन्यलक्षणा छायाऽऽपत्तिरूपा वृत्ति अर्थात् पुरुषप्रतिबिम्ब के द्वारा । अभिसम्बद्धम्—सम्बन्धित होता है । भाव यह है कि चित्त पुरुषाकाराकारित भी होता है । तद् एतत् चित्तमेव—वह यह चित्त ही । द्रष्टृदृश्योपरक्तम्—द्रष्टा पुरुष और दृश्य घटादिविषय दोनों से उपरञ्जित होता है । इसका अर्थ यह हुआ कि । विषयविषयिनिर्भासम्—घटादिविषय और पुरुषतत्त्व नामक विषयी—इन दोनों के आकार से भासित होता है । और इस प्रकार वह चित्त । चेतनाचेतनस्वरूपापन्नम्—चेतनपुरुष तथा अचेतन घटादिविषय—इन दोनों के स्वरूप से युक्त हो जाता है । इस तथ्य को इस रीति से समझना चाहिए कि जब हम 'घट' को देखते हैं, उस समय पुरुषप्रतिबिम्बयुक्त हमारा चित्त घटविषयाकाराकारित होता है, और हमें 'घटमहं जानामि' का अनुभव होता है। यह ज्ञान वस्तुतः दो अंशों वाला होता है । इसमें एक अंश तो विषयभूत घट के स्फुरणरूप का है और दूसरा अंश विषयिभूत आत्मा के स्फुरणरूप का है । इसमें आत्मा का अनुभव 'अहम्' ज्ञाता के रूप का है और घट का अनुभव 'घट' ज्ञेय के रूप का है । यही है चित्त का उभयाकार होना या द्रष्टृदृश्योपरक्त होना । **'अस्ति हि द्वयाकारं ज्ञानं नीलमहं सम्प्रत्ययेमिति, तस्माद् ज्ञेयवद् ज्ञाताऽपि प्रत्यक्षसिद्धोऽपि न विविच्यावस्थापितः'** ।[2]

चित्त का उभयाकारनिर्भासत्व एवं उभयाकाराकारित्व निश्चित हो चुकने पर चित्त की इस असाधारण किन्तु स्वाभाविक उपलब्धि का वैशिष्ट्य और अधिक विस्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया जा रहा है । विषयात्मकमपि अविषयात्मकम् इव—चित्त स्वाभाविक स्वरूप में पुरुष का विषय अर्थात् दृश्य होने के कारण विषयी पुरुष जैसा हो जाता है और उस अंश में वह विषयरूप या दृश्यरूप नहीं प्रतीत होता है । जैसे—'घटमहं जानामि' के ज्ञानकाल में 'अहम्' अंश में भासित चित्त, विषयी पुरुषतत्त्व के रूप में स्फुरित हो रहा है । ऐसा लगता है मानों 'अहम्' आकार में पुरुषतत्त्व का बोध हो रहा है, पर असलियत में वह चित्त का ही बोध है, यही तथ्य भङ्ग्यन्तर से कहा जा रहा है । अचेतनं चेतनमिव—स्वयं अचेतन होने पर भी 'अहम्'

---

१. 'उपरक्तं तदाकारमन्यथाग्रहणानुपपत्तेः ।'—(यो० वा० पृ० ४३६) ।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४३६ ।

के बोध में चित्त, चेतनपुरुष जैसा प्रतीत होता है। इस प्रकार से चित्त। स्फटिकमणि-कल्पं सर्वार्थमिति उच्यते—स्फटिकमणि के समान सर्वार्थ अर्थात् सर्वविषयक या सब विषयों से युक्त रूपवाला कहा जाता है। जैसे—एक ही स्फटिकमणि अपने दोनों ओर स्थित दो रूपों वाले दो भिन्न-भिन्न पदार्थों जपाकुसुम और इन्द्रनीलमणि—से उपरक्त होकर दोनों के आकार का दिखायी पड़ता है। वैसे ही चित्त भी ज्ञेय घट और ज्ञाता पुरुष—दोनों रूपों का दिखायी पड़ता है। साथ ही चित्त अपने ग्रहणात्मक या ज्ञानात्मक रूप से भी भासित होता है। इसलिये चित्त को 'सर्वार्थ' कहा जाता है।

तद्—इसलिये। अनेन चित्तसारूप्येण—समानं रूपं येषां तानि सरूपाणि तेषां भावः तेन, चित्त के इस द्रष्टृदृश्यसारूप्य के कारण। भ्रान्ताः केचित्[1]—भ्रमित हुए कुछ लोग अर्थात् बौद्ध लोग। तदेव चेतनम् इत्याहुः—यह कहते हैं कि चित्त ही चेतन अर्थात् 'पुरुषतत्त्व' है और इस चित्त के अतिरिक्त कोई आत्मतत्त्व है ही नहीं। अपरे—अन्य लोग अर्थात् विज्ञानवादी बौद्धसम्प्रदाय वाले लोग ऐसा कहते हैं कि। चित्तमात्रमेव—अकेला 'चित्त' ही एक तत्त्व है और। इदं सर्वम्—यह सारा जगत्-प्रपञ्च चित्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी बात का व्याख्यान आगे भी है। नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोकः—ये 'गो' इत्यादि सजीव तथा 'घट' इत्यादि निर्जीव—सारे पदार्थ अपने कारणों सहित 'चित्त' के ही विजृम्भणमात्र हैं। ते—वे दोनों प्रकार के मतवादी बौद्ध लोग। अनुकम्पनीयाः—अनुकम्पा या कृपा के योग्य हैं, तरस खाने के काबिल है। कस्मात्—क्यों? आखिर क्यों वे लोग कृपा के पात्र हैं? क्यों वे ऐसी गलती करते हैं? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजम्—क्योंकि उनके भ्रम का बीज यह है। सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति—चित्त, द्रष्टा और दृश्य सभी के आकार से भासित होता है। समाधिप्रज्ञा का अनुभव कराके उनकी भ्रान्ति उन्हें समझायी जा सकती है। समाधिप्रज्ञायाम्—सम्प्रज्ञातसमाधि-काल में सिद्ध प्रज्ञा में। प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतः—ज्ञेय अर्थ प्रतिबिम्बित या प्रकाशित होता है। तस्य—चित्त का। आलम्बनीभूतत्वाद्—आलम्बन बनने के कारण। अन्यः—चित्ताद् भिन्नोऽस्ति, चित्त से निश्चित ही अलग पदार्थ है। यदि हठ के कारण वे फिर कहें कि चित्त का आलम्बन बनने पर भी ज्ञेय पदार्थ उससे अभिन्न हो सकता है, तो इसका उत्तर यह है कि। स चेदर्थः चित्तमात्रम्—यदि वह आलम्बन बनने वाला ज्ञायमान पदार्थ चित्त ही हो। कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत—तो समाधिकालिक चित्त के द्वारा चित्त का ही रूप कैसा देखा जाएगा? कर्मकर्तृविरोध के कारण यह पदार्थ अपने को ही कैसे देख सकेगा? तस्माद्—इसलिये सिद्ध हुआ कि। प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायाम्—

१. 'केचिद् बाह्यार्थवादिनः चित्तातिरिक्तचेतनानभ्युपगन्तारो वैनाशिकाः।'
—यो० वा० पृ० ४३७।

चित्तातिरिक्त ज्ञायमान अर्थ ही समाधिज प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित होता है। येन—और जिस तत्त्व के द्वारा। अवधार्यते—चित्त और चित्त से प्रतिबिम्बित सकल पदार्थ अवधारित किये जाते हैं, अनुभूत किये जाते हैं। स पुरुष इति—वही तत्त्व पुरुष है। इस प्रकार बाह्यार्थ की सत्ता न स्वीकार करने वाले तथा 'पुरुषतत्त्व' को स्वीकार न करने वाले बौद्धों के मत का खण्डन किया गया। अब स्वमत का मण्डन किया जा रहा है। एवम्—इस प्रकार। ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात्—ग्रहीता पुरुष, ग्रहणात्मक बुद्धि और ग्राह्य बाह्य-पदार्थों के रूप से निर्भासित होने वाले चित्त के वस्तुतः भिन्नत्व के कारण। त्रयमपि एतत्—इन ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य—तीनों पदार्थों को। जातितः—'**स्वभावतः**'—(त० वै०), वस्तुतः। प्रविभजन्ते—विविच्य मन्यन्ते, अलग-अलग विभाजित करते हैं। ते—वे सांख्ययोग-परम्परा के दार्शनिक लोग। सम्यग् दर्शिनः—सही जानने वाले होते हैं, समीचीन ज्ञाता होते हैं। तैः—उन लोगों के द्वारा। पुरुषः अधिगतः—पुरुष या आत्मतत्त्व प्राप्त किया जाता है, वे आत्म-साक्षात्कार कर पाते हैं। इति—व्याख्यान का समाप्तिसूचक पद है ॥ २३ ॥

कुतश्चैतत् ?—

और यह कैसे होता है ?—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥२४॥

अगणित वासनाओं से चित्रित (होने पर) भी वह (चित्त) मिलकर काम करने वाला होने के कारण अन्य के लिये होता है ॥ २४ ॥

तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं, न स्वार्थं संहत्यकारित्वाद् गृहवत्। संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यम्। न सुखचित्तं सुखार्थं, न ज्ञानं ज्ञानार्थम् उभयमप्येतत्परार्थम्। यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान् पुरुषः, स एव परो न परः सामान्यमात्रम्। यत्तु किञ्चित् परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात्। यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥ २४ ॥

यह चित्त अनेक वासनाओं से ही चित्रीकृत होने पर भी मिलकर कार्य करने वाला होने के कारण घर के समान अन्य के लिये होता है (अर्थात्) अन्य से भोग और अपवर्ग के लिए होना है, अपने लिये नहीं। मिलाकर कार्य करने वाला चित्त अपने लिये (कार्यकारी) नहीं हो सकता। सुखानुभवात्मक चित्त सुख के लिये नहीं (हो सकता) और न (ज्ञानात्मक चित्त अर्थात्) ज्ञान, ज्ञान के लिये, ये दोनों ही अन्य के लिये (ही हो सकते) हैं। और जो भोग तथा अपवर्ग रूपी प्रयोजनों से

सिद्धप्रयोजन पुरुष है, वही (वह) अन्य (तत्त्व) है। (इस अनुमान से प्राप्त यह) अन्य पदार्थ (अनुमान के सामान्यावधारणप्रधान होने के कारण) सामान्यभूत (कोई विज्ञानादि) पदार्थ नहीं है। और बौद्ध दार्शनिक (इस) अन्य पदार्थ को जिस किसी सामान्य पदार्थ (चित्तादि) के रूप से उद्धृत करें, वह सभी (सजातीय विज्ञानादि) पदार्थ (स्वयं) मिलकर कार्य करने वाले होने के कारण (अपने से भिन्न किसी) अन्य के (प्रयोजन के) लिये ही होगा। (और इस प्रकार अनवस्था-प्रसङ्ग होगा।) इसलिये जो यह विशेष रूप (अनुमान से ज्ञात) 'अन्य' पदार्थ है, वह मिलकर कार्य न करने वाला 'पुरुष' तत्त्व ही है ॥ २४ ॥

योगसिद्धिः

(**सं० भा० सि०**)—चित्त से परे, उसके भोक्ता के रूप में 'पुरुष' की सत्ता को सिद्ध करने के लिये एक अन्य हेतु की अवतारणा की सङ्गति के लिये भाष्यकार कहते हैं कि। एतत् च—जो विषय, चित्त और चित्त के द्रष्टा पुरुष—इन तीनों पदार्थों को अलग-अलग जानते हैं, वे ठीक जानने वाले होते हैं—यह बात। कुतः—कैसे सङ्गत है ?

(**सू० सि०**)—चित्त के द्रष्टा के रूप में पुरुष नामक तत्त्व को स्वीकार करने की अनिवार्यता प्रदर्शित की जा रही है।[1] असंख्येयवासनाभिः—कर्मविपाकभोगजन्य वासनाएँ और क्लेशानुभवजन्य वासनाएँ अनादिकाल से जीव के चित्त में संगृहीत होती रहती है, अतः वे संख्यातीत हो जाती हैं। इन असंख्य वासनाओं से। चित्रम्—चित्त आकीर्ण रहता है, इसलिये वह विचित्र आकार का हो जाता है। इन वासनाओं का आधार चित्त ही है। चित्त से ही कर्म-विपाक का भोग होता है, अतः यही सम्भावना होती है कि 'चित्त को ही विपाकों का अनुभविता या भोक्ता होना चाहिए।[2] अपि—तथापि, फिर भी। तद्—वह अर्थात् चित्त। परार्थम्—परस्मै इदम् इति परार्थम्, किसी दूसरे के लिये ही होता है। ऐसा मानने का क्या हेतु है ? संहत्यकारित्वाद्—(सम् + √हन् + ल्यप्) संहत्य, मिलित्वा (कृ + णिनिः) करोतीति संहत्यकारी, तस्य भावः तस्माद्, मिलकर कार्य करने वाले होने के कारण। जो भी पदार्थ मिलकर कार्य करने वाला होता है, वह पदार्थ किसी अन्य के लिये ही होता है। जैसे—गृह इत्यादि पदार्थ खम्भा, फर्श, छत, किवाड़, जंजीर आदि से मिलकर कार्य करने वाले होते हैं। वे अपने लिये नहीं होते, बल्कि अपने से भिन्न

---

१. 'चित्तातिरिक्तात्मसद्भावे हेत्वन्तरमवतारयति।'—त० वै० पृ० ४३९।

२. 'यथाप्यसंख्येयाः कर्मवासनाः क्लेशवासनाश्च चित्तमेवाधिशेरते न तु पुरुषम्, तथा च वासनाऽधीना विपाकाश्चित्ताश्रयतया चित्तस्य भोक्तृतामावहन्ति। भोक्तुरर्थे च भोग्यमिति सर्वं चित्तार्थं प्राप्तम्।'—त० वै० पृ० ४४०।

'विष्णुमित्र' इत्यादि गृहवासियों के लिये होते हैं।[1] ठीक इसी प्रकार चित्त भी देह और इन्द्रियादि से मिलकर विषयाकाराकारितता रूपी कार्य करता है। इसलिये चित्त भी अपने लिये कार्य नहीं करता, प्रत्युत अन्य के लिये ही करता है, यह निश्चित हुआ। चित्त से अन्य वह पदार्थ ही 'पुरुष' है। अतः वही चित्त का भोक्ता या द्रष्टा है और चित्त उसका भोग्य या दृश्य है ॥ २४ ॥

(भा० सि०)—तदेतच्चित्तम्—प्राणियों का यह चित्त। असंख्येयाभिर्वासनाभिः एव—असंख्य क्लेशकर्मविपाकजन्य वासनाओं से ही। चित्रीकृतमपि—बिल्कुल भरा हुआ होने के कारण चित्रित-सा हुआ भी। परार्थम्—किसी अन्य के लिये ही है। इसका आशय यह है कि। परस्य भोगापवर्गार्थम्—किसी अन्य तत्त्व के भोग और अपवर्ग नामक प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिये ही है। न स्वार्थम्—स्वस्मै इदमिति स्वार्थं न भवति, अपने लिये नहीं होता। संहत्यकारित्वाद्—सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीन गुणों से बने हुए देहेन्द्रियादि से मिलकर ही कार्यकारी होने के कारण। गृहवत्—'घर' इत्यादि पदार्थों के समान। इससे निश्चित हुआ कि। संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यम्—यह वाक्य भाववाच्य क्रिया वाला है। कर्तृवाच्य वाक्य में इसका स्वरूप यह होगा 'संहत्यकारि चित्तं न स्वार्थं भवितुमर्हति।' भाव यह हुआ कि देहेन्द्रियादि से मिलकर ही कार्य करने वाला यह चित्त अपने आपके लिये काम करने वाला नहीं हो सकता। सुखचित्तम्—सुखरूप से या अनुकूलात्मक रूप से परिणत हुआ चित्त ही सुखचित्त है। न सुखार्थम्—वह सुखरूप चित्त सुख के लिये तो हो नहीं सकता, क्योंकि अपने लिये उसकी क्या उपयोगिता है? प्रत्युत स्ववचोविरोध होगा। सुख या दुःख या कोई भी भाव अलग से तो स्थित नहीं होते।। भाष्यगत 'सुखम्' पद भोगमात्र के उपलक्षणार्थ है। अतः यह भी समझना चाहिये कि 'दुःखचित्तं न दुःखार्थम्' दुःखरूप चित्त अर्थात् प्रतिकूलात्मकवृत्तिरूप चित्त अपने (दुःख के) लिये नहीं होता। इसी प्रकार। ज्ञानं न ज्ञानार्थम्—ज्ञानाकार में परिणत चित्त अर्थात् विवेकख्याति रूप का चित्त भी अपने अर्थात् ज्ञान के लिये नहीं है। अन्यथा 'स्वकर्मकर्तृविरोध' या स्वात्मनि वृत्तिविरोध नामक दोष की प्रसक्ति होगी।

वस्तुतः उभयमप्येतत्—चित्त के सुखादिभोगरूप परिणाम और (विवेकख्याति) ज्ञानरूप परिणाम, ये दोनों ही। परार्थम्—चित्त से अतिरिक्त किसी तत्त्व के लिये होते हैं। अब वह 'पर' या 'अन्य' तत्त्व कौन हो सकता है? भाष्यकार कहते हैं कि। यश्च—और जो। भोगेनापवर्गेण चार्थेन—सुखादिरूप 'भोग' और विवेकख्यातिरूप 'अपवर्ग नामक प्रयोजनों से। अर्थवान्—सिद्धप्रयोजनः, सिद्ध हुए प्रयोजनों

---

१. द्रष्टव्य; मणिप्रभा पृ० ८७।

वाला। पुरुषः—चित्त से भिन्न 'पुरुष' नामक तत्त्व है। स एव परः—वह 'पुरुष' ही 'परार्थम्' पद के अन्तर्गत निर्दिष्ट 'पर' शब्द का अभिधेय अर्थ है, जिसके लिये चित्त (मिलकर) भोगादिपरिणाम रूप का कार्य करता है। सामान्यमात्रं न परः—यदि यह कहा जाय कि पुरुष ही क्यों ? कोई भी पदार्थ 'पर' शब्द से विवक्षित हो सकता है, तो यह बात ठीक नहीं है। यहाँ पर अभिसन्धि यह है कि यद्यपि हम चित्त से भिन्न उसका द्रष्टा सिद्ध करने में सफल हो गये हैं, किन्तु वह द्रष्टा 'पुरुष' ही है—यह कहाँ सिद्ध हुआ ? क्योंकि अनुमानप्रमाण के द्वारा तो चित्त का भोक्ता चित्त से भिन्न भर सिद्ध होता है। 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्ति' होने के कारण अनुमान का पर्यवसान 'सामान्य' में ही होगा, न कि 'विशेष' में। इसलिये 'परार्थम्' पद में आया हुआ 'पर' शब्द 'सामान्य' रूप से किसी भी चित्त-भिन्न पदार्थ का बोधक होगा—किसी 'विशेष' तत्त्व का नहीं। यह सामान्य कोई भी अर्थ हो सकता है—कोई दूसरा 'चित्त' भी और 'इन्द्रियादि' भी।' **'ननु परार्थतामात्रेण न पुरुषसिद्धिर्विज्ञानादीनामपि परार्थत्वसम्भवात्'**—(यो० वा०)।

इस शङ्का का परिहार करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि 'सामान्यमात्रं न परः' —'पर' पद का अर्थ 'सामान्य' नहीं लिया जाना चाहिए। ऐसा क्यों ? यत्तु—क्योंकि जो। वैनाशिकः—बौद्धमतावलम्बी। किञ्चित् सामान्यमात्रम्—जिस किसी सामान्य पदार्थ को। परम्—'पर' शब्द से बोधित अर्थ मानकर उस पदार्थ को। स्वरूपेण उदाहरेद्—उस 'पर' को चित्त के ही रूप से, अन्य चित्त (आलयविज्ञानादि) के नाम से कहें। तात्पर्य यह है कि चित्त के ही रूपवाले चित्तान्तर को 'पर' शब्द से बोधित होता हुआ कहें। तत् सर्वम्—तो वह सभी 'चित्तान्तर' आदि पदार्थ स्वयम्। संहत्यकारित्वाद्—देहेन्द्रियादि से मिलकर ही कार्यकारी होने के कारण। परार्थम् एव स्याद्—सभी चित्तों से भिन्न किसी अन्य तत्त्व के लिये ही होंगे। जो भी चित्त 'पर' शब्द से अभिहित माना जाएगा, वह संहत्यकारी होने के कारण स्वयं किसी दूसरे चित्त के लिये लब्धसत्ताक होगा। वह चित्त तीसरे चित्त के लिये और तीसरा चौथे के लिये। इस प्रकार 'अनवस्था' दोष की प्रसक्ति होगी। इसलिये अनुमानप्रमाण के सामान्यमात्रपर्यवसायी होने पर भी 'परार्थता' के अन्तर्गत प्रयुक्त 'पर' शब्द का बोध्य अर्थ कोई संहत्यकारी पदार्थ नहीं हो सकता। क्योंकि उससे 'अनवस्था' दोष सदैव बना रहेगा। इसलिये 'पर' शब्द से जिस किसी पदार्थ का बोध न मानकर किसी असंहत्यकारी तत्त्व अर्थात् 'पुरुष' का ही बोध मानना होगा। **'संहतपरार्थत्वे चानवस्थाप्रसङ्गादसंहतपरार्थसिद्धिरिति'**।[१] उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं। यस्तु असौ परो विशेषः—किन्तु 'पर' शब्द से यहाँ पर अभिमत यह जो नाम-

१. द्रष्टव्य; त० वै पृ० ४४१।

जात्यादियोजनारहित 'विशेष' तत्त्व है। सः—वह तत्त्व। न संहत्यकारी—मिलकर कामकरने वाला नहीं है, अतः वह परतत्त्व। पुरुषः—पुरुष ही है। वही चित्त का द्रष्टा हो सकता है, क्योंकि उसके अतिरिक्त असंहत्यकारी और कोई पदार्थ होता ही नहीं। इति—समाप्तिसूचक पद है ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

(चित्त से) विविक्त (पुरुष का) साक्षात्कार कर लेने वाले की, आत्मभाव की भावना निवृत्त हो जाती है ॥ २५ ॥

यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्रापि अस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते। तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते। यस्याभावादिदमुक्तम्—'स्वभावं मुक्त्वा दोषादेषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति।' तत्राऽऽत्मभावभावना 'कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विदिदं, कथंस्विदिदं, के भविष्यामः, कथं वा भविष्याम'—इति। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्त्तते। कुतः? चित्तस्यैवैष[1] विचित्रः परिणामः। पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति। ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य निवर्तते[2] इति ॥ २५ ॥

जैसे बरसात में घास के अङ्कुर के निकलने से उस (घास) के बीज के अस्तित्व की अनुमिति होती है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग की बातें सुनने से जिस (प्राणी) में रोमाञ्च और अश्रुपात दिखाई पड़ते हैं, उस (प्राणी) में भी (योगाङ्गानुष्ठानादि) क्रियाओं से उत्पन्न तथा मोक्षकारक विविक्त (पुरुष के) साक्षात्कार का बीज है—यह अनुमित होता है। उस प्राणी में स्वाभाविकी आत्मभावभावना प्रवृत्त होती है। जिस (विविक्तज्ञान के बीज) के (प्राणी में) न होने से कहा गया है—'अपनी आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करके (अविद्या) दोष के कारण इनकी पूर्वपक्ष (अनात्मवाद) में रुचि होती है और निर्णय (चित्तभिन्न पुरुषवाद) में अरुचि होती है।' उस विषय में आत्मभावभावना (किस प्रकार की होती) है—(मैं पूर्वजन्म में) कौन था? मैं किस रूप में था? यह (वर्तमान) शरीर (वाली आत्मा) क्या है? यह किस प्रकार से स्थित है? (भविष्यत्काल) में हम क्या होंगे? या किस प्रकार के होंगे? वह (आत्मस्थिति की भावना) विवेक का साक्षात्कार कर लेने वाले की निवृत्त हो जाती है। कैसे? (क्योंकि पूर्वोक्त सारे) परिणाम चित्त के ही होते हैं

---

१. 'चित्तस्यैष'—इति पाठान्तरम्।

२. 'विनिवर्तते'—इति पाठान्तरम्।

(आत्मा या पुरुषतत्त्व के नहीं) । अविद्या के न रह जाने पर आत्मतत्त्व शुद्ध अर्थात् चित्त के धर्मों से (आरोप रूप) सम्बन्ध से रहित हो जाता है । (इस) विशेष-दर्शन (अर्थात् विवेकख्याति) से इस योगी की आत्मभावभावना बिल्कुल निवृत्त हो जाती है ॥ २५ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—कैवल्यपाद में आये हुए अभीतक के सूत्रों द्वारा जन्मादि-सिद्धियों तथा मोक्ष के योग्य चित्त का निर्धारण करके, कर्मवासनाप्रपञ्चपूर्वक १४वें से लेकर २२वें सूत्र तक चित्त से भिन्न द्रष्टा पुरुष के अस्तित्व को सोपपत्ति निरूपण किया गया । अब कैवल्य का निरूपण करने के लिये उसके योग्य अधिकारी का वर्णन कर रहे हैं । विशेषदर्शिनः—विशेषं प्रकृतिपुरुषविवेकं पश्यति साक्षात्कुरुत इति विशेष-दर्शी, तस्य तथोक्तस्य, **'प्रकृतिपुरुषसाक्षात्कारवतः'**—(सूत्रार्थबोधिनी), **'विवेकसाक्षा-त्कारिणः'**—(यो० वा०) । 'विशेष' शब्द का अर्थ होता है—'अन्तर' । पुरुष और प्रकृति यही दो अन्तिम तत्त्व हैं । इनका सम्पूर्ण रूप से ज्ञान करने के लिये इनके 'अन्तर' या 'भेद' का ठीक से ज्ञान अर्थात् विवेक होना चाहिए । इसलिये 'विशेष-दर्शिनः' पद का अर्थ होगा 'पुरुष और प्रकृति' के भेदों का पूर्णतः साक्षात्कार करने वाले की अर्थात् विवेकख्यातिसम्पन्न योगी की । आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः—आत्मनः स्वस्य भावः सत्ता स्थितिरित्यात्मभावः, तस्मिन् भावना कल्पना **'जिज्ञासा'**—(यो० वा०), तस्य विनिवृत्तिः उपशान्तिः भवतीति शेषः, अपने अस्तित्व के विषय की सारी कल्प-नाओं अर्थात् जिज्ञासाओं की शान्ति हो जाती है । अपनी सत्ता के विषय में ये कल्प-नाएँ या जिज्ञासाएँ किस रूप की होती हैं ? इसका उत्तर भाष्य में दिया गया है ॥२५॥

(**भा० सि०**)—इस आत्मभावभावना का होना मोक्षविरोधी बात नहीं है—इस बात को ठीक से समझ लेना चाहिए । इसकी उपस्थिति तो शुभलक्षण है । आगे चलकर जिसको मोक्षमार्ग की प्राप्ति होनी होती है, उसी को यह जिज्ञासा होती है । जब उस प्राणी को विवेकख्याति (अर्थात् विशेषदर्शन) सम्यग्रूप से हो जाती है, तब इस भावना की निवृत्ति हो जाती है और उसे 'जीवन्मुक्ति' की प्राप्ति हो जाती है । जिन लोगों में यह आत्मभावभावना ही नहीं उदित होगी, उनमें इसकी निवृत्ति भी कैसे होगी और उनको कैसे मोक्षसिद्धि की स्थिति आएगी ? इसी तथ्य को समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं । यथा—जैसे । प्रावृषि—वर्षा ऋतु में । तृणाङ्कुरस्य उद्भेदेन—घास आदि तृणों के अङ्कुरों के उद्भेद से अर्थात् तृणों के अङ्कुर निकलने से । तद्बीजसत्ता—उस तृण के बीज की सत्ता । अनुमीयते—का अनुमान-प्रमाण से ज्ञान होता है । तथा—उसी भाँति । मोक्षमार्गश्रवणेन—मोक्षमार्ग (की बातों) को सुनने से । यस्य—जिस प्राणी के । रोमहर्षाश्रुपातौ—आनन्दातिरेक के कारण

रोमाञ्च होना और आँसू गिरना। दृश्येते—अन्य लोगों के द्वारा देखे जाते हों, तात्पर्य यह है कि रोमाञ्च तथा अश्रुपात खूब स्पष्ट प्रतीत हों। तत्रापि—उस प्राणी में भी। अपवर्गभागीयम्—अपवर्ग की ओर ले जाने वाला अर्थात् अपवर्गप्रद, तथा। कर्माभिनिर्वर्तितम्—कर्मभिः प्राक्तनजन्मकृतैः योगाङ्गानुष्ठानरूपैः अभिनिर्वर्तितम्, साधितम्, प्राक्तनजन्मों में किये गये योगाङ्गानुष्ठानरूपी कर्मों से उत्पन्न हुआ। विशेषदर्शनबीजम्—विवेकख्याति का बीज। अस्ति—उपस्थित है। इति अनुमीयते—अनुमानप्रमाण से यह जाना जाता है। तस्य—उस प्राणी की। स्वाभाविकी आत्मभावभावना—आत्मास्तित्व-विषयिणी स्वाभाविक जिज्ञासा। प्रवर्त्तते—प्रवृत्त होती है, प्रकट होती है। यस्य—जिस तत्त्वज्ञानबीज के। अभावात्—न होने से, किसी प्राणी में अनुपस्थित रहने पर। इदमुक्तम्—पूर्वाचार्यों के द्वारा यह कहा गया है। स्वभावम्—आत्मभावम्, आत्मा के अस्तित्व को। मुक्त्वा—त्यक्त्वा, अनङ्गीकृत्य, न स्वीकार करके। दोषाद्—**'पूर्वसंस्कारदोषाद्'**—(भा०), अज्ञानादि दोषों के कारण। एषाम्—इन (बौद्धादि) नास्तिक लोगों की। पूर्वपक्षे—असिद्धान्तभूत या खण्डनीय पक्ष में अर्थात् अनात्मवाद में। रुचिर्भवति—दिलचस्पी होती है, निष्ठा होती है। अरुचिश्च निर्णये—और (आत्म का) निर्णय करने में अर्थात् सिद्धान्तपक्ष में उनकी निष्ठा नहीं होती। 'आत्मभावभावना' का हेतु बताकर अब उसका स्वरूप बताया जा रहा है। तत्र आत्मभावभावना—सूत्र में प्रयुक्त 'आत्मभावभावना' नामक पद का स्पष्ट अर्थ यह है। कः अहम् आसम्—मैं (पूर्वजन्मों में) कौन था (मनुष्य-पशु-पक्षी इत्यादि)? कथम् अहम् आसम्—किस प्रकार से और क्यों था? पूर्वजन्मों में मेरे होने का कारण क्या था। किंस्विद् इदम्—वर्तमान काल में मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं देह हूँ, कि मन, कि और कोई वस्तु (आत्मा)? कथंस्विदिदम्—यह वर्तमान अवस्था क्यों हुई? मैं वर्तमानकाल में आखिर क्यों हूँ? के भविष्यामः—भविष्यत्काल में हम सब लोग क्या होंगे (मनुष्यपश्वादि)? कथं वा भविष्यामः—या फिर हम क्यों किसी (मनुष्यपश्वादि) रूप में होंगे?

सा तु—वह आत्मास्तित्व-विषयिणी सारी जिज्ञासा। विशेषदर्शिनः—विवेकख्याति करने वाले योगी की। निवर्त्तते—निवृत्त हो जाती है। विवेकख्याति के फलस्वरूप सारी बातें उसे सर्वथा ज्ञात हो जाती हैं। और वह यह समझ लेता है कि यह 'व्यक्तावस्था और अव्यक्तावस्था' तथा 'सुख-दुःख' इत्यादि अवस्थाएँ तो चित्त के परिणाम हैं। आत्मा तो सदा एकरस, अपरिणामी एवं शुद्ध निर्गुण रूप का है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल उसमें कोई परिणाम नहीं उपस्थित कर सकते। वह तो कूटस्थनित्य है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं। कुतः—क्यों (विवेकख्यातिलब्ध प्राणी की आत्मभावविषयिणी जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है)? एष विचित्रः

परिणाम:—तीनों कालों में भिन्न-भिन्न स्वरूपों में परिवर्तित होते रहना या कभी अव्यक्त और कभी व्यक्त आदि होने रूप का यह विचित्र परिवर्तन। चित्तस्य—बुद्धि का धर्म है। पुरुषस्तु—पुरुष तत्त्व तो। असत्यामविद्यायाम्—(प्राणी में) अज्ञान के न रहने पर। शुद्धः—अपने शुद्ध (निर्गुण) रूप में प्रकट हो जाता है अर्थात्। चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति—चित्त के विविधपरिणाम रूपी धर्मों से अस्पृष्ट अर्थात् असम्बद्ध है। इति—इसलिये। ततः—उस विवेकख्याति से। तस्य कुशलस्य—उस योगी की। आत्मभावभावना—आत्मास्तित्व-विषयक जिज्ञासा। विनिवर्त्तत इति—सर्वथा शान्त हो जाती है, पूर्णतः निवृत्त हो जाती है ॥ २५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

तब (योगी का) चित्त विवेकमार्गी एवं कैवल्यफलोन्मुख होता है ॥ २६ ॥

तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्तदस्यान्यथा भवति, कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

उस समय में योगी का जो चित्त (पहले) विषयाग्र और अज्ञानपथगामी रहता था, उसका वही चित्त अन्य प्रकार का अर्थात् कैवल्याभिमुख और विवेकमार्गसञ्चारी हो जाता है ॥ २६ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—तदा—उस विशेषदर्शन के पश्चात् अर्थात् विवेकख्याति हो जाने पर। चित्तम्—योगी का चित्त। विवेकनिम्नम्—विवेकः निम्नं गमनमार्गः सञ्चरण-योग्यपथः यस्य तादृशम्, विवेकरूपी मार्ग पर चलने वाला। और। कैवल्य-प्राग्भारम्—कैवल्यम् एव प्राग्भारः अभिमुखीभूतं स्थलम् **'अवधिः'**—(मणिप्रभा), यस्य तादृशं भवतीति शेषः, कैवल्याभिमुख हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कैवल्य रूपी अवधि की ओर उन्मुख रहने वाला हो जाता है। समाधिपाद के १२वें सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने चित्त को एक नदी के रूप में कल्पित किया था और यह बताया था कि चित्त रूपी नदी की दो धाराएँ होती हैं—एक कल्याणवहा और दूसरी पापवहा। उनमें से पापवहा धारा विवेकख्याति के पूर्व प्रबल रूप से चलती रहती है। योगसाधना के क्रम में उस धारा को वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे सुखाया जाता है और विवेक अर्थात् तत्त्वज्ञान के अभ्यास के द्वारा कल्याणवहा धारा को प्रवाहित किया जाता है। जब विवेकदर्शन का अभ्यास पूर्ण हो जाता है, तब विवेकख्याति की सिद्धि होती है। इसके फलस्वरूप चित्त की पापवहा धारा पूर्णतः शुष्क हो जाती है और कल्याणवहा धारा प्रवाह से चलने लगती है। इससे विवेकख्याति के पश्चात् भी चित्त की सत्ता और उसकी सक्रियता पूर्णतः सिद्ध होती है। किन्तु इस काल में चित्त

की सक्रियता पहले से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। अब वह केवल विवेकज्ञान रूपी कार्य को करता है। विषयों के प्रति क्लेशपूर्ण भावना से उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। यही उसकी विवेकनिम्नता है। अब उसका लक्ष्य भोगात्मक संसार न होकर कैवल्य हो जाता है। वह कैवल्यफलावसायी हो जाता है॥ २६॥

(भा० सि०)—तदानीम्—विवेकख्याति के उपरान्त। अस्य यच्चित्तम्—इस योगी का जो चित्त, पहले। विषयप्राग्भारम्—'संसारप्राग्भारम्', सांसारिक विषयों की ओर उन्मुख या सांसारिक विषयों को ही अपना लक्ष्य बनाए रखता था। अज्ञान-निम्नम् आसीत्—और अविद्यादि क्लेशों के मार्ग पर ही संचरण करता था। अस्य तद्—उस योगी का वही चित्त, अब। अन्यथा भवति—अन्य प्रकार का हो जाता है। आशय यह है कि उस चित्त का लक्ष्य और मार्गसञ्चार दोनों परिवर्तित हो जाते हैं। इसी को स्पष्ट किया जा रहा है। कैवल्यप्राग्भारम्—कैवल्याभिमुख, कैवल्य-पर्यवसायी हो जाता है। इसका गन्तव्य लक्ष्य 'कैवल्य' ही बन जाता है। विवेकज-ज्ञाननिम्नमिति—विवेकजन्य तत्त्वज्ञान ही इसकी क्रिया का क्षेत्र या इसका संचारमार्ग बन जाता है॥ २६॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ २७॥

उस (चित्तप्रवाह) के बीच-बीच में (व्युत्थान) संस्कारों के कारण अन्य प्रत्यय भी (सम्भव) होते हैं॥ २७॥

प्रत्ययविवेकनिम्नस्य[1] सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य[2] तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि अस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति वा। कुतः? क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति॥ २७॥

विवेकज्ञानमार्गी एवं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र रूप में प्रवाहित चित्त को उसके बीच-बीच में 'मैं हूँ' या 'यह मेरा है' या 'मैं जान रहा हूँ' या 'मैं नहीं जान रहा हूँ'—इत्यादि अन्य ज्ञान भी होते हैं। क्यों? क्षीण होते हुए बीज वाले, पहले के (व्युत्थान) संस्कारों के कारण (अन्य ज्ञान होते हैं)॥ २७॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—विवेकख्याति हो जाने के पश्चात् जब योगी का चित्त संसार-प्राग्भार न होकर कैवल्यप्राग्भार हो जाता है और विषयमार्गी न होकर विवेक-मार्गी हो जाता है, तब उस योगी के विषय में यह शङ्का होती है कि उसको भिक्षाटन, स्नान, भोजन इत्यादि का ज्ञान कैसे होता होगा और कैसे वह जीवन धारण करता

---

१. विवेकप्रत्ययनिम्नस्य'—इति पाठान्तरम्।

२. 'प्रवाहारोहिणश्चित्तस्य'—इति पाठान्तरम्।

होगा ? क्योंकि ये सब ज्ञान तो विषयमार्गी चित्त को ही होने चाहिए। इस शङ्का का समाधान इस सूत्र में प्रस्तुत किया गया है। तच्छिद्रेषु—तस्य विवेकख्यातिरूप-चित्तस्य छिद्राणि अन्तरालानि तेषु, **'विवेकान्तरालेषु'**—(भा०), विवेकजज्ञान के बीच-बीच में। संस्कारेभ्य:—पूर्वकालिक व्युत्थानसंस्कारों के कारण। प्रत्ययान्त-राणि—अन्ये प्रत्यया: इति प्रत्ययान्तराणि, विवेकख्यातिभिन्नानि ज्ञानानि, विवेकख्यातिरूप ज्ञान से भिन्न प्रकार के अर्थात् सांसारिकज्ञान, जैसे—मैं हूँ, मेरी कुटिया है, मुझे स्नान करना है, भोजन या भिक्षाटन करना है—इस प्रकार के ज्ञान होते हैं। लेकिन इन ज्ञानों में 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेश' नामक क्लेशों का सम्पर्क नहीं होता, क्योंकि 'विवेकख्याति से क्लेश तो दग्धबीज हो जाते हैं।'—ऐसा साधनपाद के १२वें सूत्र **'ध्यानहेयास्तद्वृत्तय:'** में सिद्ध किया जा चुका है ॥२७॥

(**भा० सि०**)—प्रत्ययविवेकनिम्नस्य—प्रत्ययरूप: विवेक: इति प्रत्ययविवेक:, स एव निम्नं गमनमार्गो यस्य तस्य (चित्तस्य), ज्ञानरूप विवेकख्याति के मार्ग पर चलने वाले। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिण:—बुद्धि और पुरुष की भिन्नता के ज्ञान के ही रूप से प्रवाहित होने वाले। चित्तस्य—चित्त को। तच्छिद्रेषु—तस्य तादृशस्य छिद्राणि अन्तरालानि तेषु, उस प्रकार के चित्त के बीच-बीच में। प्रत्ययान्तराणि—विवेकख्यातिभिन्नानि लौकिकानि ज्ञानानि भवन्ति इति शेष:, विवेकख्याति से भिन्न प्रकार के ज्ञान भी होते रहते हैं। इन लौकिक ज्ञानों का स्वरूप बताते हैं। जैसे। अस्मीति वा—मैं अमुक नामवाला व्यक्ति हूँ। ममेति वा—या अमुक पदार्थ मेरा है या मेरा कहा जाता है। जानामीति वा—या मैं घटपटादि को जानता हूँ। न जाना-मीति वा—या अमुक पदार्थ को मैं नहीं जानता हूँ। इस प्रकार के लोकयात्रानिर्वाहक किन्तु क्लेशरहित ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। कुत:—ऐसा क्यों होता है ? किस कारण से होता है ? इसका उत्तर देते हैं। क्षीयमाणबीजेभ्य: पूर्वसंस्कारेभ्य इति—नष्ट हुए अर्थात् दग्ध हुए बीजों वाले पुराने व्युत्थानसंस्कारों के कारण ये लोकयात्रानिर्वाहक किन्तु क्लेशरहित ज्ञानों की उत्पत्ति सम्भव होती है ॥ २७ ॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

इन (व्युत्थानसंस्कारों) का दग्धबीज होना क्लेशों के समान (ही) कहा गया है ॥ २८ ॥

यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभाव: पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति। ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधि-कारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

जैसे—(अविद्यादि) क्लेश जले हुए बीज वाले होकर उगने में समर्थ नहीं होते, वैसे ही (विवेकख्यातिरूप) ज्ञानाग्नि से जले हुए बीज वाले, पहले के (व्युत्थान)

संस्कार (व्युत्थान) ज्ञान को उत्पन्न करने वाले नहीं रह जाते । (विवेकख्यातिरूप) ज्ञान से संस्कार तो चित्त के (भोगापवर्गरूप) कार्य की समाप्ति तक बने रहते हैं (किन्तु व्युत्थानप्रकारक लौकिकज्ञान नहीं उत्पन्न करते), इसलिये चिन्तनीय नहीं होते ॥ २८ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—२७वें सूत्र में कहा गया है कि विवेकख्याति के बीच-बीच व्युत्थान-संस्कारों के कारण लौकिक ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। तो जिज्ञासा होती है कि इन व्युत्थानसंस्कारों का नाश किस प्रकार से हो सकता है ? ताकि व्युत्थान ज्ञान न उत्पन्न हों और समाधि में बाधा न पड़े । इसका उत्तर वर्तमान सूत्र में दिया गया है । एषाम्—व्युत्थानसंस्काराणाम्, इन प्रत्ययान्तर उत्पन्न करने वाले व्युत्थानसंस्कारों का । हानम्—**'हानं दाहः स्वकार्यासामर्थ्यम्—**'(यो० वा०), नाश अर्थात् दग्धबीज होना । क्लेशवद् उक्तम्—क्लेशों के ही समान कहा गया है। जैसे—अविद्यादिक्लेशों की वृत्तिरूपता क्रियायोग के द्वारा तदनुकूल या हल्की की जाती है और विवेकाग्नि के द्वारा ये क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं, उसी प्रकार व्युत्थानसंस्कारों की भी दग्ध-बीजता विवेकख्याति रूपी अग्नि के द्वारा क्रमशः हो जाती है। तात्पर्य यह है कि विवेकख्याति की अप्रौढावस्था में तो ये व्युत्थानसंस्कार विवेकख्याति के बीच-बीच व्युत्थानज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु उसके परिपक्व हो जाने पर ये व्युत्थानसंस्कार दग्धबीज हो जाते हैं और फिर किसी प्रकार का व्युत्थानज्ञान उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं । **'एवं व्युत्थानसंस्कारा अपि विवेकख्यात्यपरिपाकदशायां प्रत्ययान्तराणि कुर्वाणाः परिपक्वप्रसंख्यानदहनदग्धात्मबीजभावा न प्रसवधर्माणो भवन्तीति क्लेशवदेषां हानमुक्तं वेदितव्यमित्यर्थः ।**'—(मणिप्रभा) ॥ २८ ॥

(भा० सि०)—यथा—जिस प्रकार प्रसंख्यानाग्नि के द्वारा । क्लेशाः—अविद्यादि पाँचों क्लेश । दग्धबीजभावाः—जले हुए बीज वाले होकर । प्ररोह-समर्था न भवन्ति—उगने में अर्थात् वृत्तिलाभ करने में समर्थ नहीं होते । तथा—उसी प्रकार । ज्ञानाग्निना—विवेकख्याति रूपी अग्नि अर्थात् प्रसंख्यानाग्नि के द्वारा । दग्धबीजभावः—जले हुए बीज वाले होकर । पूर्वसंस्कारः—पहले वाले व्युत्थानज्ञान के संस्कार । न प्रत्ययप्रसूः भवति—प्रत्ययान् ज्ञानानि प्रसूत इति प्रत्ययप्रसूः न भवति, व्युत्थानज्ञान को उत्पन्न करने वाला नहीं होता । विवेकख्याति के परिपक्व या सुदृढ़ हो जाने पर ये व्युत्थानसंस्कार जल जाते हैं और फिर व्युत्थानज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं । अब प्रश्न यह उठता है कि जिस विवेकख्यातिज्ञान से व्युत्थान-ज्ञान के संस्कार जल जाते हैं, उसके संस्कार तो चित्त में बने ही रहते हैं। उनके नष्ट करने का क्या उपाय है ? इस विषय में भाष्यकार का कहना है कि ये संस्कार

निरापद होते हैं। ये चित्त को भोगोन्मुख नहीं करते। समाधिपाद के ५०वें सूत्र का भाष्य इस बात को स्पष्ट ही सिद्ध करता है। **'न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति।'**—(यो० भा०)। इसलिये यहाँ पर 'तु' पद के द्वारा पक्षव्यावर्तन करते हुए भाष्यकार कहते हैं। ज्ञानसंस्कारास्तु—विवेकख्यातिरूपी ज्ञान के संस्कार तो। चित्ताधिकारसमाप्तिम्—चित्त के कार्यकलाप की उपशान्ति की। अनुशेरते—प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति, प्रतीक्षा करते हुए पड़े रहते हैं। **'तावत्कालं स्थास्यन्तश्चित्तेन सह प्रविलीयन्त इत्यर्थः'**—(भा०)। इति न चिन्त्यन्ते—इसलिये उनके शान्त करने या दग्धबीज करने की चिन्ता नहीं की जाती। चित्त का निर्बाधरूप से सरूपपरिणाम परायण होना, उसे अव्यक्त में लीन कराने के अनुकूल होता है, अतः निस्तरङ्ग चित्त का एकरूप से परिणत होना मोक्षकारक कहा गया है ॥ २८ ॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

विवेकख्याति में भी वीतराग (योगी) को सर्वथा विवेकख्याति होने से 'धर्ममेघसमाधि' होती है ॥ २९ ॥

यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदः ततोऽपि न किञ्चित् प्रार्थयते, तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते, तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥ २९ ॥

जब यह ब्राह्मण (योगी) विवेकख्याति में भी वीतराग रहता है अर्थात् उससे भी कोई कामना नहीं करता, (तब) उसमें भी रागहीन (उस) को सब प्रकार से विवेकख्याति ही होती रहती है। इसलिये (व्युत्थान) संस्कार के बीजों का दाह हो जाने से इसको (विवेकख्याति से) भिन्न (लौकिक) ज्ञान नहीं प्रादुर्भूत होते। तब इसे 'धर्ममेघ' नामक समाधि (सिद्ध) होती है ॥ २९ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—प्रसंख्यानेऽपि—विवेकख्याति हो जाने की स्थिति में भी, विवेकख्याति से प्राप्त 'सर्वज्ञत्व' एवं 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' नामक सिद्धियों में भी। अकुसीदस्य—कुत्सितेषु विषयेषु सीदति तिष्ठति इति कुसीदः रागः, अविद्यमानः कुसीदः यस्य सोऽकुसीदस्तस्य (ब० व्री०), कुत्सित विषयों में रहने वाला राग ही 'कुसीद' है। जिस प्राणी में यह राग नहीं है, वह हुआ 'अकुसीद'। उस अकुसीद व्यक्ति का अर्थात् वीतराग या विरक्त व्यक्ति को। सर्वथा—सर्वतोभावेन, सर्वप्रकारेण, सब प्रकार से अर्थात् निरन्तर या सर्वथा। विवेकख्यातेः—विवेकख्याति ही होती रहने के कारण। धर्ममेघः समाधिः—धर्ममेघ नाम की समाधि कही जाती है। यहाँ पर एक बात ठीक से समझ लेनी चाहिए कि यह धर्ममेघसमाधि 'परवैराग्य' नहीं है। जैसा कि भ्रमवश

पातञ्जलरहस्यकार ने समझ लिया है। 'परवैराग्य' का निरूपण करते समय भाष्यकार ने समाधिपाद के दूसरे और सोलहवें सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया है कि विवेकख्याति के प्रति विरक्त होना 'परवैराग्य' है। धर्ममेघसमाधि में विवेकख्याति के प्रति वैराग्य न होकर, विवेकख्याति से प्राप्त 'सर्वज्ञत्व' और 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' नाम की अवान्तर सिद्धियों के प्रति वैराग्य होता है। यह वैराग्य 'पर' नहीं है, क्योंकि यह तो 'ऐश्वर्य' के प्रति वैराग्य है। ऐश्वर्य के प्रति होने वाला वैराग्य 'अपर' ही कहा गया है। यदि यह शङ्का उठायी जाय कि इस सूत्र में भी तो 'प्रसंख्यानेऽपि अकुसीदस्य' अंश के द्वारा 'विवेकख्याति में विरक्त' की ही बात कही गयी है, अतः धर्ममेघसमाधि और परवैराग्य एक ही स्थिति के दो नाम हैं, तो इसका उत्तर यह है कि विवेकख्याति के प्रति विरक्त हुआ योगी विवेकख्याति का ही निरोध करता है, **अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि'**—(यो० भा० पृ० ९)। जबकि इस सूत्र में प्रतिपादित विवेकख्याति में विरक्त हुए प्राणी को बजाय विवेकख्याति का निरोध होने के उसे सर्वथा विवेकख्याति होती हुई बतायी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ की विरक्तता विवेकख्याति के प्रति वैराग्य नहीं है, प्रत्युत विवेक-ख्याति से प्राप्त 'ऐश्वर्य'-रूपिणी सिद्धि के प्रति वैराग्य है। इसी कारण से इस वैराग्य से विवेकख्याति और सुदृढ़ तथा निर्बाध हो जाती है। 'परवैराग्य' विवेकख्याति निरोधक होता है, जबकि धर्ममेघसमाधि' सर्वथा विवेकख्याति के रूप की होती है। इसलिये ये दोनों चित्त की अलग-अलग स्थितियों का निर्देश करते हैं और एक-दूसरे से भिन्न गतियाँ हैं। 'धर्ममेघसमाधि' विवेकख्याति का ही स्वच्छतम एवं निरन्तर प्रवहमान स्वरूप है, जबकि 'परवैराग्य' विवेकख्याति के प्रति अलम्प्रत्यय अर्थात् औदासीन्य के रूप का होता है। इसीलिये धर्ममेघसमाधि को विज्ञानभिक्षु ने सम्प्रज्ञातसमाधि की अन्तिम सीमा के रूप में वर्णित किया है—**'धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञात-योगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः'**।[१] इस समाधि का 'धर्ममेघ' नाम अन्वर्थ है—धर्मं क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति (धर्म + √मिह् + अण्) धर्ममेघः। **'अतो बाह्यसञ्चारहीनत्वात् सर्वथा विवेकख्यातिस्तद्रूपो यः समाधिः स धर्ममेघ इत्याख्यायते योगिभिः। कैवल्यं भवतीति सूत्रार्थः।'**—(भा०) ॥ २९ ॥

(भा० सि०)—यदा—जब। अयं ब्राह्मणः—यह साधक योगी। प्रसंख्यानेऽपि अकुसीदः—विवेकख्याति में भी रागहीन या अनासक्त होता है। विवेकख्याति और प्रसंख्यान पर्यायवाची शब्द हैं। इस रागहीनता को कोई विवेकख्याति के प्रति होने वाला वैराग्य या परवैराग्य न समझ बैठे, इसके लिए भाष्यकार कहते हैं कि। ततोऽपि—प्रसंख्यानादपि, उस प्रसंख्यान से भी। न किञ्चित् प्रार्थयते—सर्वभावा-धिष्ठातृत्वादि किसी ऐश्वर्य की प्रार्थना या कामना नहीं करता। **'न किञ्चिद् सर्व-**

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४५५।

भावाधिष्ठातृत्वादि प्रार्थयते ।'—(त० वै०) । **'सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपां सिद्धिं न प्रार्थयते तस्य योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद् धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः ।'**—(यो० वा०) । तत्रापि—उस सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि के प्रति भी । विरक्तस्य—वीतरागस्य, रागहीन योगी को । सर्वथा—निरन्तर, पूर्णरूप से । विवेकख्यातिरेव भवति—विवेकख्याति ही होती रहती है । इति—इसलिये । संस्कारबीजक्षयात्—व्युत्थानसंस्कार रूपी बीज के नाश अर्थात् दाह के कारण । नास्य प्रत्ययान्तराणि उत्पद्यन्ते—इसे व्युत्थान वाले ज्ञान नहीं उत्पन्न होते । तदा—उस समय । अस्य—इस योगी को । धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति—धर्ममेघ नाम की समाधि होती है । अर्थात् निरन्तरित विवेकख्याति को ही 'धर्ममेघ' कहते हैं । भाष्यकार ने इस तथ्य को समाधिपाद के द्वितीय सूत्र में भी स्पष्ट किया है ।—**'तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति । तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः'**[1] ।। २९ ।।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।। ३० ।।

उस (धर्ममेघसमाधि) से क्लेश और कर्म की निवृत्ति हो जाती है ।। ३० ।।

तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति । कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति । क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति । कस्मात् ? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम् । न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिच्च जातो दृश्यत इति ।। ३० ।।

उस (धर्ममेघसमाधि) के लाभ से अविद्यादि क्लेश समूल विनष्ट हो जाते हैं । पाप और पुण्य (दोनों) प्रकार के कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं । क्लेशों और कर्मसंस्कारों की निवृत्ति हो जाने पर विद्वान् (योगी) जीवन्मुक्त हो जाता है । क्यों ? क्योंकि अज्ञान, जन्म का कारण होता है । नष्ट हुए अज्ञान वाला कोई भी प्राणी, किसी के द्वारा कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता है ।। ३० ।।

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ततः—तस्मात्, धर्ममेघसमाधि नामक सुदृढ़ एवं निरन्तर प्रवहमान विवेकख्याति के कारण । क्लेशकर्मनिवृत्तिः—क्लेशाश्च अविद्यादि पञ्च क्लेशसंस्काराः कर्माणि च पुण्यापुण्यकर्मसंस्काराश्चेति क्लेशकर्माणि, तेषां निवृत्तिः सर्वथापगमः, अविद्यादि क्लेशों और पुण्यापुण्य कर्मसंस्कारों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, दाह हो जाता है । **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**

---

1. द्रष्टव्य; यो० भा० पृ० ९ ।

तथा'—(श्रीमद् भ० गी०)। किन्तु यह स्मरणीय है कि प्रारब्धकर्मसंस्कारों का दाह इस धर्ममेघसमाधि से भी नहीं होता, क्योंकि यदि प्रारब्धकर्मसंस्कार भी भस्मीभूत हो जाएँ, तो उस प्राणी की 'आयु' भी समाप्त हो जाएगी, क्योंकि 'आयु' भी तो प्रारब्धकर्मसंस्कारों का ही फल है। जब कारण नहीं तो कार्य कैसे ? और जैसा कि भाष्यकार स्वयं कहते हैं कि क्लेशकर्म की निवृत्ति होने पर वह विद्वान् **'जीवन्नेव विमुक्तो भवति।'**—वह जीवित रहता है, इसलिये धर्ममेघसमाधि से प्रारब्धकर्मसंस्कारों की निवृत्ति नहीं होती, यही मानना सर्वथा समीचीन है ॥ ३० ॥

(भा० सि०)—तल्लाभाद् —तस्य धर्ममेघसमाधेः लाभाद् सिद्धेः, उस धर्ममेघ-समाधि की सिद्धि हो जाने से। अविद्यादयः क्लेशाः—अविद्यास्मितादि पाँचों क्लेश। समूलकाषं कषिताः—सह मूलैः (स्वसंस्कारैः) इति समूलाः (ब० व्री०), मूल-सहिताः। **'मूलक्लेशसंस्कारास्तैः सह क्लेशाः'**—(यो० वा०), हिंसिताः विनष्टाः इति (समूल + √'कष्—हिंसायाम्' + णमुल्[1]) समूलकाषं कषिताः (नित्यसमासः), अपने संस्कारों सहित विनष्ट हो जाते हैं। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः—कुशल अर्थात् शुभफलक या पुण्यरूप तथा अकुशल अर्थात् अशुभफलक या पापरूप कर्मसंस्कार। समूलघातं हता भवन्ति—सह मूलैः क्लेशादिभिः इति समूलाः (ब० व्री०), समूलाः हताः इति समूलघातं हताः (नित्यसमासः), (समूल + हन् + णमुल्[2]), अपने मूल अर्थात् क्लेशों सहित विनष्ट हो जाते हैं। पतञ्जलि ने स्वयं कहा है कि कर्माशयों का मूल 'क्लेश' ही है। **'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'**[3]—क्लेशकर्म-निवृत्तौ—इन क्लेशों और कर्मों की निवृत्ति हो जाने पर, इनके दग्धबीज हो जाने पर। जीवन्नेव विद्वान्—जीवित रहता हुआ ही विद्वान् अर्थात् लब्धविवेकख्याति योगी। विमुक्तो भवति—मुक्ति पा जाता है। उसका मोक्ष या अपवर्ग सिद्ध हो जाता है। कस्मात्—क्यों ? यस्माद्—इसलिये कि। विपर्ययः—अविद्या या मिथ्याज्ञान ही। भवस्य—जन्मनः, संसारस्य वा, जन्मचक्र या संसार का। कारणम्—हेतुर्भवति,

---

१. 'निमूलसमूलयोः कषः' (पा० सू० ३।४।३४)।

२. 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' (पा० सू० ३।४।३६)।

टिप्पणी—इन दोनों स्थलों में कर्म उपपद के रहते क्रमशः √कष् एवं √हन् धातुओं में 'णमुल्' प्रत्यय लगा हुआ है। दोनों प्रयोगों में 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (पा० सू० ३।४।५४) के द्वारा √कष् और √हन् धातुओं का अनुप्रयोग भी होता है। और इन दोनों प्रयोगों की नित्यसमासता भी होती है, जैसा कि बालमनोरमा टीका में कहा गया है—'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगसिद्धयर्थः सन् 'उपपदमतिङ्' इति नित्य-समासार्थोऽयमारम्भ इत्यर्थः।'—बालमनोरमा पृ० ३७४।

३. द्रष्टव्य; यो० सू० २।१२।

हेतु होता है । क्षीणविपर्ययः—नष्ट हुई अविद्या वाला । कश्चित्—कोई प्राणी । केनचित् क्वचित्—किसी भी प्रेक्षावान् को कहीं भी । प्रत्यक्ष या आगम के द्वारा जातः—उत्पन्न हुआ । न हि दृश्यते—नहीं देखा जाता । स्मृति का भी वचन है—

'विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निर्दग्धकर्मचयोऽचिराद् ॥'

इति—व्याख्यान की समाप्ति का सूचक पद है ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

उस समय समस्त आवरणमलों से रहित ज्ञान के अनन्त हो जाने से ज्ञेय स्वल्प रह जाता है ॥ ३१ ॥

सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति । आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति । तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतममलं[1] भवति, तदा भवत्यस्यानन्त्यम् । ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते, यथाऽऽकाशे खद्योतः । यत्रेदमुक्तम्—

**'अन्धो मणिमविध्यत् तमनङ्गुलिरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्' ॥ इति ॥ ३१ ॥**

सभी क्लेशकर्मावरणों से रहित ज्ञान का अनन्तविस्तार हो जाता है । आच्छादित करने वाले तमोगुण से अभिभूत या ढँका हुआ चित्त, सत्त्व रजोगुण के द्वारा कहीं (एकदेश में) सक्रिय या अनावृत होकर (ज्ञेय का) ज्ञान करने में समर्थ होता है । वही (चित्त) जब सभी आवरणमलों से रहित तथा निर्मल हो जाता है, तब उसकी अनन्तता होती है । ज्ञान की अनन्तता के कारण ज्ञेय बिल्कुल स्वल्प हो जाता है, जैसे—(विस्तृत) आकाश में (स्वल्प) खद्योत (दिखाई पड़ता है) । जिस दशा (में संसार के बन्धन की असम्भवता) के लिये यह कहा गया है—

'अन्धे ने मणि को बींधा, उस (मणि) को उँगलियों से हीन प्राणी ने (माला के रूप में) गुम्फित किया । गर्दनरहित प्राणी ने उसे पहना और जीभरहित प्राणी ने उसकी प्रशंसा की' ॥ ३१ ॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—यहाँ धर्ममेघसमाधि का लाभ करने वाले योगी के अनन्त ज्ञान का वर्णन किया जा रहा है । तदा—तदानीम्, उस समय । सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य—आव्रियते चित्तसत्त्वमेभिरित्यावरणानि मलाः, चित्त को आवृत करने वाले समस्त क्लेशकर्मादि मलों से रहित (योगी के) ज्ञान के । आनन्त्याद्—'अपरि-

१. 'सर्वैरावरणमलैरपगतं भवति'—इति पाठान्तरम् ।

मेयत्वाद्'—(त० वै०), अनन्त विस्तार के कारण, असीम होने के कारण। ज्ञेयम्—ज्ञान के विषय। अल्पम्—बिल्कुल थोड़े या नगण्य हो जाते हैं। इस सूत्र का अभिप्राय उस योगी के ज्ञान की निस्सीमता का बोध कराना है। जैसे—हम कोई नया शास्त्र-ग्रन्थ प्रारम्भ करने के लिये पन्ने उलटते हैं, तो ऐसा लगता है कि उसमें असंख्य जानने योग्य बातें हैं और उसमें जाने कितने ज्ञेयविषय भरे पड़े हैं। इस ज्ञेयबहुलता से बहुत-से छात्र भयभीत भी हो उठते हैं। किन्तु अभ्यास करते-करते जब पूरा शास्त्र हो जाता है, तब ऐसा लगता है कि मानों इसमें कुछ है ही नहीं। ज्ञेय के साकल्येन ज्ञात हो जाने पर ज्ञेय की बहुलता लुप्तप्राय हो जाती है और ज्ञान बढ़ जाता है। इसी दृष्टान्त की पराकाष्ठा धर्ममेघकालिक ज्ञान के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। जब सब पदार्थों का पूर्णतः ज्ञान हो गया तो ज्ञेय कुछ शेष नहीं बचता और सर्वथा नगण्य प्रतीत होता है। यह भी ज्ञातव्य है कि ज्ञेयविषयों का लोप नहीं हो जाता और न ही उनमें से एक भी अंश खण्डित होता है। प्रत्युत सकल ज्ञेय पदार्थों के ज्ञात हो जाने पर उनकी ज्ञेयता समाप्त हो जाती है, अतः ज्ञेयत्वेन वे नगण्य और स्वल्प हो जाते हैं। ज्ञान के निस्सीम विस्तार का आकलन ज्ञेय के परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है, इसलिये सूत्रकार ने यह विधा अपनाई है ॥ ३१ ॥

(**भा० सि०**)—पहले ज्ञान की अनन्तता का हेतु बतलाया जा रहा है। सर्वैः क्लेशकर्मावरणैः—समस्त क्लेश और कर्मसंस्कार ही चित्तसत्त्व को आवृत किया करते हैं और इसीलिये व्यावहारिक जीवन में ज्ञान खण्डित रूप वाला, एकदेशीय और क्वाचित्क होता है। इन सभी क्लेशकर्माशय रूपी आवरणों से। आनन्त्यं भवति—अनन्तता, असीमविस्तृति हो जाती है। व्युत्थानकाल में क्या होता है? आवरकेण तमसाभिभूतम्—चित्त के सत्त्वगुण को आवृत करने वाले तमोगुण से दबाया गया। आवृतज्ञानसत्त्वम्—अतः ढँक लिया गया चित्तसत्त्व। क्वचिदेव—कहीं-कहीं ही अर्थात् किसी ज्ञेय पदार्थ के विषय में ही। रजसा—क्रियाशील रजोगुण के द्वारा। प्रवर्तितम्—प्रभावित होने वाला और इसलिये। उद्घाटितम्—'**अपनीततमः**'—(त० वै०), खोला गया हुआ वह चित्तसत्त्व। ग्रहणसमर्थं भवति—उस ज्ञेय पदार्थ का ग्रहण करने या ज्ञान करने में समर्थ होता है। तत्र—उस धर्ममेघसमाधि की अवस्था में वह चित्त। सर्वैरावरणमलैरपगतम्—सभी आवृत करने वाले मलों से युक्त और इसलिये। अमलं भवति—सर्वथा मलहीन हो जाता है। '**धर्ममेघः समाधिः सवासनाक्लेशकर्माशयप्रशमहेतुः**'—(त० वै०)। तदा—उस समय। अस्य—योगी के ज्ञान का। आनन्त्यं भवति—परिपूर्णता या अनन्त विस्तार हो जाता है। ज्ञानस्यानन्त्यात्—और इस प्रकार ज्ञान की अनन्त विस्तृति के कारण। ज्ञेयम्—ज्ञेय विषय। अल्पं सम्पद्यते—बिल्कुल कम हो जाते हैं, सर्वथा नगण्य या कम मालूम होने लगते

हैं। इस उच्चकोटिक ज्ञान से सम्पन्न योगी की मुक्ति निश्चित रूप से हो चुकी होती है। उसका अब फिर से जन्म लेना सर्वथा असम्भव हो जाता है। **'अत्र परमज्ञानलाभाद् पुनर्जातिरसम्भवित्वविषये वक्ष्यमाणायाः श्रुतेरर्थः प्रयोज्यः'**—(भा०)। उसकी जन्म लेने की असम्भवता को इस रूप में भाष्यकार ने प्रतिपादित किया है कि उसका जन्म होना उतना ही असम्भव है, जितनी कि वक्ष्यमाण श्लोक में प्रतिपादित बातें। यत्र—जिस धर्ममेघसमाधि की कृतार्थता के विषय में। इदमुक्तम्—तैत्तिरीय आरण्यक में इस प्रकार कहा गया है। अन्धो मणिमविध्यत्—अन्धे ने मणियों को बींधा। तम्—और उस मणि को। अनङ्गुलिः—उँगलीरहित प्राणी ने। आवयत्—√वेञ् + लङ् प्र० ए०, ग्रथितवान्, गुम्फित किया। अग्रीवः—गरदनरहित प्राणी ने। तम्—उस मणिमय माला को। प्रत्यमुञ्चत्—अधारयत्, **'पिनद्धवान्'**—(त० वै०), धारण किया। अजिह्वः—जिह्वाहीन प्राणी ने। अभ्यपूजयद्—उस मालाधारी निर्जीव पुरुष की स्तुति की॥ ३१॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्॥ ३२॥

उस (धर्ममेघ के उदित होने) से (चित्तरूप सत्त्वादि तीनों) गुणों के परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है॥ ३२॥

तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते। न हि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते॥ ३२॥

उस धर्ममेघसमाधि के उदित हो जाने से कृतकृत्य हुए (चित्त रूप से अवस्थित) सत्त्वादि गुणों के परिणाम का क्रम समाप्त हो जाता है (पुरुष का) भोगापवर्ग पूरा कर चुकने वाले (अतः) समाप्तक्रम वाले (वे) गुण क्षणमात्र भी (उस पुरुष के लिये) टिक नहीं सकते॥ ३२॥

योगसिद्धिः

(सू० सि०)—ततः—उस धर्ममेघसमाधि का लाभ हो जाने से। कृतार्थानां गुणानाम्—चरितार्थ हुए गुणत्रय की अर्थात् उस पुरुष के भोगापवर्ग को सिद्ध कर चुकने वाले गुणत्रय की। परिणामक्रमसमाप्तिः—परिणाम की अविरल धारा की समाप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि गुणों के परिणाम दो प्रकार के होते हैं—१. सरूप और २. विरूप। उनमें से जो विरूपपरिणाम हैं, उनके पुनः दो भेद किये जाते हैं। (क) अनुलोम और (ख) प्रतिलोम परिणाम। सृष्टि के लिये तीनों गुण अनुलोम परिणाम-धारा का अनुभव करते हैं और प्रलय के लिये प्रतिलोम परिणाम-धारा का। ये दोनों परिणामक्रम 'विरूप' परिणामक्रम के ही भेद हैं। जब इन दोनों में से कोई परिणामधारा नहीं चलती, तब केवल उन गुणों की सरूप परिणामधारा ही

चला करती है। कृतार्थ पुरुष के गुणों की 'विरूप' परिणामधारा की समाप्ति हो जाती है। अब उनसे किसी प्रकार की सृष्टि या प्रलय इत्यादि की प्रक्रियाएँ नहीं होने की। किन्तु दूसरे प्राणियों के सम्बन्ध में तो उनसे सन्निहित गुणों की सृष्टि या प्रलय—कारिणी परिणामधारा तो उस समय भी चलती ही रहेगी। **'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्'**—(यो० सू०)। अब प्रश्न यह है कि विरूपपरिणामधारा की समाप्ति हो जाने पर उस कृतार्थ पुरुष के (पूर्वसन्निहित) गुणों में किसी प्रकार का परिणाम होता है कि नहीं ? इसका स्पष्ट उत्तर है कि गुण तो नित्यधर्मा हैं और जैसा कि अगले सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि **'तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानः नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः**—(यो० भा०)। गुणों में तो यह क्रम समाप्त होने का नहीं, उनका तो नित्यपरिणाम चलता रहता है। वह कैसा परिणाम है ? इसका उत्तर है कि असृज्यमान एवं अप्रलीयमान गुणों की 'सरूप' परिणामधारा चलती रहती है। अतः कृतार्थ पुरुष के (पूर्वसन्निहित) गुणों की जो परिणामक्रमसमाप्ति इस सूत्र में प्रतिपादित की गयी है, वह उनके 'विरूप' परिणामक्रम की समाप्ति की बोधक है। उनके सरूपपरिणाम की मान्यता की बाधक नहीं है॥ ३२॥

(**भा० सि०**)—तस्य धर्ममेघस्योदयात्—उस धर्ममेघसमाधि का उदय होने से। कृतार्थानां गुणानाम्—चरिताधिकार हुए तथा (बुद्ध्यादिरूपेण परिणतानां गुणानाम्) बुद्ध्यादिरूप से परिणत गुणों के। परिणामक्रमः समाप्यते—परिणाम की (एक प्रकार की) अविरलधारा समाप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उनकी विरूपपरिणामधारा समाप्त हो जाती है। फिर क्या होता है ? कृतभोगापवर्गाः—(सन्निहित) पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनों पुरुषार्थों को सिद्ध कर चुकने वाले तथा। परिसमाप्तक्रमाः—पर्यवसित विरूपपरिणामधारा वाले गुण। क्षणमप्यवस्थातुं न हि उत्सहन्ते—क्षणभर भी सृष्टि के मध्य (विरूपपरिणाम की स्थिति में) नहीं ठहर सकते। यहाँ एक सन्देह अवश्य ही निराकरणीय है। वह यह कि धर्ममेघसमाधि का लाभ होते ही (इस सूत्रभाष्य के अनुसार) विदेहमुक्ति या कैवल्य की प्राप्ति हो जानी चाहिए। परवैराग्य और तद्द्वारा लभ्य असम्प्रज्ञात की तब तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस सन्देह का निराकरण भी इस सूत्रभाष्य में प्रकटतः स्थित है। उस पर ध्यान देना आवश्यक है। वह है गुणों का 'कृतार्थानां' विशेषण। जब तक ये गुण कृतार्थ नहीं होते अर्थात् पुरुष का भोगापवर्ग रूप अर्थ पूरी तरह सिद्ध नहीं कर देते, तब तक धर्ममेघ की सिद्धि के बावजूद उनके चित्तादिपरिणामक्रम की समाप्ति नहीं होती और न विदेह-कैवल्य की सिद्धि होती है। भोगरूप पुरुषार्थ के ही अन्तर्गत प्रारब्धकर्मभोग भी आता है, बिना पूरा भोगे गये या बिना असम्प्रज्ञात

योग के वह क्षीण नहीं हो सकता। अतः तब तक गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति और विदेहकैवल्य असम्भव हैं ॥ ३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नामेति ?—

अब यह 'क्रम' कौन-सी वस्तु है ?—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

'क्रम' क्षणप्रतियोगिक तथा परिणाम के पर्यवसान मे ज्ञायमान होता है ॥ ३३ ॥

क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः। न ह्यननुभूतक्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयं नित्यता—कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन्परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्। तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानः, नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः, शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति। अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति ? अवचनीयमेतत्। कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः—सर्वो जातो मरिष्यति[1] ? ओम् भो इति। अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति। विभज्यवचनीयमेतत्। प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते, इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी ? न वा श्रेयसी ? इत्येवं परिपृष्टे विभज्यवचनीयः प्रश्नः, पशूनुद्दिश्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयन्त्ववचनीयः प्रश्नः—संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति ? कुशलस्यास्ति संसारक्रमसमाप्तिर्नेतरस्येत्यन्यतरावधारणेऽदोषः। तस्माद् व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥ ३३ ॥

क्षणों के आनन्तर्य के रूपवाला क्रम (एक प्रकार के) परिणाम के पर्यवसान अर्थात् अन्त के द्वारा ग्रहण किया जाता है। क्रमाश्रित क्षणों का अनुभव न कर चुकने वाला पुरानापन नये वस्त्र के उपर नहीं उपस्थित होता। नित्य पदार्थों में भी क्रम होता है। यह नित्यता दो प्रकार की होती है—कूटस्थनित्यता और परिणामिनित्यता। उनमें से कूटस्थनित्यता पुरुष की होती है और परिणामिनित्यता गुणों की। जिसके परिणत होने पर भी तत्त्व नष्ट नहीं होता, वह नित्य पदार्थ होता है और तत्त्वहानि न होने से (पुरुष तथा गुण) दोनों की नित्यता होती है। उन (गुणों)

---

१. 'जातो'—इति पाठान्तरम्।

में गुणों के धर्मभूत बुद्धयादिपदार्थों में परिणाम की समाप्ति से ज्ञायमान क्रम (भी) पर्यवसान प्राप्त करता है तथा नित्यपदार्थ धर्मी गुणों में पर्यवसान नहीं प्राप्त करता। कूटस्थनित्य पदार्थों अर्थात् स्वरूप में प्रतिष्ठित मुक्तपुरुषों में स्वरूपसत् होना क्रमशः ही अनुभूत होता है। उनमें भी क्रम, पर्यवसान को नहीं प्राप्त करता। शब्दों के आधार पर 'अस्ति'-क्रिया को ग्रहण करके (पुरुषों में क्रम) विकल्पित किया जाता है। (वस्तुतः पुरुष में क्रम नहीं होता, क्योंकि उसमें परिणामाभाव के कारण क्रम का ग्रहण ही नहीं हो सकता)। अब प्रश्न यह होता है कि (कभी) स्थिति और (कभी) गति की अवस्थावाले गुणों के रूप में विद्यमान इस जगतत्प्रपञ्च के क्रम की समाप्ति होती है या नहीं? (यह संसार कभी समाप्त होता है या नहीं)। यह (प्रश्न) अनुत्तरणीय है। क्यों? (कोई) प्रश्न एकान्तवचनीय (एक ही उत्तर के योग्य) होता है। (जैसे) क्या सभी लोग जन्म लेने पर मरेंगे? (उत्तर) अरे हाँ! (इस एक ही उत्तर से उत्तरित हो जाने वाला प्रश्न हुआ)। और (दूसरा प्रश्न) जैसे—क्या सभी मरकर जन्म लेंगे? यह प्रश्न विभज्यवचनीय (दो भागों में विभक्त करके उत्तर देने योग्य) है। विवेकख्याति प्राप्त कर चुका हुआ तथा नष्ट हुई तृष्णा वाला योगी जन्म नहीं लेगा। अन्य प्राणी जन्म लेगा। उसी प्रकार (दूसरा विभज्यवचनीय प्रश्न यह है) मानव जाति बढ़कर है या बढ़कर नहीं है? इस प्रकार से पूछे जाने पर यह प्रश्न विभक्त करके ही उत्तर देने योग्य है। (जैसे) पशुओं को लक्ष्य करके तो बढ़कर है (किन्तु) देवताओं और ऋषियों की तुलना में (बढ़कर) नहीं है। यह एक प्रश्न भी (एकान्तरूप से) अवचनीय है कि यह जगत्प्रपञ्च अन्तवान् है अथवा अनन्त है? (इसका उत्तर यह होगा) विवेकख्यातिप्राप्त योगी के संसारक्रम की समाप्ति होती है, अन्य की नहीं। (इस प्रकार दोनों स्थितियों में से) प्रत्येक स्थिति का अलग-अलग निर्धारण करने में दोष नहीं होगा। इसलिये यह (अवचनीय) प्रश्न व्याकरणीय अर्थात् विभज्यवचनीय ही है॥ ३३॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—पूर्वसूत्र में यह कहा गया कि कृतार्थ हुए योगियों के बुद्धि आदि रूप से अवस्थित गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है, इस सम्बन्ध में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि—अथ कोऽयं क्रमो नाम—अरे 'यह' क्रम नाम की कौन-सी वस्तु है, जिसकी समाप्ति हो जाती है। इति—इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

(सू० सि०)—यह सूत्र 'क्रम' का लक्षण प्रस्तुत करता है। क्रम—यह क्रम नाम का पदार्थ। क्षणप्रतियोगी—**'क्षणः प्रतियोगी प्रतिसम्बन्धी यस्य स तथोक्तः क्षणप्रचयाश्रय इत्यर्थः'**—(त० वै०) **'क्षणों का प्रतिसम्बन्धी, क्षणाः कलां-**

शास्त्रेषु समाहितबुद्धिना क्रमो ज्ञेयः। तत्र क्षणप्रतियोगी क्रम इति स्वरूपनिर्देशः। क्षणौ प्रतियोगिनौ निरूपकौ यस्य स क्षणप्रतियोगी'—(मणिप्रभा), अर्थात् क्षणसमूह पर आश्रित रहने वाला होता है। तात्पर्य यह है कि क्षणों के व्यतीत होते रहने पर उस समय की पृष्ठभूमि में होने वाली परिणामधारा का स्वनिष्ठ पौर्वापर्य ही क्रम है। **'प्रत्येकं क्षणप्रतियोगिनः परिणामस्याविरलप्रवाहः क्रम इत्यर्थः'**—(भा०)। इस प्रकार क्षणों के प्रचय या समूह पर अवलम्बित तथा परिणाम के पौर्वापर्य रूप का यह क्रम होता है। **'न जातु क्रमः क्रमवन्तमन्तरेण शक्यो निरूपयितुं, न चैकस्यैव क्षणस्य क्रमः तस्मात् क्षणप्रचयाश्रयः परिशिष्यते।**—(त० वै०)। इस क्रम का ज्ञान या स्वरूपनिर्धारण बहुत ही कठिन होता है। क्योंकि किसी भी क्षण इसका पूर्णस्वरूप देखा नहीं जा सकता। यह तो पौर्वापर्य रूप का होता है। इसलिये इसकी स्वरूपता, पूर्व तथा पर क्षणों में अपने पूर्वांश तथा परांश से उपस्थित होती है। फलतः न तो पूर्वक्षण में इसके स्वरूप का प्रत्यक्ष सम्भव है और न ही परक्षण में। इसलिये इस दुर्निरीक्ष्यमूर्ति 'क्रम' का ज्ञान किस प्रकार से हुआ करता है—इस प्रमाणभूत तथ्य को भी इसी लक्षण में समाविष्ट किया गया है। परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः—परिणामस्य अपरान्तः पर्यवसानमिति परिणामापरान्तस्तेन निर्ग्राह्यः निर्धारयितुं योग्यः, ज्ञायमानस्वरूप इति तथोक्तः, परिणाम के उत्तरकालिक अन्त से जाने जा सकने योग्य स्वरूप वाला होता है। उदाहरण के लिये मिट्टी में होने वाली परिणामधारा को लीजिए। पूर्वक्षणों में इससे पिण्ड बना, फिर पिण्ड से घट बना, घट के टूटने से कपाल, फिर कपाल के टूटने पर कपालियाँ बनी, उससे फिर मिट्टी का चूरा बना और अन्त में छोटे-छोटे दृश्यमान कण बने। यहाँ पर पूर्वोत्तर अवधि का ग्रहण करते हुए पिण्ड से घट बनने पर परिणामधारा का एक 'क्रम' दिखाई पड़ता है। घट से कपाल बनने पर दूसरा क्रम दिखाई पड़ा और कपाल से कपालिका बनने पर तीसरे क्रम का प्रत्यक्ष हुआ। इसी प्रकार कण बनने तक अनेक क्रम देखे गये। इस प्रकार क्रम का स्वरूप परिणाम के प्रत्येक पर्यवसान पर प्रत्यक्ष होता है ॥ ३३ ॥

(भा० सि०)—सूत्रगत 'क्षणप्रतियोगी' पद का पर्यवसित अर्थ भाष्यकार ने 'क्षणानन्तर्यात्मा' किया है। क्षणानन्तर्यात्मा—क्षणों की अनन्तरता, एक क्षण के बाद परवर्ती क्षणों का उपस्थित होते रहना ही स्वरूप है जिसका, वह है क्षणानन्तर्यधर्मक क्रम। अतः क्षणों का पौर्वापर्य ही क्रम का स्वरूप सिद्ध हुआ। **'क्षणानन्तर्यात्मा क्षणानन्तर्यधर्मकः आनन्तर्यं चाव्यवधानं क्रमस्तु पूर्वापरीभावः।'**—(यो० वा०)। **'क्षणानन्तर्यात्मा क्षणव्यापिनां परिणामानां नैरन्तर्यमेव क्रम इत्यर्थः।'**—(भा०)। परिणामस्य—गुणों के स्वाभाविक रूप में होने वाले प्रत्येक परिणाम के। अपरान्तेन—पर्यवसानेन, समाप्त होने के द्वारा, अन्त के द्वारा। अर्थात् अवसानेन—अवसान के

द्वारा। क्रमः गृह्यते—'क्रम' नाम का पदार्थ ज्ञात होता है। **'सोऽयं परिणामस्यापरान्तः पर्य्यवसानं तेन हि परिणामस्य क्रमः ततः प्रागपि पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलस्थूलतरत्वादीनां पौर्वापर्यमनुमीयते।'**—(त० वै०)।

इसी बात को व्यतिरेकमुखेन 'न हि' इत्यादि वाक्य से प्रदर्शित किया जा रहा है। अननुभूतक्रमक्षणा पुराणता—अननुभूतः अप्राप्तोऽलब्धो यथोक्तक्रमो यैस्ते क्षणा अननुभूतक्रमाः, अलब्धक्रमसम्बन्धाः क्षणा यस्याः (निर्वर्तकत्वेन) तादृशी या पुराणता सा, क्रम का अनुभव न करने वाले क्षणों से निर्वर्तित (अर्थात् बनने वाला) पुरानापन। नवस्य वस्त्रस्य—नये कपड़े के। अन्ते—प्रान्तभागेषु, ऊपर। नहि भवति—नहीं आ जाता। भाव यह है कि बिना पौर्वापर्य के अनुभवी क्षणों के द्वारा तैयार हुए पुरानापन नये कपड़े के ऊपर नहीं उपस्थित हो जाता। पुरानापन, क्रम का अनुभव करने वाले क्षणों से ही निर्मित होता है, एकाएक तो आ नहीं जाता है। वह तो प्रतिक्षण थोड़ा-थोड़ा सूक्ष्म रूप में तैयार होता रहता है और बाद में उपचित-स्वरूप होकर नये वस्त्रों के ऊपर झलकने लगता है। इससे सिद्ध होता है कि क्रमोपलब्धि करने वाले क्षणों से तैयार होने वाले पुरानेपन के उदय से वस्त्र के नयेपन नामक परिणाम का अन्त होने पर पूर्ववर्ती क्षणों से सम्बन्धित 'क्रम' अनुमित हो जाता है। **'तथा च वस्त्रस्यान्तकाले दृश्यमाना पुराणता न ह्यननुभूतक्रमक्षणा सम्भवतीत्यर्थः, अतः पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलादिरूपैः परिणामक्षणेऽप्यविरलः क्रमोऽनुमीयत इति'**।[1] यह 'क्रम' अनित्य पदार्थों में तो देखा जाता है। नित्येषु च—और नित्य पदार्थ, जैसे—'अव्यक्तप्रधानादि' में भी। क्रमो दृष्टः—क्रम देखा जाता है। इस 'नित्य' पद में बहुवचन का प्रयोग होने से 'पुरुष' तत्त्व में भी क्रम का स्वीकार भाष्यकार को अभीष्ट प्रतीत होता है।[2] आगे चलकर पुरुष में क्रम के 'विकल्पमात्रत्व' को वह स्वयं कहेंगे। द्वयी चेयं नित्यता—यह नित्यता दो रूपों की होती है। कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च—कूटस्थनित्यता और परिणामिनित्यता। तत्र—इन दो प्रकार की नित्यताओं में से। कूटस्थनित्यता पुरुषस्य—पुरुष की नित्यता कूटस्थनित्यता सांख्य-योग और वेदान्त सभी दर्शनों में कही गयी है। इसका क्या अभिप्राय है? इसे दो प्रकार से अन्यर्थ समझा जा सकता है—

(१) कूट कहते हैं पर्वतशृङ्ग को। **'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्'**—इत्यमरः। कूटे तिष्ठतीति कूट + स्था + कः = कूटस्थः, कूटस्थ इव नित्यः इति कूटस्थनित्यस्तस्य भावः कूटस्थनित्यता। जैसे—पर्वत की ऊँची चोटी पर स्थित शिलाखण्ड नीचे अनेक

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४५०।

२. 'बहुवचनेन सर्वनित्यव्यापितां क्रमस्य प्रतिजानीते।'

—त० वै० पृ० ४५०।

पदार्थों के परिवर्तित होते रहने पर भी स्वयं अपरिवर्तित एवं स्थिर रूप से प्रकाशित होता रहता है, उसी तरह पुरुष भी अन्य समस्त पदार्थों के परिवर्तित होते रहने पर भी स्वयं नित्य ही अचल एवं स्थिर बना रहता है। इसलिये उसे 'कूटस्थ' कहते हैं। उसकी नित्यता को 'कूटस्थनित्यता' कहते हैं।

(२) 'कूट' शब्द का एक अर्थ 'निहाई' भी होता है। निहाई उस बड़े चौकोर तथा वजनी लोहे को कहते हैं, जिस पर रखकर छोटी मोटी लोहे की वस्तुएँ पीट-पीट कर बनायी जाती हैं। यहाँ पर भी वही बात होती है कि अन्य सभी लोहे तो परिवर्तित होते रहते हैं। इसी पर रखकर उनका रूप-परिवर्त्तन सम्भव होता है। किन्तु समस्त परिवर्तनों का आधार बनने पर भी यह लोहा स्वयं अपरिवर्तित रहता है। इसलिये यह अपरिवर्तित नित्यता के दृष्टान्त के रूप में ग्रहण की जाती है। इस अर्थ में प्रस्तुत शब्द का विग्रह इस प्रकार होगा—कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः (पुरुष), तस्य नित्यता इति कूटस्थनित्यता। परिणामिनित्यता गुणानाम्—सत्त्वादि तीनों गुणों की नित्यता परिणामिनित्यता कही जाती है। शङ्का यह होती है कि जब गुण परिवर्तित होते रहते हैं तो वे नित्य कैसे हुए ? इसका उत्तर दिया जा रहा है। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते—जिस पदार्थ के स्वयं परिणत होते रहने पर भी उस पदार्थ का तत्त्व (Assence) नष्ट नहीं होता। तत्—वह पदार्थ। नित्यम्—नित्य ही कहा जाता है। जैसे—'अव्यक्त' की अवस्था में स्थित 'गुण' यद्यपि सरूपपरिणाम के द्वारा निरन्तर परिणत होते रहते हैं। फिर भी उन गुणों का 'अव्यक्तत्व' बना ही रहता है, नष्ट नहीं हो जाता। वे व्यक्त नहीं हो जाते। अतः 'अव्यक्त' या 'प्रधान' नित्य ही हुआ। इसलिये यह परिणामिनित्यता हुई। पुरुष तो नित्य रहता ही है। इसलिये। उभयस्य च तत्त्वानभिघातात्—अव्यक्त और पुरुष दोनों के तत्त्व के नष्ट न होने के कारण। नित्यत्वम्—दोनों की नित्यता होती है। अब परिणामिनित्य पदार्थों के परिणामक्रम और परिणामशील अनित्य पदार्थों के परिणामक्रम की तुलना की जा रही है। तत्र—उन नित्य तथा अनित्य पदार्थों में से। गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु—गुणों के धर्मभूत बुद्धि अहङ्कार इन्द्रियादि अनित्य विकारों में। परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः—परिणाम के अन्त से ज्ञात होने वाला 'क्रम'। लब्धपर्यवसानः—समाप्ति को प्राप्त करने वाला होता है। जब वे अनित्य विकार ही नष्ट हो जाते हैं तो वह क्रम भी समाप्ति को प्राप्त हो जाता है। नाश का अर्थ अतीतावस्था की प्राप्ति और वर्तमान स्वरूपता से रहित हो जाना ही होता है। नित्येषु धर्मिषु गुणेषु—किन्तु नित्य पदार्थ अर्थात् अव्यक्तावस्थापन्न गुणों में। अलब्धपर्यवसानः—वह क्रम समाप्ति को नहीं प्राप्त होता। **'यतो लब्धपर्यवसानः धर्माणां विनाशात् प्रधानस्य तु परिणामक्रमो न लब्धपर्यवसानः'**।[1]

---

१. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४५१।

यदि यह आशङ्का हो कि ठीक है परिणामिनित्य अव्यक्त में परिणामपरायणता के कारण भले ही क्रम हो, किन्तु परिणामशून्य तथा कूटस्थनित्य पुरुषों में 'क्रम' कैसे हो सकता है ? इसका समाधान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं। कूटस्थनित्येषु स्वरूप-मात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तेषु—कूटस्थनित्य, अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित मुक्तपुरुषों में। स्वरूपास्तिता—स्वरूप से सत् होना (भी तो)। क्रमेणैवानुभूयते—क्रम के द्वारा ही अनुभूत होती है। जैसे–पुरुष इस समय भी स्थित है और आगे भी स्थित रहेगा। इस प्रकार वाग्व्यवहार होता है, अतः पुरुष में क्रम स्वीकार करना ही चाहिये। **'स्वरूपास्तिता च तत्तत्क्षणमात्रं तत्क्रमश्च पुरुषेष्वप्यस्ति इदानीं स्थित्वा पश्चात् स्थास्यतीति व्यवहारात्।'**[1] भले ही पुरुष में परिणामशून्यता के कारण क्रम परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य न हो सके, किन्तु स्वरूपास्तिता का अनुभव तो उसमें भी क्रम से ही होता है, इस-लिये क्रम का निर्ग्रहण या ज्ञान उसमें भी होता ही है। और वह भी शाश्वत रूप से होता रहेगा। इति—इसलिये कहा जा सकता है कि। तत्रापि—पुरुषों में भी। अलब्धपर्यवसानः—'क्रम' समाप्ति को नहीं प्राप्त करता है। यहाँ मुक्तपुरुषों का कथन निरूपण के शुद्धत्व और संशयादिराहित्य के लिये माना गया है। **'तत्र बद्धानां चित्ताव्यतिरेकाभिमानात् तत्तत्परिणामाध्यासः।'**[2]

पुरुष में क्रम की सत्ता कोई वास्तविक या प्रामाणिक रूप से न स्वीकार कर ले, इस आशङ्का के निराकरण के लिये कहा जा रहा है। शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति—शब्द की पृष्ठभूमि से, 'अस्ति' क्रिया अर्थात् 'स्वरूपतः स्थित होने का' ग्रहण करने से यह 'क्रम' भी उस असङ्ग तत्त्व में विकल्पित होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वधर्मशून्य होने पर भी 'पुरुष' तत्त्व में 'अस्ति' शब्द का प्रयोग होने से शब्द की महिमा से उसमें स्थित होने का विकल्पज्ञान होता है और इस विकल्पज्ञान से उसमें 'क्रम' के ज्ञान के रूप का दूसरा विकल्प ज्ञान सम्भव होता है। विकल्पज्ञानों में शब्द ही मूलाधार या अग्रगामी होता है और विकल्पज्ञान उसका परवर्ती या पृष्ठभागी होता है। इसलिये 'शब्दपृष्ठेन' का अभिप्राय हुआ शब्द से परवर्ती, शब्दानुसारी, शब्दजन्य विकल्पज्ञान के द्वारा पुरुष तत्त्व में 'अस्ति' को ग्रहण करके ही उसमें क्रम की कल्पना या विकल्प का ज्ञान होता है। **'शब्दस्य पुरःसरतया तत्पृष्ठो विकल्पोऽस्तिक्रियामुपादत्त इति।'**—(त० वै०)। नित्यगुणों के क्रम कभी समाप्त नहीं होता—ऐसा कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस संसार का कभी अन्त ही नहीं होगा। तब तो इससे छुटकारा पाने के लिये प्रयास करने का कोई प्रयोजन ही नहीं सिद्ध होगा और यदि विकारों के अनित्य होने के कारण क्रम की समाप्ति होती है।

---

१. द्रष्टव्य; यो० वा० पृ० ४५१।

२. द्रष्टव्य; त० वै० पृ० ४५२।

तब भी मोक्षसाधनानुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं है। इस शङ्का के आधार पर प्रश्न उठाया जा रहा है। अथ—प्रश्न होता है। स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्य संसारस्य—(प्रलयरूप) ठहराव और (सृष्टिरूप) गतिशीलता से गुणों में ही प्रादुर्भूत होने वाले तथा विद्यमान इस जगत्प्रपञ्च की। क्रमसमाप्तिः—क्रम की समाप्ति, (पर्यवसान)। अस्ति न वा—होती है अथवा नहीं होती है। यदि संसार को नित्य मानेंगे तो क्रमसमाप्ति नहीं होनी चाहिये और यदि अनित्य मानें तो क्रमसमाप्ति अवश्य ही हो जानी चाहिये। प्रथम मान्यता में परिणामक्रमसमाप्ति का प्रतिपादन करने वाले ३२वें सूत्र का खण्डन होता है और दूसरी मान्यता में 'धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानोक्तिः' का खण्डन होता है। मोक्षसाधनाभ्यास की अपार्थता दोनों मान्यताओं में समान है—यह दोष भी उपस्थित होता है। इसलिये कहते हैं कि। एतत्—यह प्रश्न। अवचनीयम्—सहसा अनुत्तरणीय है, **'अनुत्तरार्हमेतत्'**—(त० वै०)। तात्पर्य यह है कि यह प्रश्न दो भागों में तोड़कर उत्तर देने योग्य है। किसी एक उत्तर से इसका ठीक समाधान नहीं हो सकता, ऐसे प्रश्न विभज्यवचनीय कहे जाते हैं। कथम्—क्यों? इसलिये कि। अस्ति प्रश्नः एकान्तवचनीयः—एक प्रश्न एकदम (हाँ या नहीं उत्तर देने योग्य होता है। जैसे—सर्वो जातौ मरिष्यति—सभी प्राणी जन्म लेने पर मरेंगे। ओम् भो इति—इसका उत्तर एकदम दिया जा सकता है कि 'अरे हाँ' अवश्य ही मरेंगे। अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति—क्या सब लोग मरकर पैदा होंगे? एतद् विभज्यवचनीयम्—यह प्रश्न दो भागों में बाँट कर ही उत्तर देने योग्य है। किस प्रकार से? प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते—जिसको विवेकख्याति प्राप्त हो गयी है, ऐसा तृष्णाशून्य योगी जन्म नहीं लेगा। इतरस्तु जनिष्यते—और अन्य सब जीव जन्म लेंगे। 'सर्व' पद के अर्थ को दो भागों में बाँट लिया गया और दोनों भागों के लिये अलग-अलग उत्तर दिया गया, जो कि ठीक उतरता है। इसलिये यह प्रश्न 'विभज्यवचनीय' या 'एकान्ततोऽवचनीय' कहा जायेगा। इसी विभज्यवचनीय प्रश्न का दूसरा उदाहरण दिया जा रहा है। तथा—उसी प्रकार का प्रश्न यह भी है। मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी इति—मनुष्य जाति अधिक अच्छी है या नहीं? एवं परिपृष्टे—इस प्रकार पूछे जाने पर। विभज्य—विभक्त करके, दो भागों में बाँट कर ही। वचनीयः—उत्तर देने योग्य। प्रश्नः—यह प्रश्न है। किस प्रकार से इसे विभक्त किया जायेगा? पशून्—पशु जाति के जीवों को। उद्दिश्य—अभिलक्ष्य करके अर्थात् पशुओं की तुलना करने पर। श्रेयसी—मनुष्य जाति बढ़कर या अधिक अच्छी है। देवान् ऋषींश्च—और देवताओं तथा ऋषियों को। अधिकृत्य—लक्ष्य करके तुलना करने पर। न—(बढ़कर) नहीं है। इति—ऐसा उत्तर दिया जाना चाहिए।

अयन्तु प्रश्नः—यह प्रकृत प्रश्न कि 'संसार की क्रमसमाप्ति होती है या नहीं ?' अवचनीयः—एकान्ततः अवचनीय ही है, विभज्यवचनीय ही है। इस प्रश्न का विस्पष्टार्थ यहाँ फिर से प्रस्तुत किया जा रहा है। संसारोऽयम्—यह जगत्-प्रपञ्च। अन्तवान्—क्रमसमाप्ति वाला, समाप्त होने वाला है ? अथानन्तः—या समाप्त नहीं होने वाला है ? इति—यह पद प्रश्न की समाप्ति का सूचक है। इस प्रश्न का उत्तर अब दे रहे हैं। कुशलस्य—कुशल योगी के लिये। संसारस्य—जगत्-प्रपञ्च के। क्रम-समाप्तिरस्ति—क्रम की समाप्ति हो जाती है, उसके लिये संसार नहीं रह जाता, अर्थात् उसका जन्म-मरण-चक्र समाप्त हो जाता है। नेतरस्य—अन्य प्राणियों के जन्म-मरण-चक्र रूप संसार की क्रमसमाप्ति नहीं होती, वे जन्म लेते और मरते रहते हैं। इति—इस प्रकार। अन्यतरावधारणे—दो भागों में बँटे हुए प्राणियों में से एक-एक भाग वालों का अलग निश्चय करने में। अदोषः—वह दोष नहीं आता, जो इस प्रश्न का एकदम (हाँ या न) में उत्तर देने पर उपस्थित होता था। तस्माद्—इसी-लिये। अयं प्रश्नः—यह प्रश्न। व्याकरणीयः—विभाज्यः, विभक्त करके ही उत्तर देने योग्य है। विभज्यवचनीय या एकान्ततोऽवचनीय ही है। इति—इस भाष्य की समाप्ति का सूचक पद है। **'न हि सामान्येन कुशलाकुशलपुरुषसंसारस्यान्तवत्त्व-मनन्तवत्त्वं वा शक्यमेकान्ततो वक्तुम्।'**—(त० वै०) ॥ ३३ ॥

गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्। तत्स्वरूपमवधार्यते—

गुणों के अधिकार (परिणाम) के क्रम की समाप्ति हो जाने पर कैवल्य (प्राप्त होता है—ऐसा) कहा गया है। उस कैवल्य का स्वरूप निश्चित किया जा रहा है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥३४॥

(भोगावपर्गरूपी) पुरुषार्थ से रहित (सत्त्वादि तीनों) गुणों का (अव्यक्त में) प्रविलीन हो जाना कैवल्य है, या चितिशक्ति का अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना (ही कैवल्य) है ॥ ३४ ॥

कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यास-
भाष्ये कैवल्यपादश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

भोग और अपवर्ग सम्पादित कर चुकने वाले और (इसीलिये) पुरुषार्थरहित कार्यकारणात्मक (महदादि प्रकृतिविकृतियों रूपी) गुणों का जो (अव्यक्त में) लय

है, वही 'कैवल्य' है। स्वरूप में प्रतिष्ठित अर्थात् फिर से पुरुष का बुद्धिसत्त्व से सम्बन्ध न होने के कारण केवल चितिशक्ति ही (रह जाती है), उसकी सर्वथा उसी प्रकार (बुद्धिसन्निधिरहित) स्थिति 'कैवल्य' है ॥ ३४ ॥

योगसिद्धिः

(सं० भा० सि०)—गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ—त्रिगुणों के परिणामरूप कार्यकारित्व के क्रम की समाप्ति हो जाने पर। कैवल्यम्—कैवल्य कहा गया है। तत्स्वरूपम्—तस्य कैवल्यस्य स्वरूपम्, उस कैवल्य का ठीक रूप। अवधार्यते—इस सूत्र में निश्चित किया जा रहा है।

(सू० सि०)—पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम् – भोगापवर्ग रूपी पुरुषार्थ से रहित गुणों का। प्रतिप्रसवः—प्रतिलोम परिणाम के द्वारा अव्यक्त प्रधान में विलीन हो जाना ही। कैवल्यम्—कैवल्य है। कहने का आशय यह है कि चूँकि गुणों का किसी पुरुष के भोगापवर्ग के सिद्ध कर चुकने के पश्चात् अव्यक्त में विलीन हो जाने को ही कैवल्य कहते हैं, इसीलिये सांख्य-शास्त्र की यह उक्ति भी चरितार्थ हो जाती है—

'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥'[1]

अर्थात् 'कैवल्य' बुद्ध्यादि रूप में परिणत गुणों की ही प्रतिप्रसवरूपिणी एक विशेष परिणामधारा को कहते हैं। कैवल्य की उपलब्धि रूपी क्रिया भी पुरुष के द्वारा सम्पादित नहीं की जाती। इस प्रकार पुरुषों का कैवल्य होना केवल उपचार से ही कहा जा सकता है। **'तत्प्रधानस्य कैवल्यं पुरुषविशेष उपचर्यते।'**—(मणिप्रभा)। इस प्रकार पुरुष का 'निष्क्रियत्व' अक्षुण्ण है। गुणों की इस स्थिति के फलस्वरूप उनसे इसके पूर्व तक अभिसम्बद्ध पुरुष बिना किसी क्रिया के, या अपने में बिना किसी अन्तर, न्यूनता, अधिकता या संस्कार के ही केवली हो जाता है। इस बात को सूत्रकार बड़ी कुशलता से प्रतिपादित करते हैं। स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः—स्वस्य रूपे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्यास्तादृशी स्वरूपप्रतिष्ठा, स्वरूप में ही प्रतिष्ठित चितिशक्ति ही 'कैवल्य' है। जैसे—स्फटिकमणि का उपरञ्जक जपाकुसुम जब हट गया तो वह स्फटिक अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित दिखायी पड़ने लगता है। वस्तुतः पहले की स्थिति से उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार उस पुरुष में भी कोई नयी बात 'कैवल्य' से नहीं होती। बस, वह जैसे का तैसा रहता है। उसमें उपचरित होने वाली उपाधि ही हट जाती है। इस उपाधि का विगलन ही 'कैवल्य' है। इसी

---

१. द्रष्टव्य; सां० का० ६२।

बात को इस तरह भी कह सकते हैं कि वह केवली हो गया। इति—यह पद योग-सूत्रों की समाप्ति का सूचक है ॥ ३४ ॥

(भा० सि०)—कृतभोगापवर्गाणाम्—कृतौ सम्पादितौ भागः सुखदुःखादिसाक्षात्कारः अपवर्गः विवेकख्यातिरूपः तौ भोगापवर्गौ यैर्गुणैस्तेषां तथोक्तानाम्, पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक प्रयोजनों को पूरा कर चुकने वाले (गुणों) का, अतएव। पुरुषार्थशून्यानाम्—पुरुषार्थ से रहित (गुणों) का। कार्यकारणात्मनां गुणानाम्—बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रिय और तत्रस्थ संस्कार नामक कार्यों और कारणों के रूप वाले 'व्यक्त'-धर्मक गुणों का। यः प्रतिप्रसवः—जो प्रविलय है, अपनी मूल-प्रकृति 'अव्यक्तप्रधान' में प्रतिलोमपरिणाम के द्वारा विलीन होना है। समस्त व्युत्थान-समाधिनिरोधसंस्कार मन में लीन होते हैं, मन अस्मिता में, अस्मिता बुद्धि में और बुद्धि प्रधान में लीन होते हैं। गुणों का जो यह प्रतिसर्ग है। तत्—वही। कैवल्यम्—कैवल्य है। पुरुष की सन्निधि में बुद्धयादिरूप से व्यवस्थित गुणों का प्रतिलोम-परिणाम परायण होकर अव्यक्त में लीन होना ही कैवल्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वस्तुतः पुरुषसन्निहित गुणों को ही कैवल्य होता है और यही 'कैवल्य' पुरुष में उपचरित किया जाता है कि अमुक पुरुष ने कैवल्य लाभ किया। पुरुष के सन्दर्भ में कैवल्य क्या है? पुरुषस्य पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्—उस पुरुष का फिर से बुद्धि-सत्त्वादिरूप गुणों से सम्बन्ध (न वर्तमानकाल में और न भविष्यत्काल में) न होने के कारण। स्वरूपप्रतिष्ठा—अपने स्वरूप में ही सदैव स्थित। केवला—बुद्धयादि उपाधियों के रूप से सर्वथा अनुपरक्त अर्थात् उनका अनभिमानी ही रहता हुआ। चितिशक्तिरेव—पुरुषमात्र होना। तस्याः—उस चितिशक्ति या पुरुष का। सदा—सदैव। तथैव—उसी केवल या स्वरूपमात्रप्रतिष्ठ। अवस्थानम्—बने रहना। कैवल्यम्—उस पुरुष का कैवल्य है। इस प्रकार वस्तुतः पुरुष की उपाधिभूता बुद्धि-रूपिणी प्रकृति को ही 'कैवल्य' होता है। जिसके फलस्वरूप पुरुष एकाकी या केवली रह जाता है। इसलिये उसका भी कैवल्य कहा जा सकता है। सूत्रगत 'वा' शब्द इसी तथ्य को प्रकट करता है। पुरुषसन्निहित गुणों का कैवल्य ही विकल्प से पुरुष में भी लागू हो जाता है। आपाततः दो प्रतीत होने वाला यह 'कैवल्य' वस्तुतः एक ही होता है। वस्तुतः पुरुषोपाधिभूत गुणगत ही होता है, पुरुष में तो वह विकल्पित या उपचरित भर किया जाता है। इति—यह पद भाष्य की परिसमाप्ति का सूचक है ॥ ३४ ॥

कौशाम्ब्या निकटस्थिता च नगरी याभात्पुरा पूजिता,
रक्षाराजिरिति प्रथा गतवती, साद्यापि राराज्यते ।
तत्र प्राज्ञपरम्परापरिधयोऽभूवन्महामेधसः,
श्रीवास्तव्यकुलावतंसमणयस्सर्यूप्रसादाभिधाः ॥ १ ॥
तेषां कीर्तिमतां सुरेशसहितश्चन्द्रस्तनूजोऽद्वयः
शास्त्राचार्यसुसेवयाऽनलसया लब्ध्वा गतिं दर्शने ।
ध्यात्वा श्रीगुरुपादपद्मयुगलं कृष्णाङ्घ्रिमूलं परम्,
योगे सिद्धयभिधामिमां सुसरलां व्याख्यामतानीद् ध्रुवाम् ॥ २ ॥

॥ इति श्रीपातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां सिद्धयाख्यायां समाप्तः कैवल्यपादः ॥

॥ ॐ नमः श्रीकृष्णाय ॥